संस्कृत हिन्दी श्रीराघवकृपाभाष्यसहिता

प्रथमखण्डः

भाष्यकाराः – जगद्गुरुरामानन्दाचार्य

स्वामी रामभद्राचार्य महाराजाः चित्रकूटीयाः

।।श्रीमद्राघवो विजयतेतराम्।।

श्रीमद्भगवद्गीता

संस्कृतहिन्दीश्रीराघवकृपाभाष्यसहिता

प्रथम खण्डः

भाष्याकारः जगद्गुरुरामानन्दाचार्य
स्वामी रामभद्राचार्यजी महाराजाः
चित्रकूटीयाः

प्रकाशक
श्रीतुलसीपीठ सेवान्यास
तुलसीपीठ, आमोदवन
श्रीचित्रकूटधाम, जनपद सतना (म०प्र०)

अनुक्रमणिका

(प्रथम खण्ड)

।।श्री राघवो विजयतेतराम।।

प्रकाशकीय

गीता मे हृदयं पार्थ गीता मे परमं तपः ।
गीता मे गुह्यमध्यात्मं गीता मे ज्ञानमुत्तमम् ।।

जिस प्रकार वेद अपौरूषेय हैं, उसी प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता जी भी योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के श्रीमुखकमलसे स्वयं प्रकट होने के कारण अपौरूषेय ही हैं, अर्थात् यह किसी पुरुषके द्वारा निर्मित नहीं की गयीं। श्रीगीता जी को वैदिक वाङ्मयका समग्र व्याख्यान माना जाता है। स्वामी करपात्रीजी के शब्दों में "श्रीगीता जी इसीलिए आदरणीय नहीं हैं कि— उन्हें भगवान्ने कहा है, वस्तुतः वे इसीलिये आदरणीय हैं, क्योंकि श्रीगीता जी में भगवान् ने सबकुछ वेद सम्मत कहा है"। श्रीमद्भगवद्गीता जी वेदान्त की स्मृति भी मानी जाती हैं, इसीलिये इनपर प्रत्येक सम्प्रदाय के आचार्यों ने अपने-अपने सिद्धान्त के अनुसार संस्कृत में भाष्य का प्रणयन किया।

भगवान् श्रीसीताराम जी की कृपा एवं भारतीय सन्तों के स्नेह से चित्रकूट तुलसीपीठ के जगद्गुरु रामानन्दाचार्य विद्यावारिधि, वाचस्पति, स्वामी रामभद्राचार्य महाराज, ने भी श्रीरामानन्द सम्प्रदाय परम्परा प्राप्त विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार श्रीमद्भगवद्गीता जी पर संस्कृत एवं हिन्दी में "श्रीराघवकृपा भाष्य" लिखकर वैदिक आचार्य परम्परा एवं भारतीय मनीषा को गौरवान्वित किया है। इस ग्रन्थ को प्रकाशित करनेका दायित्व देकर आचार्य चरणों ने श्रीतुलसीपीठ सेवान्यास को जो सौभाग्य प्रदान किया है। इसके लिए न्यास एवं समस्त न्यासी आचार्य चरणोंके कृतज्ञ हैं। हम कृतज्ञ हैं पण्ड्या ऑफसेट प्रेस के अधिपति श्रीविपिनशंकर पण्ड्या एवं श्रीमती चन्दना बहिन पण्ड्या के, जिन्होंने इतने अल्प समयमें अहर्निश गहन परिश्रम करके इस ग्रन्थ को सुव्यवस्थित रूप में मुद्रित किया। अन्त में हम समस्त श्रीवैष्णव, सन्तजन, विद्वज्जन, दार्शनिक, समीक्षक, बुद्धिजीवी, विचारक तथा भगवद्भक्त सनातन-धर्मावलम्बी महानुभावों से अनुरोध करते हैं कि आप सब इस ग्रन्थका श्रद्धापूर्वक अध्ययन करके आचार्य चरणों के गहन शास्त्रीय परिश्रम एवं प्रतिभाका मूल्याङ्कन करेंगे।

।।श्रीराघवः शंतनोतु।।

कु० गीतादेवी,
प्रबन्धन्यासी
श्रीतुलसीपीठ सेवान्यास
आमोदवन, चित्रकूट।

वाचस्पति, श्री तुलसी पीठाधीश्वर
जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्वामी रामभद्राचार्य जी महाराज
तुलसीपीठ, आमोदवन, चित्रकूट, जि. सतना (म.प्र.)
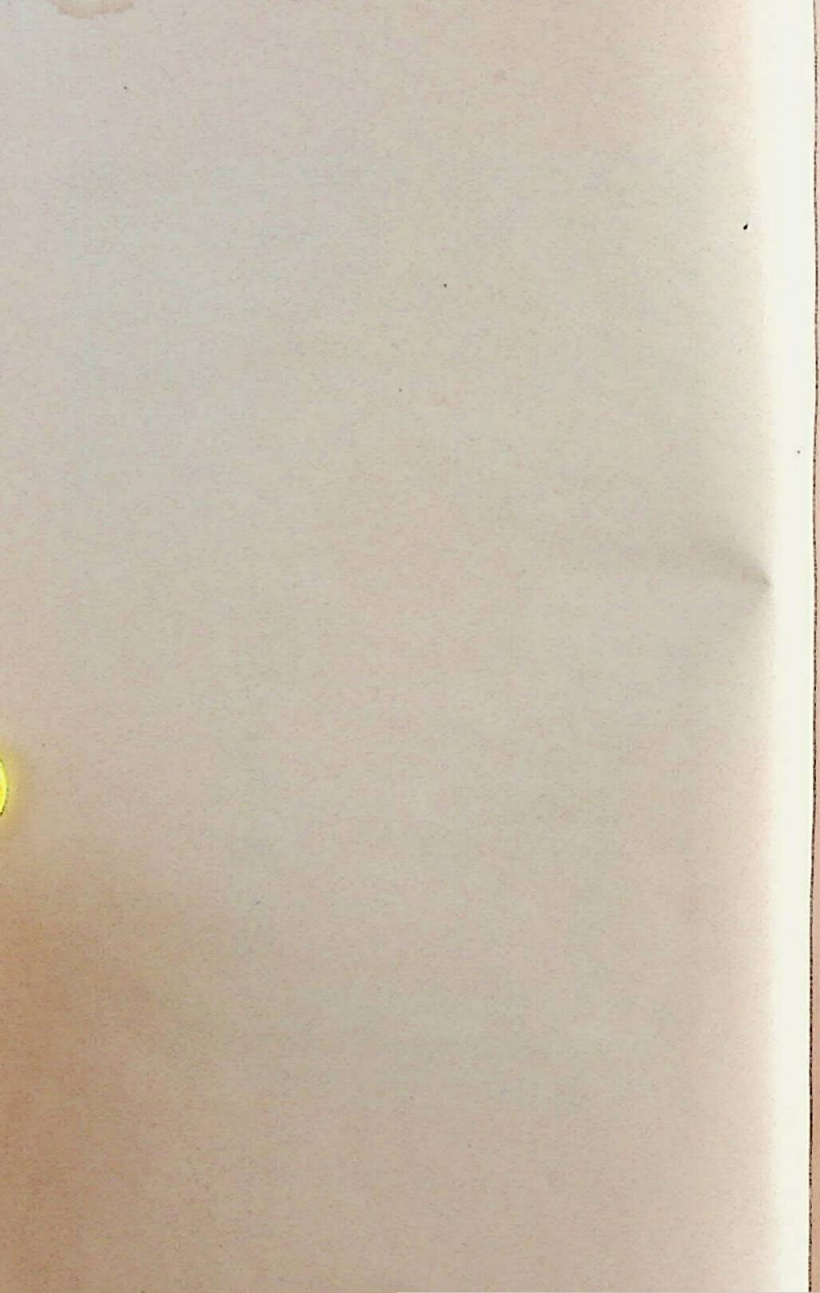
द्वित्राः शब्दाः

घृततोत्ररथाश्वरश्मिकं कमहं कारुणिकं कदाचन ।
करवाणि दृशोः पथिस्मृतिं ददतं शाश्वत सव्यसाचिने ।।१।।

गीता नवनीतहृता गीता गीतागमाप्त्येन ।
प्रीता हृदयं नीता गीता गीता चिरं गेयात् ।।२।।

आमन्त्र्य पण्डितान्सर्वान् श्री श्रीवैष्णवतल्लजान् ।
द्वित्राः शब्दाः निवेद्यन्ते रामभद्रार्यसूरिणा ।।३।।

श्रीराघवकृपाभाष्यं श्रीगीतासु मया कृतम् ।
विशिष्टाद्वैतमाश्रित्य सम्प्रदायानुसारिणा ।।४।।

चिदचिद्भ्यां विशिष्टं यदद्वैतं ब्रह्मसम्मतम् ।
सीतारामाभिधं तद्धि प्रबन्धेऽस्मिन्निरूपितम् ।।५।।

श्रीगीताशास्त्रतात्पर्यं प्रपत्तिं सोपपत्तिकम् ।
व्याचक्षेस्म विनिश्चित्य रामानन्दमते रतः ।।६।।

नाग्रहान्नैव विद्वेषात् पक्षपातान्न च क्वचित् ।
सर्ववेदान्तशास्त्रार्थः सावधानं निरूपितः ।।६।।

अन्वयार्थः पदच्छेदः समासो वाक्ययोजना ।
पूर्वोत्तरौ तथा पक्षौ सर्वमेतत्प्रभाषितम् ।।८।।

विशिष्टाद्वैतधामेदं विशिष्टाद्वैतदर्पणम् ।
विशिष्टाद्वैतिनां हृत्सु रतिं रास्यति वैष्णवीम् ।।९।।

मण्डिताः शाश्वताः पक्षा अपपक्षाश्च खण्डिताः ।
रञ्जिताः पण्डिताः सर्वे भञ्जिताश्चैव चण्डिताः ।।१०।।

श्रीराघवकृपाभाष्यं श्रीराघवकृपाफलम् ।
श्रीराघवकृपां देयात् श्रीराघवकृपाकृतम् ।।११।।

इति मङ्गलमाशास्ते जगद्गुरु रामानन्दाचार्यः स्वामिरामभद्राचार्यः ।।

•

दो शब्द

राधाराकामुपेताय ललितानन्द हेतवे ।
नमः श्रीकृष्णचन्द्राय रामाभिन्नाय वेधसे ।।१।।

श्रीसीतानाथ समारम्भां श्री रामानन्दार्य मध्यमाम् ।
अस्मदाचार्यपर्यन्तां वन्दे श्रीगुरुपरम्परराम् ।।२।।

भक्ति भक्त भगवन्त गुरु चतुर्नाम वपु एक ।।
इनके पदवन्दन किये नासहिं विघ्न अनेक ।।

श्री सीताराम चरणकमल समुपासक श्री वैष्णवो ! श्रद्धेय सन्तजन, सनातन धर्मावलम्बी मताओ, बहिनो, भ्राताओ एवं बुद्धिजीवी जन !

यह तो आप सबको भलीभाँति विदित ही है कि भारत अध्यात्म प्राण देश है। अध्यात्म में भी वेदान्त दर्शन भारतीय मनीषा की सुनिश्चित और सुनिर्णीत अवधारणा है।

श्रीमद्भगवद्‌गीता को सार्वभौम होने पर भी विद्वान एकमत से वेदान्त की स्मृति मानते हैं। इसीलिए सभी आचार्यों ने अपनी अपनी आचार्य परम्परा के आलोक में श्री गीता जी पर भाष्य प्रबन्ध प्रस्तुत किये हैं। मैंने भी श्रीमदाद्यरामानन्दाचार्य की सम्प्रदाय परम्परा के अनुसार विशिष्टाद्वैतवाद के आधार पर श्री गीता जी पर संस्कृत और हिन्दी में श्रीराघवकृपाभाष्य नाम से एक सुव्यवस्थित प्रबन्ध प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। मीमांसा में निर्णीत षड्‌लिङ्ग के आधार पर मेरे राम ने गीता जी में प्रपत्तियोग को ही परमतात्पर्य रूप में माना है और प्रभु श्रीराघवसरकार की कृपा से श्रीगीता जी में इतने प्रमाण उपलब्ध हुए हैं जिन्हें देखकर आपका भी मन प्रभु की शरणागति के लिए अवश्य ललचेगा। गीता जी के श्लोक मन्त्र हैं। मेरे राम ने पहले उनका सामान्यार्थ प्रस्तुत करके फिर व्याख्या प्रस्तुत की है। श्रीराघवकृपाभाष्य का प्रारम्भ और द्वितीय अध्याय के सात से तीस तक का प्रकरण आप गम्भीरता से अवश्य पढ़ेंगे।

श्रीसीताराम जी की कृपा से हमने यथासम्भव प्रयास किया है कि श्री गीता जी पर राघवकृपाभाष्य पढ़कर आप श्री रामानन्दायार्य के सम्प्रदाय सिद्धान्त विशिष्टाद्वैतवाद को एवं गीता जी के गम्भीर रहस्यों को अत्यन्त सुगमता से समझ सकेंगे और लौकिक दृष्टि से इन बन्द नेत्रों में प्रतिविम्बित प्रभु की कृपा का वहुत अनुभव कर सकेंगे।

आप सबके स्नेह एवं श्रीमदाद्यरामानन्दाचार्य तथा गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज के आशीर्वाद एवं प्रभु श्री चित्रकूट बिहारी बिहारिणी जू के मंगलमय कृपा प्रसाद से सतत बीस बीस घण्टे परिश्रम करके श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास, षड्‌दर्शन, व्याकरण आदि

बहुमूल्य बाङ्मय के उपादानों से मैंने इस राघवकृपाभाष्य को सजाने और सँवारने का प्रयत्न किया है। इस कार्य में अपने स्वत्व आहुति देकर राघव की बुआ जी तथा मेरी अग्रजा श्रीतुलसी पीठ सेवान्यास की प्रबन्धन्यासी श्रद्धेय सुश्री गीता देवी जी ने जिस अभूतपूर्व योगदान से अनुपम सहयोग दिया है, उनके विषय में कुछ भी कहना मेरी अपनी ही प्रशंसा होगी। मेरे सुयोग्यतम शिष्य श्री तुलसीपीठ सौरभ पत्रिका के सम्पादक आचार्य दिवाकर शर्मा जी ने मेरी भाषा को लिप्याकार देने में जिस निस्पृहता के साथ अपना अमूल्य समय दिया है, एतदर्थ उनके प्रति श्रीसीताराम जी की कृपा की अभ्यर्थना करता हूँ। मैं अपने अन्तर्वासी आयुष्मान चन्द्रदत्त सुवेदी एवं दीक्षित शिष्य आयुष्मान राकेश को भी अनन्त-अनन्त आशीर्वाद ज्ञापित करता हूँ जिन्होंने मेरे साथ देर रात जग-जगकर मेरे द्वारा बोली हुई इस भाष्य की भाषा को लिपिबद्ध किया।

अन्त में मैं सभी उपादान और उपादेयों के प्रति आभारी हूँ, इस कार्य में मुझे जिन से कुछ भी सहयोग मिला है। अब यह ग्रन्थपुष्प आप सब सनातन धर्मावलम्बी भाई बहिनों के करकमलों में समर्पित है।

सीय राममय सब जग जानी ।
करउँ प्रणाम जोरि जुग पानी ।।
तजि कुसंग 'गिरिधर' गहहु चरण शरण ब्रजराज ।
बचा न पाये पंचपति द्रुपदसुताकी लाज ।।

श्रीराघवः शन्तनोतु ।

●

पदवाक्यप्रमाणपारावारीण, विद्यावारिधि, वाचस्पति परमहंस परिव्राजिकाचार्य, आशुकवि यतिवर्य प्रस्थानत्रयी भाष्कार –

श्रीतुलसीपीठाधीश्वर जगद्गुरु रामानन्दाचार्य

पूज्यपाद

श्री श्री १००८ स्वामी रामभद्राचार्य जी महाराज

का

संक्षिप्त जीवन वृत्त

आर्विभाव

आपका अर्विभाव १४ जनवरी १९५० तद्नुसार मकर संक्राति की परम पावन सान्ध्य बेला में वशिष्ठ गौत्रीय उच्च धार्मिक शरयूपारीण ब्राह्मण मिश्र वंश में उत्तर-प्रदेश के जौनपुर जनपद के पवित्र ग्राम शाडीखुर्द की पावन धरती पर हुआ। सर्वत्र-आत्म-दर्शन करने वाले हरिभक्त, या मानवता की सेवा करने दानवीर, या अपनी मातृभूमि की रक्षा में प्राण वलिदान करने वाले शूर-वीर योद्धा देश भक्त, को जन्म का सौभाग्य तो प्रभुकृपा से किसी भी मां को मिल जाता है। परन्तु भक्त, दाता और निर्भीक तीनों गुणों की सम्पदा से युक्त बालक को जन्म देने का परम श्रेय अति विशिष्ठ भगवद् कृपा से किसी विरली मां को ही प्राप्त होता है। अति सुन्दर एवं दिव्य बालस्वरुप आचार्य-चरण को जन्म देने का परम सौभाग्य धर्मशीला माता श्रीमति शची देवी और पिताश्री का गौरव पं० श्री राजदेव मिश्रजी को प्राप्त हुआ।

आपने अपनी शैशव अवस्था में ही अपने रूप, लावण्य एवं मार्धुय से सभी परिवार एवं प्रियजनों को मोहित कर दिया। आप की बाल क्रीड़ाए अद्‌भुत थी। आपके श्वेतकमल समान सुन्दर मुख मंण्डल पर बिखरी मधुर मुस्कान, हर देखने वाले को सौम्यता का प्रसाद बांटती थी। आपका विस्तृत एवं तेजस्वी ललाट, आपके अपार शस्त्रीय ज्ञानी तथा त्रिकालदर्शी होने का पूर्व सकेंत देता था। आपका प्रथम दर्शन मन को शीतलता प्रदान करता था। आपके कमल समान नयन उन्मुक्त हास्यपूर्ण मधुर चितवन चंचल बाल क्रीड़ाओं की चर्चा शीघ्र ही किसी महापुरुष के प्राकट्य की शुभ सूचना की भान्ति दूर-दूर तक फैल गई, और यह धारणा बन गई की यह बालक असाधारण है। 'होनहार विरवान के होत चीकने पात' की कहावत को आपने चरितार्थ किया।

भगवत् इच्छा

अपने प्रिय भक्त को सांसारिक प्रपन्चों से दूर रखने के लिए विधाता ने आचार्यवर

के लिए कोई और ही रचना कर रखी थी। जन्म के दो महिने बाद ही नवजात शिशु की कोमल आखों को रोहुआ रोग रुपी राहू ने तिरोहित कर दिया। आचार्य प्रवर के चर्म-नेत्र बन्द हो गए। यह हृदय विदारक दुर्घटना प्रियजनों को अभिशाप लगी, परन्तु नवजात बालक के लिए यह वरदान सिद्ध हुई। अब तो इस नन्हे शिशु के मन-दर्पण पर परमात्मा के अतिरिक्त जगत के किसी भी अन्य प्रपञ्च के प्रतिबिम्बिंत होने का कोई अवसर ही नहीं था। आपको दिव्य प्रज्ञा-चक्षु प्राप्त हो गए। आचार्य प्रवर ने भगवद् प्रदत्त अपनी इस अन्तर्मुखता का भरपूर उचित उपयोग किया। अब तो दिन-रात परमात्मा ही आपके चिन्तन, मनन और ध्यान का विषय बन गए।

आरम्भिक शिक्षा

अन्तमुर्खता के परिणामस्वरूप आपमें दिव्य मेधा शक्ति और अद्‌भुत स्मृति का उदय हुआ, जिसके फलस्वरूप कठिन से कठिन श्लोक कवित्त, छन्द, सवैया आदि आपको एक बार सुनकर सहज कन्ठस्थ हो जाते थे। मात्र पांच वर्ष की आयु में आचार्य श्री ने सम्पूर्ण श्रीमद्‌भगवद्‌गीता तथा मात्र आठ वर्ष की शैशव अवस्था में पूज्य पितामह श्रीयुत सूर्यवली मिश्र जी के प्रयासों से गोस्वामी तुलसीदास जी रचित सम्पूर्ण रामचरितमानस क्रमवद्ध पक्ति, संख्या सहित कण्ठस्थ करली थी। आपके पूज्य पितामह आपको खेत की मेंढ़ पर बिठाकर आपको एक एक बार में श्रीमानस के पचास पचास दोहों की आवृतिकरा देते थे। हे महामनीषी, आप उन सम्पूर्ण पचास दोहों को उसी प्रकार पंक्ति क्रम संख्या सहित कण्ठथ कर लेते थे। अव आप अधिकृत रूप से श्रीरामचरितमानस-सरोवर के राजहंस बन कर श्री सीता-राम के नाम, रूप, गुण, लीला, धाम और ध्यान में तन्मय हो गए।

उपनयन एवं दीक्षा

आपका पूर्वाश्रम का नाम 'गिरिधर-मिश्र' था। इसलिए गिरिधर जैसा साहस, भावुकता, क्रान्तिकारी स्वमाव, रसिकता एवं भविष्य निश्चय की दृढ़ता तथा निःसर्ग सिद्ध काव्य प्रतिभा इनके स्वभाविक गुण बन गये। बचपन में ही वालक गिरिधर लाल ने छोटी-छोटी कविताएँ करनी प्रारम्भ कर दी थीं। २४ जून १९६१ को निर्जला एकादशी के दिन 'अष्टवर्ष ब्राह्मणमुपनयीत' इस श्रुति-वचन के अनुसार आचार्य श्री को वैदिक परम्परापूर्वक उपनयन संस्कार सम्पन्न किया गया तथा उसी दिन गायत्री दीक्षा के साथ ही तत्कालीन मूर्धन्य विद्वान् सकलशास्त्र-मर्मज्ञ पं० श्री ईश्वरदास जी महाराज जो अवधं-जानकीघाट के प्रवर्तक श्री श्री १०८ श्री रामवल्लभाशरण महाराज के परम कृपापात्र थे, इन्हें राम मन्त्र की दीक्षा भी दे दी।

उच्च अध्ययन

आपने श्री रामचरितमानस एवं गीताजी के कण्ठस्थीकरण के पश्चात् संस्कृत में उच्च अध्ययन की तीव्र लालसा जागृत हुई और स्थानीय आदर्श श्री गौरीशंकर संस्कृत महाविद्यालय

में पाँच वर्ष पर्यन्त पाणिनीय व्याकरण की शिक्षा सम्पन्न करके आप विशेष अध्ययन हेतु वाराणसी आ गये। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय की १९७३ शास्त्री परीक्षा में विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त कर एक स्वर्ण पदक प्राप्त किया एवं १९७६ की आचार्य की परीक्षा में समस्त विश्वविद्यालय में छात्रों में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त कर पाँच स्वर्ण पदक तथा एक रजत पदक प्राप्त किया। वाक्पटुता एवं शास्त्री प्रतिभा के धनी होने के कारण आचार्यश्री ने अखिल भारतीय संस्कृत अधिवेशन में सांख्य, न्याय, व्याकरण, श्लोकान्त्याक्षरी तथा समस्यापूर्ति इन पाँच प्रथम पुरस्कार प्राप्त किये, एवं उत्तर प्रदेश को १९७४ की 'चलवैजयन्ती' प्रथम पुरस्कार दिलवाया। १९७५ में अखिल भारतीय संस्कृत वाद-विवाद प्रतियोगिता में प्रथम स्थान प्राप्त कर तत्कालीन राज्यपाल डॉ० एम० चेन्ना रेड्डी से कुलाधिपति 'स्वर्ण पदक' प्राप्त किया। **इसी प्रकार आचार्यचरणों ने शास्त्रार्थों एवं भिन्न-भिन्न शैक्षणिक प्रतियोगिताओं में अनेक शील्ड, कप एवं महत्वपूर्ण शैक्षणिक पुरस्कार प्राप्त किए।** १९७६ वाराणसी साधुवेला संस्कृत महाविद्यालय में समायोजित शास्त्रार्थ आचार्यचरण प्रतिभा का एक रोमांचक परीक्षण सिद्ध हुआ। इसमें आचार्य अन्तिम वर्ष के छात्र, प्रत्युत्पन्न मूर्ति, शास्त्रार्थ-कुशल, श्री गिरिधर मिश्र ने 'अधातुः परिष्कार' पर पचास विद्यार्थियों एवं अध्यापकों को अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा एवं शास्त्रीय युक्तियों से अभिभूत करके निरुत्तर करते हुए सिंह—गर्जन पूर्वक तत्कालीन विद्वान मूर्धन्यों को परास्त किया था। पूज्य आचार्यश्री ने सं० सं० वि० वि० के व्याकरण विभागाध्यक्ष पं० श्री राम प्रसाद त्रिपाठी जी से भाष्यान्त व्याकरण की गहनतम शिक्षा प्राप्त की एवं उन्हीं की सन्निद्धि में बैठकर न्याय, वेदान्त, सांख्य आदि शास्त्रों में भी प्रतिभा ज्ञान प्राप्त कर लिया एवं 'अध्यात्मरामायणे— अपाणिनीय प्रयोगाणां विमर्शः' विषय पर अनुसन्धान करके १९८१ में विद्यावारीधि (Ph.D) की उपाधि प्राप्त की। **अनन्तर ''अष्टाध्याय्याः प्रतिसूत्रं शाब्दबोध समीक्षा'' इस विषय पर दो हजार पृष्ठों का दिव्य शोध प्रबन्ध प्रस्तुत करके आचार्य चरणों ने शैक्षणिक जगत की सर्वोत्कृष्ट अलंकरण उपाधि वाचस्पत्ति'' (Dlit) प्राप्त की।**

विरक्त दीक्षा

मानस की माधुरी एवं भागवतादि सद्ग्रन्थों के अनुशीलन ने आचार्य—चरण को प्रथम से ही श्री सीताराम—चरणानुरागी बना ही दिया था। अब १९ नवम्बर १९८३ की कार्तिक पूर्णिमा के परम—पावन दिवस की श्रीरामानन्द सम्प्रदाय में विरक्त दीक्षा लेकर आयार्चश्री ने एक और स्वर्ण सौरभ-योग उपस्थित कर दिया। पूर्वाश्रम के डॉ० गिरिधर मिश्र अब श्री रामभद्रदास नाम से समलंकृत हो गये।

जगद्गुरु उपाधि

आपने १९८७ में श्रीचित्रकूट धाम में श्रीतुलसीपीठ की स्थापना की। उसी समय

वहाँ के सभी सन्त-महन्तों के द्वारा आपको श्रीतुलसीपीठाधीश्वर पद पर प्रतिष्ठित किया और ज्येष्ठ शुक्ल गंगा दशहरा के परम-पावन दिन वि० सम्वत् २०४५ तद्नुसार २४ जून १९८८ को वाराणसी में आचार्यश्री का काशी विद्वत् परिषद एवं अन्य सन्त-महन्त विद्वानों द्वारा चित्रकूट श्रीतुलसीपीठ के जगद्गुरु रामानन्दाचार्य पद पर विधिवत अभिषेक किथा गया एवं ३ फरवरी १९८९ को प्रयाग महाकुम्भ पर्व पर समागत सभी श्री रामानन्द सम्प्रदाय के तीनों अखाड़ों के श्री महन्तों चतुः सम्प्रदाय एवं सभी खालसों तथा सन्तों द्वारा चित्रकूट सर्वाम्नाय श्रीतुलसीपीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामभद्राचार्य महाराज को सर्वसम्मति से समर्थनपूर्वक अभिनन्दित किया।

विलक्षणता

आपके व्यक्तित्व में अद्‌भुत विलक्षणता है। जिसमें कुछ उल्लेखनीय हैं कोई भी विषय आपको एक ही बार सुन कर कण्ठस्थ हो जाता है और वह कभी विस्मृत नहीं होता। इसी विशेवता के परिणामवरूप जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य जी नें समस्त तुलसी साहित्य अर्थात् तुलसीदास जी के बारहों ग्रन्थ, सम्पूर्ण रामचरितमानस, द्वादश उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र नारद-भक्तिसूत्र, सम्पूर्ण भगवत्गीता, शाण्डिल्य सूत्र, बाल्मीकीयरामायण व समस्त आर्य ग्रन्थों के सभी उपयोगी प्रमुख अंश हस्ताकमलवत् कण्ठस्थ कर लिये। आचार्यश्री हिन्दी एवं संस्कृत के आशुकवि होने के कारण समर्थ रचनाएँ भी करते हैं। वशिष्ठ गोत्र में जन्म लेने के कारण आचार्यवर्य श्री राघवेन्द्र की वात्सल्य भाव से उपासना करते हैं। आज भी उनकी सेवा में शिशु रूप में श्री राघव अपने समस्त परिकर खिलौने के साथ विराजमान रहते हैं। आचार्यवर्य की मौलिक विशेषता यह है कि इतने बड़े पद पर आकर भी आपका स्वभाव निरन्तर निरहंकार, सरल तथा मधुर है। विनय, करूणा, श्रीराम प्रेम, सच्चरित्रता आदि अलौकिक गुण उनके सन्तत्त्व को ख्यापित करते हैं। कोई भी व्यक्ति एकबार ही उनके पास आकर उनका अपना बन जाता है। हे भारतीय संस्कृति के रक्षक। **आप अपनी विलक्षण कथा शैली से श्रोताओं को विभोर कर देते हैं।** माँ सरस्वती की आप पर असीम कृपा है। आप वेद-वेदान्त, उपनिषद्, दर्शन, काव्य शास्त्र व अन्य सभी धार्मिक ग्रन्थों पर जितना अधिकार पूर्ण प्रवचन करते हैं उतना ही दिव्य प्रवचन भगवान श्रीकृष्ण की वाङ्मय मूर्ति महापुराण **श्रीमद्भागवत पर भी करते हैं।** आप सरलता एवं त्याग की दिव्य मूर्ति है। राष्ट्र के प्रति आपकी सत्य निष्ठ स्पष्टवादिता एवं विचारों में निर्भीकता जन जन के लिए प्रेरणादायक है। आपके दिव्य प्रवचनों में ज्ञान, भक्ति और वैराग्य की त्रिवेणी तो प्रवाहित होती है, साथ ही राष्ट्र प्रेम का सागर भी उमड़ता है। जिसे आप अपनी सहज परन्तु सशक्त अभिव्यक्ति की गागर में भर कर अपने श्रृद्धालु श्रोतागणों को पान कराते रहते है।

आपका सामीप्य प्राप्त हो जाने के बाद जीव कृत्य-कृत्य हो जाता है। धन्य हैं

वे माता-पिता जिन्होंने ऐसे 'पुत्ररत्न' को जन्म दिया। धन्य हैं वे सद्‌गुरु जिन्होंने ऐसा भागवत् रत्नाकर समाज को दिया। हे श्रेष्ठ सन्त शिरोमणी! हम सब भक्तगण आपके व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर गौरवान्वित है।

साहित्य सृजन

आपने अपनी बहुमुखी प्रतिभा से हिन्दी एवं संस्कृत के अनेक आयामों को महत्त्वपूर्ण साहित्यिक उपादान भेंट किये हैं। काव्य, लेख निबन्ध, प्रवचन संग्रह एवं दर्शन क्षेत्रों में आचार्य श्री की मौलिक रचनाएँ महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

इस प्रकार आचार्य श्री अपने व्यक्तित्व, कृतित्व, से श्री राम प्रेम एवं सनातन धर्म के चतुर्दिक प्रचार व प्रसार के द्वारा सहस्राधिक दिग्भ्रान्त नर-नारियों को सनातन धर्म-पीयूष से जीवनदान करते हुए अपनी यशः सुरभि से भारतीय इतिहास वाटिका को सौरभान्वित कर रहे है। तब कहना पड़ता है कि :—

शैले शैले न माणिक्यं, मौक्तिकं न गजे गजे ।
साधवो नहि सर्वत्र, चन्दनं न वने वने ।।

संत सरल चित जगतहित, जानि सुभाउ सनेहु ।
बाल विनय सुनि करि कृपा, रामचरन रहि देहु ।।

धर्माचार्य परम्परा :-

भाष्यकार !

प्राचीन काल में धर्माचार्यों की यह परम्परा रही हैं कि वही व्यक्ति किसी भी सम्प्रदाय के आचार्यपद पर प्रतिष्ठित किया जाता था, जो उपनिषद् गीता तथा ब्रह्मसूत्र पर अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तानुसार वैदुष्यपूर्ण वैदिक भाष्य प्रस्तुत करता था। जिसे हम 'प्रस्थानत्रयी' भाष्य कहते हैं, जैसे शंकराचार्य आदि। आचार्यप्रवर ने इसी परम्परा का पालन करते हुए सर्वप्रथम नारदभक्तिसूत्र पर "श्री राघव कृपा भाष्यम्" नामक भाष्य ग्रन्थ की रचना की। उसका लोकार्पण १७ मार्च १९९२ को तत्कालीन उप राष्ट्रपति डॉ० शंकरदयाल शर्मा द्वारा सम्पन्न हुआ।

पुज्य आचार्यचरण के द्वारा रचित 'अरुन्धती महाकाव्य' का समर्पण समारोह दिनांक ७ जुलाई ९४ को भारत के राष्ट्रपति महामहिम डॉ० शंकरदयाल शर्मा जी के कर कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ।

इसी प्रकार आचार्यचरणों ने एकादश उपनिषद् ब्रह्मसूत्र तथा श्रीमद्‌भगवद्‌गीता पर रामानन्दीय श्री वैष्णव सिद्धान्तानुसार भाष्य लेखन सम्पन्न करके विशिष्टाद्वैत अपनी श्रुतिसम्मत जगद्‌गुरुत्व को प्रमाणित करके इस शताब्दी का कीर्तिमान स्थापित किया है।

आप विदेशों में भी भारतीय संस्कृति का विश्वविश्रुत ध्वज फहराते हुए, सजगता एवं जागरूकता से भारतीयधर्माचार्यो का कुशल प्रतिनिधित्व करते हैं।

आचार्य श्री के प्रकाशित ग्रन्थ

१. मुकुन्दस्मरण् (संस्कृत स्तोत्र काव्य) भाग—१—२
२. भरत महिमा
३. मानस में तापस प्रसंग
४. परम बड़भागी जटायु
५. काका विदुर (हिन्दी खण्ड काव्य)
६. माँ शबरी (हिन्दी खण्ड काव्य)
७. जानकी-कृपा कटाक्ष (संस्कृत स्तोत्र काव्य)
८. सुग्रीव की कुचाल और विभीषण की करतूत
९. अरुन्धती (हिन्दी महाकाव्य)
१०. राघव गीत-गुन्जन (गीत काव्य)
११. भक्ति—गीता सुधा (गीत काव्य)
१२. श्री गीता तात्पर्य (दर्शन ग्रन्थ)
१३. तुलसी साहित्य में कृष्ण-कथा (समीक्षात्मक ग्रन्थ)
१४. सनातन धर्म विग्रह-स्वरूपा गौ माता
१५. मानस में सुमित्रा
१६. भक्ति गीत सुधा (गीत काव्य)
१७. श्री नारद भक्ति सूत्रेषु राघव कृपा भाष्यम् (हिन्दी अनुवाद सहित)
१८. श्री हनुमान चालीसा (महावीरी व्याख्या)
१९. गंगा महिम्न स्तोत्रम् (संस्कृत)
२० आजादचन्द्रशेखरचरितम् (खण्डकाव्य) संस्कृत
२१. प्रभुकरिकृपा पाँवरि दीन्ही
२२. राघवाभ्युदयम् (संसकृत नाटक)

आचार्यश्री के शीघ्र प्रकाशित होने वाले ग्रन्थ :

१. हनुमत्कौतुक (हिन्दी खण्ड काव्य)
२. संस्कृत शतकावली (१) आर्याशतकम् (२) सीताशतकम्
(३) राघवेन्द्र शतकम् (४) मन्मथारिशतकम् (५) चण्डिशतकम्
(६) गणपतिशतकम् (७) चित्रकूटशतकम् (८) राघव चरणचिह्नशतकम्
३. गंगा महिम्न स्तोत्रम् (संस्कृत) ४. संस्कृत गीत कुसुमाञ्जलि
५. संस्कृत प्रार्थनाञ्जलि ६. श्लोकमौक्तिकम्
७. कवित भाण्डागारम् (हिन्दी)

।। श्री राघवो विजयतेतराम् ।।

आचार्यचरणानां बिरुदावली

नीलाम्बुज श्यामलकोमलाङ्गं सीतासमारोपितवामभागम् ।
पाणौ महासायकचारुचापं नमामि रामं रघुवंशनाथम् ।।
रामानन्दाचार्यं मन्दाकिनीविमलसलिलासिक्तम् ।
तुलसीपीठाधीश्वरदेवं जगद्गुरुं वन्दे ।।

श्रीमद् सीतारामपदपद्मपरागमकरन्दमधुव्रतश्रीसम्प्रदायप्रवर्तकसकलशास्त्रार्थ-महार्णवमन्दरमतिश्रीमदाद्यजगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यचरणारविन्दचञ्चरीक: समस्तवैशण-वालंकारभूता: आर्षवाङ्गमयनिगमागमपुराणेतिहाससन्निहित गम्भीरतत्त्वान्वेषणतत्परा: पदवाक्यप्रमाण पारावारपारीणा: सांख्ययोगन्यायवैशेषिपूर्वमीमांसावेदान्तनारदशा ण्डिल्यभक्तिसूत्रगीतावाल्मीकीयरामायण: भागवतादिसिद्धान्तबोधपुर:सरसमधिकृता-शेषतुलसीदाससाहित्य सौहित्यस्वाद्यायप्रवचनव्याख्यानपरमप्रवीणा: सनातन-धर्मसंरक्षणधुरीणा: चतुराश्रमचातुर्वर्ण्यमर्यादासंरक्षण विचक्षणा: अनाद्यविच्छिन्न-सद्गुरुपरम्पराप्राप्तश्रीमद्सीतारामभक्ति भागीरथीविगाहनविमलीकृतमानसा: श्रीमद्-रामचरितमानसराजमराला: सततं शिशुरूपराघवलालनतत्परा: समस्तप्राच्यप्रतीच्य-विद्याविनोदित विपश्चित: राष्ट्रभाषागिर्वाणगिरामहाकवय: विद्धन्मूर्धन्या: श्रीमद्रामप्रेम साधनधनधन्या: शास्त्रार्थरसिकशिरोमणय: विशिष्टाद्वैतवादानुवर्तिन: परमहंस-परिव्राजकाचार्यत्रिदण्डी वर्या:श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठा: प्रस्थानत्रयीभाष्यकारा: श्रीचित्रकूटस्थ मन्दाकिनीविमलपुलिननिवासिन: श्रीतुलसीपीठाधीश्वरा: श्रीमद्जगद्गुरु स्वामी रामानन्दाचार्या: अनन्तश्रीसमलंकृतश्रीश्रीरामभद्राचार्य महाराजा: विजयन्तेतराम्।

।। श्रीराघव: शन्तनोतु ।।

''श्रीमद्राघवो विजयतेतराम्''

श्रीमद्भगवद्गीता

श्रीमद्भगवद्गीतासु पदवाक्यप्रमाणपारावारीणकवितार्किक-चूडामणिवाचस्पतिजगद्गुरुरामानन्दाचार्यस्वामीरामभद्राचार्यप्रणीतं श्रीमदाद्यजगद्गुरुरामानन्दाचार्यसम्प्रदायानुसारिविशिष्टाद्वैतसिद्धान्त-प्रतिपादकश्रीराघवकृपाभाष्यम्।।

कर्मकाण्डात्मकं

।।श्रीमद्राघवो विजयतेतराम्।।
।।श्रीमते रामानन्दाचार्याय नमः।।

मंगलाचरणं

श्रीसीतार्पितवामभागविभवं सौमित्रिदत्तप्रभम् ।
श्रीमन्मारुतिजुष्टपङ्कजपदं ब्रह्माद्वयं तत्पदम् ।।
बिभ्राणं शरचापतूणममलं नीलाम्बुदश्यामलम् ।
श्रीरामं चिदचिद्विशिष्टमनघाद्वैतं श्रये श्रेयसे ।।१।।

केचिद्ध्यानपरायणाः प्रतिपदं पारंपरं वैभवात् ।
भूयिष्ठं समुपासते तु विरजं तन्निष्कलं निष्क्रियम् ।।
किं त्वस्मन्नयनाभिरामविषयः श्यामस्तमालद्युतिः ।
कौसल्यासुकृताब्धिशारदशशी श्रीराघवो राजते ।।२।।

नन्दं-नंदयते गिरिं च वहते राधाननं चुम्बते ।
गोपान् क्रीडयते सखीन् रमयते दूर्वारूचं मुष्णते ।।
कंसं नाशयते पुरं रचयते कृष्णाम्बरं तन्वते ।
गीतां संदिशतेऽर्जुनं सुखयते तस्मै नमः शौरये।।३।।

प्रतापतरुणस्तरुप्रवरदर्पभंगव्रती
महेन्द्रविधिसेवितो बलसमीरणोद्दीपितः ।।
सघोषजनिरूद्धतो वृजिनहा हरिर्वै नृणाम-
घौघवनमुज्ज्वलो दहतु कंसवंशानलः ।।४।।

नवीनघनसुन्दरो भवनिधेर्महामन्दरो
बलेन बलिना युतः कुवलयी कुमारान्वितः ।।
गजेन्द्रमदमर्दनो दनुजदुष्टदर्पार्दनो
दुनोतु मम कैतवं कुटिलकंसहा माधवः ।।५।।

विलसति भुवि भारती विनीता ।
भुवनललामरमाभिरामगीता ।।
सुजनचयचकोरचारुपीता ।
यदुपकलाधरकौमुदीव गीता ।।६।।

श्रीराघवकृपाभाष्यं श्रीगीतासु यथामति ।
श्रीरामभद्राचार्योऽहं कुर्वे श्रीरामतुष्टये ।।७।।

श्रीसीतापतिः पतितपावनपरमविमलश्रीमच्चरणकमलविनिर्गलत्परममधुरपरागपराग-रागानुरागानवद्यसुमहामकरन्दनिष्यन्दनिहतकलशमलनिर्मलपरिमलसमावर्जितकोटि-कोटिपरमहंसपरिव्राजकाचार्यविमलात्ममहात्मरोलम्बनिकुरम्बसततसमनुजेगीयमान-निरवधिनिरस्तसकलहेयगुणप्रपञ्चनिष्प्रपंचसमधिसृतसकलकल्याणगुणगणपरमपावनकूपार-परमोदारभवाम्बुधिवहित्रचारुचरित्रनिकरनिटिललोचनालंकारपीयूषसारसम्पोषितकोटिकोटि-प्रपन्ननिकरनिर्निमेषनयनमनोज्ञालिवरूथपेपीयमानासमूर्ध्वानन्दसन्दोहमन्दाकिनी-माधुरीधुर्यमधुरमुखारविन्दः लक्ष्मणभरतशत्रुघ्नप्राभञ्जनिप्रभृतिप्रपत्तिनिरतप्रभुपदपद्मपरागा-सवमधुव्रतरुचिरपरिकरपरिशीलितभवपाथोधिपादारविन्दः परस्सहस्रलेखाधीशशतशत्रुकलत्र-सीमन्तिनीसीमन्तसिन्दूरपूरप्रचुरप्रणतिसमरुणितचरणतामरससरससारस्वतसमधिक-समभिष्टूयमानचारुचरित्रभर्तृवात्सल्यप्रथितमनोहरविरुदव्रीडितविबुधवीथितरलतरङ्गपरमान्त-रङ्गसैरध्वजीनयननलिनसुमनोज्ञषडङ्घ्रिपेपीयमानसुन्दरसार्वभौमस्वरूपसारससारघः इन्द्रनीलमणिनीलेन्दीवरकन्दकालिन्दिकेकिगलदूर्वादलातसीपुष्पपाथोधितरुणतमालश्यामो विपुलमकरकेतनाभिरामो भुवनललाममैथिलीमनोज्ञमनोऽभिरामो भवभयविपद्विरामश्रीरामः परंब्रह्म चिदचिद्विशिष्टाद्वैतो विगलितसुजनखेदो वेदान्तवेद्यःश्रीहरिः अयोध्यापरपर्याय-श्रीसाकेतकृतकेतनः सकलप्रणतप्रपन्नहृदयनिकेतनः परिशुद्धचेतनघनः समस्तलोकशरणागत–भूतव्रातरक्षाव्रती जयति।

स खलु निजनिःश्वासभूतवेदविहितप्रवृत्तिनिवृत्तिप्रपत्तिलक्षणत्रितयधर्मसमुत्कर्षविवर्धयिषया दशरथभक्तिवशंवदः श्रीकौसल्यायां परिपूर्णतमपरात्परब्रह्मविग्रहःसहांशैः साक्षाद्भगवान् रामः समवततार। "चिन्मयेऽस्मिन् महाविष्णौ जाते दशरथे हरौ" रामतापनीयोपनिषद् १-१-२ इति श्रुतेः। स एव मर्यादापुरुषोत्तमस्तस्यैव पूर्वोक्तलक्षणत्रितयस्य सनातनधर्मस्य द्वापरे पुनरपि दृप्तनृपव्याजदैत्यनिकरसमभिभूतहर्षस्य समुत्कर्षचिकीर्षया देवक्यां वसुदेवात् श्रीकृष्णसंज्ञः सम्प्रकटयाम्बभूव। "त्वं च कृष्णो वृहद्बलः" इति प्राचेतसोक्तेः। स किल लीलापुरुषोत्तमः पूतनाशकटतृणावर्तवककंसपौण्ड्रकशिशुपालादीन् निहत्य घातयित्वा च कौरवपाण्डवसमरच्छलेन भूभारभूतान् दुर्योधनादीन् रञ्जयित्वा गोपीगोपालश्रीदामसुदामप्रभृतीन् परमभागवतान् पुनः कुरुक्षेत्रे परमान्तङ्गपरिकरं श्रीमत्सव्यसाचिनं निमित्तीकृत्य सर्वोपनिषद्गवीं दुग्ध्वा श्रीगीतामृतं पिपाययिषुः सकलानपि प्रपन्नानस्मदादीन् निजमुखपद्मपरममकरन्दभूतं श्रीगीताशास्त्रं समवतारयामास। तच्च भगवत्कलावतारः सर्वज्ञशिरोमणिः श्रीवेदव्यासो मध्ये महाभारतं भीष्मपर्वणि द्व्यष्टसंख्यापरिमिताध्यायैः सप्तशतश्लोकेषु समुपनिववन्ध परिकलितविधिभाष्य-विवृतिव्याख्याटिप्पणीटीकामपि श्रीगीतामहं श्रीवैष्णवनिखिलविद्वन्मनस्तोषाय निजमलिनमति-पिपावयिषया श्रीराघवकृपालब्धप्रतिभावलो विमलमनसा श्रीराघवकृपाभाष्येण समलङ्कर्तुं प्रयते। अथ तावत् श्रीगीताशास्त्रस्य किं तात्पर्यमिति विचारणायां विप्रतिपद्यन्ते विपश्चितः। श्रीशङ्कराचार्याः सर्वकर्म संन्यासमेव श्रीगीतातात्पर्यं निश्चिन्वन्ति तदापातरमणीयम्। संन्यासस्य तात्पर्यत्वे तैर्या युक्तयः समुद्भाविता ता अप्याकाशपुष्पायिताः। तद्यथा "संन्यासयोगयुक्तात्मा" गीता ९-२९, "सर्वसंकल्पसंन्यासी" गीता ६-४, "न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन"

गीता ६-२, "न तु संन्यासिनां क्वचित्" गीता १८-१२, "नैष्यकर्म्यपरमां सिद्धिं संन्यासेनाधिगच्छति" गीता १८-४९ इत्येवमादयः। तत्र प्रयुक्तः संन्यासशब्दः नैव तुरीयाश्रम-नियमविशेषपरः प्रत्युत् सम्यक् निकृतं असनं इति संन्यासः सम्यक् नितरां असनं भगवच्चरणयोः आत्मात्मीयज्ञातिवंन्धूनां समर्पणं इति संन्यासः। यथा श्रीमद् वाल्मीकीये रामायणे श्रीविभीषणोक्ति :—

रावणो नाम दुर्वृत्तो राक्षसो राक्षसेश्वरः।
तस्याहमनुजो भ्राता विभीषण इति श्रुतः।।वा०रा०६-१७-१२
"सोऽहं परुषितस्तेन दासवच्चावमानितः।
त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च राघवं शरणं गतः।।
निवेदयत मां क्षिप्रं राघवाय महात्मने।
सर्वलोकशरण्याय विभीषणमुपस्थितम्।।वा०रा०६-१७-१६-१७

राक्षसाणामीश्वरः राक्षसेश्वरः, राक्षसः सन् राक्षसान् ईष्टे इत्यर्थः। अनुजः लघुः भ्राता विमातृवन्धुरिति भावः, सोऽहं सीतानिर्यातनार्थं दीयमानबहूपदेशः तेन रावणेन अवजानता दासवत् क्रीतभृत्यवत् अवमानितः तिरस्कृतः चकारेण वक्षसि ताडितः। अथ त्वया किं कृतमित्यत् आह-त्यक्त्वेत्यादि - पुत्रान् औरसान् दृढ़ममताविषययान् दारान् जीवनसङ्गिनीं सरमानाम्निपत्नीमपि त्यक्त्वा राघवं रघुकुलोद्भवं श्रीरामं अथवा लङ्घन्ति पापपुण्यानि एते रघवः जीवाः तेषामयं शाश्वतसम्बन्धिराघवः, जीवे नित्यममतावान् सकलजीवजातस्य शाश्वतसम्बन्धिरघुभ्यो जीवेभ्यो हितः राघवः, उभयत्र अण् प्रत्ययः, पूर्वत्र तस्येदम् पा० **३१०४-३-१२०** इति सूत्रेण, अपरत्र उदन्तलक्षणं तं वाधित्वा वाहुलकात् अणेव, तं राघवं जीवनित्यसंवन्धिनं सर्वजीवहितैषिणं च रघुकुलोद्भवं कौसल्यानन्दवर्धनं श्रीरामं शरणं गतः। आश्रयं रक्षकं च स्वीकरोमि स्म, अत्र त्यक्त्वा इत्यादि तृतीयचरणेनैव शरणागतिलक्षणसंन्यासो व्याख्यातः। किंच सर्वकर्मसंन्यासे महातात्पर्ये स्वीकृते तार्तीयकवचनविरोधः तथा हि—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।। गीता ३-४

इह भगवान् कर्मानारम्भमूलकसिद्धिप्राप्तिं सर्वकर्मसंन्यासपुरस्सरसिद्ध्यधिगमं च यौगपद्येन सुस्पष्टं प्रत्यादिशन् कण्ठरवेण सर्वकर्मसंन्यासमहातात्पर्यं निरस्यति, किञ्च—

"तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते" गीता ५-२
"न निरग्निर्न चाक्रियः" गीता ६-१
"संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः"।गीता५-६
"काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः"।।गीता १८-२

इत्यादि वचनैः भगवता स्वयमेव कर्मयोगापेक्षया कर्मसंन्यासावरत्वं प्रत्यपादि, किं बहुना तार्तीयके पञ्चमे श्रीगीतायाः देहभृतः क्षणमपि कर्माशून्यत्वासंभवं ससमारोहं प्रतिपादयता श्रीवासुदेवेन भगवता शरीरिणः सर्वकर्मसंन्यासानर्हत्वं स्पष्टमेव सिद्धान्तयाम्बभूवे। किंच क्षत्रियस्यार्जुनस्य संन्यासानधिकारित्वे सर्वकर्मसंन्यासोपदेशः सकलशास्त्रज्ञशिरोमणिना भगवता श्रीशार्ङ्गधन्वना विहितप्रत्यवायाय कल्पेत, यथोक्तं श्रीमधुसूदनसरस्वतीपादेन "सर्वेषां तु शास्त्राणां परमं रहस्यमीश्वरशरणततैवेति" तत्रैव शास्त्रपरिसमाप्तिर्भगवता कृता। तामन्तरेण संन्यासस्यापि स्वफलापर्यवसायित्वात्। अर्जुनं च क्षत्रियं संन्यासानधिकारिणं-प्रति संन्यासोपदेशायोगात्। अर्जुनव्याजेनान्यस्योपदेशे तु वक्ष्यामि ते हितं, त्वां मोक्षयिष्यामि, सर्वपापेभ्यस्त्वं मा शुच इति चोपक्रमोपसंहारौ न स्याताम्। तस्मात्संन्यासधर्मेष्वप्यनादरेण भगवदेकशरणतामात्रे तात्पर्य भगवतः। अन्यच्च— "अस्मिन् हि गीताशास्त्रे निष्ठात्रयं साध्यसाधनभावापन्नं विवक्षितमुक्तं च बहुधा"। तत्र कर्मनिष्ठा सर्वकर्मसंन्यासपर्यन्तोपसंहता "स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः" इत्यत्र। संन्यासपूर्वक-श्रवणादिपरिपाकसहिताज्ञाननिष्ठोपसंहता "ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्" इत्यत्र। भगवद्भक्तिनिष्ठा तूभयसाधन-भूतोभयफलभूता च भवतीत्यन्त उपसंहता सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रजेत्यत्र।

भाष्यकृतस्तु सर्वधर्मान्परित्यज्येति सर्वकर्मसंन्यासानुवादेन मामेकं शरणं व्रजेति ज्ञाननिष्ठोपसंहृतेत्याहुः। भगवदभिप्रायवर्णने के वयं वराकाः। गीता १८-६६ गीतागुढ़ार्थदीपिकातः। एवं "**नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते**" गीता १८-७ "**यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते**" गीता १८-११ "**न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति**" गीता ३-४ इत्यादि वचनानुरोधेन सर्वकर्मसंन्यासो नास्ति गीतातात्पर्यमितिनिर्विवादम् । अतएव शाङ्करसिद्धान्तलब्धप्रतिष्ठविद्वच्छिखामणिपण्डित-प्रकाण्डश्रीमधुसूदनसरस्वतीपादमहाभागेन भाष्यकृतस्तु इति वाक्ये तु शब्दं विन्यसता सिद्धान्तेऽस्मिन् स्वारुचिः प्रदर्शिता। "**शिष्यस्तेऽहं साधि समां त्वां प्रपन्नम्**" इति पार्थवचनमुपक्रम्य "**मामेकं शरणं व्रज**" इति भगवद्वाक्योपसंहारे शरणागतेरेव चर्चितत्वात्, पुनः सर्वकर्मसंन्यासतात्पर्य- घटाटोपेन उपक्रमोपसंहारविरोधे शास्त्रमर्यादाहानिरप्यापद्येत। किञ्च श्रीगीतायाः सर्वकर्मसंन्यासतात्पर्ये स्वीकारे "**करिष्ये वचनं तव**" गीता १८-७३ इति भगवतः पुरतः प्रतिज्ञाय भगवद्वचनानुसरणं पुनः पार्थस्य गीतोपदेशभाजनभूतस्य सर्वकर्मसंन्यासविरुद्धः गाण्डीवधारणभीषणसङ्ग्रामशात्रवकदनप्रवृत्तिदर्शनात् गीतोपदेश-वैयर्थ्यापत्तिरपि स्यात्। यथोपदिष्टफलविपरीतप्रवृत्तेः। किं च सर्वकर्मसंन्यासस्य परमहंसपरिव्राजका-चार्यविरक्तचूडामणिकाषायवासः परिवीतत्रिदण्डी-स्वाम्युपदेशलभ्यत्वनिर्देशात् भगवतः कृष्णस्य च षोडशसहस्रकलत्रवल्लभस्य सद्गृहस्थचूडामणेः द्वितीयाश्रमसंस्थितस्य गृहमेधिने अभिमन्युजनकाय सुभद्रापतये स्वयम्बरमत्स्यभेद-प्रक्रियाविजितकृष्णाकलत्राय पार्थाय श्रीगीतोपदेशदर्शनात् श्रुतिमर्यादा महोल्लङ्घनापत्तेश्च न खलु सर्वकर्मसंन्यासोपदेशकत्वे

समुपयुज्यते सन्नच्युतोऽपि भगवान् न खलु सन्नपि भगवद्विभूतिः पार्थोगृहस्थश्रोतृत्वे, तस्मात् गीतातात्पर्यत्वेन सर्वकर्मसंन्यासप्रतिष्ठापनं प्रच्छन्नबौद्धस्य भगवत्पादशंकरस्य पण्डितप्रकाण्ड-चक्षुःषु धूलिप्रक्षेपमात्रम्। केचन् कर्मयोगमध्यवस्यन्ति गीतात्पर्यत्वेन तदपि न तस्यैकदेशीयत्वात्। गीतायाः त्रीण्यध्यायषट्कानि, प्रथमषट्के त्वं पदार्थव्याख्याप्रसंगे जीवत्वप्रतिपादनोपक्रमे कर्मयोगः, द्वितीये च तत्पदार्थव्याख्याने ब्रह्मत्वप्रतिपादयिषया भक्त्यैव लभ्यतया तस्य भून्मः भक्तियोगः, तृतीये च षट्के असीत्यस्य व्याख्याने प्रकृते द्वयोः जीवब्रह्मणोः स्वरूपतो भेदत्वप्रतिवादनचिकीर्षया ज्ञानयोगः प्रावर्णि। एवं **"कुरू कर्मैव तस्मात्त्वम्"** गीता ४-१५, **"इमं प्राप्य भजस्व माम्"** गीता ९-३३, **"मच्चित्तः सततं भव"** गीता १८-५७ इत्यादि प्रतिपादनेषु कर्मभक्तिज्ञान नाम-उपलब्धेः सम्बन्धनिबन्धनैकतायाः श्रुतत्वात् स्मृतत्वाच्च, जीवब्राह्मणोः स्वरूपतो नैकत्वं इति साम्रेडं समजूघुसम्। केचनिह राजयोगं, केचन् अनासक्तियोगम्, केचिच्च हठयोगमित्येवमादि प्रलपन्तः दृष्यन्ते। किन्तु उपक्रमोपसंहारादि-पर्यालोचनायां विद्वन्निकषभूतायां सर्वेषामपि अनुत्तीर्णपरीक्षकत्वात् समुपेक्ष्याः सर्वे। अथ तावत् किं तात्पर्यं श्रीगीतायाः इति चेत् ! प्रपत्त्यपरपर्याया शरणागतिरेवेति वयम् जगद्गुरु श्रीमदाद्यरामानन्दाचार्यचरणसरसिजचञ्चरीकाः। अत्र हि परमं प्रमाणं श्रीगीतायाः नवमे चरमे प्रोच्यमानं भगवच्छ्रीकृष्णवचनमेव। तथा हि—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्। गीता ९-३२

अत्र हि शंकराचार्यः प्राह - मां हि यस्मात् पार्थ ! व्यपाश्रित्य मां आश्रयत्वेन गृहीत्वा येऽपि स्युः भवेयुः पापयोनयः पापं योनिः येषां ते पापयोनयः पापजन्मानः - के ते इति ? आह - स्त्रियो वैश्याः तथा शूद्राः तेऽपि यान्ति गच्छन्ति परां प्रकृष्टां गतिम्।

श्रीधरस्वाम्यपि आचारभ्रंष्टं मद्भक्तिः पवित्रीकरोतीति किमत्र चित्रम्। यतो मद्भक्तिर्दुष्कुलानप्यनधिकारिणोऽपि संसारान्मोचयतीत्याह - मां हीति। येऽपि पापयोनयः स्युर्निकृष्टजन्मानोऽन्त्यजादयो भवेयुः, येऽपि वैश्याः केवलं कृष्यादिनिरताः स्त्रियः शूद्रादयश्चाध्ययनादिरहितास्तेऽपि मां व्यापाश्रित्य संसेव्य परां गतिं यान्ति हि निश्चितम्।

यत्तु शङ्करानन्दः – "स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रा येऽपि स्युरन्ये पापयोनयो नीचजन्मानो ये नीचकर्माणश्च म्लेच्छपुल्कसादयस्तेऽपि मां परमात्मानं सोपाधिकं निरुपाधिकं वा सद्गुरूपदेशजनितज्ञानेन व्यपाश्रित्य सम्यगुपास्य क्रमेण साक्षाद्वा परां गतिं परमपुरुषार्थं कैवल्यं प्राप्नुवन्ति इत्यर्थः इति"। सद्गुरुपदेशजनितज्ञानेन भगवन्तमुपास्य परमपुरुषार्थप्राप्तिरूक्ता तन्न विद्वदादरार्हम् ! यतो हि तत्रत्य प्रकरणमनालोच्य पूर्वाग्रहग्रस्तमस्तिष्कतया तेन प्रलपित्वात्, अत्र प्रकरणे भक्तिप्रपत्तिनिरूपणस्य सुस्पष्टं श्रवणात्। "भजते मामनन्यभाक्" इत्युपक्रम्य "इमं प्राप्य भजस्व माम्" इत्यत्रोपसंहार- दर्शनात् सुस्पष्टेऽस्मिन् भक्तिमहिमप्रतिपादनप्रकरणे कुत आगतोऽयम् प्रकरणविरुद्धः सद्गुरूपदेशः, कुतस्त्यं वेदं सद्गुरूपदेशजनितज्ञानम्,

मध्यषट्कस्य च शुद्धभक्तिपरत्वेन स्वीकृतत्वाच्च मधुसूदनप्रभृतिभिः तथा च तत्रत्ये कारिके—

यतः समुच्चयो नास्ति तयोरतिविरोधतः।
भगवद्भक्तिनिष्ठा तु मध्यमे परिकीर्तिता।।
उभयानुगता सा हि सर्वविघ्नापनोदिनी।
कर्ममिश्रा च शुद्धा च ज्ञानमिश्रा च सा त्रिधा।।

गीतागूढार्थदीपिका कारिका ६-७

वस्तुस्तु काण्डत्रयात्मकं श्रीगीताशास्त्रं भगवद्भक्तिमेव त्रेधा वर्णयति प्रथमषट्के कर्ममिश्रां **"श्रद्धावान् भजते यो माम्"** गीता ६-४७ इत्यादिलिङ्गात्। तृतीये षट्के ज्ञानमिश्रां **"मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी"** गीता १३-१० **"मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते"** गीता १४-२६ **"भक्त्या मामभिजानाति"** गीता १८-५५ इत्यादि प्रमाणवैपुल्यानुरोधात्। मध्ये द्वितीये षट्के च मध्यमामिवाङ्गुलीम् उभयसंपोषिणीम् निखिल-श्रीवैष्णवजनमनस्तोषिणीम् शुद्धां भक्तिं समवर्णयत् भक्तवाञ्छाकल्पतरुर्भगवान्। **"चतुर्विधा भजन्ते माम्"** गीता ७-१६ **"भजन्ते मां दृढव्रताः"** गीता ७-२८ **"नमस्यन्तश्च मां भक्त्या"** गीता ८-१४ **"भजते मामनन्य भाक्"** गीता ९-३० **"भजस्व माम्"** ९-३३ **"मां नमस्कुरु"** गीता ९-३४ **"भजतां प्रीतिपूर्वकम्"** गीता १०-१० **"भक्त्या त्वनन्यया शक्यः"** गीता ११-५४ **"भक्तिमान्मे प्रियो नरः"** गीता १२-१९ इति प्रबलप्रमाणलिङ्गप्राचुर्यसद्भावात् इत्येवमधुसूदन-सरस्वतीपादानां तात्पर्यम्। एवं विद्वच्छिखामणिराद्धान्तिते भक्तिपरकतया द्वितीयेऽस्मिन् षट्के ज्ञानपरकं व्याख्यानं शङ्करानन्दीयम् ऋतेप्रलपनात् किञ्चिन्नान्यदवगच्छामः। मधुसूदनसरस्वतीस्वामी तु व्यपाश्रित्य इत्यस्य शरणं गत्वेत्यर्थमेव समाचीक्लृपत्। तथा हिं तत्रत्या मधुसूदनी— "हि निश्चितं हे पार्थ मां व्यपाश्रित्य शरणमागत्य येऽपि स्युः पापयोनयोऽन्त्यजा-स्तिर्यञ्चो वा जातिदोषेण दुष्टाः। तथा वेदाध्ययनादिशून्यतया निकृष्टाः स्त्रियो वैश्याः कृष्यादिमात्ररताः। तथा शूद्रा जातितोऽध्ययनाद्यभावेन च परमगत्य-योग्यास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्। अपिशब्दात्प्रागुक्तदुराचारा अपि इति। अत्र अद्वैतवादिशिखामणिभिरपि विद्वत्तल्लजैः श्रीमधुसूजनसरस्वतीपादैरपि निष्पक्षपातमनस्तया त्यक्तसाम्प्रदायिक सङ्कीर्णताकैः न्यायपूर्णहृदा समुचितमेव निर्भीकतया व्यपाश्रित्य इत्यस्य शरणमागत्येत्यर्थो व्यटङ्कीति चित्रम्। अथाहमपि— हे पार्थ प्रथयति शरणागतिमहिमानं या सा पृथा कुन्ती, पृथायाः अपत्यं पुमान् पार्थः **"तस्यापत्यम्"** इत्यण् तत्सम्बुद्धौ हे पार्थ ! तव जननी मम पितृश्वसा पृथानाम्नी कुन्ती परमैकान्तिकतया मां प्रपन्ना दिशि दिशि मच्छरणागतिमहिमानं प्रथयति। तस्याः मच्छरणागतायाः पृथयास्त्वं पुत्रः ततो भागवतजननी जनित्वेन सहजतया वक्ष्यमाणशरणागतिवैशिष्ट्यम् अञ्जसैव त्वाया समवगन्तव्यमिति पार्थेऽपि सम्बोधने भगवतो निगूढाभिप्रायः। मां निरस्तसकलहेय-गुणप्रत्यनीकत्वे सति निरवधिनिरुपमनिरुपद्रवनिरुपधिकनिश्शेषनिर्भरानन्दसन्दोहनिर्मोहनिष्कलुषनिष्कल्मष-

निष्कलंकपङ्कनिरातङ्कनिखिलकल्याणनिर्व्याज निर्दोष निर्मल गुणगणैकनिलयं स्वेच्छामयं विशुद्धवोधसच्चिदानन्दविग्रहम् समस्तकरुण्यतारुण्यसारल्यतारल्यवात्सल्यसौजन्य-सौशील्यादिसकलसद्गुणसद्संग्रहम् विहितोद्धर्मकुकर्मनर्मनिग्रहं दिव्यश्रीविग्रहं दधानं व्रीडित-बालदिवाकरच्छविचामीकरद्युति पीतवासो वसानं तोत्रवेत्रधरं स्वसारथिं माम्। स्वशरण्यत्वेन व्यपाश्रित्य शरणमाव्रज्य तथा हि विगतः अपकृष्टः शरण्यातिरिक्तः आश्रयः यस्मात् स व्यपाश्रयः, सर्वोत्कृष्टसामाश्रयप्रदाता, व्यपाश्रयं गच्छति इति व्यपाश्रयति, तथा कृत्वा इति व्यपाश्रित्य, तत्करोति क्वीबन्तेऽपि उपसर्गाणां अप आङ् इत्येतेषां नामधात्वंशे क्रोडी-कृतत्वेऽपि "बाहुलकाल्ल्यप्" एवं व्यापाश्रित्य सर्वशरण्यत्वेन शरणमित्वा ये पूर्वोक्ताः अपिना अनुक्ताश्च पापमेव योनिर्येषां ते पापयोनयः जन्मना कर्मणा चापि निम्नतमाः पापिष्ठाः, के ते इत्यत आह— स्त्रियःगणिका कुब्जादयः न हि सर्वाः स्त्रियः पापयोनयः भवन्ति पञ्चकन्यानां प्रातःस्मरणीयत्वविधानात्। यथा चोक्तम् —

"अहल्या द्रौपदी तारा कुन्ती मन्दोदरी तथा ।
पञ्चकन्या स्मरेन्नित्यं महापातकनाशनम् ।।

नैव सर्वासु स्त्रीषु पापयोनित्वमनसूयादीनां अरुन्धतीप्रभृतीनां श्रीसीता- राधिका-श्रीव्रजाङ्गनाद्यानां परमपुण्यश्लोकशिखामणिवन्दीनयत्वदर्शनात्। अतः पतिव्रतास्तु स्त्रियः निजपतिव्रतप्रभावेणैव परां गतिं यन्ति, किन्तु याः व्यभिचारतो दूषितशरीराः गणिकावृत्तयः पापयोनयः स्त्रियः ताः अपि बहुभर्तृकाः मां शरणं गत्वा परांगतिं यन्ति। यथा श्री भागवते वेणुगीते—

"पूर्णा पुलिन्द्य उरूगायपदाब्जराग-
श्रीकुङ्कुमेन दयितास्तनमण्डितेन ।।
तद्दर्शनस्मररुजस्तृणरुषितेन
लिम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम् ।। भागवत् १०-२१-१७

यथा च तत्रैव कुब्जा—

"तस्यै कामवरं दत्त्वा मानयित्वा च मानदः ।
सहोद्धवेन सर्वेशः स्वधामागमदर्चितम् ।।भागवत् १०-४१-११

वैश्याः नन्दादयः गोपालाः तत्र गोवृत्तयो वयम्। शूद्राः विदुरादयः, इमे सर्वे मच्छरणागति-महिम्नैव परां गतिं यास्यन्ति। इह स्त्रीणां वैश्यानां शूद्राणां च स्वशरणागत्यैव परमपदप्राप्तिं विधित्वेन वर्णयित्वा श्रीगीतायां भगवान् सर्वेषामपि प्रपत्तावधिकारं समुद्घोषयामास। इदमेव च सिद्धान्तयाम्बभूव चास्मत् परमदेशिकः सौशीलेयः जगद्गुरुः श्रीमदाद्यरामानन्दाचार्य :—

"सर्वे प्रपत्तेरधिकारिणः सदा
शक्ता अशक्ता पदयोर्जगत्प्रभोः।

अपेक्ष्यते तत्र बलं कुलं च नो
　　न चापिकालो न च शुद्धतापि वै।।
　　　　वैष्णवमताब्जभास्कर च० प०५०।

अथ प्रपत्तौ वैदिकं प्रमाणमिति ! श्वेताश्वतरश्रुतिरेव—

''यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदाँश्च प्रहिणोतितस्मै ।
तं देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ।।
　　　　श्वे० उ० ६-१८

अत्र देवमिति विशेष्यम् आत्मबुद्धिप्रकाशमिति समानाधिकरणं विशेषणं तमित्यपि यत्तदोः सापेक्षत्वात् पूर्वत्र पदयोः द्विरुच्चारितः यच्छब्दोऽपि व्याधिकरणविशेषणमेव, आत्मा च बुद्धिश्च आत्मबुद्धी अभ्यर्हितत्वात् आत्मशब्दस्य पूर्वप्रयोगः, आत्मबुद्धयोः प्रकाशः यस्मात् स आत्मबुद्धिप्रकाशः तं आत्मबुद्धिप्रकाशम् । यथोक्तं श्री रामचरितमानसे—

''विषय करन सुर जीव समेता ।
सकल एक ते एक सचेता ।।
सब कर परम प्रकासक जोई ।
राम अनादि अवधपति सोई ।। रामचरितमानस १-११७-५-६

एतद्रूपान्तरम्— विषया करणान्येव सुराश्चापि चतुर्दश ।
जीवाः इमेऽथ चैकैकसापेक्षचेतनाः स्मृताः ।।
चतुर्णामिह सर्वेषां परमो यः प्रकाशकः ।
स एव रामोऽयोध्याया अनादिपतिरीश्वरः ।।

अस्यां श्रुतौ प्रपत्तिप्रमाण्येन साकमेव तदुपयोगितयाः स्वरूपतो ब्रह्मजीवभेदोऽपि स्फुटं व्यादर्शि आत्मबुद्धिप्रकाशं इति शकलेन। न च आत्मनः बुद्धिः आत्मबुद्धिः तां प्रकाशयति तथाभूतमात्मबुद्धिप्रकाशमितिव्याख्यानेन नैवात्मपरमात्मभेद इति वाच्यम्, आत्मनः बुद्धिः आत्मबुद्धिः इति समासे सर्वतोऽसम्बद्धत्वात् प्रत्यगात्मनः बुद्ध्या सह सम्बन्धकल्पनागौरवात्, देवपदसन्निधानेन प्रसिद्धत्वाच्च बुद्धिः पदार्थस्य तत्रात्मशब्दप्रतियोगितानौचित्यात् पूर्वोक्त व्याख्यानेनादोषात्। ननु ''ब्रह्मैवेदं सर्वम्'' ''आत्मैवेदं सर्वम्'' ''योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः'' एकमेवाद्वितीयम् इत्येवमादीनां परश्शतश्रुतीनाम् अद्वैतसमनुरोधेन जीवब्रह्मणोः कथं भेदः साध्यते इति चेच्छ्रूयताम्, अमीषाम् एकत्वप्रतिपादिनीनाम् ब्रह्मजीवयोः संवन्धनिवन्धने ऐक्ये तात्पर्यं वयं हि जीवब्रह्मणोः स्वरूपत ऐक्यं प्रत्यादिशामो नतु संवन्धनिबन्धनम्, जीवो ब्रह्मणः स्वरूपतो भिन्नः न तु सम्बन्धतः स्वरूपतो भेदेऽपि जीवात्मपरमात्मनोः तत्र तत्र शास्त्रेषु संवन्धनिबन्धस्य ऐक्यस्य बहुत्र दृष्टत्वात्, श्रुतत्वात्, स्मृतत्वाच्च, यथा श्रीमद्रामायणे सुन्दरकाण्डे श्रीहनुमद् वाक्यम्—

"रामसुग्रीवयोरैक्यं देव्येवं समजायत ।
हनूमन्तंच मां विद्धि तयोर्दूतमुपागतम् ।। वा०रा०५-३५-५२

रामसुग्रीवयोः ऐक्यं संवन्धनिवन्धनं नतु स्वरुपनिबन्धनम्, इति तत्रत्य टीकाकृतः। अथ ऐक्यं सम्वन्धनिवन्धनम् इत्यत्र का वाचोयुक्तिः इतिचेत् ? श्राव्यते श्री भागवातवचनमेव सप्तमस्य प्रथमाध्याये सम्बन्धात् वृष्णयः "इत्युक्त्वा पुनर्दशमे ऊनत्रिंशे ऐक्यमिति तत्पर्यायरूपेण समभिगृणानो योगीन्द्रः शुकाचार्य एव ऐक्यं संबन्धमूलकं स्वीकरोति तथा हि—

"गोप्यः कामाद् भयात् कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः ।
सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद्यूयं भक्त्या वयं विभो ।। भागवत् ७-१-३०

अस्यैव दिग्दर्शने—

"कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च ।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते । भागवत् १०-२८-१५

तत्र सप्तमीयदशमीययोः शव्दा यथाक्रमं सङ्क्रमनीयाः, सप्तमे गोप्यः कामात्, दशमे कामं, तत्र भयात्कंसः इह भयम्, तत्र द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः इह क्रोधम्, तत्र सम्बन्धाद् वृष्णयः अत्र ऐक्यम्, तत्र स्नेहाद्यूयम् अत्र स्नेहम्, तत्र भक्त्या वयं विभो अत्र सौहृदमेव च, इत्थं येषु षट्सु श्रीभागवतविहितेषु भगवत्तन्मयीसाधनेषु ऐक्यापरपर्यायः सम्वन्धः अन्यतम एव साधनविशेष ऐक्यं सम्बन्धः इति तत्र भागवत् भावार्थदीपिकायां श्रीधरस्वामी। अथ को नाम जीवात्मनो व्रह्मणा सह सम्बन्धः ? इति चेत् शरीरशरीरिभावरूपः चिदचिती जीवप्रकृती द्वे शरीरे परमात्मा च शरीरी तयोर्मध्ये शरीरशरीरिभावसम्वन्धः अथ चिद्चिच्छरीरवत्वे ब्रह्मणः किं मानम् ? इति चेच्छृणु श्रौतं स्मार्तं च श्रौतं वृहदारण्यके तृतीयाध्याये सप्तमं सम्पूर्णं अन्तर्यानि व्राह्मणं "यस्य पृथ्वी शरीरं" यस्य विज्ञानं शरीरं इत्येवं त्रयोविंशति कृत्वः त्रयोविंशत्या श्रुतिभिः तत्र चिदचिच्छरीरवत्वं भगवतः श्रुतम् एवम् स्मृतिश्चापि जगत्सर्वं शरीरं ते वाल्मीकीयरामायणे—

"जगत्सर्वं शरीरं ते स्थैर्यं ते वसुधातलम् ।
अग्निः कोपः प्रसादस्ते सोमः श्री वत्सलक्षणः ।। वा०रा०११७-२७
खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्वानि दिशो द्रुमादीन् ।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः ।।
भा० ११-२-४१

एवं श्रीमद्रामायणे जगत्सर्वं शरीरं ते भागवते सरित्समुद्रांश्चहरेः शरीरम् इति बहुशः स्मृतत्वात् शरीरयोश्चचिदचितोः विशेषणत्वात् सम्वन्धनिबन्धनमैक्यं विशष्टाद्वैतानुकूलं तदेव दर्शनं नः।

अथ यथैकत्वप्रतिपादकश्रुतीनामनुरोधेन जीवब्रह्मणोरेकत्वं सम्बन्धनिबन्धनादृष्टे-त्यमाणि,

किं तथैव स्वरूपनिबन्धनैकत्वनिराशेऽपि समुपलब्धप्रमाणोऽसि ? इति चेत् ! ओमिति प्रकामं "द्वा सुपर्णा सयुजा सखया:" "शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा:" "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति" "रक्षिता जीवलोकस्य" इत्यादि श्रुतिस्मृतयः सन्ति प्रमाणानि स्वरूपनिबन्धनैकत्वनिरसने। "एकत्वमनुपश्यतः" इत्यस्य "जीवब्रह्मणोः सम्बन्धमानुकूल्येन निश्चिन्वानस्य" इत्यर्थः "योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि इह असौ इति सप्तम्येकवचनान्तम् प्राणवाचकम्, नत्वदः शब्दविकारभूतं सप्तमी च औपश्लेषिकी, असौ, असौ इति वीप्सायां द्वित्वम् नित्यत्वे वा, यः प्रत्यगुपश्लिष्टः प्रत्यगात्मा भगवत्किङ्करः सः अहमस्मि इति तत्रत्यवाक्यार्थः। एवमेव "ब्रह्मैवेदं सर्वम्" इत्यत्र सर्वस्मिन्नित्यस्य वैदिकभाषायां सर्वमिति तत्र ङि विभक्तिः "सुपां सुलुक् इत्यनेन सुः तस्य च "अतोऽम्" इत्यनेन अमादेशः, तथा हि सर्वस्मिन् चराचरात्मके जगति इदं सूक्ष्म-बुद्ध्या अनुभूयमानं ब्रह्म वर्तते। अन्तर्यामितया, यद् वा सर्वस्मिन् चराचरे ईं कामं द्यति खण्डयति इति इदं अत एव अत्रैव श्रीगातासु पञ्चमे सप्तम्यन्तघटितप्रयोगपञ्चकमेव मदुक्तप्रक्रियायां प्रमाणम्। तथा च श्लोकः—

> "विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
> शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।। गीता ५-१८

अत एव श्रीमानसे—

> "ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं ।
> दीख ब्रह्म समान सब माहीं ।।मानस ३-१५-७

एतद्रूपान्तरम् —

> "यत्र मानादिभावेषु नैकोऽपीह वितिष्ठते ।
> समं सर्वत्र ब्रह्मैव पश्यतो ज्ञानमुच्यते ।।

"एकमेवाद्वितीयम्" इत्यत्र द्वितीयशब्दः उपमावाची, नास्ति द्वितीयः तत्सदृशः यस्य तद् द्वितयं एकमेव ब्रह्म अद्वितीयम्, निरुपमम्, अन्ये सद्वितीयाः। अत एव गीतासु—

"न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो" गीता ११-४३

इत्येवं समाधानान्तरमपि। एवं श्रुतिस्मृतिप्रमाणितस्वरूपतो जीवब्रह्मभेदमूलक भगवत्-प्रपत्तिरेव गीताशास्त्रस्य परमंतात्पर्यमिति प्रदर्शयितुमुपक्रमे। प्रपत्तौ, प्रपत्ता, प्रपद्यं, प्रपत्तिः इती त्रीणि तत्त्वानि प्रपत्ता जीवः स चात्र मुमुक्षुः आर्तो दृप्तश्च परमैकान्तः, अर्जुनोऽत्र आर्तः। प्रपद्यं चिदचिद्विशिष्टाद्वैतं ब्रह्म श्रीरामाख्यं कृष्णावतारं, चित् अर्जुनः अचित् नन्दिघोषदि ताभ्यां विशिष्टं अद्वैतं, ब्रह्म भगवानेव श्रीकृष्णः सम्बन्ध श्चात्र अविनाभूतः शरीरशरीरिभावरूपः, शरीरं जडं जगत् चेतनो जीवश्च, शरीरी परमात्मैव अन्तर्यामिप्रकरणमेव बृहदारण्यके। अत एवं "जगत्सर्वं शरीरं ते" इति वाल्मीकीयं सङ्गच्छते। अयमेव चिदचिद्विशिष्टाद्वैतरूपो ब्रह्मापरपर्यायो भगवानेव प्रपत्तव्यः, का नाम प्रपत्तिरिति चेत्—

"अनन्ये साध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम् ।
तदेकोपायता याच्ञ्या प्रपत्तिः शरणागतिः ।।

"इत्याहुर्मनीषिणः" यत्र स्वाभीष्टं परमात्मातिरिक्तकर्तृसाध्यं न सम्भवति, एवं महाविश्वासपूर्वकम् तं प्रति एकोपाययाचना प्रपत्तिः, यथा पार्थः "कार्पण्यदोषोऽपहतस्वभावः" इत्यादौ "यच्छ्रेयः स्यात्" इत्यादि भगवन्तमेव याचते। महाविश्वासस्तु तस्य श्री द्वारवत्यां समविगणय्य दशकोटिसंख्यापरिमितां सकलशस्त्रास्त्रसन्नद्धां नारायणीसेनाम्, एकं निरायुधं शिखिपिच्छमौलिं द्वाराकाधीशं वृण्वानस्य, मन्वानस्य च कुरुक्षेत्रे स्वकं विजयं पूर्वमेव सुस्पष्टः। सा च प्रपत्तिः श्रीपरमेश्वरचरणारविन्दयोः सर्वसमर्पणात्मिका षड्विधा

"आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् ।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा ।।
कार्पण्यमात्मनिक्षेपः षड्विधा शरणागतिः ।।

इत्याभियुक्तत्वात्। इयं षड्विधाऽपि शरणागतिः यथाप्रसंगं तत्र तत्र स्फुटी करिष्यमाणाऽपि प्रादेशमात्रतयेह निर्देष्टुमारभ्यते।

१. **आनुकूल्यस्य संकल्पः**— अहं निरन्तरं निजशरण्यस्य भगवतः स्वरूपस्वभावमर्यादानुकूल एव यावज्जीवनं स्थास्यामि, इति प्रपित्सुना साधकेन क्रियमाणः सनिश्चयः प्रतिज्ञाविशेषः।

२. **प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्** — निजशरण्यस्य परमेश्वरस्य स्वभावस्वरूपमर्यादाविरुद्धानां प्रियतमानामपि वस्तूनां निज मनसा वचसा कर्मणा च स्वस्मात् सर्वथा दूरीकरणम्।

३. **रक्षिष्यतीति विश्वासः** — मम शरण्यः सर्वसमर्थो भगवान् शरणमुपेतं मां विपद्भ्यस्त्रास्यत एव इत्येवं बोधः प्रपित्सुस्वान्तान्तःजाग्रन् महाविश्वासः।

४. **गोप्तृत्ववरणम्** — गोप्तृत्वेन वरणं गोप्तृत्ववरणम् "तृतीयेति योगविभाषात् "समासः" उपलक्षिततत्वेन साधकद्वारा परमात्मनः वरणम् अहं सर्वसमर्थं समधिकात्प्रमेयबलं निरस्तनिखिलभक्तकश्मलं श्रीराघवं माधवं वा निजरक्षकत्वेन वृणे इत्याकारकम्।

५. **कार्पण्यम्** — भगवतस्त्रिलोकनाथस्य निजशरणस्य रघुपतेर्यदुपतेर्वा समक्षं निजदैन्य-दुरितदोषपापादिविज्ञापनम्। यथा आलवन्दारे श्री यामुनाचार्याः —

न निन्दितं कर्म तदस्ति लोके सहस्रशो यन्न मया व्यधायि ।
सोऽहं विपाकावसरे मुकुन्द क्रन्दामि सम्प्रत्यगतिस्तवाग्रे ।।आ० २६

६. **आत्मनिक्षेपः** — आत्मनो नितरां क्षेपः आत्मनिक्षेपः परमात्मनः पदपाथोजयोः सर्वस्य समर्पणम्। अत्र रामायणे भागवते च ऊह्यं प्रत्येकमुदाहरणम्। यथा मम—

"आनुकूल्यस्य संकल्पे श्री भरतो निगद्यते ।
लक्ष्मणश्चापि विज्ञेयः प्रातिकूल्यस्य वर्जने ।।

रक्षिष्यतीति विश्वासे ह्यङ्गदो राघवाङ्गदः ।
सुग्रीवश्चापि विज्ञेयो गोप्तृत्ववरणे किल ।।
विभीषणस्तु कार्पण्ये अञ्जनानन्दवर्धनः ।
आत्मनिक्षेप इत्येष यद्यप्यत्रैव षड्विधा ।।

श्री रामानन्दीयश्रीवैष्णवकुलकुमुदकलाधरे मज्जीवननिविडतिमिरविध्वंसपटुप्रभातविभातविभाकरदीधितिसङ्काशवचनरचनैः अस्मत्प्रातःस्मरणीयैः श्रीमानसकृद्भिः श्रीवाल्मीक्यवतारभूतैः श्रीगोस्वामितुलसीदासमहाभागैः गीतावल्याः एकस्मिन्नेव पद्ये पुरोदितायाः षड्विधाया अपि शरणागतेः सुभगसंग्रहो व्यधायि, पश्यन्तु तत्पद्यं तदनुपदं मत्कृतं संस्कृत-रूपान्तरमपि—

"महाराज राम पहँ जाउँगो ।
सुख स्वारथ परिहरि करिहौं सोई ज्यौं साहिबहिं सुहाउँगो ।।
सरनागत सुनि बेगि बोलिहैं हौं निपटहि सकुचाउँगो ।
रामगरीबनिवाज निवाजिहैं, जानिहैं ठाकुर ठाउँगो ।
धरिहैं नाथ हाथमाथे एहि तें केहि लाभ अघाउँगो ?
सपनोसो अपनो न कछू लखि लघु लालच न लोभाउँगो ।।
कहिहौं बलि, रोटिहा रावरो, बिनु मोलही बिकाउँगो ।
तुलसी पट उतरे ओढ़िहौं, उबरी जूठनि खाउँगो ।।

गीतावली सुन्दरकाण्ड ३०।।

एतद्रूपान्तरम् —

महाराज राममेष्याम्यहम् ।
त्यक्तसुखस्वार्थः कुर्यां तथा यथा प्रभुं भाष्याम्यहम् ।।
श्रुत्वागतं शरणमाह्वास्यति नितरां व्रीडिस्याम्यहम् ।
रामो मां त्रास्यते दरिद्रं निजनाथं ज्ञास्याम्यहम् ।।
करं धारिष्यति शिरसि राघवोऽतो लाभात्त्रप्स्याम्यहम् ।
स्वं स्वप्नवत् कदापि न पश्यन् न लघुनि लोभिस्याम्यहम् ।।
कथयिष्ये तव रोटीप्सुर्विना मूल्यं विक्रेष्याम्यहम् ।
तुलसी त्यक्तं पटं वसिष्ये जुष्टं समशिष्याम्यहम् ।।

एवं कृष्णचरितेऽपि—

"अनुकूल्यस्य संकल्पे ध्येयाः गोप्यो हरिप्रियाः ।
उद्धवश्चैव विज्ञेयः प्रातिकूल्यस्य वर्जने ।।

रक्षिष्यतीति विश्वासे ब्रजस्था सुहृदो हरेः ।
सुदामा धर्मराजाद्या गोप्तृत्ववरणे खलु ।।
कार्पण्ये विदुरः कुन्ती पार्थः प्रियसखा प्रभोः ।
आत्मनिक्षेप इत्येव यद्यप्यत्रैव षड्विधा ।।

अर्जुनस्य करुणनिवेदने श्रीगीतायाः द्वितीयाध्यायस्य सप्तमे पूर्वोक्ताः षडपि शरणागतिविधाः सुतरां विलालस्यमानाः पण्डिततल्लजैरवगन्तव्या किं बहुना कस्यचिदपि सिद्धान्तस्य ग्रन्थतात्पर्यत्वेन प्रतिष्ठापने तात्पर्यनिर्णयसमावधाने च तदनुरोधिलिङ्गषट्कसामाग्री समपेक्षते, न तामन्तरेण शास्त्रसर्वस्वविद्वद्भिः प्रतिपिपादयिषितसिद्धान्तः कदापि तात्पर्यत्वेन समवगन्तुं निर्णेतुं समादर्तुं वा शक्यते। तद्यथा—

"उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वताफलम् ।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ।।

सौभाग्यतः इमानि षडपि लिङ्गानि श्रीगातायास्तात्पर्यत्वेन प्रपत्तिप्रतिष्ठापनायां सुतरां समर्पितसहयोगानि समर्थितमत्सिद्धान्ततात्पर्याणि सन्ति। तद्यथा— उपक्रमो नाम ग्रन्थ प्रारम्भ उपसंहारश्च तद् विश्रामः, द्वयोरपि सिद्धान्तचर्चया भवितव्यम्, दृश्यते च सा— उपक्रमे तावत्

"शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्"
उपसंहारे – "मामेकं शरणं व्रज"

अभ्यासस्तावत् — विवक्षितस्य तात्पर्यस्य असकृदुपदेशः। सच भूरिशो जाग्रत् दरीश्यते यथा "बुद्धौ शरणमन्विच्छ" "निवासः शरणम्, अपूर्वता नाम अज्ञातज्ञापकता "शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्" इति कथितवतोऽपि पार्थस्य न योत्स्ये इति स्वतन्त्रेच्छा-प्रकटीकरणेन शरणागतिरहस्यस्य तदज्ञातत्वसूचनात्। तद् ज्ञापनायैव भगवता श्रीगीताशास्त्रस्यावतारितत्वात्, असकृच्च शरणागतेरेव श्रेयस्त्वेन ज्ञापितत्वात् तत्रैवापूर्वता। प्रारम्भ एव अर्जुनेन श्रेयो जिज्ञासा व्यधायि "यच्छ्रेयः स्यात्" पुनश्च असकृदावतर्ति "येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्" "यच्छ्रेयः एतयोरेकम्" तदनु भगवता "मामेकं शरणं व्रज" इत्युपसंहार-वाक्ये शरणागतेरेव सकलनित्यनैमित्तिककर्मभगवदुपासनाज्ञानानां श्रेयस्त्वेन निर्णीतत्वात् तत्रैवापूर्वता फलम्– माया महानदी तरणमेव सकल-फलशिरोमणि तच्च शरणागति द्वारकम्। यथा "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते" एवकारः उभयत्र संयोज्यः ये मामेव अन्य देवता योगव्यावच्छेदेन प्रपद्यन्ते शरणमायान्ति त एव तरन्ति मायामहानदीं नान्ये, इत्येव तत्रलौकिकं फलम्। अर्थवाद :– स्तुतिपरकवचनं तत्तु इहैव "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते"

"तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ।।

इत्येवमादिरर्थवादः।

उपपत्तिः— "सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वाचः "इति प्रतिज्ञाय शरणागतेरेव गुह्यतमतां निरूप्य तत्रापि उत्तरार्द्धे "इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्षामि ते हितम्" इत्यनेन इष्टमर्जुनं प्रति सर्वहितैषिशिखामणित्वेन शरणागतेरेव "मामेकं शरणं व्रज "इति निर्दिष्टत्वात्, अर्जुनेनापि प्रपत्तिमेव शरणागतिं सर्वश्रेःयचूडामणिं मन्वानेन "करिष्ये वचनं तव" इत्यन्तिमप्रतिज्ञापरकवाक्ये शरणागतिरेव स्वीचक्रे, अन्यथा कुर्यां त्वत्प्रेणितं रणम् "इत्येव प्रतिजानीयात्, यतो न प्रतिज्ञापि ततः प्रपत्तिरेव गीताशास्त्रतात्पर्यत्वेन सोपपत्ति निर्णीता। इमामेव गीतातात्पर्यभूतां प्रपत्तिमहं प्रत्यध्यायं यथा प्रसंगं सशास्त्रयुक्तिप्रतिभावलं समर्जित-श्रीसीतारामकृपावलः समधिश्रित जगद्गुरु श्रीमदाद्यरामानन्दाचार्यः श्रीहुलसीहर्षबर्धनतुलसीदास-प्रभृतिश्रीवैष्णवसद्गुरुशुभाषीराशिसम्वलः यथाबुद्धि स्फुटीकरिष्यन् श्रीसीताराम श्रीवैष्णवमनस्तोषाय गीताशास्त्रमेतत् प्रपत्तियोगतात्पर्यकं प्रतिपदं व्याख्यातुं प्रयतिष्ये इत्यवतरणिका।

।।श्रीमद्राघवो विजयतेतराम्।।
।।श्रीमते रामानन्दाचार्याय नमः।।

''अथ प्रथमोऽध्यायः''

क्वचिद् गीतां गायन् क्वचिदथ नयन् फाल्गुनरथम्।
क्वाचिच्छ्रान्तान् वाहान् करसरसिजाभ्यां परिमृशन्।।
क्वचित् पार्थान् पुष्णन् क्वचिदथ जिघांसन् कुरुभटान्।
कुरुक्षेत्रे कृष्णः कृतललितलीलो विजयते।।

अथ प्रकृतमनुसरामो रामचन्द्रं भजामः — तत्र प्रथमं सकलशास्त्रार्थभूतायाः श्रीवेदार्थमहातात्पर्यपण्डितायाः भगवदीयवचनसुधासीकरसमुपलालितपण्डितायाः ब्रह्मविद्याया अनवद्यायाः सकलवेदान्तचरमसिद्धान्तचिदचिद्विशिष्टाद्वैतवादपरीतायाः श्रीमद्भगवद्गीतायाः अधिकारिपात्रतानिरुपणाय याज्ञवल्क्यजनकादिसम्वादवत् स्तुत्यर्थञ्च तत्प्रपिपाद्याध्यात्मविद्यायाः श्लोकानां सप्तचत्वारिंशता प्रथमाध्यायमवतारयति।

इह शास्त्रे ये खलु भगवदीयाः श्लोकाः ते योगेश्वरेण भगवता स्वयमेव कथिताः, व्यासेन केवलं सर्वज्ञमुकुटमणिना मध्ये महाभारतं सुमनस इव गुम्फिताः, अतएवाभियुक्ता आमनन्ति— 'व्यासेन ग्रथितां पुराण मुनिना मध्ये महाभारतम्'' इति। तेषां श्लोकानां संगतये व्यासेन केचन श्लोकाः रचिताः भगवदुक्ताः श्लोकाः न व्यास प्रणीता इत्यत्र किम्मानमिति चेत् भीष्मपर्वणि गीताशास्त्रविश्रामे तन्माहात्मवर्णनाध्याये स्वयं व्यासोक्तिरेव—

''गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता।।

इमां ब्रह्मविद्यारण्यायिकां श्रीकृष्णार्जुनसंवादरूपां भग्नभवभयकूपां हास्तिनपुरराजभवने श्रीमद्व्यासप्रसादलब्धदिव्यदृष्टिः सूतो धार्तराष्ट्रः सञ्जयः उभयतो नष्टनेत्रं कुटिलहृदयं द्वेषाग्निभाष्ट्रं धृतराष्ट्रं प्रति यथादृष्टं समावतारयति। ततः पूर्वं "नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयाद् न चान्यायेन पृच्छतः "इति शास्त्रामर्यादारिरक्षयिषया धृतराष्ट्रप्रश्नं अवतितारयिषन् वैशम्पायनः जनमेजयं प्रति तस्य प्रश्नप्रतीकमवतारयति।

''धृतराष्ट्र उवाच''

धृतराष्ट्रः उवाच इति पदच्छेदः इह "परोक्षे लिट्" इत्यनेन लिट् लकारे आर्धधातुकविवक्षायां "ब्रुवो वचिः" इत्यनेन ब्रुवो वचादेशः, दृष्टि हीनत्वेन पुत्रममत्वाभिभूतविवेकविज्ञानतया च आम्बिकेयस्य सर्वमेव परोक्षम्।

"अनेकार्था हि धातवः" इति नियमात् ब्रुव प्रश्नार्थकः उवाच इत्यस्य पप्रच्छ इत्यर्थः, धृतराष्ट्रः संजयं पप्रच्छ इति वाक्यार्थः।

''धृतराष्ट्रः ह्याम्बिकेयो हतराष्ट्रो युधिष्ठिरः।
तयोर्विवादे सङ्ग्रामो धर्माधर्मजुषोरिह।।

शास्त्रमेतत् त्रेधा प्रवर्तते आध्यात्मिकं, आधिदैविकं, आधिभौतिकं चेति, आध्यात्मिकदृष्ट्या श्रीमदर्जुनः सन्नपि श्रीमदनन्तगुणाकरषडैश्वर्यसम्पन्नप्रपन्नपारिजातवारिजातनयनश्रीमद्वसुदेवनन्दनभगवच्छ्रीकृष्णपदपद्मनित्यकिङ्करोऽपि नित्यपारिकर्यवान् नित्यजीवो राजीवलोचनलीलाललित्यलिलालयिषया मुमुक्षुः जीवात्मानमभिन्यते। कुरुक्षेत्रं हि संसारः, कुर्वन्तीति कुरवः कर्मबद्धाःजीवाः तेषां क्षेत्रं, क्षीयन्ति यस्मिन् तत् क्षेत्रम्, कुरूणां क्षेत्रं निवासस्थानं इति कुरुक्षेत्रम्, यच्च जावालोपनिषदि शतपथब्राह्मणे च पुण्यतमत्वेन प्रावर्णि। तथा हि—

"बृहस्पतिरुवाच याज्ञवल्क्यं "यदनुकुरुक्षेत्रं देवानां दवेयजनं सर्वेषां भूतानां ब्राह्मसदनम्" इति जावालश्रुतेः। "कुरुक्षेत्रंवै देवयजनम्" इति शतपथश्रुतेश्च। एवं गोस्वामी तुलसीदासेनापि पापपुण्यमयोऽयं देहः क्षेत्रत्वेन वर्णितः—

"तुलसी यह तनु खेत है मनसा भयउ किसान।
पाप पुण्य दोउ बीज है बुवै सो लुनै निदान।।वैराग्य संदीपनी ७
एतद्रूपान्तरम् —

"तुलसी प्राह देहोऽयं क्षेत्रं बीजद्वयं स्मृतम्।
पापं पुण्यं यथैवोक्तं लुनात्येतत् तथैव हि।।

शरीरमेवात्र रथः नन्दिघोषः नन्दयतीति नन्दी आनन्ददाता घोषः भगवन्नामरूपलीलाधामकीर्तनात्मकः यस्मिन् तथाभूतः—

"यस्मिन्मुकुन्दस्य च शार्ङ्गधन्वनो
नाम्नाश्च रूपस्य मनोजमोहिनः।।
लीलारसं धाममयं च कीर्तनं
स नन्दिघोषः कथितो नृविग्रहः।।

तत्रैव मुमुक्षु प्रत्यगात्मभूतपार्थो रथी, शरीराधिष्ठितत्वात् बुद्धेःस्थाने बुद्धिमन्मुकुटमणिः श्रीवासुदेवः सारथिः, निर्मलानीन्द्रियणि हयाः, मन एव प्रग्रहो रश्मिर्वा। एवं जीवात्मपरमात्मनोर्मध्ये सञ्जायमानं संवादं निर्विवादम् पश्यन् पाराशर्यः दिव्यचक्षुषा सप्तशतश्लोकात्मकं शास्त्रमेतत् प्रपत्तियोगमहातात्पर्ये निवबन्ध। तत्र प्रथमं धृतराष्ट्रः निजपुत्रविजयजिज्ञासासमाकुलितचेताः प्राङ्मुखं पृच्छति सञ्जयम्। "धर्मक्षेत्र" इत्यादि—

'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय।।१।।

हे संजय धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेताः युयुत्सवः मामकाः चैव पाण्डवाः किमकुर्वतइत्यन्वयः। अत एव कठोपनिषादि

"आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च।

बुद्धिं च सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ।।
इन्द्रियाणि हयान्याहुर्विषयास्तेषु गोचराः ।।

रा०कृ०भा०— धर्मस्य क्षेत्रं निवासस्थानं इति धर्मक्षेत्रं तस्मिन् धर्मक्षेत्रे, कुरूणां क्षेत्रं कुरुक्षेत्रं तस्मिन् कुरुक्षेत्रे, योद्धुम् इच्छवः युयुत्सवः "सनाशंसभिक्ष उः प० अ० ३-२-१६८ इत्यनेन उ प्रत्ययः। मम इमे मामकाः "तवकममकावेकवचने" इत्यनेन ममक आदेशः पाण्डोः अपत्यानि पुमांसः इति पाण्डवाः "तस्यापत्यम्" इत्यनने अण्, सम्यग् जयति रागद्वेषादीन् इति संजयः तत्संबुद्धौ हे संजय, धृतराष्ट्रो जिज्ञासते निजदुष्टपुत्रविजयाभिलाषी। हे संजय ! युयुत्समानाः मम पुत्राः पाण्डुपुत्राश्च धर्मभूमौ कुरुक्षेत्रे एकस्थाः अपि किम् अकुर्वत, युद्धं प्रारब्धवन्तः उताहो कुरुक्षेत्रस्य धर्मप्रभावात् परिवर्तितपापपरायणमतयो मम पुत्राः दुर्योधनादयः अजातशत्रवे किमुत धर्म्यं राज्यं प्रदाय युद्धान्निवृत्तमनसो जाताः, अथवा पाण्डवाः एव कुरुक्षेत्रस्य धर्ममयपरिस्थितिप्रसूतसमधिकसात्त्विकमनोवैमल्याःयुद्धात् विरतचेतसः किं वनं प्राव्राजिषुः, अत एव कथं युद्धमवर्तयन् इति न पृष्ट्वा युद्धानिश्चयं द्योतयन् किमकुर्वत इत्यपृच्छत्। मामकाः इति पदं पूर्वमुक्त्वा पाण्डवापेक्षया समधिकममत्वं निजपुत्रेषु व्यदर्शयत्। तदनन्तरं पाण्डवाश्चैव इति कथयन् तेषु ममताशून्यत्वं समसूचयत्, अकुर्वत इत्यत्र आत्मने- पद प्रयोगात् कौरवाणां पाण्डवानां च कुरुक्षेत्रे क्रियमाणकर्मणां समग्रफलाश्रय-विषयत्वेन कर्त्रभिप्रायक्रियाफलवत्ता न्यदर्शि। आधिदैविकदृष्ट्या- यादवाः कौरवाश्च देवांशप्रायाः कौरवेषु च उभये पाण्डवाः धार्तराष्ट्राश्च देवत्वन्यूनाधिक्यतादम्यात् विप्रतिपद्यन्ते, पाण्डवाः दैवीसम्पदं अभिजातत्वात् सज्जनाः धार्मिकाश्च, कौरवाश्च घोररौरवाः असुरप्रायाः। अतोऽयं महाभारतसंग्रामः देवासुर एव, देवानां पक्षपातित्वात् भगवान्नारायणो वासुदेवः देवराजस्यांशस्य पार्थस्य सारथिः, कलेः प्रभावत् केचन देवाः भग-वसु-सूर्यादयः असुरपक्षधाराः धृतराष्ट्र-भीष्म-कर्णादयः अतो विलक्षणमेतयद्युद्धम्। अतोऽस्मिन् युद्धे आसुरभावमापन्नस्य देवस्य भगस्यापि दुर्भागस्य धृतराष्ट्रस्य निजपुत्रविजयजिज्ञासावशंवदस्य किमकुर्वत इति स्वाभाविकः प्रश्नः।

आधिभौतिकदृष्ट्या-ज्येष्ठोऽयं वैचित्र्यवीर्यः मातृव्यतिक्रमात् विनष्टदृष्टिः संयोगतः राज्यानर्होऽपि पाण्डौ निर्वासिते लब्धराज्यः स्वपुत्रमेव क्रूरमधार्मिकं दुर्योधनं निजोत्तराधिकारिणं समभिप्रयन्। पाण्डवानां पुनुर्वनवासमभीप्सन् निजपुत्रविजयमेव शुश्रूषमाणः पृच्छति, धर्मक्षेत्रे इत्यादि।

हे संजय धर्मक्षेत्रकुरुक्षेत्रस्य श्रयणादेव लब्धधार्मिकबुद्धिना दुर्योधनेन यदि युद्धमकृत्वा युधिष्ठिराय तद्दायं दत्तं स्यार्त्तर्हि महाननर्थः। यदि चेत् कुरुक्षेत्रं धर्ममहिम्ना युधिष्ठिरादयो धार्मिकतमाः भूत्वा दुर्योधनाय राज्यं दत्त्वा वनं प्रव्रजिता भवेयुः तर्हि परमहर्षोत्कर्षः, अतएव पाण्डवाः इत्युक्तम्, यथा पाण्डुरो मह्यं निजं राज्यं दत्तवान् तथैव तत्पुत्राः मम पुत्राय राज्यम् अर्पयेयुः !, तदेव तु तेषां पाण्डवत्वम्, चकरेण अन्य राज्ञां समुच्च्यः, एवकारः निश्चयवाचकः तेषां निश्चितं कार्यक्रमं वद इति हार्दम्। श्रीमद्भगवद्गीतेयं सर्ववेदमयी,

समप्तिकामो मंगलमाचरेत् "इति वैदिकी श्रुतिः" मंगलं च वेद प्रणोदनार्थः धर्मः अतोऽस्याः श्रीगीतायाः किं मंगलं इति चेत् ! धर्म इत्येव धर्मशब्दो हि महामंगलम्। यथा पूर्वमीमांसायां "अथातो धर्मजिज्ञासा "भगवान्नामैव सकलमंगलशिरोमणिः, धर्मो हि भगवन्नाम अतः श्रीभारते "ततस्तु धर्मोऽन्तरितो महात्मा" धर्मो भगवान् इति तत्र नीलकण्ठः। श्री विष्णुसहस्रनाम स्तोत्रेऽपि— "धर्मो धर्मविदुत्तमः" वि०स० स्तोत्र ५६

तथा हि धर्मः भगवान् श्रीकृष्णः धर्मेण श्रीकृष्णेन समलङ्कृतं क्षेत्रं धर्मक्षेत्रं तस्मिन् धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे युद्धमिच्छन्तः समवायमुपेताः ममपुत्राः पाण्डोः पुत्राश्च निजकृते किं अकुर्वत किमकृषत, युद्धमुत आहो सन्धिम्, हे सञ्जय इति मां विस्तराद् वद।।श्रीः।।

संजय उवाच

"दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजावचनमब्रवीत् ।।२।।

रा०कृ०पा० संजयः उवाच— तु तदा व्यूढं पाण्डवानीकं दृष्ट्वा आचार्यम् उपसङ्गम्य राजा दुर्योधनः अवचनं अब्रवीत् इत्यन्वयः।

राजा अवचनं अब्रवीत् इति पदच्छेदः धृतराष्ट्रस्य उभयतोऽन्धस्य कलिततनयमोहकश्मलं प्रश्नमाकर्ण्य संजयः परमधार्मिको वेदव्यास-कृपालब्धदिव्यदृष्टिः संजयः रागद्वेषरहितत्वेन भूतार्थवादशीलतया समन्वर्थनामा संजयः उवाच पश्नमुत्तरयितुमुपचक्रमे, तु शब्दः धृतराष्ट्रधारणा-प्रतिकूलकुरुक्षेत्रघटनाद्योतनार्थः। तु किन्तु कुरुक्षेत्रे न तथा वृत्तं यथा भगवान् व्यचारयत्, दुर्दैवविपाकप्रतीपीकृतनाशितधर्माधर्मविवेकबुद्धितया निसर्गसिद्धदुर्निवार्यखलस्वभावस्त्वत्पुत्रो दुर्योधनः दुष्टं यथा स्यात्तथा योधयति एवं भूतः, धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रेऽपि नाङ्गीकृतवान् धर्मबुद्धिम्। किन्तु तदा तस्मिन् काले युद्धमेव परमधर्मं निर्णीतवत्सु पाण्डुपक्षधरेषु समस्तराजभटेषु व्यूढं पाण्डवसेनापतिना धृष्टद्युम्नेन शकटादिव्यूहेषु व्यवस्थापितं इत्यर्थः। अनुकम्पिना भगवता श्रीकृष्णेन निजकृपादृष्ट्यैव दत्तविजयकीर्तिः अनी सेना अनुकम्पिता अनी इत्यनीकम् "अनुकम्पार्थे कन्" पाण्डवानां अनीकं पाण्डवानीकं यद्वा अनीनां तत्तद्राजसेनानां समूहः इति अनीकम् "बाहुलकात् समूहार्थे कन्" पाण्डवेन युधिष्ठिरेण समाहूतमनीकं पाण्डवानीकम्, पाण्डवामन्त्रितमनीकं इति पाण्डवानीकम्, 'मध्यमपदलोपिसमासः'। दृष्ट्वा चाक्षुष प्रत्यक्षविषयं विधाय अत्र 'पूर्वकाले क्त्वा' तदनन्तरं आचार्यं निजशस्त्रविद्यादेशिकं द्रोणं उपसङ्गम्य उपशब्दोऽत्र हीनवाची द्रोणाचार्यं हीनबुद्ध्या मिलित्वा तं पाण्डवान् प्रति कोपयितुं भर्त्सयितुं किमपि आदेष्टुं च तत्समीपं गत्वा इति भावः, आचार्यम् अनभिवाद्य किमपि कथयितुं आरभत् इदं द्योतयितुमाह राजा दुर्योधनः, मिथ्या सत्ताभिमानमदान्धः हास्तिनपुरभूपालं मन्यमानः त्वत्पुत्रः गुरवे प्रणामादिकमपि न न्यवेदयत्, तं प्रति निरस्तशिष्यबुद्धिः, ईदृगसभ्यः तं प्रति विजयाशा ते मुधैव इत्यपि द्योतयितुमाह राजा न तु शिष्यः। कीदृगसौ इत्यत् आह दुर्योधनः दुष्टमधर्मपूर्वकं यथा स्यात्तथा योधयति यः स दुर्योधनः, यद्वा योधयन्ति युद्धयन्ते वा इति योधनाः "नन्द्यादित्वाल्ल्युः कर्तरि" दुष्टाः दुष्टस्वभावाः कर्णदुःशासनशकुन्यश्वत्थामप्रभृतयः खला

एव योधना: मुख्ययोद्धार: यस्य स दुर्योधन:, द्वा दुष्टा योधना अधर्मपूर्णा युद्धक्रिया यस्य स दुर्योधन:, युद्धारम्भे गुरुभ्य: आशीर्वादा ग्राह्या भवन्ति ते च विनयायत्ता: अनेन तु दुर्विनीतेन प्रणामादि सामान्यशिष्टताऽपि न निभाल्यते, का कथा तत्र विनयमूलकाशीर्वादानां, अत: आह दुर्योधन: अवचनं अनुचितं वचनं अवचनं अशिष्टं वचनं अवचनं, असत्कृतं वचनं अवचनम्, अमर्यादं वचनं अवचनम्, अभद्रं वचनं अवचनम्, अथान्वितं वचनं अवचनम् अब्रवीत् अवदत्। इह दिव्यदृष्टिना संजयेन दुर्योधनस्य यथा मर्यादा विपरीतं व्यलोकि तथैव धृतराष्ट्रं प्रति यथार्थं न्यवेदि, धृतराष्ट्रेण संजय इति सम्बोधनं व्यधायि, परन्तु न तथा सञ्जयेन यतो हि एतावन् मर्यादाहीनं आचार्याणामपि अवमन्तारं स्वार्थैकदृष्टिं पापिशिरोमणिं दुर्योधनं उत्पादितवत: भग्नसुकृतस्य भवतो धृतराष्ट्रस्य नामाऽप्यमंगलम्। तस्मान्मंगलमये श्रीगीताया: उपोद्घाते भवन्नामापि न वाच्यम्। यद्वा नाम सम्बोध्य श्रोता सिद्धान्तश्रवणाय स्वाभिमुख:क्रियते परिदृश्य विलोकनाय च। किन्तु त्वं पुत्रमोह-भग्नविवेकविलोचनतया एतावन्नीचतां गतोऽसि यद् वास्तवं श्रोतुं द्रष्टुं वा त्वया न प्रभूयते अत: किं त्वां मोघं सम्बोध्य इत्येवात्र सम्बोधनाभावतात्पर्यं प्रतिभाति मे। इदं गीताशास्त्रं प्रपत्तियोगमनुशास्तीत्यशकृदवोचाम। तत्र "परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान् नास्त्यकृत: कृतेन। सद्विज्ञानार्थं सगुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणी: श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।। मु०उ०इति श्रुति:।

कर्म निर्मितांल्लोकान् समीक्ष्य अकृतं नित्यं कृतेन अनित्येन संसारेण नवाप्तुं शक्यमिति संसारसागरतो निर्विद्य जिज्ञासु: ब्रह्मविज्ञानार्थं समित्पाणि: सन् वेदार्थ पारदृश्वानं ब्रह्मविद्-वरिष्ठं सद्गुरुं उपासीत इति तत्रत्यं हार्दम्। इह दुर्योधने श्रुतिविहितसकलशरण्यप्रिय-गुणानामभाव:, अनेन न कर्मचिता लोका: पर्यैक्ष्यन्त, न चाऽयं संसारतो निर्विण्ण:, न चासौ समित्पाणि:, नैवास्मिन् ब्रह्म बुभूत्सा, नैतदीयो गुरु: द्रोण:, "**श्रोत्रिय: वेद पारग:**" इति स्मृतिविहितवेदपारगत्वावच्छेदकश्रोत्रियत्वस्य द्रोणे सर्वथैवाभावदर्शनात्। यदि द्रोण: श्रोत्रियो भविष्यत् तर्हि पाण्डवपक्षमेवाग्रहिष्यत्। सकलवेदतात्पर्यभूतपरमात्मश्रीकृष्णकृपापात्रत्वात् पाण्डवानां। तस्मात् दुर्योधनोऽयं प्रपत्तौ सर्वथैवानधिकारी, एतत्प्रतीप: पार्थस्तु परमाधिकारी। दुर्योधन: नैसर्गिक धृष्टतया पाण्डवसैन्यदर्शने स्वाचार्यं नियुङ्क्ते 'पश्यैताम्' इत्यादिना— पूर्वं स्वयमपि स्थूलदृष्ट्या पाण्डवानीकं पश्यति, परन्तु पार्थ: भगवता जगद्गुरुणा प्रेरित: सन् समवेतान् कुरून् पश्यति। "**उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति**" गीता १/२५, "**तत्रापश्यत्स्थितान् पार्थ:**" गीता १-२६। पार्थ: धनु:शरं विसृज्य श्रीकृष्णकृपा-समित्पाणि: संसाराज्जातनिर्वेद: "**अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्**" इत्यादि। अर्जुनेन लोकाऽपि परीक्षिता: ब्रह्म जिज्ञासा अपि तस्मिन् बलवती, अत: प्राह

"**यच्छ्रेय: स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे**" गीता २-७

"**यच्छ्रेय एतयोरेकम्**" गीता ५-२

"**येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्**" गीता ३-२

एवं तस्य गुरुरपि जगद्गुरुः नासौ श्रोत्रियः प्रत्युत् श्रोत्रियाणां अपि दुराराध्यः, नासौ ब्रह्मनिष्ठः प्रत्यत् सकलोपाधिपरिबार्गितपरिपूर्णतमपरात्परब्रह्मैव। तस्मात् "नास्ति दुर्योधनादन्योऽनधिकारी हरिश्रितौ। धनञ्जयादृते नास्ति प्रपत्रावधिकारवान्।। इति अनधिकार्यधिकारी सैद्धान्तिकवैलक्षण्यदिदर्शयिषयैव प्रक्रान्तोऽयं प्रथमोऽध्यायः। तत्र प्रथमं दशभिर्दुर्योधनस्य दशमावस्थापन्नस्य दुर्दुशावर्णनम्, अनन्तरं अधिकारिणःपार्थस्य प्रपत्तयधिकारवर्णनम्। एवं कृत्वा द्वितीयेश्लोके संजयः गुरुं प्रति दुर्योधनानौचित्यं कृत्यं दर्शयति दृष्ट्वा इत्यादि। धृष्टद्युम्नेन व्यूहाकारे व्यवस्थितां पाण्डवसेनां निरीक्ष्य द्रोणाय ह्यकृतप्रणामः सुनिश्चितपराजयपरिणामः वक्ष्यमाणैः नवभिः श्लोकैः नवद्वारपुरात्मकदेहदौर्वल्यं प्रकटयन्नाह—

"पश्यैतान् पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता।।३।।

रा०कृ०भा०— हे आचार्य ! धनुर्विद्यासंप्रदायप्रवर्तक! धीमता प्रशस्ताधीः बुद्धिः अस्त्यस्य इति धीमान् तेन धीमता, द्रुपदस्य तव पूर्वशत्रोः पाञ्चालनरेशस्य पुत्रः तव जिघातयिषया महाराजेन द्रुपदेन यज्ञकुण्डात् समुत्पादितः सुतः द्रुपदपुत्रः तेन द्रुपदपुत्रेण धृष्टद्युम्नेन, अथापि तव भवतः शिष्येण भवतैव शिक्षितधनुर्वेदेन इति भावः। इयमेव ते मूर्खता यत् स्वं जिघांसुमपि धनुर्वेदं शिक्षितवानसि तस्य च धृष्टद्युम्नस्य कीदृशी शिष्यता यत् निजविद्याप्रदातारमपि जिघांसति। तथाभूतेन भवतो विद्यां प्राप्तवता सताऽपि धृष्टद्युम्नेन व्यूढां शकटादिव्यूहैर्व्यवस्थापितां पाण्डुपुत्राणां पाण्डोः मम पितृव्यस्य पुत्राणाम् सुतानां, न तु केवलं कुन्तीसम्भवानां प्रत्युत् त्रायाणां कुन्तीगर्भसंभवानां युधिष्ठिरभीमसेनार्जुनानां, द्वयोश्च माद्रीसुतयोः नकुलसहदेवयोः मातृभिन्नत्वेऽपि एकपितृमत्वसूचनाय पाण्डुपुत्राणं इति प्रयुक्तम्। पाण्डुपुत्राणं इत्यत्र सम्बन्धषष्ठी, पाण्डुपुत्रप्रतियोगिकस्वानुयोगिकपाल्यपालकभाव सम्बन्धवतीमिति भावः। महतीं विशालां चमूं 'चमू भक्षणे' प्रतिपक्षसुभटभक्षणवैशिष्ट्य सम्पन्नां सेनां पश्य विलोकय। पाण्डुपुत्राणां धृष्टद्युम्नस्य च धार्ष्ट्यं, प्रकटय्य, तान् प्रति द्रोणाचार्यं चुकोपयिषन् प्राह 'पश्यैतान्' इति। यद्वा पाण्डुपुत्राणां इत्यस्य आचार्य इत्यनेन सम्बन्धः अत्र दौर्योधनी काकुरित्थम्, यत्त्वं पाण्डुपुत्राणामेव आचार्यः न तु मम, तव कोऽस्मि। तदग्रे वक्ष्यति "नायका मम सैन्यस्य" मम सैन्यस्य तु भवान् नायकः, एकः विश्वस्तयोद्धा, पक्षपातस्तु भवतः तेष्वेव अतः आह— हे पाण्डुपुत्राणां आचार्य ! पाण्डुपुत्रेषु संस्थापितममत्त्वसंवन्धत्वात् किं प्रमाणमिति चेत् आह— धीमता तव शिष्येण द्रुपदपुत्रेण यदि पाण्डवेषु त्वद्वात्सल्यं नाभविष्यत् तर्हि निजनाशायैव द्रुपदेनोत्पादितं निजजिघांसुं नाभविष्यत् धृष्टद्युम्नं धनुर्वेदशिक्षणेन कथं निजशिष्यमकरिष्यः। अथ तेनैव व्यूढां एतां महतीं चमूं पश्य विलोकय, निजसौजन्य-परिणामं भुङ्क्ष्व, तर्हि किं तस्मात् पराजितो भवेयम्, "सर्वत्र जयमिच्छेत् शिष्यात् पुत्रात्पराजयम्" इति स्मृतेः धृष्टद्युम्नात् पराजयोऽपि मम भूषणमेव इत्यत् आह द्रुपदपुत्रेण। सन्नपि भवच्छिष्यः स धृष्टद्युम्नः द्रुपदस्य तव शत्रोः पुत्रः तव तु शत्रुरेव त्वन्नाशाय धृतशरीरत्वात्। अतः ततः शिष्यात् पराजयमिच्छेत् यस्मिन् यौगपद्येन शिष्यत्वशत्रुपुत्रत्वे उभे तिष्ठेताम्। अस्मिन्

सत्यपि शिष्यत्वे त्वन्निरूपितपुत्रत्वाभावात् अतोऽलं पराजिगीषया। तर्हि किं तस्मात् पलायेय ? इत्यात आह 'शिष्येण' भवतु नाम बलवान् किन्तु भवता शिक्षितत्वात् अल्पीयो बलं तस्मिन् भवदपेक्षया, तर्हि मया अनवहितेन भवितत्यं, इत्यत आह धीमता नानवहितेन प्रत्युत सावधानेन भवितव्यं भवता, यतोहि असौ धीमान् तेन धीमता बुद्धिमता सह शिष्येण संयुगे भवता सावधानेन मत्पक्षधरेण योद्धव्यं इति हार्दम्। इह दुर्योधनस्य दौर्भाग्यं यदनेन पाण्डवानां नामानि न संकीर्त्यन्ते, मन्ये भगवतो माययैव निवार्यते एषः यथोक्तं पाण्डवगीतसु—

> "जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः
> जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।
> केनापि देवेन हृदिस्थितेन
> यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ।। पाण्डव गीता २८

तत्र कारणं युधिष्ठिरवृकोदरधनञ्जयमाद्रीपुत्रकीर्तनानां यथाक्रमं धर्मवर्धनशत्रुनाशतेजोवर्धननिर्भयत्वरूपादिष्टजनकत्वस्य शास्त्रतो विहितत्वात् दुर्योधनस्य चैतल्लाभानर्हत्वात् यथोक्तम्—

> "धर्मं विवर्धति युधिष्ठिरकीर्तनेन
> शत्रुर्विनस्यति वृकोदरकीर्तनेन ।
> तेजो विवर्धति धनञ्जयकीर्तनेन
> माद्रीसुतौ कथयतां न भयं नराणाम् ।।

अतो नाकारि पाण्डवनामकीर्तनमनेन ।।श्रीः।।

"अथ श्लोकत्रयेण उद्देशतः पाण्डवपक्षमुख्यसुभटान् निर्वक्ति, अत्र इत्यादिना—

> "अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
> युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ।।४।।
> धृष्टकेतुश्चेकितानः कशिराजश्च वीर्यवान् ।
> पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैव्यश्च नरपुङ्गवः ।।५।।
> युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
> सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्वएव महारथाः ।।६।।

रा०कृ०भा०— अत्र श्लोकत्रयं एकान्वयि। द्रोणं प्रति दुर्योधनः पाण्डवप्रमुखान् भटान् वर्णयन् आचार्यं सावधानं चिकीर्षन्नाह– यथा पूर्वोक्तां महतीं चमूं पश्य, तत्र तस्या महत्वं यैः सप्तदशभिः तान् आकर्णय। अत्र अस्यां पाण्डवसेनायां युधि युद्धविषये भीमार्जुनसमाः भीमश्च अर्जुनश्च इति भीमार्जुनौ "भ्रातुर्ज्यायसः" इत्यनेन भीमशब्दस्य पूर्वप्रयोगः भीमार्जुनाभ्यां गदाधनुर्विद्याविशारदाभ्यां पवनेन्द्रसंभवाभ्यां समा तुल्याः भीमार्जुननिष्ठगदापाण्डित्य धनुर्वेदकौशलरूपधर्मभूयस्त्ववन्तः, युयुधानः सात्यकिः विराटः मत्स्यराजःधेनुरोधनसमये भवता अपि दृष्टपराक्रमः चकारः विराटपुत्रशङ्खोत्तरादिसमुच्चयार्थः महारथः दशसहस्रवीरैः

सह युद्धकर्ता, यथोक्तं भारते—

"एको दश सहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम् ।
शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः ।।
अमितान्योधयेद्यस्तु संप्रोक्तोऽतिरथस्तु सः ।
रथस्त्वेकेन यो योद्धा तन्न्यूनोऽर्धरथः स्मृतः ।।

अत्रापि चकारः शिखण्डीधृष्टद्युम्नसमुच्चयार्थः। एवं धृष्टकेतुः धृष्टः शत्रुसैन्यधर्षणशीलः केतुः ध्वजः यस्य तथान्वर्थनामा, चेकितानः केतयति अतिशयेन यमलोककेतनान् करोति शत्रून् स चेकितानः "पृषोदरादित्वात्" साधुत्वं, वीर्यवान् प्रशस्तपराक्रमः काशिराज काश्याः राजा काशिराजः "राजाहस्सखिभ्यष्टच्" इत्यनेन टच् प्रत्ययः टिलोपादि कार्यं "ङ्यापो संज्ञाछन्दसोर्वहुलम्" इत्येनेन काशी शब्दे ईकारस्य ह्रस्वः। पुरुजित् पुरः उ निश्चयेन जयति तथाभूतः, कुन्तिभोजः कुन्त्याः धर्मतः पिता, नरेषु पुङ्गवः श्रेष्ठः नरपुङ्गवः शैव्यः शिवेः गोत्रापत्यं पुमान् शैव्यः "आकृतिगणत्वेन" शिवि शब्दस्य गर्गादिगण पठितत्वात् "गर्गादिभ्यो यञ्" इत्यनेन यञ् प्रत्ययः शिवेः परमधार्मिकत्वात् तद् वंशधरत्वेन शैव्याय नरपुङ्गव इति विशेषणं समुचितमेव, औशीनरिस्त्वायम् परमवदान्यः, अत एव गोस्वामी तुलसीदासोऽपि श्रीरामचरितमानसे इमं महाभागं द्विःसंसस्मार—

"शिवि दधीचि हरिचन्द्र कहानी। एक एक सन कहहिं बखानी।।
मानस २-४८-५

"शिवि दधीचि हरि चन्द्र नरेशा ।
सहे धरम हित कठिन कलेसा ।। मानस २-९५-३

एतयोः रूपान्तरे—

"शिवेश्चैव दधीचेश्च हरिश्चन्द्रस्य वै कथाः ।
प्रशंसन्तो मुदा पौरा एकैकेभ्यः समब्रुवन् ।।
"शिविश्चैव दधीचिश्च हरिश्चन्द्रो नरेश्वरः ।
बहून् क्लेशान् सोढवन्तो धर्मस्य परिपालने ।।

एवमेव विक्रान्तः विशेषाणि क्रान्तानि विजिगीषया चरणनिक्षेपरूपाणि आक्रमणानि यस्य तथाभूतो युधामन्युः युधा युद्धेन हेतुना मन्युः क्रोधः यस्मिन् स युधामन्युः "बाहुलकात्" "पृषोदरादित्वाद् वा तृतीयाया अलुक, तथा वीर्यवान् प्रशस्त पराक्रमः उत्तमौजाः उत्तमं श्रेष्ठं ओजः तेजस्सारः यस्मिंस्तथाभूतः अन्वर्थनामा राजा, सौभद्रः सुभद्रायाः अपत्यं पुमान् सौभद्रः षोडशवर्षकल्पो बुधावतारः कृष्णभागिनेयः श्रीमान् अभिमन्युः, ननु सुभद्रायाः स्त्रित्वात् "स्त्रीभ्यो ढक" इत्यनेन कथं न ढक् प्रत्ययः ? तस्यात्र सामान्यस्त्रीत्वाभावात् योगमाया रूपत्वाच्च, ननु सुभद्रायाः योगमायात्वे किं मानम् इति ? चेत् वैदिकमन्त्र एव तथा हि—

"ॐ अम्बेऽअम्बिकेऽम्बालिके न मा नयति कश्चन। ससस्त्यश्वकः सुभद्रिकां काम्पीलवासिनीम्" असामान्यनारित्वादेव श्रीसुभद्रा श्री जगदीशपुर्यां श्रीजगन्नाथमन्दिरे भगवता कृष्णेन भ्रात्रा सह तिष्ठति, तस्मादाद्यशंकराचार्यः जगन्नाथाष्टके—

"सुभद्रा मध्यस्थः सहज बलभद्रेण बलिना ।
जगन्नाथः स्वामी नयनपथगामी भवतु मे ।।

अथ कथं तर्हि "सुभद्रा प्राणनाथाय जगन्नाथाय मंगलम्" इति भ्रातुः भगिनी प्राणनाथत्वानौचित्यात्इति चेदुच्यते सुभद्रायाः प्राणः प्राणपतिः अर्जुनः तस्य नाथः सुभद्राप्राणनाथः श्रीकृष्णः तस्मै सुभद्राप्राणनाथाय "भक्तोऽसि मे सखा चेति" इत्यादि गीतोक्तेः इति व्याख्यानेनादोषात्। द्रौपदेयाः द्रौपद्याः अपत्यानि पुमोसः द्रौपदेयाः प्रतिविन्ध्यादयः तथा च भारते—

युधिष्ठिरात् प्रतिविन्ध्यं, सुतसोमं वृकोदरात् ।
अर्जुनाच्छ्रुतकर्माणं शतानीकं च नाकुलिम् ।।७९।।
सहदेवाच्छ्रुतसेनमेतान् पञ्चमहारथान् ।
पाञ्चली सुषुवे वीरानादित्यानदितिर्यथा ।।८०।।
शास्त्रातः प्रतिविन्ध्यं तमूचुर्विप्रा युधिष्ठिरम् ।
परप्रहरणज्ञाने प्रतिविन्ध्यो भवत्वयम् ।।८१।।
सुते सोममहसे तु सोमार्कसमतेजसम् ।
सुतसोमं महेष्वासं सुषुवे भीमसेनतः ।।८२।।
श्रुतं कर्म महत् कृत्वा निवृत्तेन किरीटिना ।
जातः पुत्रस्तथेत्येवं श्रुतकर्मा ततोऽभवत् ।।८३।।
शतानीकरस्य राजर्षेः कौरव्यस्य महात्मनः ।
चक्रे पुत्रं स नामानं नकुलः कीर्तिवर्धनम् ।।८४।।
ततस्त्वजीजनत् कृष्णा नक्षत्रे वह्नदैवते ।
सहदेवात् सुतं तस्माच्छ्रुतसेनेति यं विदुः ।।८५।।

इमे सर्वे शूराः अप्रधृष्यपराक्रमाः। इषवः वाणाः अस्यन्ते क्षिप्यन्ते यैस्तानि इष्वासानि धनूंषि महान्ति इष्वासानि येषां ते महेष्वासाः पूजितधनुषः सर्वे एव सप्तदशप्रमुखाः महारथाः पूर्वोक्तलक्षणानुसारं प्रत्येकं दशसहस्रैः योद्धारः।।श्रीः।।

अथ पंचभिः स्वसेनां वर्णयितुमुपक्रमते।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ।।६।।

रा०कृ०भा० — इत्थं पाण्डवानां सेनां उत्कृष्टां मन्यमानस्तदीयांश्च सात्यक्यादीन्

द्रौपदेयपर्यन्तान् सर्वानपि शूरान् महेष्वासान् युधि भीमार्जुनसमान् महारथान् निश्चिन्वानो दुर्योधनः भग्नविजयाभिलाषः स्वपक्षे नैकमपि महारथमध्यगच्छत् इदमेव सन्देहार्थेन 'तु' शब्देन सूच्यतें, तु किन्तु हे द्विजोत्तम ! द्विजेषु ब्राह्मणेषु उत्तमः श्रेष्ठः तत्सम्बुद्धौ हे द्विजोत्तम ! आचार्यं प्रति भग्नगुरुभावत्वात् गुरूत्तम सद्गुरो इत्यादि सम्बोधनं नेच्छति, त्वं तु केवलं सरलब्राह्मणः, न जानासि राजनीतिं अत एव तव शिष्या अपि पाण्डवाः पाञ्चालश्च त्वया सह युयुत्सन्ते। ननु "सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः" पा०अ० २/१/६१ इत्यनेन कर्मधारये उत्तम शब्दस्य पूर्वनिपाते तान्निबोधोत्तमद्विज इत्येव कथन्नोक्तम् ? इति चेत् विभाव्यताम्, आचार्यं प्रति दुर्योधननिष्ठपूज्यमानत्वावच्छिन्न बुद्धिप्रतियोगिकाभावात्, अतएव नात्र कर्मधारयः प्रत्युत् सप्तमी तत्पुरुष एव द्विजेषु उत्तम द्विजोत्तमः। अस्माकं पक्षे ये विशिष्टाः विशेषभाजः तान् निबोध मम सकाशात् जानीहि। तथा येन्ये मम दुर्योधनस्य सैन्यस्य सेना एव सैन्यं तस्य सैन्यस्य स्वार्थपरायणत्वात् प्रत्ययोऽपि स्वार्थिकः, नायकाः नेतारः माननीयाः योद्धारः तानपि ते तव द्रोणाचार्यस्य संज्ञार्थं संज्ञानार्थं ब्रवीमि कथयामि। तेषां पार्श्वे महारथाः शूराः, अस्माकं पार्श्वे तु चत्वारः विशिष्टाः तेषु त्रयस्तु वृद्धाः एक एव कर्णः मत्समानवया, अतएव तदपेक्षाया वयं अल्पतरोत्कर्षाः।।श्रीः।।

"अथ पूर्वोक्तान् चतुरो विशिष्टान् चतुरो नायकांश्च विशिनष्टि नामग्राहम् —

"भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिर्जयद्रथः ।।८।।

रा०कृ०भा० — अत्र पूर्वार्धे चत्वारो विशिष्टाः उत्तरार्धे तु चत्वारो नायकाः भीष्मस्य सेनापतित्वेऽपि कपटकुशलतया कूटनीतिचुञ्चुत्वेन च द्रोणं सन्तोषयन्नाह भवान् भवच्छब्दोऽत्रादरार्थे पूजनीयः तत्रभवान् द्रोणाचार्यः अथवा भानि नक्षत्राणि सन्त्यस्य प्रकाश्यत्वेन इति भानीव भवान् चन्द्र इव शीतलो भवान् ब्राह्मणत्वात्, चन्द्रस्य च ब्राह्मणाधिपत्वश्रुतेः "सोमो राजा अस्माकं ब्राह्मणनां"। च भीष्मः गङ्गा पुत्रोऽस्मन् पितामह; तथा च कर्णः मन्मित्रं राधेयः अन्ते कृपः तं तोषयितुं विशेषणं समितिञ्जयः समितिं सङ्ग्रामं जयति इतिसमितिञ्जयः 'समित्याजि समिद्युधः' इत्यमरः। समितिर्युधि संगमे साम्ये सभायाम् इति हेमचन्द्रः। अरूर्द्विषदजन्तस्य मुम् पा०अ० ६/३/६७ इत्यनेन मुमागमः, कृपः कृपाचार्यः मत् कुलगुरुः भवच्छ्यालकः अथवा द्रोणन्तोषयितुं तत्पुत्रार्थं समितिञ्जयः इति अश्वत्थामा संग्राम विजयी इत्यर्थः, एवं भवान् द्रोणाचार्यः, गङ्गापुत्रो भीष्मः, राधेयः कर्णः, संग्रामविजयी कृपाचार्यश्च, इमे चत्वार एव अस्माकं विशिष्टाः इति पूर्वार्धार्थः। अथ मम सैन्यस्य चत्वार एव नायकाः त उत्तरार्धत उच्यन्ते, नायकेषु प्रथमो भवत्पुत्रः अश्वत्थामा, तथा च विकर्णः मम कनिष्ठः, सोमदत्तस्य अपत्यं पुमान् सौमदत्तिः सोमदत्तसुतः भूरिश्रवा मम मित्रः, जयद्रथः ममावुत्तः सिन्धुराजः इमे चत्वारः ख्यातनामानो मम सैन्यस्य नायकाः।।श्रीः।।

"पाण्डव पक्षे सर्वेऽपि शूराः श्रेष्ठधनुर्धराः महारथाः तत्र सप्तदशानां प्रमुखानां नामानि कथितानि, किन्तु दौर्भाग्यात् अस्माकं पक्षे न सर्वे शूराः शूराणां बहुत्वेऽपि न पाण्डवीया

इव ख्यातनामानः अत आह अन्ये च इत्यादि—

"अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ।।८।।

रा०कृ०भा० — एवमष्टाभ्योऽप्यन्ये अख्यातनामानः मदर्थे मम दुर्योधनस्य अर्थसाधनं राज्यप्राप्तिरूपार्थनिमित्ते वा त्यक्तानि जीवितानि जीव्यते एभिः तथा भूतानि जीवनसाधनानि यैस्ते त्यक्तजीविताः भविष्यति कौरव पक्षीयाणां सर्वतो भावेन विनाशनिश्चयात् भारत्यैव दुर्योधनमुखात् एतादृङ् निर्गलितम्, एवंविधा बहवः अख्यातनामानः, अज्ञातनामानश्च, अन्ये पूर्वोक्तेभ्यः भवदादिभ्यः अतिरिक्ता विशिष्टेभ्योऽन्ये चतुर्भ्यश्च नायकेभ्यः अपरे अतिरिक्ताः अविशिष्टा अनायकाश्च सन्तोऽपि शूराः सन्ति। भवन्तु नाम न वा महेष्वासाः, न वा दुर्योधनदुःशासनसमाः न वा स्युर्महारथाः तर्हि कीदृग्विधा सन्ति ? इत्यत् आह नानेत्यादि, सर्वे नानाशस्त्रैः प्रहरणं प्रहारः येषां तथाभूताः अथवा नानाशस्त्राणि प्रहरणानि प्रहारसाधनानि येषां ते, प्रहयते यैः तानि प्रहरणानि इति व्युत्पत्तेः यद्वा प्रहरन्तीति प्रहरणाः "कृत्यल्युटो वाहुलम्" पा०अ० ३/३/११३ इत्यनेन कर्तरि ल्युट्। नानाशस्त्रैः प्रहरणाः इति नानाशस्त्रैः प्रहरणाः "कर्तृ करणे कृता वहुलम्" पा०अ० २/१/३२ इत्यनेन समासः, इमे सर्वे एकैकशः नैकायुद्धप्रहारेषु दक्षाः विशारदाः इति युद्धविशारदाः सङ्ग्रामकोविदाः इति भावः।।श्रीः।।

संगति :— अधुना सैन्यद्वयं समीक्ष्यमाणः प्राह दुर्योधनः

"अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ।।१०।।

रा०कृ०भा० — एवं परसैन्यस्वसैन्ययोः वलावलनिरीक्षणेन सञ्जातविजयसन्देहो दुर्योधनः समीक्षमाण आह-अपर्याप्तमित्यादि। अत्र श्लोके व्याख्यात्रयं समुज्जृम्भते प्रथमायास्तावदन्वयः भीष्माभिरक्षितं अस्माकं तद्वलं अपर्याप्तं किन्तु भीमाभिरक्षितं एतेषां वलं पर्याप्तम्। भीष्मेण परशुरामपराभवलब्धयशसा अभितः रक्षितं सुरक्षितं अस्माकं दुर्योधनादीनां कौरवाणां तद् बलं अपर्याप्तं शत्रुभिर्जेतुं अशक्यम् अतो भवता निरूत्साहेन न भवितव्यामिति भावः। तु किन्तु भीमेन गदायुद्धे मत् पूर्वप्रतिद्वन्दिना स्थूलबुद्धिना वृकोदरेण अभितः रक्षितं उभयतः पालितं एतेषां पाण्डवानां इदं निकटस्थं सम्मुखमागतं बलं सप्ताक्षौहिणीपरिमितं, एकादशाक्षौहिणीपरिमितात् मम बलात् अल्पीयः पर्याप्तं जेतुं शक्यम्। अथवा भीष्मेण पाण्डवपक्षपातिना अभिरक्षितं अस्माकं तत् विशिष्टचतुष्टयनायकचतुष्टययुतमपि नैकमहारथं अपर्याप्तं, संख्यायां पाण्डवसेनापेक्षया विपुलतममपि पर्याप्तं नास्ति। त्रायाणं द्रोणभीष्मकृपाणां विशिष्टानामपि सतां वर्षिष्ठत्वात् पाण्डवपक्षपातित्वाच्च, कर्णस्य सूतपुत्रत्वजनितहीनभावनाभग्न-युद्धोत्साहत्वात् भीष्मेण च स्वसेनापत्ये युद्धेऽनधिकृतत्वाच्च, अश्वत्थाम्नोऽपि गुरुपुत्रत्वात् धनञ्जयमित्रत्वेन च तत्र पक्षपातित्वसंभवात्, विकर्णस्य च मद्भ्रातृत्वेऽपि द्रौपदीचीरहरण-समये राजसभायां पाण्डवपक्षपातदर्शनेन सन्दिग्धयुद्धत्वात्, सौमदत्तेरपि सोमदत्तसूनुत्वेन

पाण्डवेषु कृतममत्ववत्त्वात्, जयद्रथस्य च पुरैव वनवासकाले द्रौपदीहरणप्रसंगे भीमसेनेन पराभवप्राप्तिश्रवणात् महादेववरप्रसादेन च एकस्मिन्नेव दिने पाण्डवभाविपराभवश्रवणात् भगिनीपतित्वेन च पाण्डवेष्वपि पक्षपातसंभवात्, अस्माकं बलं अपर्याप्तं विजयाय पर्याप्तं नास्ति। तु परन्तु एतेषां पाण्डवानां भीमेन वृकोदरेण समरनिष्ठुरेण राजसभायां कृतास्मदादि-बन्धुशतबधप्रतिज्ञेन अभिरक्षितं अभीष्टतया पालितं बलं पर्याप्तं विजयाय अलम्। अथवा भीष्माभिरक्षितं भीष्मः उभयपक्षपितामहः विशेषतोऽर्जुनपक्षधरः अभिरक्षितः अस्माभिः सेनापतित्वेन अभीष्टतया सुरक्षितः यस्मै एवंभूतं तत्पाण्डवानां बलं अस्माकं अत्र तृतीयार्थे षष्ठी अस्माभिः जेतुं अपर्याप्तं असम्भवं कठिनं च। तु किन्तु भीमः अस्मत्पूर्वशत्रुः विहितमदूरूभङ्गप्रतिज्ञः भीमः भीमसेनः अभिरक्षितः विनाशाय पाण्डवैः सुरक्षितः। यस्मै अस्मद् बलाय एवंभूतं भीमाभिरक्षितं भीमसेनाभीष्टरक्षकं पुरोवर्तमानम् अस्माकं कौरवाणां बलं एतेषां अत्रापि तृतीयार्थे षष्ठी, एतैः पाण्डवैः जेतुं पर्याप्तं सुकरम्।।श्री।।

प्रसंगनिष्कृष्टमाह —

"अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ।।११।।

रा०कृ०भा०— इत्थं परसैन्यस्वसैन्यबलाबलविवरणेन किमभिप्रेतं त्वयेति द्रोणजिज्ञासां विभाव्य दुर्योधनो निष्कर्षं प्राह- अयनेषु इत्यादि। च तथा सर्वेषु सकलेष्वपि अयनेषु व्यूहद्वारेषु सैन्यप्रवेशनिर्गममार्गेषु यथाभागं निजनिर्दिष्टविभागमाश्रित्य मर्यादीकृत्य अनतिक्रम्य वा अवस्थिताः युयुत्सया संस्थिताः भवन्तः द्रोणादयः जयद्रथपर्यन्ताः सप्तापि अन्ये सर्वे मदर्थे त्यक्तजीविताः अपि अविशिष्टाः सर्वे इमेऽपि भीष्ममेव मत्सेनापतिमेव अभिरक्षन्तु अग्रतः पृष्टतश्च शत्रुशस्त्रेभ्यस्त्रायन्ताम्, तस्मिन् सुरक्षिते सुरक्षिता स्यात् मद्विजयाशा।।श्रीः।।

संगति :— अथ भीष्मप्रतिक्रियां वर्णयति तस्य इत्यादिना—

"तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ।।१२।।

रा०कृ०भा — इत्थं दुर्योधननैराश्यं निरीक्ष्य आत्मसुरक्षाविषये दुर्योधनसंदेहञ्च निराचिकीर्षुः वृद्धत्वेऽपि सर्वतोऽधिकं निजोत्साहं द्योतयितुं तस्य दुर्योधनस्य हृदि हर्षं विजय- सम्बन्धिनीं प्रसन्नतां संजनयन्। इह "लक्षणहेत्वोः क्रियायाः पा०अ० ३/२/१२६ इत्यनेन हेतौ शतृ प्रत्ययः। तस्य हृदि प्रसन्नतां संजनयितुं कुरुवृद्धः कुरुषु धर्तराष्ट्रेषु पाण्डवेषु च वयसा ज्ञानेन च श्रेष्ठः, प्रतापवान् परमप्रतापी पितामहः सिंहनादं सिंहस्य नादः यस्मिन् कर्मणि तद् यथा स्यात्तथा, यद्वा सिंह इव नदित्वा इति सिंहनादम्, अत्र "उपमाने कर्मणि च" ३/४/४५ इत्यनेन कर्तरि उपमाने णमुल् विनद्य गर्जित्वा। यद्वा सिंहनादमिति शङ्खविशेषणं, सिंहस्य इव नादः ध्वनिर्यस्मिन् स सिंहनादः तं सिंहनादं उच्चैः उच्चस्वरेण वीरोत्साहजनकं युद्धारम्भसूचकं दध्मौ ध्मातवान्।।श्रीः।।

अथान्येषां प्रतिक्रियां वर्णयति—

"ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ।।१३।।

रा०कृ०भा०— अनन्तरं क्रियामाह—'ततः भीष्मकृतशङ्खध्वन्यनन्तरं सहसा एव अकस्मादेव शङ्खाः कम्बवः समुद्रोत्पन्नसुशिरवाद्यविशेषाः, भेर्यः दुन्दुभिप्रकाराः, पणवाः, अनकाः, गोमुखाः युद्धोत्साहवर्धकघनवाद्यविशेषाः अभ्यहन्यन्त कौरवपक्षतः अताड्यन्त। समूहालम्बनत्वात् केन किं वादितं इति नादर्शि। सः शङ्ख भेरीपणवानकगोमुखवादनोत्थः शब्दः अव्यक्तशब्दः तुमुलः भयङ्करतम; अभवत्।।श्रीः।।

"ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ।।१४।।

रा०कृ०भा०— एवं नवभिर्दुयोधनवाक्यानुवादं कृत्वा तत्संख्यया च तस्मिन् नवद्वारात्मकशरीरपुरीनिहितनिगूढमहाभिमानं सूचयित्वा तन्मिषेण तस्य गीताशास्त्रश्रवणानधिकारितां सूचयित्वा तदनु द्वाभ्यां धृतराष्ट्रपक्षयुयुत्सां संसूच्य, तदनु पञ्चभिः पाण्डवपक्षयुयुत्सां भाविविजयोत्साहं च प्रकटयन्नाह— तत इत्यादि–

तत्र प्रथमेन गीताशास्त्रप्रमुखवक्तृश्रोतृसङ्कीर्तनच्छलेन सर्वतो वैलक्षण्यं प्रदर्शयति। ततः परपक्षशङ्खभेरीपणवानकगोमुखवादनानन्तरं, श्वेतैः धवलैः हयैः वेगवद्भिर्वाजिभिः युक्ते जुष्टे एवंभूते महति श्रेष्ठे, यद्वा महति स्यन्दने इत्येकं पदम् तथा च मः जीवः, कवर्गादिपर्यालोचनायां मकारस्य पञ्चविंशत्त्वात् जीवात्मनश्च तथाभूतत्त्वात्। मस्य जीवात्मनः हतिः भगवच्छरणागतिः यस्मि् सः महतिः, हन् धतोः गत्यर्थकतयाऽपि स्मृतत्त्वात्, हन् हिंसागत्योः इति धातुवृत्तौ पाणिनिः, अस्मिन्नेव रथे प्रत्यगात्मनः पार्थस्य श्रीकृष्णपरमात्मपादमूले शरणागतिर्भविष्यतीति सूचयितुं महति पदम्, समस्तं महतिश्चासौ सयन्दनश्च इति महतिस्यन्दनः तस्मिन्, महतिस्यन्दने, अथवा मःमोहः मः पार्थनिष्ठधार्तराष्ट्रविषयकममताबन्धः मश्च,मश्च मौ अर्जुननिष्ठमोहममताबन्धौ तयोः मयोः पार्थमोहममताबन्धयोः हतिः यस्मिन् स रथः महत्तिः सचासौ स्यन्दश्चेतिमहतिस्यन्दनः तस्मिन् महतिस्यन्दने, अस्मिन्नेव रथे परमेश्वरपदपद्मं प्रपित्सोः पार्थस्य मोहममताबन्धौ परमात्मनैव घातिष्येते इति महति पदम्। अथवा मयोः मोहममत्त्वयोः मानां मोहममत्वमदमदनमात्सर्याणां हतिः विनाशः यस्मिन्। हतिर्दूरगमनं वा यस्मात् सः महतिः निरस्तमोहमदममत्त्वमदनमात्सर्यो मधुमथनमदनमोहनपदमञ्जजपरागमकरन्दमञ्जुमधुव्रतो महानुभावः पार्थः प्रत्यगात्मा तस्य महतेः महापुरुषस्य पार्थस्य स्यन्दनः महतिस्यन्दनः तस्मिन् महतिस्यन्दने। यद्वा मानमोहममत्वमदमदनमात्सर्यप्रमुखान् विकारान् हन्ति इति महतिः "कृत्य ल्युटो बहुलम् ३/३/११३ इत्यनेन बाहुलकात् पुंस्त्वेऽपि कर्तर्थेऽपि वर्तमानकाले क्तिन्, स चासौ स्यन्दनश्च इति महतिस्यन्दनः तस्मिन् महतिस्यन्दने। यद्वा मः मधुसूदनः तेन मेन मधुसूदनेन हन्यते गतिशीलः क्रियते वा इति महतिः बाहुलकात्

कर्मणि वर्तमाने पुंस्त्वे क्तिन् स चासौ स्यन्दनश्च तस्मिन् महतिस्यन्दने। अथवा हननं गमनं हतिः गतिः हन्तेर्गत्यर्थत्त्वात् मः माधवः हतिः गतिः यस्य सः महतिः अर्जुनः तस्य स्यन्दनस्तथाभूते, अथवा मात् माधवात् हतिः गतिः यस्मिन् स महतिः सचासौ स्यन्दनश्च तथाभूते, अथवा मः माधवः हतिः गतिरक्षकः यस्य स महतिः शेषं पूर्ववत्। अथवा मः जीवः तेन हन्यते पूजयितुमाश्रियते इति महतिः, अथवा महीयते जीवैः पूज्यते इति महतिः स चासौ स्यन्दनश्च इति महतिस्यन्दनः तस्मिन् महति स्यन्दने। सन्त्योऽपि बह्वयो; व्युत्पत्तयः ग्रन्थविस्तरधियेह न प्रदर्श्यन्ते, स्थितौ विराजमानौ अध्यात्मपक्षे च श्वेतैः धवलितैः हयैः इन्द्रियाख्यैः युक्ते महति स्यन्दने सर्वसाधनसम्पन्ने शरीररूपरथे "शरीररथमुच्यते" इति श्रुतेः स्थितौ निवृत्तगतिकतया विराजमानौ जीवान्तर्यामिणौ प्रत्यगात्मपरमात्मानौ श्रीकृष्णार्जुनौ, मधुसु जातः माधवः मा लक्ष्मी तस्याः धवः पतिः माधवः, अथवा मायायाः धवः माधवः पृषोदरादित्वात्" यकार लोपः। अथवा मस्य जीवस्य आसमन्तात् धवः माधवः अथवा मान् मदमोहममत्वमदनमात्सर्यान् आसमन्तात् धुनोति नाशयतीति माधवः भगवान् श्रीकृष्णः, पाण्डवः मध्यम इति शेषः अर्जुनः, चैव चकारेण उभयोर्यौगपद्यसमुच्चयः, एव कारेण अन्ययोगव्यच्छेदः। इमौ द्वावपि दिव्यौ अप्राकृतौ शङ्खौ वक्ष्यमाणनामानौ प्रदध्मतुः प्रकर्षेण वादयामासतुः।।श्रीः।।

"अथ पञ्चानां पाण्डवानां कृष्णस्य च विख्यातनाम्नः शंखान् सङ्कीर्तयति द्वाभ्याम्–

"पाञ्चजन्यं हृषीकशो देवदत्तं धनञ्जयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ।।१५।।
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ।।१६।।

रा०कृ०भा०— हृषीकाणि इन्द्रियाणि तानि ईष्टे तेषां ईशो वा हृषीकेशः भगवान् श्रीकृष्णः, हृषीकमत्र तद्वत् सकलप्रपञ्चोपलक्षणम्, निखिलप्रपञ्चनियामकः सर्वाधिष्ठाता सर्वान्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णः, पाञ्चजन्यं एतन्नामकं शङ्खं दध्मौ। पञ्चजननामकं दैत्यं हत्वा तत एव भगवता शङ्खोऽधिगत इति पुराणप्रसिद्धेः। यथा श्रीमद्भागवते–

"नैवाहार्षमहं देव दैत्यः पञ्चजनो महान् ।
अन्तर्जलचरः कृष्ण शङ्खरूपधरोऽसुरः ।।
आस्ते तेनाहृतो नूनं तच्छ्रुत्वा सत्वरं प्रभुः ।
जलमाविश्य तं हत्वा नापश्यदुदरेऽर्भकम् ।।
तदङ्गप्रभवं शङ्खमादाय रथमागमत् ।।

भागवत् १०-४५-४०,४१,४२

पञ्चजने भवः पाञ्चजन्यः पंचजनादुपसंख्यानम् (क०वा० २८,६८) इत्यनेन यत् प्रत्ययः।

एवं धनञ्जयः दिग्विजये राज्ञां धनानि आहत्य युधिष्ठिराय दत्तवान्। अस्मिन् संग्रामेऽपि त्वत्पुत्रधनं युधिष्ठिराय दास्यति इति सूचनार्थं धनञ्जयपदं, मुनिजनधनं श्रीकृष्णं जयति निजप्रेमवशंकृत्वा निजसारथ्ये नियुंक्ते तथाभूतः पार्थः, यथोक्तम्, आलवन्दारे – "धनं मदीयं तव पादपङ्कजम्" योऽजितमपि परमात्मानं श्रीकृष्णं जितवान् निजप्रेम्णा तस्य विजये का विचिकित्सा इति सञ्जयहार्दम्। देवेन अग्निदेवेन दत्तं खाण्डववनदहनकाले पार्थाय समुपहृतं देवदत्तं दध्मौ। अत्रायमभिप्रायः यथा अग्निना दत्तं शङ्खं वादयित्वा पार्थः खाण्डववनं भस्मसात् चकारत् तथैव साम्प्रतं शङ्खमिमं वादयित्वा तव सैन्यवनं भस्मीकर्तुं निर्णीतवान्, भीमकर्मा भीमानि भयङ्कराणि हिडिम्बकीचकवधप्रभृतीनिन कर्माणि युद्धकार्याणि यस्य तथाऽभिधः, वृकः अग्निः उदरे यस्य स वृकोदरः बह्वाशी परमपराक्रमी भीमसेनः पौण्ड्रं तन्नामकं महाशङ्खं दध्मौ ध्मातवान्। ननु महच्छब्दपूर्वः शङ्खशब्दः अमङ्गलवाची। तथा हि–

"शङ्खे चैव श्मशाने च तैले याने तथैव च।
यात्रायां ब्राह्मणे पात्रे महच्छब्दो न दीयते।।

इति चेत् प्रायोवाद एषः, किं मानमिति चेत् सर्वज्ञशिरोमणेः वेदव्यासस्य प्रयोग-प्रवृत्तिरेव। यद्वा पौण्ड्रं पौण्ड्रकीयं पौण्ड्रसुरवधे भगवता श्रीकृष्णेन ततः प्राप्तं पुनश्च भीमसेनाय सत्याभामया दत्तं, तथा च महीयते पूज्यते इति महा सत्यभामा मह्या दत्तः शङ्खः इति महाशङ्खः तं महाशङ्खं दध्मौ एवं कुन्तीपुत्रः कुन्त्यास्तवानुजवध्वाः पुत्रः राज्यस्य उत्तराधिकारी, भगवत्या कुन्त्या महता तपसा धर्ममाराध्य लब्धः, कुन्तीपुत्रशब्देन गान्धारीपुत्रतो व्यतिरेकं भणति, गान्धार्या अधर्ममयः पापी दुर्योधनः पुत्रः, किन्तु कुन्त्या परमभागवत्या साक्षाद् धर्मराजः पुत्रत्वेन प्राप्तः। अतः पुत्रविजयाशां त्यज्यतामिति हार्दम्। राजा कुन्तीपुत्र एव राजा, न तु गान्धारीपुत्रः, "यतो धर्मस्ततो जयः" इत्युक्तेः, युधिष्ठिरः युधि धर्मयुद्धे स्थिरः, न तु विराट्पुर युद्धे गान्धारीपुत्र इव पलायनशीलः गवि युधिभ्यां स्थिरः "पा०आ० ८/३/९५ इत्यतेन दन्त्यस्य मूर्ध्यन्यः। अनन्तविजयं अनन्तः विजयः यस्य सोऽनन्तविजयः, यद्वा अनन्तः श्रीकृष्णः अनन्तास्थित विजयः यस्य सः तं अनन्तविजयं तन्नामकं शङ्खं दध्मौ, यस्य शङ्ख एव अनन्तविजयः तस्य विजयोऽवश्यम्भावी इति ध्वनिः। च तथा नकुलः सहदेवः द्वौ माद्रीपुत्रौ सुघोषमणिपुष्पकौ सुघोषं नकुलः, मणिपुष्पकं सहदेवः प्रदध्मतुः, एषां षण्णां कृष्णादीनां पाण्डवानां षडपि शङ्खाः ख्यातनामानः। तव पक्षे नैकोऽपि तथाविधः, तर्हि अलं विजयाशया।।श्रीः।।

अथ शेषाणामेकादशानां शङ्खवादनं कीर्तयति द्वाभ्याम् —

"काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः।।१७।।
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक्।।१८।।

रा०कृ०भा०— श्लोकद्वयं एकान्वयि। ख्यातनाम्नां षण्णां शङ्खानामानन्तरमख्यातानां किन्तु प्रमुखाणां रुद्रसंख्यावतां शङ्खवादनं कीर्तयति द्वाभ्यां, काश्यश्च इत्यादि- अत्र पृथिवीपते इत्यग्रिमश्लोकद्वितीयचरणस्थं 'पृथिवीपते' इति प्रथममन्वये योज्यम्। परमः पूजनीयः धर्मकार्ये नियुक्तत्वात् इष्वासः धनुः यस्य सःपरमेष्वासः श्रेष्ठधन्वा काश्यः, तथा महारथः दशसहस्रैः योद्धुं समर्थः शिखण्डी भीष्मनिधनहेतुः, धृष्टं शुत्रुधर्षणशीलं द्युम्नं धनं यस्य स धृष्टद्युम्नः द्रोणविनाशनशीलकृष्णकृपाधनः, विराटः अभिमन्युश्वसुरः तथा च अपराजितः अजेयः, अथवा अपरा योगमाया "अपरे यमितस्त्वन्यां" गीता ७-५ इत्युक्तेः, अपरया योगमाययाऽपि अजितः नैव जेतुं शक्यः, यद्वा अः वासुदेवः "अक्षराणामकारोऽस्मि" गीता १०-३३ इत्युक्तेः, एवंभूतः अकारः वासुदेवः पराजितः यस्मात् स अपराजितः सात्यकिः, ननु असङ्गतमिदं व्याख्यानम् अजितस्य परमात्मनः सात्यकितः पराजितुमशक्यत्वात् इति चेन्न ! भगवतोऽपि भक्तात् पराजयदर्शनात्। यथा श्रीभागवते — "उवाह कृष्णो भगवान् श्रीदामानं पराजितः" (भागवत १०/१८/२४) भगवतोऽपेक्षया भक्तस्य अधिकतरत्वात् भक्तापेक्षाया च भक्तभक्तस्याधिकतरत्वात्, भगवद्भक्तो हि अर्जुनः, अर्जुनस्य भक्तश्च सात्यकिः तस्माद् भक्तभक्तः सात्यकिः अर्जुनस्य भगवद्भक्तत्वे श्रीमुखमेववचनप्रमाणम् "भक्तोऽसि मे सखा चेति" गीता ४-३ सात्यकेश्च अर्जुनभक्तत्वे भागवतवचनमेव प्रमाणम् —

"क्षेमं स कच्चिद्युयुधान आस्ते
यः फाल्गुनाल्लब्धधनूरहस्यः ।
लेभेऽञ्जसाधोक्षजसेवयैव
गतिं तदीयां यतिभिर्दुरापाम् ।। भागवत् ३-१-३१

एवं भक्तभक्तात् भगवतः पराजयः सुनिश्चितः, हार्दमेतत् यद् भक्तात् भगवान् जयते, परन्तु भक्तभक्तात् भगवान् पराजीयते, अत एव परा इत्युपसर्ग उपात्तः, यथोक्तं श्रीमानसे—

"मोरे मन प्रभु अस विश्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा।
मानस ७-१२०-१६

एतद्रूपान्तदम् —

प्रभो मम मनस्येवं विश्वास उपजायते ।
रामाच्चैवाधिको ज्ञेयो दासो रामस्य वैष्णवः ।।

यदि रामस्य दासो रामतोऽधिकः तर्हि किं तस्य रामस्य दासदासः ? अत एव वृत्रासुरः प्राह श्रीभागवते —

"अहं हरे तव पादैकमूलदासानुदासो भवितास्मि भूयः ।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते गृणीतवाक्कर्म करोतु कायः ।।
भागवत ६-११-२४

अत एव श्रीवैष्णवाः प्रार्थयन्ते —

"मज्जन्मनः फलमिदं मधुकैटभारे
मत्प्रार्थनीयमदनुग्रह एष एव ।
त्वद्भृत्य-भृत्य-परिचारक-भृत्य-भृत्य
भृत्यस्य भृत्य इति मां स्मर लोकनाथ ।।

तथा द्रुपदः द्रुः वृक्षः तद्वत् दृढं पदं यस्य स द्रुपदः, अथवा द्रुः अश्वत्थवृक्षो भगवान् तं पद्यते शरणं गच्छतीति द्रुपदः, अथवा द्रुः संसारवृक्षः तस्मात् उपरतः भगवन्तं पद्यते इति द्रुपदः, यथोक्तं अत्रैव श्रीगीतायाम् —

"ऊर्ध्वं मूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ।। गीता १५-१

अथवा — द्रुं संसारवृक्षं पद्यते जानाति इति द्रुपदः, पदधातोः गत्यर्थकत्वात् गत्यर्थकस्य च ज्ञानार्थकतया परिगणितत्त्वात्, संसारवृक्षं हि जानन् तमसङ्गशस्त्रेण छित्वा परिमार्गणीयं परंपदं द्रुपदः प्रापद्यत, अत एव परमभागवती स्त्री सत्यपि भगवन्मित्रं द्रौपदी कन्या तस्य जाता, अत एव भारते —

"सखी च वासुदेवस्य" अत एव च तस्याः चीरवर्धनकाले भगवतो वस्त्रावतारो बभूव एकादशः तथा हि भारते—

"कृष्णं च विष्णुं च हरिं नरं च
त्राणाय विक्रोशति याज्ञसेनी ।
ततस्तु धर्मोऽन्तरितो महात्मा
समावृणोद् वै विविधैः सुवस्त्रैः ।।

म०भा० सभा २/६८-४६-४८

"नाना राग विरागाणि वसनान्यथ वै प्रभो ।
प्रादुर्भवन्ति शतशो धर्मस्य परिपालनात् ।।

ननु भगवतो वस्त्रावतारग्रहणे किं मानम् इति चेत् — अत्रत्यं वेदव्यासवाक्यमेव।कथम् इति चेद् विभाव्यताम् — ततस्तु धर्मोऽन्तरितो महात्मा (महाभारत २/६८-४६) इत्यत्र प्रयुक्तः अन्तरितशब्द एव भगवतो वस्त्रावतारं सूचयति। तथा हि 'अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः' (पा०अ० १/१/३६) इति सूत्रेण अन्तरशब्दस्य बहिर्योगार्थे उपसंव्यानार्थे च जसि विकल्पेन सर्वनामसंज्ञाविधानात् उपसव्यानस्य च शाटिकापरपर्यायात् अन्तरशब्दस्य वस्त्रमर्थः। एवं अन्तरा शाटिका इवाचरति इति अन्तरयति। आचारार्थे णिच् अन्तरयतीत्यन्तरितः इति अकर्मकतया 'गत्यर्थाकर्मक' इति सूत्रेण वर्तमानकाले क्तः। तथा हि अन्तरितः वस्त्रायित इत्यर्थः। अतएव प्राहुर्वाल्मीकिनवावताराः हुलसीहर्षवर्धनश्रीमद्गोस्वामितुलसीदासमहाराजाः

दोहावल्याम्।

सभा सभासद निरखि पट पकरि उठायौ हाथ ।
तुलसी धर्‌यौ ग्यारहवों वसन रूप जदुनाथ ।।
दृष्ट्वा सभां वै किल पारिषद्यान्
कृष्णा गृहीत्वा परमात्महस्तौ ।
उच्चिक्षिपे तत्र हि रुद्रसंख्यं
वस्त्रावतारं भगवान्दधार ।

म०भा० स० पर्व ६८-४८

एवंभूतः भागवान् द्रुपदः, तथा च द्रौपदेयाः, द्रौपदीपञ्चपुत्राः प्रतिविन्ध्यः सुतसोमः श्रुतकर्म, शतानीकः श्रुतसेनो यथा भारते—

युधिष्ठिरात् प्रतिविन्ध्यं सुतसोमं वृकोदरात् ।
अर्जुनाच्छ्रुतकर्माणं शतानीकं च नाकुलिम् ।।७९।।
सहदेवाच्छ्रुतसेनमेतान् पञ्चमहारथान् ।
पाञ्चाली सुषुवे वीरानादित्यानदितिर्यथा ।।८०।।

तथा च महान्तौ बाहू यस्य स महाबाहु सौभद्रः—

ततः सुभद्रा सौभद्रं केशवस्य प्रिया स्वसा ।
जयन्तमिव पौलोमी ख्यातिमन्तमजीजनत् ।।

महाभारत १/१२०/६५,६६

दीर्घबाहुं महोरस्कं वृषभाक्षमरिंदमम् ।
सुभद्रा सुषुवे वीरमभिमन्युं नरर्षभम् ।।

इमे अष्टादश वीराः अष्टादशीयमहाभारतशुभारम्भे पृथक्पृथक् एकस्मिन्नुपरते एकः इति निजवारानुसारं पृथक्पृथक् शङ्खान् विजयसूचिनः दध्मुः। हे पृथिवीपते ! इति सम्बोधनं, सर्वशः सर्वे अत्र प्रथमार्थे शस्, एवं पृथिवीपते इति सम्बोधनं प्राग् नियोज्य अन्ते सर्वशः इत्यस्य योजना। हे राजन् ! भवत्पक्षे केवलं भीष्मस्य शङ्खनादो ज्ञातः, किन्तु शङ्खस्य नाम न ज्ञातम्। परन्तु पाण्डवपक्षे अष्टादश शङ्खध्मातारो विदिताष्षट् च ख्यातनामानः शङ्खाः, तत्र स्वयं भगवान् भगवद्विभूतिरूपोऽर्जुनः, इति पाण्डवपक्षे प्रबलतरविजयलक्षणसूचनात् तदीय एव विजयः सम्भाव्यते इति व्यञ्जना।।श्रीः।।

संगतिः— किं बहुना भवत्पक्षे शङ्खनादान् श्रुत्वा पाण्डवपक्षे न काचित् प्रतिक्रिया किन्तु पाण्डवसैन्यशङ्खनादतः भवत्पुत्राणां हृदयाण्येव विदीर्णानि, अतो भयं भवत् पक्षे, अभयं च पाण्डवक्षे इत्यत आह स घोषो इत्यादि —

"स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च प्रथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्।।१८।।

रा०कृ०भा०— नभः आकाशं चकारेण अन्तरिक्षं पृथिवीं सप्तद्वीपां बसुन्धरां च पुनश्चकारेण अधस्तनानां संग्रहः, एवकारस्तु कदाचिदन्ययोगव्यवच्छेदार्थः विशेषणेन कदाचित् अयोगव्यवच्छेदार्थः विशेष्येण कदाचिदात्यन्तायोगव्यवच्छेदार्थः क्रियया समन्वेति। एवं सघोष एव धार्तराष्ट्राणामेव व्यदारयत् एव, इति त्रिरावर्त्यमानस्त्रेधा समुह्यः। व्यनुनादयन् विशेषेण आनुरूप्येण च नादयन् पूरयन् सः घोष एव शस्त्राणां का कथा, तुमुलः भयङ्करतमः शब्द एव। धृतराष्ट्रस्य अपत्यानि पुमासो धार्तराष्ट्राः तेषां धार्तराष्ट्राणां तव शतपुत्राणां हृदयानि चेतांसि व्यदारयत् विदीर्णान्यकरोत् एव। एवं त्वत्पक्षस्य भय-दर्शनेन तस्य चासुरसम्पन्मयत्वात् तत्पराजये नास्ति कश्चन सन्देह इति, एवं श्लोकानामेकोनविंशत्या गीताऽनधिकारी, कौरवपक्ष-दौर्वल्यं वर्णयित्वा तत्संख्याच्छलेन दशानामिन्द्रियाणां, चतुर्णामन्तःकरणानां, पञ्चनामपि प्राणानां सूक्ष्मसैद्धान्तिकविवेचनं निरुच्य तदनन्तरं प्रत्यगात्मपरमात्मभूतयोः सेवकसेव्ययोः पाण्डवमाधवयोः सम्वादरूपं गीताशास्त्रं अवतारयति।।

"अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः।।२०।।
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

"अर्जुन उवाच"

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत।।२१।।

रा०कृ०भा० — अथेति मङ्गलाचरणार्थम्। मङ्गलादीनि मंगलमध्यानि मङ्गलान्तानि शास्त्राणि प्रथन्ते "वीरपुरुषाणि चायुष्मत् पुरुषाणि भवन्ति" इति श्रुत्यनुशासनात्।निखिलदार्शनिकग्रन्थशेखरस्य श्रीगीताशास्त्रस्य प्रारम्भेण समङ्गलेन भूयेत्, ततो मङ्गलमाचरति अथ इति, अथ शब्दस्य हि मङ्गलतया पुराणप्रसिद्धत्वात् तथा चामनन्ति पौराणिकाः —

ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्त्वा बहिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ।। इति,

हे महीपते! मह्याः पतिः महीपतिः तत्सम्बुद्धौ हे महीपते पृथिवीपाल! मह्याः बहु पतित्त्वात् तवापि महीपतित्त्वं अत्यल्पदिवसं वृद्धत्वाच्च 'महीयं न चिरात् त्वां हास्यतीति' महीपते इति शब्दे व्यञ्जना। अथ उभयपक्षशङ्खनिनादानन्तरं कपिः वानरो हनूमान् ध्वजे यस्य सः कपिध्वजः अर्जुनः यथा हनूमत्सहायेन श्रीरामदलेन रावणो विजितः, तथैव हनूमदधिष्ठित-ध्वजोऽयं श्रीकृष्णकृपाबलः पार्थः धार्तराष्ट्रान् जेष्यत्येव। ननु गीताशास्त्रप्रवचनोप्रक्रमे भगवता कथं हनुमान् कपिः अर्जुध्वजमारोप्य स्वस्मादुच्चैः संस्थापितः ? श्री गीतायां वक्ष्यमाणविषयाणां हनुमता कृत पूर्वत्त्वात्तस्मै समादरदानाय, यद्वा हनुमान् मर्यादापुरुषोत्तमश्रीसीतापतिरामोपासकः,

सत्यश्रीरामः परिपूर्णपरात्परब्रह्म। तदवतारभूतोऽयं भगवान् श्रीकृष्णः श्रीगीताप्रवचनकाले आत्मनो रामत्वं यथा न विस्मरेत्, यथा च श्रीगीताशास्त्रमर्यादां नाति वर्तेत, अतो हनुमान् ध्वजम् आरोपितः अथवा हनुमतस्मरणं दर्शनं च युद्धे विजयदायकम्। अतो धनञ्जयाय यथा विजयो मिलेत् तदर्थं कपिः ध्वजे स्थापितः। शस्त्राणामायुधानां सम्पातः सम्प्रहारः शस्त्रसम्पातः तस्मिन् शस्त्रसम्पाते प्रवृत्ते। इह वर्तमाने क्तः, प्रवर्तमाने यद्वा अदिकर्मणि क्तः, प्रवर्तितुमुद्यते सति पाण्डवः पाण्डुपुत्रः अर्जुनः धनुः गाण्डीवं उद्यम्य उत्तोल्य, यद्वा उत्कृष्टतया व्यापारे नियोज्य सज्जं कृत्वा इति भावः। तदा तस्मिन् समये हृषीकाणां इन्द्रियाणां ईशं स्वामिनं श्रीकृष्णं इदं एतत् सार्द्धद्वयश्लोकात्मकं वाक्यमाह हे अच्युत ! उभयोः कौरवपाण्डवसम्बद्धयोः सेनयोः इनः स्वामी पतिः तेन इनेन सह वर्त्तमाना सेना। सेना च सेना च सेने तयोः सेनायोः सैन्यरक्षकसुभटसेनापतिसहितयोः मध्ये मे मम पार्थस्य रथं स्थापय, मां तु कोऽपि न च्यावयिष्यति इत्याशङ्कमानं प्रति आह- अच्युत न च्यवति इति अच्युतः तत्सम्बुद्धौ हे अच्युत उभयोः सेनयोर्मध्ये मे रथं स्थापय, त्वमच्युतोऽसि तस्मात् निजपुत्रश्वसुरपक्षपाततया दुर्योधनपक्षे ते च्युतिर्न स्यात्, अतः अच्युत इति प्रथमं विशेषणम्। दुर्योधनादयः आध्यात्मिकदृष्ट्या रोगाः, रोगाणां च विनाशनं "अच्युतानन्त गोविन्द" नाम्ना उच्चारणेन सम्भवमिति भगवता अर्जुनमुखेन श्रीगीतासु त्रीण्यपि नामानि समुच्चारणविषयीकारितानि, यथा—

"अच्युतानन्त गोविन्द नामोच्चारणभेषजात् ।
नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं ब्रवीमि ते ।।

तदिह "रथं स्थापय मेऽच्युत" "त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत" अनन्तः "अनन्त देवेश जगन्निवास" गोविन्दः "किन्नो राज्येन गोविन्द" एवं राजन् पार्थेन अच्युतेत्युच्चारणात् रोगभूतास्तवपुत्राः नङ्क्ष्यन्तीति सूच्यते।।श्री;।।

तदा त्वं किं करिष्यसि अत आह—

"यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ।।२२।।

रा०कृ०भा०— रथं स्थापयेत्यत्र लोट्लकारः प्रवर्तनायां स च पार्थस्यादेश एव, त्वया किं कर्तव्यं इत्यत आह यावदिति— यावत् सैन्यद्वयमध्ये भवद्रथस्थापनसमकालमेव अहं योद्धुकामान् युद्धं कामयमानान् एतान् समागतान् अवस्थितान् कुरुक्षेत्रे स्थितान् वीरान् निरीक्षे नितरामीक्षे, निपुणतया ईक्षे वा। काऽवश्यकता निरीक्षणस्य साम्प्रतं युद्धं कर्तव्यं इत्यपेक्षायां आह—अस्मिन् पुरोवर्तमाने रणस्य युद्धस्य समुद्यमे धर्मपूर्णे व्यापारे मया अर्जुनेन कर्त्रा कैः किंप्रकारकैः जनैः सह सार्धं योद्धव्यं युद्धं कर्तव्यम्। अथवा कैः कर्तृभूतैः सुभटैः मया अर्जुनेन सह योद्धव्यं युद्धं विधेयं, अत्र सम्भावनायां तव्यत्।।श्रीः।।

"निरीक्षणेन किं करिष्यसि" ? इत्यत आह योत्स्यमानानित्यादि—

"योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ।।२३।।

रा०कृ०भा०— इह यच्छब्दः समभिहारात् तान् इति अक्षिप्यते, पूर्वश्लोकाच्च यावदित्यपि अनुषज्यते। यावत् दुर्बुद्धेर्धार्तराष्ट्रस्य युद्धेः प्रियचिकीर्षवः अत्र ये एते अत्र समागताः तान् योत्स्यमानान् अहं अवेक्षे इत्यन्वयः। भवद्रथस्थापनसमये दुष्टा बुद्धिर्यस्य स दुर्बुद्धिः तस्य दुर्बुद्धेः अधर्ममतेः धार्तराष्ट्रस्य धृतराष्ट्रपुत्रस्य दुर्योधनस्य प्रियचिकीर्षवः प्रियं कर्तुमिच्छन्तीति तथाभूताः, प्रियस्य चिकीर्षवः प्रियचिकीर्षवः। अत्र युद्धे अस्मिन् संग्रामे ये एते पुरो दृश्यमानाः समागताः त्यक्तजीविताशा आयाताः तान् एतान् योत्स्यमानान् युद्धं करिष्यमाणान् तान् एतान् परपक्षीयान् स्वपक्षीयांश्च अहम् अर्जुनः अवेक्षे अवगच्छामि। इत्येष सार्धद्वयात्मकं वाक्यम् आह। तदेवावतारितमर्जुन उवाच इत्यादिना।।श्रीः।।

"अथानन्तरकालिकक्रियां वर्णयन् वैशम्पायनः जनमेजयं सम्बोधयति।

"संजय उवाच"

"एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ।।२४।।
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति ।।२५।।

रा०कृ०भा०— संजयः धृतराष्ट्रसारथिः उवाच विज्ञापयामास हे भारत हे भरतवंशप्रसूत धृतराष्ट्र! अधुनाऽपि भरतम् अनुसर अजातशत्रवे न्याय्यं दायं देहीति ध्वनयितुं भारतेति— गुडाका निद्रा 'निद्रालस्यं गुडाका स्यात्' इत्यमरः। तस्याः ईशः शासकः विजेता गुडाकेशः पार्थः निद्राविजयी तेन गुडाकेशेन अर्जुनेन एवं पूर्वोक्तसार्धश्लोकद्वयवाक्यरूपम् उक्तः निवेदितः, हृषीकाणां इन्द्रियाणां ईशः सर्वान्तर्यामी परात्परपरमेश्वरः भगवान् श्रीकृष्णः उभयोः द्वयोः सेनयोः दैव्यासुर्योः चम्वोर्मध्ये भीष्मद्रोणप्रमुखतः भीष्मश्च द्रोणश्च भीष्मद्रोणौ तयोः प्रमुखे सम्मुखे इति भीष्मद्रोणप्रमुखतः "आद्यादिभ्यस्तसेरूपसंख्यानम्" इत्यनेन सप्तम्यर्थे तसिः, चकारात् समास पिहितोऽपि प्रमुखतः शब्दः उभयत्रापि सम्बध्यते। च मह्यां क्षियन्ति निवसन्ति इति महीक्षितः कर्तरि क्विप्। तेषां सर्वेषां महीक्षिताम् राज्ञां च प्रमुखतः। अथवा इह षष्ठ्यन्तात्तसिः एवं भीष्मद्रोणौ प्रमुखौ येषां ते भीष्मद्रोणप्रमुखाः तेषां भीष्मद्रोणप्रमुखाणां भीष्मद्रोणप्रमुखाणाम् एव भीष्मद्रोणप्रमुखतः, भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां महीक्षितां मध्ये रथेषु उत्तमं रथोत्तमं भक्तभगवदधिष्ठितं स्यन्दनं स्थापयित्वा स्थापितं कृत्वा गतिनिवृत्त्यनुकूल-व्यापारानुकूलव्यापाराश्रयं विधाय। हे पार्थ! पृथानन्दन! पृथा कुन्ती मत्सेवया लब्धविवेका अभवत्, तथा त्वमपि भविष्यसीति पार्थ इति सम्बोधनम्। अथवा पृथयाः मम पितृश्वसुः पुत्रत्वात् मुख्यतया तु तवाहमेव सम्बन्धी किन्तु त्वं मां न पश्यसि, तथाऽपि एतान् भीष्मद्रोणादीन् समवेतान् युद्धाय समवायमाप्तान् कुरून् दुर्योधनादीन् पश्य चाक्षुषविषयान्

विधेहि। इति इत्याकारकं अनुष्टुप् चरणद्वयकल्पं वाक्यम् उवाच विज्ञापयामास हृषीकेश इति भावः।।श्रीः।।

अथ भगवन्निर्दिष्टकौरवसैन्यदर्शनेन पार्थेन किं शोकमोहावाश्रितौ इति चेन्न! शोकमोहाश्रयणं पार्थस्य न पारमार्थिकं, तच्छलेन शोकमोहमहोदधिमग्नान् अस्मदादीन् समुद्दिधीर्षुः भगवान् गीताशास्त्रं प्रकटयाम्बभूव। यद्वा भगवल्लीलाशक्त्यैव विद्यया लीलीलालित्यार्थं समुद्भावितावाल्पकालिकौ फाल्गुनहृदये शोकमोहौ। "विद्ययाऽमृतमश्नुते— इति श्रुतेः, न खलु भगवत्सेकमविद्या व्याप्नोति, अत एव मानसकाराः—

"हरि सेवकहिं न व्याप अविद्या ।
प्रभु प्रेरित व्यापहिं तेहि विद्या ।।
ताते नास न होई दास कर ।
भेद भगति बाढै विहङ्गवर ।। मानस– ७-७८-२,३

एतद्रूपान्तरं —

श्रीहरेः सेवकं नैवाविद्या व्याप्नोति कर्हिचित् ।
प्रभुणा प्रेरिता तं तु विद्या व्याप्नोति सर्वदा ।।
तस्माच्छ्रीरामभक्तस्य न विनाशो भवत्यथ ।
हे विहङ्गवरास्मिंस्तु भेदभक्तिः प्रबर्धते ।।

तां पार्थ निरीक्षणपरिस्थितिं वर्णयति सार्धद्वाभ्याम् —

तत्रापश्यत्स्थितान् पार्थः पितृनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान् भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ।।२६।।
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ।।२७।।
कृपयापरयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।।

रा०कृ०भा०— अथ अनन्तरं श्रीकृष्णेन कुरुन् पश्येति विज्ञापितः सन् पार्थः पृथेव दृढकुटुम्बममत्वबन्धनः तत्र तयोः उभयोः कौरवपाण्डवसमाहूतयोः सेनयोः अधिकरण भूतयोः स्थितान् वर्त्तमानान् पितृन् पितृकल्पान् सोमदत्तादीन्, पितामहान् भीष्मं पितामहान्निति आदरार्थे बहुवचनम्। आचार्यान् इहापि आदरार्थे बहुवचनम् द्रोणाचार्यकृपाचार्यौ, मातुलान् शल्यादीन् मातृभ्रातृन्, शतबान्धवान् दुर्योधनादीन् चतुरश्च पाण्डवान्, पुत्रान् लक्ष्मणाभिमन्युप्रभृतीन्, पौत्रान् पुत्रसुतान्, सखीन् मित्राणि, श्वशुरान् द्रुपदादीन्, सुहृदः धृष्टद्युम्नादीन् श्यालकान्। चकारेण अन्यानपि सम्बन्धिनः अपश्यत्। एवं तान् सर्वान् बन्धून् बद्धममत्वान् अवस्थितान् युद्धाय कृतनिश्चयान् समीक्ष्य सूक्ष्मतया दृष्ट्वा सः कौन्तेयः कुन्तीपुत्रोऽर्जुनः परया अधिकया, अथवा अपरया संसाराश्रयतया असमर्थाश्रयतया च निकृष्टया कृपया परदुःखनाशचिकीर्षारूपया

करुणया आविष्टः अस्वाभाविकतया भूतावेशमिव प्रापितः कृपावेशं विषीदन् विषादं आप्नुवन्। इदं वक्ष्यमाणं सार्धाष्टादशश्लोकात्मकं वाक्यम् अब्रवीत्। कम् इत्यत् आह इदम् इम् अर्जुनहृदये वर्त्तमानं कामबीजं शोकमोहं द्यति खण्डयति इति इदः तं इदं मायाप्रपञ्चनाशकम् अच्युतं श्रीकृष्णं सम्बोध्य अब्रवीत् अवदत्।।श्रीः।।

"ब्रह्मविद्यां दिशन् सख्ये संख्ये शोकार्तचेतसे ।
पार्थाय पार्थसूतोऽसौ ममाविद्यां निराक्रियात् ।।

अथ भगवत्प्रेरितविद्यासमुद्भावितशोकमोहसमपहृतसेव्यसेवकभावं पार्थस्य तन्मुखादेव प्रकटयितुं, निजमनोदशां सार्धाष्टादशभिः तद्वाक्यप्राक्सूचनामवतारयति संजयो धृतराष्ट्रं प्रति। एवं नित्यकैङ्कर्यलक्षणनित्यजीवो भगवदीयः सन्नपि धनञ्जयः गीताशास्त्रभूमिकार्थं लीलायां भगवतैवान्यथा प्रेरितः शोकमोहाकुलितबद्धजीवमभिनयन् "अहिंसा परमो धर्मः "इत्यस्य-याथार्थ्यमभिमन्यमानः अर्जयति किञ्चित्क्षण पर्यवसायिनीं न तु सार्वकालिकीं शास्त्रविपरीतबुद्धिं यस्तथाभूतोऽर्जुनः श्रीकृष्णं प्रति उवाच—

"अर्जुन उवाच"

"दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ।।२८।।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ।।२९।।

रा०कृ०भा० — हे कृष्ण ! कृषति विलिखति तनूकरोति वा भक्तदुःखानि यः सः कृष्णः तत्सम्बुद्धौ हे कृष्ण ! यथा सर्वेषां क्लेशान् कृषसि तथैव ममापि पञ्चाविद्याजनित-क्लेशान् कृष, यथा वा सर्वेषां मनांसि कर्षसि तथैव ममापि मनोगजं महामोहसलिलतः कर्ष। भगवदीयत्वात् शोकमग्नेनापि पार्थेन नैव भगवन्माहात्म्यं व्यस्मारि, यद्वा कृष्णेति विशेषणं दावानलदह्यमानव्रजगोपसखासम्बोधनसंस्मारकं, यथा कृष्णेति सम्बोध्य गोपासखायस्ते दावाग्नेः त्वयैव मोचिताः तथैव कृष्णेति मया सम्बोध्यमानः मामपि शोकवह्नेर्मोचय, शोकस्य अनुपदमेव वह्निरूपतया निवेदयिष्यमाणत्वात् "यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणां" इति तत्र यथा—

"नूनं त्वद्बान्धवाः कृष्ण नचार्हन्त्यवसीदितुम् ।
वयं हि सर्वधर्मज्ञ त्वन्नाथास्त्वत्परायणाः ।।भागवत १०-१९-१०

ननु अहं ते सारथिः तर्हि त्वां कथं शोकान्मोचयेयम्, इत्यत् आह— कृष्ण ! त्वं सारथिः भवन्नपि परमार्थतो धर्मरथी राम एव भगवान्मर्यादापुरुषोत्तमः, वाल्मीकिना श्रीरामावतारेऽपि कृष्ण इति स्मृतत्वात्। यथा—

"शार्ङ्गधन्वा हृषीकेशः पुरुषः पुरुषोत्तमः ।
अजितः खड्गधृग्विष्णुः कृष्णश्चैव बृहद्बलः ।। वा०रा०६-११७-१६

किञ्च श्रीरामः कृष्णसंज्ञः सुग्रीवं बालितस्त्रात्वा तस्मै राज्यं भार्यां च प्रायच्छत्, निजमित्राय तथैव भवानपि दुर्योधनादेस्त्रात्त्वा मां राज्येन भार्यया च योजय। अथ च तत्र

श्रीरामावतारे भवता कृष्णसंज्ञेन सूर्यपुत्र सुग्रीवः इन्द्रपुत्रं वलिनं निहत्य रक्षितः, किन्त्वत्र वैलक्षण्यं, अत्र सूर्यपुत्रं कर्णं घातयित्वा तस्मादिन्द्रपुत्रोऽहमर्जुनः पातव्यो भवता। किमहं देवांशभूतेभ्यः भीष्मादिभ्यस्त्रातुं शक्नोमि त्वाम् ? इत्यत् आह कृष्ण भवांस्तु परब्रह्म परमात्मा कृष्णशब्दस्य च परब्रह्मपर्यायरूपेण श्रुतौ कीर्तितत्वात् –

"कृषिर्भूवाचको शब्दो णस्तु निवृत्तिवाचकः ।
तयोरैक्यं परब्रह्म श्रीकृष्णेत्यभिधीयते ।।

भुवः शान्तेश्च समन्वयरूपभवद्विग्रहश्रवणात् त्वं मह्यं भुवं निर्वृत्या परमशान्त्या सहैव प्रसादरूपेण दास्यसि, न तु कौरवेभ्य इव अशान्त्या, एतत् सर्वं मयाऽनवगतमपि भूयो भावमयो विचार्य भगवद्भावितभारतभारतीकृष्ण ! इति सम्बोधनमुपस्थापयति। लीलायां शोकमोहसम्मूढबुद्धिरपि पार्थः नैव पतति मनागपि मर्यादातः इति चित्रम्। हे कृष्ण ! परब्रह्म परमात्मन् ! सच्चिदानन्द ! निरस्तनिखिलहेयगुणप्रत्यनीक कलितसकल-कलुषककलिकल्मषघ्न कल्याणैकगुणगणनिलय इमं समधिकनेदिष्ठं, यद्वा अकारः वासुदेवः तस्यापत्यं पुमान् इः कामः संसारप्रपञ्चो वा तं इं माति स्वस्मिन्। समाहरति एतादृशं इमं संसारममत्त्वानुबन्धनं स्वस्य आत्मनो जनं, स्वेः आत्मीयाः ज्ञातयश्च, जनाः भटजनाः यस्मिन् तं स्वजनं सुभटसमुदायं नैव शान्तं, किन्तु युयुत्सुं योद्धुमिच्छन्तं समुपस्थितं सम्मुखम् आधिक्येन स्थितम् "उपोऽधिके" च इति स्मृतत्त्वात्। एवं भूतं निजकुटुम्बिनं दृष्ट्वा मम अर्जुनस्य गात्राणि करचरणादीनि अङ्गानि सीदन्ति कर्मकर्तृ प्रयोगात् स्वयमेव विशीर्यन्ते, यदि युद्धं विना अङ्गानि विशीर्णानि भवन्ति, तर्हि कथं युद्धं घटेय इति ध्वनिः। षद्लृ धातोश्च विशरणगत्यवसादनेषु पा०धा०पा० ८५४ भ्वादि। यत्तु सीदन्ति इत्यस्य शिथिलानि भवन्ति, इति केचन टीकाकृतः, तदज्ञातव्याकरणसिद्धान्तत्त्वात् उपेक्ष्यम्। च समुच्चयार्थोऽयं, मम मुखं शोकाग्निना परितः शुष्यति परितः शुष्कं भवति, भग्नलालाकं संवर्त्तते, चकारः पुनः समुच्चयार्थः मे मम अर्जुनस्य शरीरे क्षणभङ्गुरतया विशरणशीले देहे वेपथुः कम्पः रोमहर्षः रोमाञ्चश्च जायते, सम्पद्यते इमे शोकस्य प्रतिभावाः।।श्रीः।।

संगति— अन्यदपि स्वदौर्वल्यं वर्णयति—

"गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ।।३०।।

रा०कृ०भा०— चकार पुनः विषयसमुच्चपार्थः, च हस्तात् वामकरात् गाण्डीवं अग्निदत्तं धनुरपि स्रंसते भ्रंसमानं सत्पतति, शोकाग्निरयम् अग्नेरपि बलवत्तरः येन आग्नेयमायुधमपि गाण्डीवं पात्यते, ततो नास्त्ययं सामान्याग्निः, त्वक् मम त्वगिन्द्रियं चर्म परिदह्यते परितोदग्धं भवति, शोकाग्निः अन्यांस्तु अभ्यन्तरमेव दहति, मां तु बाह्यतोऽपि चित्रम्। अथवा त्वक्छब्देन युद्धकवचं लक्ष्यते यथा श्रीमद्भागवते "मम निशितशरैर्विभिद्यमान-त्वचि विलसत्कवचेस्तु कृष्ण आत्मा। (भागवत १/९/३५) गाण्डीवस्रंसनसमकालमेव मम

त्वचि लम्बमानं युद्धकवचमपि परितो दह्यमानं प्रतीयते तदूष्मणा मयि विकलता वर्धते, अत एव अहं युद्धभूमौ अवस्थातुं संग्रामाय व्यवस्थितो भवितुं न शक्नोमि न क्षमे, चकारात् युद्धकवचमपि निक्षेप्तुमिच्छामि, च मे मम अर्जुनस्य मनः भ्रमति इव भ्रान्तमिव भवति, वैचित्यं जायते। अतस्त्वं सम्भालय गीतागानेन पिब दावाग्निमेनं अयमत्र ध्वानिः।।श्रीः।।

अन्यच्च –

"निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ।।३१।।

रा०कृ०भा०— एवं हस्ततो गाण्डीवस्रंसनात् कवचदाहात् मनो भ्रमाच्च अपशकुनानि सूच्यन्ते, वीरस्य हस्ततः शस्त्रपतनं हि पराजयसूचकम्, किन्त्विदं पार्थस्य कृते न वास्तवं, "भ्रमतीव च मे मनः" इत्युक्तत्वात्, मनोभ्रमे अवास्तवानामेव पदार्थानां चेतसि प्रतीत्युपपत्तेः, यथा पित्तेन विकृतनेत्रस्य चन्द्रमसि पीतिमदर्शनं, बालस्य मूढचेतसः नौकायां चलन्त्यामचलत्व-प्रतीतिः, दिग्भ्रान्तस्य प्रतीचिसूर्यनारायणोदयदर्शनं, भ्राम्यमाणेषु गृहादीनां भ्रमणप्रतीतिश्च, तद्यथा श्रीमानसे–

"नयन दोष जा कहँ जब होई। पीत बरन ससि कहुँ कह सोई ।।
जब जेहि दिसि भ्रम होइ खगेसा। सो कह पच्छिम उयउ दिनेसा ।।
नौकारूढ़ चलत जग देखा। अचल मोह बस आपुहि लेखा ।।
बालक भ्रमहिं न भ्रमहिं गृहादी। कहहिं परस्पर मिथ्यावादी ।।
मानस ७-७३-३, ४, ५, ६

रूपान्तराणि–

नेत्रदोषो यदा यस्य पित्तदोषात्प्रजायते ।
श्वेतञ्च शशिनं सोऽपि पीतवर्णं ब्रवीत्यहो ।।
खगेश्वर यदा यस्य भवतीह दिशाभ्रमः ।
तदा स कथयत्यर्कः प्रतीच्यां उदितो दिशि ।।
नौकामारूढ एषोऽथ चलत्पश्यति वै जगत् ।
आत्मानम अचलं सोऽथ मोहात् संमनुतेजडः ।।
भ्राम्यमाणा भ्रमन्त्येव बालका न गृहादयः ।
परस्परञ्च मिथ्यैव वदन्ति भ्रमतस्तु तान् ।।

इहापि स एव संयोगः तस्मादर्जुनभारती इवकारं सर्वत्र श्लोके संयोजयति, गाण्डीवं हस्तात् स्रंसते इव वस्तुतो न स्रंसते, चैव त्वक्परिह्यते इव वस्तुतो न दह्यते, अवस्थातुं न शक्नोमि इव वस्तुतः शक्नोमि, इयं मिथ्याप्रतीतिः कथं ते, अत आह- यतो हि मे मनः भ्रमति, इदं निर्भ्रमं कुरु कृष्ण इति हार्दम्। तस्मादग्रेऽपि अपशकुनान्यपि पार्थस्य भ्रममूलकान्येव,

अग्रे लप्स्यमानविजयत्त्वात्। यद्वा सन्तु वास्तवानि किं तैः भगवत्सम्मुखे समस्ताऽपशकुनानामपि शकुनायतत्त्वात्। हे केशव कः ब्रह्मा, ईशः शिवः तान् वशयति नियमयति इति केशवः "पृषोदरादित्त्वात्" शकारलोपः। तत्सम्बुद्धौ हे केशव ! अथवा केशिनं अवहन्तीति केशवः अत्रापि "पृषोदरादित्त्वात्"हन् धातोर्लोपः। यथा त्वं केशिनं हतवान् तथैव मम शत्रूनपि जहि, इत्यभिप्रायः। अथवा प्रशस्ताः केशाः सन्त्यस्य इति केशवः, "केशाद् वोऽन्यतरस्याम् ५/२/१०९ इत्यनेन मत्वर्थीयो वप्रत्ययः, तत्सम्बुद्धौ हे केशव निजकुटिलकेशबन्धे मनोभृङ्गं निवेशय यथा संसारचक्रे न भ्रमेत्। अथवा केशान् अवतीति केशवः तत्सम्बुद्धौ हे केशव ! "शकन्ध्वादित्त्वात्" पररूपम्। यथा राजसभायां वस्त्रवर्धनेन द्रौपद्याः दुःशासनेन कृष्यमाणा केशा रक्षिता, यथा च रावणं निहत्य वेदवत्याः केशसम्मानं कृतं, यथा च निहत्य कंसं तेन गृहीतानां देवकीकेशानां प्रतिशोधः कृतः, तथैव वर्तमानयुद्धे शत्रून् घातयित्वा द्रौपदीकेशकर्षण-प्रतिशोधं कारय। किञ्च केशान् वयति गुम्फति इति केशवः तत्संबोधने हे केशव ! यथा श्री गोकुले श्रीव्रजदेवीनां केशं निजकरमकलाभ्यां वयसि स्म, तथैव साम्प्रतमपि युद्धं कारयित्वा भीमेन दुःशासनं घातयित्वा तद्रुधिरेण स्नापयित्वा भीमसेनं निमित्तीकृत्य निजसख्याः द्रौपद्याः केशान् वय। इत्यर्थद्वयं पार्थभारत्या कथितमवगन्तव्यम्। अथवा कः ब्रह्मा, ईशः शिवः कश्च ईशश्च केशौ तौ अनुकम्प्यतया वाति गच्छति इति केशवः तत्सम्बुद्धौ हे केशव ! ब्रह्मशङ्करयोरपि नियन्ता निमित्तान्यपि शकुनानि विपरीतानि प्रतिकूलानि पश्यामि। च तथा आहवे युद्धे स्वजनं हत्वा निहत्य श्रेयः कल्याणं न पश्यामि। अथवा हत्वा अस्वजनं इति पदच्छेदः, आहवे युद्धे न स्वजनः अस्वजनः तं अस्वजनं स्वजनविरुद्धमपि आहवे हत्वा कल्याणं न पश्यामि, किं पुनः स्वजनम्।

ननु द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ ।
योगिनो योगयुक्ताश्च सम्मुखेऽभिहतो रणे ।।

इति नियमात्। कथं न श्रेय इति तत्र हतस्यैव सूर्यमण्डलभेदित्वोक्तेः, न तु हन्तुः, अत आह 'आहवे स्वजनं हत्वा श्रेयः न पश्यामि, भवतु नाम प्रेयः न तु मादृशः प्रेयो वृणीते।।श्रीः।।

"नन्वस्त्येव श्रेयः युद्धाद्विजयः ततो राज्यं ततश्च धर्मतः प्रजापालनात् सुखम्। अत्र युद्धे शस्त्रविद्याप्रयोगः ततश्च विनयावाप्तिः ततश्च ब्रह्मसुखभोगयोग्यतासम्पत्त्युपलब्धिः ततश्च कर्म-काण्डाद् वैराग्यम्, ततश्च मुमुक्षारूपधर्मोदयः ततश्च परमपदप्राप्तिरेव सुखम्। यथोक्तं नीतिशास्त्रे—

"विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम् ।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम् ।। इति

इत्याशङ्कां परिहरन्नाह नेत्यादि—

"न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।

किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।। ३२।।

रा०कृ०भा०— कृषति सर्वपापानि दुर्वलयति इति कृष्णः, कर्षति भक्तमनांसि स्वचरणाम्भोजाभिमुखानि करोति इति कृष्णः तत्सम्वोधने हे कृष्ण! हे निरतिशय-कल्याणगुणगणैकसिन्धो! त्वां प्राप्य आहवे स्वजनं हत्वा अहं विजयं विशिष्टं जयमपि न काङ्क्षे, इह "कर्तरि कर्मव्यतिहारे २/३/२४ इत्यनेन आत्मनेपदम्। यद्वा हे कृष्ण! त्वच्चरणारविन्दसन्निधौ स्वजनहननपातकमयत्वात् विकृतं जयं विजयं न कांक्षे, यद्वा आहवे स्वजनं हत्वा अहं विजयं विजयनामानम् आत्मानमर्जुनमपि न काङ्क्षे, यदि कुटुम्बहननं अनिवार्यं तर्हि तत्कृत्वा निजशरीरमपि गाण्डीवनिर्गलितविशिखलक्ष्यं विधाय स्वमपि निहनिष्यामीति पार्थस्यात्र निगूढोऽभिप्रायः। अयं श्रीराघवकृपालब्धप्रतिभस्य मे सर्वथाननूचानो नवीनतमो भावः। ननु किमाधारोऽयमर्थः इति चेत् काङ्क्षे इत्यात्मनेपदप्रयोगः व्युपसर्गोपादानं चेत्याधारद्वयमितिगृह्यताम्, इतरथा "न काङ्क्षामि जयं कृष्ण" इति परस्मैपदप्रयोग एव कृतःस्यात्, जयमित्येव चोक्तं स्यात्, किमनेन विनोपसर्गेण वीत्युपसर्गे कृते छन्दोभङ्गधियाकाङ्क्षे इति इडन्तप्रयोगं विधाय विजयशब्देन पूर्वोक्तमर्थद्वयं भगवता पाराशर्येण विवक्षितमेवेति विभावयन्तु भावधनाः। ननु अर्जुनस्य विजयनाम्नि किं मानमिति चेत्, भारतोक्ता अर्जुन-नामावल्येव प्रमाणम्। यथोक्तं विराट्पर्वणि उत्तरम् अर्जुनेनैव—

"अर्जुनः फाल्गुनो जिष्णुः किरीटिः श्वेतवाहनः।
बीभत्सुर्विजयः कृष्णः सव्यसाची धनञ्जयः।।

महा० विराटपर्व ४४/९

प्रयोगश्च बहुत्र, यथा श्री भागवते—

"त्रिभुवनकमनं तमालवर्णं रविकरगौरवराम्बरं दधाने।
वपुरलककुलावृताननाब्जं विजयसखे रतिरस्तुमेऽनवद्या।।

भागवत् १/९/३३

अन्यच्च "विजयरथकुटुम्ब आत्ततोत्रे" भागवत् १/९/३९ च तथा राज्यं निहतकण्टकं साम्राज्यमपि न काङ्क्षे, एवमेव स्वजनहननानन्तरप्राप्तराज्यजनितभौतिकभोगसुखान्यपि न काङ्क्षे नाभिलषामि। उपेक्षां द्योतयन् उत्तरार्द्धं आह— हे गोविन्द गाः इन्द्रियाणि विन्दति लभते नियम्यतया इति गोविन्दः तत्सम्वोधनं हे गोविन्द! हे सकलेन्द्रियनियन्तः सर्वभूतान्तरात्मन् त्वत्समक्षं किमलीकं ब्रूयाम्, सत्यमेव वच्मि। यद्वा गां देववाणीं विन्दति इति गोविन्दः तत्सम्बुद्धौ हे गोविन्द! हे धर्मप्रवर्तक! त्वमेव ब्रूहि, एवमधर्मप्राप्तेन राज्येन नः अस्माकं त्वच्चरणकमलानुवर्त्तिनां त्वद्भजनैकधर्मवतां वा पाण्डवानां किं? किं प्रयोजनम्। यद्वा गोविन्देति सम्बोधनेन भगवतो गोवर्धनधारणवृत्तं स्मारयति, यथा गोवर्धने धृते इन्द्रस्त्वामभिषिच्य गोविन्द इत्यभ्यधात्, तथैवाहं इन्द्रपुत्रः त्यक्ताधर्ममययुयुत्साकः स्वनयननिर्गलितनीरन्ध्रनीरधारया त्वत्पदकमलमभिषिच्य त्वामेव प्रपद्यमानो नैव राज्यभोगसुखानि काङ्क्षामि इति हार्दम्। तथा

हि श्रीभागवते—

"इन्द्रः सुरर्षिभिः साकं नोदितो देवमातृभिः ।
अभ्यषिञ्चत दाशार्हं गोविन्द इति चाभ्यधात् ।।

भागवत् १०-२७-२३

अथवा गोविन्द इति सम्बोधनेन कृष्णा चीरहरणप्रसङ्गं स्मारयति— प्रभो ! यथा गोविन्देति भाषामाण्याः कृष्णायाः पटं बर्द्धितवानसि तथैव गोविन्देति भाषमाणस्य कृष्णापतेरपि मे कृष्णास्य धर्मरूपं पटं वर्धयिस्यतीति अधर्मप्राप्तेन राज्येन किमस्माकं भवत्पादपल्लवप्लवानां यथा तथा श्रीभारते— "गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय" म०भा० सभा प० ६८,४२ तत्र धर्मस्य परिरक्षणात् धर्मरूपो भवान् वस्त्रावतारं गृहीतवान्। एवं कृष्णया सम्बोधितं गोविन्दशब्दं बहुमन्यमानो भवान् आत्मनि कृष्णानिरूपितमाधमर्ण्यम् अङ्गीकृतवान् यथा भवतैवोक्तम् —

"ऋणमेतत्प्रवृद्धं मे हृदयान्नापसर्पति ।
यद् गोविन्द इति प्राह कृष्णा मां दूरवासिनम् ।।

तथैवाहमपि निकटवासिनं भवन्तं गोविन्द इति व्याहरामि। हे गोविन्द अधर्मप्राप्तैः भोगैः तन्मयेन जीवितेन वा नः अस्माकं किं ? किं प्रयोजनम्, वा चार्थे।।श्रीः।।

अथ पूर्वं किमर्थं राज्यं भोगान् सुखमाकाङ्क्षन्तो यूयं स्वमित्रेभ्यो युद्धामन्त्रणं प्रदाय सप्ताक्षौहिणीसेनासंयोजनेन समागताःस्थाधिकुरुक्षेत्रं इति पिपृच्छिषां परिहरन्नाह येषामिति—

"येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ।।३३।।

रा०कृ०भा०— येषां बन्धुबान्ध्वानामर्थे निमित्ते नः अस्माकम् इह "कर्तृ कर्मणोकृतिः २/३/६५ इति सूत्रेण तृतीयार्थे षष्ठी, अस्माभिरित्यर्थः राज्यं साम्राज्यं काङ्क्षितं, भोगाः स्थूलाः विषयाः काङ्क्षिताः, च सुखानि आनन्दाः आनुकूल्यवेदनीयानि वा काङ्क्षितानि अभिलाषविषयीकृतानि, त एव इमे एते अभिमन्यु-प्रतिविन्ध्य-प्रभृतयः, घटोत्कचादयः, लक्ष्मणदयश्च प्राणान् जीविताशां, धनानि धनाशां च त्यक्त्वा दूरतः परिहृत्य युद्धे सङ्ग्रामेऽस्मिन् अवस्थिताः, तस्मात् अलं युद्धेन।।श्रीः।।

"ननु यदि त्वं धर्मभीरुरिमान् न हनिस्यसि तथापि इमे उच्छृङ्खलाः कौरवाः त्वां मारयिष्यन्त्येव, अतस्त्वया हन्तव्या इमे इत्यत आह द्वाभ्याम् —

"आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः स्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ।।३४।।
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ।।३५।।

रा०कृ०भा० — स्याला शब्दस्तु दन्त्यादिः, तालव्यादिपाठस्तु प्रामादिकः, इत्थं नीलकण्ठः। तथा हि "विजमातुरुतवाधास्यालात्" इति मन्त्रार्णवात्। "स्याल्लाजाना-वपतीति वा लाजा लाजतेः स्यं शूर्पं स्यतेः"।। इति यास्कः। आचार्याः द्रोणादयः, पितरः पितृकल्पाः पूज्याः बाह्लिकादयः (१) पुत्राः लक्ष्मणादयः, तथैव च इति पादपूर्तौ पितामहाः भीष्मः आदरार्थे बहुवचनम्। मातुलाः शल्यादयः, श्वशुराः दुर्योधनादिपत्नीजनकाः, स्यालाः दुर्योधनादिपत्नीभ्रातरः, तथा अन्ये सम्बन्धिनः जयद्रथादयः चकारेण भ्रातृपौत्रादीनां संग्रहः।।३४।।

हे मधुसूदन ! मधुम् अधार्मिकं दानवं सूदयति इति मधुसूदनः "नन्द्यादित्वात् ल्युः" तत्सम्बुद्धौ हे मधुसूदन ! स्वयमेव सूदयित्वा मधुमधार्मिकं तन्मेदसैव पृथिवीं निर्मितवानसि अतस्तादृश्याः क्षणभङ्गुरायाः मह्याः कृते एतान् पूर्वोक्तान् आचार्यादीन् मां निःशस्त्रं घ्नतः प्राणैर्वियोजयतोऽपि हन्तुं प्रतिचिकीर्षया मारयितुं न इच्छामि, किंवहुना त्रयाणां लोकानां समाहारः त्रिलोकी, त्रिलोकी एव त्रैलोक्यं "चतुर्वर्णादित्वात् ष्यञ्" स्वार्थे। त्रैलोक्यस्य राज्यं त्रैलोक्यराज्यं त्रौलाक्यराज्यस्य हेतोःप्राप्तिकारणेन "षष्ठी हेतुप्रयोगे" इत्यनेन त्रैलोक्यराज्यस्य इत्यत्र षष्ठी हेतुतृतीयां बाधित्वा। त्रैलोक्यराज्यस्य प्राप्त्यै अपि मारयतोऽपि इमान् न जिघांसामि, महीकृते लघिष्ठायाः मह्याः कृते किं ? हन्याम्। अपि द्वयेन द्वेधाऽपि प्राप्तं स्वजनवधं निराचकार।।श्रीः।।

अथ मा जह्याचार्यादीन् परन्तु धृतराष्ट्रपुत्रशतं तु जहि, यतो हि ते आततायिनः, तथा चाह मनुः —

"अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।
क्षेत्रदारापहर्ता च षडेते ह्याततायिनः ।। मनु०८-३५०

इति मानवोक्तानां षण्णामप्याततायिलक्षणानां दुर्भाग्यतो दुर्योधनादिष्वेव समन्वयात् तेषां हनने न दोषः, तथा हि लाक्षागृहे युष्मभ्यमग्निर्दत्तः, भीमाय विषं दत्तं, स्वयमधर्मतः गृहीतशस्त्राः, कपटद्यूतच्छलेन धनं हृतवन्तः तस्मिन्नेव द्यूते इन्द्रप्रस्थक्षेत्रं गृहीतं, राज्सभायां दारापहरणरूपं वस्त्रापहरणं केशकर्षणं च कृतम्, जयद्रथेन वने द्रौपद्याः अपहरणमपि कारितम्। तस्मात् —

"आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ।
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ।।

इत्युक्तत्वात्, तेषां हननं निर्दोषमित्यत् आह निहत्य इत्यादि—

"निहत्य धर्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ।।३६।।

रा०कृ०भा० — अत्र श्लोके व्याख्याद्वयी तत्र प्रथमा हे जनार्दन ! जनान् दुष्टान् जनान् अर्दयति विनाशयति इति जनार्दनः तत्सम्बुद्धौ हे जनार्दन ! यतस्त्वं जनार्दनः धर्मरक्षार्थं गृहीतावतारः सन् अधार्मिकान् जनान् हंसि, तत इमानपि जहि अहं न हनिष्यामि,

यतो हि धार्तराष्ट्रान् धृतराष्ट्रसम्बन्धिनः धृतराष्ट्रपुत्रान् वा निहत्य निःशेषेण हत्वा नः अस्माकं पाण्डवानां मनःसु का प्रीतिः स्यात् ? का प्रसन्नता भवेत् न कापि, प्रत्युत एतान् आततायिनः अग्निदानप्रमुखाततायिलक्षणषट्कसमुपेतानपि पौर्वकालिककर्तॄन् अस्मान् पापम् एव भवद्भजनप्रतिबन्धकप्रत्यवायपातकमेव आश्रयेत् व्याप्नुयात्, अत्र संभावनायां लिङ् । अत्रेदमवधेयं श्रीवैष्णवाम्नायनये भगवान् भक्तिप्रपत्तिभ्यां साधनभूताभ्यां प्रीयते वशीकृतश्च भवति, भक्तो हि भगवन्तं प्रपद्यते अर्जुनो भगवद्भक्तो वर्तते। "भक्तोऽसि मे सखा चेति" इत्याद्युक्तेः। नन्वर्जुनस्य भक्तत्वे सिद्धे "मन्मना भव मद्भक्तो" गीता ९-३४ "इमं प्राप्य भजस्व माम्" गीता ९-३३ पुनः "मन्मनाभव मद्भक्तो" गीता १८-६५ इत्यादि भगवदुक्तमनर्थकं स्यात् इति चेत् ? न भगवतः अभ्यासोपदेशेनादोषात्, प्रेमलक्षणाभक्तेरभिधानाद् वा, भक्तः सन्नर्जुनः श्रीगीताश्रवणानन्तरं "करिष्ये वचनं तव" गीता १८-७३ इति सङ्कल्प्यानुपदमेव प्रपत्स्यते। भक्तो हि भगवद्भजनप्रतिबन्धकत्वात् पापाद्बिभेति, यथा चाग्रे वक्ष्यते सप्तमेऽत्रैव—

"येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ।।७-२८

श्रीमानसेऽपि सुग्रीवं प्रति श्रीरामोक्तिः —

"पापवन्त कर सहज सुभाऊ ।
भजन मोर तेहि भाव न काऊ ।। मानस ५-४४-३

रूपान्तरं— सहजोऽयं स्वाभावो हि नरस्य किल पापिनः ।
तस्मै मदीयं भजनं कदाचिन्नैव रोचते ।।

तस्मात् भगवद्भजनप्रतिबन्धकपापात् पार्थो बिभ्यत्, स्वजनबधात् परिरंसति।

अथ द्वितीया व्याख्या — नः अस्मान् हत्वा धार्तराष्ट्रान् दुर्योधनादीन् का प्रीतिः स्यात् अस्मान् हत्वा तु एतान् आततायिनः पापमेव आश्रयेत्, वयं निष्पापाः मरिस्यामः। ननु उक्तमेव नाततायिवधे दोषो इति चेत् ? कथं हठं कुर्वन् न युयुत्ससे इति चेत् ! 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि, इति हि धर्मशास्त्रम्। "आततायी बधार्हणः" इत्याद्यर्थशास्त्रम्, धर्मशास्त्रेण अर्थशास्त्रस्य बाधो भवति, यथोक्तं याज्ञवल्क्येन —

"स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान् व्यवहारतः ।
अर्थशास्त्राच्च बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः ।।

याज्ञवल्क्य स्मृ० २-२१

तस्मात् मा हिंस्या इत्यादि धर्मशास्त्रेण आततायिवधविधानरूपस्मार्तार्थशास्त्रबाधात् न इमे हन्तव्या इति पार्थस्य तात्पर्यम्।।श्रीः।।

"तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धर्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ।।३७।।

रा०कृ०भा०— तस्मात् पूर्वोक्तविचारणाद्धेतोः वयं पाण्डवाः अस्मत् सम्बन्धित्वात् मध्येपातित्वेन भवानपि स्वबान्धवान् अस्माकं भ्रातृन्, भवतश्च पुत्रश्वशुरान् धार्तराष्ट्रान् धृतराष्ट्रपुत्रान् हन्तुं न अर्हाः न योग्याः भवामः। हे माधव मा लक्ष्मी तस्याः धवः पतिः तत्सम्बुद्धौ हे माधव ! हे लक्ष्मीपते ! अथवा मधुषु जातः माधवः त्वं मधुवंशीयान् यथा पुष्णासि, तथैव इमं स्वजनमपि पुषाण। हे माधव स्वजनं निजकुटुम्बं हत्वा कथं केन प्रकारेण सुखिनः स्याम, नैव कदाचिदिति भावः।।श्रीः।।

"अथ यथा त्वमिमान् निजबान्धवान् मन्यसे तथा नैते, अन्यथा कथमेतावदत्याचारं कुर्युः "आहूतो न निवर्तेत द्यूतादपि रणादपि" इति स्मृतिवचनात्, एभिराहूतस्य तव युद्धान्निवर्तने महत्पापमिति चेत् आह द्वाभ्याम् —

> **"यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।**
> **कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ।।३८।।**
> **कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।**
> **कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ।।३९।।**

रा०कृ०भा० — जनैः अर्द्यते अविद्यानाशाय भक्तये च याच्यते भक्तिर्याच्यते वा स जनार्दनः। 'वाहुलकात् कर्मणि ल्युट्" तत्सम्बुद्धौ हे जनार्दन ! हे भक्ताविद्यानाशक ! भक्त याञ्चापूरक परमेश्वर, यद्यपि लोभेन राज्यलिप्सया हेतुभूतया कर्त्र्या उपहतं विनाशितं चेतः चिदवच्छिन्नमन्तःकरणं येषां ते लोभोपहतचेतसः लोभो हि महान् शत्रुः, नरक तृतीय द्वारत्वेन वक्ष्माणत्वात्, लुनाति लोकं परलोकं च यस्तथा व्युत्पत्तेः, एते धार्तराष्ट्राः कुलस्य क्षयेण विनाशेन कृतं उत्पादितं दोषं च तथा मित्राणां विश्वस्तानामस्माकं द्रोहे पातकं प्रत्यवायभूतं अघं न पश्यन्ति, न विलोकयन्ति धृतराष्ट्रपुत्रत्वेनान्धत्वात्। तथाऽपि कुलक्षयकृतं कुटुम्ब-नाशाजनितं दोषं प्रकर्षेण धार्मिकपितृजनितत्त्वात् त्वदाश्रितत्त्वाच्च, विवेकदृष्ट्या पश्यद्भिः, अवगच्छद्भिः अस्माभिः भवत्परिकरभूतैः अस्मात् स्वजनवधरूपात् पापात् निवर्तितुं दूरी भवितुं। उपरन्तुं कथं न ज्ञेयं, निश्चितमेव ज्ञातव्यम्। इतरथा जानदजानतां मध्ये का नाम भिदा स्यात् ।।श्रीः।।

तानेव दोषान् प्रपञ्चयति पञ्चभिः —

> **"कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।**
> **धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ।।४०।।**

रा०कृ०भा०— कुलस्य क्षये विनाशे सति सनातनाः पारम्पर्यागताः कुलस्य वंशस्य धर्माः कर्तव्यभूताः प्रणश्यन्ति, प्रकर्षेण लुप्ता भवन्ति। धर्मे "जात्याख्यायामेक वचनं" कुलस्य धर्मे नष्टे लुप्ते सति कृत्स्नं सम्पूर्णं कुलं परिवारम् उत निश्चयेन अधर्मः धर्मविरोधिभावः अभिभवति परभूय समावृणोति।।श्रीः।।

अग्रिमं परिणामम् आह—

"अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः ।।४१।।

रा०कृ०भा०— अत्र पूर्वार्द्धोत्तरार्द्धयोः भगवतः सम्बोधनद्वयं हे कृष्ण ! अधर्मेण अभिभवः इति अधर्माभिभवः तस्मात् कुलकर्मकात् अधर्मकर्तृकपराभवात् कुलस्त्रियः कुलस्य स्त्रियः निहतभर्तृकाः विजातीयसम्पर्कतो दुष्टा भवन्ति। हे वार्ष्णेय ! वृष्णिकुलोद्भव महाकुलप्रसूतत्वात् त्वमिमं दोषं निवारय, दुष्टासु स्त्रीष्वेव छेत्रीभूतासु अधिकरणेषु वर्णसंकरः वर्णतः संकीर्णा सन्ततिर्जायते। जामदग्न्येन हतेषु क्षत्रियेषु वंशबृद्धये क्षत्रियासु ब्राह्मणेभ्यः साङ्कल्पिकसृष्टेः नैव वर्णसङ्करशङ्का। एवं व्यासतो धृतराष्ट्रपाण्डुविदुरोत्पत्तावपि ज्ञेयम्। अत्र कामतो मिथुनक्रियातो जनितस्य वर्णसंकरता।।श्रीः।।

"तदनु परिणाममाह न केवलं कुलस्य हानिः प्रत्युत् कुलघ्नानामपि —

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ।।४२।।

रा०कृ०भा०— हि यस्माद्धेतोः दुष्टासु वर्णसङ्करः, अत एव कुलस्य कुलसम्बन्धि-सङ्करः सङ्कीर्णसन्ततिः कुलं घ्नन्तीति कुलघ्नाः तेषां कुलघ्नानां कुटुम्बनाशकानां नरकाय निरयार्थो भवति। नरकाय इति तादर्थे चतुर्थी। पिण्डं च उदकं च पिण्डोदके तयोः क्रिया पिण्डोदकक्रियाः लुप्ताः पिण्डोदकक्रियाः येषां ते लुप्तपिण्डकक्रियाः सन्ततिच्छेदात् नष्टपिण्डजलकर्माणः येषां कुलघ्नानां पितरः पतन्ति नरके इति शेषः। न केवलं पितरः अपि तु जातिकुलधर्मा अपि विहिंस्यन्ते।।श्रीः।।

"दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ।।४३।।

रा०कृ०भा०— वर्णसङ्करः कारकः उत्पादकः येषां ते वर्णसङ्करकारकाः तैः वर्णसङ्करकारकैः एतैः पूर्वोक्तैः दोषैः कुलाघ्नानां जातिसम्बन्धिनो धर्माः शाश्वताः नित्याः कुलश्च धर्माश्च उत्साद्यन्ते विनाश्यन्ते चकारेण आश्रमधर्मणामपि संग्रहः।।श्रीः।।

अथान्तिमं परिणाममाह :—

"उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ।।४४।।

रा०कृ०भा०— जनैः अर्द्यते याच्यते कृपाप्रसादं यः स जनार्दनः तत्सम्बुद्धौ हे जनार्दन ! याचकवाञ्छाकल्पतरो ! उत्सन्नाः विनष्टाः कुलस्य धर्माः येषां तथा भूतानां मनुष्याणां नरके अनियतं क्रियाविशेषणत्वात् द्वितीया, न विद्यते नियतं नियमः यस्मिन् कर्मणि तद् यथास्यात्तथा। अनियतकालं यावत् वासो भवति इति वयं अनुशुश्रुम व्यासादिमुखेभ्यः समाकर्णयामासिसम।।श्रीः।।

"अर्जुनोऽनुतप्यमान आह—

''अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ।।५५।।

रा०कृ०भा०— बत खेदे, अहो आश्चर्ये सखेदमाश्चर्यं यत् वयं भवत्सहायाः अपि पाण्डवाः महत् भयङ्करतमं पापं कर्तुं व्यवसिता निश्चयं कृतवन्तः यत् राज्यसुखस्य लोभः लिप्सा तेन राज्यसुखलोभेन हेतुभूतेन स्वजनं निजकुटुम्बं हन्तुम् उद्यताः सयत्नाः।।श्रीः।।

"एवं त्वामयुद्ध्यमानं धार्तराष्ट्राः मारयिष्यन्ति तस्मात्त्वमेव तान्मारय इत्यत आह यदीति—

''यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ।।४६।।

रा०कृ०भा०— यदि चेत् न विद्यते प्रतीकारः प्रतिक्रिया यस्मिन् स अप्रतीकारः यद्वा न कृतः प्रतीकारः येन सः अप्रतीकारः तम् अप्रतीकारं युद्धप्रतीकाररहितम्, अशस्त्रं न्यस्तायुधं मां पार्थं युद्धोपरतं ज्ञात्वा शस्त्राणि पाणिषु येषां ते शस्त्रपाणयः आयुधहस्ताः धार्तराष्ट्राः रणे युद्धे हन्युः विनाशयेयुः तद् हननं मे मम अर्जुनस्य क्षेमतरं अधिकक्षेमावहं, युद्धे सम्मुखमरणं क्षेमं, इदं तु क्षेमतरं, तथा हि क्षेमं कल्याणम् अस्ति अस्मिन् इति क्षेमं, अतिशयेन क्षेमं इति क्षेमतरम्।।श्रीः।

"संजय उवाच"

एवमर्जुननिवेदनानन्तरकालिकक्रियां प्रस्तौति वैशम्पायनो जनमेजयं प्रति "संजय उवाच" पार्थवचनं श्रुत्वा वर्द्धितनिजपुत्रविजयोत्साहं धृतराष्ट्रं प्रति संजय प्राह—

''एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ।।४७।।

रा०कृ०भा०— हे राजन् संख्ये युद्धे संख्यायन्ते भटाः यस्मिन् तत् संख्यम्। यद्वा सम्यक् ख्यान्ति चक्षते वा शौर्यं भटाः यस्मिन् तत् संख्यम्। "मृधमास्कन्दनं संख्यं समीकं सांपरायिकम्"। इत्यमरः। "संख्यमाहवे" इति मेदिनी' तात्स्थ्यात्। युद्ध क्षेत्रे शोकेन मोहादुद्भावितेन संविग्नं युद्धात्प्रचलितं मानसं मनः यस्य सः शोकसंविग्नमानसः अर्जुनः एवं पूर्वोक्तप्रकारं युद्धोपरतनिश्चयं उक्त्वा भगवन्तं निवेद्य शरेण बाणेन सहितं सशरं यद्वा शराः नित्यं सन्त्यनयोः इति शरौ अक्षयतूणी। अत्र नित्ययोगे मत्वर्थीयोऽच् प्रत्ययः। अर्जुननिषंगयोः सर्वत्र ह्यक्षयशरत्वदर्शनात्। अतः शरौ च शराश्च इति शराः तैः सह वर्तमानं सशरम्। निषङ्गसायकसहितम् इति भावः। चापं धनुः। चापं गाण्डीवं विसृज्य विसर्जनविषयं कृत्वा देवसमर्पितत्वात् देवबुद्ध्या तत् प्रियतमं धनुः विसृज्य ससम्मानं त्यक्त्वा रथस्य उपस्थे क्रोड 'उपस्थः शेफसि क्रोडे' इति विश्वः भागे उपाविशत् न्यषीदत्।।श्रीः।।

"श्रीराघवकृपाभाष्यं गीतायाः प्रथमे मया ।
कृतं श्रीराघवप्रीत्यै श्रीराघवकृपाफलम् ।।

।।इति श्रीमहाभारते वैयासिक्यां शतसाहस्र्यां संहितायां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्-गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः।।

तत्रैव च—

इति श्री चित्रकूटतुलसीपीठाधीश्वरजगद्गुरुरामानन्दाचार्यस्वामीरामभद्राचार्य प्रणीतं श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

"श्रीमद्राघवो विजयतेतराम्"

श्रीमद्भगवद्गीता

श्रीमद्भगवद्गीतासु पदवाक्यप्रमाणपारावारीणकवितार्किक-चूडामणिवाचस्पतिजगद्गुरुरामानन्दाचार्यस्वामीरामभद्राचार्य-प्रणीतं श्रीमदाद्यजगद्गुरुरामानन्दाचार्यसम्प्रदायानुसारिविशिष्टाद्वैत-सिद्धान्तप्रतिपादकश्रीराघवकृपाभाष्यम्।।

कर्मकाण्डात्मकं
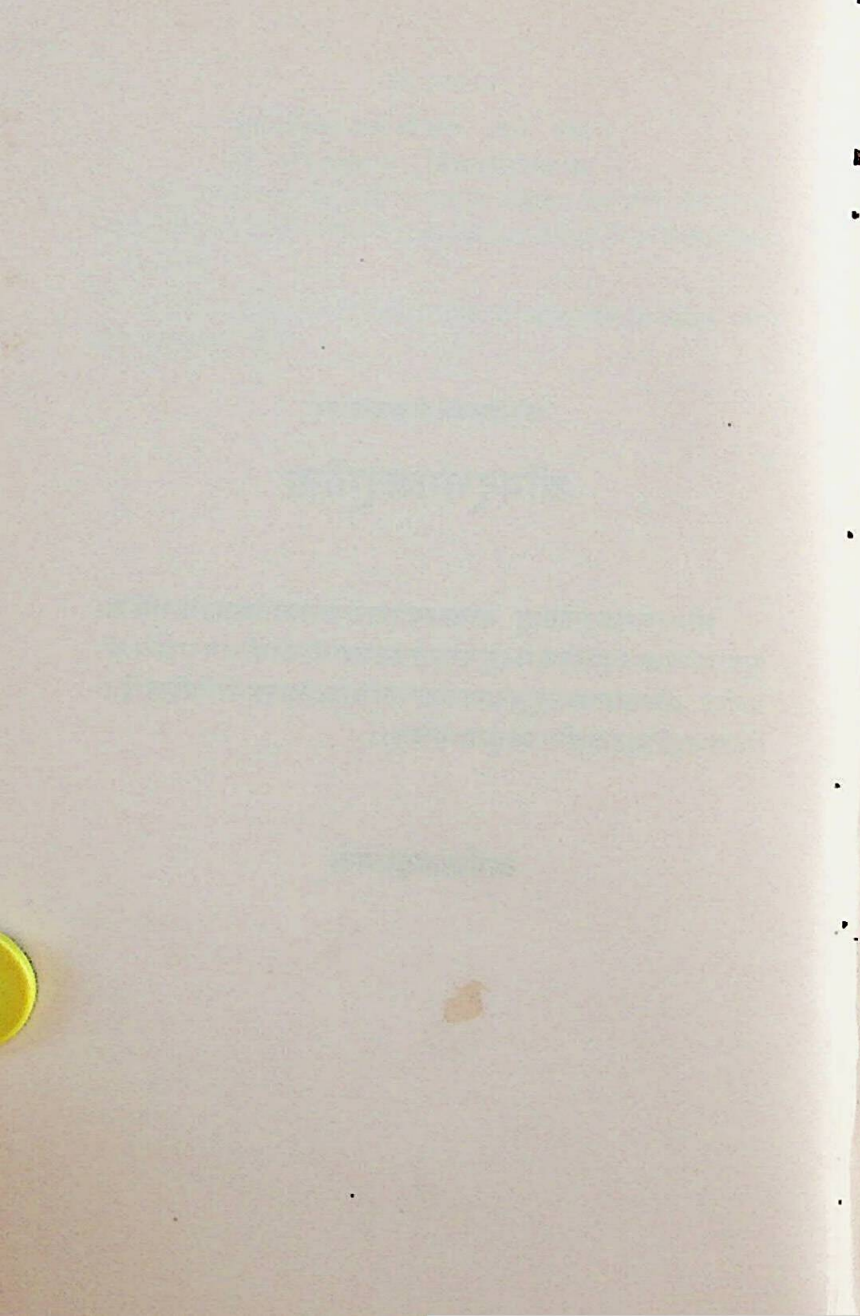
।। श्रीमद्राघवो विजयतेतराम् ।।

दो शब्द

।। मंगलाचरण ।।

जयति जन्मभृतां जननस्थितिप्रलयहेतुरहेतुरुरुक्रमः ।
जलदनीलतनुः सह सीताया, रघुपतिः किल कृष्णमयो हरिः।।१।।

चरणसरोरुहमस्तु हृदि, मुखे सदा तव नाम ।
निजपदकमले भृङ्गमिव, रमय मनो मम राम ।।२।।

शैवकोदण्डभङ्गेऽहं माधवं जलदत्विषं ।
शक्तिमत्कलये चित्ते रामकृष्णमयं महः ।।३।।

श्रीगीतासु मया भाष्यं, भाषितं देवभाषया ।
तदेव सर्वबोधार्थं, भाषे राष्ट्रगिरा पुनः ।।४।।

अब श्रीसीतारामजीकी कृपा से श्रीमद्भगवद्गीता पर राष्ट्रभाषा हिन्दी में श्रीराघवकृपाभाष्य का शुभारम्भ कर रहा हूँ। भारतीय दर्शन परम्परा में वेदान्तदर्शन सबसे प्रौढ़ प्रामाणिक तथा अन्तिम दर्शन-सिद्धान्त माना जाता है, क्योंकि वेदान्त दर्शन को ही पूर्णरूप से श्रौत अर्थात् श्रुतिसम्मत होने का गौरव प्राप्त है। इसके पूर्ववर्ती सांख्य, योग, वैशेषिक, न्याय तथा पूर्व मीमांसा इन पाँचो दर्शनों में यद्यपि श्रौत होने का आग्रह किया गया है, और अंशतः है भी परन्तु सम्पूर्ण रूप से वेदान्त ही श्रुतियों को आधार मानकर अपनी वैचारिक मान्यतायें प्रतिष्ठापित करता हुआ दृष्टिगोचर होता है। वेदान्त दर्शन के तीन उपजीव्य स्तम्भ हैं १- श्रुति २- स्मृति ३- सूत्र। वेद की ज्ञानकाण्डीय श्रुतियों का संकलन उपनिषदों के नाम से जाना जाता है। इनमें से वेदान्त दर्शन के सैद्धान्तिक विचारों के साथ प्रायशः बीस उपनिषदें एक वाक्यतापन्न हुई हैं। इसी वेदभाग को वेदान्तदर्शन का प्रथम प्रस्थान कहा जाता है।

वेदान्तदर्शनकी स्मृति है श्रीमद्भागवद्गीता, जो साक्षात् परिपूर्णतम परात्पर परब्रह्म परमेश्वर महायोगेश्वर जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण के मुखकमल से अनायास प्रकट होने के कारण वेद ही की भाँति अपौरुषेय कही जाती है, इन्हीं को परमेश्वर के कलावतार भगवान् वेदव्यास ने अपने दिव्य दर्शन तथा ऋतम्भरा प्रज्ञा में प्राप्त कर महाभारत के भीष्म पर्व में १८ अध्यायों में यथानुपूर्वी निबद्ध करके वेदान्तदर्शन के द्वितीय प्रस्थान के रूप में प्रतिष्ठापित किया।

वेदान्तदर्शन का सूत्र है ब्रह्मसूत्र इसके प्रणेता स्वयं भगवान् वेदव्यास ही हैं। जिन्हें बादरायणाचार्य भी कहा जाता है। यही वेदान्त का तृतीय प्रस्थान है। इन तीनों को सभी प्राच्य और प्रतीच्य विद्वान् वेदान्त की प्रस्थानत्रयी के नाम से जानते हैं।

इन्हीं तीनों पर अपनी-अपनी चिन्तन परम्परा के अनुसार आचार्यों ने अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत, अचिन्त्याभेद नामक छः वादों को प्रस्तुतकर विपुल दार्शनिक सामग्री से भारतीय संस्कृति की पूजा की है।

पूर्व मान्यता के अनुसार उसी को स्वसम्प्रदायाचार्य और जगद्गुरु पद पर अभिषिक्त किया जाता था जो अपने सम्प्रदाय में स्वीकृत वाद को आधार मानकर देवभाषा संस्कृत में वेदान्त की प्रस्थानत्रयी पर विद्वत्सम्मत प्रौढ़भाष्य की रचना कर लेता था। सौभाग्य एवं महात्माओं तथा विद्वज्जन की स्नेहसिक्त सहानुभूति से श्री चित्रकूट विहारी विहारिणीजू भगवान् श्रीसीतारामजी की भुवन पावनी कृपा ने मुझ अकिञ्चन से भी प्रस्थानत्रयी पर श्रीरामनन्दीय श्री वैष्णव सम्प्रदाय में सर्वसम्मति से स्वीकृत और सत्कृत श्रीसीताराम विशष्टाद्वैतवाद सिद्धान्त के आधार पर संस्कृत में भाष्य सम्पन्न करा लिया है। सर्वसाधारण के लिए संस्कृत भाषा का दार्शनिक स्वरूप बोधगम्य नहीं है। इसलिए मैंने प्रस्थानत्रयी पर अपने ही द्वारा प्रणीत "श्रीराघवकृपाभाष्यम्" नामक संस्कृत प्रबन्ध को हिन्दी में यथावत् रूपान्तरित करने का निर्णय लिया, इसी क्रम में श्रीगीता पर स्वप्रणीत "श्रीराघवकृपाभाष्यम्" का श्रीराघवकृपाभाष्य नाम से हिन्दी रूपान्तर प्रारम्भ कर रहा हूँ। मेरा प्रयास होगा कि यह हिन्दी में रूपान्तरित श्रीराघवकृपाभाष्य श्रीगीता जी के गहन सिद्धान्तों को अति सुगमता से सभी लोगों तक पहुँचाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकेगा।

।। इति मंगलमाशास्ते ।।

राघवीयो जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्वामी रामभद्राचार्यः

।।श्रीमद्राघवो विजयतेतराम्।।
।।श्रीमते रामानन्दाचार्याय नमः।।

।। मंगलाचरणम् ।।

श्रीसीतार्पितवामभागविभवं, सौमित्रिदत्तप्रभम् ।
श्रीमन्मारुतिजुष्टपङ्कजपदं ब्रह्माद्वयं तत्पदम् ।।
बिभ्राणं शरचापतूणममलं नीलाम्बुदश्यामलम् ।
श्रीरामं चिदचिद्विशिष्टमनघाद्वैतं श्रये श्रेयसे ।।१।।

अब श्रीराघवकृपाभाष्य के मंगलाचरण का प्रारम्भ किया जा रहा है। जिन्होंने भगवती श्रीसीता को वामभाग का विभव अर्थात् वामाङ्ग में सुशोभित होने का सौभाग्य प्रदान किया है, तथा सेवा का शुभावसर देकर जिन्होंने सुमित्रापुत्र श्रीलक्ष्मण को अलौकिक प्रभा प्रदान की एवं श्रीहनुमान् जी के द्वारा प्रेम पूर्वक जिनके श्री चरणकमल की सेवा की गयी है, ऐसे धनुर्बाण एवं तर्कस को धारण करने वाले, निर्मल, नीले मेघ के समान श्यामल, निरुपम, प्राणिमात्र के शरण्य, निष्पाप तथा चिदचिद्विशिष्टाद्वैत परब्रह्म श्रीराम को भक्तिरूप श्रेयस् की प्राप्ति के लिए इष्ट के रूप में वरण कर रहा हूँ।

विशेष :– विशिष्टाद्वैत की मान्यता के अनुसार ब्रह्म कभी भी निर्विशेष नहीं होता। चित् अर्थात् "जीव" अचित् अर्थात् "प्रकृति" ये दोनों ही ब्रह्म के विशेषण होते हैं। इन्हीं दोनों से विशिष्ट होने के कारण ब्रह्म को विशिष्टाद्वैत कहा जाता है।

केचिद्ध्यानपराणाः प्रतिपदं पारंपरं वैभवात् ।
भूयिष्ठं समुपासते तु विरजं तन्निष्कलं निष्क्रियम् ।।
किन्त्वस्मन्नयनाभिरामविषयः श्यामस्तमालद्युतिः ।
कौसल्यासुकृताब्धिशारदशशी श्रीराघवो राजते ।।२।।

भले ही कुछ लोग ध्यान में तल्लीन होकर प्रतिपल संसार के प्रपंचों से परे सर्वातिशायी, रजोगुण से रहित उस अलौकिक निष्कल एवं निष्क्रिय निर्गुण ब्रह्म ज्योति की आराधना कर रहें हैं वे करें किन्तु हमारे मित्रों के लिए तो दर्शन के विषय बनकर तमाल के समान श्यामल श्रीकौसल्या के पुण्यरूप महासागर को तरंगायित करने के लिए शरद्पूर्णिमा के चन्द्र रूप भगवान् श्रीराघव सगुण ब्रह्म श्रीरामभद्र ही विराज रहे हैं।

नन्दं नंदयते गिरिं च वहते राधाननं चुम्बते ।
गोपान् क्रीडयते सखीन् रमयते दूर्वारुचं मुष्णते ।।
कंसं नाशयते पुरं रचयते कृष्णाम्बरं तन्वते ।
गीतां संदिशतेऽर्जुनं सुखयते तस्मै नमः शौरये ।।३।।

अब श्रीगीता के उपदेशक भगवान श्रीकृष्ण की वन्दना की जा रही है–

उन वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण को नमन है जो कभी अपनी बाल लीला से श्री नन्द-यशोदा को आनन्दित करतें हैं तो कभी इन्द्र का मदभंग करने के लिये बायें हाथ की कनिष्ठिका पर गोर्वधन धारण करते हैं। जो कभी श्रीराधा के मुखारविन्द का चुम्बन करते हैं तो कभी अपने मित्र गोपाल बालकों को अनेक खेल खिलाया करतें हैं। कभी ब्रज-गोपियों को रूप माधुरी में रमातें हैं तो कभी अपनी श्यामल कान्ति से दूर्वादल की शोभा को चुरा लेते हैं। जो कंस को मारकर मथुरा को आतंकवाद से मुक्त करते हैं और पुनः एक ही रात में योगबल से समुद्र में स्वर्णद्वारिका का निर्माण करके स्वंय द्वारिकाधीश वन जाते हैं जो कभी श्रीद्रौपदी का वस्त्र बढ़ाने के लिए स्वयं वस्त्रावतार लेते हैं और जो कुरूक्षेत्र में अपने मित्र श्रीअर्जुन को श्रीगीताजी का उपदेश करके उन्हें परम सुख प्रदान कर रहें हैं।

प्रतापतरुणस्तरुप्रवरदर्प भंगव्रती
महेन्द्रविधिसेवितोबलसमीरणोद्दीपितः ।
सघोषजनिरुद्धतो वृजिनहा हरिर्वै नृणाम-
घौघवनमुज्जवलो दहतु कंसवंशानलः ।।४।।

अपनी प्रताप रूप ज्वाला से तीव्र तथा यमलार्जुन जैसे विशाल वृक्षों को तथा भक्तों के गर्ववृक्षों को नष्ट करने का व्रत धारण करने वाले इन्द्र एवं ब्रह्मा जी से सेवित श्रीवलराम रूप वायु के द्वारा अत्याधिक गतिशील ऐसे ब्रज की झोंपडी अर्थात् श्रीनन्दगाँव में प्रकट हुये प्राणियों के पाप रूप तृण को भस्म करने वाले अत्यन्त उद्धत कंस वंशरूप बांसों के समूह के लिए अग्नि स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण मेरे पापों के वन को भस्म कर दें।

नवीनघनसुन्दरो भवनिधेर्महामन्दरो
बलेन बलिना युतः कुवलयी कुमारान्वितः ।।
गजेन्द्रमदमर्दनो दनुजदुष्टदर्पार्दनो
दुनोतु मम कैतवं कुटिलकंसहा माधवः ।।५।।

जो नवीन बादल के समान सुन्दर तथा संसार सागर के लिए मन्दराचल पर्वत के समान हैं, जिनका परम बलशाली श्रीबलराम एवं गोपकुमार अनुगमन कर रहे हैं ऐसे कमल की माला से युक्त कुवलयापीड हाथी एवं चाणूर आदि दुष्टदैत्यों का दलन करने वाले कुटिल कंस का वध करने वाले भगवान् श्रीकृष्ण मेरे फलासक्ति रूप कपट को समाप्त कर दें क्योंकि यही फल की इच्छा भगवत्प्राप्ति में सवसे वड़ी बाधक है। अतः प्रभु की कृपा से इसके समाप्त होने पर ही मैं पूर्णतः प्रभु की सेवा में तत्पर हो सकूँगा।

विलसतिभुविभारती विनीता ।
भुवनललामरमाभिरामगीता ।।

सुजनचयचकोरचारुपीता ।
यदुपकलाधरकौमुदीव गीता ।।६।।

जिनके समक्ष भारती अर्थात् सरस्वती भी विनम्र हो रही हैं तथा जो त्रिभुवन के रत्नरूप रमाभिराम रूक्मिणीरमण श्रीकृष्णभगवान् द्वारा गायी गयी, जिनका सज्जन रूप चकोरगण सदैव रसपान करते रहते हैं ऐसी यदुनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र की चन्द्रिकारूपिणी श्रीमद्भगवदगीता इस भूमण्डल पर सुशोभित हो रही है अर्थात् साधारण चन्द्रिका तो शुक्लपक्ष में ही कतिपय दिनों के लिये आकाश मण्डल में चमकती है– "चार दिनों की चाँदनी फिर अँधेरा पाख"। परन्तु यह श्रीकृष्णचन्द्र की चाँदनी श्रामद्भगवद्गीता तो इस भूमिमण्डल पर निरन्तर विराज रही हैं यही उस चाँदनी से इसकी विशेषता है।

श्री राघवकृपाभाष्यं श्री गीतासुयथामति ।
श्रीरामभद्राचार्योऽहं कुर्वे श्रीरामतुष्टये ।।७।।

इस श्लोक में प्रवन्ध रचना की प्रतिज्ञा की गयी है। मैं जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्वामी श्रोरामभद्राचार्य भगवान् श्रीराम की संतुष्टि के लिये अपनी बुद्धि के अनुसार श्रीमद्भगवद्गीता पर श्रीराघवकृपाभाष्य की रचना कर रहा हूँ।

इस प्रकार सात श्लोकों में मंगलाचरण करके भाष्य की पूर्व पीठिका अर्थात् अवतरणिका प्रस्तुत की जा रही है।

जिनके पतितपावन अत्यन्त निर्मल श्रीचरण कमलों से निर्गलित होते हुये परममधुर धूलिरूप पराग की परम्परा को प्राप्त प्रेमरसरूप वह निष्यान्दित रस जिसे गंगा कहते हैं जिसके द्वारा साधकों के मलों का नाश किया जाता है एंव जिसकी अनिन्दित तथा निर्मल सुगन्धि ने कोटि-कोटि निर्मल अन्तःकरण वाले परमहंस परिव्राजक महात्मारूप भ्रमर समूहों को अपनी ओर आकर्षित कर लिया है, ऐसे निर्मल अनुराग मकरन्द से जिनके चरणकमल परिपूर्ण हैं तथा निरन्तर भावुकों द्वारा वारम्वार गाये जाते हुये सीमारहित सभी हेय गुणों से परे अर्थात् दोषरहित सांसारिक प्रपंच से सर्वथा मुक्त एवं सदैव विराजमान समस्त कल्याण गुणगणों के परमपवित्र समुद्ररूप तथा परम उदार एवं संसार सागर को पार करने के लिये जिनके चरित्र ही जहाज हैं तथा जिन भगवान् श्रीराम का श्रीमुखकमल त्रिलोचन अर्थात् जिनके भाल पर तृतीय नेत्र विद्यमान है ऐसे भगवान् शंकर के दर्शन का अलंकार माना जाता है, उस अलौकिक रूप सुधा से युक्त कि जिसको निर्निमेष नयनों से कोटि-कोटि भावुकभ्रमर समूह पान कर रहे हैं, ऐसी मन्दाकिनी की मधुरिमा की सीमा के समान अलौकिक आनन्द की मादकता से जिनका मुखारविन्द परिपूर्ण हो रहा है, तथा श्रीलक्ष्मण, श्रीभरत, श्रीशत्रुघ्न एवं श्रीहनुमान आदि भगवान् की शरणागति में तत्पर, प्रभुके चरणकमल के प्रेमरस को पीने के लिए भ्रमर का व्रतधारण किये हुए भावुक परिकरों द्वारा संसार सागर के जहाज रूप जिनके श्रीचरणारविन्दों की सतत सेवा की जा रही है। जिनके श्री

चरणकमलों को कोटि-कोटि देवाङ्गनाओं एवं शची की माँग के सिन्दूर के प्वाह नें प्रणाम के कारण अत्यन्त अरुण बना दिया है ऐसी जगज्जननी सीता जिनके भर्तृवात्सल्य आदि दिव्य यशको रसिक सारस्वत अर्थात् पण्डितजन निरन्तर गाते रहते हैं तथा जिन सीताजी के चरित्र ने निर्मलता से गंगाजी की तरंगों को भी लज्जित किया है ऐसी परम अन्तरङ्ग नित्य सहचारिणी भगवती मैथिली द्वारा एकटक नयनों से जिनके रूपरस का सदैव पान किया जा रहा है, ऐसे इन्द्रनीलमणि, नीलकमल, नीलमेघ, यमुनाजल, मयूरकण्ठ, अतसिपुष्प (अल्सी का फूल) तमाल तथा समुद्र के समान श्यामल करोड़ों कामदेवों के समान सुन्दर एवं संसार की विपत्तियों के विनाशकर्ता, चिदचिद् विशिष्टाद्वैत, समस्त खेदों से रहित तथा वेदान्त की प्रक्रिया से जानने योग्य श्रीहरि मर्यादा पुरुषोत्तम भगवानश्रीराम अयोध्या ही जिसका दूसरा नाम है, ऐसे श्री साकेतलोक के दिव्य मन्दिरों में तथा अपने शरणागतों के हृदय मंदिरों में भी विशुद्धचेतनघनरूप से समस्त शरणागत जीवों की रक्षा का व्रत लेकर श्रीसीतापति राघवेन्द्र सरकार सबसे उत्कृष्ट और सर्वाराध्य रूप में विराजमान हो रहे हैं, ऐसे भगवान् श्रीराम की जय हो। उन परात्पर परब्रह्म मर्यादापुरुषोत्तम परिपूर्णतम भगवानश्रीराम ने अपने निःश्वासरूप वेदों में विहित प्रवृति निवृत्ति और प्रपत्ति इन तीन लक्षणों वाले सनातन धर्म के उत्कर्ष को बढ़ाने की इच्छा से चक्रवर्ती श्री दशरथ की भक्ति के वश में होकर भगवती कौसल्या जी में परिपूर्ण परब्रह्म विग्रह धारणकर अर्थात् सगुणसाकार बनकर अपने अंश बैकुण्ठ बिहारी विष्णु श्रीलक्ष्मण क्षीरसागरशायी विष्णु श्रीभरत एवं श्वेतद्वीप पति श्री शत्रुघ्न रूप अंशो के साथ दिव्य श्रीरामावतार ग्रहण किया इसके प्रमाण में भगवती श्रुति भी कह रही हैं– "चिन्मयेऽस्मिन् महाविष्णौ जाते दशरथे हरौ" रा०उ०पु०। अर्थात् श्रीराम जी यहाँ विशुद्ध चेतनामय महाविष्णु जब पुत्र रूप से प्रगट हुए तो उन्हें राम नाम से ही पुकारा गया। वे ही मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम पुनः द्वापर में दुष्ट राजाओं के रूप में जन्मे हुए दैत्यों द्वारा जिसके हर्ष को दवा दिया गया था ऐसे पूर्वोक्त तीनों लक्षणों से युक्त अपने सनातन धर्म की उन्नति करने की इच्छा से श्री वसुदेव जी को पिता बनाकर श्री देवकी जी के गर्भ से कृष्ण नाम धारण करके कन्हैया के रूप में प्रकट हुए। इसमें महर्षि वाल्मीकि का वचन भी प्रमाण है "त्वं च कृष्णो वृहद्बल:" वा० रा० ६-११७-१६ अथात् भगवान्-ब्रह्मा रावण वध के पश्चात् भगवान् राम से स्पष्ट कहते हैं कि— हे राघव! आप ही अनन्त बलशाली वनमाली वृन्दावनविहारी भगवान् श्रीकृष्ण भी हैं। उन्हीं लीला पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण ने पूतना, शकटासुर, तृणावर्त, बकासुर, कंस, शिशुपाल, पुण्ड्रक आदि दैत्य राजाओं का वध करके तथा कौरव पाण्डव के युद्ध महाभारत के बहाने पृथ्वी के भार बने हुये दुर्योधनादि दुष्ट राजाओं का विनाश कराकर एवं गोपी, गोपाल श्रीदामा, सुदामदेव, आदि अपने परमान्तरङ्ग लीला परिकरों को आनन्दित करके फिर धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में अपने परमप्रिय शरणागतभक्त तथा परमान्तरङ्ग मित्र सव्यसाची अर्थात् बायें हॉथ से भी बाण चलाने में कुशल श्री अर्जुन

को निमित्त बनाकर सम्पूर्ण उपनिषद्रूप कामधेनु का दोहन करके हम जैसे कोटि-कोटि प्रपन्नजनों को गीताशास्त्ररूप दुग्ध पान कराने की इच्छा से अपने मुखकमल के मकरन्दसरूप परम अध्यात्ममय श्रीगीतामृत को प्रकट किया।

उस गीता शास्त्र को श्रीराम से अभिन्न भगवान् श्रीकृष्ण के कलावतार सर्वज्ञ शिरोमणि महर्षि वेदव्यास जी ने महाभारत के मध्य भाग भीष्मपर्व में १८ अध्याय एवं ७०० श्लोकों में विधिवत् निवन्धित किया अर्थात् उसे प्रवन्ध के रूप में लिपिवद्ध कर दिया। यद्यपि श्रीमद्भगवद्गीतापर आज तक वहुत से भाष्य, विवृति, टिप्पणी, टीका, व्याख्या आदि प्रवन्ध लिखे जा चुके हैं फिर भी मैं प्रभु श्री राघवेन्द्र सरकार का कृपा रूप वल प्राप्त करके इसी व्याज से अनन्त जन्मों के पापों से मलिन अपनी वुद्धि को पावन करने की इच्छा से निर्मल मन द्वारा श्रीरामानन्दीय श्रीवैष्णव तथा संस्कृत भाषारसिक शास्त्रों में श्रम करने वाले विद्वज्जन के मानसिक सन्तोष के लिये अपनी क्षुद्र वुद्धि से प्रभु श्रीराम की कृपा से प्राप्त सात्विक प्रतिभा के आधार पर श्रीमद्भगवद्गीता को श्रीराघव कृपाभाष्य नामक दार्शनिक व्याख्यान से समलङ्कृत (सजाने) करने का एक विनम्र प्रयास कर रहा हूँ।

अव यहाँ यह विचार किया जा रहा है कि श्रीमद्भगवद्गीता का क्या तात्पर्य है, अर्थात् श्री गीता शास्त्र के द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण कौन सा सिद्धान्त स्पष्ट करना चाहते हैं। इस विचारणा में दार्शनिक विद्वान् एकमत नहीं हैं। सभी अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार श्रीगीता जी का कोई न काई तात्पर्य निश्चित करते हैं।

भगवत्पाद जगद्गुरु श्रीमदाद्य शंकराचार्य सर्वकर्म संन्यास को ही श्रीगीता का तात्पर्य निश्चय करते हैं, परन्तु वह आपाततः रमणीय अर्थात् सरसरी दृष्टि से सुन्दर लगता है फिर तो गम्भीर विचार करने पर सर्वथा तथ्यहीन सिद्ध हो जाता है। अपनी मान्यता के सर्मथन में आद्य शंकराचार्य जी ने जो युक्तियाँ दी हैं वे भी आकाश पुष्प की भाँति निराधार ही हैं। जैसे कि "संन्यासयोगयुक्तात्मा" गीता ९-२८ "सर्वसंकल्पसंन्यासी" गीता ६-४ "न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन" गीता ६-२ "नतु संन्यासिनां क्वचित्" गीता १८-१२ "नैष्कर्म्य परमां सिद्धिं संन्यासेनाधिगच्छति" गीता १८-४९ इस प्रकार की अनेक युक्तियाँ हैं। नवम अध्याय में भगवान् कहते हैं कि— संन्यासयोग से युक्त होकर जीव मुझे प्राप्त कर लेता है, पुनः छठे अध्याय में प्रभु का स्पष्ट मानना है कि— सम्पूर्ण संकल्पों का संन्यासी ही योगारूढ़ होता है।

उसी अध्याय के प्रारम्भ में यह भी कहा है कि कोई भी संकल्पों को संन्यस्त किये बिना योगी नहीं हो सकता है। इसी प्रकार अठारहवें अध्याय में यह भी निर्देश है कि इष्ट, अनिष्ट और इष्टानिष्ट ये तीनों कर्मफल संन्यासियों के लिये कभी नहीं होते, इसी अध्याय के उत्तरार्ध में यह भी कहा गया है कि नैष्कर्म्य की सिद्धि संन्यास से ही प्राप्त की जाती है। इस प्रकार श्रीगीता जी में अनेक स्थानों पर संन्यास शब्द का प्रयोग देखने से यह सुनिश्चित हो जाता है कि श्रीगीता का प्रतिपाद्य तात्पर्य सर्वकर्म संन्यास ही है।

यही है भगवत्पाद आद्य शंकराचार्य की अवधारणा।

यदि गम्भीरता से विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि शंकराचार्य की मान्यता शास्त्र-संगत नहीं है, क्योंकि श्रीगीता में प्रयुक्त संन्यास शब्द चतुर्थाश्रम के नियम विशेषों का संकेत नहीं करता, वहाँ संन्यास का अर्थ है सम्यक् त्याग तथा परमेश्वर की पूर्ण शरणागति। इसलिए "सम्यक् निकृतं असनं संन्यासः" अर्थात् पूर्ण त्याग को संन्यास कहते हैं, अथवा "सम्यक् नितरां असनं क्षेपणं संन्यासः" यानी भगवान् के चरणों में पूर्ण समर्पण को संन्यास कहते हैं। इस दृष्टिकोण में श्रीमद्वाल्मकीय रामायण का श्रीराम के प्रति विभीषण का कथन भी प्रमाण है–

रावणो नाम दुर्वृत्तो राक्षसो राक्षसेश्वरः ।
तस्याहमनुजो भ्राता विभीषण इति श्रुतः ।।वा०रा० ६-१७-१२।।
सोऽहं परुषितस्तेन दासवच्चावमानितः ।
त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च राघवं शरणं गतः ।।
निवेदयत मां क्षिप्रं राघवाय महात्मने ।
सर्वलोकशरण्याय विभीषणमुपस्थितम् ।।वा०रा०६-१७-१६-१७।।

श्री विभीषण रावण से तिरस्कृत होकर आकाश मार्ग से आकर आकाश मण्डल में खड़े होकर वानरों से निवेदन कर रहे हैं, हे वानर-भटों– अत्यन्त दुराचारी रावण नाम का एक राक्षस है, जो स्वयं रक्षः-संस्कृति का होकर राक्षसों पर शासन करता है। उसी रावण का मैं छोटा सौतेला भाई विभीषण नाम से सर्वविदित हूँ। जब मैंने उससे सीता जी को लौटा देने के लिये बहुत अनुनय विनय किया तब उसने सामान्य दास की भाँति मुझे कठोर वचन कहकर अपमानित किया और मेरी छाती में लात भी मारी।

इसके अनन्तर तुमने क्या किया ? वानरों की अन्तर्जिज्ञासा पर कहते हैं, तब मैं पुत्र अर्थात् औरस सन्तानों को तथा दारा अपनी जीवन संगिनी धर्मपत्नी सरमा को भी छोड़कर प्रभु श्रीराम की शरण में आ गया हूँ।

हे वानरों ! सम्पूर्ण प्राणियों को शरण देने में समर्थ मनस्वी भगवान् श्री राघव को मुझ विभीषण की उपस्थिति का समाचार शीघ्र दे दो। इस प्रकारण में प्रयुक्त राघव शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है। "रघुषु भवः राघवः" रघुकुल में उत्पन्न होने से भगवान् श्री राम को राघव कहते हैं, अथवा "लङ्घन्ति पापपुण्यानि ये ते राघवः" "रघूणां अयं राघवः" पाप और पुण्यों का लङ्घन अर्थात् अनुभव करने के कारण जीव को रघु कहते हैं, उन रघु अर्थात् जीवों के शाश्वत नित्य सम्बन्धी होने के कारण भगवान् श्रीराम को राघव कहते हैं। यहाँ षष्ठ्यन्त रघुशब्द से सम्बन्ध अर्थ में "तस्येदम्" इस पाणिनि सूत्र से अण् प्रत्यय हुआ, अथवा "रघुभ्यो जीवेभ्यो हितो राघवः" अर्थात् जीवमात्र के हितैषी भगवान् को राघव कहते हैं, इस विग्रह में "बाहुलक" शास्त्र से उदन्त लक्षण यत् को बाँधकर अण्

प्रत्यय ही होता है। यहाँ "त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च" इस तृतीय चरण से संन्यास शब्द की व्याख्या हो जाती है। जिसका भगवान् की शरणागति में ही पर्यवसान है।

और भी यदि सर्वकर्मसंन्यास को ही गीता जी का तात्पर्य माना जाय तो तृतीय अध्याय में कहे हुए भगवान् के वचन से ही विरोध हो जायगा, जैसा कि भगवान् कहते हैं-

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ।।गीता ३-४।।

हे अर्जुन कर्मों का आरम्भ किये बिना कोई नैष्कर्म्य को नहीं प्राप्त करता और न ही कर्मों के संन्यास से किसी को सिद्धि मिल सकती है। इस श्लोक में भगवान् कण्ठरव अर्थात् शब्दतः कर्म के अनारम्भ से सम्भावित नैष्कर्म्य सिद्धि तथा सर्वकर्म संन्यास मूलक सिद्धि प्राप्ति का एक ही साथ निषेध करते हुए सुस्पष्ट रूप से सर्वकर्म संन्यास को गीता तात्पर्य के रूप में नहीं स्वीकार रहे हैं।

इसके अतिरिक्त और भी -

"तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते" गीता ५-२
"न निरग्निर्नचाक्रियः" गीता ६-१
"संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः" गीता ५-६
"काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः" गीता १८-२

कर्म संन्यास से कर्मयोग श्रेष्ठ है। हे महाबाहो ! योग शून्य व्यक्ति के लिये संन्यास की प्राप्ति बहुत कठिन है, अग्नि और क्रियाओं को छोड़ने वाला ही संन्यासी नहीं होता काम्य कर्मों के त्याग को ही विद्वज्जन संन्यास के रूप में जानते हैं। इस प्रकार अनेक बार भिन्न-भिन्न वाक्यों के कथन से भगवान् ने स्वयं कर्मयोग की अपेक्षा कर्म संन्यास को तुच्छ कहा है। किञ्च गीता जी के तीसरे एवं पाँचवें अध्याय में कर्म के बिना शरीर यात्रा को चलाना असम्भव बताकर भगवान् ने यह सुस्पष्ट रूप में स्वीकार लिया है कि शरीरधारी व्यक्ति पूर्णरूप से कर्मों का संन्यास कर ही नहीं सकता।

किंच अर्जुन क्षत्रिय हैं अतः उन्हें संन्यास लेने का अधिकार नहीं है, इसलिये अनधिकारी अर्जुन को यदि सम्पूर्ण शास्त्रज्ञों के शिरोमणि भगवान् शार्ङ्गधारी श्रीकृष्ण सर्वकर्म संन्यास का उपदेश देंगे तो उन्हें ही शास्त्र मर्यादा के उल्लंघन का प्रत्यवाय लगेगा, जैसा कि गीता गूढ़ार्थ दीपिका में श्रीमधुसूदन सरस्वती ने भी कहा है कि 'सम्पूर्ण शास्त्रों का परमरहस्य भगवान् की शरणागति ही है' इसीलिये भगवान् ने शरणागति में ही गीता शास्त्र को विश्राम दिया है "सर्वधर्मान् परित्याज्य मामेकं शरणं व्रज" गीता १८-६६ क्योंकि शरणागति के बिना संन्यास भी अपना फल नहीं दे सकता।

अथ च क्षत्रिय होने के कारण संन्यास के अनधिकारी अर्जुन के प्रति भगवान् द्वारा

संन्यास का उपदेश अत्यन्त अनुचित होगा। यदि कहें कि अर्जुन को निमित्त मानकर उन्हीं के बहाने से अन्य लोगों को संन्यास का उपदेश दिया गया है तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर "ततो वक्ष्यामि ते हितं" इसलिये मैं तुम्हारे लिये हितकर वाक्य कहूँगा, "अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः" मैं तुम्हें सभी पापों से मुक्त करा दूँगा तुम चिन्ता मत करो, ये उपक्रम उपसंहार संगत नहीं होगे क्योंकि इनमें भगवान् ने अर्जुन के प्रति साक्षात् उपदेश दिया है, उन्हें निमित्त मानने की कोई चर्चा नहीं की है। इसलिये संन्यास धर्म में आदर बुद्धि न रखकर शरणागति में ही भगवान का तात्पर्य प्रतीत होता है। और भी इस गीता शास्त्र में साध्य, साधन, और भाव रूप से तीन निष्ठायें कही गयी हैं और उनका बहुत बार दिग्दर्शन भी हुआ है, उनमें "स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य" इसी अठारहवें अध्याय के ४६ वें श्लोक में सर्वकर्म संन्यास पर्यन्त कर्मनिष्ठा का भगवान् ने उपसंहार कर दिया है। इसके अनन्तर "ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा" इसी चौवनवें श्लोक में संन्यास के साथ श्रवणपरिपाक के सहित ज्ञाननिष्ठा का उपसंहार हो गया है। किन्तु भगवान् की भक्ति कर्मनिष्ठा और ज्ञाननिष्ठा इन दोनों का साधन भी है और फल भी है, इसीलिये इसका "सर्व धर्मान्परित्यज्य" गीता १८-६६ इस अन्तिम श्लोक में उपसंहार किया गया। किन्तु भाष्यकार शंकराचार्य जी ने "सर्वधर्मान्परित्यज्य" इस वाक्य में सर्वकर्मसंन्यास का अनुवाद करके "मामेकं शरणं व्रज" इस वाक्य में ज्ञाननिष्ठा का उपसंहार हुआ, ऐसा कहा है। वास्तव में भगवान् श्री कृष्ण के अभिप्राय के वर्णन में हम बेचारे कौन होते हैं ? अर्थात् क्या सच है क्या झूठ है ? यह तो भगवान् ही जानें किन्तु स्पष्टतः शरणागति ही गीता जी का तात्पर्य प्रतीत होती है।

इस प्रकार मधुसूदन सरस्वती के वाक्य में शंकराचार्य के सिद्धान्त से असहमति स्पष्ट झलक रही है। इस प्रकार "नियतस्यतु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते" गीता १८-७ अर्थात् नियत कर्म का संन्यास उचित नहीं होता, संन्यास से ही सिद्धि नहीं मिलती, जो कर्म फल का त्याग करता है वही त्यागी है।

इत्यादि वाक्यों के अनुरोध से यह बात निर्विवाद रूप से स्पष्ट हो जाती है कि सर्वकर्मसंन्यास श्रीगीता का तात्पर्य नहीं है।

इसीलिये शाङ्करसिद्धान्त के प्रतिष्ठापक विद्वानों के शिरोमणि पण्डितवर्य श्री मधुसूदन सरस्वती ने 'भाष्यकृतस्तु' इस प्रकार तु शब्द का प्रयोग कर इस सिद्धान्त में अपनी अरुचि बतायी। इसके अतिरिक्त "शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्" गीता २-७ अर्थात् "मैं आपका शिष्य हूँ आप मुझ शरणागत को उपदेश दीजिये" इस अर्जुन वाक्य से उपक्रम करके "मामेकं शरणं व्रज" मुझ एक परमात्मा की शरण में जाओ, इस उपसंहार पर्यन्त शरणागति की ही चर्चा हाने के कारण श्रीशङ्कराचार्य के सर्वकर्म संन्यास के घटाटोप से पूर्वोक्त शास्त्र मर्यादा में विरोध उपस्थित होगा।

इसके अतिरिक्त सर्वकर्म संन्यास को गीता का तात्पर्य मान लेने पर "करिष्ये वचनं तव" गीता १८-७३ "मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा" यह अर्जुन का वचन भी विरुद्ध होगा। अहो! एक ओर कर्मों का संन्यास और दूसरी ओर गांडीव धारण कर भीषण संग्राम में प्रवृत्त होना। इस प्रकार परिणाम की विषमता से गीता जी के उपदेश की ही व्यर्थता हो जायगी क्योंकि कहा कुछ जा रहा है किया कुछ।

इसके अतिरिक्त सर्वकर्म संन्यास को गीता का तात्पर्य मान लेने पर एक बहुत बड़ा अनर्थ उपस्थित होगा। संन्यास परमहंस परिव्राजकाचार्य विरक्तशिरोमणि काषायवस्त्रधारी किसी त्रिदण्डी संन्यासी से लिया जाता है जबकि यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं द्वितीयाश्रमसेवी सद्गृहस्थ तथा सोलह हजार १०८ पत्नियों के पति हैं, और इधर उपदेश ग्रहण करने वाले अर्जुन भी परम गृहस्थ अभिमन्यु के पिता सुभद्रा के पति तथा मत्स्यभेद करके द्रौपदी जैसी सर्वाङ्गसुन्दरी पत्नी को प्राप्तकर उनसे विरक्त नहीं हुए। इस प्रकार वक्ता और श्रोता दोनों ही संन्यास धर्म के लिये अनधिकृत हैं। अतः सर्वकर्म संन्यास का उपदेश एवं श्रवण ये दोनों ही भयंकर शास्त्र मर्यादा के उल्लंघन के कारण बनेंगे, जो कि किसी भी सनातन धर्मानुयायी को अभीष्ट नहीं होगा।

अच्युत होकर भी भगवान् श्रीकृष्ण श्रुतिमर्यादा का उल्लंघन कभी भी नहीं करेंगे और न ही भगवद् विभूतिरूप अर्जुन। इसलिये प्रच्छन्न बौद्ध द्वारा सर्वकर्म संन्यास का गीता तात्पर्य के रूप में प्रतिष्ठापन श्रेष्ठ विद्वानों के नेत्रों में धूल झोंकना ही है।

कुछ लोग कर्मयोग ही गीता का तात्पर्य मानते हैं, परन्तु वह एकदेशीय अर्थात् गीता के षष्ठ अध्याय पर्यन्त होने के कारण तात्पर्य नहीं बन सकता। श्रीगीता में ३ षट्क कहे गये हैं प्रथम ६ अध्यायों में "त्वं" पदार्थ जीव का निरूपण है। इसीलिये उसके उपयोगी कर्मकाण्ड की चर्चा गीता के प्रथम ६ अध्यायों में ही की गयी है। द्वितीय अर्थात् सात से बारहवें तक के षटक् में "तत्पदार्थ" ब्रह्म की व्याख्या है और वह ब्रह्म भक्ति से ही प्राप्त होता है, इसलिये इस षट्क में प्रधानता से भक्ति का ही वर्णन हुआ है। पुनः तेरहवें अध्याय से अठारहवें अध्याय तक 'असि' पदार्थ की व्याख्या है यहाँ जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध निबन्धन अभेद का प्रतिपादन होने से प्रधानतः ज्ञान का वर्णन हुआ है। इस प्रकार तुम कर्म ही करो। इस लोक को प्राप्त कर मेरा भजन करो, निरन्तर मुझमें अपने चित्त का समर्पण करो इन प्रतिपादनों में क्रमशः कर्म, भक्ति, और ज्ञान की उपलब्धि से कर्म योगका एक देशीयत्व स्वतः सिद्ध है। जीव ब्रह्म की सम्बन्ध निबन्धता एकता श्रुति और स्मृति दोनों से ही प्रमाणित है। 'जीव और ब्रह्म स्वरूप से कभी भी एक नहीं होते' यह बात मैंने बार-बार कही है।

इसी प्रकार कुछ लोग राजयोग, कुछ लोग अनासक्ति योग तथा कुछ हठयोग को गीता का तात्पर्य मानकर अनर्गल प्रलाप करते दिखते हैं, परन्तु वे सभी पण्डितों की

कसौटी रूप उपक्रमोपसंहारादि ६ प्रमाणों की मीमांसा में अनुत्तीर्ण होने के कारण उपेक्षणीय हैं अर्थात् उनकी चर्चा करना अत्यन्त अनावश्यक है।

अच्छा तो फिर श्री गीता का क्या तात्पर्य है ? इस पर जगद्‌गुरुश्रीमदाद्यरामानन्दाचार्य जी के चरण कमल के भ्रमररूप हम अर्थात् श्रीरामानन्दचार्य श्री वैष्णवजन प्रपत्तिरूप शरणागति को ही श्री गीता का तात्पर्य मानते हैं। इस सिद्धान्त में नवम अध्याय के अन्तिम भाग में कहा हुआ भगवान् का वचन ही परम प्रमाण है, जैसा कि भगवान् स्वयं श्रीमुख से कहते हैं–

"मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।। गीता ९/३२।।

अर्थात् हे अर्जुन मुझ परमात्मा को शरण्यरूप में स्वीकार कर जो भी स्त्री, वैश्य, शूद्र आदि पाप योनि होते हैं, वे भी परम पद को प्राप्त कर लेते हैं। इस श्लोक पर प्रायश: सभी आचार्य एकमत हैं। अद्वैतवाद के प्रतिष्ठापक शंकराचार्य भी व्यपाश्रित्य का "आश्रयत्वेन गृहीता" इसी प्रकार व्याख्या करते हैं। उनके मत में श्लोक का व्याख्यान इस प्रकार होगा "हे पार्थ ! मुझ परमात्मा को आश्रय रूप से स्वीकार कर पाप जन्म वाले स्त्री, वैश्य, शूद्र भी परमगति को प्राप्त कर लेते हैं" श्रीधर स्वामी भी लगभग इसी प्रकार का अर्थ कर रहे हैं।

मेरी भक्ति आचारहीन को पवित्र करती है, तो इसमें क्या आश्चर्य ? क्योंकि वह तो निम्न कुल में उत्पन्न हुए अनधिकारियों को भी पावन बना देती है। इस पर कहते हैं "मामित्यादि" मुझ परमात्मा की प्रीतिपूर्वक सेवा करके पापजन्मा अन्त्यज आदि केवल कृषि में लगे हुये वैश्य तथा वेदाध्ययन में अनधिकृत स्त्री एवं शूद्र भी परम पद को प्राप्त कर लेते हैं। यहाँ श्रीधरस्वामी ने भी 'व्यपाश्रित्य' का सेवा करना ही अर्थ स्वीकारा है।

जो कि शङ्करानन्द ने 'व्यपाश्रित्य' का सद्‌गुरूपदेश जनित ज्ञानेन समुपास्य अर्थात् स्त्री, वैश्य, शूद्रादि पाप जन्मालोग भी सोपाधिक अथवा निरुपाधिक परब्रह्म को सद्‌गुरूपदेश जनित ज्ञान से साक्षात्कार करते हैं, वे भी परम गति को प्राप्त होते हैं, किन्तु यह व्याख्यान विद्वानों के लिये आदरणीय नहीं है, क्योंकि भक्ति प्रधान इस मध्यम षट्क मे दाल भात में मूसर चंद की भाँति यह सद्‌गुरु उपदेश कहाँ से फाट पड़ा। वास्तव में शङ्करानन्द ने उस प्रकरण को ठीक से नहीं पढ़ा जब कि वहाँ 'भजते मामनन्यमाक्' इस प्रकार उपक्रम करके 'भजस्व माम्' इस उपसंहार तक स्पष्ट रूप से भक्ति प्रपत्ति की महिमा ही कही गयी है। आश्चर्य होता है कि इस महामहिम भक्ति प्रकरण में कहाँ से आया सद्‌गुरु उपदेश और कहाँ से उपस्थित हुआ उपदेश जनित ज्ञान, जबकि अद्वैत सिद्धि के रचयिता श्री मधुसूदन सरस्वती ने भी द्वितीय षट्क को पूर्ण रूप से भक्तिपरक ही स्वीकारा है। इस प्रसङ्ग में उनकी दो कारिकायद्धृत की जाती हैं–

यतः समुच्चयो नास्ति तयोरतिविरोधितः ।
भगवद्भक्तिनिष्ठा तु मध्यमे परिकीर्तिता ।।
उभयानुगता सा हि सर्वविघ्नापनोदिनी ।
कर्ममिश्रा च शुद्धा च ज्ञानमिश्रा च सा त्रिधा ।।

गीता गूढार्थ दीपिका कारिका ६-७

क्योंकि कर्म और ज्ञान का परस्पर विरोध होने से कभी भी समुच्चय सम्भव नहीं है, इसीलिये मध्यम षट्क में भगवद्भक्ति निष्ठा का वर्णन किया गया। यह भगवद्भक्ति कर्म और ज्ञान इन दोनों में अनुगत है, इसलिये कर्ममिश्रा, ज्ञानमिश्रा और शुद्धा इन तीन रूपों में इसे जाना जाता है।

वास्तव में षट्कों से युक्त यह गीताशास्त्र विशुद्ध भगवद्भक्ति का ही प्रतिपादन करता है, इसीलिये प्रथम षट्क के अन्त में "श्रद्धावान् भजते यो मां" गीता ६।४७ कह कर कर्ममिश्राभक्ति का तथा "भक्तिरव्यभिचारिणी" "भक्तियोगेन सेवते" "भक्त्या मामभिजानाति" इत्यादि विपुल प्रमाणों से तृतीयषट्क में ज्ञानमिश्रा भक्ति का तथा "भजते मां" "भजस्व मां" "भक्तिमान्मे प्रियो नरः" इत्यादि उद्धरणों से मध्यम षट्क में शुद्धाभक्ति का भगवान् ने प्रतिपादन किया।

इसी प्रकार सातवें से लेकर बारहवें अध्याय पर्यन्त अनेक प्रमाणों के सन्दर्भ में मध्यमा अँगुलि की भाँति मध्यम षट्क पूर्ण रूप से विशुद्धभक्ति का प्रतिपादन करता है जैसे–

"चतुर्विधा भजन्ते मां" गीता ७-१६ "नमस्यन्तश्च मां भक्त्या" गीता ८-१४ "भजस्व मां" गीता ९-३३ "भजतां प्रीतिपूर्वकं" गीता १०-१० "भक्त्या त्वनन्यया शक्यः" गीता अ. ११-५४ "भक्तिमान् यः स मे प्रियः" गीता १२-१७ इस प्रकार छहों के छहों अध्याय भक्तिसुधा से लबालब भरे हैं, यही अभिप्राय है मधुसूदन सरस्वती का। इस प्रकार अनेक विद्वद्धुर्यों द्वारा द्वितीयषट्क में भक्ति वर्णन को ही सिद्धान्ततः स्वीकृत कर लिये जाने पर 'व्यपाश्रित्य' का ज्ञानजनित अपरोक्षानुभूतिरूप शङ्करानन्दीय व्याख्यान प्रलाप के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है ऐसा हमारा मानना है।

क्योंकि मधुसूदन सरस्वती स्वामी ने 'व्यपाश्रित्य' का 'शरणं गत्वा' यही अर्थ माना है। जैसे कि उस प्रसंग की मधुसूदनी टीका उद्धृत की जा रही है। हे पार्थ मेरी शरण में आकर पाप जन्मा स्त्रियाँ कृषि प्रधान वैश्य तथा अध्ययन हीन शूद्र भी परम गति को प्राप्त कर लेते हैं। 'अपि' शब्द से पूर्वोक्ति दुराचारियों का संग्रह समझना चाहिये। यह आश्चर्य है कि यहाँ अपनी सम्प्रदायिक संकीर्णता छोड़कर पक्षपात शून्य हृदय से अद्वैतवादियों के शिरोमणि श्री मधुसूदन सरस्वती ने भी 'व्यपाश्रित्य' का "शरणमागत्य" (शरण में आकर) ऐसा अर्थ लिखा है। यहाँ तक कि मधुसूदन सरस्वती ने जाति दुष्ट, अन्त्यज,

तथा पशुपक्षियों का भी भगवान् की शरणागति में अधिकार माना है, इसलिये उन्होंने "जातिदुष्टाः तिर्यञ्चः अपि" ऐसे शब्द का प्रयोग किया।

अब मैं भी इस श्लोक की व्याख्या प्रस्तुत कर रहा हूँ– पार्थ शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है "प्रथयति भक्तिमहिमानं या सा पृथा पृथायाः अपत्यं पुमान् पार्थः तत्सम्बुद्धौ हे पार्थ" अर्थात् जो भक्ति की महिमा को दिग्दिगन्त में प्रचरित करती हैं वही भगवती कुन्ती पृथा के नाम से विख्यात हैं, उन्हीं पृथा के पुत्र को तद्धितीय अण् प्रत्यय के आधार पर पार्थ कहा जाता है।

तुम्हारी माँ कुन्ती जो कि मेरी बुआ जी हैं, मेरी शरणागत हुईं तथा समस्त दिशाओं में मेरी भक्ति महिमा का प्रचार प्रसार कर रही हैं। उन्हीं मेरी शरणागत पृथा कुन्ती के तुम पुत्र हो इसलिये परमभागवत माँ की कोख से जन्म लेने के कारण तुम अत्यन्त सहजता और सुगमता से शरणागति का रहस्य समझ सकोगे। यही पार्थ इस सम्बोधन में भगवान् का गूढ़ आशय है। 'माम्' अर्थात् सम्पूर्ण हेय गुणों से विरुद्ध, श्रेष्ठ गुणों से युक्त, सीमा रहित, निरुपम, उपद्रवों से शून्य, निष्कपट निर्भर आनन्द से युक्त, मोहरहित, कालुष्य दोष तथा कलंक के कीचड़ से रहित, आतंक शून्य, सम्पूर्ण कल्याण युक्त, हेतुओं से रहित, निर्दोष, निर्मल, गुणगणों के भवनस्वरूप, स्वेच्छा से निर्मित विशुद्धज्ञानमय, सच्चिदानंद मूर्ति करुणा तारुण्य वत्सलता सरलता तरलता सौशील्य सुजनता आदि सभी सद्गुणों के संग्रहरूप, धर्मविरोधी कुत्सित कर्म वाले दैत्यों के सुखों का निग्रह करने वाले ऐसे दिव्य श्री विग्रह को धारण करते हुये बालसूर्य को लज्जित करने वाले पीताम्बर से सुशोभित ऐसे चाबुक तथा बेंत धारण करने वाले ऐसे अपने सारथि बने हुए मुझ परमात्मा को शरणरूप में प्राप्त कर मेरी शरण में आकर तथा मेरे अतिरिक्त सम्पूर्ण आश्रयों में तुच्छ भावना करके, मुझ ही को सर्वश्रेष्ठ आश्रय दाता मानकर यहाँ 'व्यपाश्रयं गच्छति' इस विग्रह में बाहुलकात- आचार क्विवन्त से ल्यप् प्रत्यय हुआ इस प्रकार मेरी शरण में आये हुए उक्त और अनुक्त जो भी पापमय जन्म वाले हों उनका संग्रह समझना चाहिये। यहाँ 'पापयोनयः' शब्द स्त्रियः वैश्याः शूद्राः इन तीनों के साथ संम्बद्ध है। 'याः पापयोनयः स्त्रियः' ये पाप योनयो वैश्याः' 'ये पापयोनयः शूद्राः' इस प्रकार शब्द की योजना होगी। पापं योनिः जन्मस्थानं यासां ताः, अभिप्राय यह है कि सभी स्त्रियाँ पाप योनि नहीं होतीं जैसे– पञ्चकन्यायें शास्त्रों में अहल्या, मन्दोदरी, तारा, कुन्ती, तथा द्रौपदी इन पञ्चकन्याओं के स्मरण को महापातक नाशक कहा गया है यथा–

अहल्या, मन्दोदरी, तारा, कुन्ती, द्रौपदी तथा ।
पञ्चकन्याः स्मरेन्नित्यं, महापातकनाशनम् ।।

महापातकनाशन यह शब्द क्रिया विशेषण होने से द्वितीयैकवचनान्त है। अतएव पापयोनयः यह विशेषण पुण्यशीला सीता, अनसूया, सावित्री, अरुन्धती, आदि महामहिम

पूजनीय महिलाओं को व्यावृत्त करके उनसे अतिरिक्त गाणिका, कुब्जा आदि को संकेतित करता है, जो जन्म और कर्म से पापमय होकर भी परमेश्वर शरणगति की महिमा से भगवान् को प्राप्त हो गयीं। पतिव्रतायें तो अपने पतिव्रत के प्रभाव से ही मुक्त हो जाती है। किन्तु जो व्यभिचार से दुष्ट तथा बहुपतिकायें हैं, ऐसी पापमय स्त्रियाँ भी मेरी शरणागति से पावन हो जाती हैं, यही भगवान् का अपि शब्द से अभिप्राय है। जैसे श्रीमद्‌भागवत वेणुगीत में भी कहा गया है–

''पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगाय पदाब्जराग
श्री कुङ्कुमेन दयितास्तनमण्डितेन ।।
तद्दर्शनस्मररुजस्तृणरूषितेन
लिम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम् ।। भा० १०-२१-१७।।

अर्थात् गोपियाँ कहती हैं— ये देखो पुलिन्द अर्थात् भिल्लों की कन्यायें जो लकड़ी लेने श्री वृन्दावन में आयी हैं, वे श्री राधा के वक्ष के आभूषण स्वरूप, तृणों में लगे हुए, भगवान् श्री कृष्ण के पद कमल की लालिमा के समान सुन्दर कुङ्कुम से अपने मुख तथा वक्ष को अलङ्कृत किया है, और प्रभु के चरणों में लिप्त उस श्री राधा के वक्ष कुङ्कुम को श्री वृन्दावन की घासों पर लगा निहार कर पुलिन्द कन्याओं में श्यामसुन्दर से मिलने की तीव्र अभिलाषा जाग उठी है। इसीलिये उन्होंने श्री राधा के वक्ष तथा मनमोहन के श्री चरणों से सम्वद्ध कुङ्कुम को अपने मुखों तथा वक्षों पर लेपन कर लिया है। इसीलिये देखो वे अभी-अभी भवव्याधि से मुक्त होकर पूर्णता को प्राप्तकर प्यारे श्यामसुन्दर की अन्तरङ्ग लीला में प्रवेश कर रही हैं। इसी प्रकार श्रीभागवत में कुब्जा भी वासनात्मक प्रेम करके भी प्रभु को पाप्त हुई–

''तस्यै काम वरं दत्वा मानयित्वा च मानदः ।
सहोद्धवेन सर्वेशः स्वधामागमदर्चितम् ।।भा० १०-४८-११

अर्थात् भगवान् सर्वेश्वर श्रीकृष्ण उस कामासक्त कुब्जा को भी मनोवाञ्छित वरदान देकर और उसका सम्मान करके, चकारात्– उसे भवबन्धन से मुक्त करके श्री उद्धव के साथ अपने सर्व पूजित भवन में पधार गये। यहाँ वैश्य पद से नन्दव्रज के गोपों का ग्रहण है। भगवान् स्वयं कहते है "तत्रगोवृत्तयो वयम्" हमलोग गौओं के पालक वैश्य हैं। शूद्र पद से विदुर आदि का ग्रहण है, ये सब मेरी शरणागति की महीमा से परमपद को प्राप्त हो जायेंगे।

यहाँ स्त्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों के लिये अपनी शरणागति से ही विधिवाक्य द्वारा परम पद प्राप्ति का वर्णन करके भगवान् श्रीकृष्ण ने प्रपत्ति अर्थात् शरणागति में प्राणिमात्र के अधिकार की घोषणा कर दी। इसी तथ्य को हमारे परमाचार्य श्री सुशीला जी के पुत्र जगद्‌गुरु श्रीमदाद्यरामान्दाचार्य जी ने सिद्धान्तित करते हुए उद्‌घोषणा की—

"सर्वे प्रपत्तेरधिकारिणः सदा,
शक्ता अशक्ताः पदयोर्जगत्प्रभोः ।
अपेक्ष्यते तत्र कुलं बलं च नो,
न चापि कालो न च शुद्धतापि वै ।।

वैष्णवमताब्जभास्कर च० प० ५०।

अर्थात् समर्थ अथवा असमर्थ चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों की मर्यादा में रहने वाले और वर्ण बाह्य अन्त्यजादि, विदेशी विधर्मी तथा चारों आश्रमों से बहिर्भूत आरूढ़ पतित भी जगत् प्रभु श्रीराम एवं श्रीकृष्ण के श्रीचरण कमलों की प्रपत्ति अर्थात् शरणागति के अधिकारी हैं। भगवान् की शरणागति में जीव के कुल, बल, समय, तथा शुद्धता की कोई अपेक्षा नहीं है। जीव किसी भी समय किसी भी कुल में जन्म लेकर शुद्ध या अशुद्ध किसी भी परिस्थिति में परमेश्वर को शरणागत हो सकता है।

अच्छा तो क्या इस प्रपत्ति (शरणागति) में कोई वैदिक प्रमाण भी है ?

उत्तर— हाँ श्वेताश्वतर उपनिषद् की श्रुति ही शरणागति में परम प्रमाण है। जैसे—

"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं, यो वै वेदाँश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तँ्ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं, मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ।।

श्वे० उ० ६-१८

अर्थ— जो परमेश्वर प्रत्येक कल्प के आदि में ब्रह्मा जी को उत्पन्न करते हैं, तथा जो भगवान् अपने से उत्पन्न किये ब्रह्मा को निश्चयात्मक उच्चारण परम्परा के साथ नित्य वेद राशि का बोध कराते हैं, उन्ही आत्मा एवं बुद्धि को प्रकाशित करने वाले देवाधिदेव भगवान् श्रीराम तथा भगवान् श्रीकृष्ण को संसार बन्धन से मुक्त होने की इच्छा करने वाला मैं निश्चयात्मक बुद्धि से प्रपन्न अर्थात् आश्रय मानकर शरणागत हो रहा हूँ। यहाँ 'देव' यह विशेष्य है तथा समानाधिकरण अर्थात् इसी के समान द्वितीया एक वचनान्त 'आत्म बुद्धिप्रकाशं' यह विशेषण है।

'तं' यह पद भी विशेषण है। यत् और तत् नित्य सापेक्ष होते हैं इसलिये पूर्व दो पदों में व्यधिकरण अर्थात् प्रथमा के एकवचन में दो बार उच्चारित होने पर भी 'यः' शब्द भी 'देवं' शब्द का विशेषण ही है। 'आत्मबुद्धिप्रकाशं' द्वन्द्व पूर्वक बहुव्रीहि है। बुद्धि की अपेक्षा आत्मा श्रेष्ठ है, इसलिये उसी का पूर्व प्रयोग हुआ है। अर्थात् आत्मा और बुद्धि को जिससे प्रकाश मिलता है वही परमात्मा आत्म बुद्धि प्रकाशक है। इसका यों विग्रह समझना चाहिये—

"आत्माच बुद्धिश्च आत्मबुद्धी तयोः प्रकाशः यस्मात् स आत्म बुद्धि प्रकाशः तं आत्म बुद्धि प्रकाशं' भगवान् श्रीराम से ही आत्मा बुद्धि आदि सभी को प्रकाश मिलता है, इसी

बात का श्रीराम चरितमानस में गोस्वामी तुलसीदा जी भी समर्थन करते हैं—

विषय करन सुर जीव समेता ।
सकल एक ते एक सचेता ।।
सब कर परम प्रकाशक जोई ।
राम अनादि अवध पति सोई ।।

रामचरित मा० १-११७-५-६

भगवान् शंकर भगवती पार्वती जी से कहते हैं कि हे शिवे ! विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, करण-चक्षु, श्रोत्र, त्वक्, रसना, घ्राण, हस्त, पाद, पायु उपस्थ, वाक् ये दश इन्द्रियाँ बाह्यकरण, मन, बुद्धि, अंहकार, चित्त, ये चार अन्तःकरण तथा इन चौदहों के सुर, (देवता) अर्थात् चक्षु के सूर्य, श्रोत्र की दिशा, त्वक् के वायु रसना के वरुण घ्राण के अश्विनी कुमार, हस्त के इन्द्र, पाद के उपेन्द्र, पायु की मृत्यु, उपस्थ के प्रजापति, वाणी के अग्नि, मन के चंद्र, बुद्धि के ब्रह्मा, अहंकार के शिव, तथा चित्त के महान् विष्णु ये चौदह देवता तथा इन सब के नियन्ता जीव प्रत्यगात्मा ये चारों एक से एक चेतनावान् हैं, आर्थात् जीवात्मा से चेतना मिली है। चौदह देवताओं के और सूर्यादि चौदह देवताओं ने अपने-अपने करण को चेतना दी है और इन चौदहों करणों से इनके विषय प्रकाशित हुये हैं, परन्तु इन सब विषय, करण, चौदहों देवता तथा जीवात्मा के जो परम प्रकशक हैं वे ही अनादि अयोध्यापत्ति श्रीराम पख्रह्म परमात्मा हैं।

इस श्रुति में शरणागति के प्रमाण के साथ ही "आत्म-बुद्धि-प्रकशं" इस वाक्य खण्ड से शरणागत के लिये उपयोगी ब्रह्म एवं जीव का स्वरूपतः भेद भी दिखाया गया है। पूर्व पक्ष— यदि कहें कि "आत्मनः बुद्धिः आत्मबुद्धिः तां प्रकशयति" अर्थात् आत्मा की बुद्धि के प्रकशक देवता अर्थात् जीवात्मा की मैं शरणागति स्वीकरता हूँ इस प्रकार व्याख्यान करने से जीवात्मा और परमात्मा का परस्पर भेद नहीं सिद्ध होगा, क्योंकि भेद तो तब सिद्ध होगा ज़ब द्वन्द्व समास करेंगे "आत्मा च बुद्धिश्च आत्मबुद्धी तयोः प्रकशः आत्म-बुद्धि-प्रकशः" अर्थात् आत्मा और बुद्धि के प्रकाशक।

उत्तर पक्ष— तो ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा का बुद्धि से कोई सम्बन्ध न होने के करण वहाँ "आत्मनः बुद्धिः" षष्ठी तत्पुरुष नहीं किया जा सकता, क्योंकि न तो बुद्धि आत्मा का अवयव है और न ही और उसका कोई सम्बन्ध ही, क्योंकि अद्वैत पक्ष में आत्मा को निर्विशेष कहा गया है। भला निर्विशेष का किससे कौन सा सम्बन्ध। यदि अन्य सम्बन्ध को कल्पना करें तो कल्पना में गौरव होगा। यहाँ 'देवं' इस विशेष्य पद की उपस्थिति के कारण बुद्धि पदार्थ के प्रतियोगी रूप में आत्मा पदार्थ को मानना अत्यन्त अनुचित होगा, क्योंकि प्रकाशक, प्रतियोगी और प्रकाश्य अनुयोगी होता है। यहाँ बुद्धि प्रकाश्य और देव प्रकाशक हैं, इसलिये षष्ठी तत्पुरुष की अपेक्षा यहाँ द्वन्द्व उचित

होगा और द्वन्द्व के उभय पदार्थ प्रधान होने से जीवात्मा और बुद्धि के प्रकाशक परमात्मा की पृथक् सत्ता सिद्ध होने के कारण जीवात्मा प्रकाश्य तथा परमात्मा प्रकाशक इस प्रकार दोनों का स्वरूपतः भेद सिद्ध हो जाता है। इसलिये पूर्व व्याख्या ही निर्दोष है। पूर्व पक्ष— अब यहाँ पूर्व पक्ष किया जाता है कि (१) "ब्रह्मैवेदं सर्वम्" अर्थात् यह सब कुछ ब्रह्म ही है (२) 'आत्मैवेदं सर्वम्' यह सब आत्मा ही है "योसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि" जो पर पुरुष है वह मैं हूँ "तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनु पश्यतः" जहाँ एकत्व का दर्शन किया जाता है वहाँ कौन मोह और कौन शोक ! इस प्रकार सैकड़ों श्रुतियों के अद्वैतवाद का अनुरोध करने पर आप ब्रह्म और जीव का भेद कैसे सिद्ध कर सकेंगे ?

उत्तर पक्ष— इस प्रश्न का सिद्धान्ती ने उत्तर दिया ऐसा नहीं अब आप सुनिये— इन एकत्व प्रतिपादक श्रुतियों का ब्रह्म और जीव के सम्बन्ध निबन्धन एकत्व में तात्पर्य है, क्योंकि जीव स्वरूप से ब्रह्म से पृथक् होकर भी शरीर-शरीरी भाव रूप सम्बन्ध से विशेषण बनकर ब्रह्म से सर्वदा अभिन्न है, क्योंकि हम (श्री सीता राम विशिष्टाद्वैतवादी रामानन्दीय श्री वैष्णव वेदान्ती) जीव ब्रह्म के स्वरूपतः अभेद को निषेध करते हैं (नहीं मानते) न कि सम्बन्ध निबन्धन अभेद को। जीव ब्रह्म का सम्बन्ध निबन्धन अभेद शास्त्रों में अनेक स्थानों में देखा गया है, सुना गया है और स्मरण किया गया है। जैसे कि विश्व के सर्व प्रथम आर्ष आदिकाव्य श्री मद्वाल्मीकीय रामायण में श्री सीता जी के प्रति श्री हनुमान् जी का वाक्य ध्यान देने योग्य है।

सुन्दरकाण्ड में अशोक वाटिका में सीता जी के प्रथम दर्शन करके अपना परिचय देते हुए मङ्गलमूरति मारुतनन्दन हनुमान् जी महाराज कह रहे है कि— हे माँ ! राम और सुग्रीव की एकता हो गयी और आप के समीप मैं उन्हीं देनों का दूत बनकर आया हूँ मेरा नाम हनुमान् है यथा—

रामसुग्रीवयोरैक्यं देव्येवं समजायत ।
हनूमन्तं च मां विद्धि तयोर्दूतमुपागतम् ।।वा०रा०५-३५-५२।।

श्रीराम एवं सुग्रीव का ऐक्य सम्बन्ध निबन्धन ही है न कि स्वरूप से। अच्छा तो इस सम्बन्ध निबन्धन एकता में कौन सी युक्ति प्रमाण हैं ? इस पर उत्तर दिया जाता है कि— सम्बन्ध निबन्धना एकता में श्रीमद्भागवत वचन ही प्रमाण है। भागवत जी के सप्तमस्कन्ध के प्रथम अध्याय के इकतीसवें श्लोक में भगवत् तन्मयता छः साधनों की चार्चा की गयी है जैसे—

"गोप्यःकामाद् भायात् कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः ।
सम्बन्याद् वृष्णयः स्नेहाद्यूयं भक्त्या वयं विभो ।।भा०७-१-३०।।

श्री नारद युधिष्ठिर से कहते हैं कि— हे शत्रुओं को पराजित करने में समर्थ महाराज युधिष्ठिर ! भगवान् श्रीकृष्ण में गोपियों ने काम अर्थात् आसक्त्यात्मक प्रेम से, कंस ने

भय से, शिशुपाल आदि राजाओं ने द्वेष से वृष्णि वंशियों ने कौटुम्बिक सम्बन्ध से, तुम लोगों ने मैत्री स्नेह से और हम साधु सन्तों ने परम प्रेम रूप भक्ति से अपना मन लगा रक्खा है। ठीक इसी प्रकार दशमस्कन्ध के उन्तीसवें अध्याय में जार बुद्धि से श्रीकृष्ण को प्राप्त हुयी श्री ब्रजाङ्गना की मुक्ति के विषय में उठे महाराज परीक्षित के सन्हेद का उत्तर देते हुए "उक्तम् पुरस्तात्" अर्थात् यह सातवें स्कन्ध में कहा जा चुका है इस प्रकार पूर्व व्याख्यान का स्मरण कराकर योगीन्द्र शुकाचार्य जी कहते हैं—

"कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते।।भा०१०-२९-१५।।

हे परीक्षित्! भगवान श्रीकृष्ण में काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य तथा सौहृद इन छहों भावों में से किसी एक को भी नित्य धारण करके जीव भगवान् की तन्मयता प्राप्त कर लेता है। यहाँ सप्तमस्कन्ध में कहे हुए छहों भावों का अनुवाद किया गया है, जिनमें सम्वन्ध का पर्याय ऐक्य और भक्ति का पर्याय सौहृद प्रस्तुत किया गया है। विषय की स्पष्टता के लिये दोनों स्थलों का मिलान कर लेना चाहिये। सप्तम में "गोप्य: कामात्" "दशम में कामं" सप्तम में "द्वेषाच्चैछादयो नृपा:" "दशम में क्रोधम्" "सप्तम में भयात् कंस:" "दशम में भयम्" "सप्तम में स्नेहात् यूयं" "दशम में स्नेहम्" "सप्तम में "सम्वन्धाद्वृष्णय:" दशम में "ऐक्यं" सप्तम में 'भक्त्यावयम्" दशम में "सौहृदयम्" इस प्रकार वेदान्त वेत्ताओं में शिरोमणि परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री शुकाचार्य ने ही ऐक्य को सम्वन्ध का पर्याय मान लिया अव इससे वड़ी युक्ति क्या हो सकती है सम्वन्ध निबन्धना एकता के लिये।

"ऐक्यं सम्वन्ध:" इस प्रकार भागवतभावार्थदीपिका में श्रीधर स्वामिपाद भी कहते हैं "रामकृष्णयो: ऐक्यं" इसकी व्याख्या करते हुए वाल्मीकि रामायण के टीकाकारों ने भी "ऐक्यं सम्वन्धनिवन्धनं" इस प्रकार व्याख्या की है।

प्रश्न— जीव का ब्रह्म के साथ कौन सा सम्बन्ध है ?

उत्तर— जीव का ब्रह्म के साथ शरीरशरीरीभाव सम्बन्ध है। चित् अर्थात् चेतनजीव अचित् यानी जड प्रकृति ये दोनों शरीर हैं और परमात्मा शरीरी। इसीलिये दोनों में शरीरशरीरीभाव सम्बन्ध है। जीव और प्रकृति शरीर रूप से परमात्मा के नित्य विशेषण हैं जैसे लोक में आत्मा शरीर के बिना नहीं रह सकता और आत्मा के बिना शरीर भी अस्तित्व हीन होकर या तो जला दिया जाता है अथवा अन्यान्य रीतियों से उसे नष्ट कर दिया जाता है, यही स्थिति जीवात्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में समझनी चाहिये। इसलिये दर्शानिकों ने जीवात्मा और परमात्मा के सम्बन्ध को अपृथक् सिद्ध कहा। अव प्रश्न उठता है चिद्अचिद् परमात्मा के शरीर हैं, इस मान्यता में क्या प्रमाण है ? अव इस पर उत्तर दिया जाता है कि— यहाँ श्रौत और स्मार्त दोनों ही प्रमाण हैं, इसीलिये

बृहदारण्यक उपनिषद के तृतीय अध्याय का सातवाँ सम्पूर्ण अन्तर्यामी ब्रह्मण ही चित् अचित् की शरीरवत्ता में श्रौत प्रमाण है। जैसे "यस्य पृथ्वी शरीरम्" 'यस्य आप: शरीरम्' 'पृथ्वी जिनका शरीर है' 'जल जिनका शरीर है' इस प्रकार तेईस मन्त्रों में तेईस बार भगवान् के चित् अचित् शरीर भाव की श्रुतियों में स्पष्ट चर्चा की गयी।

इसी प्रकार स्मृतियों में भी जीव और प्रकृत्ति को भगवान् का शरीर माना गया है। विश्व के सर्वप्रथम आदि काव्य आर्ष वाल्मीकीय रामायण में रावण वध के पश्चात् स्तुति करते हुए ब्रह्माजी भगवान् श्रीराम से कह रहे हैं,

"जगत् सर्वं शरीरं ते" वा.रा. ६-११७-२७

अर्थात् हे प्रभु यह समस्त जडचेतनात्मक जगत् आपका शरीर है। इसी प्रकार श्रीमद्भागवत के ११-२-४१ में देवर्षिनारद् श्री वसुदेवजी को वैष्णव की अनन्यता का वर्णन करते हुए समझाते हैं, हे वसुदेव ! भगवान् का अनन्य उपासक वैष्णव पृथ्वी वायु, अग्नि, जल, आकाश, नक्षत्र-मण्डल, सभी प्राणी, दिशायें, वृक्ष, पर्वत, नदी एवं समुद्र इस प्रकार सम्पूर्ण जड चेतन जगत् को भगवान् का शरीर मानकर उसे भगवद् बुद्धि से साष्टांग प्रणाम करें।

इस प्रकार श्रुति और स्मृति दोनों में ही स्वत: परत्त: प्रमाण की दृष्टि से जीव और प्रकृति भगवान् के शरीर तथा नित्य विशेषण होकर निर्विशेष ब्रह्म का व्यावर्तन करते हैं। इसलिये शरीरशरीरीभाव सम्बन्ध से जीव प्रकृति से विशष्ट होकर ब्रह्मविशष्ट द्वैत है और यही है जीव ब्रह्म की सम्बन्ध निबन्धना एकता। विशिष्टाद्वैतवाद ही हमारा सिद्धान्त दर्शन है अत: इसी के आलोक में यहा वेदान्त विचार प्रस्तुत किया जा रहा है।

पूर्वपक्ष— अच्छा जैसे एकत्वप्रतिपादक अद्वैतवादिनी श्रुत्तियों के आधार पर तुमने ब्रह्म और जीव की सम्बन्ध निबन्धना एकता आर्थात् अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध की दृष्टि से एकत्व का प्रतिपादन किया, क्या उसी प्रकार जीव और ब्रह्म के स्वरूपत: भेद में भी तुम्हें कुछ प्रमाण उपलब्ध हैं ?

उत्तर— हाँ, जीव और ब्रह्म स्वरूप से अलग-अलग हैं। इस मान्यता में श्रुतियों और स्मृतियों में हजारों प्रमाण उपलब्ध हैं, जैसे—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया:" (मुण्डक ड० ३-१-१)

"श्रुण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा:" " ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:" ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति" रक्षिता जीवलोकस्य" अर्थात् मुण्डक स्मृति में स्पष्ट कहा गया है कि— अनादिकाल से इस शरीररूप वृक्ष पर दो सुनहलें पंखों वाले परस्पर के मित्र पक्षी चिपक कर बैठे है (ब्रह्म और जीव) उनमें से एक अर्थात् जीव नामक पक्षी इस पीपल वृक्ष के फल को स्वाद लेकर के खा रहा है और दूसरा अर्थात् ब्रह्म फल

न खाता हुआ भी साक्षी वना हुआ सव ओर से सुशोभित हो रहा है। श्रुति ने बहुत स्पष्ट करते हुए कहा, कि हे अमृत अर्थात् परमात्मा के पुत्रों ! सुन लो, इसी प्रकार सम्पूर्ण स्मृतियों की शिरोमणि श्रीमद्‌भगवद् गीता के पुरुषोत्तम योग में भगवान् श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कह कि— यह जीव मेरा सनातन अंश है और ज्ञान निष्ठा का उपसंहार करते हुए अठारहवें अध्याय के अन्त में यह भी कहा कि— हे अर्जुन ! ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में अन्तर्यामी रूप में विराजमान रहते हैं। श्री वाल्मीकीय रामायण में भी देवर्षि नारद महर्षि वाल्मीकी जी से कहते हैं कि भगवान् राम सम्पूर्ण जीव लोक के रक्षक हैं। इसीप्रकार श्रुतियों और स्मृतियों में और भी अनेक प्रमाण हैं जिनसे जीव और ब्रह्म का स्वरूपतः भेद सिद्ध हो जाता है।

"एकत्वमनुपश्यतः" (ईशा०उ० ६) इस श्रुति का अर्थ है अनुकूलता से ईश्वर जीव के सम्बन्ध का निश्चय करते हुए महा पुरुष के जीवन में शोक मोह नहीं होते इसी प्रकार "योसावसौ पुरुषः सोहमस्मि" (ईश उ० १६) इस श्रुति में असु शब्द का प्राण अर्थ है, असौ-असौ इस प्रयोग में नित्य वीप्सयोः इस सूत्र से वीप्सा अथवा नित्य अर्थ में द्वित्व हुआ है। यहाँ सप्तमी उपश्लेष अर्थ में है और पुरुष पद जीवात्मा का वाचक है। अर्थात् संयोग संवन्ध से जो प्रत्येक प्राणी को चिपककर विराजमान है, वह भगवत् किंकर जीवात्मा मैं ही हूँ, मैं शरीर, मन, बुद्धि आदि अनात्म सत्व नहीं। यही यहाँ का वाक्यार्थ है अर्थात् असौ यह अदस् शब्द का प्रथमैकवचनान्त रूप नहीं है प्रत्युत् प्राणवाचक असु शब्द का सप्तमी एक वचनान्तरूप है। इसी प्रकार 'ब्रह्मैवेदं' इस सूत्र में सर्वं यह पद प्रथमा के एकवचन का रूप नहीं है किन्तु सर्वस्मिन् सप्तमी के एकवचन द्वि० विभक्ति को सुपां सुलुक् "सूत्र से सु आदेश उसको भी "अतोऽम्"सूत्र से अमादेश करके सर्वम् यह वैदिक भाषा में सर्वस्मिन् के अर्थ में सिद्ध हुआ। सर्वस्मिन् यानी सम्पूर्णं इस चराचर जगत् में यह ब्रह्म अन्तर्यामी रूप से विराजमान है, 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' का यही अर्थ है। इदं शब्द भी सर्वनाम नहीं प्रत्युत कृदन्त है "अकारः वासुदेवः तस्यापत्यं इः कामः तं इं द्यति खण्डयति इति इदं" अ वासुदेव के अपत्य पुत्र को इ कहते हैं उस इ अर्थात् काम को नष्ट करने वाले परमात्मा को इदं कहते हैं, इस चराचर जगत में कामादि दोषों को नष्ट करने वाले परब्रह्म परमात्मा विराजमान हैं। सर्वस्मिन् ब्रह्म (सव में ब्रह्म है) इस व्याख्यान में गीता पाँच अठारह में प्रयुक्त पाँच सप्तम्यन्त प्रयोग प्रमाण हैं। वहाँ भगवान् कहते हैं विद्या विनय सम्पन्न ब्राह्मण में (१) गौ में (२) हॉथी में (३) कुत्ते में (४) तथा चाण्डाल (५) में विवेकशाली पण्डित लोग समरूप परब्रह्म परमात्मा के ही दर्शन करते हैं। यहाँ समदर्शन का विधान है पर समवर्तन का नहीं, पण्डिताः समदर्शिनः न तु समवर्तिनः इसीलिये रामचरितमानस में भी भगवान् श्री राम लक्ष्मण जी के प्रति ज्ञानी को सर्वत्र ब्रह्मदर्शन का उपदेश करते हैं—

"ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं ।

दीखि ब्रह्म समान सब माहीं ।। मानस ३-१५-७

इसी प्रकार "एकमेवाद्वितीयम्" इस श्रुति में द्वितीय शब्द उपमेयवाची है अर्थात् नहीं है द्वितीय ईश्वर के सदृश उपमेय जिसका उसे अद्वितीय कहते हैं। एक मात्र ब्रह्म ही अद्वितीय अर्थात् उपमारहित है और सभी सद्वितीय अर्थात् उपमाओं से युक्त हैं। इसीलिये गीता ग्यारह तैतालिस में श्री अर्जुन कहते हैं— हे प्रभो ! तीनों लोकों में कोई आपके समान नहीं है तो अधिक कहाँ से होगा इस प्रकार श्रुतियों और स्मृतियों से प्रमाणित जीव ब्रह्म के स्वरूपतः भेद को ही आधार मानकर भगवत् प्रपत्ति अर्थात् परमेश्वर की शरणागति की सैद्धान्तिकता और प्रमाणिकता निश्चित की जाती है। यही भगवत् प्रपत्ति श्री गीता का परम तात्पर्य है। इस तथ्य को शास्त्र और युक्तियों से उजागर करने का प्रयास कर रहा हूँ। प्रपत्ति में प्रपत्ता, प्रपद्य, और प्रपत्ति ये तीन तत्व स्वीकारे गये हैं प्रपद्यते इति प्रपत्ता जो भगवान् को प्रपन्न हो रहा है उस मुमुक्षु जीव को प्रपत्ता कहते हैं यहाँ भगवान् को प्रपन्न हो रहे परम एकान्ती आर्त प्रपत्ता अर्जुन ही हैं, प्रपद्य हैं स्वयं श्री रामरूप श्रीकृष्ण भगवान् जो चित् अर्जुन तथा अचित् नन्दिघोषादि से विशिष्ट होकर विशिष्टाद्वैत ब्रह्म के रूप में विराज रहे हैं।

प्रश्न— प्रपत्ति किसे कहते हैं ? इस जिज्ञासा पर उत्तर दिया जाता है—

अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम् ।
तदेकोपायता याच्ञा प्रपत्तिः शरणागतिः ।।

अर्थात् जहाँ अपना अभीष्ट परमात्मा के अतिरिक्त और किसी कर्ता से सिद्ध होता हुआ न दिखायी दे, इस महाविश्वास के साथ अपने अभीष्ट को पाने के लिये एकमात्र परमात्मा से ही उपाय पूछने हेतु साधक का परमात्मा के पास जाना ही प्रपत्ति है। जैसे— श्री मानस में श्री भरत लाल जी प्रभु श्रीराम से १४ वर्ष की अवधि को पार पाने का उपाय पूछते हैं—

जेहि उपाय पुनि पाय जनि देखे दीनदयाल ।
सोइ सिखि देइय अवधिलगि कोसलपाल कृपाल ।।मा०२-३१३

भरत जी कहते हैं— हे दीनबन्धु जिस उपाय को पाकर चौदह वर्ष बनवास के पश्चात् जीवित रहता हुआ यह सेवक भरत फिर आपके दर्शन कर सके। हे कृपालु कोसलपालु प्रभु श्रीराघव ! चतुर्दशवर्षीय अवधि पर्यन्त काल के लिये मुझे वही सीख दीजिये। यहाँ प्रभु से भरत जी अपने जीने का उपाय पूछते हुए कहते हैं—

कैसे दिन बीति है, यतन बताये जइयो ।
इत कानन उत कोसल नगरी
बिचवा में हम हूँ के झोपड़ी बनाये जइयो।।
कैसे दिन-----

विरह अपारवारिनिधि बूड़त
भरत के अपने किनारे से लगाये जइयो।
कैसे दिन ----

रामभद्र आचार्य जी के प्रभु
छिन-छिन निजविधुवदन दिखाये जइयो।।
कैसे दिन बीति हैं ------

जैसे कि अर्जुन गीता २-७ में "यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे" अर्थात् जो मेरे लिये श्रेय हो वह निश्चित् करके कहिये, इस प्रकार कार्पण्यदोष से स्वाभाव के उपहत होने पर भी भगवान से ही उपायभूत श्रेय की याचना कर रहे हैं यहाँ उनका महाविश्वास बहुत स्पष्ट है। इसीलिये तो उन्होंने श्री द्वारिका में सम्पूर्ण आयुधों से सुसज्जित दस करोड़ वीरों से युक्त नारायणी सेना को छोड़कर एक मात्र निहत मोर पंख धारी भगवान् श्री कृष्ण को ही माँगा और उनके नेतृत्व में पहले ही अपने को विजयी निश्चित कर लिया। वह शरणागति भगवान् के चरणों में अपने स्व का सर्व समर्पण ही तो है, अनुकूलता का संकल्प, प्रतिकूलता का त्याग, भगवान रक्षा करेंगे, इस प्रकार का विश्वास भगवान ही मेरे रक्षक हैं, इस प्रकार गोप्तृत्ववरण कार्पण्य अर्थात् दैन्य आत्मनिक्षेप अथात् भगवान के प्रति अपना समर्पण, इस प्रकार शरणागति के छः भेद विद्वानों ने माने—

"अनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् ।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा ।।
कार्पण्यमात्मनिक्षेपः षड्विधा शरणागतिः ।।

यह शरणागति यद्यपि आगे चलकर उन-उन प्रसंगों में स्पष्ट की जायगी फिर भी यहाँ विषय परिचय के लिये संक्षेप में कही जा रही है—

१. मैं निरन्तर अपने आराध्य भगवान् के स्वभाव स्वरूप और मर्यादा के अनुकूल ही आचरण करूँगा, इस प्रकार साधक के द्वारा निश्चय की हुयी प्रतिज्ञा को ही "आनुकूल्यस्य संकल्पः" इस प्रथम शरणागति का रहस्य समझना चाहिये।
२. अपने आराध्य के स्वभाव स्वरूप और मर्यादा से विरुद्ध अपनी प्रिय से प्रिय वस्तुओं का मन वचन कर्म से सर्वथा त्याग कर देना ही "प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्" यह द्वितीय शरणागति है।
३. मेरे शरण्य सर्व समर्थ भगवान् मेरी सभी विपत्तियों से रक्षा करेंगे ही, इस प्रकार शरणागत के हृदय में जगा हुआ आत्म विश्वास तृतीय शरणागति है। जैसा कि मानस में श्री भरत जी कहते हैं—

यद्यपि जन्म कुमातु ते, मैं सठ सदा सदोष ।
आपुनि समुझि न त्यागि हैं, मोहि रघुवीरभरोस ।।मा०२-१८३।।

४. गोप्तृत्व वरण में "गोप्तृत्वेन वरणम् गोप्तृत्व वरणम्" इस प्रकार तृतीया इस योग विभाग से तृतीया तत्पुरुष समास हुआ है और तृतीया का अर्थ है उपलक्षिततत्त्व। मैं सर्व समर्थ समस्त पापों के दूर करने वाले अप्रमेय बलशाली भगवान् श्रीराम श्रीकृष्ण अथवा श्रीमन्नारायण का अपने रक्षक के रूप में वरणन कर रहा हूँ, इस प्रकार साधक का निश्चयात्मक व्यापार ही चतुर्थ शरणागति है।

५. सर्वशरण्य त्रिलोकीपति भगवान श्रीराग अथवा भगवान् श्रीकृष्ण के समक्ष अपने दोषों का निवेदन ही कार्पण्य नामक पाँचवीं शरणागति है। जैसा कि अलवन्दार में श्री यामुनाचार्य कहते हैं—

न निन्दितं कर्म तदस्ति लोके सहस्रशो यन्न मया व्यधायि।
सोऽहं विपाकावसरे मुकुन्द क्रन्दामि सम्प्रत्यगतिस्तवाग्रे ।। आ० २६

हे मुकुन्द प्रभो ! संसार में ऐसा कोई भी निन्दित कर्म नहीं है, जिसे मैंने हजार बार नहीं किया हो। वही मैं अपने किये हुये उन निन्दित कर्मों के फलभोग के समय असहाय होकर आपके सामने चिल्ला-चिल्ला कर कह रहा हूँ।

६. अपना सव कुछ परमात्मा के श्रीचरण कमल में सौंप देना, यही आत्मनिक्षेप नामक छठी शरणागति है। इसके दृष्टान्त श्रीमद्रामायण एवं श्रीमद्भागवत् तत् तत् प्रसंगो में देखलेने चाहिये। यहाँ मैंने श्लोक बद्ध करके छहों शरणागतियों के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं—

"आनुकूल्यस्य संकल्पे श्री भरतो निगद्यते ।
लक्ष्मणश्चापि विज्ञेयः प्रातिकूल्यस्य वर्जने ।।
रक्षिष्यतीति विश्वासे ह्यङ्गदो राघवाङ्गदः ।
सुग्रीवश्चापि विज्ञेयो गोप्तृत्ववरणे किल ।।
विभीषणस्तु कार्पण्ये अञ्जनानन्दवर्धनः ।
आत्मनिक्षेप इत्येष यद्यप्यत्रैव षड्विधा ।।

इसी के अनुरूप मेरा कवित्वरूपान्तर देखिये —

आनुकूल्य का संकल्प,
राजता भरतजिमि ।
लक्ष्मण में प्रतिकूल्य,
वर्जन लखाता है ।।
रक्षा का विश्वास,
राघवाङ्गद श्री अंगद में ।

गोप्तृत्व वरण तो,
सुकंठ में सुहाता है ।।
कार्पण्य विराजता,
विभीषणमें वायु पुत्र ।
हनूमानमें भी, आत्म निक्षेप सुभाता है ।।
रामभद्राचार्य, छवों विध,
शरणागति के ।
मानस प्रसंगों में, विलोक सुखपाता है ।।

यद्यपि श्री रामानन्दीयकुलकुमुद-कलाधर, और मेरे जीवन के गहनतम अन्धकार को नष्ट करने के लिये प्रात: कालीन सूर्य किरणों के समान दिव्य वचन रचना से सम्पन्न हमारे प्रात:स्मरणीय अभिनव वाल्मीकि श्री गोस्वामी तुलसीदास जी ने गीतावली रामायण के एक ही पद्य में पहले कही हुई छहों विधि शरणागतियों का बड़ा सुन्दर संग्रह प्रस्तुत किया है। आप गीतावली का वह पद्य देखिये तथा उसके पश्चात् मेरे द्वारा किया हुआ उस गीतावली के पद्य का उसी स्वर और राग में संस्कृत रूपान्तर में भी ध्यान दीजिये—

"महाराज राम पहँ जाउँगो।
सुख स्वारथ परिहरि करिहौं सोइ ज्यों साहिबहिं सुहाउँगो ।।
सखागत सुनि बेगि बोलिहैं, हौं निपटहि सकुचाउँगो ।
राम गरीबनिवाज निवाजिहैं, जानिहैं ठाकुर-ठाउँगो ।।
धरिहैं नाथ हाथ माथे एहि तें केहि लाभ अघाउँगो ।
सपनो सो अपनो न कछू लखि लघु लालच न लोभाउँगो ।।
कहिहौं बलि, रोटिहा रावरो, बिनु मोलही बिकाउँगो ।
तुलसी पट ऊतरे ओढ़िहौं, उबरी जूठनि खाउँगो ।।
गीतावली सु० ३०

एतद्रूपान्तरम्—

महाराज राममेष्याम्यहम् ।
त्यक्तसुखस्वार्थः कुर्यां तथा यथा प्रभुं भाष्याम्यहम् ।।
श्रुत्वागतं शरणमाह्वास्यति नितरां व्रीडिस्याम्यहम् ।
रामो मां त्रास्यते दरिद्रं निजनाथं ज्ञास्याम्यहम् ।।
करं धरिष्यति शिरसि राघवोऽतो लाभात्तृप्स्याम्यहम् ।
स्वं स्वप्नवत् कदापि न पश्यन् न लघुनि लोभिस्याम्यहम् ।।

कथयिष्ये तव रोटीप्सुर्विना मूल्यं विक्रेष्याम्यहम् ।।
तुलसी त्यक्तं पटं वसिष्ये जुष्टं समशिष्याम्यहम् ।।

इसी प्रकार कृष्ण चरित्र में भी षड्विध शरणागत पर मेरे संग्रहात्मक श्लोक देखिये—

आनुकूल्यस्य संकल्पे ध्येया गोप्यो हरिप्रियाः ।
उद्धवश्चैव विज्ञेयः प्रातिकूल्यस्य वर्जने ।
रक्षिस्यतीति विश्वासे व्रजस्था सुहृदो हरेः ।
सुदामा धर्मराजाद्या गोप्तृत्ववरणे खलु ।।
कार्पण्ये विदुरः कुन्ती पार्थः प्रियः सखा प्रभोः ।
आत्मनिक्षेप इत्येव यद्यप्यत्रैव षड् विधाः ।।

यहाँ मेरा कवित्त रूपान्तर देखिये—

आनुकूल्य का संकल्प लसता है गोपियों में,
उद्धव में प्रतिकूल्य वर्जन दिखाता है ।
रक्षा का विश्वास राजता है ब्रजबालकों में,
गोप्तृत्ववरण धर्मराज में सुहाता है ।
कार्पण्य विलसता विदुर कृष्णा कुन्ती जू में,
आत्म निक्षेप सखा पार्थ में लखाता है ।
भागवत में लसति छ विध शरणागति,
रामाभद्राचार्य को रहस्य यह भाता है ।।

अर्जुन के करुण निवेदन में ही गीता २-७ में पूर्वोक्त छहों शरणागतियाँ विराज रहीं है। उन्हें श्रेष्ठ विद्वज्जन उसी श्लोक में समझा सकते हैं। वहुत क्या कहें किसी भी सिद्धान्त के ग्रन्थ तात्पर्य के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिये और तात्पर्य निर्णय के निश्चयीकरण में उसी के अनुरूप उपक्रमोपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद, एवं उपपत्ति इन छः प्रमाणों की सामग्री की अपेक्षा होती है। इसे दर्शनिक भाषा में लिङ्गषट्क कहते हैं। इसके विना कोई भी तात्पर्य के रूप में प्रतिपादित किया हुआ सिद्धान्त शास्त्र ही जिनका सर्वस्व है एसे विद्वानों द्वारा तात्पर्य के रूप में न, ही समझा जाता है और न, ही निर्णीत किया जा सकता है और न, ही विद्वान् कभी उसका आदर करते हैं। जैसे कि—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये।।

सौभाग्य से तात्पर्य निर्णय में स्वीकृत ये छहों प्रमाण श्री गीता के शरणागति तात्पर्य

प्रतिष्ठा में अपना पूर्ण सहयोग दे रहे है और विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुकूल शरणागति का समर्थन भी कर रहे हैं।

जैसे कि ग्रन्थ के प्रारम्भ को उपक्रम और ग्रन्थ के विश्राम को उपसंहार कहते हैं। इन दोनों मे ही ग्रन्थ में निर्णीत तात्पर्य सिद्धान्त की चर्चा होनी चाहिये। संयोग से श्री गीता के उपक्रम रूप २-७ में "शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्" मैं आपका शिष्य हूँ मुझ शरणागत को उपदेश दीजिये इस प्रकार उपक्रम में प्रपत्ति का संकीर्तन करके गीता जी के उपसंहार वाक्य में "मामेकं शरणं व्रज" मुझ परमात्मा की शरण में जाओ इस प्रकार शरणागति की प्रतिष्ठापना में ग्रन्थ का विश्राम हुआ।

विवक्षित तात्पर्य के बार-वार उपदेश को अभ्यास कहते हैं। संयोग से गीता जी में अनेक वार शरणागति का स्मरण किया गया यथा "बुद्धौ शरणमन्विच्छ" गीता २-४९ "निवास: शरणं सुहृत्" गीता ९-१८ "ज्ञानवान् मां प्रपद्यते" गीता ७-१९ "यथामां प्रपद्यन्ते" गीता ४-११ "तमेव शरणं गच्छ" गीता १८-६१।

अज्ञात वस्तु की ज्ञपकता अर्थात् जिसका इसके पूर्व न ज्ञान हुआ हो उसका ज्ञान कराना यही अपूर्वता है। अर्जुन को अवतक शरणागति के रहस्य का ज्ञान नहीं था इसीलिये "शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्" अर्थात् मैं आपका शिष्य हूँ, मुझ शरणागत को अपदेश दीजिये, इसप्रकार समर्पण करने के पश्चात् भी "न योत्स्ये" मैं युद्ध नहीं करूँगा इस प्रकार अपनी अच्छा की स्वतन्त्रता का दर्शन कराकर अर्जुन ने सिद्ध किया कि– उन्हें शरणागति रहस्य का ज्ञान नहीं है। इस अज्ञात शरणागति रहस्यको समझाने के लिये ही भगवान् श्रीकृष्ण को गीताशास्त्र की अवतारणा करनी पड़ी और बार-बार अर्जुन के श्रेय की जिज्ञासा करने पर भगवान् ने शरणागति को ही परमश्रेय के रूप में उपस्थित किया, क्योंकि अर्जुन ने प्रारम्भ में ही गीता २-६ में "यच्छ्रेय: स्यात् "कहकर श्रेय की जिज्ञासा की "येन श्रेयऽहमाप्नुयाम्" गीता ३-२ "यच्छ्रेय एतयो:" गीता ५-१ इत्यादि श्लोकों में श्रेय शब्द की ही बार-बार आवृत्ति की तदनन्तर उपसंहार वाक्य में "मामेकं शरणं व्रज" कहकर भगवान् ने शरणागति को ही ज्ञान कर्म और उपासना के परमश्रेय के रूप में शरणागत को ही भगवान् श्रीकृष्ण ने निर्णीत किया, यही इसकी अपूर्वता है।

फल – माया महानदी का पार करना ही चरम फल है और यह केवल शरणागति से सम्भव है, अन्य किसी भी साधन से नहीं इसीलिये गीता ६-१४ में भगवान् ने स्पष्ट कहा "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते" जो मेरी शरण में आते हैं वो इस माया को तर जाते हैं यहाँ एव का 'मां' तथा 'ते' इन दोनों शब्दों से जुड़ेगा अर्थात् जो अन्य देवताओं को छोड़ कर मेरी ही शरण में आते हैं वे ही इस माया को तरपाते हैं दूसरे नहीं यही इसका चरम फल है।

स्तुतिपरक वचन को अर्थवाद कहते हैं। जिसको तात्पर्य रूप में निश्चित किया गया

हो। यदि तात्पर्य ग्रन्थ में उसके अनुकूल प्रशंसापरक वचन उपलब्ध हों तब उसे अर्थवाद समझना चाहिये। संयोग से गीता जी में शरणागति की बहुत प्रशंसा की गयी है, यहाँ तक कि शरणागति से ही गीता १८-६२ में शान्ति की प्राप्ति और उसी से गीता १८-६६ में सम्पूर्ण पापों से मुक्त कराने की बात कही गयी है, यह सबसे बड़ा अर्थवाद है।

उपपत्ति – तात्पर्य के रूप में अपने स्वीकृत सिद्धान्त के प्रति पक्षपात पूर्ण अनुकूल युक्ति को उपपत्ति कहते हैं। गीता १८-६४ में भगवान् ने "सर्वं गुह्यतमं" वचन की प्रतिज्ञा करके शरणागति का उपदेश करके उसी को कर्म उपासना और ज्ञान से भी अधिक गोपनीय तत्त्व के रूप में स्वीकारा। उत्तरार्ध में "इष्टोऽसि मे" तुम मेरे इष्ट हो इसलिये मैं तुम्हारे लिये हितकर वचन ही कहूँगा, इस प्रकार संकल्प करके "मामेकं शरणं व्रज" इस वाक्य से भगवान ने परमेश्वर शरणागति को ही सबसे बड़ी हितैषी के रूप में निर्णीत किया। इसी प्रकार अर्जुन ने भी गीता १८-७३ में 'करिष्ये वचनं तव' कहकर परमेश्वर शरणागति को ही गीता जी का परम तात्पर्य मानकर उसी को अपनी सम्मति से अनुगमन की स्वीकृति देदी। नहीं तो ऐसा भी कह सकते थे कि— मैं आप से प्रेरित होकर युद्ध करूँगा। इसलिये शरणागति ही उपपत्ति के साथ गीता के तात्पर्य रूप में अर्जुन ने भी स्वीकार लिया। इस प्रकार छहों प्रमाणों के आधार पर शरणागति ही गीता जी का तात्पर्य निर्णीत हुयी। मैं भी इसी प्रपत्ति अर्थात् शरणागति को भगवान् श्रीसीताराम जी का कृपा प्रसाद बल प्राप्त करके तथा जगद्गुरुश्रीमदाद्यरामानन्दाचार्य तुलसी हर्षवर्धन श्री तुलसीदास जी महाराज एवं पूर्वाचार्य श्रीवैष्णव जन तथा सद्गुरुदेव के शुभाशीर्वादों के राशि के संबल का अधिकार पूर्वक आश्रय लेकर शास्त्रीय युक्ति एवं प्रतिभा बल के आधार पर गीताजी के प्रत्येक अध्याय में स्फुरित करते हुए प्रपत्तियोग को ही तात्पर्य मानकर गीताशास्त्र की व्याख्या करने का प्रयास करूँगा। यही श्रीराघवकृपाभाष्य की अवतरणिका है।

●

।।श्रीमद्राघवो विजयतेतराम्।।
।।श्रीमते रामानन्दाचार्याय नमः।।

"अथ प्रथमोऽध्यायः"

अब प्रथमाध्याय का प्रारम्भ होता है इसे अर्जुन विषाद योग नाम से कहा गया है। शङ्का स्वाभाविक है कि विषाद योग कैसे बना और मङ्गलाचरण के रूप में उपस्थित प्रथमाध्याय में विषाद का प्रवेश कैसे तथा विषाद के आने पर यह मङ्गलत्व सुरक्षित कैसे रहा इसका उत्तर यह है कि वस्तु जब तक भगवान् से नहीं जुड़ती तभी तक उसमें मङ्गल का अभाव रहता है जो भी भगवान् को निवेदित किया जाता है वह प्रसाद बन जाता है जैसे मीरा जी का विष प्रभु को निवेदित होकर प्रसाद अमृत बन गया उसकी मारण शक्ति समाप्त होगयी।

अस्तु जीव और ब्रह्म में यही तो अन्तर है जीव के पास विषाद होता है और भगवान् के पास प्रसाद होता है जीवात्मा अर्जुन का विषाद भगवान् से जुड़ा "विषीदन्निदमब्रवीत्" गीता १-२८ भगवान् से जुड़कर यह विषाद प्रसाद बन गया गीता १८-७३ में अर्जुन स्वयं कहते हैं आपके प्रसाद से मेरा मोह नष्ट होगया मेरी खोयी हुयी स्मृति लौट आयी "नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत" गीता १८-७२ इसलिये विषादयोग भगवत् प्रसाद के पूर्व पीठिका होने के कारण मंगलाचरण ही है अथवा विषाद शब्द विष और अद इन दो शब्दों से बना है विष उपपद और अद् धातु से पचादित्वात् अच् प्रत्यय हुआ इसका विग्रह होगा "अर्जुनस्य विषं मोहात्मकं अत्ति खादति इति अर्जुनविषादः सचासौ योगश्च इति अर्जुनविषादयोगः" अर्थात् प्रथमाध्याय में वह योग है जिसने अर्जुन के मोहात्मक विष को खा लिया तथा उन्हें कृपा प्रसाद से उपस्थित श्री गीतामृत पिलादिया अब प्रथमाध्याय के श्रीराघवकृपाभाष्य का मङ्गलाचरण किया जाता है –

> क्वचित् गीतां गायन् क्वचिदथ नयन् फाल्गुनरथम्।
> क्वचिच्छ्रान्तान् बाहान् करसरसिजाभ्यां परिमृशन्।।
> क्वचित् पार्थान् पुष्णन् क्वचिदथ जिघांसन् कुरुभटान्।
> कुरुक्षेत्रे कृष्णः कृतललितलीलो विजयते।।

श्री कुरुक्षेत्र में श्रीगीता का गान करते हुये तो कहीं सारथी बनकर अर्जुन का रथ हांकते हुये, कहीं थके माँदे अर्जुन के घोड़ों को अपने कर कमलों से सहलाते हुये, कहीं पाण्डवों का पोषण करते हुये, तो कहीं कौरव भटों को मारने की रणनीति बनाते हुये, ऐसे ललित लीलायें करने वाले कुरुक्षेत्र बिहारी भगवान् श्रीकृष्ण की जय हो। अब भगवान् श्रीराम का भजन करते हुये प्रकृत का अनुसरण कर रहे हैं अर्थात् मूलग्रन्थ की व्याख्या का शुभारम्भ करते हैं।

अब समस्त शास्त्रार्थ स्वरूप श्री वेदान्त के तात्पर्य शरणागति से सुशोभित तथा जिसमें भगवान के वचनरूपअमृत बिन्दुओं से पण्डित महानुभावों का पालन पोषण हुआ है ऐसी चिदचिद्विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त से युक्त सर्वथा निन्दारहित ब्रह्मविद्या श्रीमद्भगवद्गीता

के प्रथमाध्याय का अधिकारी की पात्रता का निरूपण करने के लिये याज्ञवल्क्य जनक सम्वाद की भाँति ब्रह्मविद्या की प्रशंसा करने के लिये भी ४७ अनुष्टुप् श्लोकों में अवतारणा की जा रही है।

इस गीता शास्त्र में 'श्री भगवानुवाच' कहकर जो भगवत् सम्बन्धी श्लोक कहे गये है उनकी रचना वेदाव्यास ने नहीं की है प्रत्युत योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णा ने ही उन्हें छन्दोवद्ध करके कहा है व्यास जी नें तो केवल अपनी सर्वज्ञ प्रतिभा से पुष्पों की भाँति चुनकर महाभारत के बीच में गूँथ दिया है इसीलिये अभियुक्त लोग कहते भी हैं "व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्ये महाभारतं" अर्थात् पुराणों के रचयिता वेदव्यास जी ने इसे महाभारत के मध्य गूँथा। इन श्लोकों की संगत के लिये ही वेदव्यास जी ने कुछ श्लोकों की रचना की जिससे इनकी प्रासंगिकता समझ में आ जाय श्रीगीताजी में भगवान् श्री कृष्ण के द्वारा कहे हुये श्लोक वेदव्यास की रचना नहीं हैं इस तथ्य में क्या प्रमाण है ?

उत्तर – भीष्मपर्व गीतामाहात्म्य में कहा हुआ वेदव्यास जी का वचन ही प्रमाण है भगवान् वेदव्यास स्वयं स्वीकारते हैं कि मैंने श्रीमद्भगवद्गीता की रचना नहीं की ये तो स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के मुख कमल से मकरन्द रस की भाँति अकस्मात् प्रकट हो गयी हैं मैने इन्हें महाभारत में मणियों की भाँति पिरोभर दिया है–

"गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिः सृता ।

(महाभारत भीष्मपर्व ४३-४)

इसी संसार कूप को नष्ट करने वाली श्रीकृष्णार्जुन संवादरूप ब्रह्मविद्या की आख्यायिका श्री श्रीमद्भगवद्गीता को हस्तिनापुर के राजभवन में श्री वेदव्यास की कृपा से दिव्य दृष्टि प्राप्त करके धृतराष्ट्र के सारथी संजय दोनों प्रकार से अर्थात् बाहर एवं भीतर दोनों ही दृष्टियों से अन्धे द्वेषरूप अग्नि के भार बने हुये धृतराष्ट्र के समक्ष आँखो देखा हाल कहते हुये अवतारित करते हैं, बिना पूछे किसी से कुछ नहीं कहना चाहिए "न पृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्"इस शास्त्रीय मर्यादा की रक्षा करने की इच्छा करते हुये संजय के उत्तर के पूर्व श्री वैशम्पायन जनमेजय के प्रति धृतराष्ट्र के प्रश्न की अवतारणा करते हैं।

"धृतराष्ट्र उवाच" धृतराष्ट्र ने पूछा **रा०कृ०भा० सामान्यार्थ**— धृतराष्ट्रः उवाच यह पदच्छेद है। उवाच यहाँ परोक्ष में लिट् लकार हुआ है यहाँ ब्रू धातु के स्थान पर आर्धधातुक की विवक्षा में "ब्रुवो वचिः" इस सूत्र से वचादेश हुआ चूँकि अम्बिकापुत्र धृतराष्ट्र दृष्टिहीन हैं और साथ ही साथ पुत्र की ममता में उसके ज्ञान को दबा रक्खा है अतएव धृतराष्ट्र के जीवन में सब कुछ परोक्ष अर्थात् आँखो से ओझल था इसलिये उवाच यह परोक्षार्थक लिट् लकार का प्रयोग धृतराष्ट्र की मानसिकता का बड़ा ही जीवन्त चित्रण है। धातुयें अनेकार्थक होती हैं "अनेकार्था हि धातवः" इस नियम के आधार पर यहाँ

ब्रुव धातु का भाषण नहीं अपितु प्रश्न अर्थ होगा। सामान्य रूप से उवाच का अर्थ होता है बोलना जैसे रामः उवाच सीता उवाच श्रीराम बोले श्री सीताजी बोलीं परन्तु यहाँ धृतराष्ट्र उवाच का अर्थ है धृतराष्ट्र ने संजय से पूछा।

धृतराष्ट्रो ह्याम्बिकेयो हतराष्ट्रो युधिष्ठिरः ।
तयोर्विवादे सङ्ग्रामो धर्माधर्मजुषोरिह ।।

यहाँ अम्बिकापुत्र धृतराष्ट्र सही माने में धृतराष्ट्र हैं धृतं राष्ट्रं येन स धृतराष्ट्रः अर्थात् जिनके द्वारा राष्ट्र की सारी भोग सम्पदा अपने और अपने पुत्रों के लिये तिजोड़ीबन्द घर में रक्खी गयी है उधर युधिष्ठिर हतराष्ट्र हैं "हतं राष्ट्रं यस्य तथाभूतः" अर्थात् युधिष्ठिर का राष्ट्र और उनका राष्ट्रीय अधिकार उनसे वलपूर्वक छीन लिया गया है इस प्रकार धृतराष्ट्र और हतराष्ट्र के बीच सत्ता के निजीकरण और विकेन्द्रीकरण के प्रश्न पर दोनों के बीच विवाद है और वही इस महाभारत संग्राम का कारण बना जहाँ पाण्डव धर्म पक्ष का आश्रय लेकर अधर्म पक्षधर कौरवों के साथ युद्ध कर रहे हैं वहीं कौरव अधर्म का सहारा लेकर धर्मिक पाण्डवों से युद्ध कर रहे हैं। यह शास्त्र आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा अधिभौतिक इन तीन दृष्टियों से सिद्धान्तों की व्याख्या करने के लिये प्रस्तुत हुआ है यहाँ आध्यात्मिक दृष्टि से श्री अर्जुन श्रीमत् अनन्त गुणगुणों के आकर श्री शरणागत वत्सल कमललोचन भगवान् श्रीकृष्ण के नित्य किंकर एवं नित्य सेवाधिकार प्राप्त करके भी राजीव लोचन श्रीकृष्ण की लीला के लालित्य अर्थात् मधुरिमा का आनन्द लेने के लिये ही संसार में पड़े हुए मुमुक्षु जीवात्मा का अभिनय कर रहे हैं वस्तुतः अर्जुन को शोक मोह कुछ भी नहीं है वे तो भगवान् के नित्य किंकर हैं उन्हें प्रभु की नित्य सेवा भी मिली हुई है।

कुरुक्षेत्र यह संसार ही है "कुर्वन्तीति कुरवः जीवाः तेषां क्षेत्रं निवासस्थानं इति कुरुक्षेत्रं" अर्थात् जो कर्म करते हैं उन्हीं कर्म बद्ध जीवों को अध्यात्म की भाषा में कुरु कहा जाता है। उन्ही का क्षेत्र अर्थात् निवास स्थान होने से यह संसार कुरुक्षेत्र के नाम से जाना जाता है। क्षियन्ति निवसन्ति यस्मिन् तद् क्षेत्रम्" क्षी धातु का निवास अर्थ है जिसमें कर्म बद्ध जीवों का निवास होता है वही क्षेत्र है। इस कुरुक्षेत्र की जाबालोपनिषद् और शतपथ ब्राह्मण में बड़ी महिमा गायी गयी है जैसे कि जावालि श्रुति में बृहस्पति जी याज्ञवल्क्य से कहते हैं कि यह कुरुक्षेत्र देवताओं का यजन स्थान है और परमेश्वर की पूजास्थली है भगवान् श्रीकृष्ण ने कुरुक्षेत्र में गीता गान किया जिससे दार्शनिक जगत् की अलौकिक पूजा हुई सम्भवतः ब्रह्मयजन से श्रुतिका यही अभिप्राय है। शतपथ ब्राह्मण में भी कुरुक्षेत्र को देवयजन कहा गया है यहाँ उदाहरणार्थ "बृहस्पतिरुवाच याज्ञवल्क्यं यदनुकुरूक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्म सदनम्" इति जाबाल श्रुतेः "कुरुक्षेत्रं वै देवयजनम्" इति शतपथश्रुतेश्च। गोस्वामि तुलसीदास जी भी पाप पुण्यमय इस शरीर को क्षेत्र मानते हैं उनकी दृष्टि में इच्छा संकल्प ही कृषक है जो कर्म प्रारम्भ रूप बीज बोता है। पाप और पुण्य दानों बीज हैं जैसे-

तुलसी यह तन खेत है मनसा भयउ किसान ।
पाप पुण्य दोउ बीज हैं बुवै सो लुनै निदान ।। वैराग्यसंदीपिनी७

"वैराग्यसंदीपिनी" यहाँ शरीर ही रथ है सब को आनन्दित करने वाला भगवान् का नाम, रूप लीला धाम का संकीर्तनात्मक घोष जिसमें होता रहता है उसी को नन्दयतीति इति नन्दी, नन्दी घोषः यस्मिन् स नन्दिघोषः। इस पर मेरा रचित श्लोक देखिये –

''यस्मिन्मुकुन्दस्य च शार्ङ्गधन्वनो,
नाम्नां च रूपस्य मनोजमोहिनः।।
लीलारसं धाममयं च कीर्तनम्,
सनन्दिघोषः कथितो नृविग्रहः।।

इस पर मेरा कविता में रूपान्तर देखिये –

जामे श्यासुन्दर मनोज्ञ यदुनाथ जूको,
आठों याम नाम अभिराम मन भायो है।।
जामें कोटि काम मनमोहन मुकुन्द जूको,
रूपरस लागि नित नैन ललचायो है।।
जामें नित लीला रस रसिक सिरोमनि को,
जामें हरिधाम चारु कीर्तन सुहायो है।
सोई नन्दिघोष नर विग्रह कहत बुध,
गिरिधर प्रभु हाँकि चपरि चलायो है।।

उसी नन्दिघोष रथपर मुभुक्षु प्रत्यगात्मा का अभिनय करते हुये श्री अर्जुन रथी हैं और बुद्धि के स्थान पर बुद्धिमानों के मुकुटमणि भगवान् श्रीकृष्ण ही सारथी हैं, निर्मल इन्द्रियाँ ही घोड़े तथा मन ही लगाम है जैसा कि कठोपनिषद् में कहा गया है–

''आत्मनं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च ।
बुद्धिं च सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ।।
इन्द्रियाणि हयानाहुः विषयास्तेषु गोचराः ।।
(क.नि. ३-१-३)

सवैया– आत्माथी युतज्ञान विवेक,
शरीर रथो अति चारु सुहायो ।
बुद्धि सुसारथि रश्मि भयो मन,
इन्द्रिय से है वेग बढ़ायो ।।
गोचर घास विषय पुनि पाँचहुँ,

जीव विलोकि जिन्हैं ललचायो।
गिरधर ईस भजे अनुकूलहि,
भक्ति बिना तिन नाच नचायो।।

इस प्रकार मुभुक्षु जीवात्मा अर्जुन तथा परमात्मा श्रीकृष्ण के प्रपत्तियोग श्रीगीता जी का ज्ञानचक्षु से साक्षात्कार करके पराशरनन्दन वेदव्यास जी ने ७०० श्लोकों में गीताशास्त्र को निबद्ध किया। उनमें प्रथम श्लोक से राजा धृतराष्ट्र अपने पुत्र के विजय की जिज्ञासा से व्याकुल चित्त होकर धर्मक्षेत्र इत्यादि शव्दावली से सामने ही बैठे हुये संजय से प्रश्न करता है–

"धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय।।गी०१।।

हे संजय धर्मक्षेत्र इस कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से युक्त होकर इकट्ठे हुय मेरे पुत्र दुर्योधनादि तथा युधिष्ठिर आदि पाण्डु के पाँचो पुत्रों ने क्या किया।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ :— धर्मक्षेत्रे शब्द में षष्ठी तत्पुरुष हुआ है क्षेत्र शब्द का अर्थ निवास है इसलिये इसका अर्थ होगा धर्म के क्षेत्र में कुरुवों का क्षेत्र ही कुरुक्षेत्र है, युद्ध की इच्छा वालों को युयुत्सु कहते हैं। "योद्धुं इच्छन्ति इति युयुत्सवः" 'सनाशंसभिक्ष उः' पा० अ० ३/२/१६८ इस सूत्र से सन्नन्त युयुत्स शब्द से उ प्रत्यय हुआ। "मम इमे मामकाः" इस विग्रह में 'तवकममकावेकवचने पा० अ० ४/३/३ इस सूत्र से ममक आदेश तथा तस्यापत्यं से अण्-प्रत्यय हुआ। पाण्डु के पुत्रों को पाण्डव कहते हैं जिसने राग द्वेषादि को जीत लिया है उसे संजय कहते हैं। अपने दुष्ट पुत्र दुर्योधन के विजय की अभिलाषा से युक्त होकर धृतराष्ट्र जानना चाहता है कि हे संजय युद्ध की इच्छा करते हुये मेरे पुत्र दुर्योधनादि तथा पाण्डु पुत्र युधिष्ठिरादि धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में इकट्ठे होकर क्या किये ?

व्याख्या— युद्ध प्रारम्भ कर दिये अथवा धर्मभूमि कुरुक्षेत्र के प्रभाव से दुर्योधन की बुद्धि में कोई परिवर्तन आ गया जिससे युधिष्ठिर को राज्य दे दिया अथवा युधिष्ठिर को ही धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र के प्रभाव से वैराग्य आ गया हो। अतः इन विषम सम्भावित परिस्थितियों में क्या हुआ इस प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर दो क्या सात्विक बुद्धि से सम्पन्न पाण्डव दुर्योधन को राज्य देकर फिर वन-को चले गये ? इसी गुप्त अभिप्राय को प्रगट करने के लिये 'किमकुर्वत' का प्रयोग किया अर्थात् कौरव और पाण्डवों ने अपने लिये क्या किया "कथं युद्धं आवर्तयन्" कैसे युद्ध किया यह प्रश्न नहीं किया क्योंकि धृतराष्ट्र की दृष्टि में युद्ध ही सन्दिग्ध था तो फिर उसके सम्बन्ध में धृतराष्ट्र संजय से क्यों पूछने लगा। 'मामकाः' शब्द का प्रयोग करके धृतराष्ट्र ने पाण्डवों की अपेक्षा अपने पुत्रों में अधिक ममता दर्शायी। इसके पश्चात् 'पाण्डवाश्चैव' यह कहते हुये पाण्डवों के प्रति ममता

की शून्यता अर्थात् स्नेह का अभाव सूचित किया।

'अकुर्वत' इस आत्मने पद के प्रयोग से यह सूचित किया कि इस संग्राम में जो भी शुभाशुभ परिणाम होंगे उनके फलभोक्ता कौरव और पाण्डव बनेंगे। क्योंकि क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर ही अकारानुबन्धक कृ धातु से आत्मने पद होता है। अब इस श्लोक का आधिदैविक ढंग से व्याख्यान किया जा रहा है यादव और कौरव वे दोनों देवताओं के अंश हैं उनमें से कौरवों में भी पाण्डव और धृतराष्ट्र पुत्रों में दैवीगुणों की न्यूनता और अधिकता के तारतम्य से विरोध होना स्वाभाविक है। प्रायशः बहुत से देवता देवयोनि में जन्म लेकर भी असुरों का पक्ष लेते हुए देखे जाते हैं। जैसे शुक्राचार्य देव होकर भी दैत्यों के गुरु हैं। इसी प्रकार धृतराष्ट्र आदि में देव अंश बहुत कम और असुर अंश बहुत अधिक है और पाण्डवों में पूर्ण देवभाव है उनमें आसुरभाव है ही नहीं इसलिये उनका कौरवों से विरोध बना रहता है। चूँकि पाण्डव दैवी सम्पत्ति के साथ उत्पन्न हुये हैं इसीलिये वे धार्मिक और सज्जन हैं तथा कौरव अर्थात् धृतराष्ट्र पुत्र घोर रौरव प्रकृति वाले तथा आसुरप्राय हैं इसलिये इन दोनों के बीच हुआ महाभारत का संग्राम पुराण प्रसिद्ध देवासुर संग्राम की पुनरावृत्ति ही है।

देवताओं के पक्षपाती होने के कारण भगवान् श्रीमन्नारायण वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण देवराज इन्द्र के अंश श्री अर्जुन के सारथी बने परन्तु कलियुग के प्रभाव से भग, वसु, सूर्य आदि कुछ देवताओं ने धृतराष्ट्र, भीष्म, और कर्ण के रूप में आकर साक्षात-कलिकाल रूप दुर्योधन का साथ दिया दुर्योधनः कलेरंशः।

इसलिये यह युद्ध अत्यन्त विलक्षण था। इसलिये इस युद्ध में आसुरभाव को प्राप्त किये हुये नेत्रहीन अभागा था जो धृतराष्ट्र के रूप में अवतरित हुआ उसका अपने पुत्र दुर्योधन की विजय कामना की परवशता के कारण किमकुर्वत अपने लिये क्या किया यह प्रश्न बहुत स्वाभाविक है।

आधिभौतिक दृष्टि से धृतराष्ट्र विचित्रवीर्य की ज्येष्ठ सन्तान है माता के व्यतिक्रम के कारण नेत्रों के चले जाने से राज्य शासन के लिये अयोग्य होता हुआ भी संयोगवशात् पाण्डुमहाराज के बनवासी हो जाने पर फिर राजा बन बैठा अब वह क्रूर अधार्मिक तथा राज्य शासन के लिये सर्वथा अयोग्य अपने पुत्र दुर्योधन को ही अपना उत्तराधिकारी बनाना चाह रहा था इसलिये वर्तमान श्लोक के परिप्रेक्ष्य में धृतराष्ट्र पाण्डवों का वनवास एवं दुर्योधन का विजय समाचार सुनने की कामना से ही संजय से पूछ बैठा धर्मक्षेत्र इत्यादि।

हे संजय धर्मभूमि कुरुक्षेत्र के सेवन से धार्मिक बुद्धि प्राप्त करके यदि दुर्योधन ने युद्ध न करके युधिष्ठिर को राज्य दे दिया तो बहुत बड़ा अनर्थ हो जायगा। यदि कदाचित् धर्मक्षेत्र की महिमा से युधिष्ठिर आदि पाण्डव ही परमधार्मिक होकर युद्ध का विचार छोड़कर मेरे पुत्र दुर्योधन को राज्य दे दिये हों तो मेरे लिये बहुत हर्ष की बात होगी पाण्डवाः शब्द

का अभिप्राय यह है कि जैसे मुझे राज्य देकर पाण्डु वनवास चले गये उसी प्रकार पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर आदि को भी मेरे पुत्र दुर्योधन को राज्य दे कर वन चले जाना चाहिये तभी तो उनका पाण्डुपुत्रत्व चरितार्थ होगा। यही यहाँ 'पाण्डवा:' शब्द में कुटिल हृदय धृतराष्ट्र की काकुवक्रोक्ति छिपी हुयी है। 'च' से अन्य राजाओं का समुच्चय है 'एव' कार निश्चयात्मक है अर्थात् कौरव और पाण्डव के साथ उनकी सहायता के लिये युद्ध में आये हुये अन्य राजाओं के भी निश्चित कार्यक्रम बताओ। यही 'च' तथा 'एव' शब्द का हार्द है।

यह श्रीमद्भगवद्गीता सम्पूर्ण वेदमयी हैं "समाप्तिकामो मंगलमाचरेत्" अर्थात् ग्रन्थ समाप्त करने की कामना करने वाले कृती को मंगलाचरण करना चाहिये इस प्रकार मंगलाचरण वेद विहित प्रणोदना अर्थात् परम कर्तव्य है। इसलिये सर्वशास्त्र शिरोमणिगीता में भी प्रारम्भ में मंगलाचरण है इस पर यह कहना चाहिये कि श्रीमद्भगवद्गीता के प्रारम्भ में धर्म शब्द का उच्चारण करके वेदव्यास जी ने परममंगलाचरणकर लिया है। धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र धर्म शब्द परम मंगलवाचक है क्योंकि यह भगवान् का नाम है ततश्च धर्मोऽन्तरितो महात्मा" (मं० २-६८-४६) अर्थात् द्रौपदी का विलाप सुनकर धर्मरूप भगवान् ने वस्त्रावतार ले लिया। धर्मो भगवान् इस प्रकार नीलकंठाचार्य ने भी व्याख्या की है श्री विष्णुसहस्त्र नाम ५६ में धर्म भगवान् का नाम कहा गया है "धर्मो धर्मविदुत्तम:" अत: यहाँ धर्म का अर्थ है भगवान् श्री कृष्ण। धृतराष्ट्र का अभिप्राय यह है कि हे संजय धर्मरूप भगवान् श्रीकृष्ण से समलंकृत धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से इकट्ठे हुये मेरे पुत्रों और पाण्डवों ने क्या किया युद्ध अथवा सन्धि। इस प्रकार धर्मरूप श्रीकृष्णचन्द्र के स्मरण से श्रीमद्भगद्गीता का प्रारम्भ किया गया।।श्री।।

संगति– **संजय उवाच**

"दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ।।१/२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— इस प्रकार धृतराष्ट्र के प्रश्न करने पर उत्तर देते हुये संजय बोले-महाराज! वहाँ सब कुछ आपकी आशा के विपरीत हुआ। उस समय व्यूह रचना के द्वारा व्यवस्थित पाण्डवों की विशाल सेना को देखकर आचार्य द्रोण के समीप हीनभावना के साथ जाकर राजा दुर्योधन अनुचित अशिष्ट संस्कार हीन और असह्य वचन बोला।

संजय उवाच- व्याख्या— तु किन्तु तदा उस समय व्यूढं व्यूह रचना से युक्त पाण्डवानीकं पाण्डवों की सेना को दृष्ट्वा देखकर आचार्य आचार्यद्रोण के उपसङ्गम्य समीप जाकर राजादुर्योधन: राजा दुर्योधन अवचनं अनुचित वचन अब्रवीत् बोला इस प्रकार अन्वय हुआ। इस प्राकर पदच्छेद समझना चाहिये। इस प्रकार आन्तर और बाह्य दोनों नेत्रों से अन्धे धृतराष्ट्र के मोह कश्मल से युक्त प्रश्न को सुनकर परम धार्मिक संजय जो कि रागद्वेष

से रहित होने के कारण यथार्थ नाम वाले थे। प्रश्न का उत्तर देने के लिये उपक्रम किये, यहाँ तु शब्द धृतराष्ट्र की धारणा के प्रतिकूल घटना को द्योतित करने लिये प्रयुक्त हुआ है अर्थात् कुरुक्षेत्र में वैसा कुछ भी नहीं हुआ जैसा कि आपने विचार किया है। न, ही, पाण्डव वनवास गये और न, ही, युद्ध विराम हुआ क्योंकि दुर्दैव के परिणाम से आपके पुत्र का स्वभाव सर्वथा विपरीत हो चुका है और उसी दुर्दैव ने उसके धर्माधर्म विवेक को नष्ट कर दिया है उसका फलस्वभाव प्रकृति से दुर्निवार्य है इसी बात का संकेत करने के लिये यहाँ दुर्योधन शब्द का प्रयोग करते है वह दुर्योधन है दुष्टं योधयति इति दुर्योधनः युद्ध में जो दुष्टता करता है धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में भी उसने धर्म बुद्धि को स्वीकार नहीं किया। किन्तु उस समय युद्ध को ही परमधर्म निर्णय करके पाण्डव तथा अन्य सभी राजा योद्धाओं के व्यवस्थित हो जाने पर व्यूढं अर्थात् पाण्डव सेनापति धृष्टद्युम्न द्वारा शकटादि विविध व्यूहों में व्यवस्थित की हुई पाण्डवानीकं पाण्डवों की सेना को अब अनी शब्द की व्याख्या की जाती है "अनुकम्पिता श्रीकृष्णेन कृपा दृष्ट्यैव दत्तविजयकीर्तिः इत्यनीकं" भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा अपनी कृपा दृष्टि से ही अनुकम्पा करके युद्ध के पूर्व ही जिसे विजय की कीर्ति प्रदान कर दी गयी है वह अनुकम्पित अनी अनीक है यहाँ अनुकम्पार्थ में कन् प्रत्यय हुआ अथवा अनियों के समूह को अनीक कहते हैं यहाँ बाहुलक से समूहार्थ में कन्, प्रत्यय हुआ पाण्डवों का अनीक अथवा पाण्डवों द्वारा आहूत अनीक अथवा पाण्डवों द्वारा आमन्त्रित अनीक ही पाण्डवानीक है। "पाण्डवामन्त्रितमनीकं पाण्डवानीकं" इस विग्रह में मध्यम पदलोपी तत्परुष समास होगा। "पाण्डवेन समाहूतमनीकं पाण्डवानीकं अर्थात् युधिष्ठिर के द्वारा बुलाई गई सेना, इस विग्रह में भी मध्यम पदलोपी तत्पुरुष समास समझनाचाहिए। "दृष्ट्वा" शब्द का अर्थ चाक्षुष प्रत्यक्ष करके अर्थात् आँखों से देखकर। यहाँ पूर्वकाल में 'त्त्वा' प्रत्यय है अर्थात् दुर्योधन ने पहले पाण्डव सेना को देखा, इसके अनन्तर आचार्य अर्थात् अपने शस्त्रविद्या के गुरु द्रोणाचार्य के समीप गया। उपसङ्गम्य शब्द में उप, सम् इन दो उपसर्गों के साथ जुड़ी हुई गम्लृ धातु से क्त्वा प्रत्यय करके ल्यप् आदेश हुआ है। यहाँ उपशब्द हीनार्थ में प्रयुक्त हुआ है। तात्पर्य यह है कि द्रोणाचार्य के प्रति दुर्योधन को कोई आदर भाव नहीं है। वह उन्हें हीन बुद्धि से देखता है। अब 'उपसङ्गम्य" का अर्थ होगा– द्रोणाचार्य को क्रोध में लाने के लिए या उन्हें अपमानित करने के लिए अपने राजाधिकार से उन्हें अपने से छोटा मानकर अत्यन्त हीन भावना से आचार्य द्रोण को मिलकर राजा दुर्योधन कुछ कहने का मन बना रहा है ऐसा "उपसङ्गम्य" शब्द का भाव है। यहाँ राजा शब्द भी दो विशेष अभिप्रायों को संकेतित कर रहा है "उपसङ्गम्य" अर्थात् राजा दुर्योधन हीन बुद्धि से द्रोणाचार्य के पास जाकर उन्हें प्रणामादि भी न करके कुछ कहना चाहता है।

(२) आपका पुत्र दुर्योधन इतना असभ्य है कि अपने को मिथ्या ही हस्तिनापुर राज्य का शासक मान बैठा है, इसीलिए उसने द्रोणाचार्य को प्रणामादि भी नहीं किया!

अत: कहते हैं –

"राजा बोला, न कि शिष्य" क्योंकि दुर्योधन अपने को आचार्य द्रोण का शिष्य मानता ही नहीं। ऐसे मिथ्याभिमानी गुरुजनों का अपमान करने वाले अपने इस दुष्ट पुत्र के प्रति आपकी विजय की आशा व्यर्थ ही है। इन सब अभिप्रायों का संकेत करने के लिए राजा शब्द का प्रयोग किया गया है। वह कैसा है' इस पर कहते हैं दुर्योधन:, दुष्ट: इव धन: यह अधर्म पूर्वक युद्ध करता है, अथवा युध्यन्ते योधयन्ति वा इति योधना:। इस विग्रह में नन्द्यादित्वात् कर्ता में ल्यु प्रत्यय हुआ। दुष्टा: इव धना: यस्य स दुर्योधन:, अर्थात् दुष्ट बुद्धि वाले दुस्शासन, शकुनि, कर्ण, अश्वत्थामादि खल प्रकृति के लोग ही जिसके सहायक योद्धा हैं वही तो दुर्योधन है। अथवा योधना शब्द भाव व्युत्पत्ति में व्यन्त युद्ध धातु से युच् प्रत्यय करके निष्पन्न हुआ हैं यह क्रिया परक है। "दुष्टा योधना युद्धक्रिया यस्य स दुर्योधन:" जिसकी युद्धक्रिया ही दुष्ट है वह दुर्योधन है। युद्ध के प्रारम्भ में अपने से श्रेष्ठ लोगों तथा गुरुजन से आशीर्वाद लेना चाहिए था, परन्तु जब उसने प्रणाम आदि सामान्य शिष्टाचारों की भी अनदेखी कर दी, तो फिर प्रणाम मूलक आशीर्वादों का प्रश्न ही क्या। यही दुर्योधन शब्द का अभिप्राय है, 'राजा वचनं' इस शब्द में अकार का प्रश्लेष है अर्थात् राजा+अवचनं। यह इस प्रकार शब्द विच्छेद होगा। अब अवचनं शब्द की मीमांसा की जाती है। अनुचितं वचनं अवचनं अशिष्टं वचनं अवचनं, असत्कृतं वचनं अवचनं, अमर्यादं वचनं अवचनं, अभद्रं वचनं अवचनं, अघान्वितं वचनं अवचनं। दुर्योधन वचन नहीं अवचन बोला अर्थात् अनुचित वचन, अशिष्ट वचन, असत्कृत अर्थात् सम्मान रहित वचन, अमर्याद अर्थात् मर्यादा शून्य वचन, अभद्र वचन और पाप से युक्त अवचन बोला। यहाँ दिव्य दृष्टि संजय के द्वारा दुर्योधन के आचरण में जैसी मर्यादा हीनता देखी गयी उसी प्रकार धृतराष्ट्र के प्रति कही गई। यद्यपि धृतराष्ट्र ने प्रथम श्लोक में 'किमकुर्वत संजय" इस वाक्य खण्ड से अपने सारथि को संजय सम्बोधन किया था। परन्तु संजय ने धृतराष्ट्र के प्रति कोई सम्बोधन नहीं किया। यहाँ संजय का अभिप्राय यह था कि आपने ऐसे अधार्मिक और अमर्यादित पापी शिरोमणि पुत्र को उत्पन्न किया है कि जो अपने आचार्यों का सम्मान करना भी नहीं जानता। ऐसे अधार्मिक दुष्ट बेटे का बाप होने से आपके सारे सुकृत समाप्त हो चुके हैं, अत: इस मङ्गलमय गीता जी के प्रारम्भ में आपका अमङ्गलमय नाम लेना भी अश्रेयस्कर ही होगा। इसलिए मङ्गलमय इस गीता के उपोद्घात में आपका नाम लेना भी ठीक नहीं है। अथवा नाम का सम्बोधन करके वक्ता श्रोता को सिद्धान्त श्रवण तथा परिदृश्य का दर्शन करने के लिए अपनी ओर अभिमुख करके उसका ध्यान अपनी ओर ले आता है। परन्तु तुम पुत्रमोह के कारण अपने विवेक नेत्र को खोकर इतने अधिक नीच हो चुके हो कि अब तुममें वास्तविकता को सुनने और देखने की क्षमता ही नहीं रही, इसलिए व्यर्थ सम्बोधन से क्या लाभ। धृतराष्ट्र को न सम्बोधन देने में मुझे संजय का यही अभिप्राय प्रतीत होता है।

यह गीता शास्त्र प्रपत्तियोग का वर्णन है यह बात हम बार-बार कह चुके हैं। उसमें मुण्डकोपनिषद् के प्रथम मुण्डक द्वितीय खण्ड की बारहवीं श्रुति में शरणागति की योग्यताओं का निर्देश है। यथा–

''परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान् नास्त्यकृतःकृतेन''
''तद्विज्ञानार्थं सगुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।।
(मु०उ० २/२/१२ इति श्रुतिः।)

कर्म से निर्मित लोकों की समीक्षा करके कृत अर्थात् अनित्य सांसारिक वस्तुओं से अकृत अर्थात् परमेश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस निश्चय के अनुसार ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मजिज्ञासु को इस अपार संसार-सागर से वैराग्य प्राप्त करके हाथ में समिधा लेकर वेदों के पारङ्गत ब्रह्मनिष्ठ सद्‌गुरु के श्रीचरणों में ब्रह्मतत्त्व के विज्ञान हेतु उपसर्पण करना चाहिए। क्योंकि वेदार्थ वेत्ता ब्रह्मविद् वरिष्ठ ही श्रुति वाक्यानुसार ब्रह्म तत्त्व का ज्ञान करा सकता है। सकल शास्त्रार्थ निष्णात् तथा ब्रह्मनिष्ठ परम भागवत ही सद्‌गुरु हो सकता है। कान फूँकने मात्र से जीव का कल्याण नहीं होता, यही इस श्रुति का अर्थ है। संयोग से यहाँ दुर्योधन में श्रुति विहित परमेश्वर के सभी सद्‌गुणों का अभाव है। इसके द्वारा न तो क्षणभंगुर संसार की कभी समीक्षा की गयी, न ही इसे संसार के विषयों से वैराग्य हुआ, और न ही इसके हृदय में परम ब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण को जानने की इच्छा जागी और दुर्भाग्य से इसको श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्‌गुरु भी नहीं प्राप्त हुए। क्योंकि जिन द्रोण को इसने आचार्य रूप में वरण किया वे धनुर्वेद के तो आचार्य थे पर वे श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ नहीं थे। यदि उन्हें वेदार्थ का ठीक ज्ञान होता, और यदि उनके मन में ब्रह्म के प्रति थोड़ी भी निष्ठा होती, तो भला परब्रह्म परमात्मा, मयूर-मुकुटि भगवान् श्रीकृष्ण के कृपापात्र परम धार्मिक पाण्डवों को छोड़कर अत्यन्त क्रूर नास्तिक स्वार्थ लोलुप अधार्मिक शिरोमणि दुष्ट दुर्योधन का पक्ष क्यों लेते।

इसलिए यह दुर्योधन सब प्रकार से शरणागति में अनधिकारी है। इसके विपरीत श्रीअर्जुन शरणागति में परम अधिकारी हैं। दुर्योधन स्वभाव से दुष्ट होने के कारण अपने आचार्य को ही पाण्डव सेना के निरीक्षण में नियुक्त करता है, "पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्" अर्थात् हे आचार्य ! पाण्डवों की इस विशाल सेना को देखिए पहले स्वयं भी स्थूल दृष्टि से पाण्डव सेना का निरीक्षण करता है, परन्तु श्रीअर्जुन ऐसी भूल नहीं करते वे तो जगद्‌गुरु भगवान् श्रीकृष्ण के निर्देश पर इकट्ठे कौरवों को स्वयं देखते हैं। गीता १/२५-२६ के अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन के रथ को दोनों सेनाओं के बीच में स्थित करके जब अर्जुन से इस प्रकार कहा कि हे पार्थ ! अब इकट्ठे हुए इन कौरवों को देखो तब अर्जुन ने उनका निरीक्षण किया। "तत्रापश्यत् स्थितान् पार्थः" (गीता १/२६)। अर्जुन धनुष बाण छोड़कर भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा समिधा को हाथ में लेकर

भगवान् की शरण में आये, यही उनकी समीत्पाणिता है। "विसृज्य सशरं चापं" (गीता १/४७)। उन्हें संसार से वैराग्य भी हो चुका था। "न कांक्षे विजयं कृष्ण, न च राज्यं सुखानि च।।" (गीता १/३२)। अर्जुन कहते हैं— हे कृष्ण ! मुझे विजय, राज्य तथा सुख नहीं चाहिए। इसलिए गीता १/४५ में उन्होंने स्पष्ट कहा कि हम इतना बड़ा पाप करने के लिए उद्यत हो रहे हैं जो कि राज्य सुख के लोभ में अपने कुटुम्ब का ही वध करना चाहते हैं। अर्जुन ने लोक की समीक्षा भी कर ली थी। उनके हृदय में ब्रह्म जिज्ञासा भी बलवती हो उठी थी। इसीलिए उन्होंने गीता २/७, गीता ३/१ तथा गीता १/५ में श्रेय की जिज्ञासा की, और गीता ११/३१ में स्पष्ट रूप से प्रभु श्रीकृष्ण को जानने का प्रस्ताव किया। हे प्रभो ! आप कृपया बताएं इतना भयंकर उग्ररूप धारण करने वाले आप कौन हैं। हे देववर ! आपको नमस्कार हो। आप मुझ पर प्रसन्न हो जायें। हे आदिपुरुष ! मैं आपको जानने की इच्छा कर रहा हूँ, क्योंकि मैं आपकी प्रवृत्ति अर्थात् प्राकट्य को सूक्षमता से नहीं जान पा रहा हूँ। यहाँ 'विज्ञातुमिच्छामि' इस पद से तद्विज्ञानार्थं (मु.उ. १/२/१२) इस श्रुति का तथा "तद्विजिज्ञासस्व" तै.उ.२/५ इस श्रुति का भी श्रीअर्जुन ने अक्षरसः अनुवाद और अनुगमन किया। और लोग ब्रह्मजिज्ञासा करते हैं, परन्तु श्रीअर्जुन ने ब्रह्म की विजिज्ञासा की।

इस प्रकार श्रीअर्जुन के गुरु भी स्वयं जगद्गुरु श्रीकृष्ण हैं। वे श्रोत्रिय नहीं प्रत्युत श्रोत्रियों के लिए भी दुरासाध्य हैं। वे ब्रह्मनिष्ठ नहीं प्रत्युत् सम्पूर्ण माया की उपाधियों से रहित परिपूर्णतम परब्रह्म परमात्मा हैं। इस प्रकार दुर्योधन जैसा न कोई शरणागति का अनधिकारी है तथा न कोई अर्जुन जैसा अधिकारी। इस प्रकार अनधिकारी तथा अधिकारी में परस्पर सैद्धान्तिक विविधताओं को प्रदर्शित करने की इच्छा से ही भगवान् वेद व्यास ने श्री गीता जी के प्रथमाध्याय का उपक्रम किया। उसमें पहले दस श्लोकों से "दशमावस्थापन्न" अर्थात् निकट भविष्य में आसन्नमरण दुर्योधन की दुर्दशा का वर्णन करके अनन्तर अध्याय पर्यन्त शरणागति के परमाधिकारी श्रीअर्जुन के अधिकार की मीमांसा करते हैं। दुर्योधन की अनधिकारिता का वर्णन करते हुए संजय ने 'दृष्ट्वा' इत्यादि में आचार्य द्रोण के प्रति दुर्योधन के अनौचित्य का वर्णन किया।।श्री।।

संगति— पाण्डव सेनापति धृष्टद्युम्न के द्वारा व्यूढ़ाकार में व्यवस्थित पाण्डवों की सेना को देखकर द्रोणाचार्यजी को प्रणाम किये बिना अपने पराजय का परिणाम सुनिश्चित करके दुर्योधन नव श्लोकों से नव द्वार वाले शरीर की दुर्बलता का वर्णन करते हुए कहता है।

"पश्यैतान् पाण्डुपुत्राणाम् आचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ।।"१।३

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— हे आचार्य धीमता अत्यन्त बुद्धिमान् "तव शिष्येण आपके शिष्य द्रुपद पुत्र धृष्टद्युम्न के द्वारा व्यूढां व्यूहों में खड़ी की हुई "एतां हि महती"

इस विशाल "पाण्डु पुत्राणां' पाण्डु पुत्रों की "चमूम्" सेना को "पस्य" देखिये, यह अन्वयार्थ है।

व्याख्या— दुर्योधन ने आक्रोश में कहा "हे आचार्य" तुम्हारे बुद्धिमान् शिष्य पाञ्चाल नरेश द्रुपद पुत्र धृष्टद्युम्न के द्वारा अनेक व्यूहों में खड़ी की गयी पाण्डवों की इस विशाल सेना को देखो।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— यहाँ प्रत्येक विशेषण का कोई न कोई अभिप्राय है, आचार्य शब्द से दुर्योधन कहना चाहता है, कि हे आचार्य ! आप धनुर्विद्या सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं, परन्तु आपमें बुद्धिमत्ता नहीं है आपसे अधिक बुद्धिमान है धृष्टद्युम्न उसके लिए तीन विशेषणों का प्रयोग किया गया है, धीमता, यहाँ प्राशस्त्य में मतुप् प्रत्यय है 'धी' का अर्थ है बुद्धि, "प्रशस्ता धीः यस्य सः बुद्धिमान्", धृष्टद्युम्न के पास प्रसस्त बुद्धि है, क्योंकि आपको मारने के लिए आपसे ही धनुर्वेद की शिक्षा ली। "द्रुपदपुत्रेण" द्रुपद आपके पूर्व शत्रु हैं, धृष्टद्युम्न उन्हीं का पुत्र है, अर्थात् आपके वध के लिए महाराज द्रुपद ने उसे यज्ञ कुण्ड से उत्पन्न किया है, फिर भी "तव शिष्येण" वह आपका शिष्य है यही तो आपकी मूर्खता है कि आपने अपने ही विनाश के लिए उत्पन्न किये हुए शत्रु पुत्र को धनुर्वेद सिखाया धृष्टद्युम्न की यही धृष्टता है कि वह अपने ही विद्या गुरु के सम्मुख युद्ध करने की सोच रहा है। अतएव इस पर कृपा नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार आपसे ही धनुर्विद्या प्राप्त करके बुद्धिमान् धृष्टद्युम्न के द्वारा यह अनेक व्यूहों में व्यवस्थित की गयी है, "पाण्डु" अर्थात् मेरे चाचा पाण्डु के पाँचों पुत्रों से सम्बन्धित हैं, यद्यपि युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन की माँ कुन्ती हैं। तथा नकुल और सहदेव की माँ माद्री हैं। फिर भी इनमें सौतेले भाई का भाव नहीं है। यही सूचित करने के लिए "पाण्डुपुत्राणां" इस बहुवचन का प्रयोग किया गया है, एक पिता होने से ये एक ही हैं। दो माताओं से जन्म होने के कारण कभी विघटित नहीं हुए।

"पाण्डुपुत्राणां" यहाँ सम्बन्ध में षष्ठी है, अर्थात् इसमें पाण्डु पुत्र प्रतियोगी तथा सेना ही अनुयोगी है, ऐसी पाण्डवों के द्वारा पालित विशाल चमूको देखिये ! चमू शब्द भी एक विशेष अभिप्राय से प्रयुक्त हुआ है। संस्कृत में चमूष् धातु का भक्षण अर्थ है, अर्थात् यह हमारी सेना को खा जायेगी "चमति" प्रतिपक्षसेनां भक्षयति इति चमूः" इसलिए "महतीं अनीम्" नहीं कहा। पाण्डुपुत्रों तथा धृष्टद्युम्न की धृष्टता को प्रकट करके उनके प्रति द्रोणाचार्य को कुपित करने की इच्छा से "पाण्डुपुत्राणां" शब्द का प्रयोग किया। अर्थात् पाँचों पाण्डव एवं धृष्टद्युम्न ये आपके वास्तविक शिष्य नहीं हैं। वास्तविक शिष्य मैं ही हूँ। अथवा "पाण्डुपुत्राणां" इस शब्द का आचार्य शब्द के साथ सम्बन्ध है। यहाँ दुर्योधन का व्यंग्य यह है, कि आप तो पाण्डुपुत्रों के ही आचार्य हैं मेरे नहीं। द्रोण का अन्तरप्रश्न होता है, तो तुम्हारा कौन हूँ इस पर वह आगे कहेगा।

"नायका मम सैन्यस्य" आप मेरी सेना के केवल एक विश्वस्त योद्धा हैं, मेरे पक्ष

से युद्ध करते हुए भी हृदय से आप पाण्डवों की ओर ही हैं। उन्हीं पर आपका पक्षपात है, इस आशय से इस श्लोक का अन्वय बदल गया, दुर्योधन ने कहा "हे पाण्डुपुत्राणां आचार्य" क्या प्रमाण है कि मैं पाण्डु पुत्रों का आचार्य हूँ तेरा नहीं ? इस पर दुर्योधन ने कहा "धीमता तव शिष्येण" यदि आपका पाण्डुपुत्रों पर पक्षपात न होता तो अपने ही विनाश के लिए अत्पन्न किये हुए धृष्टद्युम्न को आप धनुर्विद्या न सिखाते अब अपने ही सौजन्य का परिणाम देखिये कि आपके बुद्धिमान शिष्य धृष्टद्युम्न ने व्यूहाकार में पाण्डवों की सेना को खड़ी कर रखा है। आचार्य द्रोण ने अन्तर प्रश्न किया। तो क्या हुआ धृष्टद्युम्न से पराजित होने में भी मेरी शोभा है। क्योंकि "सर्वत्र जयमिच्छेत् शिष्यात् पुत्रात् पराजयम्" सर्वत्र विजय की इच्छा करनी चाहिए, पर शिष्य और पुत्र से पराजय की ही अभिलाषा रखनी चाहिए। धृष्टद्युम्न से पराजय मेरा आभूषण होगा, इस पर कहता है "द्रुपदपुत्रेण"। वह आपके पूर्व शत्रु द्रुपद का पुत्र है, इसलिए वह आपका शत्रु ही हुआ। पराजय की इच्छा उससे करनी चाहिए, जिसमें पुत्रता और शिष्यता ये दोनों धर्म हैं, उसमें तो शिष्यता के साथ शत्रु-पुत्रता भी है, इसलिए धृष्टद्युम्न से पराजय की इच्छा करनी उचित नहीं। तो क्या भाग जाऊँ ? इस पर बड़ी कुशलता से उत्तर देता है— "तव शिष्येण' आपके भागने का कोई प्रश्न नहीं, क्योंकि वह आपका शिष्य है। गुरु तो गुरु ही रहता है। प्राय: शिष्य में गुरु से अल्प बल होता है, "तो क्या असावधान रहूँ ?" इस पर कहता है नहीं "धीमता"। वह प्रशस्त बुद्धिमान है, "बुद्धिर्यस्य वलं तस्य' आपसे अल्प बल वाला होकर भी अपनी बुद्धिमत्ता से प्रभावी बन सकता है, अत: आप सावधान रहकर ही मेरे पक्ष से युद्ध करें। इस व्याख्यान का अन्वय निम्न प्रकार से होगा। 'हे पाण्डुपुत्राणामाचार्य ! द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता व्यूढां एतां महतीं चमूं पश्य"। हे पाण्डुपुत्रों के आचार्य आपके पूर्व शत्रु द्रुपद के पुत्र और आपके शिष्य बुद्धिमान् धृष्टद्युम्न द्वारा व्यूह में खड़ी की गई इस विशाल सेना को देखिए। और सावधान होकर मेरे पक्ष में युद्ध कीजिए। यह यहाँ गूढ़ अभिप्राय है, जो मुझे श्री राघव कृपा से ही प्राप्त हुआ। इति हार्दम्।।

यहाँ दुर्योधन का यही दुर्भाग्य है कि वह "पाण्डुपुत्राणाम्" इसी प्रयोग से संतुष्ट हो जाता है, उनके नामों का संकीर्तन नहीं कर रहा है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् की योगमाया ही उसे ऐसा करने से रोक रही है जैसा कि वह पाण्डव गीता २८ में स्वयं कहता है— मैं धर्म जानता हूँ, पर उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं होती। मैं अधर्म भी जानता हूँ, पर उससे छूट भी नहीं पा रहा हूँ, क्या करूँ ? अपने हृदय में स्थित किसी अज्ञात देवता के द्वारा जैसा नियुक्त हुआ हूँ, वैसा कर रहा हूँ। वह देवता कलिकाल के अतिरिक्त और कौन हो सकता है, पर यह मूर्ख उसे समझ नहीं पा रहा है। इसका एक कारण है, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन तथा नकुल सहदेव के नाम संकीर्तन के जिन धर्मवर्धन, शत्रुनाश, तेजोवर्धन तथा इन चार फलों का शास्त्रों ने वर्णन किया है। दुर्योधन इनके योग्य है ही नहीं। जैसा कि कहा गया है—

"धर्मो विवर्धति युधिष्ठिरकीर्तनेन,
शत्रुर्विनश्यति वृकोदरकीर्तनेन ।
तेजोविवर्धति धनञ्जयकीर्तनेन,
माद्रीसुतौ कथयतां न भयं नराणाम् ।।

इसीलिए इस पापी दुर्योधन ने पाण्डव नाम संकीर्तन नहीं किया।।श्रीः।।

संगति— अब दुर्योधन "अत्र०" इत्यादि तीन श्लोकों के समुदाय से नाम लेकर पाण्डव पक्ष के मुख्य वीरों का निर्वचन करता है—

"अत्र शूरमहेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ।।४।।"
"धृष्टकेतुश्चेकितानः काशीराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ।।५।।"
"युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ।।६।।"

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— यहाँ तीनों श्लोकों का एक ही अन्वय है।

दुर्योधन द्रोण के प्रति पाण्डव सेना का महत्त्व वर्णन करता हुआ आचार्य को कुपित करने की इच्छा से कहता है। "हे आचार्य" जैसा कि मैंने पाण्डवों के विशाल सेना का संकेत किया है, उसका जिन सत्रह सुभटों के कारण महत्त्व है उन्हें सुनिये और सावधान हो जाइए।

व्याख्या— "हे आचार्य' इस पाण्डव सेना में ऐसे वीर हैं जो युद्ध में भीम और अर्जुन के समान हैं जैसे, सात्यकि, विराट्, उनके उत्तर और शंख नामक दो पुत्र महारथ द्रुपद उनके दोनों पुत्र शिखण्डी तथा धृष्टद्युम्न, धृष्टकेतु, चेकितान, परम पराक्रमी काशीराज, पुरुजित, कुन्तिभोज, तथा मनु श्रेष्ठ शैव्य, परम पराक्रमी युधामन्यु तथा श्रेष्ठ पराक्रमवान् उत्तमोजा, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु, द्रौपदी के पाँचों पुत्र ये सभी शूर श्रेष्ठ धनुष वाले तथा महारथी हैं, "भीमश्च अर्जुनश्च, भीमार्जुनौ ताभ्याम् समाः इति भीमार्जुनसमाः, "भ्रातुर्ज्यायसः" इस वार्तिक के आधार पर भीम शब्द का पूर्व प्रयोग हुआ, युद्ध के विषय में ये भीम और अर्जुन के समान हैं, अर्थात् इनमें भी भीम जैसा गदा पाण्डित्य एवं अर्जुन जैसा धनुर्वेद का कौशल है, "युयुधान" शब्द का अर्थ है सात्यकि विराट् अर्थात् मत्स्यराज धेनुहरण प्रसंग में जिनसे आपका भी परिचय है चकार से विराट् पुत्रों का समुच्चय समझना चाहिए। द्रुपद अर्थात् आपके पूर्व मित्र चकार से धृष्टद्युम्न एवं शिखंडी का समुच्चय है, महारथ शब्द महाभारत के अनुसार लाक्षणिक है। जो दस हजार धनुर्धरों के साथ अकेले युद्ध कर सकता हो, तथा शस्त्र-शास्त्र में कुशल हो उसे महारथ कहते हैं। जो असंख्य

वीरों के साथ युद्ध करता है उसे अतिरथ कहते हैं। एक के साथ युद्ध करने वाला रथी तथा उससे भी कम से करने वाले को अर्धरथी कहते हैं।

यथा – एको दशसहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम् ।
शस्त्र-शास्त्र-प्रवीणश्च, महारथ इति स्मृतः ।।
अमितान्योधयेद्यस्तु संप्रोक्तोऽतिरथस्तु सः ।
रथस्त्वेकेन योद्धोन यो योद्धा तन्यूनोऽर्धरथः स्मृतः ।।

यहाँ भी चकार शिखण्डी और धृष्टद्युम्न का समुच्चायक है।

इसी प्रकार धृष्टकेतु, यहाँ धृष्ट का अर्थ है धर्षणशील तथा केतु का अर्थ है ध्वज, अर्थात् जिसका ध्वज शत्रुओं को धर्षित करके उन्हें कुचल देता है, उसी को धृष्टकेतु कहते हैं। "केतयति यमकेतनान् करोति सः चेकितानः"। जो अपने शत्रुओं को यमराज के भवन भेजता है उसे चेकितान कहते हैं। यह शब्द पृषोदरादिगण में पठित होने से साधु हुआ। काशी के राजा को काशिराज कहते हैं। समासान्त टच् प्रत्यय तथा ङ्यन्त लक्षण ह्रस्व होकर काशिराज शब्द सिद्ध होता है और वीर्यवान् शब्द का अर्थ है प्रशस्त पराक्रमी। पुरुजित् अर्थात् पुरः नगराणि उ निश्चयेन जयति इति पुरुजित्। जो शत्रुओं के नगरों को निश्चय पूर्वक जीत लेता है।

कुन्तिभोज अर्थात् पाण्डवों की माता कुन्ती को जो धर्मतः पिता, तथा नरपुङ्गव अर्थात् मनुष्यश्रेष्ठ महाराज शैव्य, जो युधिष्ठिर के ससुर भी है। शिवे गोत्रापत्यं शैव्यः गर्गादिगण में पठित होने से यञ् प्रत्यय हुआ। शिवि स्वयं अत्यन्त धार्मिक हैं, जिन्होंने कबूतर की रक्षा के लिए अपने शरीर का माँस भी दे दिया था। गोस्वामी तुलसीदासजी ने श्रीरामचरितमानस में इनका दो बार स्मरण किया।

''सिबि दधीचि हरिचंद कहानी ।
एक-एक सन कहहिं बखानी'' ।।

श्रीरामचरितमानस २।४७।५

''सिबि दधीचि हरिचंद नरेसा ।
सहेरधम हित कठिन कलेसा ।।

श्रीरामचरितमानस २।९४।३

इन्हीं के वंश में उत्पन्न होने के कारण इनके लिए नरपुङ्गव विशेषण दिया। विक्रान्त का अर्थ है शत्रुओं पर विशिष्ट आक्रमण करने वाला। संस्कृत में मन्यु शब्द क्रोधवाचक है, अर्थात् युद्ध के कारण जिसे क्रोध आता है उसे युधामन्यु कहते हैं। "युधा युद्धेन हेतुना मन्युः क्रोधो यस्मिन्" स युधा-मन्युः"। यहाँ बाहुलकात् तृतीया विभक्ति का अलुक् हुआ यद्वा युद्ध + आ + मन्यु स युधामन्यु, युधिसंग्रामे आसमन्तात् मन्युः क्रोधः यस्मिन्

स युधामन्युः। अर्थात् युद्ध में जिसे पूर्ण क्रोध आ जाता है ऐसा युधामन्यु तथा परमपराक्रमी, उत्तमतेजवाला उत्तमौजा, इसी प्रकार महाबाहु सुभद्रा पुत्र अभिमन्यु। सुभद्रायाः अपत्यं पुमान् सौभद्रः — यहाँ प्रश्न उठता है कि स्त्री वाचक सुभद्रा शब्द से "स्त्रीभ्यो ढक्" सूत्र द्वारा ढक् प्रत्यय और एय आदेश तथा आदि वृद्धि करके सौभद्रेय क्यों नहीं बन गया। इसका उत्तर यह है कि महर्षि ने सुभद्रा की सामान्य स्त्रियों में गणना नहीं की। वह सामान्य स्त्री नहीं स्वयं भगवान् की योगमाया है। इसीलिए श्रुति सुभद्रिकां कां पीलवासिनीम् कहती है। द्रौपदेयाः द्रौपदी के पाँच पुत्र—

युधिष्ठिरात् प्रतिविन्ध्यं सुतसोमं वृकोदरात् ।
अर्जुनाच्छ्रुतकर्माणं शतानीकं च नाकुलिम् ।।७९।।

युधिष्ठिर से प्रतिविन्ध्य, भीमसेन से सुतसोम अर्जुन से श्रुतकर्मा नकुल से शतानीक उत्पन्न हुए।

सहदेवाच्छ्रुतसेनमेतान् पंच महारथान् ।
पाञ्चाली सुषुवे वीरानादित्यानदितिर्यथा ।।८०।।

सहदेव से श्रुतसेन इन पाँच वीर महारथी पुत्रों को पाञ्चाली ने उसी प्रकार जन्म दिया जैसे अदिति ने बारह आदित्यों को।

शास्त्रतः प्रतिविन्ध्यं तमूचुर्विप्रा युधिष्ठिरम् ।
परप्रहरणज्ञाने प्रतिविन्ध्यो भवत्वयम् ।।८१।।

ब्राह्मणों ने युधिष्ठिर से उनके पुत्र का नाम शास्त्र के अनुसार प्रतिविन्ध्य बताया। उनका उद्देश्य यह था कि यह प्रहार जनित वेदना के ज्ञान में विन्ध्य पर्वत के समान हो। (इसे शत्रुओं के प्रहार से तनिक भी पीड़ा न हो)।

सुते सोमसहस्रे तु सोमार्कसमतेजसम् ।
सुतसोमं महेष्वासं सुषुवे भीमसेनतः ।।८२।।

भीमसेन के सहस्र सोमयाग करने के पश्चात् द्रोपदी ने उनसे सोम और सूर्य के समान तेजस्वी महान् धनुर्धर पुत्र को उत्पन्न किया था। इसलिए उनका नाम सुतसोम रक्खा गया।

श्रुतं कर्म महत्कृत्वा निवृत्तेन किरीटिना ।
जातः पुत्रस्तथेत्येवं श्रुतकर्मा ततोऽभवत् ।।८३।।

किरीटधारी अर्जुन ने महान् एवं विख्यात् कर्मकरने के पश्चात् लौटकर द्रौपदी से पुत्र उत्पन्न किया था इसलिए उनका नाम श्रुतकर्मा रक्खा गया।

शतानीकस्य राजर्षेः कौरव्यस्य महात्मनः ।
चक्रे पुत्रं सनामानं नकुलः कीर्तिवर्धनम् ।।८४।।

कौरवकुल के महामना राजर्षि शतानीक के नाम पर नकुल ने अपने कीर्तिवर्धक

पुत्र का नाम शतानीक रख दिया।

ततस्त्वजीजनत् कृष्णा नक्षत्रे वह्निदैवते।
सहदेवात् सुतं तस्माच्छ्रुतसेनेति यं विदुः।।८५।।

तदनन्तर कृष्णा ने सहदेव से अग्निदेवता सम्बन्धी कृतिका नक्षत्र में एक पुत्र उत्पन्न किया। इसलिए उसका नाम श्रुतसेन रक्खा गया। (श्रुतसेन अग्नि का ही नामान्तर है)

ये सभी शूर अर्थात् अदम्य पराक्रम वाले हैं। महेष्वासा इषु अर्थात् वाण, इषवः अस्यन्ते क्षिप्यन्ते यैः तानि इष्वासानि। जिनके द्वारा इषु अर्थात् वाण फेंके जाते हैं, वे इष्वास अर्थात् धनुष हैं। महान् हैं इष्वास धनुष जिनके उन्हें महेष्वास कहते हैं। इन सभी के धनुष पूजनीय हैं, सरलता से काटे नहीं जा सकते। ये सभी महारथ हैं। पूर्वोक्त लक्षणों के अनुसार इनमें से प्रत्येक वीर एक साथ दस हजार वीरों से युद्ध कर सकता है। इस प्रकार ये सव महारथी हैं। दुर्भाग्य से मेरे यहाँ कोई भी महारथी नहीं है, केवल विशिष्ट नायक हैं।।श्री।।

संगति— अव पाँच श्लोकों से दुर्योधन अपनी सेना के वर्णन का उपक्रम करता है—

''अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते।।७।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ — हे ब्राह्मण श्रेष्ठ! हमारी भी सेना में जो विशिष्ट लोग हैं, उनको आप जान लें। मेरी सेना के जो नायक हैं, आपकी जानकारी के लिए उनका नाम गिना रहा हूँ। अर्थात् उनके सम्बन्ध में कुछ कह रहा हूँ। इस प्रकार पाण्डवों की सेना को अपने से उत्कृष्ट मानता हुआ तथा सात्यकि से लेकर द्रौपदीपुत्र पर्यन्त सभी सत्रह वीरों को शूर, उत्कृष्ट धनुष वाले तथा महारथ समझता हुआ दुर्योधन जब अपनी सेना में किसी को भी शूर, श्रेष्ठ धनुर्धर तथा महारथ नहीं समझ पाया। तब उसकी विजय की इच्छा स्वयं नष्ट हो गयी।

व्याख्या— यही बात यहाँ "तु" शब्द से सूचित हो रही है। अब वह अपनी विजय के प्रति संदिग्ध स्वर में कहता है तु, अर्थात् किन्तु द्विजोत्तम! अर्थात् हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ! इस सम्बोधन का तात्पर्य यह है कि अब दुर्योधन के मन में द्रोण के प्रति गुरुभाव नहीं रहा। इसीलिए वह गुरूत्तम या सद्गुरु आदि श्रेष्ठ विशेषणों का प्रयोग नहीं करता। उसकी दृष्टि में आचार्य द्रोण केवल ब्राह्मण ही हैं। अतः द्विजोत्तम कहता है। अर्थात् आप केवल श्रेष्ठ ब्राह्मण तथा बहुत सरल हैं, आपको राजनीति का कुछ भी ज्ञान नहीं। इसीलिए तो आपके शिष्य होकर भी पाण्डव और पाञ्चाल आपसे युद्ध करना चाह रहे हैं।

अव यहाँ पर प्रश्न होता है कि—

''सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः'' पा०अ० २।१।६१

अर्थात् पूज्यमान वाचक शब्दों के साथ सन्, महतु, परम, उत्तम, उत्कृष्ट ये पाँचो शब्द समस्त होते हैं। इस पाणिनीय सूत्र द्वारा कर्मधारय समास करके, उत्तम शब्द का पूर्वप्रयोग क्यों नहीं हुआ, अर्थात् "तान्निवोधोत्तमद्विज" इस प्रकार का प्रयोग क्यों नहीं हुआ ?

उत्तर— दुर्योधन के मन में आचार्य के प्रति पूज्य भाव नहीं है, इसीलिए यहाँ कर्मधारय नहीं हुआ। अनन्तर द्विजेषु उत्तम: द्विजोत्तम: इस प्रकार सप्तमी तत्पुरुष किया गया। यहाँ दुर्योधन का संकेत हैं कि हे द्रोण ! आप मेरे गुरुदेव नहीं हैं, आप केवल श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं। विशिष्ट शब्द का अर्थ है, युद्ध की विशेषताओं से सम्पन्न।

नायका: – यहाँ सेना को ही सैन्य कहा गया है चूँकि दुर्योधन स्वार्थ परायण है इसीलिए इसकी मनोदशा को ध्वनित करने के लिए सैन्य शब्द में स्वार्थिक "ष्यञ्" प्रत्यय हुआ। मम अर्थात् मुझ दुर्योधन के जो विशिष्ट सेनानायक हैं, उनके संज्ञान के लिए मैं आपसे कहता हूँ। आशय यह है कि पाण्डवों की सेना में सभी लोग शूर तथा महारथी हैं, परन्तु मेरी सेना में चार ही विशिष्ट नायक हैं, उनमें से तीन आप, पितामह भीष्म एवं कृपाचार्य ये तीन वृद्ध हैं, केवल कर्ण ही युवक हैं और मेरी समान अवस्थावाले हैं। इसीलिए पाण्डवों की अपेक्षा हमारा उत्कर्ष कम है।।श्री।।

संगति— अब पहले कहे हुए चार विशिष्ट और चार सेनानायकों को उनका नाम ले-लेकर विश्लेषित करता है—

भवान् भीमश्च कर्णश्च, कृपश्च समितिंजय: ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च, सौमदत्तिर्जयद्रथ: ।।८।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— दुर्योधन कहता है आप अर्थात् द्रोणाचार्य, पितामह भीष्म, कर्ण, संग्राम विजयी कृपाचार्य, आपके पुत्र अश्वत्थामा, मेरे सबसे छोटे भाई विकर्ण, सोमदत्त के पुत्र भूरिश्रवा, तथा मेरे बहनोई सिन्धुनाथ जयद्रथ। मेरी सेना में ये आठ विशिष्ट तथा सेनानायक हैं।

व्याख्या— इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में चार विशिष्टों का तथा उत्तरार्ध में चार सेनानायकों का वर्णन है। यद्यपि भीष्म सेनापति हैं फिर भी कपट कुशल होने के कारण राजनैतिक दृष्टि से द्रोणाचार्य को सन्तुष्ट करने के लिए दुर्योधन ने भवान् कहकर आचार्य द्रोण का नाम पहले लिया। यहाँ भवान् शब्द आदरणीय का वाचक है, अथवा भ का अर्थ होता है नक्षत्र, "भानि नक्षत्राणि सन्ति अस्य इति भवान्" नक्षत्र जिसके प्रकाश्य होते हैं, उस चन्द्रमा को भवान् कहा जाता है। आप भवान् यानी चन्द्रमा के समान शीतल हैं, चन्द्रमा ब्राह्मणों के राजा हैं। वेद भी कहते हैं—"सोमो राजा अस्माकं ब्राह्मणानाम्।।" सोम हम ब्राह्मणों का राजा है। आप चन्द्रमा के समान कोमल होने से युद्ध में बहुत उग्र नहीं हो सकेंगे। इसके अनन्तर भीष्म जो हम सबके पितामह हैं। अनन्तर कर्ण का नाम

लेता है। वे मेरे मित्र हैं, तथा निष्पक्षपात होकर युद्ध कर सकते हैं। अन्त में कुलगुरु का आदर करने के लिए उन्हें "समितिंजयः" विशेषण दिया गया अर्थात् कृपाचार्य सङ्ग्राम विजयी हैं, जो मेरे कुल गुरु एवं आपके साले हैं। अथवा "समितिंजय" यह विशेषण द्रोणाचार्य को सन्तुष्ट करने के लिए अश्वत्थामा के लिए प्रयुक्त हुआ है। आपके पुत्र अश्वत्थामा संग्राम विजयी हैं।

अब मेरी सेना के जो चार नायक हैं उन्हें सुनिए। नायकों में सर्वप्रथम सङ्ग्राम विजयी आपके चिरंजीव अश्वत्थामा तथा मेरे छोटे भ्राता विकर्ण एवं मेरे अनन्य मित्र सोमदत्त पुत्र भूरिश्रवा और मेरी बहन दुश्शला के पति सिन्धुराज जयद्रथ। ये चारों ख्यातनामा मेरे विशिष्ट सेनानायक हैं।।श्री।।

संगति— पाण्डव पक्ष में सभी शूर वीर एवं प्रख्यात धनुर्धर एवं विख्यात नाम वाले हैं। उनमें से सत्रह प्रमुख महारथियों के नाम गिना दिए गये, किन्तु दुर्भाग्यवश मेरी सेना में पाण्डव पक्ष जैसे कोई शूर वीर नहीं हैं। उनसे न्यून यदि कुछ लोग हैं भी तो उनके नाम प्रसिद्ध नहीं हैं, इसी निराशा से दुर्योधन आगे कहता है—

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे व्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ।।९।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— दुर्योधन निराश होकर कहता है कि हे आचार्य! आप श्री प्रमुख चार विशिष्ट तथा अश्वत्थामादि चार सेनानायकों से अतिरिक्त भी बहुत से ऐसे शूर वीर हैं, जिन्होंने मेरे लिए अपनी जीवन की आशा तथा जीवन के साधनों को छोड़ दिया है। वे सभी अनेक शस्त्रास्त्रों के प्रहार में कुशल तथा युद्ध में निपुण हैं।

व्याख्या— यहाँ दुर्योधन का मानना है, यद्यपि पाण्डव पक्ष की भाँति मेरे शूरवीरों के नाम न तो ख्यात हैं और न ही ज्ञात। फिर भी मुझ दुर्योधन की राज्य प्राप्ति के लिए उन्होंने अपने जीवन की आशा तथा जीवन साधनों का त्याग कर दिया है। "जीव्यते एभिः इति जीवितानि।" जिनके द्वारा जीवन चलाया जाता है, उन जीवन साधनों को जीवित कहते हैं। "त्यक्तानि जीवितानि यैः ते त्यक्त जीविताः"। चूँकि कौरवों का विनाश निकट भविष्य में अवश्यम्भावी है, इसीलिए भगवती सरस्वती ने ही दुर्योधन के मुख से "त्यक्तजीविताः" इस शब्द का प्रयोग करवा दिया। प्रहरण अर्थात् हथियार हैं, अथवा जो नाना शास्त्रों से प्रहार करते हैं, उन्हें नाना शस्त्र प्रहरण कहा जाता है। "सर्वे युद्धविशारदाः" ये सभी युद्ध में कुशल हैं परन्तु महारथी नहीं।।श्री।।

संगति— अब दोनों सेनाओं की समीक्षा करता हुआ दुर्योधन कहता है—

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ।।१०।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ — दुर्योधन निराश मन से कहता है कि हे आचार्य ! जिसके पितामह भीष्म जैसे वृद्ध तथा पाण्डवों के पक्षपाती सेनापति हैं, ऐसी मेरी सेना ग्यारह अक्षौहिणी होकर भी पर्याप्त नहीं है, किन्तु भीम जैसे महापराक्रमी जिसकी जागरूकता से रक्षा कर रहे हैं, ऐसी पाण्डवों की यह सेना सात अक्षौहिणी होकर भी बहुत पर्याप्त हैं, उसे हम सरलता से नहीं जीत सकते।

व्याख्या— इस प्रकार अपनी तथा पाण्डवों की सेना के नीरिक्षण से दोनों के बलाबल की समीक्षा करता हुआ, दुर्योधन स्वयं अपनी विजय के प्रति संदेह कर बैठा, और "अपर्याप्तं" इत्यादि से विष वमन करने लगा। इस श्लोक की तीन व्याख्याएं प्रस्तुत की जा रही हैं। उनमें प्रथम व्याख्या का अन्वय इस प्रकार है—

भीष्माभिरक्षितं अस्माकं तद बलं अपर्याप्तं तु भीमाभिरक्षितं एतेषां बलं पर्याप्तम्।

अर्थात् इस व्याख्या में दुर्योधन आचार्य को प्रोत्साहित कर रहा है। भीष्मेण अभिरक्षितं भीष्माभिरक्षितं मेरी सेना के रक्षक पितामह भीष्म हैं, जिन्होंने परशुराम को भी युद्ध में पराजित किया, ऐसी हमारी सेना अपर्याप्त अर्थात् शत्रुओं द्वारा किसी भी प्रकार नहीं जीती जा सकती, इसलिए आपको निरुत्साह नहीं होना चाहिए। किन्तु भीम अर्थात् गदायुद्ध में मेरे पूर्व प्रतिद्वन्द्वी, स्थूल बुद्धि वाले, वृकोदर, जिसका कभी पेट नहीं भरता, ऐसे भीमसेन द्वारा दोनों ओर से पालित सेना से चार अक्षौहिणीकम अर्थात् सात अक्षौहिणी सम्मुख आयी हुई यह पाण्डवों की सेना पर्याप्त यानी सरलता से जीती जा सकती है।

(२) अथवा भीष्म पाण्डवों के पितामह होने से उन पर पक्षपात करेंगे ही इसलिए उनके द्वारा अभिरक्षित मेरी सेना संख्याबल में अधिक होकर भी पर्याप्त नहीं है क्योंकि चार विशिष्टों में से आप, (द्रोण), भीष्म तथा कृपाचार्य ये तीनों ही हृदय से पाण्डवों के पक्षधर हैं। कर्ण मेरे मित्र होकर भी सूतपुत्र होने के कारण युद्ध में हतोत्साह कर दिये गये हैं तथा भीष्म ने अपने सेनापतित्व में उन्हें युद्ध करने से रोक दिया है। रही बात चार सेनानायकों की उनमें से अश्वत्थामा अर्जुन के मित्र हैं, इसलिए उन पर इनका आकर्षण सम्भव है। विकर्ण यद्यपि मेरा छोटा भाई है, परन्तु उसने द्रौपदी चीर-हरण के समय पाण्डवों का ही पक्ष लिया था, इससे उस पर भी मैं विश्वस्त नहीं हूँ। भूरिश्रवा सोमदत्त पुत्र होने के कारण पाण्डवों पर ममता रखते हैं। जयद्रथ हम दोनों के बहनोई हैं और वनवास में द्रौपदी हरण के समय वे भीमसेन से पराजित भी हुए और भगवान् शंकर ने केवल एक दिन उन्हें पाण्डवों पर भारी होने का वरदान दिया है, इसलिए हमारी सेना विजय के लिए पर्याप्त नहीं है, किन्तु भीम जैसे समर-निष्ठुर जिसने कि राजसभा में हम सौ भाइयों के वध की प्रतिज्ञा की थी, के द्वारा सुरक्षित पाण्डवों की यह सेना विजय के लिए बहुत पर्याप्त है।

(३) अथवा हम सबके पितामह भीष्म सेनापति के रूप में जिसके लिए सुरक्षित

किये गये हैं ऐसी "तद्बलम्" वह पाण्डवों की सेना "अस्माकम्" हम लोगों द्वारा "अपर्याप्तं" जीतने के लिए बहुत कठिन है अर्थात् हम उसे नहीं जीत सकते क्योंकि भीष्म ही हमारे सेनापति हैं वे ही पाण्डवों पर पक्षपात करते हैं। किन्तु उधर मेरे उरुभंग की प्रतिज्ञा करने वाले युद्ध में अत्यन्त निष्ठुर भीमसेन को ही पाण्डवों द्वारा अभीष्ट रूप से जिसके लिए सुरक्षित रखा गया है ऐसी हमारी यह सेना "एतेषां" अर्थात् पाण्डवों द्वारा जीतने के लिए अत्यन्त सुगम है यहाँ "अस्माकम्" और "एतेषां" इन दोनों स्थलों पर तृतीया के अर्थ में षष्ठी हुई है।।श्री।।

संगति— अन्तमें दुर्योधन अपना निर्णय करता है—

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एवहि ।।११।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— अब आप सभी लोग दृढ़निश्चय पूर्वक सभी मोर्चों पर अपने-अपने भाग में व्यवस्थित होकर पितामह भीष्म की ही रक्षा करें। इससे उन पर किसी प्रकार का आक्रमण न हो सके और न ही वे पाण्डवों से पक्षपात कर सकें।

इस प्रकार दोनों सेनाओं की समीक्षा से तुम्हारा क्या अभिप्राय है द्रोण की यह जिज्ञासा समझकर दुर्योधन अपना निष्कर्ष कहता है।

व्याख्या— अयनेषु इत्यादि' अयन शब्द का अर्थ है मोर्चा अर्थात् व्यूहों का द्वार सभी सेनाओं के निकलने वाले दरवाजों पर अपने निर्दिष्ट स्थान पर युद्ध की इच्छा से व्यवस्थित आप और अन्य विशिष्ट सेनानायक सब ओर से पितामह भीष्म की ही रक्षा करें अर्थात् शत्रुओं के शस्त्रों से घायल न होने पायें सेनापति के सुरक्षित रहने पर हमारी विजय लक्ष्मी सुरक्षित रहेगी।।श्री।।

संगति— अब भीष्म की प्रतिक्रिया का वर्णन करते हैं—

"तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ।।१।१२

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— संजय बोले हे महाराज इस प्रकार द्रोणाचार्य को निर्देश देकर दुर्योधन के चुप हो जाने पर अपनी विजय के प्रति निराश हुए उस दुर्योधन के हृदय में प्रसन्नता उत्पन्न करने के लिए कुरुवंशियों में वृद्ध परमप्रतापी पितामह भीष्म ने सिंह के समान गर्जन करके ऊँचे स्वर में शङ्ख बजाया।

व्याख्या— इस प्रकार दुर्योधन की निराशा देखकर अपनी सुरक्षा के सम्बन्ध में दुर्योधन के सन्देह को दूर करने की इच्छा से पितामह भीष्म ने शङ्ख बजाकर यह संकेत किया कि दुर्योधन को उनकी सुरक्षा के सम्बन्ध में निश्चिन्त रहना चाहिए क्योंकि जिन लोगों पर उसने पितामह की रक्षा का भार छोड़ रखा है वे तो स्वयं असुरक्षित हैं। यहाँ

"तस्य" पद दुर्योधन का वाचक है और "संजनयन्" शब्द हेतु में शतृ प्रत्ययान्त है अतः वाक्यार्थ बना उस दुर्योधन के हृदय में प्रसन्नता उत्पन्न करने के लिए। "कुरुवृद्धः" भीष्म वय और ज्ञान इन दोनों दृष्टियों से कौरवों में वृद्ध हैं वृद्ध होने पर भी उनके उत्साह में कोई कमी नहीं है इस आशय को सूचित करने के लिए उन्होंने सिंह जैसी गम्भीर गर्जना की और ऊँचे स्वर में शङ्ख बजाया। "सिंहनाद" यह क्रिया विशेषण है अथवा सिंहनादं शब्द को शङ्ख का विशेषण मान लेना चाहिए अर्थात् जिसमें सिंह जैसा नाद हो ऐसा शङ्ख बजाया "उच्चैः" भीष्म ने ऊँचे स्वर में शङ्ख बजाया। "शङ्खं दध्मौ" उनका शङ्ख वीरों में उत्साह भर रहा था और साथ ही साथ होने वाले निर्णायक युद्ध की सूचना भी दे रहा था। अथवा "सिंहनाद" शब्द का अर्थ है सिंह के समान निनाद करके। यहाँ उपमान अर्थ में "उपमाने कर्मणिच" ३।४।४५ इस सूत्र से कर्ता में 'ण्मुल' प्रत्यय हुआ। इस प्रकार शङ्ख ध्वनि करके पितामह भीष्म ने अपनी ओर से युद्ध आरम्भ की सूचना दे दी।।श्री।।

संगति— अब भीष्म के शङ्ख नाद के अनन्तर और लोगों की प्रतिक्रियाओं का वर्णन करते हैं—

> **ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।**
> **सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ।।१३।।**

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— हे राजन्! पितामह भीष्म के शङ्खनाद के पश्चात् आपकी सेना में एकाएक शङ्ख, भेरी, ढ़ोल, आनक, गोमुख आर्थात् तुरही आदि बाजे बज उठे। उन सबका सामूहिक शब्द बहुत भयंकर हुआ।

व्याख्या— "ततः" का अर्थ है भीष्म द्वारा किये हुए शङ्खनाद के पश्चात् शङ्ख समुद्र से उत्पन्न सुशिरवाद्य है। भेरी में दुन्दुभी का एक विशेष प्रकार है। पणव, आनक, गोमुख ये सब घनवाद्य हैं इनसे योद्धावों में उत्साहवर्धन होता है। अर्थात् भीष्मजी के शंङ्खनाद के पश्चात् कौरव पक्ष से अकस्मात एक ही साथ शङ्खादि युद्ध के बाजे बज उठे। समूहालम्बन ज्ञान होने से किसने क्या बजाया इसका निर्णय करने में असमर्थ संजय ने "अभ्यहन्यन्त" अर्थात् एक साथ पीटे गये यही कहकर धृतराष्ट्र को संतुष्ट किया। यहाँ "शब्द" का अर्थ है अव्यक्त स्वर। इन जुझाऊ वाद्यों से उत्पन्न अव्यक्त स्वर बड़ा ही भयंकर हुआ।।श्री।।

संगति— इस प्रकार नवश्लोकों से दुर्योधन के वाक्य का अनुवाद करके तथा उसी बहाने से नवद्वारों वाले शरीर के भीतर छिपे हुए अभिमान को स्वीकृत करके फिर दो श्लोकों से धृतराष्ट्र पक्ष की गतिविधियों की सूचना देकर अब पाँचश्लोकों से पाण्डवपक्ष की युद्ध की इच्छा तथा भविष्य में होने वाले विजय के प्रति उत्कृष्ट उत्साह का वर्णन करते हुए संजय धृतराष्ट्र से कहते हैं ततः इत्यादि.......

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ।।१४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— संजय धृतराष्ट्र से कहते हैं कि हे राजन् ! जब आपके पक्ष के वीर योद्धा युद्ध के बाजे बजा चुके तत्पश्चात धवल वेगशाली घोड़ों से जुते हुए महान् रथ पर विराजमान माधव भगवान् कृष्ण तथा तृतीयपाण्डव श्रीअर्जुन ने अतिसुन्दर पद्धति से अपनी-अपनी दिव्य शङ्ख बजाये।

व्याख्या— विगत १३ श्लोकों में दुर्योधन की मनोदशा और उसकी गीताशास्त्र में अनधिकार अर्थात् अधिकार के अभाव का वर्णन करके अब गीताजी के मुख्य श्रोता श्री अर्जुन एवं वक्ता परब्रह्मपरमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण की कुछ मौलिक विलक्षणताओं का वर्णन करते हैं। श्री अर्जुन के रथ में श्वेत वेगशाली घोड़े जुते हुए हैं यही तो साधक की पाप रहित इन्द्रियाँ "इन्द्रयाणि हयानाहुः" इसीलिए यह रथ महान् है। "शरीरं रथमुच्यते' से अलौकिक रथ पर माधव और अर्जुन विराजमान हैं अथवा "महति स्यन्दने' यह एक पद है। "मैं" जीव को कहते हैं। "कवर्गादि" की पर्यालोचना की दृष्टि से "म" पच्चीसवाँ अक्षर है और पचीस तत्वों वाला होने से जीवात्मा भी है। पाणिनीय धातुपाठ में हन् धातु का गमन भी अर्थ है "हन् हिंसागत्योः हननं गमनं हतिः गतिः। मत्स्थजीवात्मनः हतिः कृष्णशरणागतिः यस्मिन् स महतिः। स चासौ स्यंदनः इति महतिस्यन्दनः। तस्मिन महतिस्यन्दनै। 'म' अर्थात् जीव की हति अर्थात् कृष्ण शरणागति जिस रथ पर सम्भव है उस रथ को महति कहते हैं थोड़ी ही देर में इसी रथ पर प्रत्यगात्मा अर्जुन परमात्मा श्रीकृष्ण की शरणागति स्वीकारेंगे, फिर महति शब्द का स्यंदन शब्द के साथ कर्मधारय तत्पुरुष समास करके सप्तमी के एक वचन में महतिस्यन्दने यह एक पद बन गया। इसका अर्थ है जीव द्वारा परमेश्वर के शरणागत के लिए उपयुक्त श्रेष्ठ रथ पर अथवा 'म शब्द' अर्जुन के मोह तथा दुर्योधनादि विषयक ममता बन्धन का वाचक है इन दो मकारों का हति अर्थात् जिस पर हनन हुआ उस रथ को ही महति कहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण की शरणागति स्वीकार करने वाले श्रीअर्जुन के मोह और धृतराष्ट्र के प्रति व्याप्त ममता बन्धन का इसी रथ पर विनाश हुआ अर्जुन स्वयं गीता १८।७३ में "नष्टो मोहः" कहकर 'करिष्ये वचनं तव' कहकर ममताबन्धन के विनाश की सूचना दे रहे हैं ऐसे मोह ममता विनाशक श्रेष्ठ रथ पर श्री अर्जुन एवं भगवान् श्रीकृष्ण विराज रहे हैं यही तो श्रीगीता के लोकोत्तर वक्ता तथा अनुपम श्रोता का परिचय है। अथवा यहाँ मकार से मोह, ममता, मद, मदन अर्थात् काम और मात्सर्य ये पाँच अभिप्रेत हैं। इन पाँचों की हति अर्थात् विनाश तथा दुर्गमन जिससे होता है वही जीवात्मा श्रीअर्जुन ही महति है। 'महतेः स्यन्दनः महतिस्यंदनः' अर्थात् यह महती श्रीअर्जुन का रथ है, जिनका मोह, मद, ममत्व, मदन और मात्सर्य नष्ट हो चुका है ऐसे मधुमथन, मदनमोहन, मधुरमूर्ति, मुरली मनोहर भगवान् श्रीकृष्ण के पदपद्म के पराग रस के भ्रमर रूप श्रीअर्जुन इसी रथ के तो रथी हैं। अथवा महति

शब्द का स्यंदन शब्द के साथ 'कर्मधारय तत्पुरुष' ही होगा। 'मामं हन्तीतिमहतिः' अर्थात् जो मोह, ममता, मद, मदन आदि विकारों को नष्ट कर देता है उस रथ को महति कहते हैं। यहाँ 'कृत्य ल्युटो बहुलम्' प०अ०३।३।११३ इस पाणिनीय सूत्र से पुल्लिंग होने पर भी बाहुलक के बल से कर्ता में कृत् प्रत्यय पुनः महति शब्द का स्यंदन से कर्मधारय होकर सप्तमी के एकवचन में महतिस्यन्दने बन गया। अर्थात् जो मोहादि विकारों को स्वयं नष्ट कर सके उस रथ पर विराजमान हैं माधव और तृतीय पाण्डव। अथवा यहाँ 'मा' मधुसूदन श्रीकृष्ण का वाचक है मे न हन्यते इति महते अर्थात् मधुसूदन श्रीकृष्ण के द्वारा जो गतिशील किया जा रहा है उस रथ को ही महति कहते हैं। यहाँ भी कृत्यल्युटो बहुलम् ३।३।११३ पाणिनीय सूत्र से वर्तमान काल में कर्म में क्तिन् प्रत्यय हुआ और फिर पूर्ववत कर्मधारय समास अर्थात् जिसको गति दे रहे हैं, स्वयं मयूर मुक्ति भक्त वत्सल भगवान् श्रीकृष्ण वही है महतिस्यंदन। अथवा 'महीयते इति महतिः' अर्थात् सम्पूर्ण जीव जिसकी पूजा करते हैं वह रथ ही महतिस्यन्दन है इसी पर विराजमान हैं भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन। इस प्रकार महति शब्द की बहुत सी व्युत्पत्तियाँ होने पर भी ग्रन्थ के विस्तार के भय से यहाँ नहीं दी जा रहीं हैं।

अब आध्यात्मिक पक्ष में व्याख्या प्रस्तुत की जाती है यहाँ सात्विक इन्द्रियाँ ही श्वेत घोड़े हैं उनसे जुता हुआ यह शरीर ही रथ है उस पर स्थित अर्थात् अपनी गति को निवृत्त करके स्थिर भाव से विराजमान भगवान् श्रीकृष्ण एवं श्रीअर्जुन ही क्रम से अन्तर्यामी परमात्मा तथा प्रत्यगात्मा हैं। अब माधव शब्द की कुछ व्युत्पत्तियाँ दिखाई जाती हैं 'मधुसु जातः' अर्थात् मधुवंश में जिनका जन्म हुआ उन्हें माधव कहते हैं अथवा संस्कृत में भगवती लक्ष्मी को माँ कहते हैं 'इंदिरा लोक माता मा' "मायाः धवः माधवः" लक्ष्मी के धव अर्थात् पति श्रीकृष्ण ही माधव हैं अथवा "मायाया धवः माधवः" माया के धव अर्थात् पति भगवान श्रीकृष्ण ही माधव हैं। यहाँ पृषोदरादित्वाद् या का लोप हो गया है। अथवा मकार जीव का वाचक है उसके आदरणीय और आसमन्तात् धव अर्थात् पति होने से भगवान् कृष्ण माधव हैं। इसीलिये कहा गया है 'तुम हो एक अगोचर सबके प्राणपति'। अथवा "मानं धुनोति इति माधवः" जो मकार वाचक मोह मद ममता मान मात्सर्य को नष्ट कर देते हैं वे भगवान् माधव हैं। "पाण्डवः" यहाँ पाण्डव पद अर्जुन का वाचक है पाण्डव अर्थात् मध्यम पाण्डव च श्री माधव और पाण्डव का एक साथ होना सूचित हो रहा है। एवकार अन्य योग का व्यवच्छेदक है तात्पर्य यह है कि इस रथ पर भगवान् श्रीकृष्ण एवं तृतीय पाण्डव श्री अर्जुन के अतिरिक्त कोई नहीं है। इन दोनों ने ही दिव्य अर्थात् अप्राकृत जिनके नाम अभी कहे जायेंगे ऐसे अलौकिक शंख प्रकृष्टता से स्वर ताल के साथ बजाये।।श्री।।

संगति— अब संजय भगवान् श्रीकृष्ण तथा पांचों पाण्डवों के प्रसिद्ध नामवाले शङ्खों का दो श्लोकों से संकीर्तन कर रहे हैं—

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ।।१५।।
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ।।१६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— संजय धृतराष्ट्र से कहते हैं हे महाराज आपके पक्ष में स्पष्ट रूप से केवल पितामह भीष्म को शंङ्ख बजाते हुए देखा गया उस पर भी उनके शङ्ख का कोई नाम नहीं परन्तु पाण्डव पक्ष में अठारह लोग विशेष रूप से पृथक्-पृथक् शङ्ख बजाते देखे जा रहे हैं उनमें से श्रीकृष्ण भगवान् तथा पाँचों पाण्डवों के शङ्खों के सार्थक नाम भी हैं। जैसे हृषीकेश अर्थात् समस्त प्रपञ्च के नियामक परमात्मा श्रीकृष्ण ने पाञ्चजन्य नामक शङ्ख बजाया जिसे इन्होंने पञ्चजन नामक दैत्य को मारकर प्राप्त किया था तथा इसी प्रकार धनञ्जय अर्थात् राजसूय यज्ञ में अनेक राजाओं को जीतकर उन्होंने महाराज युधिष्ठिर को वहुतसा धन अर्पित किया था उन धनञ्जय अर्जुन ने खाण्डव वन दहन के समय अग्नि द्वारा प्रदत्त देवदत्त नामक शङ्ख बजाया। जो युद्ध में भयंकर कर्म करते हैं ऐसे वृकोदर भीमसेन ने पौण्ड्र नामक महान् शङ्खः बजाया। परम भागवती देवी कुन्ती के पुत्र राजसूय यज्ञ कर्ता महाराज युधिष्ठिर ने अनन्तविजय नामक अविनाशी विजय से युक्त शङ्ख बजाया। इसी प्रकार नकुल ने सुघोष तथा सहदेव ने मणिपुष्पक नामक शङ्ख एक साथ बजाया।

व्याख्या— "हृषीक" इन्द्रियों का वाचक और सम्पूर्ण प्रपञ्च का उपलक्षक है। 'हृषीकाणाम् ईशः" अर्थात् इन्द्रिय और सभी प्रपञ्चों के नियन्ता, सवके अधिष्ठाता, सभी के अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णा को ही यहाँ हृषीकेश कहा गया है। पञ्चजन नामक दैत्य के शरीर से उत्पन्न होने से इस शङ्ख को पाञ्चजन्य कहा जाता है। यहाँ पञ्चजने भवः पाञ्चजन्यः। इस विग्रह में पञ्चजन शव्द से "पञ्चजनादुपसंख्यानम्" (का.वा. २८६८) से भवार्थ में 'य' प्रत्यय हुआ। श्रीमद् भागवत् १०, ४५, ४०, ४१, ४२ के अनुसार जब भगवान् श्रीकृष्ण ने सांदीपनि के यहाँ अपना विद्याध्ययन सम्पन्न कर लिया तब गुरु पत्नी के अनुरोध पर सांदीपनि ने भगवान् श्रीकृष्णा से समुद्र में डूब कर मरे हुए अपने पुत्र को जीवित ला देने को कहा अनन्तर भगवान श्रीकृष्ण ने गुरुपुत्र के सम्बन्ध में समुद्र से पूछा। तब समुद्र ने उत्तर दिया हे प्रभो ! मैंने आपके गुरुपुत्र का अपहरण नहीं किया है। मेरे जल के भीतर शङ्खः रूप धारण करके पञ्चजन नामक महान् दैत्य रहता है। अनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण ने जाकर पञ्चजन दैत्य को मारकर उसके शरीर से उत्पन्न शङ्ख ले आये इसी प्रकार धनञ्जय शव्द भी यहाँ विशेष अर्थ का संकेतक है यहाँ सञ्जय का आशय यह है कि महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में कुवेर तथआ अन्य राजाओं को जीतकर अर्जुन ने वहुत सा धन युधिष्ठिर को समर्पित किया था। "धनं जयतीति धनञ्जयः"

इसीलिए इनका नाम धनञ्जय पड़ा। हिन्दी महाभारत में भी कहा है—

धनपति जीति दण्ड मैं आना, नाम धनञ्जय कृष्ण बखाना।।

इसी प्रकार इस युद्ध में भी तुम्हारे पुत्रों को पराजित करके उनका सम्पूर्ण धन धनञ्जय महाराज युधिष्ठिर को देने वाले हैं अथवा यहाँ धन शब्द मुनिजनों के धन श्रीकृष्ण का वाचक है।

"आलवन्दार" स्तोत्र में भी श्रीयमुनाचार्य जी ने कहा है "धनं मदीयं तव पादपंकजम्" आपका चरण कमल ही मेरा धन है। ऐसे मुनिजनधन श्रीकृष्ण को अपने प्रेम से जीतकर श्रीअर्जुन ने अपने रथ का सारथी बना लिया है इसीलिए वे धनञ्जय हैं। जिन्होंने अजित परमात्मा को ही जीत लिया उनकी विजय के सम्बन्ध में संदेह कहाँ रही धनंजय शब्द का अभिप्राय है उन्होंने देव अर्थात् खाण्डव वन दहन में अग्निदेव द्वारा दिया हुआ शङ्ख वजाया अभिप्राय यह है कि जैसे इस शङ्ख को बजाकर धनञ्जय अर्जुन ने खाण्डव वन को भस्म किया था, उसी प्रकार आज भी उन्होंने इस शङ्ख को बजाकर अपने आग्नेय बाणों से आपके सैन्य वन को भस्म करने का निर्णय ले लिया है। "भीमकर्मा भीमानि कर्माणि यस्य" भीमसेन के पूर्व कृत युद्धकर्म बड़े ही भयंकर हैं इन्होंने हिडिम्बा, कीचक, बक आदि बड़े घोर दैत्यों को मारा है इनके पेट में वृक अर्थात् अग्नि है। "वृकः उदरे यस्य" स वृकोदरः। अब महाशङ्ख शब्द की व्युत्पत्ति पर प्रश्न उठता है कि यहाँ महाशङ्ख शब्द का प्रयोग कैसे किया गया ?

क्योंकि शङ्ख, श्मशान, तेल, यान, यात्रा, ब्राह्मण तथा पात्र इनके साथ महत् शब्द का प्रयोग करने से इनके अर्थ का अनर्थ हो जाता है।

जैसे महाशङ्ख अर्थात् अपवित्र हड्डी, महाश्मशान अर्थात् बहुत बड़ा श्मशान क्षेत्र, महातैल अर्तात् किसी के शरीर का तेल, महायान-मृत्यु, महायात्रा-शवयात्रा, महाब्राह्मण और महापात्र मृत्यु का दान लेने वाला निकृष्ट ब्राह्मण ! इसलिए यहाँ अमङ्गलार्थक महत् शब्द का प्रयोग क्यों ? जबकि शास्त्र में इन शब्दों के साथ महत् शब्द के प्रयोग को निषिद्ध माना गया है। जैसे—

शङ्खे चैव श्मशाने च तैले याने तथैव च ।
यात्रायां ब्राह्मणे पात्रे महच्छब्दो न दीयते ।।

इसका उत्तर यह है कि यह श्लोक प्रायोवाद अर्थात् किसी भद्र पुरुष द्वारा बनाया हुआ है। यदि कहो कि इसकी प्रायोवादिता में क्या प्रमाण हैं तो इसका उत्तर होगा कि सर्वज्ञ शिरोमणि भगवान् वेदव्यास का प्रयोग ही परम प्रमाण है. यदि महत् शब्द शङ्ख शब्द के साथ प्रयुक्त होकर अमङ्गलार्थ होता तो भगवान् वेद व्यास 'महाशङ्ख' इस प्रकार प्रयोग ही न करते। अब इसका दूसरा समाधान भी दिया जा रहा है। 'पौण्ड्र' का अर्थ है पौण्ड्रकासुर से प्राप्त। पौण्ड्रकासुर को मारकर भगवान् श्रीकृष्ण ने पौण्ड्र शङ्ख प्राप्त

किया था, और इसे सत्यभामाजी ने भीमसेन को उपहार के रूप में दे दिया था। चूँकि सत्यभामा पूजनीय हैं इसलिए संस्कृत में उन्हें महा कहा जाता है। महीयते पूज्यते इति महा अर्थात् सत्यभामा। महया दत्तः शङ्खः महाशंखः। महा अर्थात् सत्यभामा द्वारा दिया हुआ शंख होने से इसे महाशङ्ख कहते हैं। निष्कर्षतः यहाँ अमङ्गलवाचक महत् शब्द नहीं प्रत्युत तृतीयान्त महा शब्द है।

इसी प्रकार कुन्ती पुत्र महाराज युधिष्ठिर ने अनन्त विजय नामक शङ्ख बजाया। यहाँ कुन्ती-पुत्र शब्द भी विशेष अभिप्राय से युक्त है। सञ्जय कहते हैं कि राजन्! आपकी अनुज वधू कुन्ती ने बड़ी तपस्या करके भगवान् धर्म की कृपा से युधिष्ठिर को प्राप्त किया। कुन्ती पुत्र कहकर गान्धारी पुत्र दुर्योधन की अपेक्षा युधिष्ठिर की विशेषता बताते हैं। कुन्ती ने युधिष्ठिर को धर्म से प्राप्त किया, क्योंकि वे परम भगवद् भक्त हैं। ठीक उससे विपरीत आपकी पत्नी गान्धारी ने अधार्मिक पापी दुर्योधन को जन्म दिया। कुन्ती पुत्र धार्मिक हैं, और आपके पुत्र अधार्मिक। इसलिए अपने पुत्रों की विजय की आशा छोड़ दीजिए क्योंकि "यतो धर्मस्ततो जयः" जहाँ धर्म है वहीं विजय है। राजा— अर्थात् युधिष्ठिर ही राजा हैं क्योंकि इन्होंने ही राजसूय यज्ञ किया है। आपके पुत्र को राजा बनने का कोई अधिकार नहीं है। युधिष्ठिरः — ये धर्म के युद्ध में स्थिर रहते हैं। आपका पुत्र दुर्योधन तो विराटपुर के युद्ध में पलायन कर गया था। यहाँ 'गवियुधिभ्यां स्थिरः" पा०अ०८।३।९५ इस सूत्र से सकार को 'ष' हुआ और ष्टुत्व करके युधिष्ठिर बना। युधिष्ठिर ने अनन्त विजय नामक शङ्ख बजाया। अनन्त विजय का अर्थ है जिसकी विजय का अन्त न हो। अथवा अनन्त हैं श्रीकृष्ण और उन्हीं अनन्त पर आश्रित है विजय जिसका। अर्थात् जिसका शङ्ख ही अनन्त विजयमय है उसके विजय में संदेह कैसा। इसी प्रकार नकुल ने सुघोष तथा सहदेव ने मणिपुष्पक नामक शङ्ख बजाया, इस प्रकार श्रीकृष्ण तथा पाँच पाण्डवों ने ख्यात नाम वाले शङ्ख बजाए। अतः उन्हीं की विजय के प्रति मङ्गल कामना कीजिए।।श्री।।

संगति— अब अज्ञातनामवाले परन्तु प्रमुख शङ्खों के वादक ११महारथियों का दो श्लोकों से संकीर्तन करते हैं —

> **काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।**
> **धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ।।१।१७**
> **द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।**
> **सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक्पृथक् ।।१।१८**

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— संजय साभिप्राय सम्बोधन करते हुए कहते हैं— हे पृथिवीपति अर्थात् महाराज धृतराष्ट्र ! पाञ्चजन्य, देवदत्त, पौण्ड्र, अनन्तविजय, सुघोष तथा मणिपुष्पक इन छः शंखों के बज जाने पर अन्य एकादश महारथियों ने भी पृथक्

पृथक् शंङ्ख बजाये। जिनमें सर्वप्रथम श्रेष्ठ धनुष वाले काशिराज तथा दस हाजर वीरों के साथ एक साथ युद्ध करने में समर्थ एवं पितामह भीष्म के निधन के मूल कारण महारथ शिखण्डी तथा आपके ही विनाश के लिए यज्ञकुण्ड से प्रगटे धृष्टद्युम्न, मत्स्यराज विराट तथा अजेय अथवा योगमाया द्वारा भी जिन्हें नहीं जीता गया अथवा अ अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण भी जिनके द्वारा प्रेमवश पराजित हुए ऐसे अपराजित सात्यकि, महाराज द्रुपद तथा प्रतिविन्ध्य, सुतसोम, श्रुतकर्मा, शतानीक एवं श्रुतसेन ये द्रौपदी के पाँच पुत्र तथा महाबाहु सुभद्रा पुत्र अभिमन्यु इन सबने युद्ध में उत्साहवर्धन करने के लिए पृथक् पृथक् शङ्ख बजाए।

व्याख्या— परम शब्द का अर्थ है पूजनीय, परमः इष्वासो यस्यः अर्थात् पूजित धनुषवाले काशिराज, महारथ शिखण्डी एवं धृष्टद्युम्न, विराट, तथा अपराजित सात्यकि इन सबने पृथक् पृथक् शङ्ख बजाए। अपराजित शब्द सात्यकि का विशेषण है। न पराजितः अपराजितः अर्थात् जो कभी भी पराजित न हो अथवा भगवान् की योगमाया को अपरा कहते हैं। अपरेयमितस्त्वन्यां— (गीता-७।५)

उस अपरा योगमाया के द्वारा भी जो अजित अर्थात् जो कभी भी नहीं जीते जा सकें। अपरया अजितः अपराजितः, अथवा 'अ' भगवान् श्रीकृष्ण का वाचक है, अब अकार के साथ पराजित शब्द का बहुव्रीहि करके अर्थ किया जायगा कि— अ अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण जिसके द्वारा पराजित हुए— 'अः वासुदेवः पराजितःयेन यस्माद् वा सः अपराजितः। यदि कहें कि यह व्याख्यान असङ्गत है क्योंकि सर्वसर्वेश्वर भगवान् भला किसके द्वारा पराजित किये जायेंगे तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि भगवान् तो अपने भक्तों से पराजित होते ही आये। जैसे—

उवाह कृष्णो भगवान् श्रीदामानं पराजितः। (भागवत १०।१८।२४) अर्थात् खेल में पराजित भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीदामा को अपनी पीठ पर चढ़ाया। भगवान् से भगवान् का भक्त बड़ा होता है तथा भगवान् के भक्त से भी भगवान् के भक्त का भक्त बड़ा होता है। इसीलिए श्रीरामचरितमानस में गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज आज्ञा करते हैं—

मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा।
राम से अधिक राम कर दासा।।

श्रीमद्भागवत के ६।११।२५ में वृत्रासुर ने भावभरे स्वर में कहा— हे श्री हरि ! मैं जन्म जन्म में आपके श्रीचरणों का आश्रय करने वाले वैष्णवजनों के दासों का भी दास बनूँ। हे प्राणपते ! मेरा मन आपके ही गुणों का स्मरण करे तथा मेरा शरीर आपके ही निमित्त कर्म किया करे। इसी प्रकार श्रीवैष्णवजन तो यहाँ तक प्रार्थना किया करते हैं—

हे मधुसूदन ! मेरे जन्म का तो यही फल है और मेरे द्वारा यही प्रार्थनीय भी है

कि आपका मुझ पर यही अनुग्रह हो कि आप अपने सेवक के सेवक के परिचारक के भृत्य के भृत्य के सेवक के सेवक के रूप में मेरा स्मरण करते रहें। यथा—

मज्जन्मनः फलमिदं मधुकैटभारे,
मत्प्रार्थनीयमदनुग्रह एष एव।
त्वद्भृत्यभृत्यपरिचारक-भृत्य-भृत्य-
भृत्यस्य भृत्य इति मां स्मर लोकनाथ!

अर्जुन भगवान् के भक्त हैं 'भक्तोऽसि मे सखा चेति' (गीता ४।३) और सात्यकि अर्जुन के भक्त हैं जैसा कि भागवत ३।१।३१ में उद्धवजी से विदुरजी पूछते हैं— हे उद्धव! जिन्होंने फाल्गुन अर्थात् अर्जुन से धनुर्विद्या रहस्य प्राप्त किया तथा भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा से ही सुगमतापूर्वक प्रभु के उस दुर्लभ ज्ञानतत्त्व को प्राप्त कर लिया जिसे यतीन्द्रगण कठिनता से प्राप्त कर पाते हैं ऐसे युयुधान सात्यकि कुशल से हैं न! अतएव भक्त के भक्त से पराजित होने में श्रीकृष्ण की शोभा ही तो है। द्रुपद शब्द दो पदों के समास से बनता है। संस्कृत में वृक्ष को भी द्रु कहते हैं। 'वृक्षो द्रुर्द्रुमस्तरुः' द्रु अर्थात् वृक्ष के समान जिसके पद अर्थात् चरण दृढ़ हैं वह द्रुपद है। द्रुरिव पदं यस्य सः द्रुपदः। अथवा द्रु अर्थात् अश्वत्थ वृक्ष रूप श्रीकृष्ण को जिसने इष्टदेव के रूप में वरण कर लिया वे द्रुपद हैं। द्रुं अश्वत्थवृक्षं पद्यते इष्टदेवमङ्गीकरोतीति द्रुपदः। अथवा द्रोः पद्यते इति द्रुपदः अर्थात् इस संसार वृक्ष से वैराग्य प्राप्त करके जो परमात्मा की शरण में चला गया उसे द्रुपद कहते हैं। अथवा यहाँ पद धातु का गत्यर्थ है और गत्यर्थक धातुओं का ज्ञान अर्थ माना जाता है "गत्यर्थाः ज्ञानार्थाः" इस दृष्टि से द्रुं संसारवृक्षं जानन् तमसङ्गशस्त्रेण छित्वा पद्यते श्रीकृष्णमिति द्रुपदः। जो इस संसार वृक्ष को असार जानकर उसे अनासक्ति शस्त्र से काटकर परिमार्गणीय तत्त्व को प्राप्त कर लेता है वह द्रुपद है। महाराज द्रुपद ने प्रभु श्रीकृष्ण को प्राप्त कर लिया है इसीसे उनकी पुत्री द्रौपदी स्त्री होकर भी भगवान् श्रीकृष्ण की मित्र हैं। 'सखी च वासुदेवस्य'। इसीलिए द्रौपदी के चीरहरण के समय भगवान् श्रीकृष्ण को ११वाँ वस्त्रावतार लेना पड़ा। महाभारत २।६८।४६-४८ में वेदव्यासजी ने बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा- जब कृष्ण, विष्णु, हरि नर इस प्रकार भगवन्नामों से सम्बोधन करके द्रौपदी चिल्लाने लगीं तब धर्मरूप श्रीकृष्ण भगवान् ही वस्त्रावतार लेकर प्रकट हुए। और द्रौपदीजी को बहुरंगी वस्त्रों से ढक दिया—

ततस्तु धर्मोऽन्तरितो महात्मा।

यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि भगवान् के वस्त्रावतार ग्रहण में क्या प्रमाण हैं—

उत्तर— 'धर्मोऽन्तरितः' यह वेदव्यास का वचन ही यहाँ परम प्रमाण है।

प्रश्न— कैसे ?

उत्तर— तो विचार करो। संस्कृत में अन्तरा शब्द साड़ी का पर्याय है। इसीलिए 'अन्तरं बहियोगोपसंव्यानयो:' (पा०अ०१।१।३६) सूत्र से बहिर्योग एवं उपसंख्यान अर्थ में जस् विभक्ति के परे रहने पर अन्तर शब्द की विकल्प से सर्वनाम संज्ञा की गई।'अन्तरे अतरा वा शाटका:' अब "अन्तर इव आचरति इति अन्तरयति अन्तरयतीत्यन्तरित:" इस विग्रह में 'वस्त्र की भाँति आचरण करता है' इस अर्थ में आचारार्थ में णिच् तथा वर्तमान काल में अकर्मक अन्तरि नामधातु से क्त प्रत्यय करके वस्त्र रूप में अन्तरित शब्द निष्पन्न हुआ। इसका अर्थ है वस्त्ररूप में अवतरित भगवान श्रीकृष्ण। इसीलिए गोस्वामी तुलसीदासजी ने दोहावली में कहा है—

सभा सभासद निरखि पर पकरि उठायौ हाथ।
तुलसी धर्‍यो ग्यारहवों वसन रूप जदुनाथ।।

(दोहावली१६८)

पाठकों के आनन्द के लिए इस प्रसंग पर एक सुप्रसिद्ध हिन्दी कवित्त प्रस्तुत किया जा रहा है—

सुन्दर सफेद सब्ज बैंजनी हरीरी पीरी
ढेरी बहुतेरी नहिं गिनवे में आयौ है।
लाली औ गुलाली गुलनारी परफालसाही
काई औ बदामी बहुतेरी दरसायौ है।
खाकी धानी प्याजी जाफरानी आसमानी बहु
अम्बर अपार आसमान लगि छायौ है।
द्रौपदी के काज ब्रजराज हैं बजाज मानों
लादके जहाज पर द्वारिका ते आयौ है।।

इस प्रसंग पर बाल्यकाल में रचित मेरा एक दोहा भी है—

तजि कुसंग गिरिधर गहहु चरन सरन ब्रजराज।
बचा न पाये पंचपति द्रुपद सुता की लाज।।

द्रौपदेया: — द्रौपदी के पाँचों पुत्र जैसे महाभारत में

युधिष्ठिरात् प्रतिविन्ध्यं सुतसोमं वृकोदरात्।
अर्जुनाच्छ्रुतकर्माणं शतानीकं च नाकुलिम्।।७९।।
सहदेवाच्छ्रुतसेनमेतान् पञ्च महारथान्।
पाञ्चाली सुषुवे वीरानादित्यानदितिर्यथा।।८०।।

युधिष्ठिर से प्रतिविन्ध्य, भीमसेन से सुतसोम, अर्जुन से श्रुतकर्मा, नकुल से

शतानीक और सहदेव से श्रुतसेन उत्पन्न हुए थे। इन पाँच वीर महारथी पुत्रों को पाञ्चाली (द्रौपदी) ने उसी प्रकार जन्म दिया जैसे अदिति ने बारह आदित्यों को। सौभद्रः महान् बाहुवाले सुभद्रा पुत्र अभिमन्यु। सुभद्रा सामान्य स्त्री नहीं है। इसीलिए यहाँ स्त्रीवाचक सुभद्रा शब्द से ढक प्रत्यय और एय आदेश होकर सौभद्रेय नहीं बना। इनके जन्म के सम्बन्ध में महाभारत में भगवान् वेदव्यास ने—

> **ततः सुभद्रा सौभद्रं केशवस्य प्रिया स्वसा ।**
> **जयन्तमिव पौलोमी ख्यातिमन्तमजीजनत् ।।**
> **दीर्घबाहुं महोरस्कं वृषभाक्षमरिंदमम् ।**
> **सुभद्रा सुषुवे वीरमभिमन्युं नरर्षभम् ।।**

तदनन्तर कुछ काल के पश्चात् श्रीकृष्ण की प्यारी बहिन सुभद्रा ने यशस्वी सौभद्र को जन्म दिया, ठीक, वैसे ही, जैसे शची ने जयन्त को उत्पन्न किया था।। सुभद्रा ने वीरवर नरश्रेष्ठ अभिमन्यु को उत्पन्न किया, जिसकी बड़ी-बड़ी बाँहें, विशाल वक्षःस्थल और बैलों के समान विशाल नेत्र थे। वह शत्रुओं का दमन करने वाला था।

"सर्वसः" यहाँ प्रथमा बहुवचन के अर्थ में स्वार्थिक शंस् प्रत्यय हुआ है अर्थात् इन सभी अठारह महानुभावों ने पृथक्-पृथक् अर्थात् अपनी-अपनी बारी के अनुसार अठारह दिनों तक चलने वाले महाभारत युद्ध के प्रारम्भ में शुभ विजय सूचक अठारह शङ्ख बजाये। जिनमें छः शङ्खों के नाम और अठारह शङ्ख बजाने वालों के नाम मैंने स्पष्ट रूप से जाने, परन्तु आपके पक्ष में वो केवल पितामह भीष्म का ही नाम जाना जा सका और वहाँ भी उनके शङ्ख का नाम नहीं। पृथ्वीपति शब्द धृतराष्ट्र के लिए सम्बोधन है अर्थात् आप अब अठारह दिनों के लिए ही पृथ्वीपति हैं। पृथ्वी बहुपतिका है वह मुख्यतः विष्णु पत्नी है अतः परम् वैष्णव युधिष्ठिर ही इसके मुख्य शासक होंगे। इसलिए आप अपनी विजय की आशा छोड़ दीजिये।।श्री।।

संगति— अब संजय दोनों पक्षों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं— हे राजन्! बहुत क्या कहूँ, आपके पक्ष के शङ्ख भेरी प्रणव, आनद तथा गोमुखों के तुमुल निनाद से पाण्डव पक्ष में कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई किन्तु पाण्डव पक्ष के शङ्ख, निनाद ने तो आपके पुत्रों के हृदयों को ही विदीर्ण कर डाला। न्यायतः पाण्डव पक्ष में साक्षात् भगवान् एवं उनके विभूतिरूप अर्जुन विराज रहे हैं, इसलिए उनका पक्ष आपसे सबल है। आपके पक्ष में भय और पाण्डव पक्ष में अभय है इसी तथ्य को स्पष्ट करने के लिए "सघोषः" इत्यादि का प्रारम्भ करते हैं,

> **"स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।**
> **नभश्च पृथ्वीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ।।**

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— हे राजन् ! पाण्डव पक्ष के अठारह महारथों द्वारा बजाये हुये अठारह शङ्खों के उस तुमुल घोष ने स्वर्ग, अन्तरिक्ष, पृथ्वी तथा निचले सातों लोकों को विशेष प्रकार से अनुकूलता पूर्वक निनादित करते हुए धातृराष्ट्र अर्थात् आपके दुर्योधनादि सब पुत्रों के हृदयों को विदीर्ण कर दिया।

व्याख्या— यहाँ 'नभ' शब्द स्वर्ग का वाचक है औक 'चकार' से अन्तरिक्ष का संकेत है पृथ्वी का अर्थ है— सात द्वीपों वाली भूमि। वे सात द्वीप हैं जम्बूद्वीप, प्लक्षद्वीप, कुशद्वीप, शाकद्वीप, क्रौंचद्वीप, शाल्मलिद्वीप तथा पुष्कर द्वीप। निचले सात लोक हैं— अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, पाताल, महापाताल। इन सबको पाण्डव पक्ष के शङ्ख नाद ने "व्यनुनादयन्" अर्थात् विशिष्ट एवं सात्विक नाद से परिपूर्ण कर दिया। परन्तु आप के पुत्रों के हृदय में तुमुल बनकर भय का संचार किया, क्योंकि वे आसुरी प्रकृति के हैं। इसलिए उनकी पराजय में कोई सन्देह नहीं है।।श्री।।

संगति— इस प्रकार उन्नीस श्लोकों में श्री गीताजी के अधिकारी कौरवों की दुर्बलता का वर्णन करके इसी ब्याज से दस इन्द्रियां, चार अन्तःकरण तथा पाँच प्राणों से युक्त सूक्ष्म शरीर की दशाओं का वर्णन करके, अब बीसवें श्लोक से गीताजी के परम अधिकारी भगवत्प्रपन्न प्रत्यगात्म अर्जुन एवं श्रीगीताजी के प्रतिपाद्य परमात्मा श्रीकृष्णजी के संवाद से श्रीगीताशास्त्र का प्रारम्भ करते हैं—

"अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ।।२०।।
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ।।२१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— संजय धृतराष्ट्र को सावधान करते हुए कहते हैं, हे महीपते ! अर्थात् बहुत पतियों वाली पृथ्वी के शासक महाराज धृतराष्ट्र दोनों सेनाओं के शङ्खनाद के अनन्तर शस्त्र प्रहार रूप युद्ध के प्रारम्भ होने से कुछ क्षण पूर्व 'धार्तराष्ट्र' अर्थात् आपके पुत्र एवं उनसे सम्वद्ध सभी कौरव सैनिकों को युद्ध के लिए व्यवस्थित देखकर श्रीहनुमान्‌जी से विराजमान ध्वज वाले तृतीय पाण्डव श्री अर्जुन अपना गाण्डीव धनुष उठाकर हृषीकेश अर्थात् इंद्रियों के नियन्ता भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र से यह वाक्य बोले— हे अच्युत ! आप किसी भी परिस्थित में अपने छःहों ऐश्वर्यों से च्युत नहीं होते अतः दोनों सेनाओं के बीच में मेरा रथ खड़ा कर दीजिए।

व्याख्या— यहाँ सञ्जय धृतराष्ट्र को महीपते शब्द से सम्वोधित करते हैं, इसमें उनके दो अभिप्राय व्यञ्जित हो रहे हैं।

१- राजन् पृथ्वी बहुपतिका है, इसलिए अब आप बहुत दिनों तक हस्तिनापुर के राजा

नहीं रह सकेंगे।

अथवा

२- मही युवक को ही पति रूप में स्वीकारती है और आप वृद्ध हो चुके हैं अतः उसकी रक्षा नहीं कर सकेंगे।

'अथ' शब्द मङ्गलार्थक है, श्रुति का वचन है कि आदि, मध्य एवं अन्तमें मङ्गल से युक्त शास्त्र ख्याति प्राप्त करते हैं; तथा इनके अध्ययन करने वाले वीर एवं आयुष्मान् होते हैं। इस कारण सम्पूर्ण दार्शनिक ग्रन्थों के शिरोमणि श्रीगीताजी का प्रारम्भ भी मङ्गल सहित होना चाहिए। अतएव यहाँ 'अथ' शब्द का प्रयोग किया गया यद्यपि अथ शब्द के बहुत अर्थ हैं, तथापि यहाँ वह मंगल के ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अथ शब्द के मंगल होने में पौराणिक वचन भी प्रमाण हैं—

ओङ्कारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा ।
कण्ठं भित्वा वहिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ।।

अर्थात् ओङ्कार एवं अथ शब्द ये दोनों सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्माजी का कण्ठ फोड़कर उनके मुख से सबसे प्रथम वाहर निकले थे इसलिए ये दोनों ही माङ्गलिक हैं।

''कपिध्वजः'' ''कपिः ध्वजे यस्य स कपिध्वजः''।

अर्थात् जिनके ध्वज पर श्री हनुमान् जी विराज रहे हैं। अर्जुन को ही यहाँ कपिध्वज कहा गया है। सर्वप्रथम कपिध्वज विशेषण देकर संजय यह सूचित करते हैं कि जैसे श्री हनुमान्जी की सहायता से श्री रामदल ने रावण दल पर विजय प्राप्त की, उसी प्रकार श्री हनुमान्जी से अलंकृत ध्वज वाले अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण के कृपाबल से आपकी सेना पर विजय प्राप्त कर लेंगे। यहाँ प्रश्न उठता है कि, श्रीगीता प्रवचन के प्रारम्भ में भगवान् ने हनुमान्जी को अर्जुन के ध्वज पर विराजमान कराकर उन्हें अपने से ऊँचा आसन् क्यों दिया ?

उत्तर— इस प्रश्न के तीन उत्तर दिये जा रहे हैं—

१. भगवान् श्रीकृष्ण गीता में जिन योगों की व्याख्या करेंगे वे सब हनुमान्जी द्वारा पहले ही किये जा चुके हैं। इसी तथ्य को सूचित करने के लिए श्री हनुमान् जी को आदर देते हुए परमात्मा श्रीकृष्ण ने श्री अर्जुन के ध्वज पर श्री हनुमान् जी को विराजमान कराकर उन्हें ऊँचे आसन के माध्यम से बहुत आदर दिया।

२. अथवा हनुमान्जी महाराज मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीसीतापति राम जी के उपासक हैं और भगवान् श्रीराम परिपूर्णतम परात्पर ब्रह्म हैं तथा श्रीकृष्ण उन्हीं के अवतार हैं। श्री गीता प्रवचन काल में उनके मन में पूर्ण रामत्व बना रहे इसीलिए श्रीअर्जुन के ध्वज पर हनुमान् जी को विराजमान कराकर भगवान् श्रीकृष्ण गीता प्रवचन काल में सतत अपने रामत्व का स्मरण करते रहेंगे अथवा श्री हनुमान्जी का स्मरण एवं दर्शन युद्ध

में विजयदायक है, अतः श्री अर्जुन को विजय दिलाने के लिए भगवान् ने श्री हनुमान् जी को उनके रथ पर विराजमान कराया। शस्त्र अर्थात् आयुधों के प्रहार को ही शस्त्र सम्पात कहते हैं। 'प्रवृत्त' शब्द वर्तमान काल में अथवा आदि कर्म में कर्ता में 'त' प्रत्यय करके सिद्ध हुआ है, वाक्यार्थ होगा कि शस्त्रों के प्रहार के प्रारम्भ होने पर अथवा उसके कुछ क्षण पहले धनुः अर्थात् गाण्डीव को उठाकर अथवा उसे अच्छे व्यापार में लगाकर, पाण्डव अर्थात् तृतीय पाण्डव अर्जुन हृषीकेष अर्थात् सभी इन्द्रियों के नियामक भगवान् श्रीकृष्ण से यह वाक्य बोले— हे अच्युत ! यहाँ अच्युत शब्द बड़े ही महत्त्व का है। 'न च्यौवति इति अच्युतः' अर्थात् जो कभी च्युत नहीं होता उसे अच्युत कहते हैं। हे प्रभु ! मुझे विश्वास है कि आप अपने पुत्र के श्वसुर अर्थात् अपने समधी दुर्योधन पर कोई पक्षपात नहीं करेंगे। अथवा आप अच्युत हैं अतः हमें भी नहीं गिरने देंगे। अथवा आध्यात्मिक दृष्टि से दुर्योधनादि रोग है और उसका नाश अच्युत, अनन्त, गोविन्द इन भगवान् नामोच्चारणों से हो जाता है—

''अच्युतानन्त गोविन्द नामोच्चारणभेषजात् ।
नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं ब्रवीमि ते।।''

सौभाग्य से भगवान् ने अर्जुन के मुख से इन तीनों नामों का उच्चारण करा दिया जिससे दुर्योधनादि रोग अवश्य नष्ट हो जायेंगे। यथा— ''रथं स्थापय मे ऽच्युत'' ''अनन्त देवेश जगन्निवास'' गोविन्द ''किन्नो राज्येन गोविन्द'' तात्पर्य यह है कि अर्जुन ने दुर्योधनादि को नष्ट करने के लिए आध्यात्मिक उपाय भी कर लिया है। इन शब्द का स्वामी अर्थ होता है और इन अर्थात् सेनापति के साथ वर्तमान दल को सेना कहते हैं। ''इनेन सह वर्तमाना सेना'' अर्थात् सेनापति एवं रक्षकों के साथ विराजमान दोनों सेनाओं के बीच में मेरा रथ खड़ा कर दीजिए।।श्री।।

संगति— तव तुम क्या करोगे इस पर कहते हैं—

''यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया यह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ।।२२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— हे अच्युत तव तक मैं युद्ध की इच्छा से उपस्थित इन कौरव भटोंको देख लूँ अर्थात् निरीक्षण कर लूँ। इस युद्ध रूप सुन्दर व्यापार में मुझे किनके-किनके साथ युद्ध करना है अथवा किनको किनको मेरे साथ युद्ध करना है।

व्याख्या— ''रथं स्थापय'' इस वाक्य खण्ड में विधि में लोट् लकार है। विधि का अर्थ है— प्रेरणा। आज अर्जुन भगवान् को रथ की स्थापना में प्रवृत्त कर रहे हैं। भगवान् का अन्तःप्रश्न होता है तव तुम क्या करोगे ? इस पर अर्जुन कहते हैं— ''यावत्'' तव तक मैं निरीक्षण करूँगा। ''किनका'' तव कहते हैं ''युद्ध कामान्' जो युद्ध की कामना से यहाँ उपस्थित हैं। इस निरीक्षण से क्या लाभ होगा ? इस पर कहते हैं ''कैर्मया''

अर्थात् इस युद्ध रूप व्यापार में मैं किनके-किनके साथ युद्ध करूँ। अथवा कौन-कौन लोग मेरे साथ युद्ध करेंगे। "योद्धव्यं" इस शब्द में सम्भावना में तव्यत् प्रत्यय हुआ है।।श्री।।

संगति— इन्हें देखकर तुम क्या करोगे इस पर कहते हैं—

"योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ।।२३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— हे मदनमोहन तव तक मैं उन युद्ध करने वाले सुभटों को ठीक से समझ लूँ। जो कि दुष्ट बुद्धि वाले दुर्योधन का प्रिय करने की इच्छा से इस कुरुक्षेत्र में पधारे हैं।

व्याख्या— यहाँ यत् और तत् का नित्य सम्बन्ध होने से यत् शब्द के अनुरोध से तान् शब्द का अध्याहार हुआ और पूर्व श्लोक से यावत् शब्द अनुवृत्त हुआ। इसका हिन्दी में अर्थ है तब तक "दुष्टा बुद्धिः यस्य स दुर्बुद्धिः तस्य दुर्बुद्धेः"। "प्रियचिकीर्षवः" प्रिय करने की इच्छा वाले ये एते का पदच्छेद है। ये एते अर्थात् जो ये लोग। 'अत्र' इस कुरुक्षेत्र में। 'समागता' अपनी जीवन की आशा छोड़कर पधारे हैं "तान्" उन योत्स्यमानान् युद्ध करने वालों को "अवेक्षे" समझ लूँ।।श्री।।

संगति— अब अनन्तरकालिक क्रिया का वर्णन करते हुए श्री वैशम्पायन जनमेजय को सावधान करके अग्रिम घटना की अवतारणा करते हैं—

संजय उवाच—

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ।।२४।।
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति ।।२५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— अग्रिम घटना का प्रस्ताव करते हुए संजय धृतराष्ट्र से बोले— हे भरतवंश में उत्पन्न महाराज धृतराष्ट्र निद्रा विजयी श्री अर्जुन द्वारा इस प्रकार पूर्व के ढाई श्लोकों से अपने मनोभावों के कहे जाने पर उनसे प्रार्थित इन्द्रियों के जीतने वाले भगवान् श्रीकृष्ण ने दोनों सेनाओं के मध्य श्रेष्ठ रथ को खड़ा करके भीष्म द्रोण आदि सभी राजभटों के मध्य "हे पार्थ ! युद्ध में उपस्थित इन कौरव भटों को देखो" इस प्रकार अर्जुन से कहा।

व्याख्या— घटना की गम्भीरता को सूचित करने के लिए प्रसंग के चलते रहने पर भी 'संजय उवाच' इस विशेष वाक्य का प्रयोग करते हैं। तात्पर्य यह है कि यह घटना इतनी गम्भीर है जिसमें धृतराष्ट्र का सावधान रहना अत्यन्त आवश्यक है। अतः

संजय सावधान करते हैं— भारत! 'भरतस्य गोत्रापत्यं पुमान् भारतः तत्सम्बुद्धौ' हे भारत! संजय का सम्बोधन धृतराष्ट्र के लिए विशेष अभिप्राय की सूचना दे रहा है। आप भरत की पौत्र परम्परा में उत्पन्न हुए हैं अतः आपको भरत का अनुसरण करके अजातशत्रु महाराज युधिष्ठिर को उनका दायस्वरूप आधा राज्य दे देना चाहिए। निद्रा से उत्पन्न आलस्य को गुडाका कहते हैं। 'निद्रालस्यं गुडाका स्यात्' गुडाकाम् ईष्टे गुडाकाया ईशो वा गुडाकेशः पार्थः। अर्जुन उस गुडाका अर्थात् निद्रा पर विजय प्राप्त कर चुके हैं इसीलिए वे गुडाकेश हैं। आपके पुत्र निद्रालु और आलसी हैं परन्तु अर्जुन जागरूक। उन अर्जुन के द्वारा एवं पूर्वोक्त ढाई श्लोकों में 'हृषीकेशः' हृषीकाणाम् ईशः अर्थात् जिन्होंने सम्पूर्ण इन्द्रियों को जीत लिया है ऐसे भगवान् श्रीकृष्ण से जब दोनों सेनाओं के बीच रथस्थापन की प्रार्थना की गई तब 'भीष्मद्रोणप्रमुखतः' अर्थात् भीष्म द्रोण के सम्मुख। यहाँ द्वन्द्व सप्तमीतत्पुरुष पूर्वक अव्ययीभाव है अर्थात् भीष्म और द्रोण के सम्मुख, अथवा यहाँ षष्ठीतत्पुरुषगर्भ बहुव्रीही है। भीष्मद्रोणौ प्रमुखौ येषाम् ते भीष्मद्रोणप्रमुखाः तेषाम् भीष्मद्रोण प्रमुखतः। भीष्म और द्रोण मुख्य हैं जिनमें ऐसे राजाओं के मध्य, यहाँ षष्ठी के अर्थ में तसिः प्रत्यय हुआ है। मही अर्थात् पृथ्वी में रहने वालों को महीक्षित कहते हैं। मह्यां क्षीयन्तेति महीक्षितः। क्षि धातु का निवास अर्थ है अर्थात् पृथ्वी में निवास करने वाले सभी राजाओं के समक्ष भगवान् श्रीकृष्ण ने क्या कहा इस पर कहते हैं— पार्थ! पृथायाः अपत्यं पुमान् पार्थः। तुम पृथा अर्थात् मेरी परमभक्त कुन्ती के पुत्र हो। तुम्हें उन्हीं की भाँति विवेकनेत्र मिले हैं। आज उनका उपयोग करो। अथवा पार्थ! तुम पृथा अर्थात् मेरी बुआ के पुत्र हो। अतः तुम्हारा सबसे प्रथम सम्बन्धी मैं हूँ। परन्तु मुझे न देखकर कौरवों को देखना चाह रहे हो यही तुम्हारी विडम्बना है। तो फिर लो— 'एतान् समवेतान्' युद्ध में उपस्थित इन कुरुओं को देखो। यहाँ 'पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरून्' इस अनुष्टुप् के लगभग दो चरण के समान वाक्य खण्ड में भगवान् ने ग्यारह अक्षरों का प्रयोग करके महाभारत में अर्जुन को रौद्र कर्म करने का निर्देश भी दिया। पश्य का अर्थ है इन सबको अपने नेत्रों का विषय बनाओ। प्रमुख शब्द यद्यपि समास एवं तसि प्रत्यय से बँधा हुआ है तथापि 'सर्वेषां च' इस वाक्य खण्ड में प्रयुक्त 'च' शब्द के अनुरोध से 'प्रमुखतः' शब्द 'महीक्षिताम् के साथ भी जुड़ेगा। षष्ठीतत्पुरुष पक्ष में 'भीष्म द्रोण के तथा सभी राजाओं के समक्ष' इस प्रकार वाक्यार्थ बनेगा। षष्ठी बहुव्रीही पक्ष में 'भीष्म द्रोणौ प्रमुखौ येषां ते भीष्मद्रोण प्रमुखाः तेषां भीष्मद्रोणप्रमुखाणाम् तदेव भीष्मद्रोण प्रमुखतः' अर्थात् भीष्म और द्रोण जिनमें मुख्य हैं ऐसे राजभटों के मध्य। 'पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरून्' इन्हीं ग्यारह अक्षरों से भगवान दो बिन्दुओं की ओर विशेष संकेत करना चाहते हैं—

१. अब तुम दस इन्द्रियाँ एवं मन इन्हीं ग्यारहों को संयत रखो।

२. दूसरा संकेत यह है कि इन्हीं ग्यारहों के मेरे चरण में समर्पित कर देने से एकादशी की पूर्णता हो जाती है और वस्तुतः श्रीगीताजी के उपदेश के समय मार्गशीर्ष एकादशी

थी यह भी भगवान् ने अपने प्रारम्भिक भाषणों के ग्यारह अक्षरों से संकेत किया।।श्री।।

संगति— प्रश्नभाष्य : यहाँ स्वभावतः यह प्रश्न किया जा सकता है कि श्री अर्जुन ने तो भगवान् श्री कृष्ण के निर्देश से ही कौरव सेना का निरीक्षण किया था तो फिर उनके द्वारा शोक और मोह जैसे भयंकर दोष क्यों स्वीकार लिये गये। भला साक्षात् भगवान् श्री कृष्ण की उपस्थिति में उन्हीं के परमान्तरंग सेवक श्री अर्जुन में शोक मोह आये ही क्यों ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अर्जुन के शोक मोह पारमार्थिक नहीं थे। वस्तुतः भगवान् श्री कृष्ण ने ही श्री धनञ्जय को औपचारिक शोक मोह को निमित्त बनाकर हम जैसे शोक मोह के महासागर में डूबे हुए असंख्य प्राणियों को उससे उद्धार करने की इच्छा करके श्री गीता शास्त्र को प्रकट किया। यदि कदाचित् औपचारिक रूप में भी ये शोक और मोह श्री अर्जुन में आये भी तो बहुत थोड़े समय के लिए। यह केवल विद्या नामक भगवान् श्री कृष्ण की लीला शक्ति ने प्रभु की लीला में लालित्य लाने के लिए ही यह मनोहर दृश्य उपस्थित कर दिया था। भगवद्भक्तों को कभी भी अविद्या माया नहीं व्यापती उन्हें तो प्रभु की लीला में रोचकता लाने के लिए कभी-कभी विद्या अर्थात् लीला शक्ति ही मोहित कर लेती है। इसीलिए भगवद्भक्त का कभी नाश नहीं होता तथा उसमें क्रमशः भेदशक्ति अर्थात् सेवकसेव्यभाव सम्बन्ध का संवर्धन होता रहता है। जैसाकि— श्री मानस में श्री काक भुशुण्डि जी श्री गरुड़ से कहते हैं—

हरि सेवकहिं न व्याप अविद्या ।
प्रभु प्रेरित व्यापइ तेहि विद्या ।।
ताते नास न होइ दास कर ।
भेद भगति बादहि बिहंग बर ।। मानस ७।७८।२,३

अर्जुन के सैन्यनिरीक्षण की उस परिस्थिति को सञ्जय ढाई श्लोकों में वर्णन करते हैं।

"तत्रा पश्यत्स्थितान् पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान् भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ।।२६।।
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ।।२७।।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— सञ्जय धृतराष्ट्र से कहते हैं इस प्रकार भगवान् श्री कृष्ण के कौरव सैन्य दर्शन के निर्देश के पश्चात् पृथा पुत्र (कुन्ती पुत्र) अर्जुन ने उन दोनों कौरव पाण्डव सेनाओं में स्थित पिता के समान पूज्य ताऊ चाचाओं को, पितामह भीष्म को, कृपाचार्य द्रोणाचार्य को, मामा शल्य, शकुनि आदि को, भ्राता युधिष्ठिर आदि चार पाण्डव तथा दुर्योधनादि सौ कौरवों को, पुत्र अभिमन्यु आदि बेटों एवं लक्ष्मण आदि भतीजों को, पौत्र सम्बन्ध में लगने वाले भतीजों के बेटों को, अश्वत्थामा आदि मित्रों

को, द्रुपद आदि श्वशुरों को, धृष्टद्युम्न आदि मधुर सम्बन्धियों को "चकारेण अन्यान्य" अज्ञात नाम वाले सम्बन्धियों को देखा। इस प्रकार उन सम्पूर्ण अपनी ममता के पात्र बन्धु बान्धुओं को सूक्ष्म दृष्टि से निहारकर परम करुणा अथवा संसार से संलग्न होने के कारण अपर अर्थात् निकृष्ट करुणा से भूतावेश की भांति आविष्ट हुए विषाद करते हुए कुन्तीपुत्र अर्जुन 'इ' अर्थात् कामबीजात्मक मोह को नष्ट करने वाले श्री कृष्ण से इस प्रकार साढ़े अठारह श्लोकों वाला वाक्य बोले।

व्याख्या— 'अथ' अर्थात् भगवान् श्री कृष्ण के विज्ञापन के पश्चात् 'पार्थ' अभिप्राय यह है पृथा की भाँति यह भी अपने कुटुम्ब में बहुत आशक्ति रखते हैं। 'तत्र' का अर्थ है उन दोनों सेनाओं मे! 'पितृ' शब्द ताऊ चाचा आदि पिता की समान कक्षा वाले सम्बन्धियों का बोधक है। पितामह शब्द केवल भीष्म के लिए है यहाँ आदरार्थ में बहुवचन का प्रयोग हुआ है। आचार्य शब्द भी द्रोणाचार्य और कृपाचार्य के अर्थ मे प्रयुक्त होकर भी आदरार्थ बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है। सुहृदशब्द मधुर सम्बन्धी धृष्टधुम्न आदि का वाचक है इसी प्रकार च अन्य सम्बन्धियों का सूचक है। इन्हें देखकर कौन्तेय अर्थात् कुन्ती पुत्र अर्जुन परम करुणा से अविष्ट हुए। कृपा शब्द का अर्थ यहाँ करुणा है यदि कृपया अपरया इस प्रकार पदच्छेद किया जाय तो वाक्य होगा अपरया कृपया ! अजुर्न की यह कृपा अपरा अर्थात् निकृष्ट है क्योंकि इसका संसार से सम्बन्ध है और यह असमर्थ जीवात्मा अर्जुन पर आधारित है जबकि इसे भगवान् श्री कृष्ण पर आधारित होना चाहिये था। कृपा का अर्थ है दूसरे के दुःखों को नष्ट करने की इच्छा। "पर दुःख नाश चिकीर्षा कृपा" जो अर्जुन से सम्भव नहीं थी। क्या वह कृपा सार्वकालिक थी। इस पर कहते हैं आविष्टः। भूतावेष की भाँति अर्जुन में उसका आवेश मात्र था क्योंकि सार्वकालिक रूप से तो कृपा केवल भगवान् में रहती है जीव में नहीं। उसका परिणाम क्या हुआ इस पर कहते है 'विषीदन्' ! अब अर्जुन को विषाद हुआ उसकी प्रसन्नता चली गयी, और विषाद करते हुए अर्जुन बोले - क्या बोले। क्या बोले इस पर कहते हैं 'इदं' यह अर्थात् तुरंत ही कहा जाने वाला साढ़े अठारह श्लोकों का वाक्य बोले। किससे बोले - इसका भी उत्तर है 'इदं' यहाँ इदं शब्द सर्वनाम नहीं प्रत्युत कृदन्त इद शब्द का अम्विभत्त्यंत रूप है। इसका विग्रह होगा "अः वासुदेव" तस्य अपत्यम् पुमान् इः कामः तद्बीज भूतौ शोकेमोहौ तदात्मकं 'इम्' संसारं द्यति खण्डयति इति इदः तम् इदं अर्थात् अ भगवान् वासुदेव श्री कृष्ण का नाम हैं। उनसे उत्पन्न काम को इः कहते हैं। वही काम शोक, मोह तथा संसार का बीज है उसी शोक मोहात्मक संसार का खण्डन करने से भगवान् को 'इद' कहते हैं। दोः धातु का खण्डन अर्थ है और द्यति का अर्थ है खण्डन करने वाला। ऐसे काम मूलक, शोक मोहात्मक संसार प्रपञ्च को नष्ट करने वाले इद अर्थात् भगवान् श्री कृष्ण से अर्जुन बोले।।श्री।।

संगति– मङ्गलाचरण :– ब्रह्मविद्यां दिशन् संख्ये सख्ये शोकार्तचेतसे।
पार्थाय पार्थसूतोऽसौ ममाविद्यां निराक्रियात्।।

''रणभूमि में शोक पयोधि में बूड़त,
कृष्णा पे कृष्ण कृपाहुँ करी।
दियो गीतोपदेश निदेश भलो,
भव बारिधि हेतु सुकेतु तरी।।
कियो ग्यान, विवेक, परीत सुमीत को,
मानस में नव नीति भरी।
सोइ गिरधर हेरि हरैं हठिकै हित,
मेरी अविद्या विलास हरी।।

अव परमात्मा श्री कृष्ण द्वारा प्रेरित विद्या अर्थात् लीलाशक्ति से उत्पन्न किये हुये अल्पकालिक शोक-मोह द्वारा कुछ क्षणों के लिए जिनका सेव्य सेवक भाव अपहृत जैसा हो गया है ऐसे अर्जुन की मनोदशा को उन्हीं के मुख से साढ़े अठारह श्लोकों में प्रस्तुत करते हुऐ सञ्जय उस कथन की अवतरणिका कह रहे हैं। सञ्जय बोले! हे महाराज धृतराष्ट्र अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण के नित्य परिकर और परम अन्तरंग भगवत्कृपा पात्र होकर भी श्री गीता की भूमिका के लिए शोक मोह से समाकुलित बद्ध जीव का अभिनय करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण से बोले – अर्जुन उवाच–! ''अर्जयतीति अर्जुनः'' अर्थात् जिन्होंने कुछ काल के लिए शोक तथा मोह को विद्यामाया से उधार ले लिया है ऐसे अर्जुन बोले–

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्।।२८।।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।।२९।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— अर्जुन विषाद से कातर स्वर में भगवान् श्रीकृष्ण से बोले– हे भक्तों के दुःखनाशक तथा हे भावुकों के चित्ताकर्षक परिपूर्णतम परात्पर परमात्मा श्रीकृष्ण! युद्ध करने की इच्छा से अपने सम्मुख उपस्थित इस आत्मीयों के समूहों को देखकर मेरे गात्र अर्थात् सभी अङ्ग फट रहे हैं तथा मेरा मुख पूर्णरूप से सूख रहा है और मेरे शरीर में कम्पन एवं रोमांच उत्पन्न हो रहा है।

व्याख्या— आज विधिवशात् भगवान् की लीला शक्ति से अन्यथा प्रेरित होकर अर्जुन शोक मोह से विवेक शून्य हुए जीव की भाँति 'अहिंसा परमो धर्मः' वैदिक वाक्य की विपरीत व्याख्या कर रहे हैं। आज इनके मत में भयङ्कर से भयङ्कर अत्याचार करनेवाले को न मारना ही परम धर्म है। 'अहिंसा परमो धर्मः' वाक्य का सरसरी दृष्टि से अर्थ करके कदाचित् कबीर जी ने भी मूल से यही अर्थ कर डाला–

जो तोको काँटा बुवै ताहि बोय तू फूल ।
तोको फूल का फूल है वाको है तिरशूल ।।

जब कि पूर्वोक्त वाक्य का ऐसा अर्थ है नहीं। क्योंकि अहिंसा को परम धर्म मान लेने से ही भारत का प्राचीन शौर्य एवं तेज का गौरव समाप्त हुआ तथा शस्त्र चलाना छोड़कर भारत का हिन्द समाज नपुंसक हो गया और अहिंसा परमो धर्मः की असंगत व्याख्या का अनुचित लाभ लेकर विदेशी क्रूर शासक भारत पर आक्रमण करते रहे और भारतीय 'अहिंसा परमो धर्मः' की दुहाई दे देकर पिटते रहे (यह कटु सत्य है कि एक ओर जहाँ भगवान् बुद्ध ने करुणा, दया, सहिष्णुता आदि सद्गुणों को जागृत करके देश को सकारात्मक प्रेम गङ्गा में स्नान कराया, ठीक वहीं दूसरी ओर 'अहिंसा परमो धर्मः की गलत व्याख्या करके भारतीय समाज को एक नकारात्मक पक्ष देकर उसे नपुंसक बनाने में भी सशक्त भूमिका निभाई जबकि अहिंसा शब्द का अर्थ है "अत्याचारिणाम् हिंसा"। असभ्य हिंसा अहिंसा, अशिष्ट हिंसा अहिंसा, असुर हिंसा अहिंसा, अपुण्य हिंसा अहिंसा अर्थात् अत्याचारी, अशिष्ट, असभ्य, अपवित्र एवं असुर लोगों की हिंसा ही अहिंसा है। और यही परम धर्म भी है। .अतएव—

"जो तोको काँटा बोये, ताहि बोय तू फूल"

इसके बदले यह सिद्धान्त होना चाहिए कि " जो तोको काँटा बोये, ताहि बोए तू भाला। वह भी मूरख क्या समझेगा कि पढ़ा किसी से पाला।।"

इसीलिए भगवान् वेद ने भी आज्ञा दी है कि– "योऽस्मान् धूर्वति तं धूर्वयं वयं धूर्वामः"। अर्थात् जो हमें मारने आ रहा हो उसको पूर्ण रूप से नष्ट कर देना ही हमारा परम कर्तव्य है।

नीति शास्त्र ने भी, "शठे शाठ्यं समाचरेत्" ही कह कर इसी तथ्य का समर्थन किया।

गोस्वामी तुलसी दास जी ने भी मानस में यही कहा–

जो रन हमहिं पचारै कोऊ ।
लरहिं, सुखेन, काल किन होऊ ।।

वस्तुतः भगवान् बुद्ध तथा स्वामी महावीर द्वारा व्याख्यायित अहिंसा परम अधर्म ही है अतः "अहिंसा परमोऽधर्मः" अर्थात् वेद से असम्मत अहिंसा ही परम अधर्म है।

अब प्रकृत की चर्चा करते हैं। शोक एवं मोह में आकण्ठ डूबे होने पर भी अर्जुन भगवद् भक्त होने के कारण अपने वक्तव्य का प्रारम्भ करते हुए कृष्ण यह परम मङ्गलमय सम्बोधन कर रहे हैं, इसमें बहुत से अभिप्राय छिपे हैं।

१. "कृषतीति कृष्णः" आप भक्तों के क्लेशों को समाप्त कर देते हैं उसी प्रकार मेरे

भी अज्ञान जनित अविद्या, अस्मिता, राग द्वेष तथा अभिनिवेश इन पाँचों क्लेशों को समाप्त कर दीजिए।

२. "कर्षतीति कृष्णः" आप भावुकों के मनों को अपने ओर खींच लेते हैं वैसे ही मेरे भी मन मतङ्ग को अपने ओर आकर्षित कर लीजिए।

३. "कृष्ण" यह सम्बोधन दवानल में जलते हुए गोप बालकों का है। दवाग्नि से जलते हुए गोपाल बालकों ने करुण स्वर में कहा हे कृष्ण ! निश्चय ही आपके भक्त कभी भी कष्ट पाने के योग्य नहीं हुआ करते हे, सर्व धर्मज्ञ ! हम ते आपको ही अपना नाथ तथा अपना परायण आश्रय मानते हैं। (भागवत–१०/२९/१०)

वही सम्बोधन देकर यहाँ अर्जुन यह कहना चाह रहे हैं कि कृष्ण ! जैसे कृष्ण नाम संकीर्तन करने वाले ग्वाल बालों को आपने दावाग्नि से बचाया, उसी प्रकार कृष्ण नाम संकीर्तन कर रहे मुझ अर्जुन को शोक दावाग्नि से बचाइये। भगवान् श्री कृष्ण का अन्तरप्रश्न होता है 'मैं तो सारथी हूँ और तुम रथीं। रथी सारथी को बचाता है न कि सारथी रथी को'। इस प्रश्न के समाधान में कहते हैं 'कृष्ण आप सारथी होकर भी धर्मार्थी, मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम हैं, क्योंकि, 'महर्षि बाल्मीकि ने श्रीमद् रामायण में श्री राम को ही कृष्ण कहा है। यथा–

शार्ङ्गधन्वा हृषीकेशः पुरुषः पुरुषोत्तमः ।
अजितुः खड्गधृग्विष्णुः कृष्णश्चैव बृहद्बलः ।।वा०रा०६/११७/१६

तात्पर्य यह है कि जैसे, "मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम ने धर्म रथ का अवलम्बन लेकर रावण पर विजय प्राप्त की उसी प्रकार सारथी बनकर मुझे विभीषण की भाँति अखण्ड राज्य से युक्त कर दें"। जैसे, "त्रेता में कृष्ण नाम वाले आप श्रीराम ने बालि को मारकर सुग्रीव को उनका खोया हुआ राज्य तथा हारी हुई पत्नी दे दी थी। उसी प्रकार दुर्योधन को समाप्त कर मुझे भी राज्य एवं पत्नी द्रौपदी से संयुक्त कर दें। त्रेता में आपने इन्द्र पुत्र बालि का वध करके सूर्यपूत्र सुग्रीव को अभय दान दिया था परन्तु इस द्वापर में आपको कुछ विपरीत करना होगा इस वार सूर्य पुत्र कर्ण को समाप्त कर मुझ इन्द्र पुत्र को अभय दान देना होगा। भगवान् का प्रश्न है कि श्रीराम तो परब्रह्म परमात्मा हैं, वे सब कुछ करने में समर्थ हैं मैं तो तुम्हारा ममेरा भाई और साला ही हूँ। इस पर कहते हैं, 'कृष्ण आप सांसारिक सम्बन्धी होकर भी परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण हैं, क्योंकि कृष्ण परमेश्वर का नाम है। पुनः प्रभु प्रश्न करते हैं कि तुम जिनसे अपनी रक्षा चाहते हो वे भीष्म कर्ण आदि तो देवताओं के अंश हैं, उनसे मैं तुम्हें कैसे बचा सकूँगा। इस पर कहते हैं कृष्ण अर्थात् श्रुति ने आपको परब्रह्म कहा है। भगवती श्रुति कहती है "कृषि" शब्द का अर्थ है सत्ता और "ण" शब्द निर्वृत्ति अर्थात् शांति का वाचक है इन्हीं दोनों "कृषि (सत्ता) ण (शान्ति)" का सनातन समन्वय ही कृष्ण है और वही परब्रह्म है।

"कृषि र्भूवाचको शब्दो णस्तु निवृत्तिवाचकः ।
तयोरैक्यं परब्रह्म श्रीकृष्णेत्यभिधीयते ।।

यहाँ अर्जुन का अभिप्राय है कि 'हे कृष्ण भू और शान्त का समन्वय ही आपका श्री विग्रह है अतएव आप मुझे प्रसाद रूप में निर्वृत्ति अर्थात् परमशान्ति के साथ पृथ्वी को देंगे, न कि कौरवों की भाँति अशान्ति के साथ'। यह सब यद्यपि माया के द्वारा विचलित नहीं है। किन्तु अर्जुन भगवद् भावमय हैं इसलिए श्री अर्जुन के मुख पर बैठी सरस्वती ही कृष्ण सम्बोधन कराकर भाव वत्सल प्रभु के प्रति इन नये-नये भावों का उन्मेषण करा रही है।

लीला में भी शोक तथा मोह से बुद्धि के मूढ़ हो जाने पर भी अर्जुन श्री वैष्णवों की मर्यादा रेखा से किंचित् भी पतित नहीं हो रहे हैं यह आश्चर्य है। यहाँ कृष्ण शब्द सकल हेय गुणों से रहित तथा कलिकाल के कल्मषों नष्ट करने वाले दिव्य गुण गणों से युक्त सच्चिदानन्द, मानवावतार द्वारिकाधीश सरकार का बोधक है। इमं का अर्थ है अत्यन्त निकट वर्तमान अथवा 'इम् संसारं मति समाहरति इति इमः तं इमं' अर्थात् काम संकल्प से उत्पन्न इस संसार को जो अपने में समेट लेता है ऐसे ममतामय अपने स्वजन अर्थात् आत्मीयों एवं जाति जनों के समूह को वो भी शांत नहीं "युयुत्सं' युद्ध के लिए इच्छुक, वो भी विमुख नहीं समुपस्थित सम्मुखम् आधिक्येन स्थितम् अर्थात् मेरे अत्यन्त सम्मुख उपस्थित अर्थात् आमने सामने खड़े हुए इस कुटुम्ब को अपने नेत्रों को विषय बनाकर मेरे सभी अङ्गः "सीदन्ति" अर्थात् बिखर-बिखर फट रहे हैं। सीदन्ति शब्द षद्लृ धातु से लट् लकार प्रथम पुरुष बहुवचन में बनता है। षद्लृ धातु के विषरण अर्थात् फटना, गति एवं अवसादन अर्थात् कष्ट पाना अर्थ होता है। "षद्लृ" – विशरणगत्यवसादनेषु" (पा० धा० वृ० ५४)। विशरण का अर्थ होता है फटना अतः यहाँ सीदन्ति का अर्थ होगा फट रहे है। जो कुछ टीकाकार सीदन्ति का "शिथिल हो रहे है" अर्थ करते है वास्तव में उन्हें व्याकरण का ज्ञान नहीं है इसलिए उनकी व्याख्या का यहाँ कोई महत्व नहीं। यहाँ अर्जुन का आशय है, "यदि बिना युद्ध किये ही सभी अङ्ग फट रहे तो युद्ध करने पर क्या स्थिति बनेगी।

पुनः शोकाग्नि से 'मुखं परिशुष्यति' अर्थात् मेरे मुख में लार भी सूख गई है मेरे शरीर में वेपथु अर्थात् कम्पन और रोमाञ्च हो रहा है ये सब शोक के लक्षण हैं। ।।श्री।।

संगति— और भी अपनी दुर्बलता का वर्णन करते हैं–

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ।।१।३०।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— अर्जुन आगे कहते है कि हे भगवान् ! मेरे हाथ से गाण्डीव धनुष खिसक रहा है तथा मेरी त्वचा अर्थात् चर्मेन्द्रियाँ अथ च त्वक् अर्थात्

कवच ये दोनों ही जल रहे हैं तथा मैं युद्ध के लिए स्थित होने में असमर्थ हो रहा हूँ और मेरा मन भ्रमित सा हो रहा है।

व्याख्या— "चकार" यहाँ विषय का समुच्चय कह रहा है यहाँ हस्त शब्द वाम हस्त का बोधक है अर्जुन कहते हैं कि प्रभो ! मेरी यह शोकाग्नि इतनी अधिक बलवान् है, कि इसके कारण अग्नि द्वारा दिया हुआ मेरा गाण्डीव धनुष मेरे बायें हाथ से खिसक कर गिर रहा है। क्या आश्चर्य है कि यह शोकाग्नि मेरे आग्नेय आयुध गाण्डीव को भी मेरे हाथ से गिरा रही है, तो अन्य की क्या चर्चा। और इस अग्नि से मेरी त्वक् अर्थात् चर्मेन्द्रिय जल रही है। और लोगों को तो यह भीतर ही जलाता है परन्तु मेरे बाह्य अंगों को भी जला रहा है अथवा त्वक् शब्द का अर्थ है युद्ध-कवच इसीलिए भागवत में भीष्म कहते हैं कि मेरे तीखे बाणों से प्रभु का कवच फट गया था। अर्जुन कहते हैं इस शोकाग्नि से मेरे शरीर पर लटक रहा कवच भी चारों ओर से जल रहा है उसकी गर्मी से मैं संतप्त भूमि में युद्ध के लिए व्यवस्थित नहीं हो पा रहा हूँ। और मेरा मन भ्रान्त जैसा हो रहा है; अतः गीता गान से आप मेरी शोक दावाग्नि को पी लीजिए। यही यहाँ ध्वनि है।।श्री।।

संगति— अर्जुन और भी अपनी मनोदशा का वर्णन करते हैं -

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ।।१।३१।।

रा०कृ०मा० सामान्यार्थ— अर्जुन कहते हैं— हे केशव यानी ब्रह्मा तथा शंकर को भी नियन्त्रित करने वाले परमेश्वर ! मैं तो शकुनों को भी अपने से प्रतिकूल देख रहा हूँ। तथा स्वजन अर्थात् परिवार विरुद्ध होने पर भी इन कौरवों को मारकर अपना अनुकूल कल्याण नहीं देख पा रहा हूँ।

व्याख्या— इस प्रकार हाथ से गाण्डीव गिरने, कवच के जलने एवं मन के भ्रम से अपशकुन की सूचना हो रही है, क्योंकि वीर के हाथ से आयुध का गिरना बहुत बड़े अपशकुन का सूचक है। और भयंकर पराजय का भी, परन्तु यह सब अर्जुन के लिए वास्तविक नहीं है क्योंकि वह स्वयं कह रहे हैं, "भ्रमतीव च मे मनः" मेरा मन भ्रमित सा हो रहा है। भ्रमपूर्ण मन में असत्य पदार्थों की ही प्रतीति होती है। जैसे- पीलिया होने पर चन्द्रमा में पीलेपन होने की प्रतीति, नाव पर चढ़े हुए मूर्ख व्यक्ति को स्वयं की स्थिरिता की प्रतीति, दिग्भ्रान्त व्यक्ति को पश्चिम में सूर्योदय की प्रतीति तथा चक्कर लगाने वाले बालकों को ग्रहों के घूमने की प्रतीत ये सब असत्य प्रतीतियाँ ही तो हैं। जैसा कि मानस उत्तरकाण्ड में भुशुण्डि जी कहते हैं -

नयन दोष जा कहँ जब होई। पीत बरन ससि कहुँ कह सोई ।।
जब जेहि दिसि भ्रम होई खगेसा। सो कह पच्छिम उदय दिनेसा ।।
नौकारुढ़ चलत जग देखा। अचल मोह बस आपुहिं लेखा ।।

बालक भ्रमहिं न भ्रमहिं गृहादी। कहहिं परस्पर मिथ्यावादी ।।

यहाँ भी उसी प्रकार का संयोग है इससे अर्जुन की सरस्वती पूर्व श्लोक में "सर्वत्र इव" संयोजन करती है। अर्थात् हाथ से गाण्डीव खिसक जैसा रहा है वस्तुतः नहीं, कवच एवं चर्मेन्द्रिय जल जैसे रहे हैं वस्तुतः नहीं जल रहे मैं युद्ध में अस्थिर जैसा हो रहा हूँ यह सब तुम्हें क्यों हो रहा है इस पर कहते हैं कि क्योंकि 'मेरा मन भ्रमित सा हो रहा है' इसी प्रकार आगे के श्लोकों में भी समझना चाहिए। क्योंकि यदि ये अपशकुन सत्य होते तो आगे चलकर अर्जुन कैसे विजयी हो जाते अथवा जो ये सत्य हों तो भी कोई आपत्ति नहीं। क्योंकि परमात्मा श्रीकृष्ण की कृपा सभी प्रतिकूलताओं को अनुकूलता में परिवर्तित कर देती है।

"केशव" शब्द "क" "ईश" उप पद पूर्वक ण्यन्तवश् धातु से बनता है "क" का अर्थ है ब्रह्मा और ईश का अर्थ है शिव इन दोनों को वश में करने वाले परमात्मा को केशव कहते हैं। "कं ईशं वशयतीति केशवः"। यहाँ पृषोदरादिगण में आकृति गण की दृष्टि से मानकर शकार का लोप हुआ अथवा केशिनं अवहन्ति इति केशवः"। जिन्होंने केशी दैत्य को मारा वे ही भगवान् श्रीकृष्ण केशव हैं। यहाँ भी पूर्वोक्त प्रक्रिया से हन् धातु का लोप हुआ। अर्जुन का अभिप्राय है कि जैसे आपने ब्रह्मा और शंकर का नियन्त्रण किया है उसी प्रकार मेरे विपरीत शकुनों का नियन्त्रण कीजिये तथा जैसे आपने केशी नामक दैत्य को मारा, उसी प्रकार मेरे शत्रुओं का भी हनन कीजिए। अथवा "प्रशस्ताः केशाः सन्त्यस्य इति केशवः" जिसके पास घुँघराले सुंदर केश हों वही आप केशव हैं। यहाँ "केशाद् वोऽन्यतरस्याम्" (५/२/१०९) इस सूत्र से मत्वर्थीय व प्रत्यय हुआ आशय यह है कि जैसे आपके ये कुटिल केश और लोगों को फँसा लेते हैं उसी प्रकार नित्य भ्रमणशील मेरे मन को भी फँसा लें। अथवा केशान् अवति इति केशवः।" आप केशों की रक्षा करते हैं रामावतार में रावण को मारकर वेदवती के केशों की तथा कृष्णावतार में कंस को मारकर देवकी के केशों की तथा अभी-अभी वस्त्रों को बढ़ाकर दुःशासन द्वारा अपमानित द्रौपदी के केशों की रक्षा की, उसी प्रकार इस युद्ध में भीमसेन द्वारा दुःशासन को समाप्त कराकर द्रौपदी के केशों की फिर रक्षा कीजिए। अथवा "केशान् वयतीति केशवः"। अर्थात् केश गूंथने वाले को केशव कहते हैं। भाव यह है कि जैसे आपने श्री वृन्दावन में श्री ब्रजांगनाओं के केश गूँथे थे उसी प्रकार इस संग्राम में भीमसेन द्वारा दुःशासन का वध कराकर उसकी भुजा के रक्त से स्नान कराकर भीमसेन के माध्यम से अपनी "सखी" द्रौपदी के केशों को गूँथ दीजिए। ये दोनों अर्थ अर्जुन के मुख पर विराजमान सरस्वती ने ही प्रगट किये हैं। अथवा "कश्च ईशश्च केशौ" तौ वाति अनुकम्पतया गच्छति इति केशवः" ब्रह्मा एवं शिव के पास कृपा करके पधारने वाले प्रभु को केशव कहते हैं ऐसे हे केशव! निमित्त अर्थात् शकुनों को मैं विपरीत अर्थात् अपने से प्रतिकूल देख रहा हूँ। और "आहवे" युद्ध में अपने कुटुम्ब को मारकर कल्याण नहीं देख रहा

हूँ। अथवा "हत्वा अस्वजनं" इस प्रकार पदच्छेद समझना चाहिए। "न स्वजनः अस्वजनः" यहाँ न का विरोध अर्थ है अस्वजन का अर्थ होगा स्वजन से विरुद्ध अर्थात् शत्रु। अर्जुन का अभिप्राय यह है कि यदि युद्ध में स्वजन विरुद्ध शत्रु को भी मारकर मैं श्रेय नहीं देख रहा हूँ लो फिर अपने कुटुम्ब को मारकर कैसे कल्याण को प्राप्त करूँगा। यहाँ एक अन्तरप्रश्न होता है कि स्मृति की आज्ञा के अनुसार दो ही पुरुष सूर्य मण्डल का भेदन करके ब्रह्म लोक जा पाते हैं, प्रथम योग युक्त योगी अथवा युद्ध में सम्मुख लड़कर मरने वाला योद्धा।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ ।
योगिनो योगयुक्ताश्च सम्मुखेऽभिहतो रणे ।।

तो फिर क्यों नहीं कल्याण की प्राप्ति होगी। इसका उत्तर यह है कि "स्मृति ने युद्ध में सम्मुख मरे हुए के लिए ब्रह्म लोक का विधान किया है न कि मारने वाले के लिए"।

इसलिये कहते हैं कि युद्ध में स्वजनों को मारकर मैं अपना कल्याण नहीं देख रहा हूँ। यदि कहें कि श्रेय भले न मिले पर प्रेय तो मिल ही सकता है। इसका उत्तर यह है कि "अर्जुन जैसा व्यक्ति प्रेय में कभी आसक्त नहीं होता"। इसलिये कहते है "न च श्रेयोऽनुपश्यामि" कुटुम्बवध से मुझे अनुकूल श्रेय की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। ।।श्री।।

संगति— यदि कहें कि इस युद्ध में श्रेय की प्राप्ति सम्भव है, नीति शास्त्र कहता है–

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम् ।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम् ।।
विद्या देती है विनय, विनय योग्यता मूल ।
ताते धन धन ते धरम, ताते सुख हर सूल ।।

यहाँ भी युद्ध से विजय तथा विजय से प्रजा पालन रूप धर्म और उससे मोक्ष रूप श्रेय की प्राप्ति सम्भव है। अथवा युद्ध में धनुर्विद्या का प्रयोग तथा उससे विनम्रता और विनय से योग्यता रूप विजय की प्राप्ति और उससे राज्य लक्ष्मी रूप धन तथा उससे प्रजा पालन रूप धर्माचरण द्वारा संसार से वैराग्य। और उसके अनन्तर ब्रह्म सुख रूप परमश्रेय की प्राप्ति। फिर क्यों कहते हो "न च श्रेयोऽनुपश्यामि"। प्रभु के इस अन्तरप्रश्न का समाधान करते हुए अर्जुन कहते हैं –

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ।।१/३२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— अर्जुन कहते हैं "हे कृष्ण! युद्ध में कुटुम्ब को मारकर मैं विजय नहीं चाहता तथा राज्य एवं राजकीय सुखों को भी नहीं चाहता। हे

गोविन्द! इस प्रकार के राज्य से मेरा क्या लेना देना और बन्धुवध से प्राप्त निरर्थक भोगों से क्या प्रयोजन है तथा बन्धु विहीन एकाकी जीवन से मेरा कौन सा स्वार्थ सिद्ध होगा।

यहाँ कृष्ण शब्द दो अभिप्रायों में प्रयुक्त है "कृषति भक्तक्लेशानि दुर्वलयति इति कृष्ण:" हे प्रभो! आप भक्तों के क्लेश को समाप्त करते है तथा आप भक्तों के मनों को अपनी ओर आकर्षित करते है। अत: आप को प्राप्त करके अब मैं विशिष्ट जय अथवा बन्धुवध से प्राप्त विकृत जय को नहीं चाहता। यहाँ कर्म व्यतिहार में आत्मने पद है। अर्जुन का अभिप्राय यह है कि आपश्री के चरण कमल की सन्निधि में कुटुम्ब वध जैसे भयंकर पाप के पश्चात् प्राप्त होने वाले इस विकारयुक्त जय को लेकर क्या करूँगा। अथवा यहाँ विजय शब्द स्वंय अर्जुन का ही सूचक है क्योंकि विजय अर्जुन का ही नाम है। अर्जुन कहना चाहते हैं "प्रभो ! मैं युद्ध में कुटुम्ब को मारकर विजय अर्थात् स्वयं अर्जुन को भी नहीं चाहता यदि कुटुम्ब वध अनिवार्य हुआ तो मैं अपने शरीर को भी गाण्डीव का लक्ष्य बनाकर समाप्त कर लूँगा"। यह भाव आज तक किसी टीकाकार या भाष्यकार के द्वारा नहीं कहा गया यह सर्वथा नवीन भाव भगवान् श्री राघवेन्द्र सरकार की कृपा से मेरे ही मन में स्फुरित हुआ है। यदि कहें कि इस नवीनभाव की प्रामाणिकता में क्या युक्ति दी जा सकती है तो इस पर विनम्र निवेदन किया जाता है कि कांक्षे यह तथा विजय शब्द में वि उपसर्ग का प्रयोग ही परम प्रमाण है यदि वेदव्यास को यहाँ विजय शब्द से अर्जुन का नाम न इष्ट होता तो न काङ्क्षामि जयं कृष्ण इस प्रकार छन्द और रचना कर लेते। क्या आवश्यकता थी अस्वाभाविक आत्मने पद की एवं क्या आवश्यकता थी "वि" उपसर्ग की। यदि कहें कि अर्जुन के विषय नाम में क्या प्रमाण है तो विराट पर्व में अर्जुन का कथन ही परम प्रमाण है। जैसे—

अर्जुनः फाल्गुनो जिष्णुः किरीटी श्वेतवाहनः ।
बीभत्सुर्विजयः कृष्ण सव्यसाची धनञ्जयः ।

महा० विराट पर्व ४४/९।।

राज्य अर्थात् निष्कण्टक साम्राज्य लेकर क्या करूँगा। "सुखानि" राज्य से प्राप्त भौतिक सुखों से यहाँ सुख शब्द अभिप्रेत है। पूर्वोक्त वस्तुओं की उपेक्षा सूचित करने के लिए उत्तरार्ध की प्रस्तावना करते हैं। यहाँ 'गोविन्द' शब्द बहुत से अभिप्रायों को संकेतित कर रहा है। 'गा: इन्द्रियाणि विन्दतीति गोविन्द:' जो सम्पूर्ण इन्द्रियों के नियामक हैं ऐसे आप सर्वान्तर्यामी के समक्ष मैं असत्य क्यों कहूँगा।

अथवा "गां विन्दति इति गोविन्द:"। गो अर्थात् वाणी के नियामक आपके समक्ष मेरी वाणी से असत्य निकलेगा ही कैसे! वास्तव में आपके श्री चरणकमल रस के पीनेवाले तथा आपके भजन को ही एकमात्र धर्म माननेवाले हम पाण्डवों का इस राज्य से क्या लेना देना। अथवा 'गोविन्द' पद से अर्जुन भगवान् के गोवर्धन धारण वृत्त का स्मरण

करवा रहे हैं। आशय यह हैं कि हे प्रभो! जैसे आपश्री के गोवर्धन धारण करने पर अपने देवत्त्व का अहंकार छोड़कर इन्द्र ने आकाश गङ्गा के जल से आपश्री का अभिषेक किया था, उसी प्रकार "मैं इन्द्रपुत्र अर्जुन अपनी अधर्ममय युद्ध की इच्छाको छोड़कर अपने नेत्रों से निर्गलित निर्वाध अश्रुधारा से आप के श्रीचरणकमल का अभिषेक करके आपकी शरण में जाता हुआ राज्य, भोग, सुख कुछ नहीं चाहता" यही अर्जुन का हार्द है। भागवत के गोवर्धन प्रकरण में स्पष्ट वर्णन हैं कि देवमाता अदिति की प्रेरणा से देवताओं तथा ऋषियों को साथ लेकर इन्द्र ने आकाशगंगा के जल से भगवान् श्रीकृष्ण का अभिषेक किया एवं उन्हें गोविन्द नाम से सम्बोधित किया। अथवा गोविन्द पद से अर्जुन द्रौपदी चीरहरण प्रसंग का स्मरण करा रहे हैं। हे प्रभो ! जैसे गोविन्द नाम से पुकारती हुई द्रौपदी का वस्त्र आपने वढ़ा दिया था उसी प्रकार गोविन्द उच्चारण करते हुए कृष्णा के पति कृष्ण नाम वाले मुझ अर्जुन के धर्मरूप वस्त्र को आप वढ़ायेंगे ही। महाभारत के सभा पर्व में द्रौपदी जी ने दो बार गोविन्द शव्द का उच्चारण किया यथा –

गोविन्द द्वारिकावासिन्। (म० भा० २/६८/४१)

प्रपन्नां पहि गोविन्द। (म० भा० २/६८/४३)

हे प्रभो! गोविन्द नाम उच्चारण से प्रभावित होकर आपने द्रौपदी जी का ऋण भी स्वीकारा और स्वयं कहने लगे – जो दूरवासी मुझ कृष्ण को सम्बोधन करके द्रौपदी ने गोविन्द नाम से टेर लगाई थी उसका बढ़ा हुआ ऋण मेरे हृदय से नहीं निकल रहा है–

ऋणमेतत्प्रवृद्धं मे हृदयान्नापसर्पति ।

यद् गोविन्द इति प्राह कृष्णा मां दूरवासिनम् ।।

मैं तो निकटवासी आपको गोविन्द कहकर बुला रहा हूँ अतः हे गोविन्द! आपके चरणकमल को ही भवसागर का जहाज मानने वाले हम पाण्डवों का इस अधर्ममय राज्य तथा इससे प्राप्त भोग एवं क्षणभङ्गुर जीवन से क्या ? श्रीः।।

संगति— यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण यह पूछ सकते हैं कि— तो फिर पहले राज्य भोग एवं सुखों की आकांक्षा करते हुए अपने मित्र राजाओं को युद्ध का आमन्त्रण देकर सात अक्षौहिणी सेना इकट्ठी करके तुम लोग कुरुक्षेत्र क्यों आये हो ? इस शङ्का को निरस्त करते हुए अर्जुन कहते हैं–

येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।

त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ।।१/३३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— जिन बन्धु बान्धवों के लिए हमने राज्य भोग सुख की आकांक्षा की थी वे ही ये हमारे पक्ष के भी बन्धुबान्धव प्राणों तथा धन की आशा छोड़कर इसयुद्ध में उपस्थित हो रहे हैं। यहाँ येषां का बन्धुबान्धवों से तात्पर्य है। 'अर्थ'

शब्द निमित्तवाचक है। 'न:' पद अस्मद् शब्द का षष्ठी बहुवचनान्त रूप है। और कर्तृकर्मणो: कृति: (२/३/६५) सूत्र से तृतीया के अर्थ में षष्ठी हुई है। न: अस्माकम् अस्माभिरित्यर्थ:। अर्थात् जिन बन्धुबान्धवों के निमित्त हम लोगों द्वारा राज्य भोग सुख की आकांक्षा की गई। यहाँ कांक्षित शब्द विभक्ति विपरिणाम से राज्य, भोग एवं सुख तीनों के साथ अन्वित होगा। राज्यं कांक्षितम्, भोगा: कांक्षिता:, सुखानि कांक्षितानि। कांक्षित शब्द का अर्थ है अभिलाषा का विषय बनाना। अर्थात् हमने जिन अभिमन्यु, प्रतिविन्ध्य, घटोत्कच आदि पुत्रों के लिए राज्य भोग एवं सुख को अपनी अभिलाषा का विषय बनाया वे ही ये अभिमन्यु प्रतिविन्ध्यादि प्राणों एवं जीवन की आशा छोड़कर युद्धभूमि में उपस्थित हैं। अत: युद्ध करना निरर्थक ही है।।श्री।।

सङ्गति :– अब भगवान् ने अन्तर्भाषा में कहा– यदि कहो कि धर्म भीरु होने से तुम इन्हें नहीं मारोगे फिर भी ये उच्छृङ्खल कौरव तुम्हें मार डालेंगे। इसलिये तुम्हें इनका वध करना चाहिये। इस आशंका का दो श्लोकों से स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं–

आचार्या: पितर: पुत्रास्तथैव च पितामहा: ।
मातुला: श्वशुरा: पौत्रा: श्याला:सम्बन्धिनस्तथा ।।१/३४।।
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतो: किं नु महीकृते ।।१/३५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— अर्जुन विनम्रतापूर्वक कह रहे हैं कि "हे मधुसूदन "द्रोणाचार्य तथा कृपाचार्य, वाह्लीक आदि चाचा तथा ताऊगण, पितामह भीष्म, शकुनि आदि मामा, भानुमती आदि भाभियों के पिता, दुर्योधनादि भाइयों के बेटों के बेटे, साले और मित्र-मित्र सम्बन्धी जो भी इस युद्ध भूमि में आये हैं इनको मुझ नि:शस्त्र को मारते हुए भी तीनों लोकों के राज्य की प्राप्ति के लिए भी मैं मारने की इच्छा नहीं करता, छोटी सी पृथ्वी की क्या बात।

व्याख्या— स्याल शब्द दन्त सकरादि है तालव्य सकारादि पाठ प्रमादिक है जैसा कि नीलकण्ठ सूरि भी कहते हैं– तथाहि

"विजमातुरुतवाधास्यलात" इति मन्त्रार्णवात्। स्याल्लाजानाव पततीति वा लाजा लाजतेः स्यं सूर्यं स्यते:।। इति यास्क:।।

आचार्य शब्द द्रोणाचार्य और कृपाचार्य का बोधक है पितर शब्द चाचा ताऊ आदि के अर्थ में प्रयुक्त होता है, "तथा एव च" ये तीनों अव्यय पादपूर्ति के लिए हैं। पितामह शब्द भीष्म के लिए है, मातुल अर्थात शकुनि आदि, श्वसुर दुर्योधनादि की पत्नी के पिता पौत्र: लक्ष्मण आदि के बेटे, सम्बन्धी शब्द जयद्रथ आदि का बोधक है। मधुसूदन शब्द विशेष अभिप्राय से प्रयुक्त हुआ है। आशय यह है कि आपने अधार्मिक शिरोमणि मधु का वध करके उसी के मेदोभाग से पृथ्वी का निर्माण किया तो ऐसी क्षणभङ्गुर पृथ्वी

के लिए मुझे स्वजन वध में क्यों प्रयुक्त कर रहे हैं। तीनों लोकों के समाहार को त्रिलोकी कहते हैं और वही स्वार्थिक प्रत्यय करके त्रैलोक्य बन जाता है। ऐसे; त्रैलोक्य के राज्य के लिए मैं अपने कुटुम्ब का वध नहीं करूँगा यहाँ "हेतौ" इस तृतीया विभक्ति को बाधकर षष्ठी हेतु प्रयोग (२-३-२६) सूत्र से षष्ठी हुई। "मह्याःकृते महीकृते" यहाँ कृते शब्द चतुर्थी के अर्थ में प्रयोग किया जा रहा है। अर्थात् यदि आचार्यादि सम्बन्धी मुझ निःशस्त्र को मारते भी हों तो भी मैं इनका वध नहीं करुँगा। यहाँ दूसरे एव तीसरे चरण में प्रयुक्त अपि शब्द दो प्रकार से प्राप्त कुटुम्ब वध को निषिद्ध करता है।।श्री।।

संगति— यहाँ फिर भगवान का अन्तरप्रश्न होता है— "ठीक है, तुम आचार्यादि पूज्य जनों को न मारो परन्तु धृतराष्ट्र के सब पुत्रों को अवश्य मार डालो क्योंकि मनु द्वारा कहे हुए आततायियों के छहों लक्षण दुर्भाग्य से इन्हीं में घट जाते हैं"। जैसे–

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।
क्षेत्रदारापहर्ता च षडेते ह्याततायिनः ।। (मनु० ३५०)

अर्थात् "अग्निदेने वाला, विष लेकर आया हुआ, शस्त्र लेकर मारने आया हुआ, भूमि एवं पत्नी का अपहरण करने वाला ये छः प्रकार के आततायी होते हैं। इन्होंने लाक्षागृह में तुम्हें जलाने का प्रयास किया, भीमसेन को विष दिया, अधर्म करके भी शस्त्र लेकर तुम्हारे सामने खड़े कपट द्यूत में तुम्हारा धन हड़पा, तथा तुम्हारा स्वयं का बनाया हुआ इन्द्रप्रस्थ राज्य क्षेत्र छीन लिया एवं राज्य सभा में तुम्हारी पत्नी का हरण जैसा अपमान किया तथा वनवास में जयद्रथ के द्वारा द्रौपदी का हरण भी कराया। इस प्रकार "इन्हें मारने में कोई दोष नहीं है" क्योंकि भगवान् मनु कहते हैं कि आते ही आततायी को बिना विचारे ही मार डालना चाहिए आततायी के वध में मारने वाले को कभी दोष नहीं लगता "आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्।।"

नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ।।

प्रभु ! के इस अन्तरप्रश्न पर कहते हैं–

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ।।१/३६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— सामान्यतः इस श्लोक के दो अर्थ होंगे अर्जुन कहते हैं "हे जनार्दन धृतराष्ट्र के सम्बन्धियों को मारकर हम को क्या प्रसन्नता होगी। प्रत्युत "इन आतताइयों का वध करके भी हमें पाप ही तो आश्रय करेगा"।

हे जनार्दन हम पाण्डवों को मारकर धृतराष्ट्र पुत्रों को क्या प्रसन्नता होगी वस्तुतः हमारा वध करके तो इन आतताइयों को पाप ही लगेगा।

व्याख्या— इस श्लोक में दो व्याख्यायें हैं— हे जनार्दन "जनान् अर्दयति इति जनार्दनः"। अपने दुष्टों को दण्ड देने के लिए ही मानवावतार ग्रहण किया है आप चाहें

तो इन अधार्मिकों को मार डालें। पर मैं नहीं मारूँगा। क्योंकि इन्हें मारकर हमारे मन को क्या प्रसन्नता होगी। यहा "प्रीति" शब्द प्रसन्नता के अर्थ में प्रत्युक्त है क्योंकि इन आततायियों को मारकर हम लोगों को आप के भजन का प्रतिबन्धक पाप ही तो सतायेगा।

यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए। श्री वैष्णव के दर्शन में भगवान् भक्ति तथा प्रपत्ति इन दो साधन भूत उपायों से प्रसन्न होते है, तथा वश में कर लिये जाते हैं। भक्त भगवान् को प्रपन्न होता है। अर्जुन भगवान् के भक्त हैं प्रभु स्वयं कहते हैं भक्तोऽसि मे (गीता ४-३) तुम मेरे भक्त हो।

यहाँ अवान्तर प्रश्न होता है यदि अर्जुन भगवान् के भक्त हैं तो फिर गीता ९/३३/३४ तथा गीता १८/६५/ में "इस लोक को प्राप्त कर मेरा भजन करो मुझ में मन लगाकर मेरे भक्त बनों।" इस प्रकार भगवान् ने बार-बार भक्ति का उपदेश क्यों किया ?

उत्तर :- भक्ति के अभ्यास के लिए बार-बार उपदेश युक्ति संगत है। अत: भगवत्-प्राप्ति में पाप प्रतिबन्धक होता है इसीलिए गीता ६/२८ में भगवान् कहते हैं कि पुण्य कर्म करते-करते जिन महानुभावों के पाप समाप्त हो गये हों वे द्वन्द्व मोह से विमुक्त दृढ़व्रत महानुभाव मेरा भजन करते हैं। श्रीमानस में प्रभु स्वयं कहते हैं–

पापवंत कर सहज स्वभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ।।

(मानस- ५/४४/४–३)

इसलिए अर्जुन पाप से डर रहे हैं। अब द्वितीय व्याख्या—

दूसरे पक्ष में कहते हैं यहाँ नः का अर्थ होगा "अस्मान्" हम सबको मारकर दुर्योधन आदि को क्या प्रसन्नता होगी। प्रत्युत असमान अर्थात् हम पाण्डवों को 'हत्वा' मारकर, "एतान् आतितायिन:" इन आततायियों को पाप ही तो लगेगा। हम लोग निष्पाप मरेंगे।

यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि यदि तुम इन्हें नहीं मारोगे तो "आततायी वधार्हण:" आततायी का वध कर देना चाहिए, इत्यादि स्मृतिशास्त्र का विरोध होगा। इस पर अर्जुन का यह मन्तव्य है कि एक ओर आतताई के वध का विधान किया गया है और "मा हिंस्या: सर्वा भूतानि" किसी जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार दो शास्त्रों के परस्पर विरोध होने पर महर्षि याज्ञवल्क्य ने व्यवस्था दी कि जहाँ दो स्मृतियों का परस्पर विरोध हो वहाँ व्यवहार की दृष्टि से न्याय बलवान् होता है। तथा अर्थशास्त्र की अपेक्षा धर्मशास्त्र बलवान् होता है। इस दृष्टि से आततायी वध का विधायक शास्त्र मा हिंस्या: इस जीवहिंसा निषेधक शास्त्र से बाधित हो जायेगा इस लिए इनका वध उचित नहीं है अर्जुन का यही अभिप्राय है।।श्री।।

संगति— निष्कर्ष कहते हैं—

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान् ।

स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ।।१/३६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— अर्जुन अपना निष्कर्ष कहते हैं कि "हे माधव मायापति श्रीकृष्ण इसलिए हम अपने बान्धव धृतराष्ट्र पुत्रों को मारने योग्य नहीं हैं अर्थात् नहीं मार सकते क्योंकि हे प्रभो ! अपने कुटुम्ब का वध करके हम कैसे सुखी हो सकते हैं"।

व्याख्या— 'तस्मात्' अर्थात् पूर्वोक्त विचार के आधार पर 'वयं' अर्थात् आप के सहित हम लोग। क्योंकि जैसे दुर्योधनादि हमारे भाई हैं वैसे आपके समधी। उन्हें आप और हम नहीं मार सकते। हे माधव! अर्थात् आप लक्ष्मी पति हैं। आपने यदुवंश में जन्म लिया जैसे यदुवंशियों का पालन करते हैं उसी प्रकार इनका भी पालन कीजिए। शेष समान्यार्थ में कहा जा चुका है। ।।श्री।।

संगति— भगवान् श्रीकृष्ण ! पुनः अन्तरप्रश्न करते हैं। "अच्छा तो जैसे तुम इन्हें अपना भाई मानते हो वैसे ये नहीं मानते। नहीं तो इतने अत्याचार क्यों करते" ? "स्मृति, कहती है- आमन्त्रण देकर बुलाये जाने पर युद्ध तथा जुआ इन दोनों से नहीं भागना चाहिए इन्होंने तुम्हें युद्ध के लिए बुलाया है, इसलिए अब तुम्हारा युद्ध से भागना शास्त्र विरुद्ध होने से पापमय होगा। भगवान् के इस अन्तरप्रश्न का स्पष्टीकरण करते हुए श्री अर्जुन दो श्लोकों में विवेचन करते हैं-

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ।।
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापदस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ।।१/३८-३९।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— हे जनार्दन यद्यपि लोभ से नष्ट हुए चित्त वाले ये धृतराष्ट्र पुत्र कुल विनाश से उत्पन्न दोष को तथा मित्र द्रोह में भयङ्कर पाप को नहीं देख पा रहे हैं। परन्तु कुल के विनाश से उत्पन्न दोष को समझते हुए आप सहित हम पाँचों पाण्डवों को इस भयङ्कर पाप से निवृत्त होने के लिए क्यों नहीं कोई उपाय जानना चाहिए। अर्थात् पाप से बचने के लिए हमें किसी न किसी उपाय का परिज्ञान करना चाहिए।

व्याख्या— "जनैः अर्द्यते" भक्तों द्वारा अविद्यानाश के लिए इनसे याचना की जाती है अथवा भक्त जिनसे भक्ति मांगते हैं वे आप भगवान् ही जानार्दन हैं। "जनैः अर्द्यते इति जनार्दनः"यहाँ बाहुल्य के बल पर कर्म में 'ल्युट्' हुआ "लोभेन उपहितं चेतः येषां" अर्थात् लोभ से जिनका चित्त नष्ट हो गया है ऐसे दुर्योधन आदि हैं। लोभ शब्द की व्युत्पत्ति "लुनाति लोकं परलोकं यःसः लोभः"। अर्थात् लोभ लोक और परलोक दोनों नष्ट कर डालता है। धृतराष्ट्र के पुत्र होने से इनके पास विवेक नेत्र नहीं है इसलिए यह कुल विनाशजनित दोष एवं विश्वस्तों के विद्रोह में पाप को नहीं देख पा रहे हैं। परन्तु

हम धार्मिक पिता की सन्तान हैं तथा आपके चरणाश्रित परिकर हैं अतः अपने लिए प्रपश्यद्भिः का प्रयोग करते हैं, अर्थात् हम इस रहस्य को ठीक-ठीक समझते हैं।।श्री।।

संगति— अब इन्हीं दोषों को पाँच श्लोकों में विस्तार से कहते हैं –

कुलक्ष्ये प्रणश्यान्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ।।१/४०।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— हे भगवान्! कुलक्षय अर्थात् विनाश हो जाने पर कुल के सनातन अर्थात् परम्परा प्राप्त धर्म अत्यन्त लुप्त हो जाते हैं इस प्रकार कुल धर्म के नष्ट हो जाने पर सम्पूर्ण कुल को अधर्म दबाकर ढ़क लेता है।

व्याख्या— यहाँ "णस्" धातु का अदर्शन अर्थ है। इसलिए प्रणश्यन्ति का विनाश अर्थकरके लुप्त होना ही अर्थ किया जाता है। 'धर्में' पद में जाति में एक वचन का प्रयोग है 'उत' का अर्थ है निश्चय अभिभवति अर्थात् दबा कर सब ओर से ढ़क लेता है।।श्री।।

संगति— अब अग्रिम परिणाम कहते हैं–

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः ।।१/४१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— हे कृष्ण अधर्म के द्वारा कुल का पराभव होने पर कुल की विधवा स्त्रियाँ विजातीय सम्पर्क से दूषित हो जाती हैं तथा हे वृष्णि वंश में उत्पन्न प्रभो ! उन दुष्ट स्त्री रूप क्षेत्रों में "वर्णतः संकीर्ण" वर्णसंकर संतान का जन्म होता है।

व्याख्या— अधर्मेण अभिभवः अधर्माऽभिभवः अधर्मकृतिः अभिभवः अधर्माऽभिभवः। इस प्रकार मध्यमपदलोपी समास समझना चाहिए। वार्ष्णेय शब्द का आशय है कि आप स्वयं वृष्णि जैसे महाकुल में उत्पन्न हैं इस लिए इस दोष को दूर कीजिए। जहाँ वासना से प्रेरित होकर स्वच्छन्द मैथुन क्रिया से सन्तान उत्पन्न की जाती है वहीं वर्णसंकर होता है। अतः परशुराम के द्वारा क्षत्रियों का संहार कर दिये जाने पर क्षत्राणियों में ब्राह्मणों द्वारा जो संतान उत्पत्ति की गई थी तथा विचित्र वीर्य के क्षेत्र में वेदव्यास द्वारा जो धृतराष्ट्र विदुर तथा पाण्डव की उत्पत्ति की गई वह उनकी संकल्प सिद्ध सृष्टि थी। मैथुनक्रियात्मक नहीं इसलिए उसे वर्णसंकर नहीं कहा जा सकता।।श्री।।

संगति— अब आगे कहते हैं कि वर्णसंकर से केवल कुल की ही नहीं अपितु कुलनाशकों की भी हानि होती है।

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ।।१/४२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— वह कुल सम्बन्धी सङ्करसंतति कुल नाशकों के नर्क के लिए होती है। तथा इनके लुप्त हो गई हैं पिण्ड और जल की क्रियायें जिनकी ऐसे

पितर घोर नरक में पड़ते हैं।

व्याख्या— "कुलं घ्नन्तीति कुलघ्ना: तेषां कुलघ्नानां" अर्थात् जो कुल को नष्ट करते हैं उन्हें कुलघ्न कहते हैं। नरकाय शब्द में तादर्थ्य में चतुर्थी है।।श्री।।

संगति— अब अग्रिम परिणाम कहते हैं—

> **दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः ।**
> **उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ।।१/४३।।**

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— वर्णसंकर ही जिनका जन्म दाता है ? ऐसे पूर्व के दो श्लोकों में कहे हुए इन दोषों द्वारा कुटुम्ब नाशकों के जाति सम्बन्धी, कुल सम्बन्धी, तथा आश्रम सम्बन्धी नित्य धर्म ही नष्ट कर दिये जाते हैं।

व्याख्या— यहाँ "कारक" शब्द जन्म दाता के अर्थ में प्रयुक्त है। जाति धर्म शब्द में "जातिसम्बन्धिनो धर्माः जातिधर्माः"। इस प्रकार माध्यम पद लोपी समास बनाना चाहिए। यहाँ च से आश्रम धार्मों का भी संग्रह है वेद विहित होने से ये शाश्वत हैं।।श्री।।

संगति— अब अन्तिम परिणाम कह रहे हैं–

> **उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।**
> **नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ।।१/४४।।**

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— हे जनार्दन अर्थात् भक्तवाञ्छाकल्पतरु उत्सन्न अर्थात् नष्ट हो गये हैं कुल धर्म जिनके ऐसे मनुष्यों का अनियत अर्थात अनगिनत समय तक नर्क में निवास रहता है। इस प्रकार हमने व्यास आदि महर्षियों के मुख से सुना है।

व्याख्या— "अनियतं" यह क्रिया विशेषण है "न विद्यते नियतं नियमः यास्मिन् कर्मणिः यथा स्यात्तथा" यही इसका विग्रह होगा। अर्थात् जिसमें कोई नियम नहीं है उतने समय पर्यन्त तक।।श्री।।

संगति— अब अर्जुन पश्चाताप करते हुए कह रहे हैं–

> **अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।**
> **यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ।।१/४५।।**

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— अहो ! आश्चर्य है हम इतना भयङ्कर पाप करने के लिए निश्चय कर चुके थे जो कि राज्य सुख के लोभ से अपने कुटुम्ब को ही मारने के लिए हो गये।

व्याख्या— "बत" शब्द खेद वाचक है और "अहो" आश्चर्य वाचक है। वयं शब्द का तात्पर्य यह है कि आप जैसे सहायक को प्राप्त करके भी हम लोग यह भयंकर पाप करने जा रहे थे।

संगति— भगवान् श्रीकृष्ण फिर अन्तरभाषा में कहते हैं कि "यदि तुम युद्ध नहीं

करोगे तो भी धृतराष्ट्र पुत्र तुम्हें मार डालेंगे इसलिए तुम्हीं इन्हें मार डालो" इस पर अर्जुन कहते हैं–

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शास्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ।।१/४६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— यदि युद्ध की प्रति क्रिया से रहित निःशस्त्र मुझ अर्जुन को, जिनके हाथों में शस्त्र है ऐसे धृतराष्ट्र पुत्र युद्ध में मार भी डालें तो वह हनन मुझ अर्जुन के लिए अधिक कल्याणकर होगा।

व्याख्या— "न विद्यते प्रतीकारः यस्मिन्" जिसमें प्रतीकार नहीं है। अथवा जिसने प्रतिकार नहीं किया है वही अप्रतिकार है। युद्ध में सन्मुख मरण क्षेम अर्थात् कल्याणकर है और निःशस्त्र का मरण क्षेमतर है।।श्री।।

संगति— इस प्रकार अर्जुन के निवेदन के पश्चात् घटनाक्रम को वैशम्पायन जन्मे-जयसे कहत हैं। सञ्जय उवाच– अर्जुन की कायरता देखकर अपने पुत्र की विजय लक्ष्मी के प्रति प्रोत्साहित धृतराष्ट्र को सावधान करते हुए सञ्जय बोले–

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ।।१/४७।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— हे महाराज ! रणभूमि में जिनका मन शोक से उद्विग्न हो उठा है ऐसे शोकाकुल मन वाले श्री अर्जुन इस प्रकार साढ़े अठारह श्लोकों में भगवान् श्रीकृष्ण के श्री चरणों में अपना मनोभाव निवेदन करके बाण, तूणीर सहित गाण्डीव धनुष को आदर के साथ नीचे डालकर रथ के निचले भाग में जाकर बैठ गये।

व्याख्या— यहाँ "संख्ये" शब्द का अर्थ है युद्ध। शोक अर्थात् मोह से उत्पन्न शोक द्वारा जिनका मन युद्ध से विचलित हो चुका है ऐसे अर्जुन एवं अर्थात् अपने न युद्ध करने के निश्चय को उक्त्वा अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण से निवेदन करके सशरं शरेण सहितं" बाण के साथ गाण्डीव धनुष को नीचे डालकर "रथोपस्थे" रथ के पृष्ठ भाग में "उपाविशत्" बैठ गये। अर्थात् अब तक खड़े थे अब बैठ गये। ।।श्री।।

इस प्रकार प्रथम अध्याय पर श्री राघव कृपा ही जिसका फल है ऐसा श्री राघव कृपा भाष्य भगवान् श्रीराम की प्रीति के लिए ही मेरे द्वारा किया गया।

इति श्रीमहाभारते वैयासिक्यां शतसाहस्र्यां संहितायां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद् गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्री कृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुन विषादयोगोनाम प्रथमोऽध्यायः।।

इति श्री चित्रकूटतुलसीपीठाधीश्वरजगद्गुरुरामानन्दाचार्य स्वामीरामभद्राचार्य प्रणीत श्रीराघवकृपभाष्यम् सम्पूर्णम्।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

''श्री मद्राघवो विजयतेम''

''श्री रामानन्दाचार्याय नमः''

द्वितीयोऽध्यायः

मङ्गलाचरणम्

''विलोलं वैदर्भ्यां प्रणतमथपित्रोः सकरुणम् ।
कृपार्तं भक्तेषु प्रतिपदमहो भावपिहितम् ।।
विमृष्टं प्रद्युम्ने सुरपतिसुते स्नेहकलितम् ।
प्रमुग्धं द्रौपद्यां लसति यदुनाथस्य नयनम् ।।१।।

स जयति यदुतुकुलजलनिधिविधुरविधुर्जनपजद्मपत्रकाणाम्।
वनकरिकलभामिवार्त्तं गीताम्भः पाययन् पार्थम् ।।२।।

जयति जगति जगदीश्वरविधुमुखगीता पुनीत नवनीता।
वैदिकगुणसम्वीता मातेव शाश्वती गीता ।।३।।

अथ सांख्ययोगोनामद्वितीयाध्यायो विवरीतुमुपक्रम्यते-

सांख्यं नाम ज्ञानं, संख्यातन्ते गण्यन्ते सैनिकभटाः यस्मिन् तत् संख्यं युद्धम् " एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये " गीता १-४७ इत्यनुपदमेवोक्तत्त्वात् तस्मिन् संख्ये युद्धे भवं सांख्यम् । भवार्थे अण् । नन्वसंगतमेतत् युद्धे ज्ञानस्य कदाच्युद्भवासंभवात्,ज्ञानस्य च प्रशान्तविपिनेतपःप्रशान्तपरमहंस-परिव्राजकाचार्यश्रोत्रियब्रह्मनिष्ठयतीन्द्रचक्रचूडामणिचरणसरोजोपसादनलभ्यत्व श्रवणात्। विविक्त एव ज्ञानस्योपदेशार्हत्त्वाच्च, किंच शस्त्रपाणये ज्ञानोपदेशाविहितत्त्वाच्च, तथा च श्रुतिः-

"तद् विज्ञानार्थं सगुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" युयुत्सोः शस्त्रपाणेः समित्पाणित्वब्रह्मजिज्ञासुत्वानुपपत्तेश्च, इति चेन्मैवम् । इहाध्यात्मविद्यायां

युद्धस्याध्यात्मिकत्वेनादोषात्, पूर्वोक्त सकलविप्रतिपत्तिपरिहारसुलभत्वात्। युद्धमत्रान्तरं द्वन्द्वानि च सर्वाणि मानसानि। द्वन्द्वत्वं नाम प्रतिकूलानुकूलभावसमागमत्वे सति तत्सङ्घर्षपरंपरामयत्वं, यथाऽत्रैव श्रीगीतासु-

" इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वंद्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परन्तप ।। गीता ७-२७

मोहजनितानि सर्वाणि रागद्वेषहर्षशोककामक्रोधप्रभृतीनि सुखदुः खात्मकानि द्वन्द्वानि कर्मबन्धनबद्धं देहिमभिघ्नन्ति पीडयन्ति। जीवस्श्च मुमुक्षु तद्द्वन्द्वजनितकष्ट निराचिकीर्षुः युद्ध्यमानोऽपि दिवानिशं द्वन्द्वैरनेकैरेकः परिभूयमानः परमेश्वरप्रपत्तिलक्षण सेवक सेव्यभावविज्ञान, पराजीयमानः क्षीणसामर्थ्यः तद्धानोपायम् जिज्ञासमान आस्ते। इत्येव तस्य संख्यंतस्मिन् गोविन्दविभूतिभूतेन क्वचित्स्वयं गोविन्देनैवं सद्‌गुरुणा जीवाय युद्धे पराजिताय चाध्यात्मिके हेयहानोपायभूतं ज्ञानमुपदिश्यते अतस्तज्ज्ञानं सांख्यमिति समामनति माधवो मदनमोहनः स्वयमेव।" एषा तेऽभिहिता सांख्ये " गीता २-३९, "सांख्ययोगौ पृथग्बालाः" गीता ५-४, सांख्यं च योगश्च इत्यादि। योगोनाम कर्मयोगः, इह न पातञ्जलयोग इव चित्तवृत्तिनिरोध लक्षणः, कस्तर्हि? समत्वापरपर्यायः,"समत्वं योग उच्चते" गीता २-४८ इति वदता भगवतैव कृतसमत्वलक्षणत्वात् । द्वावपि अध्यायेऽस्मिन् भगवतैव नामग्राहं निरूपितौ" एषा तेऽभिहिता साखंये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु" गीता २-३९। अथ किं नामज्ञान मत्र सांख्यमिति व्याख्यातं भगवता आत्मनात्मज्ञानं, तच्च सेवकसेव्यभावलक्षणं, शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिषु अनात्मभूतेषु आत्मत्वबुद्धि अनात्मज्ञानम्। प्रपत्तिमन्तरेण अज्ञानस्य सत्वे स्वस्वरूपज्ञानाभावात् परस्वरूपपरमात्मप्रपत्त्यनुपपत्तौ जीवस्य भवबन्धन मुक्त्यसंभवः। भगवत्प्रपत्तिमन्तरेण तदधीनभक्तिविरक्तिप्रबोधतृतयानुपलम्भात्, जीवस्य भवबन्धनं दुर्वारमेव, यथोक्तं श्री भागवते-

"भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति-
रन्यत्र चैष त्रिक एककालः।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्यु-
स्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम् ।। भागवत, ११-२-४२

प्रपद्यमानस्य भगवच्छ रणागतिमङ्गीकुर्वाणस्य क्षुदपायः बुभुक्षाविनाशः अनुघासं

प्रतिग्रासमित्यर्थः। संयोगतः कौरवपाण्डवसंग्रामोऽपि आध्यात्मिक एव, तथा सांख्यं च योगश्च सांख्ययोगौ तौस्तोऽस्मिन् इति सांख्ययोगः।

प्रथमस्तावदध्यायोऽर्जुनविषादयोगः ननु विषादस्य योगत्वमनुपपन्नमिति चेत्? सत्यम्, अर्जुनविषादेन सह भगवतः समत्वलक्षण योगो यस्मिन् सोऽर्जुनविषादयोगः इति व्याख्यानेनादोषात् । यद्वा विषाद एव विषं इति विषाद विषम अर्जुनस्य विषाद दिषमिति अर्जुन विषाद विषम् अर्जुनस्वविषादविमत्ति खादति समाप्नोति इत्यर्जुन विषाद विषादः, अर्जुनविषादविषादयोगः यस्मिन् सोऽर्जुनविषादविषादयोगः अर्जुनविषादविषादः योगः एवं अर्जुन विषादयोगः। "विनाऽपि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयोर्लोपो वक्तव्यः" इति वार्तिकेन पूर्वविषादशब्दस्य लोपः। नन्वत्र प्रथमाध्यायस्यागीतात्वं, गीतानाम योगशास्त्रं, योगं शास्ति, योगं शंसति वा यत्तद्योगशास्त्रं, योगाश्चयोगेश्वरेणैव श्रीकृष्णेन शिष्यन्ते, प्रथमाध्याये श्रीकृष्ण वाक्यानुपलम्भात् तस्य योगशास्त्रत्वाभावात्, इति चेन्मैवं? तत्रापि "उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान्कुरूनिति " इति एकादशाक्षरस्य भगवतो-वाक्यस्य सत्वेन तेनैव समत्वलक्षणयोगानुशासनशंसनत्वोपपत्तेः। तदनु सांख्य-योगो नाम द्वितीयोऽध्यायः प्रस्तोतुं युक्त एवेति संगतिः।

"संजय उवाच"

तं तथा कृपयाऽऽविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ।।१।।

रा. कृ. भा.- एवं संजय मुखात् "विसृज्य सशरं चापम् " अर्जुनः रथोपस्थ उपाविशत्, इति श्रुत्वाअर्जुनं च विज्ञाय युद्धादुपरिरंसन्तं विनिश्चतपुत्रविजय सञ्जातहर्षप्रकर्षं धृतराष्ट्रमुभयथा दृष्टिहीनं, ततः किमिति सञ्जातकुतूहलमाम्बिकेयं, तस्य पुत्रविषयकविजय विशालतरुं वचन-कुठारेण विच्छिन्दन्निव संजय उवाच, संजयसम्बन्धाविच्छेदेऽपि विशेषमिदं विवक्षुः उवाचान्त वाक्यशकलं समवतारया मास वैशम्पायन मुखेन भगवान् बादराणः। भगवदुक्तमहावाक्यसमवतारणा महामङ्गल्ये श्लोके भगवद्भगवदीयविमुखतया नितराममङ्गलस्य धृतराष्ट्रनाम्नो नाकार्षीत् सम्बोधनम्। अर्जुनं भगवान् नोपेक्षितवान्, अपितु उक्तवान्, यतो हि स मधुसूदनः मधुदानवं सूदितवानस्ति, अतोऽधर्मनिरतान् तव पुत्रानपि सूदयिष्यति मधुमिव, ब्रह्माणमिव पार्थं रक्षिष्यतीत्याकूतम् । मधुसूदनः श्रीकृष्णः तथा तेनैव प्रकारेण कृपया करुणया

स्वजनप्राणरक्षणचिकीर्षारूपया, यद्वा तथा अकृपया आविष्टं इति पदच्छेदः। एवं च तथाविधा प्रथमाध्यायोक्ता या अकृपा अनुचिता कृपा अकृपा तस्याः सर्वसमर्थस्य परमेश्वरस्यैव गुणविशेषत्वात् । असमर्थे अणुभूते पार्थे सा सर्वथैवानुचिता, यथोक्तं आद्यशङ्कराचार्येण-

"दयालोरसमर्थस्य दुःखायैव दयालुता।
जगद्रक्षाधुरीणस्य तवैवैषा हि शोभते ।।

यद्वा न विद्यते परा श्रीकृष्णभक्तिर्यस्यामशास्त्रीयत्वात् सा अपरा, न विद्यते वा क्षराक्षराभ्यां परः श्रीकृष्णः समर्थकतया अनुमोदकतया विषयतया वा यस्यां सा अपरा, अपरा चासौ कृपा अकृपा "शाक पार्थिवादित्वान्मध्यमपदलोपि समासः। "कृपया परयाऽऽविष्टं " इति पूर्वोक्तत्वात्, तथा तेनैव प्रकारेण अकृपया अपरया कृष्ण कृष्णभक्तिरहितया शास्त्रसिद्धान्तशून्यया कृपया कर्तृभूतया आविष्टं आवेश फलाश्रयम्, अत एव न शृण्वन्ति कस्यचिदपि निषेधं नाकर्णयन्ति सन्ति वहन्ति इति अश्रूणि तैः अश्रुभिः पूर्णे व्याप्ते, अत एव आकुले अनवस्थिते भगवद्विमुखदर्शनेन सञ्जातवैक्लव्ये इति भावः। ईक्ष्यते विलोक्यते आभ्यां इति ईक्षणे अश्रुपूर्णे आकुले परमविकले ईक्षणे नेत्रे यस्य सः अश्रुपूर्णाकुलेक्षणः तम् अश्रुपूर्णाकुलेक्षणं, वाष्पपूरितविकलनयनम्, विषीदन्तं विषण्णं भवन्तं तं पार्थं प्रति प्रसादसुधया सम्प्रीणयन् इदम् अनुपदमुच्यमानम्, अथवा अकारः वासुदेवः तस्यापत्यं पुमान् इः कामः उपलक्षणतथा तन्मूलसंसारः तं इं कामं तज्जनित संसारं च द्यति खण्डयति इति इदम् । महामोहान्धकारनाशक, वाक्यं महावाक्यमिवा विद्यानिवर्तकम् उवाच उक्तवान् बभूव। कृपया आविष्टमिति कथनेन अर्जुने कृपावेशोत्त्या मोहस्यापारमार्थिकत्वमुक्तम्, कृपायाश्चावेशरुपतया प्रेतावेशस्य इव क्षणभङ्गुरत्वं प्रत्यपादि। यथा कस्मिश्चित् पिशाचावेशो भवति तथैव परमात्मानं समविगणय्य भगवल्लीलायामज्ञानकल्पितानुचितकृपापिशाचिनी वलात् वलवन्तमपि पार्थमाविवेश अतो अर्जुनो नैव भयाद्युद्धादुपरत इति सूचितम् । कृपाया चास्मिन् आवेशः पिशाचोच्चाटनमिव मधुसूदनस्य वाक्यं न चिरात् पार्थं भग्नमोहावेशं विधाय युद्धे प्रवर्त्य, तेनैव त्वत्सैन्यं घातयिष्यति इति सूचयितुमाह "उवाच मधुसूदनः" इति

"उवाच इत्यनेन भगवद्वाक्यसंसूचनायां गतार्थायामपि किमपि विशेषमेव वक्तुं

धृतराष्ट्रं प्रति संजयः तं सावधानं कुर्वन् श्लोकात्पूर्वं परिकलितातिविशिष्टार्थवत्ताकं वाक्यशकलं ससमारोहमवतारयति-

"श्री भगवानुवाच "

हे राजन्! मधुसूदनत्वेन ख्यापितधर्मध्वंसिदुष्टदलनस्वभावः श्रीकृष्णः न केवलमधार्मिकांस्ते पुत्रानेव हनिष्यति, प्रत्युत पाण्डवान् सततं धर्मपक्षधरान् परमधार्मिकान् विजयेन योजयिष्यत्यपि इत्यत् आह श्री भगवानुवाच। भगानि ऐश्वर्य धर्मयशःश्रीज्ञानवैराग्याणि नित्यं प्रशस्तानि सन्त्यस्मिन् स भगवान्, इह नित्ययोगे प्राशस्त्ये च मतुप् । तथा हि भाष्यवार्तिकम्-

"भूमनिन्दा प्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायिने।
संसर्गेऽस्ति विवक्षायां भवन्ति मतुबादयः।। इति

तथा च विष्णु पुराणे-

"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा वि.पु. ६।५।७४

अत्र समग्रपदं सर्वत्रानुसज्जते भगवति समग्रमैश्वर्यं, समग्रो धर्मः समग्रं यशः समग्रा श्रीः समग्रे ज्ञानवैराग्ये इमानि षट् भगसंज्ञानि प्रशस्तानि नित्यानि नित्यं तिष्ठन्ति, इत्यनेन ब्रह्मणो निर्गुणवादः परास्तः। यदि चेन्नित्ययोगे विहितानि षडिमानि भगानि क्षणार्थमपि न जहति ब्रह्म तर्हि तत्कथं गुणवर्जितो धर्मवर्जितो वा? न चौपाधिकानीमानि ब्रह्मण्यारोपितानीति वाच्यम्, औपाधिकत्वे प्राशस्त्यस्य ब्रह्मण्यारोपितत्वे नित्यत्वस्य चानुपपत्तौ प्राशस्त्यनित्यत्वयोरभावे तदयोगे मतुप् प्रत्यय स्यैवाभावात् भगवान् शब्द एव न सिध्येत् । अथ प्राशस्त्य नित्ययोगे प्रत्ययस्य मतुपो विधाने किं मान मिति चेत्? मतुप्प्रत्ययविधायकसूत्रभाष्यस्थं,

पूर्वोक्तं वार्तिकमेव पातञ्जलं परमप्रमाणम्।

न च व्याख्यानेऽस्मिन् "निर्गुणं गुणभोक्तृ च " इति भगवद्वाक्यं व्याकुप्येतेति वाच्यम्? तत्र निरस्ताः सत्वरजस्तमो गुणाः येन तन्निर्गुणम् इति व्याख्यानेनादोषात्। यद्यपि वेदान्तनये समवायो नाङ्गीक्रियते, तथाऽपि आश्रयाश्रयीभावसम्बधेन निखिलनिरतिशयकल्याणगुणगणानां भगवत्येव निवासलापने न काञ्चित् विप्रतिपत्तिं पश्यामः । अथापरा व्याख्या भगवच्छब्दस्य-

"उत्पत्तिं च विनाशं च भूतानामगतिं गतिम् ।"
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति।।

भूतानामित्यस्य सर्वत्र सम्बन्धः, तथा हि भूतत्त्वाच्छिन्ननिरूपितसंबन्धावच्छिन्नोत्पत्ति विनाशागतिगति विद्याऽविद्यावेतृत्त्वं भगवत्त्वम् । इत्यनेन श्रीकृष्णस्य सर्वसमर्थत्वख्यापनपुरः सरं सर्वज्ञत्वमपि सूच्यते।किञ्च-

"ज्ञान शक्ति बलैश्वर्यं तेजो वीर्याण्यशेषतः"।
विना हेयगुणैर्यत्र स वाच्यो भगवानिति।।

परिष्कृतार्थस्तु निरस्तहेयगुणत्वे सति नित्यज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवत्वं भगवत्वं, तच्च श्रीसाकेताधीश्वरे सीतापतौ नृपाकृतौ भगवतिश्रीरामे गोलोकपतौ राधावरे श्रीकृष्णे च, तथाऽन्येषु तदीयेष्ववतारेषु। तथा च महारामायणे -

"भरणः पोषणाधारः शरण्यः सर्वव्यापकः"।
करुणः षड्गुणैः पूर्णो रामस्तु भगवान् स्वयम् ।।

एवमेव श्री भागवते श्रीकृष्णं प्रति-

"एते चांशकलाः सर्वे कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" भागवत १-३-२८ चकारेण रामस्यापि संग्रहः तुकारेण वा। यद्वा तुकार चकाराभ्यां श्रीरामस्य भगवत्वे सुदृढप्रमाणवत्वं, द्विर्बद्धं सुबद्धं भवतीति लोकन्यायात् ।

श्री भागवते स्वयं समानार्थकसाक्षात्पदोपादानेनं शुकाचार्यचरणैः कण्ठरवेण कथितत्वाच्च-

"तस्यापि भगवानेष साक्षात् ब्रह्ममयो हरिः।।
अंशांशेन चतुर्धाऽगात् पुत्रत्वं प्रार्थितः सुरैः ।।

रामलक्ष्मणभरतशत्रुघ्ना इति संज्ञया ।। भागवत ९-१०-३। अत्र साक्षात्पदं स्वयं समानार्थकं, तस्य दशरथस्य स्वयं भगवान् चतुर्धा चतुर्भिः प्रकारैः पुत्रत्वं अगात्, अत्र प्रकारता शरीराभिप्रायेण, अंशांशेन इत्यत्र सहार्थे तृतीया साक्षात् इति शब्दसत्वात्,यद्वा अंशः भरतः अंशश्च लक्ष्मणः अंशश्च अंशश्च अंशौ तयोरप्यंशः अनुजत्वेनानुगत्वेन च इत्यंशांशः शत्रुघ्नः तेन अंशांशेन। अथवा अंशः

कृपाशक्तिरूपलीलाशक्तिभ्यां वास्तवसीतामायासीताभ्यामुलक्षितः। अथवा अंशः नारायणांशो ब्रह्म तस्य अंशः शिवः स एव हनुमान् शिवपुराणादौ तथैव प्रसिद्धत्वात् यथोक्तम्-

ऊर्जे कृष्णचतुर्दश्यां भौमे स्वात्यां सदाशिवः ।
मेषलग्नेऽञ्जनागर्भाद् प्रादुर्भूतो महेश्वरः ।।

ऊर्जे कार्तिकमासे इत्यर्थः । अथवा अंशानां समूहः आंशम्, आंशमस्त्यस्मिन् इति आंशः सर्वावतारी अंशी भगवान् रामः, अंशैः सहितः आंशः इति अंशांशः तेन अंशाशेन अभेदे तृतीया। अथवा सर्वे अंशाः सन्त्यस्मिन् इति आंशः बाहुलकादण् मत्वर्थीयः, अंशैः वैकुण्ठक्षीरसागरश्वेतद्वीपनिवासिभिः विष्णुभिः लक्ष्मणभरतशत्रुघ्नरूपैः सह वर्तमानेन रामस्वरूपेण आंशेन सर्वांशिना सर्वावतारिणा महाविष्णुना प्रभुणा अभिन्नः साक्षात् नत्वपूर्णः न वा मत्स्यादिरिवावेशावतारः न वा वृथ्वादिरिवकलावतारः प्रत्युत, परिपूर्णतमः ब्रह्ममयः ब्रह्मैव रामलक्ष्मणभरतशत्रुघ्नाः एतदभिन्नसंज्ञया सुरैः देवैः चतुर्धा चतुर्भिः प्रकारैः नामरूप-लीलाधामभिः प्राथितः, अथवा सुरैः इत्यत्र आदरार्थे वहुवचनम् । सुरवर्येण ब्रह्मणा चतुर्धा चतुर्भिर्मुखैः प्रार्थितः, तस्य दशरथस्य पुत्रत्वं पुत्रभावमगात्, कस्तावत्? एवः साक्षात् भगवान् । यत्तु श्रीरामः द्वादशकलावतारः, श्रीकृष्णः षोडशकलः इति केचित्प्रलपन्ति तदनर्गलम्, अशास्त्रीयं च। उभयोरपि वाल्मीकिव्यासाभ्यां परिपूर्णतमत्वेनैव सङ्कीर्तनात् ।

वस्तुतस्तु उभावप्यवतारिणौ एकमेव ब्रह्म श्रीरामः साकेते श्री सीतया सह गोलोके राधया सह विलास्यमानो भगवान् राम एव दाशरथिर्वासुदेवश्च, अत एव श्रीरामस्तवराजे- "रामं कृष्णं जगन्मयम् " "कृष्णो गोपीजन प्रियः " इत्यादि संगच्छते। यद्यपि भागवते श्री कृष्णं प्रति बहुधा अंशेनेति प्रयोगो दृष्टः यथा "तत्रांशेनावतीर्णस्य " भागवत १०-१-३। "अथाहमंशभागेन " भागवत् १०-२-९। "आविवेशांशभागेन " भागवत १०-२-१६। "अवतीर्णोऽशभागेन " भागवत-१०-१०-३५। "मन्ये नारायणस्यांश कृष्णमक्लिष्टकारिणम् " भागवत १०-२६-२३। "अवतीर्णौ जगत्यर्थे स्वांशेन बलकेशवौ " भागवत् १०-३८-३२ इत्यादि।

एवं सौभाग्यत: श्रीमद् वाल्मीकीयरामायणे नैकमपि प्रमाणं तादृशमुपलभामहे यत्र श्रीरामस्यांशावतारत्वमुक्तं स्यात् । प्रत्युत सर्वत्रैव अवतारित्वेनैव भगवान् श्रीराम: भगवता प्राचेतसेन सङ्कीर्तित:, यथा-

''अक्षय्यं मधुहन्तारं जानामि त्वां सुरेश्वरम्''

वा० रा० १-७६-१७

''त्वया त्रैलोक्यनाथेन यदहं विमुखीकृत ''

वा० रा० १-७६-१९

''स हि देवैरुदीर्णस्य रावणस्य वधार्थिभि:''।
अर्थितो मानुषे लोके जज्ञे विष्णु: सनातन: ।।

वा० रा० २-१-७

व्यक्तमेष महायोगी परमात्मा सनातन:।
अनादिमध्यनिधनो महत: परमो महान् ।।

वा०रा० ६-१११-११

एवं आर्षवाक्यकदम्बप्रमाणितपरिपूर्णतमत्वेऽपि भगवन्तं श्रीरामं द्वादशकलात्मकमवतारं मन्यमानानां नरकं जिगमिषूणां अनादिकालपातकपूगमलीमसमनसां प्रलाप एव । वस्तुतस्तु श्रीरामकृष्णावुभावपि सर्वावतारिणौ परिपूर्णतमपरब्रह्मपदमात्मानावेव, कथं श्रीराम द्वादशकल: अत्रैव श्री भागवते कलेशत्वेन वर्णितत्वात् तत्कथनस्य निराधारत्वोपपत्ते: यथा-

''अस्मत्प्रसादसुमुख: कलया कलेश
इक्ष्वाकुवंश अवतीर्य गुरोर्निदिशे।
तिष्ठन् वनं सदयितानुज आविवेश''
यस्मिन् विरुध्य दशकन्धर आर्तिमार्च्छत् ।। भागवत् २-७-२३

अथ कथं तर्हि "विष्णोरर्धं महाभागं पुत्रमैक्ष्वाकुनन्दनम्" वा० रा० १-११८-१० इति चेत् । अखण्डस्य महाविष्णो: सर्वथैवार्धत्वानुपपत्ते:। व्यवहारबलेन नैवात्रार्धशब्दो नेत्रवाची, अर्धशब्दो हि छेदे सति वस्तुनि भागद्वयेन विभक्ते प्रथमांशतां व्यनक्ति, न हि विशुद्धानन्दघनस्य प्रत्यगात्मनश्छेद:, तर्हि का नाम नित्यमखण्डस्य परमात्मन: खण्डकथा ! "नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि" गीता २-२३ "अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयम् गीता २-२४। अर्घो हि विकारिणो युज्यते परमात्मनस्तु निर्विकारत्वेन

सकलशास्त्रे प्रसिद्धत्वात्, विकारा हि क्षेत्रस्य युज्यन्ते, न तु क्षेत्रज्ञस्य न वा क्षेत्रज्ञेश्वरस्य परमात्मनः ।"एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् " गीता १३-६ इत्युक्तेः। अतोऽर्धशब्दस्य केनचिदन्येनार्थेन भवितव्यम् । तथा हि विष्णुम् अघ्नोति ऋद्धिमन्तं करोति इति अर्धः तं अर्धम् महाविष्णुमिति भावः, एवं श्रीकृष्ण प्रकरणेऽपि यत्र यत्र अंशशब्दस्य प्रयोगः तत्र क्वचित् वलभद्र परोऽयम् अंशशब्दः क्वचिच्च ज्ञानादिपरः इति भागवतार्थसंग्रहे द्रष्टव्यम् भविष्यति। स च भगवत्पदार्थः श्रीरामकृष्णान्यतररूपो महाविष्णुरेव तथा हि भागवते-

''अथापि यत्पादनखावसृष्टं
जगदविरिञ्चोपहृतार्हणाम्भः।
सेशं पुनात्यन्यतमो मुकुन्दात
को नाम लोके भगवत्पदार्थः।। भागवत १-१८-२१

तस्मान्मुकुन्दव्यतिरिक्तः को नाम भगवत्पदस्यार्थः, स एव सर्वेश्वर इत्यर्थः। ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यतेजः प्रभृत्यसंख्येयकल्याणगुणपौष्कल्यवदभिधायकेन भगवच्छब्देन प्रवृत्तिनिमित्तानामाश्रयः को वान्य इत्यर्थः ॥ इतीह श्रीधरस्वामी। भगभाजनत्वंतु नित्यत्वेन भगवत्येव यथा चाहुः सनकादयः श्रीभागवते-

''यस्तां विविक्तचरितैरनुवर्तमानां
नात्याद्रियत्परमभागवतप्रसङ्गः।
स त्वं द्विजानुपथपुण्यरजः पुनीतः
श्रीवत्सलक्ष्म किमगा भगभाजनस्त्वम् ।। भागवत् ३-१६-२१

एवंभूतः निरस्तसकलहेयगुणः समस्तकल्याणगुणगणानिलयः श्रिया सहित भगवान् आह्लादिन्या शक्त्या प्रपत्तिरूपया संयुक्तः षड़ैश्वर्यसम्पन्नः परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्णः उवाच उक्तवान् श्लोकद्वयात्मकं वाक्यं व्याजहार इति भावः ॥ श्रीः॥

''कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषये समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ।।२।।

रा० कृ० भा०- हे अर्जुन । विषमे समुपस्थितं त्वा अनार्यजुष्टम् अस्वर्ग्यम् अकीर्तिकरम् इदं कश्मलं कुतः उपस्थितम् इत्यन्वयः।

पूर्वाध्याये अर्जुनेन सार्धाष्टादशभिः श्लोकैः प्रोक्तमनात्मपरं शोकमोहत्मकं शास्त्रविरुद्धं कथनमाकर्ण्य, अर्जुनेन भूभारभूतान् असुरप्रायान्. महीपतीन् जिघातयिषन् तं निमित्तीकृत्य जगदिदमशेषं श्रीगीतामृतेन जिजीवयिषन् भगवान् अर्जुनमाक्षिपति। हे अर्जुन! ऋजुत्वादर्जुनः अर्जनाद्वा अर्जुनः तत्सम्बुद्धौ हे अर्जुन! शुभ्राचरणवान्। ब्रह्मविद्याऽधिकारिन्। विषमे भयङ्करतमे युद्धस्थले समुपस्थितं युद्धाय कृतनिर्णयम्त्वा त्वां "त्वामौ द्वितीयाया (पा० अ० ८-१-२३) इत्यनेन त्वादेशः। अधुना कश्मलमेव त्रिभिर्विशेषणैः विशिनष्टि, त्वा त्वां त्वद्विधं ममानन्यपारिकरं परमभागवतम्, अनार्यजुष्टम् आसमन्तात् आरात् निकटतया यान्ति ब्रह्मतत्त्वं अवगच्छन्तीति आर्याः ब्रह्मवेत्तारः न आर्याः अनार्याः, अनार्यैः अवैष्णवैः अब्रह्म तत्त्वविद्भिः जुष्टं सेवितं, यद्वा अनार्यैः जष्टमुच्छिष्टं कृतमित्यानार्यजुष्टम्। यद्वा आर्यो ज्येष्ठ भ्राता तथैव श्रीवाल्मीकि वेदव्यासाभ्यां बहुशः प्रयोगदर्शनात् यथा श्रीमद्वाल्मीकीये-

''अधिरोहार्यपादाभ्यां पादुके हेमभूषिते।
एते हि सर्वलोकस्य योगक्षेमं विधास्यतः।।

वा० दा०२-११२-२९

एवं श्री भागवतेऽपि-

''आर्योऽनुजस्तव गजायुतसत्त्ववीर्यः'' भागवत १-१५-९

ममार्यः पूज्यो भीमो इतीह अन्वितार्थ प्रकाशिका।

तथा हि आर्यो ज्येष्ठभ्राता युधिष्ठिरः, पुनश्च आर्यो ज्यायान् भीमः, आर्यश्च आर्यश्च इति आर्यौ युधिष्ठिरभीमौ, यत् त्वया निगदितं समाचरितं च पापभीत्या युद्धात्पलायनम् इदं तव भ्रातृभ्यामपि जेष्ठाभ्यां युधिष्ठिरभीमाभ्यां न सेवितं, तावपि युयुत्सू गृहीतायुधौ, कुरुक्षेत्रमुपतिष्ठेते त्वमेवैको रणाद्भीतः पलायसे इति भावः। ननु यदि स्वजनवधोपरतिः स्वर्गसाधनं स्यात् सदा वरमेव पलायनम्, इति शङ्कामपि परिहरति- अस्वर्ग्यं स्वर्गाय हितं स्वर्ग्यं "गवादित्वाघत्" न स्वर्ग्यं अस्वर्ग्यं स्वर्गहितविरूद्धं नरकसाधनमित्यर्थः। इदं त्वां नरकमेव नेष्यति न स्वर्गं, यतो ह्यस्वर्ग्यमिदं। ननु? भवेन्नाम नरक साधनं किन्त्वनेन यदि कीर्ति स्यात्, तदा सोढ्व्यमिति प्रत्याशामपि परिहरति इयमाशा ते मरूमरीचिकैव यतो हीदं अपकीर्तिमेव करिष्यिति युद्धादुपरतं त्वां सर्व एव सुभटाः क्लीवं कातरं पुरूषार्थशून्यं च मंस्यन्ते "भयाद्रणादुपरतं" इत्यग्रे वक्ष्यमाणत्वात् । अत आह- अकीर्तिकरं कीर्तेः विरूद्धा

अकीर्तिः ताम् अकीर्तिं करोतीति अकीर्तिकरम् एवंभूतम् अनार्यसेवितं नरकसाधनम् अयशस्करम् इदं कश्मलं मोहापरपर्यायं कुतः कस्मात्स्थानात् उपस्थितं, त्वां मुमुक्षुं, मामेव प्रपित्सुम् इदं कस्मात्स्थानादागतम् । मयि वर्तमानेऽपि मदन्यः को नाम त्वां लुण्ठतीति विस्मयं द्योतयितुं आह कुत इति ॥ श्रीः॥

तर्हि मया किं कर्तव्यं इत्यत आह-

''क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ।।३।।

रा० कृ० भा०— पार्थ प्रथयति भगवद्भक्तिमहिमानं या सा पृथा-पृथायाः अपत्यं पुमान् पार्थः तत्सम्बुद्धौ हे पार्थ, हे पृथायास्तृतीयपुत्रमद्भक्ति महिमानं प्रथयन्त्या पृथया महता तपसा समराधितात् मद्विभूतिभूतात् इन्द्रात्त्वं लब्धः "देवानामस्मि वासवः" १०-२२ इति वक्ष्यमाणत्वात्। एवं दैवीसम्पदमभिजात अभयं त्वां मागमदासुरभावः इति स्वरूपसंस्मरणाय आह पार्थ इति, क्लैव्यं क्लीवस्य भावं नपुंसकत्वं मा स्म गमः मा गच्छ "स्मोत्तरे लङ् च" ३-३-१६ इत्यनेन लुङ् लकार। उर्वश्या शप्तस्य ते एकवर्षभोग्यं पूर्वाभ्यास्तं क्लीबत्वं गतम् । तद् विराटपुर उपयुक्तं नात्र कुरूक्षेत्रे इति ज्ञापयितुमाह क्लैव्यमित्यादि प्रथमचरणम्। एतत् नपुंसकत्वं त्वयि समरतोषिताशुतोषे निहितनिवातकवचे पुरन्दरपुरपुरन्ध्री पुरस्कृतधनुर्विद्यामाहात्म्ये न उपपद्यते नैवोचिततया समुपपन्नं भवति। तस्मात् हे परंतप! 'परान् शत्रुन् अतीतपत् इति परंतपः' भूतार्थे खच्द्विषत् परयोस्तापेः इत्यनेन, मुम् "खचि ह्रस्वः" तत्सम्बुद्धौ हे परंतप! त्वं शत्रून् नाशितवानासीदानीं तं पराक्रमं कथं विस्मरसीति प्रोत्साहयितुमाह परंतप इति। क्षुद्रं शास्त्रविगर्हिततत्त्वात् निन्दिततमं हृदयस्य अन्तःकरणस्य दौर्बल्यं निर्बलत्वं त्यक्त्वा विहाय उत्तिष्ठ धृतगाण्डीवोः युद्धाय समुत्थियो भव "रथोपस्थ उपाविशत्" इत्यर्जुनप्रतिक्रियां निन्दति, उत्तिष्ठ इत्यनेन। "सर्वोपनिषदो गावः" इत्यादि श्लोकं चरितार्थयन् "उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति "क० उ० १-३-१५ इति कठोपनिषदि व्याख्यातम् सूत्रमेतत् भगवद्गीतायां तत्र तत्र स्फुटीकरिष्यामः।

अथेदमनुपदमुक्तं यत् 'क्लैव्यं मा स्म गमः'' इति वाक्यं श्री गीतायाः सूत्रभूतम्

क्लैव्यं नाम निष्क्रियत्वं प्रयत्नशून्यत्वं वा नैवेदं शरीरावच्छेदेन किं तर्हि? शरीर्यवच्छेदेन अतएव शरीरतः क्लीबत्वेऽपि शरीरितः पुंस्त्वे तत्र तत्र परमार्थार्हत्वाऽविष्करणत्वात्, अतएवं "मुमुक्षु वै" शरणमहं प्रपद्ये "तरति शोकमात्मविद्" "सिद्धिं विन्दति मानवः" "सर्वदुःखानि मतप्रसादात्तरिष्यसि" "परमाप्नोति पूरूषः" इत्यादि श्रुतिस्मृति पुंस्त्व निर्दिष्टानि वचनानि संगच्छन्ते। अतएव मानसकृतापि शरीरतः पुंस्त्वं भगवत्प्रपत्तिबाधकं नोक्तम्-

"पुरूष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोई।
सर्वभाव भजि कपट तजि मोहि परम प्रिय सोई ।। मानस ७-८

रूपान्तरम् -

पुमान् वा यदि वा क्लीबो नारीवाथ चराचरे।
सर्वभावने मां कोऽपि भजन् मे परम प्रियः।।

तस्मादत्र क्लैव्यं मा स्म गमः इति निषेधवचनं आत्मपुरूषार्थशून्यत्व निराशाय, वस्तुतस्तु भगवत्पुत्रत्वादात्मा पुरुष एव व्याकरणेऽपि तस्य पुंस्त्वनिर्देश एव "इन्द्रियमिन्द्रदत्त" इत्यादि सूत्रे इन्द्र आत्मा इति शेषावतारेण भगवता पतञ्जलिनाऽपि पुंस्त्वनिर्देश एव आत्मा पुंस्त्वनिर्देशा एवोपलभ्यन्ते। अतएव सर्वत्र श्रुतिषु स्मृतिषु च तत्कृते देवोपलभ्यन्ते।

"न जायते म्रियते वा विपश्चित्" "प्रणवं धनुः शरोह्यात्मा" "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो" "न जायते म्रियते वा कदाचित्" "नात्मानवसादयेत्" "नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि" इत्येवमादयः ज्ञाने भक्तौ च प्रयत्नसापेक्षत्त्वात् पुरुषार्थता तूभयत्रापि समाना, मोक्षस्तावत् चतुर्थः पुरूषार्थः भक्तिरपि पञ्चमपुरुषार्थः परमपुरूषार्थ एवेति सनिर्णयं च ब्रूमहे वयम् । सिद्धान्तयाम्बभूव च जगद्गुरूश्रीमदाद्यरामानन्दाचार्यपदपद्मपरागरसरसिकमधुकरश्रीनरहर्यानन्द स्वामकृपापात्रमुकुटमणिः श्री वाल्मीक्यावतारः अस्मत्समग्रश्रद्धाकेन्द्रभूतः श्रीगोस्वामीतुलसीदासमहाराजः श्रीमानसे-

"सखा परम परमारथ एहू मन क्रम वचन राम पद नेहू ।।
मानस २-९३-६

रूपान्तरम् -

परमः परमार्थोऽयं सखे प्रोक्तो मनीषिभिः।
मनसा कर्मणा वाचा स्नेहो रामपदाम्बुजे ।।

समर्थितवांश्चैतत् अद्वैतवीथिपथिकपूजितपदपद्मःश्रीमधुसूदनसरस्वती पादः श्री हरिभक्तिरसायने मङ्गलाचरणे-

''नवरस मिलितं वा केवलं वा पुमर्थं
परममिह मुकुन्दे भक्तियोगं वदन्ति।
निरुपमसुखसंविद्रूपमस्पृष्टदुःखं
तमिममखिलतुष्ट्यै शास्त्रदृष्ट्या व्यनज्मि।।

इह भक्तेर्नवरसान्तर्भूतत्वे स्वतन्त्ररसत्वे च विप्रतिपद्यन्ते विपश्चितः, किन्तु तस्याः परमपुमर्थत्वे सर्वेऽप्येकमताः अत एव समुदाहृतश्लोके वेत्यरुचि बीजं, नवरसमिलितं केवलं वा इत्यंश एवान्वेति, परन्तु पुमर्थम् इत्यत्र कदाचिदपि नहि, नवरसमिलितं वा केवलं वा मुकुन्दे, मुकुन्दविषयं भक्तियोगम् इह सर्वेऽपि परमं पुमर्थं वदन्ति एकमताः निश्चिन्वन्ति न तु विप्रतिपद्यन्ते। धर्मार्थकाममोक्षाः पुरुषार्थाः इत्यादिवचनं तु तम् लाङ्गलं मम जीवितं इत्यादिवदौपचारिकम्, इत्येवं अत्र व्याख्यायां स्वयमेव प्राह मधुसूदनसरस्वतीपादः । तस्मात् परमपुरूषार्थरूपायाः भक्तेरपि पुरूषार्थशून्यासुलभत्वात् तव क्लैव्यं नोचितं, व्यवहारेऽपि माता पुत्र एवानुरज्यते न तु पुत्र्यां समानलिङ्गत्त्वात् । ननु पुष्टिसम्प्रदाये भजना विधौ स्त्रीत्वस्य प्रतिष्ठोक्ता, स्त्रीत्वं तेषु प्रतिष्ठितमित्यादि, इति चेत् । हृदयकोमलत्वपरं तत्, न खल्वकोमले भक्तिरूपयुज्यते तस्यास्तदीयस्य च भाववश्यत्वस्वभावात् । किञ्च इह क्लैव्यनिषेधः न तु स्त्रीत्वस्य। यद्यपि पार्थ! इति सम्वोधनेन तदपि परम्परया निराकृतप्रायम् ।।श्रीः।।

अर्जुन उवाच

एवं द्वाभ्यां श्लोकाभ्यां भगवता पार्थस्य प्रथमाध्यायेनिगदितव्यवसिते निन्दिते तत्कृतयुद्धोपरतौ लोकतः शास्त्रतश्च पौनः पुन्येन भर्त्सितायां किं कर्तव्यविमूढः श्रेयोजिज्ञासमानः श्रीगीताशास्त्रस्य परमाधिकारी, गुणगणसम्पन्नः प्रपत्तुमिच्छुः परमात्मपद पाथोजयुगलः अर्जुनः स्वभावतः शुक्लः भगवल्लीलयैव सम्प्रेषित शोकमोहकलुषीकृतस्वान्तोऽशान्तः पञ्चभिः श्लोकैः शरणागतिपूर्वपीठिका रूपं

मनोवैक्लव्यं प्रकाशयन् उवाच भगवन्तं प्रति जिज्ञासाञ्चक्रे ने धातूनामनेकार्थत्वात् प्रसङ्गानुरोधादिह ब्रुवो जिज्ञासाकरणमर्थः।

''कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ।।४।।

रा० कृ० भा०– इह श्लोके वाक्यद्वयम् तस्मात् मधुसूदन अरिसूदन इति द्वे अपि सम्बोधने प्रत्येकं प्रत्येकेनान्वेति एकैकं एकैकेनान्वेति। हे मधुसूदन! अहं संख्ये भीष्मं च द्रोणं प्रति इषुभिः कथं योत्स्यामि, हे अरिसूदन! इमौ इति अध्याहार्यम्, मम इति च पूजार्हौ इत्यन्वयप्रकारः। भवान् मधुनामकं दैत्यं धर्मतः सूदितवान्, ततो मामपि अधार्मिकान् सूदयितुं प्रोत्साहयति, तथाऽप्यहं जिज्ञासे हे मधुसूदन! नेमौ वक्ष्यमाणनामानौ दैत्यौ, सुभटमुकुटमणिरपि स भीष्मम् "भीमादयोऽपादाने" इत्यनेन साधुः, तं भीष्मं आदराधिक्यात् प्रथमं नाग्रहणं, चकारः समुच्चयार्थः। द्रोणं मम धनुर्विद्या सम्प्रदाया-चार्यम् प्रति। इह भीष्म द्रोणं प्रति इति वाक्यशकले "अभितः परितः समयानिकषा हा प्रतियोगेऽपि" इति वार्तिकेन द्वितीयोपपद्विभक्तिः, अनयोः सम्मुखमिति भावः आभ्यां सह वा सहार्थो द्वितीयायाः । अहं अर्जुनः संख्ये युद्धे इषुभिः बाणैः युद्धकरणीभूतैः कथं केन प्रकारेण योत्स्यामि युद्धं करिष्यामि, अनुदात्तेत्व लक्षणानुबन्धवतोऽपि सुतरामात्मनेपदिनश्रवक्षिङो ङित्वकरणज्ञापनेन अनुदात्तेत्वलक्षणस्यात्मनेपदस्य सुतरामनित्यत्वे ज्ञापिते अर्जुनस्य च साम्प्रतिक मनोदशाया अपि अनित्यत्वज्ञापनार्थमेव कथं योत्स्ये इत्यस्य स्थाने कथं योत्स्यामीति प्रयुक्तम् । भीष्मो मत्पितामहो मयि वात्सल्यवाँश्च द्रोणोऽपि मयि विशेषतः कृत पक्षपाततया निजप्रतिज्ञाऽनुसारं मां चिकीर्षन् अद्वितीयं धनुर्धरं एकलव्यतो हस्ताङ्गुष्ठमपि गृहीतवान् । तथाभूताभ्यां पुरा पुष्पैः पूजिताभ्यां सह केन प्रकारेण युद्धं करिष्यामि, नन्वरीन् प्रति युद्धकरणे न प्रत्यवायः- "आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयान्,।

मनु० स्मृ० ३५१ इति स्मृतेः, इति शङ्कां परिहन् तुरीयचरणे तुरीयं सम्बोधयन्नाह- हे अरिसूदन! अरीन् शत्रून् कंसप्रभुतीन् पूज्यान् मातुलारित्वात् सूदयति इत्यरिसूदनः तत्सम्बोधने हे अरिसूदन यथा त्वया कंसप्रभृतयः मातुल्त्वेन मान्याः सन्तोऽपि अरित्वात् सूदिताः नेमौ तथा मया सूदनीयौ, कथं? यनो हि

नेमावाततायिनौ सततं मयि वात्सल्यवत्त्वात् इमौ तु मम पूजार्हौं पूजां सम्मानं अर्हत: लब्धु योग्यौ भवत: इति पूजार्हौं। योत्स्यामीति एकवचन प्रयोगस्तु इतरपाण्डव निरपेक्षनिजयुयुत्सावरणपर: अन्ये चत्वारोऽपि मद्वन्धव: काममाभ्यां सह युद्ध्यन्तां न तानहं वारयितुं प्रभु:, किन्त्वहं भीष्मद्रोणयोर्विशेषवात्सल्यभाजनतया ताभ्यां सह कथं योत्सयीमीति हार्दम् ॥ श्री: ॥

अथ तमेवार्थं सोपपत्तिकं पुनरूपपादयति-

''गुरूनहत्वा हि महानुभावा-''
ञ्छ्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रूधिरप्रदिग्धान् ।।५।।

रा० कृ० भा० हि हैतौ, हि यतो हेतो: यद्वा हि निश्चये महानुभावान् अनुभाव: प्रभाव: महान् पूजनीय: अनुभाव: प्रभाव: येषां एवं भूतान् महानुभावान् पूजनीयसत्वसम्पन्नान् गुरून् गुरूशब्दोऽत्र श्रेष्ठवाची गुरून् श्रेष्ठान् भीष्म द्रोणकृपशल्यशकुनिसोमदत्तादीन् अहत्वा अमारयित्वा इह अस्मिंल्लोके भैक्ष्यं भिक्षया प्राप्तम् अपि अन्नं क्षत्रियवंशयस्य निषिद्धं सदपि भोक्तुम् अभ्यवहर्तुं श्रेयो ममेति शेष: । यथोक्तं प्रथमाध्याये- "न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे" १-३१। तमेवार्थमनुवदति, महनीयसत्त्वान् गुरुन् अमारयित्वा अस्मिल्लोके विगर्हितमपि भिक्षावृत्तिप्राप्तं जीविकासाधनं कर्तुं ममकृते श्रेय: धर्मविरुद्धे सदपि, परन्तु तेषां राज्यं भोक्तुं मम कृते न श्रेय:। तमेवार्थम् उत्तरार्धेन हत्वेत्यादिना तु शब्द: किन्त्वर्थ: पादपूर्त्यर्थौ वा, अर्थं कामयन्ते इति अर्थकामा: अर्थे काम: अभिलाष: येषां ते अर्थकामा: तान् अर्थकामान् अर्थलिप्सया त्यक्तधर्माधर्मविवेकान् तुरप्यर्थे तथाभूतानपि गुरून् हत्वा मारयित्वा इह एव अस्मिन्नेव लोके न तु परलोके रूधिरेण मया निहतानां गुरूणां रक्तेन प्रदिग्धान्, संपृक्तान् गुरूजनशोणितमयान् भोगान् भुवि भुञ्जीय अभ्यवहरेयम् किम्? भुञ्जीय इति लिङ् लकार: सम्प्रश्ने "विधि निमन्त्रणामन्त्रणाधिष्टसंप्रश्नप्रार्थनेषु लिङ् (३-३-१६१) इति पाणिनि अनुशासनात्। यद्यपि मद्गुरव: अर्थाभिलाषवशंवदतया धर्माधर्मविवेकशून्या: जाता: किन्त्वहं त्वच्चरणसरोजसन्निधापिततादृक् विवेकत्वेन न तथाविध:, कँस्तेषां रक्तरञ्जिता अत: भोगा: मया न सेवनीया इति हार्दम् ।

यतो हि– ते सन्तु यादृशा तादृशाः परन्तु सन्ति मे गुरवः, यथोक्तं-

"एकाक्षरप्रदातारं गुरूं यो नाभिनन्दति।
स नरो नरकं याति यावच्चन्द्रदिवाकरौ।।

अन्यदपि-

गुरूं हुँ कृत्य तुं कृत्य विप्रान्निर्जित्य वादतः।
अरण्ये निर्जने देशे जायते ब्रह्मराक्षसः ।। इति ॥ श्रीः ॥

ननु

"गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य प्रायस्त्यागो विधीयते ।।

इति स्मार्तवचनविहितत्यागार्हतासूचकलक्षणतयोपपन्नतया सन्तोऽपि ते गुरव:भीष्मद्रोण कृपादयः तद्विषयकगुरुबुद्धित्यागपुरःसरं त्वया सर्वथैव हन्तव्याः, यतो हि ते अवलिप्ताः गृहीताधार्मिकमुकुटमणि दुर्योधनपक्षतया कार्याकार्यविवेकशून्याः कौरव राज्य सभायं दुःशासनेन कृतं कृष्णा केशकर्षणं तद्वस्त्रापहरणं च पश्यन्तोऽपि न न्यवारयन् । तस्सात् उत्पथः प्रतिपन्नाश्च ततस्तेषुत्यज् गुरुभावं जहि ताविति अन्त यमिभगवच्छ्रीकृष्णान्दोलितमतिः यां तत्क्षणादेव पूर्वनिश्चयतः प्रस्खलन्निव विचारमूढ़ः सन् विकलः प्राह पार्थः न चैतद् इत्यादि-

"न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ।। ६ ।।

रा० कृ० भा०- अत्र पार्थवैक्लव्यसूचनायैव श्लोके पंचकृत्त्वः बहुवचन प्रयोगः, यद्वा जातौ बहुवचनं, चकारः अप्यर्थः, वयम् एतदपि न विद्मः नैवावगन्तु पारयामः, यत् नः अस्माकं कृते युद्धायुद्धयोर्द्वयोर्मध्ये कतरत् किं जातीयकं कार्यं गरीयः कस्माद् गुरुतरं, किं कस्मात् ज्यायः इति, यद्वा तान् वयं जयेम अभिभवेम यदि वा पक्षान्तरसूचकं एतत्, अथवा ते धार्तराष्ट्रानः नः अस्मान् जयेयुः जेतुं शक्नुयुः इदमपि न विद्मः परन्तु यान् धार्तराष्ट्रा हत्वा निहत्य न जिजीविषामः नैव जीवितुं काङ्क्षामः त एव धार्तराष्ट्राः धृतराष्ट्रस्या इने धार्तराष्ट्राः तस्य इदम्

इत्यण्। धृतराष्ट्रसम्बन्धिनः एकादशक्षौहिणीसंख्यभटाः प्रमुखे अस्माकम् सम्मुखे अवस्थिताः उपस्थिताः। अतः "कैर्मया सह योद्धव्यम्" इति पूर्वविचारं परिहरन् साम्प्रतं न योद्धव्यम् इत्येवाध्यवस्यामि ॥ श्रीः॥

अथ प्रपत्तियोगकारिका भाष्यम् :-

''एतावद्ग्रन्थपर्यन्ता सूचिता सव्यसाचिनः।
मनोवैक्लव्यसंलक्ष्या प्रपत्तेः पूर्वपीठिका ।।१।।

अनन्ये सिद्धे स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम् ।
तदेकोपायता याच्ञा प्रपत्तिः शरणागतिः ।।२।।

इत्येतदभियुक्तोक्तं शरणागतिलक्षणम् ।
लक्षयामश्चरित्रेऽस्मिन् समग्रे सव्यसाचिनः ।।३।।

यदूचिवान् प्रसङ्गेऽस्मिन् स्वसिद्धान्तानुसारतः ।
वेदान्ताधिकृतीं पार्थे मधुसूदनसरस्वती ।।४।।

नित्यानित्यविवेकं च लोकद्वयविरागताम् ।
शमादिषट्कसम्पत्तेः मुमुक्षुत्वं कपिध्वजे ।।५।।

सोपाधिकत्वमेवाहुः अधिकारचतुष्टये।
विभाव्यानर्गलत्वाच्च तन्नैवात्र प्रपंच्यते ।।६।।

वस्तुतो भगवल्लीलालोलचेतसि पाण्डवे।
क्षणस्थाः दर्शिताः सर्वाः प्रपत्तिपरिकल्पना ।।७।।

शरकल्पाधिसंसार संकटाद्विभ्यता भृशम् ।
स्वात्मैव नीयते नूनं यत्तच्छरणमिष्यते ।।८।।

शरान्नयति संसारसंकटात्साधकं द्रुतम् ।
दूरं यत्तत् परंब्रह्म शरणं श्रुतिविश्रुतम् ।।९।।

शरान्नयति संसार कष्टाख्यात् स्वजनान् बहिः ।
चिदचिद्भ्यां विशिष्टं तदद्वैतं शरणं स्मृतम् ।।१०।।

श्रिणाति पापं जातानि प्रपन्नस्य परेश्वरः ।
तदेव शरणं ब्रह्म रामकृष्णादिनामधृक् ।।११।।

प्रपन्नकर्मत्रितयं श्रीणाति पचति द्रुतम् ।
सूदो यथा परंब्रह्म शरणं रामसंज्ञकम् ।।१२।।

इति व्युत्पत्तिवैपुल्य लब्धार्थाः शरणागतेः।
पार्थे दृष्टास्ततो गीतातात्पर्यं शरणागतिः ।।१३।।

स्वाभीष्टमिह शत्रूणां बहिरन्तः सुखच्छिदाम् ।
जयं चानन्यसाध्यं हि विद्वान् विजय आतुरः ।।१४।।

महाविश्वासनिश्वाससमुज्जृम्भितमानसः।
प्रभुं बव्रे ससारथ्ये पार्थस्त्यक्तचमूस्पृह : ।।१५।।

संग्रामे सेनयोर्मध्ये स्थापितात्मरथो रथी।
भगवत्प्रेरितः पश्यन् कुरून् लीलाप्तचक्षुषा ।।१६।।

श्रेयो जिज्ञासमानो हि भृशं भीतश्च पातकात् ।
प्रपेदे पादपाथोजमार्तः पार्थः परेशितुः ।।१७।।

तस्मात्प्रपत्तिसिद्धान्तसागरं स्मृतिनागरम् ।
गीताशास्त्रं विलोड्यैतत्तथैव व्याचिकीर्ष्यते ।।१८।।

नैवात्र पक्षपातो मे न च कश्चिद् दुराग्रहः ।
संग्रहः सद्विचाराणां बुद्धेः फलमनाग्रहः ।।१९।।

पौर्वापर्यं विचार्यात्र सावधानसुचेतसा।
मयेदं निश्चितं तथ्यं श्रीराघवकृपाजुषा ।।२०।।

नद्वेषान्नानुरागेण न चिखण्डषुः थि परान् ।
श्रीराघवकृपाभाष्ये सत्यं भाषे स्मरन् हरिम् ।।२१।।

प्रवृत्ता भगवद्गीता जीवश्रेयो विधित्सया।
प्रपत्तिमन्तरेणाहो न प्राप्यं तद्धि केनचित् ।।२२।।

तस्मादियं प्रपत्तौ हि गतार्था भगवत्स्मृतिः ।
श्रेयो विधत्ते नः पार्थोपदेशव्यपदेशतः ।।२३।।

विसृज्य गाण्डिवं श्रेयो याचमानो धनञ्जयः।
प्रपित्सुः प्राह गोविन्दं रथोपस्थस्थ आतुरः ।।२४।।

अथ कर्तव्यमूढचेताः पार्थः प्राञ्जलिः प्राह– द्वाभ्यां शरणागतसिद्धान्तसारसर्वस्वम्-

कार्पण्यदोषोपहतस्वभाव
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयःस्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधिमां त्वां प्रपन्नम् ।।७।।

रा० कृ०भा०- कृपणस्य भावः कार्पण्यम्, कार्पण्यमेव दोषः कार्पण्यदोषः कार्पव्यदोषेन उपहतः स्वभावो यस्य सः कार्पण्यदोषोपहत स्वभावः धर्मे समूढं चेतः यस्य सः धर्मसंमूढचेता एवं भूतः अहं श्रेयस्त्वां पृच्छामि, यत् निश्चितं श्रेयःस्यात्, तत् मे ब्रूहि, अहं ते शिष्यः त्वां प्रपन्नं मां शाधिइति समासान्वयप्रकारः "परीक्ष्यलोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात् । नास्त्यकृतः कृतेन तद्विज्ञानार्थं सद्गुरूमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥ मु० उ० १-२-१२ इतिः

गुरूपपत्त्यनुशंसिनी मुण्डकश्रुतिः, ब्राह्मणशब्दोऽत्र तपःश्रुतयोनिविशुद्ध द्विजन्मपरः ब्राह्मणभक्तपरश्च पूर्वस्तु विशुद्धेदमथोऽण् प्रत्ययः द्वितीयः समत्वर्थीयाः च प्रत्ययः, ब्रह्मवेदं अधीते, ब्रह्मवेदम् वेद तज्जात्यवच्छिन्नः इति ब्राह्मणः । ब्राह्मोऽजातौ इत्यनुशासनेन विजातीय ब्रह्मवेतृत्वस्थले टिलोप विधानात्, यत्तु ब्रह्म जानातीति ब्राह्मणः। एवं यः कश्चनापि ब्रह्मजानानो ब्राह्मणो भवतीति कैश्चित्प्रलप्यते तदसंगतम् अशास्त्रीयं च। सौभाग्यतो न किञ्चिदप्येकं सूत्रं पश्यामोऽष्टाध्याय्यां सम्पूर्णायामपि पाणिनीयायां यदेतादृशीं व्युत्पत्तिमनुरुध्य कंचित् प्रत्ययं विदध्यात् । तथाहि-सिद्धान्तकौमुद्याः प्रकरणं तत्रत्यम-ब्राह्मोऽजातौ (पा० अ० ६-४-१७१) ब्राह्मं हविः। ततो जातौ। अपत्ये जातावणि ब्रह्मणष्टिलोपो न स्यात् । ब्रह्मणोऽपत्यं, ब्राह्मणः (सि० कौ० अपत्याधिकार ११९५८)। द्वितीयस्थले ब्राह्मणः पूज्यत्वेन अस्त्यस्य इति ब्राह्मणः। ननु किमनेन द्वितीयव्याख्यानेन इति चेत्, तथाभूत व्याख्यानाभावे जनकादावब्राह्मणे वेदान्तश्रवणाधिकारानुपपत्तिः, लभ्यते च वृहदारण्यकादौ जनकयाज्ञवल्क्यसंवादाख्यायिका। जनकस्य क्षत्रियत्वं याज्ञवल्क्यस्य च ब्राह्मणत्वं सर्वसाधारणतया सुविदितमेव, एवं ब्राह्मणो ब्राह्मण्यश्च साधकः, कर्मभिः चितान् निर्मितान् कर्मचितान् लोकान् लोक्यन्ते अनुभूयन्ते इति लोकाः भोगसामग्रीभूतपदार्थाः तथाभूतान् परीक्ष्य परतो विभाव्य निर्वेदं तेभ्यः क्षणभङ्गुरेभ्यो निर्वेदं वैराग्यम् आयात् आगच्छेत्, संसारतो विरतो भवेत् । विरतिप्रकारमाह नास्तीत्यादिना-कृतमनित्यम् अक्रियत इति कृतम् इति भूतार्थकर्मक्तान्तसाधनेन-तेन कृतेन संसारपदार्थेनानित्येन करणीयभूतेन अकृतः कृतभिन्नः नित्यं शाश्वतं कूटस्थं वस्तु ब्रह्म नास्ति न प्राप्तं भवति। यद्वा कृतेन इति व्यत्ययात् सप्तम्यर्थे तृतीया, तथा च कृतेन इत्यस्य कृते इत्यर्थः, कृते संसारे अनित्यत्वावचिछन्ने अकृतः नित्यंब्रह्म वस्तु नास्ति न विशुद्धत्वेनोपलभ्यते। ततोऽयमसारः संसारः परिहर्तव्यः, यथोक्तं श्री भागवते प्रह्लादेन-

"तत्साधु मन्येऽसुरवर्य देहिनां सदा समुद्विग्नधियामसद्ग्रहात्।
हित्वाऽऽत्मपातं गृहमन्धकूपं वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत ।।
भागवत७-५-५।।

अथवा कृते इत्येकं पदं न इत्यपरं, कृते अकृतं न न अस्ति इत्यन्वयः। कृते वैष्णव्या मायया रचितसंसारे अकृतः, मायानिर्मित सृष्टिबहिर्भूतम् मायाः धवं

माधवाख्यं ब्रह्म न अस्ति प्राप्त्यर्हं न विद्यते। दृढीकर्तुं द्विरुक्तिः, यतोक्तं श्री मानसे पञ्चवट्यां श्रीलक्ष्मणं प्रति भगवता श्रीरामेण परमात्मना-

''गो गोचर जहँ लगि मन जाई।
सो सब माया जानेहु भाई ।। मानस ३-१५-३

रूपान्तरम्:

गवांच गोचरेष्येव मनो यावच्च गच्छति।
तत्सर्वं त्वं विजानीहि भ्रातर मायां न चान्यथा।।

मायारचितसंसारे मायापतिप्राप्तिरसंभवेति कर्मचितेषु लोकेषु विवेकेन सच्छास्त्रयुक्तिभिश्चि विभाव्य संसारपदर्थेभ्यः विरमेत् साधकः। इतिः मन्त्र पूर्वार्धवाक्यार्थः। तस्य अकृतस्य विशिष्टं ज्ञानं तद् विज्ञानं तस्मै इदं तद् विज्ञानार्थं नित्यस्य निरतिशयकल्याणगुणगणसदनस्य ब्रह्मणः विज्ञानार्थं सः साधकः समित्पाणिः समिदेव पाणौ यस्य तथाभूतः रिक्तपाणिः गुरूं न गच्छेत् इत्यनुशासनात्, श्रोत्रियं वेदपारगं ब्रह्मणिं वेदान्तवेद्ये परब्रह्मणि परमेश्वरे निष्ठा शास्त्रीया यस्य तथाभूतं गुरूं सद्‌गुरूं ब्रह्मविद्‌वरष्ठिमेव नान्यंश्रोत्रियमब्रह्मनिण्ठंभिगच्छेत् उपसन्नो भवेत् । इह एवकारः कर्तृकर्मक्रियासु समन्वयन् अन्ययोगायोगात्यन्तयोगव्यवच्छेदार्थः, तथाहि गुरुमेव अभिगच्छेत् नागुरुंतथा सति दुर्योधनादेरिव संसारित्वापत्तिः इत्यन्ययोगव्यवच्छेदः। स एव अभिगच्छेत् नान्योऽपरीक्षितकर्मचिल्लोकः तथा सति ब्रह्म जिज्ञासानुपपत्तौ गुरूपसत्तिरेव व्यर्था स्यात् दुर्योधनस्येव, इत्ययोग व्यवच्छेदः । क्रियान्वये गुरूं अभिगच्छेदेव यदहरे तदहरेव प्रव्रजेत् इति श्रुतेः, विभीषणादिवत् तमनभिगच्छतः गुरूपसत्त्यभावे ब्रह्मविज्ञानमेव नोपपद्येत, भगवत्कृपा पार्थे सर्वमिदं समञ्जसम् । तेन लोका परीक्षिता "तत्रापश्यत्स्थितान् पार्थः" १-२६ इत्यादिना, "विसृज्य सशरं चापं" १-४७ इति तत्र निर्वेदः "रथोपस्थ उपाविशत्:" १-४७ इति गुरूपसदनं, अथ 'शिष्यस्ते' इत्यादि विधिवत् उपसत्तिः गुरुत्वेन वरणं च 'शाधि मा' इति जिज्ञासाकरणं, यच्छ्रेयः स्यात् इति जिज्ञासा प्रकारः। इह शरणागतेः षड्‌विधाः अपिः तथा चाहुः

''आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् ।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा।।

कार्पण्यमात्मनिक्षेपः षड्विधा शरणागतिः।।

गोप्तुः गोप्तृत्वेन वरणं गोप्तृत्ववरणं, यद्वा भगवद् गोप्तृत्वस्य वरणमङ्गीकरणं गोप्तृत्ववरणं, अथवा गोप्तृत्वाय रक्षायै वरणं भगवतः गोप्तृत्ववरणं, आत्मनः स्वस्य निक्षेपः नितरां क्षेपणं भगवत् चरणारविन्दे सर्वसमर्पणमिति आत्मनिक्षेपः विधाः प्रकारः षट्संख्याः विधाः यस्याः सा षड्विधा, तत्र षडपि संगच्छन्ते धनञ्जये कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः "इत्यस्मिन् पूर्वं तावत् कार्पण्यम्, पृच्छामि त्वाम् इत्यत्र प्रष्टुरुत्तरयितरि विश्वस्ततया रक्षिष्यतीति विश्वासः त्वामइति प्रथमेन गोप्तृत्ववरणं न खलु वरणमन्तरेण कोऽपि कमपि पिपृच्छिषिति गीप्सा खलु विश्वास पात्रे गोप्तरि च भवति। यच्छ्रेयः स्यात् इत्यनेन श्रेयो जिज्ञासा प्रकटनेन आनुकूल्यसंकल्पः, नखलु श्रेयसि प्रातिकूल्यसंभावनात् श्रेयो हि नामानुकूल्यं भवति। निश्चितं ब्रूहि तन्मे प्रातिकूल्यस्य अनिश्चयाख्यास्य वर्जनं, यद्वा यच्छ्रेयः स्यात् इत्यनेनैव श्रेयसि जिज्ञासिते संकल्पिते सति प्रेयसः प्रातिकूल्यस्य वर्जनमर्थतः सूपपन्नम् । शिष्यस्तेऽहम् इत्यनेन आत्मनिक्षेपः न खलु सर्वसमर्पणदृते शिष्यत्वायोपपद्यते, यथोक्तं गुरुगीतासु-

''शरीरे वसुविज्ञानं वासो धर्मान् गुणांस्तथा।
गुर्वर्थं धारयेद्यस्तु स शिष्यो नेतरः स्मृतः।।

एवं षड्विधशरणागतियोग्यतासम्पन्नः पार्थः प्राञ्जलिः परमेश्वरप्रपत्तिं प्रतिजानीते, 'शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' इत्यादिना। द्वितीयमपि शरणागति लक्षणं सुसंगत मिहैव तथा हि-

''अनन्ये साध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम् ।
तदेकोपायता याच्ञा प्रपत्तिः शरणागतिः।।

नान्येन साधयितुं योग्यम् इत्यनन्यसाध्यं तस्मिन्ननन्यसाध्ये अन्यत्वमिह परमात्मावधिकं स्वस्य अभीष्टं स्वाभीष्टं तस्मिन् स्वाभीष्टे। इह अनन्यसाध्ये इति विशेषणं, स्वाभीष्टे इति च विशेष्यम् । स्वाभीष्टे इत्यत्र च विषय सप्तमी सा च याच्ञायां अन्वेति, महाविश्वासः पूर्वं यस्मिन् कर्मणि तद्यथा स्यात्तथा इति महाविश्वासपूर्वकम् क्रियाविशेषणमेतत् तस्मादौत्सर्गिकमेकवचनम् क्लीबत्वं द्वितीया च, एवमनन्यसाध्यत्वावच्छिन्नानन्यसाध्ये प्रकारकस्वाभीष्टविषयिणी महाविश्वासपूर्वकत्वपुरः सरतदेकोपायता याच्ञा प्रपत्त्यपरपर्याया शरणागतिर्भवति।

स्वाभीष्टमिह श्रेयः न च श्रेयोऽनु पश्यामि "१-३१" यच्छ्रेयः स्यात् "२-७" येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ३-२, यच्छ्रेय एतयोरेकं ५-१, इति पौनः पुन्येन पार्थप्रतिज्ञानात् तच्च श्रेयः निःशेषसंसारनिस्सारताबोधपुरः सर तदनुवन्धिसकलकौटुम्विक ममतासम्वन्धविस्मरणपूर्वकनिष्प्रत्यूहपरमात्मपदपद्मप्रेमप्रवणमनःसन्निधानसमलंकृतभगवच्चरणसरोरुह नित्यकैङ्कर्यरूपम् ।

तद् विषयिणी या तत्प्राप्त्युपायभूतायाच्ञा सा सुतरामस्मिन् श्लोके यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे" द्विधा सा शरणागतिः आर्त दृप्त भेदात्, तयोः सव्यसाचिन्यार्त शरणागतिः-

"कार्पव्य दोषोपहतः स्वभावः, धर्म सम्मूढ चेता, मे त्वां प्रपन्नं, माम् इति प्रथमा चतुर्थीद्वितीयाघटितप्रयोगवैपुल्य दर्शनात्, कर्तृसम्प्रदानकर्मत्ववैचित्र्य स्फुरणेन च तस्यार्तिमूलकलौल्यं स्फुटमेव, पुनश्च इयं शरणागतिः कायिकवाचिकमानस भेदेन त्रिधा, संयोगतः सा त्रिधापीहैव- पृच्छामि त्वां इति वाचिकी, शिष्यस्तेऽहं इति मानसी, त्वां प्रपन्नम् इति कायिकी भगवच्चचरणकमलोपसरणरूपा। प्रपदं चरणाग्रं नयति आत्मानं प्रापयति यः सः प्रपन्नः इति व्युत्पत्तेश्च। कार्पण्य शब्द इह गुणवान् बाह्वर्थदश्च, लोके कृपणो नाम मितव्ययी दानासहिष्णुश्च, दित्सा प्रतियोगिकाभाववत्वं कृपणत्वम्, इहार्जुनः प्राह यन् मयि भवद्विषयकं कार्वण्यम्। जानन्नपि पुराणपुरुषोत्तमं भगवन्तं ददानः समग्रसम्पदः सुहृद्भ्यः कदाचिदपि नयनाश्रूण्यपि भवते परमात्मने न दीत्स इति कार्पण्यमेतत् दोषः, तेन कार्पण्य दोषेण भवद्विषयक स्वस्य आत्मीयस्य, स्वस्य धनस्य, स्वस्य ज्ञातेश्च भावो में उपहतः आत्मीयमपि भवन्तं मन्वानोऽनात्मनीयं सारथ्ये नियोज्य सैन्यद्वयमध्ये रथस्थापनाय समादिष्टवाश्च। भोक्तुं भैक्ष्यामपीह लोके "इत्यादिना स्फुटमुक्तत्वात्। अथवा कृपणो दीनः "निः स्वस्तु दुर्भगो दीनो दरिद्रो दुर्गतोऽपि सः इत्ययमरकोशो" अपिन्वा पूर्वपदप्रयुक्तपर्यायवाचिनां संग्रहात् । अत एव भागवते- "व्यासः कृपणवत्सलः" १-४-२४ "तमाह भ्रातरं देवी कृपणा करुणं सती १०-४-४" अपि च कृपणपक्षे ह्युत्तमश्लोक जल्प" "भागवत- १०-४७-१५" कृपणो दीनः इति तत्र तत्र अन्वितार्थ प्रकाशिका। त्वयि स्वामिनि वर्तमानेऽपि मामुपागतेन जगत्प्रतिकार्पण्येन दीनभावेन ममस्वभावः भगवदीयतारूपः उपहतः। अत एव

अभगवदीय इव भवन्तं उभयोः सेनयोर्मध्ये रथं स्थापयितुमादिशम् । अथवा कार्पण्यं क्षुद्रता- "कदर्थे कृपणक्षुद्रकिंपचानमितपंचाः" इत्यमरः, अत एव स्वभावः शक्र पुत्रत्वादिलक्षणः मम विनष्टः अत एव सशरे चापं विसृष्टवानस्मि । अथवा कृपयतीति कृपणः कृपणस्य भावः कार्पण्यं कृपाकर्तृत्वं तदेवदोषः, कृपा खलु भवद्धर्मः भवति सर्वसमर्थे परमेश्वरे सा हि शोभते, तच्च सर्वतोऽसमर्थे क्षोदिण्ठे जीवे मयि आगतम् अत एव तत्कार्पण्यं कृपाभावरूपं अस्थानागतत्त्वात् दोषः। तेन स्व भावः जीवस्वरूपनामकः उपहतः विस्मृतः, अत एव धर्मे सम्मूढं किङ्कर्तव्यमूढं चेतो यस्य तथा भूतः त्वां श्रेयः पृच्छामि। अथवा कृष्णेन कृपोपेतः क्रियते इति कृपणः कर्मणिल्युट् "कृत्यल्युटो बहुलम्' इत्यनुशासनात् । कृपणस्य भावः कार्पण्यः कार्यण्ये दोषः कार्यण्यदोषः भवत्कृपापात्रत्वेऽपि मयि संसार निरूपितकृपोपेक्षित्वमागतं धार्तराष्ट्रारणे हन्युः १-४६ इत्युक्तेः, तेनैव दोषेण उपहतः विस्मृतः भावः भवत्कृपापात्रत्वरूपः यस्य तथा भूतोऽहं, 'धर्मे सम्यक् मूढं चेतः चित्यवच्छिन्नमन्तः करणं यस्य तथा विधश्चाहं त्वां पृच्छामि, श्रेयो गीप्सामि। यदि च भवत्कृपापात्रत्वं न व्यस्मरिष्यम् तदा कथं त्वामहं श्रेयोऽप्राक्ष्यम्, अथवा कार्पण्यं मौर्ख्यं "अज्ञे मूढयथाजातमूर्खवैधेयबालिशाः।

कदर्पे कृपणक्षुद्रकिंपचानमितंपचाः॥ इत्यमर कोशात्। तेनैव मौर्खरूपेण कार्पण्येन दोषेण उपहतः नाशितः स्वभावः सेवकसेव्यभावरूपः जीवस्वरूप बोधः यस्य तथाभूतोऽहं पुनर्जीव स्वरूपज्ञानरूप श्रेयः धर्मविषये मूढवुद्धित्वात् तत्र भवन्तं जिज्ञासे। अथवा कार्पण्यमिह श्रौतं न तु स्मार्तं न वा लोकप्रसिद्धम्, बृहदारण्यके याज्ञवल्क्य गार्ग्य सम्वादे गार्गी प्रति यथोक्तं स्तोताक्षरमहिमानं भगवता ब्रह्मर्षिवर्येण याज्ञवल्येन "यो वा एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात्प्रैतिस कृपणः" वृ० उ० ३-१० अस्यार्थ- महर्षिः याज्ञवल्क्यः जनकराजसभायां आत्मानं ब्रह्मवेत्तृत्वविषये परीक्ष्यमाणां वाचक्नवीं ब्रह्मवादिनीं निजतपःप्रभावेण विध्वस्तललनानैसर्गिकार्तवादिपवित्रताप्रतिबन्धक दैहिकव्यापार गार्गी गर्गस्य गोत्रा पत्यत्त्वेन विवक्षितां संवोधयन्नाह- यः कश्चन एतत् अनुपदमेव मया वर्णितमाहात्म्यं निरूक्तं च, अक्षरं न क्षरति तथाभूतं अश्नुते सर्वं व्यापनोति यत्तथा भूतं अक्षाणि इन्द्रियाणि तदुपलक्षितानि शरीराणि च यथा प्रारब्धं जीवेभ्यो राति तथाविधंअक्षरं न क्षीयते केनापि निमित्तेन विनाशयितुं न प्रभूयते यत्तदक्षरं अकारं वासुदेवं

व्यूहात्मकं क्षरति प्रसूयते अकारं वासुदेवोपलक्षितं चतुर्व्यूहं क्षीयति निवसति यस्मिन् तादृशम् अमृतं कृपात्मकं भक्त्यात्मकं च क्षरति यत् क्षीयति च यस्मिन् तदक्षरः, यः कश्चन साधकः वै निश्चयेन अज्ञात्वाअविदित्वा अनुपास्य अलब्ध्वा न साक्षात्कृत्य अस्माल्लोकात् अविहित परमेश्वरसाक्षात्कारः, अस्मात् लोकात् दृश्यमानात् संसारात् प्रैति प्रेतो भवन् गच्छति स कृपणः अनवाप्तपरमात्मपद्म धनःत्वात् निर्धनः, तस्य भावः कार्पण्यम् । अत्र पार्थस्यायं आशयः- यद् हे भगवन्! अज्ञानात् अहं भवन्तं न वेद, अत एव तु परमात्मानं निजानुचरयन् सैन्यद्वयमध्ये स्यन्दन स्थापयितुं समादिष्टवानहं, तादृशं कार्यण्यमेव दोषः तेन उपहतः स्वस्मः सेवकस्य भावः यस्य तथाभूतः। एवं हारितोऽप्याह-

"दास भूतास्तु वै सर्वे ह्यात्मानः परमात्मनः।
अहं दासो हरिः स्वामी स्वभावं च सदा स्मर।। इति

जीवः भगवतो दासः श्रीहरिः तस्य स्वामी इत्येष शास्त्रनिर्णयः। कार्पण्येन भगवद् भजने अदित्सित निज समयत्वरूपेण दोषेण दूषणेन त्वद्भजनप्रतिवन्धकेन करणीभूतेन उपहतः नाशितः विस्मृतो वा स्वभावः भगवत्कैङ्कर्यरूपप्रकृतिः यस्य सोऽहं धर्मसम्मूढचेतस्त्वात् त्वां सर्वज्ञशिखामणिं श्रीकृष्णं परमेश्वरं श्रेयः युद्धमध्ये यत् प्रशस्यतरं, अथवा श्रेयः भवद्भजनानुकूलं कल्याणमयं वर्त्म पृच्छामि जिज्ञासे। मे मम कृते यत् यदपि वस्तु श्रेयः कल्याणरूपं स्यात् भवति, स्यादिति तिङन्तप्रतिरूपकमव्ययं अस्तीत्यर्थकं "तदेव निश्चितं भवतेति शेषं भवता श्रीकृष्णेन कृतनिश्चयं, यद्वा निःशेषेण चितं शास्त्रेभ्य आहृतं मे मह्यं पार्थाय ब्रूहि कथय।कथं कथयामि नासि शिष्यो न वा पुत्रः? इत्यत आह– शिष्य इति, अहं द्रोणशिष्यचरः पुरन्दरपूर्वशिष्योऽपि साम्प्रतं ब्रह्मविज्ञानार्थं ते तवैव श्रीकृष्णस्य शिष्यः विधेयः भवन्, त्वां शरणं व्रजामि। बाण विद्यायां द्रोण पुरन्दर शिष्यचरोऽपि निर्वाणविद्यायां कृष्णस्य तव शिष्योभवामीति हार्दम्। अतस्त्वां प्रपन्नं माम् अर्जुनं, कीदृशं प्रपन्नं भवत्पदपद्मप्राप्तप्रपत्तिं शरणागतं मां शाधि अनुशिक्षय। अद्यतोऽहं शरीरवसुविज्ञानवासोधर्मगुणादिसकलवैशिष्ट्यानि भवदर्थे एव धारयिष्यामि, इति प्रतिजानानः सकलजगच्छरण्यं भगवच्छ्रीचरणसरसिजयुगं समुपजगाम ॥ श्रीः ॥

ततश्च स्वाभीष्टं न हि भगवदतिरिक्त साध्यमिति प्रकाशयितुमाह- नहीत्यादि-

"न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ।।८।।

रा० कृ० भा०- यच्छ्रेयो मया जिज्ञासितं तत् किमप्यपूर्वं निश्चतिद्वन्द्वं च नूनं तद् भवदायत्तं, ननु ततोऽन्यदपि श्रेयः युद्धं विजयी सन् निष्कष्टकभूमण्डल साम्राज्यं प्राप्य नष्टशोको भविष्यसि, कदाचित् शत्रुभिः परिभूतबलतया निहतः सन् निर्भिन्नसूर्यमण्डलः समवाप्तपारमेष्ठ्यः पारेशोकसागरं गमिष्यसि। तथा हि धर्मशास्त्रम् -

"द्वावेतौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ।
योगिनो योगयुक्ताश्च सम्मुखेऽभिहतो रणे।

तदलम् श्रेयो जिज्ञासयागृहीतगाण्डीवः समुत्यथाय युद्धस्वेति निर्देष्टु कामं निजस्यन्दनाभिरामं श्यामसुन्दरं भगवन्तं भावयन् भूयः प्राह प्राञ्जलिः पार्थः, भूमौ प्राथीव्याम् अत्रावच्छेदे सप्तमी। भूमित्वावच्छेदेन सार्वभौममित्यर्थः न विद्यन्ते सपत्नाः शत्रवः यस्मिन् तत् असपत्नं शत्रुरहितं निष्कण्टकऋद्धं धनधान्यसम्पनं राज्यं राज्ञः कर्म-भूतं शासनं समस्तभूमण्डल शासनम् अवाप्य विजयिनोऽपि, च तथा सुराणाम् इन्द्रादिदेवानाम् आधिपत्यम् अधिपतेः भावः आधिपत्यं तद् देवानां स्वामित्व मपि अवाप्य सूर्यमण्डलं निर्भिद्य ब्रह्मभावमवाप्यापि स्थितस्य मम अर्जुनस्य इन्द्रियाणां तदुपलक्षित शरीरस्य "मुखं च परिशुष्यति" १-२९ "त्वक्चैव परदिह्यते" १-३० इत्याद्युक्तेः। उच्छोषणम् उत्कृष्टतया शोष्यते येन तथाभूतं "करणे ल्युट्" एवंभूतं यच्छोकम् इष्टवियोगजनितसन्तापम अपनुद्यात् अपनयेत्, अपनुद्यादिति आशिषि लिङ्। भूमौ असपत्नम् ऋद्धं राज्यं सुराणामधित्य च उभयमेतत् अनित्यम्। न खल्वानित्येन नित्यं लब्धुं शक्यते "नास्त्यकृतं कृतेन" इति श्रुतेः, भूमौ असपत्नैः ऋद्धं राज्यं सुराणामाधिपत्यं च अवाप्य अहं तत् न हि प्रपश्यामि यत् इन्द्रियाणामुच्छोषणं मम शोकमपनुद्यात् इत्यन्वयः । वस्तुतस्तु "तदेकोपायता याच्ञा" इति वाक्यघटित तदेकोपायता इति शकलस्यैव व्याख्यानभूतमेतत्, अस्य

शोकस्य निरासाय भवदधीनेऽयमुपायैकमात्रता पृथिव्याः निष्कण्टकं राज्यं देवाधिपत्यंचावाप्य नैवान्यद्युपायभूतम् अहं प्रपश्यामि, प्रकर्षेण विभावयामि। यत् ममेन्द्रियाणांम् अतिसयशोषणं मम शोकम् आशिषा सहापनयेत, अतो भवानेव शोकमेतमपनेतुं प्रभवति। ततो भवानेव कमप्युपायं निर्दिशतु श्रेयो रूपं, यो मङ्गलमयतया मच्छोकमपहरेत् "सोऽहं भगवो शोचामि" तन्मां भवान् शोकस्य पारं तारयतु इति श्रुत्यर्थोऽप्यनेन दर्शितः। स्वाभीष्ट साधने अनन्यसाध्यता च दर्शिता ।। श्रीः।।

"अथानन्तरं पार्थं युद्धादुपरतं निश्चित्य धृतराष्ट्रस्य हृदि समेधमानं पुत्र विजयाभिलाषं निराचिकीर्षुः सञ्जयः अवदत् तदेवावतारयति-

"संजय उवाच"

"एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतपः।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ।।९।।

रा० कृ० भा०- "कथं भीष्महं संख्ये" इत्यारभ्य "न हि प्रपश्यामि" इत्यन्तं एवं प्रकारं पञ्चश्लोकात्मकं वाक्यम् हृष्यन्ति अर्थान् प्राप्य प्रसीदन्ति इति हृषीकाणि, हर्षयन्ति वा इति हृषीकाणि इन्द्रियाणि तेषां हृषीकाणाम् ईशः नियामकः स्वामी वा इति हृषीकेशः सकलेन्द्रियोपलक्षितनिखिलप्राणीकर्णकलेवराधिष्ठाता तं ऋषीकेशं निरस्तसमस्तहेयगुणप्रत्यनीकसकलकल्याणगुणगणैकनिलय सर्व सर्वेश्वरसर्वान्तर्यामिणं श्रीकृष्णं परन्तपः शत्रु तापकः, गुडाका निद्रा "निद्रालस्ये गुडाका स्यात्" इति कोशात् । तस्याः गुडाकायाः निद्रायाः तन्निमित्तालस्यस्य च ईशः इति गुडाकेशः जितनिद्रालस्यः पार्थः न योत्स्ये अहं युद्धं न करिष्ये इति एवं प्रकारेण गोविन्दं, वेदलक्षणां वाणीं विन्दति इति गोविन्दः, यद्वा गां पृथिवीं विन्दति हिरण्याक्षतः उद्धृत्य पत्नीत्वेन लभते इति गोविन्दः, यद्वा गवाम् इन्द्रम् गोविन्दः "पृषोदरादित्वात्" इन्द्र शब्दस्य विन्दादेशः। तथा हि "इन्द्रः सुरर्षिभिः साकं नोदितो देवमातृभिः। अभ्यषिञ्चत दाशार्हं गोविन्द इति चाभ्यधात् ।।भागवत १०-२७-२३। भागवते तथैव व्युत्पत्तिदर्शनात् यथा तत्रैव सुरभ्युक्तौ-

"त्वं नः परमकं दैवं त्वं न इन्द्रो जगत्पते।"
भवाय भव गोविप्रदेवानां ये च साधवः ।।

भागवत् १० २७-२०

एवं भूतं गोविन्दं गोविप्रवेदभूमिपालकं श्रीकृष्णंमुक्त्वा विज्ञाप्य तूष्णीं वभूव, मौनित्वं जगाम। इह गुडाकेशपदन्तपशब्दौ पार्थविशेषणभूतौ, तदनुकूलावेव कृष्णविषयकौ हृषीकेशगोविन्दशब्दौ। यद्यर्जुनः गुडाकां मनोधर्मभूतां निद्राम् ईष्टे, तदा कृष्णः प्राणिनां सम्पूर्णानि इन्द्रियाणि ईष्टे। पार्थः परन्तपः, तदा कृष्णः गोविन्दः एवं हृषीकेशगोविन्दशब्दाभ्यां अर्जुनस्य शोकमोहनिवर्तनक्षमत्वं द्योतितम् ।।श्रीः।।

अथ न योत्स्ये इत्युक्त्वा मौनं गते गाण्डीवधन्वनि ततः परं भगवता किं कृतं? कच्चिन्निजादेशविमाननापदं पार्थं क्रोधेन शप्तवानसौ, उताहो उदासीनः समुपेक्षितवान् भगवान् धनञ्जयं, उताहो तं युद्धे प्रवर्तयामास माधवः। इति धृतराष्ट्र कुतूहलं निराचिकीर्षुः प्राहः सञ्जयः तमित्यादि-

''तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ।।१०।।

रा० कृ० भा०- हे भारत! भरतवंशोद्भव भारतेति सम्बोधनेन धृतराष्ट्रं स्ववंशनिरीक्षणाय प्रेरयति, हे भरतवंशोद्भव इतः पूर्वं स्वसमेतान् बहून् निजवंश्यान् दृष्टवान श्रुतवाँश्चासि । किं पार्थसदृशं भूरि भागयवन्तं कमपि दृष्टवानसि? यं वारम्वारं शिवविरिञ्च्यादिसुरेन्द्रदानवयक्षगधर्वकिन्नर महोरग सिद्धसाध्ययोगीन्द्र मुनीन्द्रपरमहंसपरिव्राजक सकललोकपाल दुर्विलङ्ध्यः स्वप्नवाचिकमपि निजवाक्यं विगणयन्तमपि धृष्टतया जगद्वन्द्यपदारविन्दं सर्वसर्वेश्वरं सर्वाधिष्ठानस्वरूपं परमेश्वरं स्वं प्रसभं प्रत्याचक्षाणं निरीक्ष्यापि हृषीकेशः सकलेन्द्रियव्यापारनियमनक्षमः प्रभुः नैवोपेक्षते न च तस्मै कुप्यति, न वा विषीदति। प्रत्युत हृषीकाणाम् ईशः। शासकःषीकेशः, यया लीलाशक्त्या श्रीगीतामृतवर्षणच्छलेन वैदिकधर्म पदिलीलालयिषया जिजीवषया च म्रियमाणचेतसां निजसदसिजचरणशरणमु पेयुषां श्री-वैष्णवनिकराणां नित्यपरिकरं दूरतो निरस्तशोकमोहं "रागकर्ताऽर्जुनोऽभूत्" इति पाद्मोक्तरीत्या सततकलितभगवत्कीर्तनानुरागपोषकविविधराग रचनानन्द सन्दोहं क्षणेनैव गीताधिकायि समुचितादर्शनिदिदर्श यिषया शोकमोहपरवशतया समाकुलीं करोति स्म, तयैव लीलाशक्त्या हृषीकेशोचितैश्वर्येण च साम्प्रतं तस्य धेनुरिव शोककलिलसीदमानगवीः समुदधृत झटित्येव वेदविहितधर्माचरण पथिप्रवर्तयेयम्

इत्येवं व्यवसायवान्, प्रहसन् प्रकृष्ट हासयुक्तो भवन इव यथा, यथा कोऽपि लब्धस्वभीष्टलाभः प्रकृष्ट हासयुक्तो भवति, स इव भवन् प्रसन्नमुखः,, प्रहसन् जन इव स्मितमुखः, प्रसन्न वदनो भवन् इति भावः। अर्जुनो मत् परिकरोऽपि पुरा विषीदन्निदमब्रवीत् "गीता १-२८ ततस्तद्विषादप्रतिचिकीर्षया अहं प्रसीदन्निदं ब्रयाम् इति विमृश्य प्रहसन्निव प्रसन्नाननः।

अथवा भगवतः सामान्यहासः जनोन्मादकरी माया भवति। यथोक्तं भागवते श्रीशुकेन-

"छन्दांस्यनन्तस्य शिरो गृणन्ति
द्रंष्ट्रा यमः स्नेहकला द्विजानि।
हासो जनोन्मादकरी च माया
दुरन्तसर्गो यदपाङ्गमोक्षः ।।२-१-३१

यथा ; मानसे मन्दोदरीवचनम्-
अधर लोभ जम दशन कराला। मायाहास बाहु दिगपाला ।। मानस ६-१५५

रूपान्तरम् -

अधरः श्रीहरेर्लोभः करालो दशनो यमः।
माया मायापतेर्हासः दिग्पालाः बाहवः प्रभोः।

विशेष हासश्च भक्तानुग्रहकरः, तथा श्रीमानसे बालरूपश्रीराघवस्य सौन्दर्य वर्णयन् स्वयमवादीत् वाल्मीक्यवतारो भगवांस्तुलसीदासः-

हृदय अनुग्रह इन्दु प्रकासा।
सूचत किदन मनोहर हासा ।। मानस १-११९८-७

रूपान्तरम्
हृदयोऽनुग्र इन्दोश्च प्रकाशः सम्विभाव्यते।
रामस्य सूच्यते यो हि रूचिरैर्हासरश्मीभिः।।

साम्प्रतं मन्मायया निगृहीतोऽयं ममसखा कलितनिविडान्धकारः शोककूप प्रपित्सति। ततस्तं निजप्रहासच्छधेन निजानुग्रहचन्द्ररश्मिभिः सम्प्रकाशितान्तः करण

निरस्तपञ्चपर्वाऽविद्याप्रपञ्चं विदध्याम् इति प्रहसन्निव। अथवा प्रकृष्टोहासोऽयं श्रीकृष्णस्य स्वशरणागतसमस्तलोकपालशोकाश्रुसागरशोषको भवति, यथा श्री भागवते कपिलवचनम्

हासं हरेरवनताखिललो कतीव्र
शोकाश्रुसागरविशेषणमत्युदारम।
सम्मोहनाय रचितं निजमाययास्य।।
भूमण्डलं मुनिकृते मकरध्वजस्य ।। भागवत् ३-२८-३२

संयोगतः सौभाग्यतश्च पार्थोऽयं लोकपालेष्वन्यतमः तदंशत्वात् पुरन्दर एव तद्रूपः, "आत्मा वै जायते पुत्रः" इति श्रुतेः। सःच साम्प्रतं शोकाश्रुभिः समाकुलनयनः "अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् गीता २-१ इत्युक्तत्वात्। सच मत्पदपद्मं प्रपन्नोऽपि शिष्यस्ते ऽहं शाधि मापं त्वां प्रपन्नम् गीता २-७ इत्यनुपदमेवोक्तवात् । ततोऽहं निजप्रकृष्टेन हासेन पार्थस्य एतस्य निजप्रपन्नस्य विपन्नस्य च मित्रस्य शोकाश्रुसागरं घटज इव शोषयेयम् इति विभाव्य प्रहसन्निव। यद्वा शोकमिमं दुर्निवार्यं मन्यमानो कमप्युपायं तत्प्रतिभटत्वेनापश्यन् विकलीभवत्ययं गाण्डीवधन्वा "न हि प्रपश्यामि ममापनुद्यात्" गीता २-५ तं शोकमहा म्रियमाणं यमेव भक्षयेयं तत् सङ्केताय प्रहासच्छलेन यमरूपिणं दर्शयति। अल्पहासे दन्ताःविलोक्यन्ते, न तु दंष्ट्रा प्रहासे तूभये। तेन दंष्ट्राभिः यमरूपाभिः अर्जुनस्य शोकं चिखादिषन् दन्तरूपाभिश्च स्नेहकलाभिः पार्थं पुष्णन् यतते। यथोक्तं श्री भागवते द्रंष्ट्रा यम स्नेहकला द्विजानि भागवत २-१-३१ अतः प्रहसन्निव। अथवा जीवः प्रारब्धवशंवदतया कदाचित् विषण्णो भवति, परमात्मा तु सदा प्रसन्न एव तिष्ठति कर्मबन्ध प्राप्त्यर्नहत्वात्, यथा मानसे-

हरष विषाद ज्ञान अज्ञाना।
जीव धर्म अहमिति अभिमाना ।। मानस १-११६-७

रूपान्तरम्

हर्षश्चैव विषादश्च ज्ञानमज्ञानमेव च।
अहङ्कारो ऽभिमानश्च जीवधर्मा इमे स्मृताः।।

पार्थः प्रत्यगात्मा अहं परमात्मा ततो निसर्गसिद्धप्रसादसम्मुखतया "त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत" गीता १८-७३ इनि वक्ष्यमाणरीत्या" प्रसादं वितरिष्यंश्च विषण्णाय निषण्णाय च स्पन्दनोपस्थे निजभक्तायार्जुनाय प्रहसन्निव उवाच। यद्वा

गीताशास्त्रोपदेशकाले स्वस्थं चिकीर्षन् पार्थं प्रहासच्छलेन निजमायां निवारयति मायाप्रतिः अत आह प्रहसन्निव। यद्वा प्रहासव्याजेन निज दंष्ट्रासंस्थं यमराजं कुरूभटेषु प्रेरयति, अत आह प्रहसन्निव। यद्वा शोकस्य निवारणम् अति सुकरमिति द्योतयितुं प्राह प्रहसन्निव। यत्तु केचित् व्यचक्षते- प्रहसन्निव इत्यस्य पार्थपरिहासं कुर्वन् इत्यर्थः, यच्चापि प्रहास व्याजेन पार्थे भगवान् लज्जा कोपं च उत्पादयति इति तदिदं समनादिकालिक पातकपूगमलीमसमानससमनवगतभगवद्भगवदीयभक्तिभागीरथीतरलतरङ्ग परिष्वङ्गस्वादसमनधीतश्रीवैष्णवसिद्धान्तनिस्सारचेतष्कभगवद्भावविहीन वासनाकाललूट वान्तित्वात् सुतराम् उपेक्ष्यम। कथं खलु परम कारूणिकशिखामणिः शिखिपिच्छमौलिः स्वभक्तमौलिमणिं पार्थं प्रहसेत् तस्य च भगवल्ललितलीलाप्रधानपरिकरभूतत्वेन सर्वथैव निर्दोषत्वात्। उभयोः द्वयोः, इनेन सेनापतिना सहवर्तमाने इति सेने तयोः सेनयोः कौरवपाण्डवचम्वोर्मध्ये स्थित्वा रथोपस्थे विषीदन्तं साम्प्रतमपि विषण्णं भवन्तम्। इह शतृप्रत्ययस्य वर्तमानकालिकत्वात् विषादस्य आगन्तुकत्वं द्योतितम्। तं पार्थं इदम् एतत् सन्निकृष्टं पञ्चशताधिकषट्षष्टिसंख्यामयं इदम् अकारः वासुदेवः तस्येदम् इति इ भगवदुद्धनं प्रपञ्चं द्यति खण्डयति तदिदं संसारप्रपञ्चमूलभूतशोकमोहनाशकं गीताशास्त्रभुवाच प्रत्युत्तरत्वेन प्रतुष्टाव। अथवा भारतेति न धृतराष्ट्र सम्बोधनं तथा हि भायां ज्ञाने रतः भारतः युधिष्ठिरः परमधार्मिकः भगवत्तत्ववेत्ता पुनश्च भगवति नरतः अरतः भारतः त्वत्पुत्रो भगवद्विमुखः दुर्योधनः, यथोक्तं श्रीभागवते विदुरेण-

स एषदोष पुरूषद्विडास्ते
गृहान् प्रविष्टो यमपत्यमत्या।
पुष्णासि कृष्णाद्विमुखो गतश्री
स्त्यजाश्वशैवं कुलकौशलाय ।। भागवत् ३-१-१३

पुरुषं श्रीकृष्णं द्वेष्टि इति पुरुषद्विट् शिवस्यायं शैवः कृष्णभक्त एव शिव सम्बन्धी भवति, नखल्वभागवतः शिवं संबध्नाति, न शैवः अशैवः तमशैवं श्रीकृष्ण विमुखतया शिवसम्बन्धहीनं, यद्यपि त्यजाश्वचैनं कुलकौशलाय इत्येव पाठः सुबोधिनीकृतसम्मतः ममापि बहुमतश्च तथा हि युधिष्ठिरो भारतः ज्ञानरतः ततस्तस्य विजयो निश्चितः, तव पुत्रश्च दुर्योधन। भायां ज्ञाने अरतः भारत अज्ञानः अत एवास्य पराजयोऽपि सुनिश्चतः। अथवा युधिष्ठिरः भगवति आसमन्तात् आदरेण

वा रतः इति भारतः सादरं भगवन्तं सेवत इति भावः। तव पुत्रश्च भे भगवति अरतः भारतः भगवद् द्रोहित्वात् स पराजेष्यत एव, ततो भारतो युधिष्ठिरः भारतोदुर्योधनः भारतश्च भारतश्च भारतौ युधिष्ठिरदुर्योधनौ आनुपूर्वव्यवच्छेदेनसरूपत्वात् अर्थभेदेऽपि सरूपाणामेकशेष एक विभक्तौ (पा० ठ० १-२-६४) इत्यनेन एकशेषः रामाः इतिवत् । भारतयोः युधिष्ठिरदुर्योधनयोः सेने इति भारत सेने तयोः भारतसेनयोः शेषं पूर्ववत् ।।श्री।।

अथ भगवान् किं वाक्यमुवाच इत्यनुक्त्वा 'तमुवाच हृषीकेश' इति पूर्वमुक्त्वाऽपि कमपि विशेषं वक्तुकामः सञ्जयः किमपि साकूतमपूर्वं जिज्ञासमानं धृतराष्ट्रं प्रति वाक्यकर्त्तारं सविशेषमवतारयति "श्री भगवानुवाच"

अत्रेदमाकूत यत् कदाचित् धृतराष्ट्रो जिज्ञासेम् यन्नेदमध्यात्मकथनं समुचितमत्रस्थले युद्धस्थलत्वात् कालोऽपि नैवाध्यात्मोपदेशयोग्यः सर्वत्र कुञ्जरतुरङ्ग प्रभृतिविविधखररवसुभटगर्जनतर्जनशस्त्रास्त्रस्फोटनभीषणनिनाद पूरितदिगन्तरतया निरस्तनीरवपरिस्थितित्वात् । युद्धप्रवर्तनेन मनसोऽपि चाञ्चल्यात् कुरुभटानां च नचिरादाक्रमणस्य सम्भावितया तत् प्रतीकारार्थं जागरूकत्वावश्यकत्वाच्च। उपदेशव्यस्तयोः तयोः केनापि रिपुणा प्रहर्तुं शक्यत्वाच्च, इत्येतेषां नैकेषां उद्घाटितानमनुद्घाटितानां च विविधप्रश्नानां समाधानार्थमाह- श्रीभगवानिति। सन्नपि हृषीकेशोऽयं श्रीभगवान् अघटितातर्क्याचिन्त्य घटनापटीयान् "भगः श्रीकाममाहात्म्ये" इत्यादि कोषात् । निज भगवत्त्वेन भगवता सकल दुर्घटान्यपि घटयितुं शक्यत्वात्। यथा 166 श्री रासलीलायां प्रथम एव "भगवानपि ता रात्रीः "इति निगद्य श्रीशुकाचार्य चरणैः भगवत्त्वेन शकलासंभवानां संभवानां संभावनोक्ता भगवत्तयैव तत्र पञ्चक्रोशात्मके श्रीवृन्दावने समनन्तक्रोशदेशसमावेशः एकस्यामेव शरदृतौ निजरमणोपयोगिसकल सामग्रीसङ्कलनम् एकस्यामेव प्रहरचतुष्टयवत्यां रजन्यांमगणितप्रहरवती रात्रिः समावेशः सीमितायुषामपि गोपिकानाम् अमितायुःसन्निवेशः समन्तकालपर्यन्तं तासु व्रजदेवीसु निजरमणोपयोगिशरीरसंघटना वयःसन्दीपनसामग्रीसमाहरश्च सर्वमेतत् भगवत्तयैव भगवान् समपीपदत् । तथैवेहापि सञ्जयः सर्वेषामचिन्त्यानां लोकोत्तराणां च संघटनाक्रमाणां श्रीकृष्णस्य निरतिशयसामर्थ्यरूपभगवत्त्वेनैव सुघटत्वमिति समाधत्ते। भगवान् हि कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः समर्थ्यातर्क्यदुर्घटघटनापटीयसी महानटी महामाया सूत्रधारः,

तत्कृते नास्ति किमप्यसंभवं, भगवत्ता हि निजैश्वर्येण श्रीगीताश्रवणविरुद्धदेश-कालादिपरिच्छिन्नभावान् व्युदस्य तत्र तच्छ्रवणोपयोगि साम्रगी समावेश्य निजमाहात्म्येन यावद्गीतोपदेशं कालं नीरवीकृत्य परसैनिकानां मनांसि चक्षुँषि च स्थिरी कृत्य अर्जुनस्य च गीताश्रवणविरुद्धद्रव्यापारव्यासक्तानि सन्नियम्येन्द्रियाणि गीतोपदेशयोग्यसकलसामग्र्य संकलयाम्बभूविरे इति सर्वं द्योनयितुमाह-श्रीभगवानुवाच।

अतः परं भगवान् किमुवाच इत्यतः उच्यते-

''अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ।।११।।

रा० कृ० भा०- त्वम् अशोच्यान् अन्वशोचः च प्रज्ञानादान् भाषासे गतासून् अगतासून् च पण्डिताः न अनुशोचन्ति इत्यन्वयः। इह पूर्वार्धेन अशोच्यान् इत्यादिना प्राक्तनं पार्थशोकमनूद्य तस्यायोग्यत्वं च सूचयित्वा पुनरुत्तरार्धेन नानुशोचन्ति इत्यन्तेन तत्प्रतिषेध्यत्वमाह भगवान् । पूर्वार्धचकारः विषयसमुच्चयार्थः, उत्तरार्धीयस्त्वप्यर्थ। प्रारम्भे निषेधपरत्वेऽपि बह्वर्थतया प्रयुक्तोऽयम् अशोच्यान् इत्यत्र ह्यकारः अक्षराणामकारोऽस्मि अकारो वासुदेवस्यात्'' इत्याद्युक्तक्रमेण भगवन्नामतया मंगलाचरणम् । अशोकार्थतयाऽपि शोकनिषेधार्थकः सन्नपि मंगलाचरणमेव। श्री हरिः स्वयमपि मंगलायतनं यथोक्तं-

''मंगलं भगवान् विष्णुर्मङ्गलं गरुडध्वजः।
मंगलं पुण्डरीकाक्षो मंगलायतनं हरिः ।।

इति

भगवान् साक्षेपं पार्थशोकं निराकुरूते, हे पार्थ! त्वं पूर्वमेव कुतस्त्वा कश्मलमिदं इति त्रेधा शोकविगर्हणां प्रतिवोधितोऽपि "क्लैव्यं मा स्म गमः" इति सोत्तेजनं त्वन्मोहं प्रत्याख्याय प्रोत्साहितोऽपि। अशोच्यार्हाः न शोचितुं अर्हाः अशोच्याः तान् अशोच्यान् नैव शोचितुं योग्यान्। अवश्यम्भावतिया जननमरणधर्मवतो भीष्मादीन् अनु अनुलक्ष्य अशोचः ननु इह शोकस्याद्यतनत्वेनशोचितुश्च तथा भूतत्वेनानद्यतनत्वाभावात् "अनद्यतने लङ्" इति भूतानद्यतनार्थलङ्लकारघटित प्रयोगः कथम् अन्वशोच इति। इति चेत्, सत्यम् "व्यत्ययोबहुलम् पा०अ० ३-१-८५ इत्यनेन वाहुलकात् लुङ्लकारस्थाने लट्स्थानेवा व्यत्ययेन लङ् लकारः। अर्जुनशोकस्य

हि'' विषीदन्तमिदंवचः ''इत्यनुपदमुक्तत्वात् भगवदुपदेशसमका लिकतया वर्तमानकालिकत्वं तस्य वा समीपतमत्वं, ततश्च वर्तमान विवक्षायां अनुशोचसि वर्तमान सामीप्यविवक्षायां वा अन्वेशोचीः इत्याभ्यां प्रयोगाभ्यां भवितव्यमासीत् । उभयत्र व्यत्यया अन्वशोचः, पार्थेऽपि वर्णधर्म जातिधर्म कुलधर्म व्यत्ययमवलोक्यैव विगर्हण मुद्रायां । अन्वशोचरितिव्यत्यये घटित प्रयोगः पार्थव्यत्यये बाहुल्यं द्योतयितु भगवतैव समभ्यधायीति प्रतिभाति मे। अतः शोचितुं सर्वथैवायोग्यान् भीष्मादींस्त्वं अनुपदमेवानुशोचितवानसि साम्प्रतमप्यनुशोचसि वा शुच् धातुर्हि शोकार्थः, शुच, शोके १८३, भ्वादिः।

शोकः स्मृत्वा क्लेशः शोचति स्मृत्वा बन्धून् क्लिश्नाति इति तत्र बालमनोरमा। वियुक्तानां शोकोयोग्यो भवति भीष्मादयस्तु अधुना न वियुक्ता त्वत्पार्श्व एव स्थिताः ततोऽशोच्याः। दुर्योधनेन द्यूताहवच्छलेन हृततावकराज्यसर्वस्वेन त्रयोदशवर्षार्थं सबन्धुभार्यो निर्वासितः सन् विप्रयुक्त एभ्यः तदा इमान् नानुशोचीः शोच्यानपि साम्प्रतं सन्निहितानपि चैताननुशोचसीति विडिम्बनैषा। यद्वा यदीमे समाशङ्कित मरणा तदप्यशोच्याः तव शोकेन चैतन्मरण शङ्कायाः दुर्निरसत्वात् यदि चेन्निश्चित मरणा तदाप्यशोच्या, त्वया शोचितानामपिः एषां मृत्युमपाकर्तुमशक्यत्वात् । अथवा द्रौपद्याश्चीरहरणकाल एव इमे सर्वेऽपि मया मारिताः । यथोक्तं श्री भागवते-

''घातयित्वासतो राज्ञः कचस्पर्शक्षतायुषः।। भागवत १-८-५
ननु आयुषः क्षतत्वेऽपि जीवन्त्येवे में इति चैन्मैवम्।

म ''यैवैते निहता पूर्वमेव'' गीता ११-३३ ''मयाहतास्तान् जहि मा व्यथिष्ठा'' गीता ११-३४ इति द्विर्वद्धं सुवद्धं भवतींति न्यानेन मयात्रैवैकादशे द्विर्वक्ष्यमाणत्वात्। यदीमे देहविशिष्टाः तदाप्यशोच्याः तव शोकेन चैतद्देहनाशप्रतिरोधासंभवात्, यदि चात्मान इमे तदाप्यशोच्याः एषां वियोगासंभवात्।

तथाप्यशोच्यानन्वशोचस्त्म् च तथा प्रज्ञावादान् भाषसे प्रज्ञा बुद्धिः अस्ति येषां ते प्रज्ञावन्तः तेषां वादाः इति प्रज्ञावादाः तान् प्रज्ञावादान्। इह ''विनाऽपि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदलोपो वक्तव्यः'' इनि वार्तिकेन मतुप्प्रत्र्यस्य लोपः। इदं प्राचीनानुरोधेन, वस्तुतस्तु ''विनाऽपि प्रत्ययं'' इतिवार्तिकेन पदलोपविद्यानात् तेन

प्रत्यये ऽलोपासंभवेन पूर्वोक्तव्याख्यानं न व्याकरण सिद्धान्तसहम् । आर्षत्वादितितु अगतिकगतिः। अतो प्रज्ञायाः वादाः प्रज्ञावादाः अत्र कल्प्यकल्पक भावसंबधे षष्ठी" स्वमनीषया कल्पितान् वादानेव भाषसे इत्यर्थः । यद्वा प्रज्ञया कल्पिताः वादाः प्रज्ञावादाः "शाक पार्थिवादित्वान्मध्यमपदलोपिसमासः" यत्तु न वक्तुं योग्या इति अवादाः प्रज्ञानाम् अवादाः प्रज्ञावादाः तान् विद्वदनादृतनित्यर्थः, इति व्याचख्युः मधुसूदनसरस्वतीपादाः तत् सर्वथैवाशास्त्रीयम् । अर्हरूपे कृत्यार्थे घञः क्वापि विधानादर्शनात्, "अर्हे कृत्य तृचश्च पा० अ० ३-३-१६९। इति सूत्रे अर्हार्थे कृत्यप्रत्ययानां तृचः, लिङ् लकारस्य च विधानानुशासनाच्च। वस्तुतस्तु प्रकृष्टं जानन्तीति प्रज्ञाः विद्वांसः, आदृताः वादाः आवादाः प्रज्ञानां आवादाः इति प्रज्ञावादाः तान् प्रज्ञावादान् विद्वदादरणीयवादान् तत्त्वबुभूत्साकथारूपान् भाषसे इति वयम्।

भाषासे इति लट् लकारस्तु वर्तमानसामीप्ये पा० अ० ३-३-१३१ वा" इति सूत्रेण वर्तमानकालसमीपतरभूतकाले। तथा हि- त्वम् अशोच्यान् शोचितवानसि अनुपदमेव पाण्डितानाम् आदरणीय वादान अभाषीष्ठाः। परन्तु पण्डिताः सदसद् विवेकिनी बुद्धिः पण्डा, पण्डा सञ्जाता येषां ते पण्डिताः "तदस्य संजातं तारकादिभ्य पा० सू० ५-२-३६ इतच् इत्यनेन षष्ठ्यर्थे इतच् प्रत्ययः, प्रथमान्त पण्डाशब्दात। एवं भूताः सदसद् विवेकवद् बुद्धिमन्तः,

गताः असवः प्राणाः येषांते गतासवः तान् गतासून् निष्प्राणान् मृतानिति यावत् । न गताः असवः प्राणाः येषां ते अगतासवः तान् अगतासून् जीवतः इत्यर्थः, न अनुशोचन्ति मृतान् जीवतांश्चानुलक्ष्य न शोक युक्ताः भवन्ति, जीवनमरणयोः अनिवार्यसत्यवात् । यत्तु गतासून् मृतान् , अगतासून् तेषां पुत्रपौत्रादीन् नानुशोचन्ति, इति गीता गूढार्थदीपिकायां व्याख्यातं तदपि आपातरमणीयम्, प्रकरणविरूद्धत्वात्,गतागतासुत्वयोः विपर्यय दर्शनाच्च वशिष्ठादिवत् । यत्तु गतासून् जीवात्मनः, अगतासून् देहान् इति कैश्चिद् व्याख्यातं तदप्यनुचितं, जीवात्मदेहयोः कृते गतासुत्वागतासुत्वावच्छेदकवत्वादर्शनात् मृतदेहोऽपि निष्प्राणतयाऽगतासुर्दृश्यते, जीवात्मा चागतासुः ।

"मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति" गीता १५-७ इति वक्ष्यमाणत्वात्। यद् वा गतासून् व्यक्तदेहान् जीवात्मनः, अगतासून् देहविशिष्टान् पण्डिताः

नानुशोचन्ति: विशेषणस्य क्षणभङ्गुरत्वदर्शनात्, जीर्णवासो वत् इदमेक देशीयं। वस्तुतस्तु उभे अपि विशेषणे भीष्माद्यन्यपदार्थे, भीष्मादय द्रौपदीकेशकर्षणकाल एव मया व्यापादित्वात्, मम दृष्ट्या गतासवः । युद्धे मम लीलयैव दत्तमायामये प्राणास्त्वया सह योत्स्यन्ति, अनभिज्ञत्वात्तव दृष्ट्या अगतासवः जीवन्तीमे तस्मात् मद्दृष्ट्या गतासून् त्वद्दृष्ट्या अगतासून् भीष्मादीन् पण्डिताः नानुशोचन्ति। अत्र अनुर्लक्षणे अ० पा० अ० १-४-४८ इत्यनेन लक्षणे द्योतिते अनूपसर्ग योगे कर्मप्रवनीयत्त्वात् द्वितीया। देहानामनित्यत्त्वात् वियोगध्रौव्यात्, देहिनां च नित्यत्वात् वियोगासंभवात्, आत्माऽयं देहव्यतिरिः इन्द्रियमनोबुद्धिभ्यो विलक्षणः मम दासभूतः इत्येवा। शास्त्रार्थः।

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा परो महान् ।।
महतः परमं व्यक्तंव्यक्तात् पुरुषः परः । (कठो उप०)
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः ।। क० ३-१-३-१११

अव्यक्तं भगवतो योगमाया, महतः जीवात्मनः, इह परत्वं नाम सूक्ष्मत्वं श्रेष्ठत्वं च "पञ्चमी सर्वत्र ल्यब्लोपे" तथा च इन्द्रिमाण्यपेक्ष्य अर्थानाम् अर्थानापेक्ष्य मनसः मनोऽपेक्ष्य बुद्धेः, बुद्धिमपेक्ष्यात्मनो महतः, आत्मानमपेक्ष्याव्यक्तस्य भगवद्योगमायाख्यस्य अव्यक्तमपेक्ष्य पुरुषस्य परमात्मनः परत्वं सूक्ष्मत्वं श्रेष्ठत्व श्चवगन्तव्यम्, इत्यनेन जीवात्मपरमात्मनोरैक्यवादः परास्तः। इह आत्मानात्मज्ञानं सांख्यत्वेनाभिप्रेतम् अनेन अर्थपञ्चकज्ञानं पर्यवसितम्।

इह गीतायां ज्ञानस्य विभाग चतुष्टयं गुह्यं सम्पूर्णं गीताशास्त्रं, "य इमं परमं गुह्यं" गीता १८-६८ गुह्यतरं ज्ञानम् "इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्यात् गुह्यतरं मया" गीता १८-६३ गुह्यतमं पुरुषोत्तम योगाख्यम् "इति गुह्यतमं शास्त्रं" गीता १५-२० सर्वगुह्यतमं प्रपत्तियोगाख्यं "सर्व गुह्यतमं भूयः" गीता १८-६४ एवम् इदं सिद्धान्तचतुष्टयं यथावसरं स्फुटी करिष्यते, तत्र प्रथमं सूत्रभूतं आत्मानात्मविवेकरूपं प्रथमं वाक्यं भगवतो व्याख्यातम् ॥ श्रीः ॥

"अमीषांअशोच्यत्वे मोहमहाशैलवज्रसारं मिथ्यावादवनरूहतुषारं मायावादजल्पित

तिमिरतपनानुभावं संकलितसकलश्रीवैष्णवसिद्धान्तसारसद्भावं'' द्वादशादित्यमिव निजनिरतिशयकल्याणमयसर्वज्ञतासुसनाथितचारुचिन्तनचिन्मयपरमतुङ्गविचार शृङ्ग ज्ञानमयोदयाचलात् मारीचिरिव समवतारयामास सर्वसर्वेश्वरो भगवान् श्रीकृष्णः श्लोकमेतम् -

''न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ।।१२।।

रा० कृ० भा–

सर्ववेदान्तदुग्धाब्धि सारं ब्रह्मात्मनिर्णयम् ।
द्वितीये द्वादशं श्लोकमद्वितीयं हरिर्जगौ।।
वेदकल्पतरोर्वल्ली प्रपत्तिःफलमण्डिता।।
भूरिदा भूरिमा दिव्याऽनुष्टुब्भाति ककुपस्वियम् ।।

एवकारः एवमर्थः यद्वा एवमो मकारः "व्यययोर्बहुलं पा० अ० ३-१-८५ इति सूत्र निर्दिष्ट काल हलच स्वर कर्तृञऽण च इत्यनुशासनेन लुप्तः । तथा च नत्वेहममहं इति प्रयोत्त्व्यं 'मकारलोपात् सवर्णदीर्घाच्च नत्वेवाहम् इति पपाठ पार्थ सारथिः, तुकारः निश्चयार्थोऽहोवनुवादको वा, जातु शब्दः कदाचिदर्थः, तु अहं जातु न आसं न एवम्, आसंशब्दस्य द्विरनुवृत्तिः द्विर्विभक्तिर्विपरिणामश्च। तथैव जातुशब्दस्यापि, तथैव न एवम् इत्यनयोः त्वं जातु न आसीः न एवम्, इमे जनाधिपाः जातु न आसन् न एवम्, च अतः परं अहं त्वम् इमे जनाधिपाः वयं सर्वे न भविष्यामः जातु न एवम् इत्यन्वयप्रकारः।

प्रमेयस्य चिदचिद्विशिष्टाद्वैतस्य निखिलजगदभिन्ननिमित्तोपादानस्य भेदेऽपि स्वरूपतोऽविनाभूतसम्बन्धेन सततमेव प्रतिशरीरं शरीरिणा सह सख्यमुपेयुषो निवसतः स्वस्य परमात्मनः सकलभुवन नियन्तुः समनन्तकोटिब्रह्माण्डनायकस्य निर्विकल्पतया शरणागतिसङ्कल्पसमस्त साधकनिजोपेयभूतस्य स्वस्य याथात्मयं महात्म्यं च जीवात्मनः स्वरूपतश्च द्वयोर्भिदां त्रैकालिकत्वंचानयोः वर्णयितुं समवतारयत्यनुष्टुभमिमां भगवान। तु यतो हि निश्चयेन वा अहं साधुपरित्राणाय दुष्टजिघांसया सनातनधर्मप्रतिष्ठापनार्थं भूभारापजिहीर्षया स्वीकृतपरमचिन्मयमायातीतसमस्तकल्याणसद्गुणपरीतसतत श्रुतिशिखामणिगीत दिव्य-भव्य नव्यविशुद्धविज्ञानविग्रहः

विधित्स्यमाननिरभिमानसेवमानानुग्रहः सकलनयनविषयतां गतः वसुदेव सूनुर्देवकीगर्भजन्मा परमात्मा कृष्णः। जातु कदाचिदपि न आसं "अनद्यतने भूतकाले अस्मात् सर्गात् पूर्वं तस्यैव हि ब्रह्मणः कृतेऽनद्यतनत्वात्

न आसं न विद्यमानोऽभवम्, न एव न वाच्यम्, न एवमवगन्तव्यमिति भावः। अर्थात इतः सर्गात्पूर्वमपि मद्विद्यमानता आमीदेव। त्वं मत्ससन्निधौ वर्तमानो निमज्जञ्छोकसागरे विसृष्टशरचापः पौनःपुन्येन क्रियमाणयश्चात्तापो विस्मृतप्रबलपुरन्दरप्रशस्तपराक्रमप्रतापः पार्थः, जातु कदाचिन्नासीः विधातुरनद्यतने सर्गे न विद्यमानो भवः न एव, त्वमपि मम प्रपन्नतया मया सहैवासीरेव "सदेव सोममिदमग्र आसीत्" इति श्रुतेः। इमे भीष्मद्रोणपुरोगमाः, जनैः सैनिकैः सहिताः अधियाः जनाधियाः, पुरो विद्यमानाः सैनिकसहिताः राजनः। ननु जनानाम् अधियाः जनाधियाः इति षष्ठीतत्पुरुषः कथं नोक्तं? इति चेच्छूयताम् - कृते षष्ठीतत्परुषे भीष्मद्रोणादिपुरोगमानामधिपानामसंग्रहः स्यात् । सञ्जिघृक्षा च भगवतः भीष्मद्रोणादिसेनापति सैनिकपुरोगमानां सर्वेषां। भूपतीनाम्, तस्मान्मध्यमपदलोपिसमास एवात्र ज्यायान् । जातु कदाचित् न आसान् द्राहिनोऽनद्यतनभूते एतस्मात्पूर्वस्मिन् सर्गे न विद्यमाना अभूवन्, न एव नैवम्, इमे त्वदपेक्षया कनीयांसः मत्पद पदमभविमुखतया बद्धाः जीवभूताः, सैनिकाः सेनापतयश्च पूर्वमप्यासन्नेव। अहं त्वम् इमे इति उत्तममध्यमप्रथमपुरुषनिर्देशन वर्तमानताऽपि सूचिता त्रयाणाम् । चकारः समुच्चयार्थः तथा च अतः परं एतस्मात्सर्गादन्तरं अहं वासुदेवः, त्वं गाण्डीवधन्वा अर्जुनः, इमे जनाधिपाः भीष्मद्रोणमुख्याः योद्धारो राजनः सर्वे वयं जातु कदाचिदपि न भविष्यामः न वेदिष्यामहे न एव, नैवमित्थम, अहं त्वमिमे च इतः पूर्वमप्यास्म, साम्प्रतमपि वर्तामहे, पश्चादपि वर्त्स्यामहे। अत्रैष शास्त्रार्थः। श्रीगीताशास्त्रमेतत् वेदान्तदर्शन स्मृतिशिरोमणितया प्रपत्तियोगानुशासनमित्यसकृदवोचम।

प्रपत्तिर्भक्तिपूर्विका भक्तिश्चेह भगवति समस्तकल्याणगुणगणपरावारे परेमकरूणाकूपारे परमेश्वरे श्रीरामकृष्णसंज्ञिने परमाशक्तिरूपा ध्रुवाऽनुस्मृत्यपर पर्याया "मामनु स्मर" इत्यादि लिङ्गात् । सा च अध्यायानां त्रिषु षट्केषु यथाक्रमं प्रथम षट्के कर्ममिश्रा, तृतीये ज्ञानमिश्रा, मध्यमाङ्गुलिरिव मध्यमे शुद्धेति त्रेधा चकास्ति। अथवा प्रथमषट्के साधनलक्षणा, तृतीये साध्यलक्षणा, द्वितीये प्रेमलक्षणेति त्रिधैव

धत्ते सौभगपदं श्रीगीतासु। यद् वा जगद्गुरू श्रीमदाद्यरामानन्दाचार्यनये प्रथमे अविरला, द्वितीये निर्भरा, तृतीयेऽनपायिनी चेति त्रिविधा विभाति भामिनीव भास्वती भक्तिः श्रीगीताशास्त्रो क्रमेणोदाहरणम् श्रीमानसे- अविरला–

''अविरल भगति मांगिवर गीध गयउ हरिधाम।
ताकी क्रिया यथोचित निज कर कीन्हीं राम।। मानस ३-३२

रूपान्तरम्

''भक्तिं चाविरलां वृत्वा गृध्रोऽगात् धाम शार्ङ्गिणः।
तस्यान्त्येष्टिं स्वयं चक्रे श्रीरामस्तु यथोचिताम् ।।''
निर्भरा-भक्ति प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरां मे।। मा० ५

"अनपायिनी" यथा श्रीहनुमद्वाक्ये-

''नाथ भगति अति सुख दायिनी।
देहु कृपा करि अनपायिनी।।'' मानस ५-३४-१

रूपान्तरं

हे नाथ भक्तिमत्यन्तं जनेभ्यः सुखदायिनीम् ।
कृपानिधे कृपां कृत्वा देहि मे ह्यनपायिनीम् ।।

ते च भक्तिप्रपत्ती श्रुतिसम्मते गीताशास्त्रे च बहुधा प्रोक्ते कण्ठरवेण भगवता। श्रुतौ यथा भक्तिः-

''यस्य देवे पराभक्तिः यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।।
क० उ० १-३-२५

प्रपर्त्तिर्यथा ''मुमुक्षुर्वै शरणमहंः प्रपद्ये ।।
श्वे० उ० ६-१८

श्रीगीतासु भक्तिः- "भक्त्यात्वनन्यया शक्य" ११-५३ "भक्त्या मामभिजानाति" १८-५५ "भक्तिं मयि परां कृत्वा" १८-६८ । प्रपत्तिर्यथा- "शाधि मां त्वां प्रपन्नम्" २-७ "मामेव ये प्रपद्यन्ते" ७-१४ "ज्ञानवन्मां प्रपद्यते" ७-१९- "मामेव शरणं व्रज" १८-६६।। तस्यां प्रपद्य प्रपत्ति प्रपदनमिति तत्त्वत्रयम् । तच्च प्रत्यागात्मापरमात्मैक्यवादे न संभवति। न हि एकस्मिन् प्रपत्तित्वप्रपद्यत्वाख्य

मिथोविरूद्धधर्मद्वयस्य युगपदवस्थानं, न हि अति चतुरोऽपि नटः स्वेन स्वस्कन्धमा रोढुं प्रभवति। ततः प्रपत्ता जीवः, प्रपद्यश्च परमात्मा इति जीवब्रह्मणोः स्वरूपतः सुस्पष्टं भेदः, अत एवान्ततोगत्वा एकत्वप्रतिष्ठापनाचार्यो भगवत्पाद शङ्करोऽपि प्राह-

''सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम् ।
सामुद्रो हितरङ्गः क्वचित् समुद्रो न तारङ्गः ।।

अत एव श्रुतिरपि'' क्षर प्रधानममृताक्षरो हरः स्मृतिरपि चैवं विधा तथा हि-पञ्चदशे पुरुषोत्तमशब्दं व्याकुर्वता भगवता स्वत एव तत्व त्रयमङ्गीकृतं, क्षरः अक्षरः क्षराक्षरातीतश्च क्षरः अष्टौ प्रकृतयो भूम्यादयो बुद्ध्यान्ताः तन्निर्मितानि भूतानि च देहविशिष्टानि। अक्षरः जीवः, अक्षरातीतः पुरुषोत्तमः भगवान् तथा हि तत्रत्या श्लोकाः-

''द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिमर्त्त्यव्यय ईश्वरः।।

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ।।

गीता अ० १५-१६-१८

इदमेव तत्र सप्तमे अपरा परा प्रकृति संकेतने तथा हि-

''भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनोबुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यतेजगत् ।

गीता अ० ७, ४-५

भूमिजलाग्निपवनाकाशाहङ्कारमनोबुद्धिरूपेयं मे भिन्ना अपराः प्रकृतिः क्षरात्मिका,

इतः एतस्याहूः भिन्ना जीवभूताः परा अक्षर प्रकृतिः ताभ्यां परः पुरुषोत्तमः विलक्षणः परमात्मा त्रयोऽत्रपुरुषाः पुरू शरीरे शयानत्वलक्षणविद्यमानत्वात्, तेषु पुरुषेषु उत्तमः पुरुषोत्तमः, अविनाशित्वेन क्षरात्, स्वतन्त्रत्वेनाचाक्षरादुत्तमः नन्वस्मि न् व्याख्याने पाणिनिर्व्याकुप्येत तथा च पाणिनि सूत्रं "स्वतन्त्रकर्ता" इति चेन्मैवं, पूर्वं तु पाणिनेर्वैयाकरणत्वात् भिन्नविषयत्वेन दर्शनस्य प्रकृतसिद्धान्तविरोधेऽपि न व्याकोपः, ऋषित्वाद् दर्शनेऽपि तस्य प्रामण्यमिति चेत् "स्वतन्त्रकर्ता" इत्यत्र कर्तृत्वे स्वातन्त्र्यकथनात्, भोक्तृत्वे जीवपारतन्त्र्यस्य स्वत एव सिद्धत्वेनादोषात् इति ब्रूमः अत एव श्रीगीतासु-

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। गीत२-४७

यद्वा स्वस्य परमात्मनः तन्त्रं शासनं यस्मिन् स स्वतन्त्रः एवं क्षरात्प्रकृतिरेवात्र अचित् क्षयधर्मत्वात्, जीवभूता चाक्षरा भिन्ना, प्रकृतिश्च चित् अक्षरत्वात्, न हि चेतनं कदापि क्षीयते निरयवत्वात्, ननु यद्यद् सावयवं तत्तत् क्षरं अनित्यत्वात् घटवत्, इत्यनुमाने परमेश्वरेऽव्याप्तिः, परमेश्वरं विहाय अनुमानस्य प्रसरत्वानुशासनात् एवं अक्षराख्या जीवभूता प्रकृतिश्चित्, क्षराख्या चाचित् । द्वाभ्यां विशिष्टं चिदचिद्भ्या म् अद्वैतं विशिष्टाद्वैतं परब्रह्म पुरुषोत्तम एव, इदमेव सकल दर्शन मुकुटमणिं भूतम्। वैशिष्ट्यं चात्र शरीर शरीरि भावेन परमात्मनश्च चिदचिति शरीरे विशेषणे, ननु विशेषणत्वं नाम विद्यमानत्वे सतातर व्यावर्तकत्वम् । सङ्गमनीयमत्र श्रूयताम् चिदचिते विद्यमाने भवन्ती अपि परमेश्वरे समन्विते निर्विशेषव्यावर्तके परतन्त्रे च, अत एव मानसकाराः-

"मायावस्य जीव अभिमानी।
ईशवस्य माया गुणखानी ।। मानस -७-७८-६

रूपान्तरं

"अभिमान युतो जीवो मायायाश्च वशंवदः।
ईशवस्यातु विज्ञेया मायैषा त्रिगुणात्मिका।।

जीवाः अणवः अनेके च, अणुत्वे सति चेतनत्वं जीवत्वम् इति लक्षणात्। परमेश्वरत्वं च विभुत्वे सति चेतनत्वं, ब्रह्मणो द्वैरूप्यं कार्यकारणभेदात् । कारणं ब्रह्म परमव्योमसाकेताधिवासं, कार्यब्रह्म प्रतिशरीरं चान्तर्यामितया समवस्थितं "तत्सृष्ट्वा

तदेवानुप्राविशत्'' इति श्रुतेः। ननु कथं तर्हि -

''स एव स्वप्रकृत्येदं सृष्ट्वाग्रे त्रिगुणात्मकम् ।
तदनु त्वं ह्यप्रविष्टः प्रविष्ट इव भाव्यसे ।।

भागवत-१०-३-१४

इति श्रीभागवते वसुदेववचनं श्रुति विरुद्धमिति चेन्मैवम् । तत्र सामग्र्येण भगवत्प्रवेशनिषेधः, श्रुतौ च तदेवानु प्राविशदिति भगवतोंऽशावच्छेदेन जीवजगति प्रवेशविधानं, अत एव श्रीगीतासु-

परस्परं विरुद्धे जीवजगति भगवतः प्रवेशविधाननिषेधवचने संगच्छेते ''नत्वहंः तेष्वस्थितः गीता ९-४,'' ''ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'' गीता १८-६१ इति न श्रुतिविरोधः। इदमेव तथ्यं विस्पष्टयितुं प्रकृतश्लोके अहं त्वं, इमे, वयं इति सुस्पष्टभेद प्रतिपादकानां चतुर्णां सर्वनाम्नां स्पष्टं प्रयोगो व्यधायि भगवता इह अहं पद वाच्यः पुरूषोत्तमो भगवान-कृष्णाः त्वम् पदार्थोक्षरः पार्थः इमे पदार्थः भीष्माक्षराः। ननु देह विशिष्ट प्रयोगाभिप्रायेण अहं, त्वं इमे, वयमिति भेद प्रतिपादकानि सर्वनामानि प्रयुक्तानि भगवता, इति चेन्मैवम् । विशेषणीभूतानां देहानां क्षणभङ्गुरत्वात् तदनुरोधेन भगवतस्त्रैकालिकनित्यताज्ञापनासंभवात्, विशेषणनाशे विशिष्टनाशस्य च लोकतः शास्त्रतश्च सिद्धत्वात्। नहि दण्डे नष्टे दण्डिचरं प्रति दण्डविशिष्ट बुद्धयाश्रयतया कोऽपि दण्डिनं पश्येति प्रयुङ्क्ते। न च उपचार एवैष इति वाच्यं, परमार्थोपदेशे औयचारिकताया सर्वथैवानौचित्यात् । न चाभ्युपगमवादानुरोधेन भगवतोक्तमिति वाच्यं ''शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'' गीता २-७। इति पार्थेन प्रार्थितस्य भगवतः व्यलीकभाषणे भक्तवात्सल्यानुपपत्तेः, तत्र मिथ्यावादित्वोपपत्तेश्च। ननु ''उपायाःशिक्षमाणानां वालानामुपलालना असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते इति भर्तृहरि वाक्यानुरोधात् । बालोपलालनदृष्ट्या प्रकाममसत्यभूत देहावच्छेदानुरोधेन भगवता प्रयुक्तं सर्वनाम चतुष्टयं सुसङ्गतमेवेति चेन्मैवं, पार्थस्य भगवत् प्रपन्नत्वेन ''मुमुक्षुर्वैशरणमहं प्रपद्ये'' इति श्रुतिज्ञापित ममुक्षुत्वात् बालत्वाभावात् तत्रोपलालना वैयर्थ्य प्रसरात् । श्रेयो जिज्ञासायां प्रेयोभूत देह विशिष्ट प्रत्यगात्मोपदेशे भगवतो ऽप्यपण्डितत्वापत्तेः । ननु लीलायां इष्टापत्तिः, इति चेन्मैवं भण, कदाचिदपि तथात्वासंभवात्, तथासति भगवल्लीलायां

निष्प्रमाणत्वापत्तेः। ननु सर्वकालिकसर्वज्ञत्वे किं मानम् भगवतः? यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः मु० उ० १-१-९ इति श्रुतिरेव तत्र परमं प्रमाणमर्थ। किंच-

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मा तु वेद न कश्चन ।। गीता ७/२६

इति स्मृतिरपि भगवतः सार्वकालिकसर्वज्ञत्वे परतः परमं प्रमाणमिति। ननु जीवात्म परमात्मभेदे श्रौतं किमपि प्रमाणमिति चेत्· सन्ति प्रचुराणि तद्‌यथाद्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनर नन्नन्यो अभिचाकशीति मु० उ० ३-१-१-१ इति श्रुतिरेव परमं प्रमाणमिति। इह द्वौ सुपर्णौ सयुजौ सखायौ इति चतुषु औं विभक्तयन्तेषु 'सुपां सुलुपु इत्यनेन पूर्वसवर्णात् आकारान्त प्रयोगाः, द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया इति, एवं परिषस्वजाते इति द्विवचन प्रयोगः । एवं पञ्चधा प्रयोज्य द्विवचनान्तप्रयोगान् श्रुति स्पष्टं ज्ञापयति यत् पञ्चभूतमयशरीरावच्छिन्नजीवात्मतः परविभव व्यूहान्तयाम्यर्चावतारैः पञ्चभेदः परमात्मा पृथकृ। ननु उपाध्यवच्छिन्नतया घटाकाश महाकाश वत् परमात्म प्रत्यगात्मनोर्भेदो न पारमार्थिकः, इति चेन्मैवम् । उपाध्यवच्छे देन भेदे श्रुत्युक्त सुपर्णत्व सयुत्तव सखित्व धर्माणां निरूपाधित्व सोपाधित्वेति मिथो विरूद्ध विषम धर्मजुषोः सर्वथैवानान्तेः। न चेष्टापत्तिरिति वाच्यम्, तर्हि श्रुतौ व्यलीक वादापत्तिः। यथा घटाकाशमहाकाशयोः नैव साम्यं निरवच्छिन्नत्वसावच्छिन्नत्वनिः सीमत्व ससीमत्वादिमिथो विरुद्ध धर्मसत्वात् । तथैवेह मिथो धर्मविरूद्धसत्वे कथं समानानां धर्माणां। इह संघटना स्यात्, किं च परिषस्वजाते इति भूतानद्यतनपरोक्षार्थवृत्ति धातुप्रयोगदर्शनात् उभयोः अनादिकालता। शरीररूपवृक्षस्य अविच्छिन्न परिष्वङ्ग श्रवणेन जीवात्मपरमात्मनोः सनातननित्यत्वस्य स्पष्टं कीर्तितत्वाच्च तयोर्भिदा नीर्णिते। न च भेदोऽयं उपाधिकृत स्तात्कालिकः इति चेत्एतत् सन्देहस्य दत्तोत्तरत्वात् नैवावकाशः। किंच उपाधिर्नाम का? यदि सा धर्मरूपेण तर्हि त्वया साधिते निर्धर्मे ब्रह्मणि कथमुपस्थिता यदि चेत् समागन्तुकतया तस्याः उपस्थानं, तर्हि त्वत्सिद्धान्तहानिः। अथ चेत्, भ्रमरूपा तर्हि तदाधारो वाच्यः, ब्रह्मैवेति चेत्, तर्हि तस्य परम ज्योतिष्टानापत्तिः। एकदेशावच्छेदेन इति चेत्, यत्किञ्चिद् देशसामानाधिकरण्येन घनावच्छिन्नसूर्यवत् तर्हि तस्य सर्वज्ञत्वानापत्तिः, कथमहो भ्रमप्रमादविप्रलिप्साकरणापाटवादिनिरस्तसमस्तपुदोषं शङ्कापङ्क कलङ्कावकाशोऽ-

पौरूषेयम्भगवत्वेदप्रतिपाद्य ब्रह्मणि भ्रमावसरः। यस्य ज्ञानमयं तपः इत्यादि श्रुति विरूद्धत्वाच्च भगवति भ्रमकल्पनं निराधारमेव। यदि चेदियम् अविद्या उपाधिनाम्नी तर्हि सा किमाश्रया? ब्रह्माश्रयेति चेत् मैवं शास्त्रविरोधात् । न खलु निसर्गतस्तिमिरशत्रौ तमःस्थातुं? प्रभवतिपरिषष्वजाते इति भूतकाल प्रयोग दर्शनेन भ्रमाविद्याकृतभेदस्य च क्षणभङ्गुरत्वेन त्वद्युक्तेः निस्सारतापत्तेः। न च शरीररूपोपाध्यववच्छिन्नतया नत्वं नेमे हम् इति भेदः सुसङ्गतः न तु पारमार्थिकतया सदेव सोममिदमग्र आसीत छान्दो २४६-१-१ इत्यादि प्रत्यगात्मपरमात्मैक्य प्रतिपादकश्रुत्यनुरोधात् इति वाच्यम् । शरीराणाम् अनित्यत्वेन प्रकृत श्लोक साधित नित्यत्व व्याख्यानस्य सुतरामसामञ्जस्येन आम्रान्पृष्ट कोविदारानाचष्टे इति न्यावदः भिन्नविषयस्य भिन्न समाधानेन परिहासास्पदत्वात् ।

ननु प्रहसन्निव भारत इत्यनुपदमेव सञ्जयोक्तेः परिहासेऽत्र न काऽप्यापत्तिः इति चेत् न, प्रहसन्नित्यस्य भगवदितरविशेषणतया तत्रैवान्वयेनादोषात् । किञ्च सकलशास्त्रचूडामणेः श्री गीताशास्त्रस्य परिहास्यत्वे स्मतिदावत्प्रामाण्यापत्तेः, अथ च को नाम तवोपाधिः स च अविद्यमानत्वे सति विधेया नन्वयत्वे सति इतर व्यावर्तकत्वरूपः तर्हि अविद्यमानस्य क्वापीतर व्यावर्तकत्वानुपलब्धेः सर्वथैवाकाशपुष्पवत् स्वाभाविक व्यतिरिक्तप्रस्तुतत्वापत्तेः। न हि निश्यविद्यमानसूर्यो ध्वान्तं निवर्तयितुं प्रभवः, नवा कल्पितो विधात्राऽपि सूक्तौ रजतः कदाप्यलङ्काराय घटते। न वा मरूमरीचिकायां समवहितसलिलविन्दुभिः पिपासा शमयितुं शक्या। किञ्च त्वत्कल्पित सोपधिरूपाधिरयम् किमवच्छेदेन ब्रह्मात्मैक्यभावमूलकज्ञानं तिरोधत्ते, यदि सामग्रयेण तर्हि असम्भवः न हि अनन्तयोजनभासिभास्करस्य क्षोदीयसा तिमेरेण तरीधानं शक्यम् । अवयवावच्छेदेन चेत् तिरोधानं तर्हि ब्रह्मणि सावयवत्वापत्तिः न चेष्टापत्तिरिति वाच्यम् तर्ह्यनित्यत्वापत्तिः। यद्यत् सावयवं तत्तदनित्यम् कार्यत्वादघटवत् इति कार्यकारण भाव दर्शनात्, न च भवन्मते सावयवत्वाभावे ब्रह्मणः श्रीरामकृष्णादि सगुणसाकारविग्रहेषु भृशमप्रामाण्यं स्यात् तत्र हस्तचरणादिदर्शनेऽपि नित्यमखण्डत्वे नावयवावयविभावा प्रसरत्वेनादोषात्। आनन्दघनस्य तस्य विभागानर्हत्वाच्च। ननु विभागानर्हत्वे। छिन्द्यां स्ववाहुमपि वः प्रतिकूलवृतिं इति भगवत् वाक्यमसङ्गतं स्यात् । तथा हि सनकान् प्रति स्वयमेव प्राह वैकुण्ठनाथः-

यस्यामृतामलयशः श्रवणावगाहः
सद्यः पुनाति जगदाश्चपचाद्विकुण्ठः।
सोऽहं भवद्भ्य उपलब्ध सुतीर्थकीर्ति-
श्छिन्द्यांस्वबाहुमपिवः प्रतिकूलवृत्तिम् ।। भा० ३-१६-६

इति चेत् न, छिन्द्यामित्यस्य स्ववाहुविषयकसनकादिकर्तृकदृष्टिसम्वन्धिदर्शनस्यैव व्यवधेयत्व विवक्षणेनादोषात् । तत्र हि भगवान् न बाहु विच्छेदं प्रतिजानीते, किं तर्हि स्ववाहुकर्मक सनकादिकर्तृकदर्शनविच्छेदमेव जगन्नाथादिवत् । किञ्च तवोपाधिकिमाश्रयः स्वाश्रयश्चेत्: असम्भवः श्रुतौ भगवत एव स्वाश्रयत्वप्रसिद्धेः स्वे महीम्नि इति श्रुते जीवाश्रयश्चे: स्वीकृतस्त्वया मम पक्षः, ब्रह्माश्रयश्चेत् अवच्छेदोवाच्यस्त्वया स्वरूपतः सम्बन्धतो वा नाद्यतः तस्य स्वप्रकाशत्वात्। तथा हि श्रुतिः- यस्य भासा सर्वमिदं विभाति, नान्त्यः ब्रह्मणो ह्यतीतसम्बन्धत्वेनैव सर्वत्र श्रुतत्वात् । किं च नित्यो ऽयमनित्यो वा? नाद्यः नित्यश्चेत् अनादिकालतो नित्योपाधिसमावृतचेतनतया कस्यापि मुक्तेरसम्भवात् मुमुक्षोपदेशस्यैव वितथप्रयोजनत्वापत्तेः। भवेन्नाम इति चेन्न वन्धमोक्ष व्यवस्थायाम् अनवस्थापत्तेः मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये इति श्रुतावप्रामाण्यापत्तेः मुनिर्मोक्षपरायणः इत्यादि गीतावचनेष्वनाप्तत्वापत्ते, नान्त्यः तथा चेत् तेन ब्रह्मणस्ति रोधानासंभवात्। किंच उपाधिनित्यत्वे संसत्ताकत्वेन तत्र ब्रह्मणस्तिरोधायकत्वं नोपपद्येत। किञ्चायं भवदुपाधिः प्रकाशरूपः अन्धकाररूपो वा? नाद्यः तथाऽप्त्वे सति तस्मिन् व्यवधायकत्वमेवानुपन्नं, नान्त्यः अन्धकारस्य परमज्योतिषः समक्षं स्थातुमेवासंभवात्। सूर्यस्य च तमोपहत्वेन दृष्टत्वे कोटि सूर्यसमप्रभः ब्रह्मणः व्यवधानमेवासंभवम्। किंच यदिचेत् शरीरावच्छेदेनोपाधिः तर्हि तेन प्रतिशरीरं कृतब्रह्मैक्यव्यवधानतया भुशुण्डिप्रभृतीनां सौभर्यादीनां च जातस्मरणः त्वानुपपत्तिः दृश्यते च तथा यथा मानसे भुषुण्डिवाक्यम्-

सुधि मोहि जनम बहु केरी ।।
शिव प्रसाद मति मोह न घेरी।। मानस ७-९७-९०

रूपान्तर

बहूनां जन्मनां नाथ स्मृतिर्मे विद्यते ध्रुवा।
शिवस्यैव प्रसादेन मतिर्मोहेन नावृता।।

न च पुनर्जन्मवाद एव निष्प्रमाण इति वाच्यं, श्रुतिस्मृतिषु नैकप्रमाणानां जागरूकत्वात् । तद्यथा: पुण्य: पुण्येन कर्मणा पाप: पापेन: वामदेवादीनां च जातस्मराणानां वचनान्यपि अहं सूर्योऽभवम् मनुरभवम् इन्द्रोऽभवमित्यादीनि।

अनेकजन्म संसिद्धस्ततो याति परांगतिम् गीता ६-४५
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते गीता ७-१९

इत्यादि। पुनर्जन्मनोऽभावे अज्ञातदुग्धस्वादो बालक: कथं दुग्धपाने प्रवर्तेत कथं वा अननुभूत रागदोषद्वेषभयादि: तत्तत्कारणभूतवस्तूनां दर्शनेन तत्तत्विकारान स्मरेत् यथोक्तं कालिदासेन शाकुन्तले-

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं।
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि।।

किञ्च

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ।।गीता २-२२

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ।।गीता ४-५

इत्यादि भगवद्वचनान्यपि व्याकुप्येरन् । किं च शरीराणि अनित्यानि प्रत्यक्षतोऽनुमानत: शब्दतश्च "अन्वन्त इमे देहा:" गीता २-१८ इत्यादि स्मरणाच्च क्षणभङ्गुराण्यपि "नान्तो नचादिर्न च संप्रतिष्ठा" गीता १५-३। त्वत्कल्पितोपाधयस्तु अनादय: अनित्याश्च, तर्हि कथं नित्यं परमात्मानं उपादधीरन्। यदि चेत् अन्त: करणान्युपाधय: तदपि न वरं, विशुद्धबोधघनस्य परमात्मनो विमलज्योतिषा दूरत एवाहङ्कृते निरस्तत्वात् । अहंकारस्य च कर्तृप्रभवत्वेन सर्वथैवाकर्तरि परब्रह्मणि प्रसरानव कांशाच्च, परमात्मनोऽकर्तुत्वे तिष्ठत्सु विपुलेषु प्रमाणेषु श्रुतिस्मृतिपुराणप्रोक्तेषु

सन्देहानवसराच्च। यथोक्तं श्री गीतासु-

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफल संयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ।। गीता ५-१४

अन्यच्च चरमेऽत्रैव

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्गति ।। गीता १०-१६

तस्मान्नाहङ्कारोपाधि। अथ मन उपाधि इति चेन्न, इन्द्रियाणां मनश्चास्मि गीता १०-१२ इति भगवदुक्तयम नुसारं मनसो भगवद्विभूतित्वेन विभूतीनां च ब्रह्ममाहात्म्य ज्ञापकतया प्रसिद्धे नैवोपाधित्वं मनसः। त्वदुपाधीनाम् अनादित्वात् तन्मनोऽसृजत् इत्यादि श्रुतेः, वीक्ष्य रन्तुं मनश्चके भागवत १०-२९-१ इत्यादि स्मृतेश्च, सादित्वेन मनसः कथं त्वदभीष्टोपाधित्वम् । किं च त्वदुपाधेरकर्तृजन्यवात् मनसश्च भगवत्कृतत्वेन त्वदभीष्ट लक्षणत्वावच्छेदकाभावत्वात् कथमुपाधित्वं तन्मनोऽकुरूत वीक्ष्य रन्तुं मनश्चके इत्यादि श्रवणात् स्मरणाच्च। किञ्च ब्रह्मणः कूटस्थत्वं निश्चलत्वं च सार्वलौकिकं मनसश्च चञ्चलत्वं "चञ्चलं हि मनः कृष्ण गीता ६-३४" तर्हि कथमसौ चञ्चलेन निश्चलमुपाधातुं शक्येत् उपाधायकोपाधेययोः समानधर्मतावश्यकत्वात। किञ्च उपाधिर्नाम त्वन्मते ब्रह्मात्मैक्यज्ञान तिरोधानरूपब्रह्मसाक्षात्कारप्रतिबन्धक धर्मवान् मनश्च परमात्म दर्शनसाधनत्वेन श्रुतं, मनसैवानुद्रष्टण्यम् एवं मिथो विरोधजागरूकत्वे परमात्मदर्शनसाधनस्य मनसः कथमुपाधित्वम् । ननु यन्मनसा न मनुते इत्यादि श्रुतिविरोधेन कथं मनसः साधनत्वं भगवद्दर्शने इति चेन्मैवं तत्र सामग्रयेण दर्शननिषेधश्रवणे विरोधपरिहारेणादोषात् । ततो मनसोऽपि नोपाधित्वं । अथ बुद्धिरूपाधिरिति चेत् मैवं बुद्धेरपि ब्रह्मसाक्षात्कारकारणत्वेन श्रवणात् तस्याः ब्रह्मज्ञानतिरोधानासंभवात् । तथा हि दृश्यते त्वग्र्य्या बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः। इहोभयत्र श्रुत्योः मनसा बुद्ध्या इत्यत्र करणे तृतीया विधानात् । किं च उपाधायकोपाधेययोः समानशीलत्वनियमे सर्वथा कर्मबन्धनमुक्तस्य कर्मानुसारिण्या बुद्धेः कथमुपाधायकत्वं अत एवाभियुक्ताः आमनन्ति-

"विद्या परिश्रमाधीना बुद्धिः कर्मानुसारिणी।" तस्माद् बुद्धिरपि नोपाधित्वम। बुद्धेरात्मा परो महान् महतः परमव्यक्तं अव्यक्तात् पुरुषः परः। इति श्रुत्युक्त परावर

मीमांसायां परमात्मतो बुद्धेरवरतमत्वात् कथमसौ तयोपाधीयेत। अथ चित्तमुपाधिः तंदपि न उपाधेर्ब्रह्मसाक्षात्कारव्यवधायकत्वेन प्रसिद्धत्वात् चेतसश्च ब्रह्मसाक्षात्कार ब्रह्मसाक्षात्कार साधनत्वेन श्रुतत्वात्स्मृतत्वाच्च। एषो:णुरात्मा चेतसा वेदितव्यः चेतसा सर्वकर्माणि इत्यादि लिङ्गात् । इत्यनेन अज्ञानोपहितान्तः करणावच्छिन्नचैतन्यं जीवः इति विषवमनं निरस्तम्।

किं च उपाधिभेदे अङ्गीकृते उपाधौ च शरीरान्त करणयोरन्यतरस्मिन् स्वीकृते सौभर्यादीनां वसिष्ठादीनां च शरीरान्तरप्रविष्टे अन्तः करणान्तरावच्छिन्नेऽपि प्राक्तनशरीवृत्तस्मरणानुपप पत्तिः स्यात् । स्मर्यते च तेषां पूर्वशरीरानुभूत संस्मरणसाहस्त्री। न च उपाधिना क्रियते विश्वरूपः इति वचनवलात् औपाधिवभेद प्रामाणिक एव इति वाच्यं, कुतस्त्यं वचनमिदमिति पूर्वं वक्तुमशक्यत्वात् कथञ्चित् समूलत्वे साधितेऽपि तस्य लीलार्थत्वेन भगवतो व्याख्याततया तद् वचनस्य प्रकरण विशेष संवद्धतया सार्वकालिकत्वेन नियमितु मशक्यत्वात् । उपाधेराश्रयेचिन्ता प्रसङ्गे जीवा ब्रह्म वा तदाश्रयः? प्रथमे पक्षे अन्योऽन्याश्रयात् जीवो हि उपाध्याश्रयः उपाधिश्च जीवाश्रय इति अन्योश्रयता अन्ते त्वत्पक्ष हानिः न च स्वरूपतः सत्य एष सत्यत्वेऽद्वैतहानिः एकस्यैव ब्रह्मणः सत्यत्वेन स्वीकारात् । मिथ्या इति चेत् तल्लक्षणं वाच्यं लक्षणं च प्रतीयमानत्वे सति बाध्यमानत्वं यथा रज्जुज्ञानेन सर्पज्ञानम् । इति मिथ्या त्वस्य परिभाषितत्वे तस्य च बाध्यमानतया नित्यज्ञानभूतब्रह्मणः समावरकत्वे सर्वथैवाक्षमत्वात्। न च बाधित ज्ञानानुवृत्तेरूपाधितो भेदोपपत्तिारिति वाच्यं, रज्जुज्ञानेन बाधितेऽपि सर्पज्ञाने भयकम्पादिवत् पेटिकातो निष्कासितेऽपि पुष्पस्तवके तत्सुगन्धवत् अखण्डब्रह्मज्ञानेन बाधिते भेदमूलकज्ञाने महादित्येन निरस्ते तमसि पुनस्तदुत्थानवत् सर्वथैवानु वृत्त्यनुपलम्भात् । बाधितज्ञानानुवृत्तौ च नित्य श्रुतिमहत्व प्रामाणिकतायां सन्देहापत्तेश्च, देवदत्तहन्त्रहत न्यायस्य च प्रसरात् । न चेष्टापत्तिः तथा सति लोकविरूद्धत्वापत्तेः न हि लोकाद् कियते शास्त्र इति महर्षिपतञ्जलिवचनव्याकोपापत्तेश्च। न च ब्रह्मविद्यायाः अलौकिकत्वात् लोकन्यायानां भङ्गेऽपि न क्षतिरिति वाच्यम् , लोकान्नु दिश्यैव ब्रह्मविद्योपयोगात, लोकप्रसिद्धन्यायानां तत्स्थापनाय सुतरामावश्यकत्वात् , जलादेर्घटादिवत् । अनङ्गीकृतेषु लोकन्यायेषु श्रोतृणामनवबोधापत्तेर्वक्तुर्जडत्वोपपत्तेरऽरण्यरोदनादिवत्, वक्तुरेव हि तज्जाड्यम् यदि श्रोता न बुध्यते, इत्युक्तेः। रज्जु ज्ञानेन सर्पज्ञानबाधे किञ्चित्

क्षणं यावदेव सर्पज्ञानजनितभयकम्पनादि दर्शनात्, तदनुरोधेन बाधित ज्ञानानुवृत्तेरस्थायित्वात् तन्मूलक त्वदभिमतभेदस्याप्यस्थायित्वं। प्रकृते च भगवता नासं नासीः न भविष्यामः इत्युक्त्या नित्यभेदप्रतिपादनात् नितरामसामञ्जस्येन वैधेयभाषणमिदं तावकीनम् ।

अथ जीव ब्रह्म भेद प्रतिपादने प्रमाणभूता का स्पष्टा श्रुतिः इति चेत् काठकास्तां पठन्ति- "नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको वहूनां यो विदधाति कामान। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥ क० उ० २-५-१३ श्रुतिरेषा परमात्मवर्णनपरा तथा हि अष्टमे मन्त्रे तत्स्वरूपं वर्णयितुं प्रतिज्ञातं "तदु नात्येति कश्चन। एतद्वै तत्" क० उ० २-५-८ इति प्रतिज्ञाय अग्निवायुदृष्टान्ताभ्यां प्रतिरूपं तस्य ब्रह्मणोऽवस्थितिं संसाध्य पुनः सूर्यदृष्टान्तेन तस्य बाह्यदुःखालिप्तत्वं निरूच्य पुनरङ्गुष्ठमात्रमित्यादिना तस्य सगुणस्वरूपनिर्दिधारयिषया समस्तजनहृद्देशस्थतां प्रमाण्य तदनु जीवब्रह्मणोर्नैसर्गिकं भेदं जीवानां बहुत्वं, ब्रह्मणश्चैकत्वं, जीवानां पराधीनत्वं ब्रह्मणो व्यापकत्वं इति सर्वमेव श्री वैष्णवसिद्धान्तकञ्जराशिं रश्मिमालि रश्मिरिव विकासयति श्रुतिः। नित्यानां, चेतनानां, वहूनां इति त्रिः निर्धारणे षष्ठी, नित्यानां जीवानां मध्ये यः नित्यः अविनाशीनामधिपतिरविनाशी। चेतनानां चेतयतां जीवानां मध्ये यः चेतनः बहूनाम् अनन्तानां मध्ये यः एकः कामान् जीवकृतान् विदधाति विशिष्टतया पुष्णाति आत्मनि मुपश्लिष्य निजसमीपे तिष्ठति इति आत्मस्थः तथा भूतम्। यद्वा आत्मना जीवात्मना सह तिष्ठति इत्यात्मस्थः। यद्वा आत्मनि मनसि तिष्ठति इत्यात्मस्थः, यद् वा आत्मनि निज बुद्धौ तिष्ठति इत्यात्मस्थः यद्वा आत्मा शरीरः तस्मिन् आत्मनि हृदयावच्छेदेन तिष्ठति इत्यात्मस्थः तम् । एवं भूतं पदमात्मानं ये धीराः, धियं ईरयन्ति परमात्मभजने प्रेरयन्ति इति धीराः भगवद् भक्ताः। यद्वा वा धियं ध्यानलक्षणां बुद्धिं रान्ति परमेश्वर पदकमले समर्पयन्ति तथा भूताः ये केचन अनुपश्यन्ति अनुकूलतया निजसेव्यत्वेन साक्षात् कुर्वन्ति, तेषामेव कृतसेव्यसेवकभावलक्षणबोधविशिष्टब्रह्मसाक्षात्कारलक्षणानाः एव शाश्वती शश्वादियं शाश्वती अनन्तकालपर्यन्तस्थायिनी शान्तिः भगवत्प्रपत्तिजनित सन्तोषलक्षणा भगवत् कैङ्कर्यजनितानन्दरूपा स्यात् । नेतरेषां- नैव भगवत् पदपद्म विमुखानां इति तत्र सामान्य श्रुत्यर्थः। यद्वा षष्ठ्यन्तानां धार्यधारकभाव सम्बन्धावच्छिन्नानां त्रयाणां

सम्बन्धषष्ठीमहिम्ना कामान् इत्यत्रान्वयः। तथा हि नित्यत्वचेतनत्व, बहुत्वावच्छिन्नजीवसंबन्धिकामान् नित्यत्व चेतनत्वैकत्वविशिष्ट. यः परमात्मा यौगपपद्येन बिभर्ति, तादृशं निज हृद्देशस्थं ये अनुकूलतया पश्यन्ति। त एव शान्तिं लभन्त इति। अथवा नैषां कामन्नित्यत्रान्वयः, तथा हि यः इत्यस्यैव त्रिरनुवृत्तिः, यः नित्यानां ध्वंसभिन्नानां ध्वंसप्रतियोगिनां जीवानां गध्ये नित्यः। यश्च चेतनानां मध्ये निर्वाधचेतनः यश्च बहूनां जीवानां मध्ये एकः। एवं यश्च कामान् कं ब्रह्माणं, अकारं विष्णुं, मकारं महेश्वरं च विदधाति करोति सृष्टिपालनसंहारार्थं रचयति सत्वरजस्तमोभिः सृजति नात्मार्थं इति हेतोर्नैवात्मनेपदम्। ननु नित्योऽनित्यानाम् इत्यत्र अकार प्रश्लेषः, तथा हि अनित्यानां जीवानां मध्ये यः तेषां कामान् ददाति, इति व्याख्यायेतामिति चेत् न। सहचरितासहचरितयोर्मध्ये सहचरितस्यैव ग्रहणंमिति नियमात् चेतनश्चेतनानामिति परत्राकार रहित पाठानुरोधात, अत्रापि तत् सहचरिते नित्यानामित्यत्रापि नित्यानाम् इत्येव पाठः स्वीकार्यः। एतया श्रुत्या भगवत्या त्रिरामन्तप्रयोगं त्रिःस्वन्तप्रयोगं च विधाय जीवब्रह्मणोः परस्परं भेदः द्वयोर्नित्यत्वं चेतनत्वं, जीवबहुत्वं ब्रह्मणश्चैकत्वं स्पष्टमुक्तम् । अत्रापि चेत् सन्देहस्तर्हि तां प्रतीदमेवोक्त्वा सन्तोषमुपलस्यामहे, यत्

''नोलूको यदिहेक्षते दिनकरं कस्तर्हि दोषो रवेः।
नो काको यदुपैति कण्ठमृदुतां कोवाऽपराधो मधोः।।
वर्षायां न फलेद्धि वेतसमथो पर्जन्य दोषोऽत्र कः।
तीरस्थो म्रियते मृगो यदि तृषा किं जाह्नवी दूषणम् ।।

अतो नित्यानित्यानामित्यादि श्रुत्यनुवादरूपं नत्वेवाहम् इत्यादिमुदीरयन् भगवान् जीवपरमात्मनो स्वाभाविकं भेदं द्वयोश्चेतनत्वम् उदीर्य, स्वस्यैकत्वं नेमे इति जीवबहुत्वं च सप्रमाणं सिद्धान्तयाम्बभूव। यद्वा नित्यानां चेतनानां बहूनाम् इति षष्ठ्यन्तबहुवचनान्तपदत्रयं प्रयुज्य भगवता सह प्रोक्तप्रथमैकवचनान्तवारत्रयेण जीवस्य त्रैकालिकत्वं संबन्धं साधयति। नित्यानां चेतनानां बहूनां संबन्धिभूतः त्रिकालाबाध्य संबन्धवान् भगवानपि नित्य एकः चेतनश्च, सर्वान् कामान् विदधाति। तस्मादिहापि अहं त्वं इमे नास्म इति न, न भविष्यामः इति न, इति निगदन् भगवान् पार्थेन सह शाश्वतं सम्बन्धं साधयति। यत्तु वेङ्कट ब्रह्मानन्दगिर्याख्याने कृष्णार्जुन सम्वादं स्वसिद्धान्तानुरूपं साधयितुं भगवता ऐन्द्रजालिकायितमिति प्राजल्पि तदनर्गलम्।

तथा सति बौद्धागम इव श्रीगीतास्वप्रमाण्यापत्तिः, अवतारोऽपि बुद्धो हि सुरद्विषां सम्मोहाय "धम्म पदे" वेद् विरूद्धं प्रावोचत् । अर्जुनो हि न सुरद्विट् अतस्तं विगतमोहं कर्तुं सर्वेषां अवतारी परिपूर्णपरब्रह्मपरात्परपरमात्मा श्रीकृष्णः कथम् परमार्थमौपाधिकभेदम् अविद्या कृत भेदं वा अज्ञानकृतभिदंवा समपलपेत् न त्वहं नेमे इत्यादि। तस्मात् नत्वेवाहम् इत्यादितः प्रोक्तजीवपरमात्मभेदः जीव ब्रह्मणोर्नित्यत्वं, उभयोश्चेतनत्वं, ब्रह्मण एकत्वं जीवाना वहुत्वं च पारमार्थिकमेव न त्वौपचारिकम्। यत्तु पूर्वमीश्वरस्याज्ञता तदनु शास्त्रतः सर्वज्ञता अतो जीवेश्वराभेदेऽपि भ्रममूलं भेदमुपगम्य गुरूशिष्यपरम्परां रक्षता नटेनेव पार्थमज्ञं मन्वानेन भेदमूलक वचनानि मिथ्यावादतयोक्तानि न च पारमार्थिकानि इति केनचित् भषितं, तदपि न। यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः मु० उ० १-१-९ इति श्रुतेः वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन। भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ।। गीता ७-२६ इति स्मृतेश्च भगवत्सर्वज्ञताप्रतिपादिकायाः विरोधात् । यच्च तेनैव प्रच्छन्नबौद्धेन श्रीरामपरशुरामसम्वाद इव कृष्णार्जुनसम्वाादे ऽप्यभेदं साधयितुं कुचेष्टितं तदपि कदाचिदप्यनधीतश्रीमद्रामायणकथावस्तुना भगवद्वैमुख्य मलिनीकृतमानसेनैव कालकूटं वान्तमेतत् । पूर्वं श्रीराम परशुरामयोः, श्रीकृष्णार्जुनयोश्च परिस्थिति वैलक्षण्यं विभावनीयं, दशावतार गणनायां सार्वलौकिक्यां भृगुवंश वर्धन परशुराम एकतमोऽवतारो भगवतो नारायणस्य

कच्छो मत्स्यो वराहश्च नृसिंह वामनस्तथा।
रामो रामश्च रामश्च बुद्धश्च कल्किर्मतः।।

चकारेण श्रीरामः अवतार्यपि, यथा च श्री भागवते प्रथमे-

अवतारे षोडशमे पश्यन् ब्रह्मद्रुहो नृपान् ।
त्रिःसप्तकृत्वः कुपितो निःक्षत्रामकरोन्महीम् ।। भा० १-३-२०

यथा चात्रैव द्वितीये-

क्षत्रं क्षयाय विधिनोपभृतं महात्मा।
ब्रह्मध्रुगुज्झितपथं नरकार्तिलिप्सु।।
उद्धन्त्यसाववनिकण्टकमुग्रवीर्य-
स्त्रिः सप्तकृत्व उरूधारपरश्वधेन ।। भागवत २-७-२२

अतस्तत्र अंशांश्यभेदाभिप्राये भेदवाक्यम्

ब्राह्मणोऽसीति पूज्यो मे विश्वामित्र कृतेन च।

तस्माच्छक्तो न ते राम मोक्तुं प्राणहरं शरम् ।।

वा० रा० १-७६-६

यथा वा अत्रैव परशुरामवाक्यम् -

''न चेयं तव काकुत्स्थ व्रीडा भवितुमर्हति।

त्वया त्रैलोक्यनाथेन यदहं विमुखीकृतः ।। वा०रा०१-७६-१९

इत्युभयत्रापि मर्यादापुरुषोत्तमेन भगवता श्रीरामेण निरोधाप्य निजभगवत्तां भेदमूलकपूज्यपूजकभावदृष्ट्या मे ते इति भेदवाक्यमुक्तम् । तथैव परशुरामेणापि सर्वावतारिणि भगवति स्वावतारं समर्प्य जीवबुद्ध्यैव अहं त्वयेति पारमार्थिक एव। न तथा कृष्णार्जुनसंवादव्यवस्था कुत्राप्यर्जुनस्य भगवदवतारतया श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासेषु नैव चर्चामुपलभामहे

ननु **''वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजय''** ।। गीता १०।३७।।

इत्यत्र धनंजयः इत्येकवचनानुरोधेन अस्ति पार्थस्य भगवदवतारता इति चेन्मैवम्। एवं धिष्ववतारता स्वीकारे "प्रह्लादश्चापि दैत्यानाम् इत्याद्युक्तेः" तर्हि भगवदवतारस्यैव प्रह्लादस्य रक्षणार्थं भगवदवतारस्य नृसिंहस्य स्तम्भतः उत्पत्ति कथने सर्वसमर्थे भगवति असामर्थ्यापत्तिः श्रीभागवतवर्णितभक्तभगवत् संबन्ध दौस्थ्या पत्तिश्च। भगवद् भूतस्य प्रह्लादस्य नृसिंहस्तुतावप्रामाण्यापत्तिः, प्रह्लादाय नृसिंहहेन दीयमान वरादानासंगत्यापत्तेश्च। कथं भगवान् स्वयमेव स्वस्मै वरदानं दद्यादिति दशमाध्यायो हि विभूतियोगपरः तत्राहं शब्दश्च भगवत् विभूतिपरः नत्ववतार परः। प्रथमैकवचनान्तता च सिंहो माणवक इत्यादि वदौपचारिकी, तत्र दशमे वर्णितानां विभूतीनाम् अवतारकल्पने "झषाणां मकरश्चास्मि" इत्याद्युक्ते झषादावप्यवतारकल्पनया महत्यनवस्था स्यात् । किं बहुना दशमे वर्णितानां विभूतीनां भगवतैव स्वावतारता वारिता उपकमोप संहारयोः। यथोपक्रमे हन्त ते कथयिष्यमि दिव्या ह्यात्म् विभूतयः गीता १०-१९। उपसंहारे च एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ।।गीता १०-४०। कुत्रचित् अंशांशावतारेष्वपि विभूतिबहुलत्वेनैव विभूतिव्यपदेशः। अतोऽत्रैव सप्तत्रिंशे वासुदेवपदं बलरामार्थकं न तु कृष्णपरकम् । तथैव पाण्डवानां धनंजयः मद्विभूतिः, तस्मात् रघुरामभृगुरामसंवादप्रकरणे द्वयोरवतारत्वे कथञ्चित्त्वया साधितोऽप्य पारमार्थिकतया ह्यौपाधिकभेदः श्रीकृष्णार्जुन संवादे नैव साधयितुं शक्यः, द्वयोः भेदस्य पारमार्थिकत्वात् । पार्थे नारायणावतारत्वस्य च कुत्राप्यश्रुतत्वात्। ततो रामः

शस्त्रभृतामहम् इति वचनमपि श्रीरामचन्द्रे धनुः समर्पणच्छलेन समर्पित स्वावतारे केवलं भगवद्विभूतौ मुनावेव तात्पर्यग्राहकं न तु नारायणावतारे इदं श्रीरामानुजानुरोधेन।

वस्तुतस्तु "ब्राह्मणोऽसीति मे पूज्यो" इति भगवच्छ्रीरामवाक्यमपि न स्वावताराय परशुरामाय प्रत्युत् इतः पूर्वमेव श्रीरामाय वैष्णवधनुःसमर्पणसमये समर्पित नारायणांशावतारसमग्रशक्तिकाय इदानीं मुनिमात्रसत्तावशेषाय भगवत्तेजोमयोश संभवतया भगवद्विभूतिभूताय विभूतिभूषणविभूतिपूताय परशुरामाय ब्राह्मणमात्राय, तस्मात् भेदोऽत्रापि पारमार्थिकः परशुरामस्यावतार बहिर्भूतत्वात् कथितं चैतत् स्वयमेव श्रीमद्रामायणे श्री परशुरामेण,

अक्षय्यं मधुहन्तारं जानामि त्वां सुरेश्वरम् ।
धनुषोऽस्य परामर्शात्स्वस्ति तेऽस्तु परन्तप।।

(वा० रा० १-७६-१७)

अस्यार्थः- अस्य वैष्णवस्य धनुषः परामर्शात् इह हेतौ पञ्चमी। मया तस्य धनुषः यदैव भवता परामर्शः कृतः तदैव भवतः करस्पर्शसमकालं मम नारायणावतारता सर्वावतारित्वात्भवति विलीना। साम्प्रतमहं जीवो ज्ञाता न तु परमात्मा ज्ञेयः "ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्षामि" (गीता १३-१२) इत्याद्युक्तेः इदं रहस्यं स्फोटयितुमुक्तं जानामि इति, अस्य धनुषः परामर्शं भवत्करकमलस्पर्श अपेक्षैव अथवा प्रभृतियोगे पञ्चमी अनुक्तापि 'प्रभृतीत्यक्षरावलिं गम्यमानापि विभक्तिः कारकाणां नियामिका' इति वचनात् पञ्चमीं गमयति। धनुषस्पर्शात्प्रभृत्यैव निरस्तनारायणावतारगुणः सन्ब्राह्मणो ज्ञाताभवन् सुरेश्वरं देवानामधिपतिम् अक्षय्यं न क्षेतुं शक्यं कलितनित्यावैवत्वात् अतएव मधोः मधुदानवस्य प्रलयकालिकयोगनिद्रावसाने हन्तारं विनाशकम् नारायणम् अथवा मधौ चैत्रमासे जिहीते श्री कौसल्यानः आवर्भवति इति मधुहः तं मधुहम। चैत्रमासे गृहीतजन्मानं तारयति संसारसागरात् भक्तं यः सतारः तं तारं तारकमन्त्रार्थं श्रीरामं महाविष्णुं त्वां जानामि। पूर्वं ज्ञेयत्वात् त्वाम् अवाजानम् अधुना ज्ञातासन् जानामि। अतो ब्राह्मणत्वात् ब्राह्मणभक्ताय नरलोकमनुसरते महाविष्णवे तुभ्यं रामाय स्वस्तीत्याशीर्वचांसि मे तद्यथा वाल्मिकीयरामायणे-

इत्युक्त्वा राघव क्रुद्धः भार्गवस्य वरायुधम् ।
शरं च प्रतिजग्राह हस्ताल्लघुपराक्रमः।। (वा० रा० १-७६-४)

इत्युत्त्वा राघवः इत्यत्र उत्त्वा अराघव इति पदच्छेदः तथा हि अकारोमहाविष्णुः स एव राघवः रघुकुलोद्भवः सर्वावतारी क्रुद्धः सर्वावतारित्वात् अंशावताराय कृतकोपः। अथवा क्रुधम् परशुरामकोपं दधाति स्वस्मिन् समाहरति स्वकलावतारकर्षणात् तं निस्तेजसं करोति इति क्रुद्धः। भार्गवस्य परशुरामस्य हस्तात् लघौ स्वावेशावतारे पराक्रमः यस्य एवंभूतः वरायुधं श्रेष्ठं धनुः परशुरामेण वरदानेन प्राप्तम् आयुधं वा शार्ङ्गं शरं चकारात् तूणीरं च, यद्वा चकारश्चन्द्रस्तदनुगुणीतं तद्वंश्यावतारं प्रतिजग्राह प्रतिक्रियायां गृहीतवान् । अतएव प्राहुः श्रीरामानन्दान्वयकुलकञ्जविभाकराः अस्मत प्रातःस्मरणीयाः श्रीमद्गोस्वामीतुलासीदासमहाराजाः।

देत चाप आपुहिं चलि गयऊ।
परशुराम मन विस्मय भयऊ।। (मानस १-२८४-८)

एतद् रूपान्तरम् ,

धनुष्योऽस्य प्रदानेन स्वयमेव जगाम ह।
तदा परशुरामस्य मानसे विस्मयोऽभवत् ।।

तस्मात् तत्रापि भेदः पारमार्थिक एव। इत्यनेन अद्वैतवाद कल्पित ब्रह्मात्मैक्यभावगिरिर्धूलिसात्कृतः।

ननु ब्रह्मजीवात्मभेदे ब्रह्मात्मैक्य प्रतिपादकश्रुतिसहस्रं व्याकुप्येत? इति चेन्मैवम्, श्रीराघवचरणारविन्द परागमकरन्दभ्रमरी भूंतदिव्यधिष्णाधर्षितपरपक्षप्रासादानामस्माकं मातेव प्रासीदेदेव श्रुतिसहस्रं तथा हि-

यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।। (ईश उ० ७)

इह श्रुतिस्वारस्यानुरूपार्थः– यस्मिन्जीवात्मनि सर्वाणि भूतानि इत्यत्र षठयर्थे प्रथमा सर्वेषां भूतानां पुरः अथवा सुबर्थे जस् सर्वेषु भूतेषु आत्मैव परमात्मा एवकारेण शारीरिक सौन्दर्यं व्यवच्छिद्यते। अभूत् आविर्भवत् विजानतः विशेषेण चिन्तयतः यथात्रैव कलावेकनाथस्य गर्दभे ब्रह्मदर्शनम् । तत्र शरीरसम्बद्ध रसादिसप्तधातूनां बाधात् ब्रह्मण आविर्भूतिरूपपन्नैव तस्मिन्नेव दृष्टे परमात्मनि एकत्वं स्वस्वामिभावसम्बन्धम् अनुपश्यतः आनुकूल्येन विचारायतः को मोहः कः शोकः नैवागन्तुं शक्नुतः इति भावः।

नन्वेकत्वस्य सम्बन्धार्थतायां किं प्रमाणाम् ? इति चेत् वेदार्थविचारचुञ्चु श्रीवादरायणभागवतवचनमेव ब्रूमहे तथा हि सप्तमे-

गोप्यः कामाद्भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः।
सम्बन्दाद् वृष्णयः स्नेहाद्यूयं भक्त्या वयं विभो।

(भागवत ७-१-३०)

इत्यत्र प्रयुक्तं सम्बन्धशब्दमेव ऐक्यमिति पर्यायवाचिनानुवदति

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते।।

(भागवत १०-२९-१५)

एक्यं सम्बन्धः इति श्रीधराचार्यः। ननु सर्वभूतानीति सप्तम्यर्थे प्रथमा इत्यत्र का युक्तिः इति चेत् स्मृतिमेव ब्रूमहे, तथा चाह वेदान्तस्मृतिशिखामणिस्वरूपा श्रीगीता पञ्चमे-

''विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनिचैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।। गीता ५-१०

इह ब्राह्मणे गवि हस्तिनि शुनि श्वपाके इति पञ्च कृत्वो ङ्यन्त प्रयोगः पञ्चभूतात्मके जगति ब्रह्मेतिसंकेतयति, न तु जगद्ब्रह्म। ननु सर्वं खल्विदं ब्रह्म इति कथं संगच्छेत्? इति चेत् दत्तोत्तर प्रायं समाधानमेतत् तथा हि सर्वमित्येतदपि सप्तम्यर्थे प्रथमा विधानम् । यद्वा ङेः स्वादेशः सोश्च अतोऽम् इत्यनेन अमादेशः, सर्वस्मिन् चराचरे इदं ब्रह्म खलु निश्चयेन विराजते इति श्रुत्यर्थः। अतएव मानसकारोऽपि प्राह श्रीलक्ष्मणगीतायाम्-

ज्ञानमान जहं एकउं नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माही।

मानस ३-१५-७

रुपान्तरम्

नास्ति चैकतमो यत्र मानादीनां विकारकः।
समं सर्वत्र दृश्येत ब्रह्म तज्ज्ञानमिष्यते।।

ननु सर्वं खल्विदं ब्रह्म इत्यस्य सर्वस्मिन् इदं ब्रह्म इत्यर्थंकृते सप्तम्याः

कस्तावदर्थः? इति चेत् उपश्लेषे सप्तमीति ब्रूमहे। अथ संयोगसामीप्ययोः प्रसिद्धयोरूपश्लेषार्थयोः कतरेणात्र भाव्यम्? इति चेत् सामीप्येनेति राद्धान्तयामहे। तथा सुपः सामीप्ये, उप सामीप्येन श्लिष्यते इत्युपश्लेषः, तस्मिन् भवा इति औपश्लेषिकी, ब्रह्म सर्वमिदं जडचेतनात्मकं जगत् सामीप्येन श्लिष्यदास्ते। अत एवान्तर्यामिब्राह्मणे ब्रह्मणः सामीप्येनैवौपश्लेष उक्तः

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।।वृ० उ० ३-७-३

अन्तरः समीपवर्ति। अथ ब्रह्मणः सामीप्ये अपरं किमपि कण्ठरवेण श्रुत्योक्तमिति चेत्, ओमिति व्याहरामि। तथा हि ईशावास्योपनिषदि तद्दूरे तद्वन्तिके ई० उ० ५। ननु युक्त्या भवता जीवात्मपरमात्मभेदः साधितः परन्तु सोऽहमस्मि इत्यत्र सः अहं अस्मि सः परमात्मा अहं अस्मि इति पदच्छेदे स्वरसतः परमात्मजीवात्मनोरभेद एव सिद्ध्यति इति चेन्न। पूर्वं तु अनालोचिततत्रत्य प्रकरणेन भवता शङ्कितं, मन्त्रोऽयं ईशावास्योपनिषदि बृहदारण्यके च दृश्यते। तथा हि-

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह। तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ।। ई० उ० १६। वृ० उ० ५-१५-९

अत्रोभयत्रापि भवन्मतप्रवर्त्तकानां भगवत्पादश्रीमदाद्यशङ्कराचार्याणां भाष्यम्। यथा हि ईशावस्ये- "किं चाहं न तु त्वां भृत्यवद्याचे योऽसावादित्यमण्डलस्थो व्याहृत्यवयवः पुरूषः पुरुषाकारत्वात् पूर्णोवानेन प्राणवुद्धयात्मना जगत् समस्तमिति पुरुषः, पुरि शयनाद्वा पुरुषः सोऽहमस्मि भवामि। तथा हि मन्त्रः तस्य भूरिति शिरः भुव इति बाहुः सुवरिति प्रतिष्ठा पादावित्यर्थः। एवमेव वृहदारण्यके भाष्ये-

योऽसौ भूर्भुवः स्वर्व्याहृत्यवयवः पुरुषः, पुरुषाकृतित्वात् पुरुषः सोऽहमस्मि भवामि। इत्युभयोर्व्याख्यानयोः जीवात्मन एव मुख्यार्थता। वस्तुतस्तु योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि इति मन्त्रखण्डस्य प्रार्थयित्रा सह सम्बन्धः प्रार्थयिता जीवात्मा भवति, न तु परमात्मा तस्य प्रार्थ्यमानत्वेन प्रसिद्धत्वात् । सूर्यमण्डले हि तिष्ठतः

सीतारामौ। अतएव श्रीसनत् कुमार संहितायाम्-

सूर्यमण्डलमध्यस्थं रामं सीतासमनिवतम्।
नमामि पुण्डरीकाक्षं ममेयं गुरूतत्परम् ।।

इमौ सूर्यमण्डलस्थौ सीतारामौ दिदृक्षुः प्रत्यगात्मा परमात्मानं सूर्यं प्रार्थयते, यत् कथञ्चिदपि अनयोर्दर्शनं स्यात् । यदि सूर्यनारायणतेजसा चाकचिक्यचकीतीकृत चक्षुः स्यां तदा इदं कल्याणतमं दिव्य परमेश्वर दम्पतिरूपं नैव द्रष्टुं शकनुया मिति। अतो हे पूषन्! जगत् पोषक एकर्षे अद्वितीयगामिन्, निखिल जगत् संयमनात् यम् सुष्ठु ईरयति इति सूर्यः। राजसूयेति मन्त्रेण यत् प्रत्ययः ईर् धातोः ईकारलोप सूरित्यत्र दीर्घः हे शोभन प्रेरक प्रजापतेः कश्यपस्यापत्य, यद्वा प्रजापतिः ईश्वरः तस्य अपत्यं हे प्राजापत्य चक्षोः सूर्यो अजायत शु० य० ३१-१२ इति मन्त्रवर्णात्। रश्मीन् रस शोषकान् किरणान् व्यूह विगमय, ते तव तेजः निज मण्डलस्थ सीताराम दर्शन प्रतिबन्धकं ज्योतिः समूह उपसंहर यथा तौ द्रष्टुं शवनुयाम् । किमर्थं इत्यदाह- ते तव संवन्धिभूतं यत् श्रीसीताराम युगलरूपं कल्याणतमं सकलकल्याणगुणगणैकनिलयं तत् पश्यामिम अत्र व्यत्ययात् लोटि लट् लकारः। पश्यानीति भावः। कथं द्रष्टुमिच्छसि इत्यदाह योऽसावित्यादि। यतो ह्यहं त्वन्मण्डलस्थ श्रीसीतारामस्वरूपस्य एकमात्रमधिकारी। नैव भृत्यवत् त्वां याचे स्वदर्शनाधिकारं स्पष्टयति योऽसाविति खण्डेन यः असौ असौ पुरुषः सः अहं अस्मि इति पदच्छेदः। असौ असौ इति वीप्सायां द्विर्वचनं, सप्तमी चौपश्लेषिकी असुः प्राणः असौ असौ प्राणे प्राणे प्रतिप्राणं यः उपश्लिष्टः पुरुषः पुरि शरीरे उः निश्चयेन शेते स पुरुषः मुमूक्षुर्जीवात्मा अहं साम्प्रतिकस्त्वत्प्रार्थपिता सः प्रतिप्राणमुपश्लिष्टः जीवात्म भूतः पुरुषः पुरुषार्थवादी परमपुरुषं दिदृक्षमाणोऽस्मि। इति व्याख्यानेनादोषात् । इत्यनेन सोऽहं वादः परास्तः। सः इति प्रत्यभिज्ञा यत्तदोर्नित्य संबन्धः यः पुरुषः पुरुषार्थवादी परमेश्वरदर्शनाय सूर्य प्रार्थये असौ असौ अयमयं अतिसन्निकृष्टः सः त्वन्मायावशात् विस्मृतत्वत्कैङ्कर्यभावः अहं साहङ्कारः पुरुषः अस्मि। यदि चेत् श्रुत्या ब्रह्मजीवात्माभेदोऽभविष्यच्चिकीर्षितः तदा तदहं अस्मि इत्येवावदिष्यत्। तस्मात् परमात्मजीवात्मभेदो निर्विवादः, अतएव श्वेताश्वतरोपनिषदि-

प्रधान क्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः।

प्रधानं प्रकृतिः, क्षेत्रज्ञः जीवः प्रधानं च क्षेत्रज्ञश्च प्रधानक्षेत्रज्ञौ तयोः पतिः

प्रधानक्षेत्रज्ञपतिः। ननु ''क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत''। इत्यत्र सर्वक्षेत्रेषु क्षेत्रज्ञं मां विद्धि इति जीवात्मपरमात्मनोरभेद उक्तः इति चेन्न। यदि तथा विवक्षितं स्यात् । तर्हि क्षेत्रज्ञमेव मां विद्धि इत्येव ब्रूयात् । इह च अपि इति निपात द्वयमुक्तं, हे भारत! सर्वक्षेत्रेषु वर्तमानं क्षेत्रज्ञं जीवात्मानं तथा तेन सह वर्तमानं मामपि विद्धि, अन्तर्यामितया सर्वत्र तिष्ठन्तं जानीहि इति सर्वमनवद्यम् । ननु ''आत्मैवेदं सर्वं'' व ''सदेह सोम्यो दमग्र आसीत्'' ''एकमेवाद्वितीयं'' इत्यादीना मेकत्व प्रतिपादिकानां श्रुतीनां कथं सङ्गतिः स्यात्? इति चेत् दत्तावधानेन श्रूयताम। मायाजीवात्मनोर्विशेषणत्वात् । राजा याति इत्यादिवत् समाधानं, मायाजीवात्मानौ ब्रह्मणो विशेषणीभूतौ इत्यसकृदवोचामः। सृष्टेः प्राक नामरूपानर्हाणां त्यक्त कार्यकरण कलेवराणां प्रलयकाले परमात्मनि लीनता। यथोक्तं श्रीगीतासु अष्टमे-

> **अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।**
> **रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाऽव्यक्तसंज्ञके** ।। गीता ८-१४८
> **भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।**
> **रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे** ।। गीता ८-१९

एवमग्रे सृष्टेः पूर्वं इदं ब्रह्म सदेव आसीत् स्वस्मिन् निर्लीनजीवजातमभूत्। यथा राजा याति इत्यत्र राज्ञः परिकराणां सैनिकसचिवसाम्राज्ञीहयगजरथादीनां गमनस्य राजगमन एवान्तर्भावः, नैवामीषां पृथक व्यपदेशः। तथैव विशेष्यभूतपरमात्मनो व्यपदेशे विशेषणयोः सदसतोरन्तर्भावात् एकत्व व्यपदेशः। ननु अयमात्मा ब्रह्म, तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि इत्येतेषा त्रयाणां महावाक्यानां श्रौतानां व्याकोपः स्यात् इति चेन् मैवं जल्पीः ब्रह्मास्मीत्यत्र व्यत्ययाल्लुप्ता विभक्तयः टा ङे ङसि ङस् ङ्यः ततश्च सवर्णदीर्घः। तथा हि अहं साधकः ब्रह्मणा अस्मि तेन पालितोऽस्मि इति भावः। ब्रह्मणे अस्मि कस्मै देवाय हविषा विधेयः इति श्रुतेः। ब्रह्मणः सकाशात् अस्मि यतो वा मानी भूतानि जामन्ते इत्यादिश्रुतेः। ममैवांशो जीवलोके इतिस्मृते, ब्रह्मणि अस्मि तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके इतिस्मृतेः। एवं अयमात्मा ब्रह्म इत्यत्र आत्मा पदं परमात्मा परम् आत्मा शरीरे जीवे च जीविते परमात्मनि इति कोषात् । आत्मा यत्नो धृतिवुद्धिः स्वभावो ब्रह्मवर्ष्म च इत्यमराच्च। आत्मा शब्दोऽत्र ब्रह्मपरः। अतएव भागवते श्रीशुकाचार्य।

> **कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्** । भागवत १०-१४-५५

आत्मानं परमात्मानं इति तत्र वंशीधरः । तस्मात्ः अयम् अतिसन्निकृष्ट आत्मा परमात्मा सगुणसाकारं ब्रह्म। एवं तत्वमसि इत्यत्रापि सिंहो माणवकः इतिवत् लाक्षणिकः। यद्वा तच्छब्दोऽत्र त्वं शब्देन सह तत्पुरुषसमासप्रक्रियया समस्तः तेन त्वं तत्त्वं तस्मैत्वं तत् त्वं, तस्मात् त्वं तत् त्वं, तस्य त्वं तत् त्वं, तस्मिन् त्वं तत् त्वं इति पञ्चधा समासः। यदि इदं समस्तं न स्यात् तदा त्वं तदसि इत्येव ब्रूयात्, उद्देश्य वचनं पूर्वं विधेयं च ततः परम् इति नियमात् । एवं सर्वत्र ऊह्यम् विस्तर भियेह न पल्लवयामि किं बहुना-

न कोऽपि जातो जगतीतलेऽस्मिन् ।
प्रपीतवान् स्फीतपयो जनन्याः।।
यो ब्रह्मजीवैक्यमतर्क्य बुद्धया।
संसाधयेत् तिष्ठति रामभद्रे।।

अथ जीव एव कथं नेश्वरः? प्रमाणाभावात् प्रत्यक्षतोऽपि सृष्टिकरणसामर्थ्य-विरहात् न जीव ईश्वरः। अतएव ब्रह्मसूत्रं-जगत् व्यापार वर्जं प्रकरणादसन्निहतत्वाच्च। अनुमानमपि नाव्यभिचरितलिङ्गत्वाभावात् साधकम् शब्दोऽपि-द्वासुपर्णा सयुजा सखाय, पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा, प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः, इत्यादि ब्रह्मात्म-पार्थक्यसाधनप्रमाणप्राचुर्यात् नैव प्रामाण्यमाटीकते। किं च जीवो परमात्मत्व प्रतियोगिक धर्माभाववान् श्रीवत्सलाञ्छनसृष्टिरचनासामर्थ्यविरहात् घटादिवत्। मुक्तः जीवोऽपि मुक्तौ न स्वसत्तां जहाति परं ज्योतिरूपसंपद्य इत्यादिश्रुतेः। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता इत्यादि श्रुतेश्च। अतएव श्रीगीतासु-

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ।।गीता १४-२

ननु नित्यजीवपरमात्मनोः किं वैलक्षण्यं, श्रीवत्सलाञ्छनसृष्टिरचना सामर्थ्यतोऽवगन्तव्यम् । एवं पार्थस्याशोच्यत्वं निरस्यन् तदीयपरमप्रेमास्पदत्वात्-उपेयभूतस्य स्वस्य पूर्वं अहम् इत्यनेन त्रिकालनित्यतां, पुनश्च उपायभूतप्रपत्तौ सहकारितया जीवात्मनः निजप्रपन्नस्यार्जुनादेः त्वमित्यनेन त्रिकालवर्तमानतां, पुनश्च इमे इत्यनेन निजपदपद्मविमुख चतुरशीतियोनितरलनरकभीषणसंसारसागर मग्नमायाभुजङ्गीनीभोगमुक्तभगवद्भजनरसनीरसजीवानां च त्रिकालवर्तमाननतां, इमे

इत्यादिना बहुत्वं च राद्धान्तयाम्बभूवभूतभावनो भगवाञ्छ्रीकृष्णः।

इत्थं दिव्यं द्वादशं श्लोकमेनं
गीताशास्त्रे चाद्वितीये द्वितीये।।
युक्त्याऽभावे शास्त्रतो रामभद्रा-
चार्योऽनर्घ्यैः प्रांतिभैः सत् प्रमाणैः ।।श्रीः।।

"नन्वात्मनो नित्यत्वं बहुत्वं चेतनत्वं चोक्तं, नित्यत्वाच्चात्मनां तदशोच्यत्वं चाभाणि भगवता, परन्त्वात्मनो नित्यत्वे 'चैत्रो मृतो मैत्रो जात' इति जन्ममृत्यु कथमुपपद्येतां, यद्वा आत्मतया नैते शोच्या किन्तु अमीषाम्ः इमे देहाः पश्चान्न दृष्टिगोचराः भविष्यन्ति, किं वा भीष्म द्रोणदित्वेन नैमे पुनर्मयावन्दिताः भविष्यन्ति अतोऽमीषां वियोगे कथं न शोचेयं इत्याशङ्कामपनुदन्नाह भगवान् सदृष्टान्तं श्लोकम्

"देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ।।१३।।

रा० कृ० भा०- अस्मिन् देहे यथा कौमारं यौवनं जरा तथा देहिनः देहान्तरप्राप्तिः, तत्र धीरः न मुह्यति इत्यन्वयः।पूर्वस्मिन् श्लोके अशोच्यमित्यादिना समुपक्रम्य नत्वेवाहमित्यादौ पार्थशोकस्यामूलत्वमुक्तम् । अधुना मोहमपि निर्मूलयितुमुपक्रम्यते- पार्थ त्वया युद्धाकरणेऽपि नेमे चिरं स्थास्यन्ति, देहानां क्षणभङ्गुरत्वात् ।

नित्योऽयमात्मा शरीरान्तरेऽपि प्राप्ते न विकारमापद्यते, निजकर्मवशात् उच्चावचान् शरीरानधिगत्यानालोचितशास्त्रतया आत्मानं देहाविष्टं मन्यमानः सदा मुह्यति। न हि तावदात्मात्म रहस्यज्ञः, अस्मिन् नयनगोचरे स्थूले चिदचिदात्मके देहे जीवोपभोगार्थं भगवन्माययैव निर्मिते षड्विंशतिविकारमये करणकलेवरे यथा येन प्रकारेण क्रमात् कौमारं कुमारस्य भावः कर्म वा कौमारं तदेवास्त्यस्मिन् कुमारभाव कर्मविशिष्टं वयः। यौवनं यूनो भावः कर्म वा जरा वृद्धावस्था यथा येन प्रकारेण अनुभूयन्ते अनिच्छितोऽपि आगच्छन्ति स्वभावतः, तथैव देहः अस्ति अस्य इति देही तस्य देहिनः देह विशिष्टस्य जीवात्मनः, अन्ये देहाः देहान्तराणि मयूरव्यंसकादित्वात् समासः। देहान्तराणां प्राप्तिः देहान्तर प्राप्तिः निजकर्मवशात् उच्चावच देहोपलब्धिर्भ-

वत्यनिवार्यतया, तत्र तस्मिन् विषये धीरः, धियं बुद्धिं ईरयति भगवच्चिन्तने नियोजयति इति धीरः, 'धियं ध्यानलक्षणां बुद्धिं राति भगवच्चरणे समर्पयति इति धीरः भगवच्चरणकमल समर्पित बुद्धिः न मुह्यति न विचलित चित्तो भवति। अत्र दृष्टान्त दार्ष्टान्तिकसमालोचनेन देहिनो नित्यत्वं स्पष्टं ज्ञाप्यते। दृष्टान्ते धर्मद्वेषसंकेतः कौमारादिष्ववस्थासु क्रमेणागच्छतीष्वपि यथा देहे परिवर्तनं न भवति, तथैव एकस्यैव देहिनः देहान्तराणि प्राप्तानि भवन्ति। यथा मानसे श्री भुषुण्डिनः।

''जो तनु धरउ सो परिहरउ अनायास हरियान।
जिमि नूतन पट पहिरहिं नर परिहरहिं पुरान

मानस ७-१०९-३

रूपान्तरम्

यच्छरीरं बिभर्मि स्म त्यजामि तदयत्नतः।
त्यक्त्वा जीर्णं यथा नूत्नं नरो धत्ते खगेश्वर।।

कौमारयौवनजराणां दार्ष्टान्तिके साधर्म्यं तु- देवनरतिर्यकशरीरत्वेन देही पूर्वकृत कर्मानुसारं देवनरतिर्यग्योनिरूपशरीराणि स्वीकरोति। यद्वा कौमारं निरस्त दोषं नित्यभगवत्कैङ्कर्यं यौवनमिव मुक्तानां गुणप्रचुरं भगवत्कैङ्कर्य योग्यम् । बद्धजीवशरीरं अस्मदादीनां जरा इव सर्वथैव भगवत् सेवाऽनर्हं, कुत्रचित् भगवद् भजनमहिम्ना वैपरीत्यमपि, तत्र कौमारमिव श्रीमन्मारूतिशरीरं, यौवनमिव ऋक्ष कपिनिषादादीनां, जरेव जरठस्य जटायुषः। भीष्मादीनां देहान्तरप्राप्तावपि कदाचित् कौमारमिव देवशरीर प्राप्तिर्भवितेति ज्ञाप्त्वोकर्षं त्वया शोको मोहश्च नकार्यः। त्वच्छस्त्र पूता इमे ध्रुवमेव देव शरीराणि प्राप्स्यन्ति। ततो देह विशिष्टत्वेऽपि न शोच्या इमे जीवात्मत्वेऽपि च नित्यत्वादशोच्याः। केषांचित् मरणं शोच्यं भवति, किन्तु केषांचित् सर्वथैवाशोच्यम्। यथोक्तं केनचिदभियुक्तेन- कस्याचिन्महर्षेः सविधे गतवतां राजपुत्रऋषिपुत्रव्याधसाधूनां कृते ऋषिणा दत्ता विलक्षणाशीर्वादचतुष्टयी

''राजपुत्र चिरंजीव मा जीव ऋषिपुत्रक।
जीव वा मर व साधो व्याध मा जीव मा मर।। इति

राजपुत्रस्य जीवनं सुखदं किन्तु दुष्कर्मनिरतत्वात् मरणं शोच्यम् अत आह राजपुत्र चिरंजीव, साम्प्रतिकं सुखं भुङ्क्ष्व पश्चात्तु दुःखमस्न्येव। मा जीव ऋषिपुत्रक-

इदं जीवनं कृच्छ्रसाध्यं ते अतो झटिति म्रियस्व, यथाऽग्रे सुखं मिलेत् । जीव वा मर वा साधो- भगवद् भक्तस्य साधोः लोकद्वयेऽपि सुखमयत्वात् तवकृते जीवनं मरणं चेति द्वयमपि परमानन्दयम् । व्याध मा जीव मा मर-हिंसा निरतत्वात् तवोभयमपि विगर्हितम्। श्लोकेऽस्मिन् भगवतैव जीवात्मनो विभुत्ववादः अन्तः करणावच्छिन्न चैतन्यस्य जीववाद श्चापि निराकतः। यथा एकस्मिन्नेव शरीरे कौमार यौवनजरा इति वयस्त्रयी तथैवैकस्य देहिनः देवनरतिरिश्चां शरीरप्राप्तिः इत्यस्ति श्लोकहार्दम्। अन्तः करणावच्छिन्नचैतन्यं चेज्जीवः, तर्हि अन्तःकरणरूपेषु अवच्छेदवेषु परिवर्तितेषु देहिनि कथं न परिवर्तनम् । ननूपाधिभेदेन व्याख्यानेनादोषः, इति चेन्न, उपाधिविनिर्मुक्तदशायामपि भगवतैव बहुत्वोक्तेस्तत्पक्षनिरासात् । यथा-

"लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ।। गीता ५-२५
महात्मानस्तु मां पार्थ गीता ९-१३

यदि चेत् जीवात्मा विभुः सर्वशरीर संयोगी तर्हि कथं तस्य देहान्तरप्राप्तिः। तस्माज्जीवो नित्योऽणुश्च, एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः मु० उ० ३-१-९। ननु आत्मनो ऽणुत्वे सुखदुःखादीनां अनुभवः कथंस्यात्? धर्मज्ञानविभूतिबलात् ॥ श्रीः ॥

ननु आत्मनो नित्यत्वे अणुत्वे च तत्कृते शोको नोचितः। परन्तु देह विशिष्टात्मनां सुखदुः खादेरनुभूतिर्भवत्येव, तथा हि बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषयत्नधर्माधर्म संस्काराः एते गुणा आत्मन्येव। ततो भीष्मादित्वावच्छिन्नात्मनां शोको दुस्त्यज एव। यद्वा मदस्त्रप्रहारैः भीष्मादीनां पीड़ा स्यादेव इत्यत आह मात्रा इत्यादि-

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनो नित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत २/१४

रा० कृ० भा०- तु यद्यप्यर्थः हे कौन्तेय! कुन्त्याः अपत्यं पुमान् कौन्तेयः तत्सम्बुद्धौ हे कौन्तेय! स्त्रिभ्यो ढक् ४-१-१२० इत्यनेन्। ढक प्रत्ययः। हे कुन्ती पुत्र! तु यद्यपि मीयन्ते अनुभूयन्ते इति मात्राः शब्दादयो विषयाः तेषां स्पर्शाः इन्द्रियैः सह सन्निकर्षजन्यानुभवा इति मात्रास्पर्शाः। शीतं च उष्णं च शीतोष्णे, सुखं च दुःखं च सुखदुःखे शीतोष्णरूपे सुखदुःखे इति शीतोष्ण

सुखदुःखे ते ददति इति शीतोष्णसुखदुःखदाः यद्वा शीतोष्णे च सुखदुःखे च इति शीतोष्णसुखदुःखानि। तानि ददाति इति शीतोष्णसुखदुःखदाः। यत्तु मीयन्ते विषया आभिः इति मात्रा, स्पृश्यन्ते इति स्पर्शाः इति कैश्चिद् व्याख्यातं तन्न मात्रा शब्दस्य क्वापि कोषेष्विन्द्रियार्थत्वानुपलम्भात्। यद्यपि शीतोष्णसुखदुःखे शीतोष्णयोरनियतत्वात् पृथगुक्तिः इति तदपि न। शीतं सुखरूपम् ऊष्णं च दाहकत्वाद दुःखरूपं इत्येव सार्वजनीनप्रातीतिः, स्पर्श सामानाधिकरण्याः तथैव व्याख्यानस्यौचित्यात् । स्पर्शाः कश्चन शीतः, कश्चिदुष्णश्च भवति, तथैव स्पर्श पदाभिधेयाः सम्वन्धा अपि केचनानुकूलवेद्यतया शीतस्पर्शस्थानितया सुखदा। केचन च प्रतिकूलवेद्यतया ऊष्णस्पर्शस्थानितया दुःखदाः भवन्ति। न खल्विमे आत्म धर्मा इति भावः, यदि आत्मधर्मा स्युः तदा नित्यत्वात् नित्यसुखदुःखदा भवेयुः। किन्त्वनात्मधर्मत्वात् इमे मात्रस्पर्शाः आगमापायिनः आगमः उत्पत्तिः अपायः विनाश आगमश्च अपायश्च इति आगमापायौ तौ स्तो येषु ते आगमापायिनः उत्पत्ति विनाशवन्तः। तस्माद् हे भारत! हे भरतवंश प्रसूत! यद्वा भा भगवत्प्रपत्तिबुद्धिः तस्यां रतः भारतः तत्सम्बुद्धौ हे भारत! हे भगवत्प्रपत्तिबुद्धिनिरत! तांस्तितिक्षस्व, यतो हीमे अनित्याः अतस्तान् सहस्व नेमे स्थायिनः। यद्वा मात्रासु पञ्चतन्मात्रासु स्पर्शः अनुभवः येषां ते मात्रास्पर्शाः इमे एव शीतोष्णसुखदुःखदा आगच्छन्त्यपयान्ति च अत एवानित्याः। तस्मात् तान् सोढ्वा संसारसम्बन्धं विच्छेद्य मत् सम्बन्धवान् भव, इत्येव उपदेशसारम् । भीष्मद्रोणादिषु कल्पितं सम्वन्धं जहिहि यन्मूलौ शोकमोहौ ।।श्रीः।।

"नन्वेतेषां तितिक्षायां को मदीयो लाभः इत्यत आह-

"यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ।।१५।।

रा० कृ० भा०- पार्थशरणागतेः पूर्वं भगवता "क्लैव्यं मास्म गमः, इत्युक्त्वा तत्र क्लैव्याशङ्का कृता, किन्तु अनुपदमेव "शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् "गीता २-७। इति वदता पार्थेन स्वीकृतायां भगवच्छरणागतौ त्वरितमेव पार्थमवाप्तसमस्तपुरूषार्थसामग्रीकं विभाव्य भगवतैव पुरुषर्षभ इति सम्बोध्यते शरणागतेः समस्तसद्गुण प्रापकत्वात् । यथा श्रीभागवते-

"भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति-
रन्यत्र चैष त्रिक एककालः।
प्रपद्यमानस्य यथाऽश्नतः स्यु-
स्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम् ।। भागवत् ११-२-४२

हे पुरुषर्षभ! पुरुषेषु भवबन्धनं छेत्तुमुद्यतेषु क्रियमाणपौरुषेषु ऋषभः श्रेष्ठः इति पुरुषर्षभः, तत्सम्बुद्धौ हे पुरूषर्षभः! मत् प्रपन्नत्वात् त्वं नरश्रेष्ठः ततस्तितिक्षितुं समर्थः, अतो धैर्यं मा त्याक्षीः। एते व्याख्यातपूर्वाः मात्रास्पर्शाः यं कञ्चिदपि दुःखं च सुखं च दुःखसुखें समे दुःखसुखे यस्य सः समदुःखसुखः तं समदुःखसुखं दुःखसुखयोः शोकहर्षरहितं धीरं मनीषिणं न व्यथयन्ति न व्यथामापादयन्ति। स एव अमृतत्वाय ब्रह्मभावाय यद्वा "अमृता भक्ति अमृत स्वरूपा च ना० भ० सू० १-१-३" तद् भावाय अमृतत्वाय कल्पते योग्योभवति। प्रेमलक्षणां भगवद् भक्तिं प्राप्नुमर्हतीति भावः। क्लीपि संपद्यमानें च इत्यनेन चतुर्थी। संसार सम्वन्धा यं न व्यथयन्ति, स एव अमृतत्वमर्हति, अतस्त्वमपि संसार संवन्धिषु ममत्वं विहाय तितिक्षमाणः परम श्रेयोरूपं अमृतत्वं प्रापनुहि, इतिहार्दम् ।।श्रीः।।

ननु भवतात्मनो नित्यत्वं प्रत्ययादि अनित्यत्वं च मात्रास्पर्शानाम्, किन्त्विमे कथं व्यपगच्छेयुः कथं वा चामीषां तितिक्षा स्यात् इत्यत आह भगवान् -

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः ।। २-१६

रा० कृ० भा०- इह भगवता ऊँ तत्सत् इत्यमीषां ब्रह्मनिर्देशानां व्याख्यानं विधातव्यं वर्तते। ऊँ तत्सदिति निर्देशः (गीता १७-२३) इत्यग्रे वक्षमाणत्वात् तत्र ऊँ इत्यस्य विवरणे विचार्यमाणे अ उ म इत्यक्षरत्रयी पर्यवस्यति। अकारः वासुदेवः उकार निश्चयः मकारश्च जीवः, तेषां च षष्ठीतत्पुरूषः चतुर्थीतत्पुरुषो वा। अस्य परमात्मनः वासुदेवस्य श्रीरामस्य कृष्णसंज्ञस्य उ निश्चयेन मः जीवः इति। तत्र द्वादशे परमात्मभूतस्य स्वस्य नित्यत्वं, त्रयोदशे च मकारार्थस्य जीवस्य नित्यत्वं निश्चयेन निगद्य, चतुर्दशे मात्रास्पर्शानाम् इन्द्रियविषयसंवन्धानां उत्पत्तिविनाशशालित्वेननित्यत्वप्रतिपादनच्छलेन तेषु निरस्तममभावेन भगवत्येव नित्यसम्बन्धः स्वीकरणीयः इति निर्दिष्टम् । तदनु तत्सतोर्व्याख्यानाय तद् विरोधितया

ह्यासतो व्याख्यानं पूर्वमुपन्यस्यते। नास्तीति असत् तस्य असतः शीतोष्णादि सुखदु:खरूपस्य मात्रास्पर्शात्मकस्य देहस्य अनात्मभूतस्य असतः अस्थायित्वेन विद्यमानस्य भावः सार्वकालिकी सत्ता न विद्यते। अतः सार्वकालिकात्यन्ताभाववत्वात् अनात्मभूतं सर्वमसत् । पुनश्च सतः सर्वदा विद्यमानतैव। विद्यमानम् अस्तीति सत्, तस्य सतः अभावः अविद्यमानता न अपितु विद्यमानतैव। तस्मान्नित्यानित्ययोः भावाभावपर्यवसायिनोर्नैव सामञ्जस्यमिति हार्दम् । अतएव अनात्मभावं परिहाय आत्मभावे स्थातव्यम् । उभयोः अनयोः असत्सतोः अनस्तित्वस्तित्वजुषोः तस्य भावः तत्वं ब्रह्मभावम् । तत्पश्यन्ति तच्छीलाः इति तत्वदर्शिनः तैः तत्वदर्शिभिः इदं शङ्कराचार्यानुरोधेन व्याख्यातम् । वस्तुतस्तु तदिति सर्वनाम सर्वेषां मायाजीवजगदीश्वराणां नाम अभिधानं संज्ञेति यावत् । तथा हि तत् अचित् मायामयं जगत् पुनस्तत् जीवजातं, पुनस्तद् ब्रह्म, तच्च तच्च तच्च इति तानि तेषां भावः तत्वं चिदचिदविशिष्टब्रह्मभावम् । तत्वं पश्यन्ति तच्छीलाः इति तत्त्वदर्शिनः तैस्तत्त्वदर्शिभिः, अन्तः निर्णयः दृष्टः ज्ञातः। तथैव त्वमपि असतो जगतः शारीरस्य सुखदु:खादिजनकस्य विषयेन्द्रियसम्बन्धस्य सर्वथैवानित्यस्यागमापायिनः सता जीवात्मना सममसामञ्जस्यं विभाव्य शारीर सुखदु:खादीन् सहस्व। न तु तैः पराजितो भव ततोऽमृतत्वाय कल्प्स्यसे यतोहि त्वं सत् जीवात्मा मात्रा स्पर्शाश्च असन्तः। एभिः सह कथं सम्बध्यसे।

ननु भावाभावाख्यमिथोविरूद्धसत्ते जुषाणयोः सदसतोः परस्परमसामञ्ज्यस्यं निगदितवत्यपि भवति भगवति वासुदेवे, किमाभ्यां परं किञ्चित्तत्वं, यस्य मिथो विरूद्धाभ्यां भावाभावसत्तासम्पन्नाभ्यां समञ्जसं समन्वयो वा स्यात् । यद् विषये तूरीयपादे त्वनन्तेनाप्रधानतया वृत्तिविशेषणतया किञ्चित् समकेति तार्क्ष्यपुत्रकेतनेन इति पिपृच्छिषसन्तं तत्र भवन्तं पार्थमाह भगवान् पार्थसारथिः-

> ''अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
> विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ।।१७।।

रा० कृ० भा०- तु निश्चयार्थः, अस्ति किमपि तत्त्वमाभ्यां विलक्षणं किमिव इत्यत् आह- तत् इदं सदसद्भ्यां विलक्षणं किन्तु ताभ्यां विशिष्टं, द्वयोः चिदचित्

पर्याययोः सदसतोः विशेषणयोः परस्परमसामञ्जस्ये सत्यपि ताभ्यां परिभूतस्य तत्पदार्थस्य न केनाप्यसामञ्जस्यम् । परस्परविरूद्धयोरपि सूर्यचन्द्रयोः आकाशवत् भगवतः सकलविरूद्ध धर्माश्रयतावच्छेदकताश्रयत्वात् । अतएव श्रीमद्भागवते वृत्रासुरः भगवन्तं समञ्जस इति सम्बोधयति-

> "न नाकपृष्ठं न च पामेष्ठ्यं
> न सार्वमौमं न रसाधिपत्यम् ।
> न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
> समञ्जस त्वा विरहय्यकाङ्क्षे ।। भागवत ६-११-२५

अतो भगवति सर्वस्वसामञ्जस्यात् स एव तत् पदार्थः। तु नासत् पदार्थोऽपि अविनाशि, विनश्यति तच्छीलं इति विनाशि न विनाशि अविनाशि निसर्गतो विनाशरहितं, विद्धि जानीहि। येन यच्च यत् त्यदादीनां सहोक्तौ यत्परं तच्छिष्यते इतिवार्तिकेनैकशेषः। इदं पुरोदृश्यमानं एतच्चिदचिदात्मकं येन सद्रूपेण जीवात्मना, तद्रूपेण च परमात्मना ततं व्याप्तं, तत् सद्रूपं तत् परंच अविनाशि विद्धि। अयं च इदं च तयोरेकशेषः इदं तस्य अस्य "नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम् पा० अ० १-२-६९ इति सूत्रेण एकशेषः एकवद्भावश्च। प्रत्यगात्म परमात्मयुगलस्य न व्येति त्रिकालमपि नोपचयापचयभाव प्राप्नोति इत्यव्ययः तस्य अव्ययस्य उपचयापचयभावरहितस्य विनाशं अदर्शनं हानिं वा कश्चित् कोऽपि देहाभिमानी कर्तुं न पारयति। इत्यनेन स्वरूपतः परतश्च जीवात्म परमात्मनोर्नित्यत्वम् असदभूत जगतश्चानित्यत्वं प्रोक्तम् । परन्तु मिथ्यात्वं निराकृतम् । जगदिदमचित्वादनित्यं, किन्तु न मिथ्या, अनित्यत्वंचात्र ध्वंसप्रतियोगित्वेन, इह ध्वंसश्च द्रव्यस्यावस्थाऽन्तर प्राप्तिः। नन्वेतेन सत्कार्यवादः न विरोधः कपिलस्यापि भगवदवतारत्वात् तमनुरून्ध्महे। ननु मायावदिनां तन्मते विप्रतिपत्तिः स्यान्नाम तेषां वयं तु मायापतिवादिनो न मायावादिनो रामानन्दीयाः श्री वैष्णवाः। अतएव यद्यच्छ्रुत्यनुकूलं तद् ग्रहणे नास्ति विचिकित्सा, तस्मात् सांख्याभिमतमपि प्रत्यक्षाऽनुमानशाव्दमिति प्रमाणत्रयमपि स्वीकुर्मः। ततः सत्कार्यवाद स्वीकारेऽपि न क्षतिः सत एवोत्पत्तिदर्शनात् किं मानम् इति चेत् छान्दोग्यश्रुतिमेव ब्रूमहे-

"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ॥ छा० उ० ६-२-१ असत

कार्यवादो न वैदिकः, अतएव श्रुतिररुचि वीजमनुवदति- "तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत ।।छा० उ० ६-२-१

एके वैनाशिकाः इत्याहुस्तत्र भगवत्पादशङ्कराचार्या अपि। कार्यं कारणे सूक्ष्मरूपेण तिष्ठति, यद्यसतः सदुत्पत्तिरङ्गीक्रियते, तर्हि सिकताभ्यस्तैलं कथं नोत्पाद्यते। वस्तुतस्तु सर्वस्यास्य जगतोऽभिन्ननिमित्तोपादानकारणं भगवान् रामः स एव श्रीगीतोपदेशकाले पार्थसूतिभूय भाति। ननु सत्कार्यवाद स्वीकारे गतो विवर्त्तवादः इति चेत् दीयतां तस्मै तिलाञ्जलिः। वयं त्वविकृतपरिणामवादिनः यथैकस्माद्दीपात् ज्वालितेष्वपि सहस्रेषु दीपेषु नैवासौ विकार्यते। तथैवोत्पाद्य जगदशेषं जगदीश्वरो निर्विकार एवेति विरम्यते ।।श्रीः।।

ननु ओम्तत्सदिति व्याख्यातम् अथासतोऽपि स्वरूपं वक्तव्यमित्यत आह, अथवा भीष्मादिव्यपदेशास्तु शरीराणामनित्यभूतानां नतु शरीरिणः। तेषामन्तश्चावश्यम्भावी त्वं युद्धस्व वा न युद्धस्व इमे तु मरिष्यन्त्येव, अतो माऽनुशोच तमेवार्थमाह-

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ।।१८।।

रा० कृ० भा०- इमे प्रत्यक्षतोऽनुभूय मानाः कर्मफलभोगालयाः कार्यसङ्घातरूपाः देहाः सावयवाः शरीरविशेषाः अन्तवन्तः अन्तः अस्ति येषां ते अन्तवन्तः विनाशवन्तः। ननु यत्र तत्र देहत्वं तत्र तत्रान्तवत्वं सावयवत्वात् घटादिवत् इति नियमश्चेत्, परमेश्वर शरीरेषु नित्यपरिकरशरीरेषु चान्तवत्वापत्तिः? इति चेत् उद्देश्यतायां सन्निकृष्टत्वनिवेशेनादोषात् । यद्यत् सन्निकृष्टत्व विशिष्ट देहत्वं तत्तदन्त वत्वावच्छेदकं, ननूद्देश्यतायां सन्निकृष्टत्वनिवेशने किं मानमिति चेत् इमे इति भगवन्निर्देश एव प्रमाणम् । इदं पदं हि सन्निकृष्टत्वविशिष्टे सक्तम् । नित्यजीवानां परमात्मनश्च शरीराणि प्राकृतचक्षुरविषयतया नैव सन्निकृष्टानि।

"न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा" गीता ११-८

इति वक्ष्यमाणत्वात् । यद्वा अत्र देहशब्दप्रकृत्यर्थेनैव नियाम्यमन्तवत्वं तथा हि देह शब्दस्य प्रकृतिर्दिह धातुः स चोपचयार्थः दिह् उपचये अदादि १०१५ इत्यनुशासनात् । दिहन्ति उपचीयन्ते वर्धन्ते रसरक्तमांसमज्जामेदोऽस्थिशुक्राणि यस्मिन्

स देहः इति, 'हलश्च' इत्यनेन अधिकरणे घञ् । भगवदवतारापन्नशरीरेषु धात्वर्थाभावान्नान्तवत्वप्रसरः, तथैव नित्यभगवत्किङ्करशरीरेष्वपि। यद्वा नायं देहत्वावच्छिन्न पर्यवसायी नियमः, किं तर्हि? यत् किञ्चिद्देहत्व समानाधिकरणमन्तवत्वम् । यद्वा शरीरिणः देहा अन्तवन्तः, भगवान्न शरीरी निरस्त देहदेहि भावत्वात् । इदमेव जीवात्मतः परमात्मनो वैलक्षण्यं, जीवात्मनि तु अनात्मप्रत्यगात्मग्रन्थिः जड़ चेतन ग्रन्थिर्वा, तस्मादनात्मभूत स्थूलशरीरेन्द्रिय मनोबुद्धि व्यतिरिक्तो जीवात्मा तेषां नाशवत्वात् । परमात्मनस्तु सर्वं परमात्मभूतमेव, अतोऽभियुक्ता आमनन्ति-

"आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिम्।
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं नमामि।।

हिमरचित भूर्तौ यथा सर्वं बाह्यमन्तरं हिममेव, यथावा सितशर्करा रचित वाजिनि सर्वाणि तदङ्गानि शर्करैव, तथैव भगवच्छ्रीविग्रहे सर्वं भगवान्नेवेत्यवगन्तव्यम्।। ततो यत्र तत्र शरीरित्वं, तत्र तत्रोपचयधर्मिदेहत्वं, यत्र यत्रोपचयधर्मिदेहत्वं तत्र तत्रान्तवत्वम् । भगवानित्य किङ्करेष्वपि भगवदनुग्रहविशेष महिम्ना शरीरत्वेऽपि नैवान्तवत्वं, तेषां भगवद्वरप्रसादेन निरस्तसप्तधातुतया समतिक्रान्तपञ्चभूत परिधित्वाच्च, तद् देहेषु केवलं भक्ति रसस्यैवोपचीयमानत्वात् । यथा तत्रैव श्रीहनुमति भगवत्याः जनकनन्दिन्याः वरप्रसादेन समाप्तसप्तधातु गुणतया न तत्रान्तवत्वम् । यथा-

"अजर अमर गुणनिधि सुत होउ।
करहु बहुत रघुनायक छोहू ।। मानस ५-१७-३
रूपान्तरम् - अजरश्चामरो वत्स गुणानां च निधिर्भव।
दधातु त्वयि वात्सल्यं सदैव रघुनायकः।।

इति सर्वमनवद्यम् । नित्यस्य उत्पत्तिविनाशंरहितस्य, शरीरिणः शरीराणि नित्यं सन्त्यस्य इति शरीरी तस्य नित्यमेव शरीरावच्छिन्नस्य इति यावत् जीवात्मनः संबन्धिभूताः शरीरिणः इति सम्बन्धे षष्ठी। पुनश्च कीदृक् शरीरी अनाशिनः न नाशशीलस्य। ननु नित्यस्येति कथनेनैव शरीरिणो जननविनाशव्ययवच्छेदे सिद्धे पुनरनाशिनः इति पौनरुक्तिः? इति चेदुच्यते- विनाशो द्विविधः अदर्शनरूपो,

ध्वंसरूपश्च जीवात्मनो ध्वंसं वारयितुं नित्यस्य। द्वितीयं विनाशं च वरयितुं अदर्शनात्मकं अनाशिन इति। आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम् गीता २-२१ इति अग्रे वत्यमाणत्वात्। किञ्च 'णश् अदर्शने' दिवादि ११९४ इति तत्र धातुः। अदर्शनं नाम दर्शप्रतियोगिकप्रागभावः प्रध्वंसाभावश्च, अत्यन्ता भावोऽपि, इहैव गीतायां तथाविध प्रयोगद्वयोपलब्धेः। यथा- तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति गीता ६-३०। इह प्रकरणानुरोधात् दर्शनप्रतियोगिकप्रागभाव एव। "नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा" गीता १८-७३। इह मोहकर्मकदर्शनप्रतियोगिकप्रध्वंसाभावो विवक्षितः, अतो प्रध्वंसदर्शनाभावरूपौ द्वावपि विनाशौ वारयितुं नित्यस्य अनाशिनः इति न पौनरुक्त्यम्।

यद्वा दर्पणनाशात् प्रतिविम्बनाश इव देहे नष्टे आत्मनाशं वारयितुं नित्यस्येति उपाधिनाशेन आत्मनाशे निराकृतेऽपि विम्बनिमित्तकप्रतिविम्ब नाश वारणाय अनाशिनः इति। यद्वा त्रिविधपरिच्छेद वारणाय अनाशिनः इति। किंवा अत्र भगवद् वचनयोरर्थमोषः नित्यस्य इति शब्दस्य उत्पत्तिरहितेस्येत्येवार्थः, अनाशिनः इत्यस्य विनाशरहितस्य यद्वा नित्यस्य उत्पत्तिविनाशरहितस्य अनाशिनः नाशशीलदेहभिन्नस्य इत्यर्थः। वस्तुतस्तु अनाशिनः इत्यस्य नैव णश् धातुतो निष्पत्तिः, कुतस् तर्हि भोजनार्थकादश् धातोः "अश् भोजने" क्रयादि १५२३। तथा हि अश्नाति भुङ्क्ते चतुर्विधम् अन्नं तच्छीलः इति आशी न आशी, अनाशी तस्य अनाशिनः, चतुर्विधान्नभोजनरहितस्य केवलं भगवत्कृपामृत भोजिनः। भोजनं हि शरीरधर्मः, न तु जीवात्मधर्मः। नन्वसंगतमेतत्- प्रकृते भोजनार्थ स्याप्राकारणिकत्वात् , भोजनकाले सैन्धव पदाभिधेयस्य वाजिनोपस्थितिवत्, इति चेन्मैवं वादीः। अणुत्वसाधनाय अनाशिन इत्यस्य भोजनार्थकधातु निष्पन्नत्वावश्यक त्वात् ।स्थूलो हि चतुर्विधमन्नं भुङ्क्ते, नैवाणुः।

"एष्वणुरात्मा" मु० उ० ३-१-९ इति पूर्वमेव उक्तत्वात् , अणुत्वस्य च श्वेताश्वतरोपनिषदि अतिमात्रसूक्ष्मत्वेनाभिधानात्, यथा- "बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च जीवः स एव विज्ञेयः" इति श्रीराघवकृपालब्धसमाधानस्य मम मनीषितम्। अत एवाप्रमेयस्य सामग्र्येण प्रमातुमयोग्यस्य। यद्वा न प्रमेयः अप्रमेयः प्रमेय भिन्नः प्रमाता, एवं भूतस्य प्रमातुः जीवात्मनः संबन्धिभूता इमे देहाः

विनाशिनः। तस्मात् जीवात्मनो नित्यत्वात् देहानां चान्तवत्वात् भीष्मादि देहेषु शोकमोहौ त्यक्त्वा हे भारत! भायां विवेकबुद्धौनिरत, मायां भक्तौ च आसमन्तात् रत! मदादेशं मत्वा युद्धस्व। युद्धरूपं स्ववर्णाश्रमानुकूलधर्मपालनं कुरू। युद्ध्यस्व इत्यनेन न योत्स्ये इति पार्थनिर्णयं प्रत्याचष्टे "शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्" २-७ इति शरणागतौ स्वीकृतायां, त्वं न योत्स्ये इति कथं निरणैषीः। ततो युद्ध्यस्व सम्प्रहाररूपां मदाज्ञां पालय ॥श्रीः॥

"ननु युद्धे प्रवृत्ते भीष्मादीन् अहं हनिष्यामि, मयापूर्वमुलूकंप्रति प्रतिज्ञातमपि, तद्यथा-

"यस्य वीर्यं समाश्रित्य धार्तराष्ट्र विकत्थसे।
हन्तास्मि प्रथमं भीष्मं मिषतां सर्वधन्विनाम् ।।
म० उ० प० १६३

सदर्पपूर्णो न समीक्षसे त्व-
मनर्थमात्मन्यपि वर्तमानम् ।
तस्मादहं ते प्रथमं समूहे
हन्ता समक्षं कुरुवृद्धमेव ।। म० भा० उद्यो० १६३-१२

सूर्योदये युक्तसेन प्रतीक्ष्य
ध्वजीरथीरक्षतं सत्यन्धम् ।
अहं हिवः पश्यतां द्वीपमेनं
भीष्मं स्थात् पातयिष्यामि बाणैः ।। म० भा उद्यो० १६३-१३

तर्हि एतेषां हनने मम प्रत्यवायः स्यात् । यद्वा अहमेव तैर्निघातिष्ये तदा स्वजनान अनुशोचामि, अतएव जीवात्मनो हननकर्तृत्तं कर्मत्वं च निराकुर्वन्नाह-

"य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ।।१९।।

रा० कृ० भा०- किञ्चित्कार्यमुपानस्य पुनः कस्मिंश्चिदपि कार्ये विनियोजनं अन्वादेशः। पूर्वमात्मनः नित्यत्वे, अणुत्वे, व्यापकत्वे च नियोजनं

क्रियमाणमासीत् तन्मध्य एव कर्तृत्व, कर्मत्व निराकरण व्यापारे विनियोज्य परमात्मनैवान्वादिश्यते

"द्वितीया टौस्स्वेनः २/४/३४/ एतेन जीवात्मनः शक्तिमत्तरत्वं परमात्मनि द्योत्यते, एनं नित्यमनाशिनमप्रमेयं जीवात्मानं यः एनम् इमं भगवद्दासभूतं जीवं हतं केनचिन् मारितं, वा मन्यते हननक्रियाकर्मभूतं मन्यते अध्यवस्यति। उभौ तावपि न विजनीतः न विवेकेनावगच्छतः, अयं जीवात्मा अणुत्वान्न न्ति, निरवयवत्वात् न हन्यते नैव भग्नावयवः क्रियते। अणुत्वात् हननकर्तृत्वनिषेधो विधीयते, नित्यत्वा त कर्मत्वं च। तस्मात् त्वं न हनिष्यसि न वा घानिष्यसे, अतो हर्षशोकौ मा कार्षीः। श्रीगीतेयं श्रुतिमूलिका अतएव सकलग्रन्थचूडामणिः भगवतोक्तत्वादेव नास्याः परमप्रामाणिकत्वं, प्रत्युत सर्वज्ञशिखामणिना शिखिपिच्छमौलिना तत्सर्वं श्रुतिमूलकं यथाऽत्रैव-

> "हन्ता चेन्मन्यते हन्तु हतश्चेन्मन्यते हतम् ।
> उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ।।
>
> क० उ० २-१९ ॥श्रीः॥

ननु नित्योऽयमात्मा यदि जायेत यदि वा म्रियेत तदा तु शोच्य एव, कथं तर्हि शोकं मोहं च जह्यम् इमे भीष्मादयः अग्रे गृहीतजन्मानः मम साम्प्रतिक शस्त्रघातमनुस्मृत्य अनुतप्स्यन्ते। अतो नानुचितौ शौकमोहौ इति पार्थ सन्देहं निराकुर्वन्नाह न जायते इत्यादि-

> "न जायते म्रियते वा कदाचि-
> न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
> अजो नित्यः शाश्वनोऽयं पुराणो
> न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।२०।।

रा० कृ० भा०- इह भूत्वा अभविता इत्यकारः प्रश्लेषः शङ्कराचार्योक्तोऽनुचित एव, इतः पूर्वमपि उत्तरत्रापि तच्चटितपाठादर्शनात् "सहचरितासहचरितयोर्मध्ये सहचरितस्यैव ग्रहणम्" इति नियमात् । अभविता इत्यर्थस्यानुपयोगाच्च। किं च शाङ्करसिद्धान्तपथपथिकपूजितपादपद्माभ्यां श्रीमन्मधुसूदनसरस्वतीब्रह्मानन्द गिरिव्याख्यानकर्तु श्रीवेङ्कटनाथवर्याभ्यां दूरत

उज्झितत्वाच्च। इह प्रथम द्वितीय चरणयोः द्विः प्रयुक्तो वाकारः समुच्चयवाची चार्थः, देहात्मवादनिषेधपरो मन्त्रोऽयम् पूर्वमन्त्रस्तु नैयायिकचार्वाकखण्डनपरः। तथा हि यः नैयायिकवैशेषिक सिद्धान्तानुगामी एनं जीवात्मानं हन्तारं हननक्रियाकर्तुभूतं वेत्ति तर्कबलेन जानाति। यश्च चकारश्चार्वाकनिर्देशकः, चरति अज इव श्रुतिसिद्धान्तान् खादति इति चारं तद्एव वाकं यस्य स चार्वाकः। एवंविधो यः श्रुतिसिद्धान्तातिचारी प्रत्यक्षैकप्रमाणवादी देहे हते एनं हतं मन्यते, उभौ तौ गौतमचार्वाकौ न विजानीतः न विवेकेन श्रुतिसिद्धान्तमवगच्छतः। अथवा न विजानीतः, नैव विशिष्टाद्वैततया श्रुतिसिद्धान्तमवगच्छतः अतएव वेदविरूद्धं साहसमनुतिष्ठतः। वस्तुतस्त्वयं न हन्ति नैव कञ्चिद्हिनस्ति, न हन्यते नैवं केनचिद्धिंस्यते। इह हन्ति हन्यत इति कर्तरि कर्मणि लट्लकार दर्शनात् कर्तृवाच्य कर्मवाच्य प्रयोगाच्च जीवात्मनः कर्तृत्वं कर्मत्वं च निरस्यते। ननु आत्मनः कर्तृत्वकर्मत्वनिरसने 'द्यावा"भूमी जनयन्देव एकः" कर्ता सर्वस्य लोकस्य विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता, इत्यादि श्रुतिस्मृतयोः व्याकुप्येरन् इति चेन्न। तासां परमात्मन्येव तात्पर्यग्राहकत्वात् परमात्मकर्तृत्वे च नैव विप्रतिपद्यामहे। इहत्य प्रकरणस्य च जीवात्मपरकत्वात् जीवात्मपरमात्मनोःभिदां च असकृदशींसधाम। एतेन पूर्वमन्त्र पौनरूत्त्यमिह मन्त्रे इति प्रलापो निराकृतः। तथा हि अयं न जायते न वा म्रियते, अयंकदाचित् न भूत्वा न वा भूयः भविता, अयं अजः नित्यः शाश्वतः पुराणः शरीरे हन्यमाने अयं न हन्यते इत्यन्वयः।

अयं "द्वा सुपर्णा" इत्यादि श्रुत्या सखित्वात् सयुत्तवाच्च शरीररूपवृक्षस्य मया सहैव कृतपरिष्वङ्गत्वादपि, ममान्तर्यामिणोऽपि सन्निकृष्टः त्वदादिः इदं पदार्थः। आत्मा शरीरे जायमानेऽपि न जायते, वा तथा न म्रियते, मृतेऽपि शरीरे नोपरमति अजत्वात् नित्यवात् । जन्म मरणे हि शरीरस्य भवतः नैवात्मनः अणुत्वान्निरवयवत्वाच्च। ननु यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते तै० उ० ३-१ सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च गीता १४-२। अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् गीता ६-४५। इत्यादि श्रुतिस्मृतिविरोधः इतिचेन्न। तासां देहावच्छिन्न चैतन्य एव तात्पर्यसमर्पकत्वेनादोषात् । "मृङ् प्राणत्यागे तुदादि १४०३ इतिः अनुशासनम् । प्राणानां च शरीरधर्मत्वं नैवात्मनः, आत्मनस्तु प्राणभूतः परमात्मना, स च अविनाभूत सम्बन्धेन जीवात्माना सह तिष्ठत्येव। ननु नजायतां मा म्रियतांवा मातृगर्भवाससापेक्षः शरीरी, परन्तु गर्भवासनिरपेक्षतया

आकाशवज्जायतां, प्रलये च म्रियतां का आपत्तिः? इति पार्थजिज्ञासां समादधानाः सर्वज्ञशिरोमणिः प्रभुः प्राह नायमित्यादि। अयं जीवात्मा कदाचित् कस्मिंश्चित् काले कस्मिंश्चिद्देशे कस्मिंश्चिच्च जने न प्राग भूत्वा पूर्वकाले न जनित्वा, वा तथा भूयः पुनः अनद्यतने न भविता नैव जनिता। पूर्वोक्तं दृढयति चतुर्भिः यतो हि अजः न जायते अजन्मा, अतएव जायमानत्वासंभवः। यद्वा अकारः वासुदेवः स्यात् इति स्मृतेः "अकारो वै सर्वा वाक् वाग् वै ब्रह्म" इति श्रुतीभ्यां च अक्षराणामकारोऽस्मि गीता १०-३३ इति गीतोक्तेश्च, अकारस्य वासुदेवार्थक्कत्वात् । आत् मदभिधेयात् वासुदेवात् अजायत सृष्ट्यारम्भे कर्मभोगार्थं संसारमाजगाम इत्यजः। शृष्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा इति श्रुतेः। ममैवांशो जीवलोके जीवभूतस्यः सनातनः गीता १५-७ इति स्मृतेश्च, मत्तो प्रथमं जायमानत्वात् पुनरसौ संसारे क्वापि न जायते। भ्रातरिभ्रातुरुत्पत्यसंभवात् । नित्यो ध्वंसवर्जितः अतो न म्रियते, शाश्वतः शश्वन्निरन्तरं भवः शाश्वतः, अतो नायं भूत्वा प्रागभावाभाववान्निति भावः। पुराणः पुरापि नवः अतो भविष्यति भूयो न भविता, जीर्णः सन् भूयो भवति। वासांसि जीर्णानि यथा विहाय इत्यग्रे वक्ष्यमाणत्वात् । अथ कथं तर्हि बाल एव म्रियते, कथं वा अजातोऽपि गर्भस्थो पतति तयोर्जीर्णत्वाभावादिति चेन्न। तत्र जीर्णत्वं न वयकृतं विवक्षितं, किं तर्हि? प्रारब्धकृतं, प्रारब्धे समाप्ते हि शरीर जीर्णता, प्रारब्ध समाप्तिश्चानियता कर्मफलविपाकवैचित्र्यात् । निष्कर्षमाह- शरीरे हन्यमाने हिंस्यमानेऽपि अयं आत्मा न हन्यते तस्मात् भीष्मादिशरीरेषु हन्यमानेष्वपि तदात्मनां हननासं भवात् तद्विषयकशोकमोहावनुचिताविति हार्दम् । अयं मन्त्रोऽपि ईषदानुपूर्वि वैलक्षण्येन दुग्धमिव कठोपनिषद् गवीतो ह्यदोहि गोपालनन्दनेन-

न जायते म्रियते वा विपश्चि-
न्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।
अजोनित्यः शाश्वर्तोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।। क० उ० २-१८

इत्यनेन जीवात्मनो अविक्रियत्वं सूचितम् । किञ्च जीवात्मनः षड् विकाररहित्यमपि सूचितं, यास्केन षड्विकाराः प्रोक्ताः, जायते वर्तते वर्धते, विपरिणमति, अपक्षीयते, नश्यति इति। तत्र प्रथम चरणेन जन्ममृत्यू निषिद्धे

तदनु तृतीयेन चतुर्भिः शब्दैः अस्तित्ववृद्धिविपरिणामापेक्षया निराकृताः। अजत्वात् अस्तित्वं, नित्यत्वात् अपक्षयः, शाश्वतत्वात् वृद्धिः, पुराणत्वात् विपरिणामो निराकृतोऽवगन्तव्यः ॥श्रीः॥

एवं दशभिः श्लोकै निरूपिते दशमस्त्वसीति मन्त्रस्य शक्यार्थे लक्ष्यार्थे च देहात्मवादं व्युदस्य शुद्धात्मतत्त्वं चिन्तयमानो निर्मानो मनीषी स्वत एव हननकर्त्तृत्वाभिमानं जहाति। तथैव त्वमपि हननकर्त्तृत्वाभिमानं त्यक्त्वा शोकं मा कार्षीः मोहं च मा व्राजीः, इत्युपसंहरन्नाह वेदेत्यादि। यद्वा श्लोकदशकेन श्रुतात्मानात्मसिद्धान्तः पार्थः स्वयमेव स्वगतं जिज्ञासते यत्- यद्यात्मा जननमरण रहितो निर्विकारो नित्यो व्यापकोऽणुश्चेतनश्च। तर्हि कथमहं भीष्मादीन हन्यां, कथं भगवाँश्च भीष्मादिहननव्यापारमये युद्धे मां प्रयोजयति। इति पार्थजिज्ञासां शमयन्नकारण करूणावरूणालयो भगवान्नाह वेदेति।

यद्वा न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमहवे गीता १-३१, "एतान्न हन्तुमिच्छामि" गीता १-३५, "निहत्य धार्तराष्ट्रान् नः" गीता १-३६, तस्मान्नार्हा वयं हन्तुम् गीता १-३७, स्वजनं हि कथं हत्वा गीता १-३७ हन्तुं स्वजनमुद्यता गीता १-४५, गुरूनहत्वा गीता २-५, इति सप्तकृत्वः पार्थेन प्रदशित स्वाविष्ट हन्त्रभिमानं निरीक्ष्य तदेव विफलयन्नाह- वेदेति- इत्थं त्रेधा संगतिः।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरूषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ।।२१।।

रा० कृ० भा०- हे पार्थ! पृथायाः अपत्यं पुमान् पार्थः तत्सम्बुद्धौ हे पार्थ! त्वं तु पृथायाः पुत्रोऽसि या मम परमभक्ता तस्मात् त्वत्कृते किं वाच्यम् सर्वथैवाप्राकृतत्वात्। यः साधारणोऽपि इत्थम् उपदेशान्तरम् एनं अचिद् वस्तुतो विलक्षणं देहव्यतिरिक्तं जीवात्मानम् अविनाशिनम्, अविनाशि तु तद्विद्धि गीता २-१७ इत्यादिना विनाशधर्मवर्जितम्, अविनाशी अरेऽयमात्मा इति श्रुतेः । नित्यं, नित्यस्योक्ता शरीरिणः गीता २-१८ इत्यादिना नित्योऽनित्यानां इति श्रुतेः, ध्वंसरहितम् । अजं न जायते इति श्रुतेः , न जायते म्रियते वा कदाचित गीता २-२० इत्यादिना जन्मरहितम् अव्ययं शाश्वतोऽयं पुराणः इति श्रुतेः विनाशमव्ययस्यास्यं गीता २-१७ इत्यादिना सततमुपचयापचयरहितं

वेदश्रुतिस्मृतिसमनुमोदितश्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठसदाचारनिरतसद्गुरूपदेशात् निश्चयेन जानाति। स पुरुषः ध्वस्तात्मकर्त्रभिमानः देहात्मवादं विहाय विदितभगवत्कैङ्कर्यरूपस्वात्मभावः पूर्णः पूणतमाय परमात्मने प्रयतमानः कथं कं घातयति, केन प्रकारेण कं हन्तुमितरं प्रयोजयति। केन प्रकारेण वा कं हन्ति, कश्चित् पुरुषं हिनस्ति। अविनाशित्वान्नित्यत्वात् अजत्वादव्ययत्वाच्च घातनबधयोरसंभवादात्मनः , घातयितुर्हन्तुश्च कथमपि घातयितुं हन्तुमशक्यत्वात् वधप्रयोजनहननयोरानर्थक्याच्च। तस्मात् नाहम् इमान् हन्तुं त्वां प्रयोजयन् त्वया घातयामि, न वा त्वं मया प्रेरितो भीष्मादीन् हंसि, कर्तरिकर्मणिचोभयत्र तादृक् व्यापारफलयोरसंभवात् । कं घातयति हन्ति कम्? इत्यत्र आक्षेपः कथमिति भगवतः पार्थ प्रति प्रतिप्रश्नः । घातयति हन्तीत्युभयत्र वर्तमानसमीपभविष्यति वैकल्पिको वर्तमानप्रयोगः, वर्तमान सामीप्ये वर्तमानवद् वा ३/३/१३१ इत्यनुशासनात् । आत्मनो विदितयाथात्म्यः पुरुषः कथं कंचित् घातयिष्यति कथं वा कंचित् हनिष्यति उभयत्र द्वितीयान्तकिंशब्दात् चित् प्रत्ययः लुप्तवां तदर्थको वा कं इति द्विः प्रयुक्तः, इति भगवतो हार्दमूहितं मया॥श्रीः ॥

ननु यद्यात्मनो घातनहननासंभवे तर्हि कथं जननमरणे विलोक्येते, कथं वा तस्मिन्नुपपद्येते? इति पार्थजिज्ञासां समादधानः प्राह भगवान्मधुसूदनः वासांसीति। यद्वा नैते शोकार्हाः भीष्मादयः , आजन्मतो धर्मपालनात् जर्जरितकलेवरकाः एषां कलेवराणां प्रारब्धमयत्वेन कष्टभोगायतनतया स्वर्गसुखभोगप्रतिबन्धकत्वात् । विषण्णाः त्वदस्त्रसंपातनिर्धूतप्रारब्धतया जीर्णानि कलेवराणि विहाय स्वर्गादि सुखभोगक्षमाणि दिव्यदेहानि प्राप्स्यन्ति। दुर्योधनादयश्च पापकर्माणः त्वदायुधविध्वस्त पापाः स्वर्गं भोक्ष्यन्ते, इत्युभयेऽपि युद्ध एवोपकृता भविष्यन्ति त्वया। ततो व्यर्थम् "अहो बत महत्पापं गीता १-४५" एवमादि तावकीनं परिदेवनम् इममर्थं प्रकटयितुं वास उपमानेनाह-

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ।२२।।

रा० कृ० भा०- यथा येन प्रकारेण विकाररहितो नरः देहविशिष्ट संसारीजनः, जीर्णानि परिधानानर्हाणि वासांसि अधोमध्योर्ध्ववस्त्राणि विहाय ममत्वशून्यः सुखपूर्वकं त्यक्त्वा, अपराणि जीर्णतो विलक्षणानि नवानि प्रत्यग्रं निर्मितानि सुन्दराणि वासांसि गृह्णाति, परिधत्ते। तथा तेनैव प्रकारेण जीर्णानि भुक्तकर्मफलविपाकतया समाप्तप्रारब्धानि, अतएव धारयितुमनर्हाणि शरीराणि त्रीणि स्थूलसूक्ष्माज्ञानमयानि कलेवराणि विहाय सुखेनैव त्यक्त्वा, अयंदेही उपचयधर्मवच्छरीरी अन्यानि पूर्वशरीरतो विलक्षणानि शुभकर्मफलभोगायतनभूतानि सद्य एव निर्मितानि कर्मभोगार्थं प्रारब्धेन, अतएव नवानि नूतनानि देवनरतिर्यग् रूपाणि। देवेषु तावत् ब्रह्मरुद्रकुबेर प्रभृतीनां भगवत् कैङ्कर्योपयुक्तानि। नरेषु दशरथ भरतलक्ष्मणशत्रुघ्नायोध्यकमैथिलनिषादव्रजगोपव्रजाङ्गनाविदुरसुदामादि महाभागवतानां शरीराणि। तिर्यक्षु गजेन्द्रजटायुर्हनुमत्सुग्रीवादिव्रजगवींगोवत्स प्रभृतीनां भगवल्लीलासवौपयिककलेवराणि संयाति अननुभूय गर्भवासदुःखं, सुखेन मत्सेवार्थं प्राप्नोति। तस्मादलं भीष्मद्रोणादिविषयकशोकमोहाभ्याम् । एतेन द्वाविंशेन श्लोकेन श्रीमद्भागवतदशमस्कन्धद्वाविंशाध्यायस्थ- गोपीवस्त्रहरणप्रसंगोऽपि व्याख्यातः । तत्र हि भगवान् गोपीनां वासांसि गृहीत्वा शरीररूपाणि तान्येव निजकरकमलस्पर्शमहिम्ना विध्वस्त भगवदीयकोटि- कोटिजन्मसुकृतैकलभ्य निरतिशयपरमानन्दमय निरस्तनिखिलप्रदोषशङ्का- पङ्ककलङ्कावकाश श्रीव्रजाङ्गनानिर्मल निष्कलङ्कपरमपावनप्रेमपोषक- परमपरिष्कृतपरिष्वङ्गसुखप्रतिबन्धक प्रारब्धानि समनन्तकालपर्यवसायिनी श्रीरासलीलारसास्वादनक्षेमाणि विहाय ताभ्यः प्रायच्छत्। अतएव तत्र प्रावोचद् भगवान् बादरायणिः -

"दृढं प्रलब्धास्त्रपया च हापिता
प्रस्तोभिताः क्रीडनवच्च कारिताः ।
वस्त्राणि चैवापहृतान्यथाऽप्यमुं
ता नाभ्यसूयन् प्रियसङ्गनिर्वृताः ।। भागवत् १०-२२-२२

अतएव च गीता द्वितीयस्थ द्वाविशंस्य वासांसि इति पदं दशमे द्वाविंशे भगवताअसकृतप्रयुक्तं १- तासां वासां स्यु पादाय २- देहि वासांसि धर्मज्ञ ३- स्कन्धे निधाय वासां सि ४- स्वम् - स्वम् वासः प्रतीक्ष्यताम् ॥श्रीः

|| अथ त्रिभिः जीवात्मनः छेदकत्वछेद्यत्वछेदनादि निराकरणच्छलेन कर्तृत्वकर्मत्वकरणत्वानि निराकर्तुमुपक्रमते। तत्र पूर्वं केनाऽपिकर्त्रा विकर्तुमशक्यत्वमाह जीवात्मनः -

''नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारूतः ।।२३।।

रा० कृ० भा०- हे पार्थ! भीष्मादीन् तव गाण्डिवमुक्तबाणाः व्यथयिष्यन्ति इत्यपि न। एनं पृथिवींमतीतत्वात् पार्थिवानि शस्त्राणि न छिन्दन्ति न कृन्तन्ति, नैव द्विधा कुर्वन्तींति भावः। एनम् आत्मानम् अग्नेः परीभूतत्वात् निरवयवत्वाच्च पावकः पुनाति पवित्रयति यस्तथाभूतः न दहति नैव भस्मींकरोति निर्मलत्वात् अग्नेरपि पावनत्वात्। तथैव च आपः विन्दवभिप्रायेण बहुवचनम् आधारबहुत्वाभिप्रायेण वा, जलाधिष्ठातृदेवताः जलानि सरित्सागरप्रालेयमेघमयानि एनं जीवात्मानं न क्लेदयन्ति नार्द्रं कुर्वन्ति सच्चिदानन्दघनत्वात् । जलादपि शक्तिमत्तर एष इति भावः। किं च एनं जींवात्मानं मारूतः गरुदेव मारुतः येन विना येन वर्धितेन वा जना म्रियन्ते स मारूतः इति निरुक्तेः, वायुः न शोषयति, गृहींत परमात्म भक्तिरसतया परमानन्दरसमहासागरं क्षोदिष्ठोऽयं मारूतः न नींरसं कर्तुं प्रभवतींति भावः । इह नैनं इत्यनेन शस्त्राणां पार्थिवत्वात् पृथिव्याः द्वितीयेनाग्नेः, तृतीयेनापां, चतुर्थेंन च चरणेन मारूतस्य जींवात्मनि नियमन निषेधमुक्त्वा तस्य पृथिवींजलतेजोवायुतः श्रेष्ठत्वमभ्यधायी आकाशस्य च प्रतिक्रियाशून्यत्वात् तन्नाम नोक्तम् । यह छिन्दन्ति, दहति, क्लेदयन्ति शोषयति इति क्रियाचतुष्टये शकि लिङ् च ३/३३/१७२ इत्यनेन शक्यार्थे लिङ् ततो व्यत्ययो बहुलम् ३/१/८५ इत्यनेन लट्लकार प्रथमपुरुषबहुवचनैंकबचने एवम् अस्यश्लोकस्य वाक्ययोजना एनं पार्थिवानि शस्त्राणि न छिन्दुः एनं पावको न दहेत् एनं आपः न क्लेदयेषुः मारूतः नशोषयेत्। ।।श्रीः ।।

इत्थं छेदनदाहनक्लेदनशोषणानां कर्तृषु चासामर्थ्यमुक्त्व एषां कर्मत्वानर्हतां जीवात्मनि प्रतिपादयति, अच्छेद्योऽयमित्यादि-

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्याणुरचलोऽयं सनातन २/२४/।। गीता

रा० कृ० भा०- इह पूर्वार्धे विधेयता, उत्तरार्धे च हेतुता निगदिता। हे पार्थ! अयमात्मा अनिष्ठत्वात् पृथिव्याः परत्वाच्च सदैवाखण्डत्वात् शस्त्रैः, नच्छेत्तुं शक्यः इत्यच्छेद्यः, तस्माच्छस्त्राणि नच्छिन्दन्ति। अयं पावकतो ज्यायस्त्वात् न दग्धुं शक्यः अतोऽदाह्यः, तस्मात्पावको नैनं दहति। पुनश्चायं जलतोऽपि क्लेदीयान् ततो जलं नैनं क्लेदयति। तथा चायं मारूततोऽपि जवीयान् ततो मारूतो नैनं शोषयति। ननु कथमयं चतुर्भ्योऽपि पृथिवीजलतेजोवायुभ्यो वरीयान्? इत्यत् आह पञ्चवैशिष्ट्यगर्भशब्दान् । नित्यः उत्पत्तिविनाश रहितः नित्यत्वात् पृथिवीतो वरीयान् अतः पार्थिवानि शस्त्राणि नैनं छिन्दन्ति। ननु तार्किकानां नये पृथिवी नित्याऽनित्या च कार्यरूपेणानित्या, परमाणुरूपेण च नित्या इति चेन्न। "नित्योऽनित्यानां" मिति बह्वर्थप्रदया भगवत्या श्रुत्या जीवात्मपरमात्मनित्यतां समभिदधानयाऽप्येषोऽप्यर्थो न्यगादि- यत् नित्यानां तार्किकसम्मतानां पार्थिवजलीय तैजस्वायवीयपरमाणूनाम् अपेक्षयाऽपि अयं नित्यः परमात्मसखो जीवात्मा। नन्वात्रर्थे किंमानमिति चेच्छुतिरेव इति ब्रूमः- ॐ तस्माद्वा एतस्माद्वा आत्मनः आकाशः सम्भूतः आकाशाद् वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी इत्यादि। यद्यत सम्भूतं तत्तद्नित्यं भवति। ननु तर्हि जीवात्मापि परमात्मतः सम्भूततया ह्यनित्यः स्यान्नाम परमात्मतस्तस्मादनित्यो जीवात्मा। अतएव "नित्योऽनित्यानां" नित्यानां जीवात्मनाम् अपेक्षया परमात्मा नित्यः। नन्वेकैव श्रुत्या युगपद एव कथमर्थद्वयं निगद्येत? प्रकाम सहस्रशोऽर्था निगदितुं शक्याः नानर्थाश्चिन्तामणिभूतया भगवत्या मात्रा श्रुत्या।

सर्वगतः सर्वाणि भूतशरीराणि अगच्छत। अततेर्निष्पन्नत्वात् अतिर्हि सातत्यगमने, ततः सर्वगतः सर्वव्यापी। अतः पावकतोऽपि पर्वायान्, तेजसोऽपि तेजीयस्त्वात् सर्वगत्वाद्धेतोर्नैनं पावको दहति। स्थाणुः-तिष्ठतीति स्थाणुः स्तम्भ इव घनीभूतः अतिकठोरत्वात् नैनमापः क्लेदयन्ति। अचलः न चलतीत्यचलः केनापि स्थानान्तरं प्रापयितुं न शक्यः सरसत्वात् नीरसानि हि पर्णादीनि शुष्काणि स्वेन शोषितरसाणि वायुः स्थानान्तरयति। अयं तु भगवतः परमानन्दरसमहासागरात्संलब्धरसराशितया सागर इवा चलस्तस्मान्नैनं मारूतः शोषयति। अक्लेद्योऽशोष्य एव च इत्यत्र चकारात् आकाशस्यापि समुच्चयः, नैनमाकाशः स्वस्मिन्न काशायति। एतस्मादेव सम्भूतत्वात् "तस्माद्वा एतस्माद वा आत्मनः आकाशः सम्भूतः" इति श्रुतेः।

कथं इत्यत आह– सनातनः सनाशब्दः सदार्थकः। तस्मादव्ययात् सायंचिरंप्राह्णे प्रगे ऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च पा० अ० ४-३-२३ इत्यनेन ट्यु प्रत्ययः अनुबन्धलोपः युवोरनाकौ ७/१/१ इत्यनेन अनादेशः तुडागमश्च सनातनः।

पञ्चभ्योऽप्यथ भूतेभ्यो वरीयांसं वरप्रदम्
सीतावर वरार्हं तं स्वमात्मानं श्रये सदा ।। श्रीः ।।

एवं नित्यत्वादच्छेद्यं सर्वगतत्वाददाह्यं स्थाणुत्वादक्लेद्यं,अचलत्वादशोष्यं सनातनत्वादनवकाश्यम् इति पञ्चभ्योऽपि भूतेभ्यः प्रत्यगात्मनः श्रैष्ठ्यमुक्त्वा। साम्प्रतमेतदीयं मनोवाक्कायानामगोचरत्वं प्राह परमात्मा श्रीकृष्णः-

''अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ।।२५।।

रा० कृ० भा०- अयं वचसां अण्यक्तः, वाण्या न व्यक्तीकर्तुं शक्यते तस्याः कर्मेन्द्रियत्वात् एतस्य च विशुद्धज्ञानमयत्वात् । किंचायं न चिन्तयितुं शक्यः मनसा, तस्य चञ्चलत्वात्, चंचलं हि मनः कृष्ण गीता ६-३४ एतस्याचलत्वात्, अचलोऽयंसनातनः गीता २-२४ इत्यनुपदमेवोक्तत्वात् । किंचायमविकार्यः पञ्चभूतमयेन केनचनापि शरीरेण कदाचनापि विकर्तुं न शक्यः पूर्वमेव पञ्चभूत परतया व्याख्यातत्वात् । एवं वाङ्मनःशरीरागोचरं को नाम वक्तुं शक्नोति? इत्यत आह उच्यते- मन् मयाभिः श्रुतिभिरूपनिषत्सु मयाचात्रैव गीताशास्त्रे तथा चाहु केनश्रुतयः- न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनः । न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात् ।।के० उ० १-३ न चैतद् ब्रह्मप्रतिपादकत्वान्न प्रमाणमिति वाच्यम्, तन्त्रेण द्वयोरपि व्याख्यानेनादोषात् । कस्याश्चिदपि कुलाङ्गनायाः कृते पतिपुत्रयोर्द्वयोरपि वर्णनस्यातिमात्रमभीष्टत्व दर्शनात्। न हि द्वयोरेकतरं विनाऽपि सा मोदते, प्रकृते कुलाङ्गनाशिरोमणेः श्रुतेरपि पतिपुत्रौ परमात्मजीवात्मानौ एको मधुरप्रेमभाजनमपरोवात्सल्य भाजनं चेति, सौभाग्यवत्या सौभाग्ये उभयोरपि हेतुभूतत्वम् । तस्मादियमबन्ध्या सधवा सती सौभाग्यवती। तस्मात् यतोऽयमणुत्वादव्यक्तः केनापि छेत्तुं न शक्यः, यतोऽयं सूक्ष्मतमत्वात् मनसाऽप्यचिन्त्यः चिन्तयितुमशक्यत्वात् त्वया ऽप्यद्वितीय धनुर्धरेण शरव्यी कर्तुमशक्यः। यतोऽयमविकार्यः नव कतमेनापि दिव्यास्त्रेण आग्नेयेन वारुणेन नारायणेन पाशुपतेनापि विकर्तुं न शक्यः ततो हेतोरिति

भावः । एवं पूर्वोक्तं निगमयति-इत्येवंरीत्या एनं जीवात्मानं तव युद्ध्यमानस्य सकाशादुपस्थितायाः कस्याश्चनापि दिव्यास्त्रप्रतिकृतेरविषयं विदित्वा विज्ञाय जीवात्मानं प्रति अनुशोचितुम् अनुक्षणं शोकं कर्तुं नार्हसि न योग्यो भवसि ॥श्रीः॥

अथ त्रिभिरभ्युपगमवादेन मतमवलम्ब्यापि देहात्मवाददृष्टावपि शोकस्ते सर्वथैवानुचितः इत्यत् आह प्रभुर्भक्तवत्सलः अथेत्यादि श्लोकत्रयात्मकम् -

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथाऽपि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ।।२६।।

रा० कृ० भा०- अथ च इति पक्षान्तरे, यद्यपि परमात्मजीवात्मनोर्नित्यता श्रुतिसम्मता, प्रत्यगात्मायं देहेन्द्रियमनोबुद्धितो विलक्षणः इत्यपि श्रुत्या राद्धान्तितम्। तथापि चार्वाकादिसम्मतं देहात्मवादमनुश्रित्यापि यदि त्वं जीवात्मानं नित्यजातं नित्यं यथा स्यात्तथा जातं, वा तथा नित्यमेव मृत, मृतम् मरणमस्त्यस्मिन् इति मृतः तं मृतं मरणधर्माणं मन्यसे स्वीकरोसि। तथापि तस्मिन्पक्षे स्वीकृतेऽप्यश्रुतिसम्मते हे महाबाहो! महान्तौ बाहू यस्य तथाभूतः तत्सम्बुद्धौ तव बाहू मया गृहीतौ बाहु शब्दोऽत्र लोकपरलोकसूचनपरः। लोकपरलोकरूपौ मया गृहीतौ अतएव महान्तौ ते बाहू न हि केनापि रिपुणा छेत्तुं शक्यौ इत्येव सम्बोधनाभिप्रायः। एवं प्राकृत इव विसृष्टसशरगाण्डिवः शोचितुं शोकं कर्तुं नार्हसि ॥श्रीः॥

जन्ममृत्यू अपरिहार्यौ येन जन्मगृहीतं स मरिष्यति, यो मृतः स जनिष्यते इति संसारस्य ध्रुवो नियमः। तत्र ते शोकेन किं भविष्यति? अत आह-

"जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्ममृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ।।२७।।

रा० कृ० भा०- हि हेतौ यतो हि जातस्य गृहीतजन्मनः प्राणिनः मृत्युः मरणं ध्रुवः निश्चितः न केनापि लंघितुं शक्यः, च तथा मृतस्य त्यक्तप्राणस्य जन्म प्रादुर्भावः ध्रुवम् अवश्यम्भावी। तस्मात् ततो हेतोः अपरिहार्ये अनिवार्ये अर्थे जन्तोर्जन्ममरणविषये रूपे त्वं जन्ममरणविवर्जितः विशुद्धात्मा इमान् देहविशिष्टान् भीष्मादीन् प्रति शोचितुं शोकं कर्तुं नार्हसि न योग्यो भवसि। यदि जन्तोः जन्म

मृत्यू सर्वसमर्थोऽहमपि परिहर्तुं न प्रभवामि तर्हि तव शोकेन कथमिमौ परिहारयितुं शक्यौ। तस्मान्निष्प्रयोजनकस्ते शोकः॥श्रीः॥ ननु भवतु नाम जन्ममरणयोरपरिहार्यता किन्तु येषां श्रीचरणकमलेषु पूजापुष्पाणि प्रहितचराणि तेषु कथं निशितान् बाणान् प्रहिणोमि इति शोचामि, इति पार्थशोकबीजमपनुदन्नाह सकल शोकापनोदनो भगवान् मदनमोहनः अव्यक्तेत्यादिः।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ।।२८।।

रा० कृ० भा०- भरतेषु भवः भारतः। तत्सम्बुद्धौ हे भारत! हे भरतवंश प्रसूत! यद्वा आहे भगवति मयि आदरेणरतः इति भारतः तत्सम्बुद्धौ हो भारत। हे मच्छरणागत पार्थ! अव्यक्तं सृष्टेः पूर्वं नामरूपानर्हा आदि जन्मनः प्रागवस्था येषां तानि अव्यक्तादीनि। नामरूपानर्हजन्मप्रागवस्थानि। तथा व्यक्तं नामरूपयोग्यं मध्यं जन्मानन्तरावस्था जन्मग्रहणं वा येषां तानि व्यक्तमध्यानि। किञ्च अव्यक्तं अनवलोक्यं निर्लीननामरूपं निधनं मरणं मरणानन्तरावस्था वा येषां तानि अव्यक्तनिधनानि। एव एवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदार्थः। आभ्यः परा न कापि चतुर्थ्यवस्था भूतानाम् । येषां जन्मप्रागभावः प्रध्वंसाभावश्चापि अव्यक्त एव। न वा जन्मतः पूर्वं केनापि दृश्यानि न वा जन्मनः पश्चात् । केवलं मध्यमेव दृश्यम् । अस्मिन्नेवाल्पकालिके मध्ये कलत्रपुत्रधनधान्य जननीजनकभ्रातृभगिना-दुहितृमित्रप्रभृतिस्नेहानुबन्धिनो भङ्गुराः सम्बन्धा अपि युज्यन्ते। एवं विधेषु तत्र तेषु भूतेषु विषयीभूतेषु का परिदेवना किमर्थः शोकयुक्तः प्रलापः। प्रथमाध्याये अष्टविंशमारभ्य यावत्षटचत्वारिंशं सार्धाष्टादशैः श्लोकैः पुनर्द्वितीये चतुर्थमारभ्य आनवमात् त्वया निरर्थकमेव विहितः।एतावत्कालं मन्नामरूपलीलाधाम्नां कृतं स्याच्चेत्संकीर्तनं तदा महामङ्गलं कृतं स्यात् श्रीहरेर्मम मङ्गलायतनत्वात् । तथाचामनन्ति पौराणिकाः-

मंगलं भगवान् विष्णुः मंगलं गरुडध्वजः।
मंगल पुण्डरीकाक्षो मंगलायतनं हरिः।।

तथा च श्रीमद्भागवते-

यन्नामधेय श्रवणानुकीर्तनाद् यत्प्रह्वणाद्यत्स्मरणादपि क्वचित् ।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते कुतः पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात्

अथैतस्य श्लोक त्रयात्मकस्य प्रकरणस्य श्री राघवकृपास्फुरितो नवीनो ऽप्यर्थो भाष्यते- महाकुलप्रसूतस्या:कुन्त्या: महता तपसा समाराधित रूपस्य केनोपनिषदि भगवत्योमया समुपदिष्टब्रह्मविद्यस्य छान्दोग्योपनिषदि च प्रजापते: सकाशात् प्राप्तपरमात्म जीवात्मयाथात्म्यस्य हविर्भुजां प्रथमस्य वृद्ध श्रवस: पुरन्दरस्य तेजोमयांशेन लब्धजने:, साक्षात्परमेश्वरश्रीकृष्णसखस्य पार्थस्य नोचितं नास्तिकमतावलम्बनम् । ततश्चेतरथा श्लोकत्रयार्थो व्याख्यायते। अथचेत् इत्यवधारणे। निपातौ। यदि चेत् पौन: पुन्योपदेशेन त्वमर्जुन:, एवं प्रत्यगात्मानं नित्य जातं , नित्यात् मत्परमात्मन: सकाशात् जातं संसारार्थं तच्छरीरात्पृथाग्भाव: यस्य स: नित्यजात: तं नित्यजातं जीवात्मानं परमात्मनि कृतनिवासमपि, भगवदिच्छयैव तच्छरीरात् प्रादुर्भाव्य संसारे प्रेषितम् । किन्तु ध्वंसवर्जितम् । संसारे सरन्नपि जीवो महाकालेनापि न ध्वस्यते केवलं शरीराण्येव नाश्यन्ते इति। अतएव अमृतं मरणधर्मवर्जितम् । यद्वाम्रियन्ते इतिमृतानि अकर्मकाद्वर्तमाने कर्तरि क्त: मृतानि शरीराणि सन्ति यस्य इति मृत: मृतं मरणधर्मशरीरवन्तम् न तु मरणधर्माणम् मन्यसे स्वीकरोषि यदि चेत्तथापि तदा तु हे महाबाहो! त्वम् एवम् अज्ञातब्रह्मविद्य इव शोचितुं नार्हसि। यतो हि जातस्य जन्मवत: मृत्युर्ध्रुव:। यदि जीवात्मना जन्यत एव न हि तदा कुतस्तस्य मृत्यु:? मृत्योरभावे च बन्धुवियोगजन्मशोक: कथम्? यो वै मरण धर्मा तस्य जन्मध्रुवम् । यदि जीवात्म मरणधर्मवर्जितस्तदा-तज्जन्माप्यनुपपन्नम् । तस्मात् अपरिहार्ये अकारेऽहं वासुदेव: तेन मया परिहारयितुं संसारसागरान्मोचयितुं शक्ये अर्थे सर्वैरपि मुमुक्षिभि: अर्थनीये स्वस्वरूपभूते प्रत्यगात्मनि विषये अनुक्षणं शोचितुं नार्हसि। अथ नेमं शोचामि न वा देहविशिष्ट शोचामि अहं तु पृथिव्यादीनि पंचभूतानि शोचामि। मया निहतभीष्मादिशरीराणां पंचभूतानि क्व गमिष्यन्तीति?

अत आह- अव्यक्तादीनि इत्यादि:। अव्यक्तोऽहं परमात्मा। अव्यक्ते परमात्मनि आदि: जन्मपूर्वावस्था येषाम्। एवमेव अव्यक्ते चर्मेन्द्रियैरग्राह्ये मयि वासुदेवे अक्षरे निधनं मरण पश्चाद्भाविनी अवस्था येषां तानि अव्यक्तनिधनानि। किञ्च व्यक्ते संसारे मध्यं जन्ममरणयोर्मध्यावस्था येषां तानि। यद्वा अव्यक्तात् आदि: जन्म येषां तानि अव्यक्तादीनि। अस्यायमर्थ:- जन्मत: पूर्वं सम्पूर्णानि भूतानि मय्येव तिष्ठन्ति युगप्रारम्भदिवसात्पूर्वम् रात्रौ इति यावत् । पुनश्च दिवसावसाने ब्राह्मण: सायन्तने काले मय्येव निर्धायन्ते प्रलयं यान्ति। केवलं

जन्ममरणयोर्मध्यावस्थैव एषां मध्ये संसारे तिष्ठति। अतोऽमीषु को नाम प्रलापः। इमेऽपि मयि यथा आदावन्ते च तथा त्वमपि। तर्हि कुतोऽमीषां त्वद्वियोगः, यदीच्छा अमीषां दर्शनस्य तर्हि मयि दृष्टुं प्रभविष्यसि। यदि चेत् शरीरविशिष्टानां दिदृक्षा तर्हि व्यक्तमध्यानि व्यक्ते साधुपरित्राणाय दुष्टविनाशाय धर्मसंस्थापनाय च वसुदेवसद्मनि समवतीर्ण सकलनयनगोचरे मयि व्यक्ते मध्यं सशरीरभूतग्रामं येथां तथा विधानि तानि भूतानि मम शरीरे पश्येः। न चिरादेवैकादशे निजमुखे इमान् त्वां दर्शयिष्यामि। अग्रे त्वमेव कथपिष्यसि यथा तत्रैव-

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपाल संघः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः
१/११-२६

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गै ।।११-२७।।

अत्र श्रुतिरपि-यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभि संविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म। (तै० उ० ३/१) एवं श्रीमदाद्यरामानन्दाचार्य-चरणारविन्दपरागचिन्तनविमलीकृतमनीषस्य मम श्रीसीताराम कृपया समनुभूत भगवद्भावस्य बुद्धौ प्रकाशितोऽयं प्रकरणार्थः माधवस्त्रायताम् ।।श्री।।

अथ प्रकरणं निगमयन् आत्मतत्वं दुर्ज्ञेयम् अनेकजन्मविहितसुकृतविधूत दुरितपरमात्मगुरुदैवतप्रसादविध्वस्तपरमार्थतत्वबुभुत्साप्रतिबन्धकप्रत्यवायनिकाय भगवल्लीलाधाममनोऽभिराम श्री चित्रकूटायोध्या श्री वृन्दावन कुरू क्षेत्र श्रीमद्द्वारिका ब्रजभूमिप्रयाग प्रभृतितीर्थनिषेवणश्रोत्रियब्रह्मनिष्ठपरमेश्वरपदपद्मप्रयत्न सद्गुरुदेवसाधुमहात्मवृन्दवृन्दारकाश्रीमच्चरणकुशेशयधूलिलव विमलीकृतकाय भक्तभगवद्गुणसंकीर्तनपरिपावितरसनामनोवचसां विमलात्मनां महात्मनां हृद्येव भासते। अतः प्राह पार्थसारथिर्भगवान् -

''आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति, श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ।।२।२९।।

रा० कृ० भा०- दुर्ज्ञेयमेतदात्मतत्त्वम् । अतएवात्र श्लोके त्रिषु चरणेषु

दर्शनकथनश्रवणे आश्चर्यं न्यरूपि। एतत्प्रसङ्गसामञ्जस्याय चैतत्समानान्तरः नचिकेतो यमसंवादो विभावनीयः। औद्दालकिर्वाजश्रवाः आरुणिः वृद्धाः गाः ब्राह्मणेभ्यो ददानो मां कस्मै दास्यसीति निजेन पुत्रेण कुमारेण नचिकेतसा कृतप्रश्नः मृत्यवे त्वां ददामि। अनन्तरं यमसदनं प्राप्तो नचिकेता अनन्नजलस्त्रिरात्रमुषितः प्रत्यागतेन पत्नीप्रेरितेन यमेन वरत्रयवरणार्थमभ्यर्थितः प्रथमेन पितृपरितोषं द्वितीयेन स्वर्ग्यमग्निं तृतीयेन चात्मविद्यारहस्यं वव्रे। वरद्वये दत्ते तृतीय विकल्पे यमेन बहुशः प्रलोभितो नचिकेता-

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः । अन्यवरं नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् । अर्थात् अस्मिन् पुरा देवैर्बहुधा संशयितं इदं (क० उ० १/२१) अणुत्वा दत्यन्तगहनम् । अन्यं वरं वृणीष्व इमं त्यज इत्यधिकारि परीक्षणार्थं भयं प्रदर्शितो नचिकेता पुनर्न्यवेदयत् -

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल त्वं च मृत्यो यन्न सज्ञेयमात्थ। वक्ताचास्य त्वाहगन्योन लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् पुनश्च यमेन धनधान्यादि भौतिक पदार्थैं दर्शितलोकन। (क० उ० १/२२) बभूवे-

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून् पशून् हस्ति हिरण्यमश्वान् ।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि।।

किञ्च यमेन शतायुष्कपुत्रपौत्रहस्तिगवाश्च (क० उ० १/२३) प्रभृतीनां प्रलोभनं दत्तं स्पष्टमुक्तं चापि यत् देवदुर्लभानां सर्वेषां कामानां समूहं देवदुर्लभानि ललनाललामानि सार्वभौमं समग्रान् देवोचितान् भोगान् किन्तु आत्मविषये किमपि मानुप्राक्षीः-

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान्कामाश्छन्दतः प्रार्थयस्व।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः।।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः।
(क० उ० १/२५)

यत्तु मरणसम्बद्धमिति शंकराचार्येण व्याख्यातं तन्न। वस्तुतस्तु हे नचिकेतः! मां मरणं अनु मा प्राक्षीः। यद्वा हे नचिकेतः! मस्य देहविशिष्टस्य जीवस्य अरणं

शरणं इति मरणम् । हलन्तस्य मकारस्य जीवार्थत्वं तन्त्रे प्रसिद्धम् । अतएव नम इत्यत्र मः मम न इति व्याचक्षते। अतएव च राम इति बीजमीमांसायां र आ म् इति त्रीणि पदानि विच्छिद्य आमनन्त्याचार्याः।

रकारार्थो भवेद् रामो मकारो लक्ष्मणः स्वराट् ।
तयोः संयोजार्थाय सीता आकार उच्यते।।

एवं प्रोलोभितोऽपि नचिकेता न तत्याज स्वमीप्सितम् । प्राह च-

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ।।
(क०उ० १।२६)

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा।
जीविष्यामो यावदी शिष्यसित्वं, वस्तुमे वरणीयः स एव ।।
(क. उ.१२७)

एवं बहुशः प्रलोभितमपि आत्मतत्त्वजिज्ञासा बद्धादरं नचिकेतसं सादरं प्राह यमः-

श्रवणीपि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यों वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः।।
(क०उ० २।७)

एतद् गहनतामाह– त्वं तदात्मतत्वं जिज्ञासेसे य आत्मा बहुभिर्जनैः श्रवर्णायापि नाधिगतो भवति। केचन एव भाग्य- भाजनानि श्रवणयैवं विपिण्वन्ति। बहवश्च श्रुत्वापि नैनं जानन्ति। अस्य आत्मतत्वस्य प्राप्तकर्ता कुशलो वक्तापि आश्चर्यवानेव भवति। एवं कुशलेन वक्त्रा अनुशिष्टः एतस्य ज्ञातापि आश्चर्यमयः सर्वसाधारणतो व्यतिरिक्तो भवति। एवं कठप्रसिद्ध गहनममाहात्म्यं आत्मतत्त्वं भगवान् पार्थाय पुरमकारुणिकत्वाद् आंजस्येन कथयति आश्चर्यवदिति।

कश्चित् कोऽपि सुधीः एनम् आश्चर्य इव आश्चर्येण तुल्यम् आश्चर्यवद्य-यथा स्यात्तथा पश्यति साक्षात्करोति। अत्र दृशिर्हि ज्ञानार्थकः दृशोज्ञोनात्तर्थकत्वे त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ् च ३।२।६० इत्यानालोचनार्थकदृशः कञ्

विधानमेव मानम्। तथैव च कश्चिद् अन्यः आत्मदृष्टुर्विलक्षणः एवम् आश्चर्यवत् आश्चर्यमिव वदति। एवमेव अन्यः कश्चित् एनम् आश्चर्यवत् आश्चर्येण तुल्यमेव शृणोति श्रवण विषयं करोति। अन्यः कश्चित् गुरूमुखात् श्रुत्वापि न वेद नैव जानाति। किमहं न ज्ञास्यामि नेत्थम् -"यस्य देवे परा भक्तिः यथादेवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।" इति श्रुतेः। परमात्मरूपे गुरूरूपे च मयि भक्तिमत्वात् त्वयीमेऽर्थाः प्रकाशिष्यन्त एव। केचिदिह नकारं सर्वत्रावर्तयन्ति। तन्मते एनं कश्चिद् आश्चर्यवत् न पश्यति तथा चैव अन्यः कश्चित् एनम् आश्चर्यवन्न वदति। कश्चिद्। एनम् आश्चर्यवन्न शृणोति। कश्चित् श्रुत्वाप्येनं न वेद। तत्प्रौढिवादमात्रम्। कठश्रुत्येकवाक्यता विरोधात्। श्रुतौ सर्वत्र न निषेधः। बहूनां निषेधः। तद्यथा-

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः।
(क० उ० २।७)

इह पूर्वार्धे निषेधार्थकं नकारद्वयं। यः बहुभिः अनधिकारिभिः श्रवणयापि न लब्ध न प्राप्तः। बहवश्च शृण्वन्तोऽपि यं न विद्युः न ज्ञातवन्तः इति श्रवणे ज्ञाने च बहूनां निषेधः न तु सर्वेषाम्। सौभाग्यतस्तृतीय चतुर्थ चरणयोः न नकारः अस्य लब्धा आत्मज्ञानप्राप्तकर्ता कुशं अज्ञानं लुनाति छिनन्ति इति कुशलः। तादृशो वक्ता आश्चर्यः अद्भुत एव भवति न सर्वसाधारणः तेन कुशलेन अवशिष्टः अस्य ज्ञातापि आश्चर्यः अद्भुत एव। किञ्च यदि नकारा वृत्तिर्बहुमतैव तर्हि द्वितीयचरणस्य एवकारोऽप्यावर्तनीयः। अतः कश्चिदेव एनम् आश्चर्यवन्न पश्यति। सर्वेतु पश्यन्त्येव साश्चर्यम्। कश्चिदेव एनम् आश्चर्यवन्न वदति। बहवः साश्चर्यं वदन्ति। कश्चिदेव अन्य एव एनम् आश्चर्यवन्न शृणोति, तथा कश्चिद् श्रुत्वाप्येनं न वेद। यद्वा 'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मा वेत्तितत्वतः (गीता ७।३)

इति वक्ष्यमाणरीत्या सहस्रेषु कश्चिदेव एवं प्रत्यात्मानम् आश्चर्यवत् अद्भुतत्वयुक्तं पश्यति। अत्र त्रिष्वपि आश्चर्यवच्छब्देषु मतुबन्ततैव। एवं पश्यत्स्वपि सहस्रेषु अन्यः ततो विलक्षः तथा कश्चन स्वयं पश्यन्नपि परोपदेशसामर्थ्यवान् सन् एनं प्रत्यागात्मानम् आश्चर्यवद् वदति। पुनश्च श्रोत्रिषु

श्रवणायोपस्थितेषु सहस्रेषु कश्चिदेव आश्चर्यवत् आश्चर्य इव आश्चर्यवन्तमिमं शृणोति। शृण्वत्स्वपि कश्चिदेवं विधोऽपि भवति यो न वेद विरोचन इव न जानाति। यद्वा-"आत्मावा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रच्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्" (वृहदार० २।४।५) इति श्रुत्यनुसारं आत्मनः श्रवण मनननिदिध्यासनपूर्वकं दर्शनं विहितम्। द्रष्टव्यः इति विधेयम् । कथं द्रष्टव्य इत्यत आह-श्रोतव्यः अनन्तरं मन्तव्यः। अनन्तरं निदिध्यासितव्यः। यस्त्रिविधोपाय शून्यः सः श्रुत्वाऽपि नैवावगन्तुं पारयिष्यति इति श्रौत सिद्धान्त एवात्र दर्शितः । कश्चिदेनम् आश्चर्यवत् अद्भुतमिव पश्यति न साधारणतया। तथा कश्चिदन्यः आश्चर्य वद् वदति वनमिह निदिध्यासनम् । अत्रैव मननस्याप्यन्तर्भावः । यद्वा तथैव च तथा एव च इति निपातत्रयेण आश्चर्यवत् मनुते इत्यस्याप्यध्याहारः। वदतीत्युपलक्षणं वा अन्यः सर्वसाधारणतो भिन्नः एवम् आश्चर्यवत् शृणोति अद्भुतमेव शृणोति। च एव श्रवणमनन निदिध्यासन हीनः अव्यवस्थितः श्रुत्वा अपिरेव कारार्थः केवल श्रुत्वाअमत्वा अनिदिध्यासित्वा च कश्चिदपि एनं न वेद इत्येव गीतायाः हार्दम्। अन्वयस्तु चतुर्थचरणस्य इत्थम् -च श्रुत्वा एव। एवकारेण मनननिदिध्यासयोगव्यवच्छेदः। केवलं श्रुत्वा विहायमनननिदिध्यासने एनं कश्चिदपि न वेद इति नवीनोभावः। अतएव श्री रामचरितमानसे भगवता पुष्पवाटिका प्रकरणे-'कंकण किंकिणि नूपुररूप' श्रुति वाक्येभ्यः श्रवणं हृदयविचाररूपमन्नं लक्ष्मणसमक्ष कथनरूपं निदिध्यासनं कृत्वैव आत्मतत्वभूतायाः श्री सीतायाः दर्शनं चक्रे।

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि।
कहत लखन सुनि राम हृदय गुनि।
मानहु मदन दुन्दुभी दीन्हीं।
मनसा विस्व विजय कहुँ कीन्हीं ।। मानस बाल २।३०॥

मदनोऽत्र आत्मदर्शनानन्दः । माद्यति जनो येन स मदनः इति व्युत्पत्तेः। 'मदी हर्षसम्मोहयोः इत्यनुशासनात्। एतेन पुष्पवाटिकायां श्रीरामं कामआगच्छत् इति वदन्तः परास्ताः रूपान्तरम् -

श्रुत्वा ध्वनिं कंकण किंकिणीजं
सीतापदाम्भोरूह नूपुरोत्थम् ।

विचार्य किञ्चिद् हृदये खरारिः
प्रवक्तुमैषीत् किल लक्ष्मणाग्रे।।

एतन्मिषेण मदनो दुन्दुभिचं न्यनीनदत् । जगज्जयाय किं वासौ मनसा समकल्पयत्। यद्वा कः सुखस्य रूपः चित् चेतनः प्रमाता कश्चिदेनं आश्चर्यवत् आश्चर्यं ब्रह्मास्त्यस्य तथाभूतम् आश्चर्य वन्तं पश्यति न तु ब्रह्मणा व्यतिरिक्तं जानाति। देहव्यतिरिक्ततया जानन्नपि अविनाभूत सम्बधेन ब्रह्मसहितमेव तमध्यवस्यतित एवं कः भगवद्दर्शना ह्लादमयः चित् चिनोति अर्थ-पञ्चकज्ञानं यस्तथाविधः आश्चर्यवत् वस्तुभूतमेव एनं वदति स्तौति। ब्रह्मव्यतिरेकेण तु तं निन्दत्येव। यथा वाल्मीकीये श्रीमद्रामायाणे-

यश्च रामं न पश्येत्तु यं च रामो न पश्यति।
निन्दितः सर्वलोकेषु स्वात्माप्येनं विगर्हति। (वा० रा० २।१७।१४)

द्वाभ्यां चकाराभ्यां सीतालक्ष्मणयोरपि संग्रहं:। अतएव पुनः श्री सुन्दरकाण्डे श्रीद्रामायणे श्रीमदंजनानन्दवर्धनः प्राह-

नमोऽस्तु रामसय सलक्ष्मणाय,
दैव्यै च तस्यै जनकात्मजायै। (वा० रा० ५।१३।५९)

भावार्थश्च इह सीतालक्ष्मणाभ्यां सहितं विशिष्टाद्वैतरूपं श्रीरामं न पश्येत् न विधेयतया द्रष्टुं प्रयतते। तथा च अन्यः बुमुक्षुजीवतो भिन्नो मुमुक्षुः एनम् आश्चर्यवत् सर्वाश्चर्यमयब्रह्मयुक्तं शृणोति। ननु एवमिति द्वितीयान्तस्य आश्चर्यविदिति कथं विशेषणम् इति चेत् - आर्षत्वान्नपुंसकता। अतएव पूर्वाचार्याः गीताश्लोकान् 'मन्त्र' इति व्यपदिशान्ति। न च आश्चर्यवदिति किमर्थं त्रिरुक्तं इति चेत् (द्वा सुपर्णा) इति मन्त्रे ब्रह्मणा सह जीवस्य साहचर्यं समनुवदितु मिति ग्रहाण। सयुजा सखाया परिषिष्वजाते इति त्रिरुक्तिः। त्रिरुक्तौ कोऽभिप्राय इति चेत् त्रिकालाबाधत्वेन ब्रह्मजीवसाहचर्यं ध्वनयितुं त्रिरुक्तिः। कश्चित् एनम् अनाश्चर्य वत् श्रुत्वापि न वेद न जानाती। इति जगद्गुरु श्रीमदाद्य रामानन्दाचार्यचरणाविदेषु मामकीनः प्रतिम प्रसूनाञ्जलिः । अथ प्रसंगमुपसंहरति निगमनविधिना-

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्यभारत।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि (२।३०)

रा० कृ० भा०- हे भारत! भायां विवेक बुद्धौ रत! हे विवेकशालिन् इति भावः। अयं मयोनविंशतिश्लोक्या समुपवर्णितयाथात्म्यः देही। नित्यं देहाः सन्त्यस्मिन्निति देही। जीवात्मा सर्वस्य जीवजातस्य देहे शरीरस्य हृद्देशे वर्तमानः नित्यमेव वर्तमानः अवध्यः नैव वधमर्हति। तस्मात्सर्वानि भूतानि भीष्मादीनि अभूवन्निति भूतानि 'भूते क्तः' प्रेतभावं गतानि द्रौपद्याः केशकर्षणात्पूर्वं अभूवन्। तदन्तरं मया निहतत्वान्मृतानीतिभावः। अतो भूतभावं गतानि त्वं शोचितुं नार्हसि प्रत्युत साम्परायिकं कारयितुम् अर्हसि। अत एवाग्रे वक्ष्यमाणे मयैवैते निहताः पूर्वमेव' (गीता ११।३३) मया हतान् (गीता ११।३४) इति भगवदुक्ती संगच्छेते।

आत्मानात्मप्रसंगोऽयं पार्थायाच्युतभाषितः।
श्रीराम भद्राचार्येण व्याख्यातोऽस्तु सतां मुदे।
समुदायनुरोधेन शास्त्रमालोड्य यत्नतः।
व्याख्याता विंशतिश्लोकी सीतेशकृपया मया।।

गीतां स एव जानातु येनागीयत गीतिना।
संसारसागरे मज्जन् मद्विधो वेत्तु हा कथम् ।।
तथापि तत्पदाम्भोज चिन्तनाश्रितचेतसि।
यद्भातं तदिह प्रोक्तं वैष्णावानां मुदे मया।। श्रीः।

अथाष्टभिः प्रसंगोपात्ततया स्वधर्मोपदेशेन युद्धस्यावश्य कर्तव्यतां निर्णेतुं प्रथमाध्याये समुत्थापिता पार्थ शङ्का निराचिकीर्षन् प्राह हरिः-

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।। (२।३१)

रा० कृ० भा०- च इति पक्षान्तरे। लोकेऽपि स्वधर्मः स्वोधर्मः स्वधर्मः। आत्मीयो धर्मः स्वस्य आत्मनः स्वस्य क्षत्रियजातेः वा धर्मः स्वधर्मः। तं स्वर्धम्ः अपि अवेक्ष्य गम्भीरतया समालोच्य त्वम् एवं विकम्पितुं नार्हसि न योग्यो भवसि। इत्यनेन प्रथमाध्यायस्य ऊनत्रिंशः त्रिंशश्च प्रत्युत्तरितः। तत्र हि पार्थेन निगदितं- 'वेपथुश्च शरीरे मे' इत्यस्य प्रत्युत्तर दत्तं भगवता-न विकम्चितुमर्हसि। वेपथुर्हि विकम्पनपर्यायः। यदि चेद् वेदान्तविचारं यावत्किंचित्क्षणं

दूरे कृत्वा धर्म- शास्त्रमेवं पर्यालोचये तथापि तव वेपथुर्नोचितः। कथमिव विकम्पसे, कथमिव ते गात्राणि सीदन्ति, कथमिव मुखं शुष्यति कथञ्च रोमांचितो भवसि। कथं न भवेयमित्यत अदृ धर्म्यादिति। त्वया सप्तमे शिष्यभावेन श्रेयो जिज्ञासितं-यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे (गीता २।७)। तत्र पूर्वं वर्णानुसारं श्रेयः कथ्यते। हि यतो हेतोः क्षत्रियस्य 'जात्याख्यायां एकवचनम्'क्षत्रियत्व जात्यवच्छिन्नस्य क्षत्रियमात्रस्य धर्म्यात् - धर्मादनपेतात् युद्धात् अन्यत् किमपि न श्रेयः। अत युद्धमेव तव कृते श्रेयः। यतस्त्वं क्षत्रियः। युद्धे भूत हिंसा न पापम् इति चेत् नेत्याह- धर्म्यात् ।

संग्रामादनिवर्तित्वं प्रजानां चानुपालनम् ।
सुश्रूषणं ब्राह्मणानां राज्ञां निःश्रेयसं परम् ।।

इति वचनात् ।

किञ्च-संग्रामान्न निवर्तेत राजधर्ममनुस्मरन् ।
समोत्तमाधमैश्चापि समादृतो नृपोत्तमः।

इत्यापि। त्वं न चिरादेव उलूकद्वारेण दुर्योधनेनाहूतः ततो मा निवर्तस्व इत्युपदेशाभिप्रायः। श्रीः।

किञ्च त्वयोक्तं नकांक्षे विजयं कृष्ण! न च राज्यं सुखानि च (१।३२) स्यान्नाम ते विजयराज्यसुखानामाकांक्षा परन्तु स्वर्गं तु कामयसे। अतएव नरकाद् विभेषि। यदि नाभेष्यः तदा कथं नरकम् अचर्चीशिष्यः नरके नियतं वासो इत्यादि (२।४४) तव भाग्यवशात् तवाग्रेऽधुना स्वर्गद्वारमुपस्थितम् अत आह-

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ! लभन्ते युद्धमीदृशम् ।। (२।३२)

रा० कृ० भा०- चकारः समुच्चयार्थः। हेपार्थ! पृथापुत्र! यत् स्वर्गद्वारम् त्वयां वेदव्यासप्रेरणया महताप्रयत्नेन पुरन्दरकृपया चाधिकृतं तत्राप्युर्वशी शपात्त्विं क्लीबता गतंः। अधुना तु तत्स्वर्गस्यद्वारं यदृच्छया दैवयोगादेव तपस्यादि कृच्छ्र साधनामन्तरेणापि अत्रैव कुरुक्षेत्रे उपपन्नम् समुपस्थितम् । नदपि दुर्योधनादिभिः अपावृतम् उद्घाटितकपाटम् अपगतं अवृतम्. अवर्ण यस्मात्

तत् अपागतम् इदं तवापि श्रेयसे तव प्रतिपक्षिणामपि। यदप्युक्तं-स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव तस्योत्तरं-सुखिन इत्यादि। (गीता १।३७)

ईदृशं धर्म्यं दैवयोदुपस्थितं स्वर्गद्वारं च इवार्थोऽपि स्वर्गद्वारं च अपावृतं स्वर्गाद्वार मिव। युद्धमेतत् सुखिनः भाग्यसुखवन्त एव क्षत्रियाः लभन्ते प्राप्नुवन्ति। तस्मात् आहवे स्वजनं हत्वा सुखिन एव भविष्यथ। अतो युद्धे घटस्व। श्रीः।

अथ पापमेवाश्रयेदस्मान्। (गीता १।३६) इत्यस्य प्रत्युत्तरमाह वचनरचना नागरो नन्दनागरः-

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि। (२।३३)

अथेति पक्षान्तरे, चेत् यद्यर्थे। अथ अन्यदपि-यदि त्वम् इमं चिरकाल-प्रतीक्षितं धर्म्यं परमधर्मरूपं-

गुरूं वा बालवृद्धौवा ब्राह्मणंवा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् (८।३५२)
नाततायि वधे दोषो हन्तुर्भवति कर्हिचित् ।
इति च मनुना धर्ममूलकत्वेन वर्णितत्वात्
आहूतो न निवर्तेत द्यूतादपि रणादपि।

इत्यनुशासनाच्च। धर्म्यं धर्ममयं संग्रामं युद्धं न करिष्यसि ततः तदन्तरं स्वधर्मं क्षात्रधर्मं कीर्तिं च यशश्च हित्वा व्यक्त्वा पापं रणपराङ्मुखत्वात् अधर्ममवाप्स्यसि। तव निवर्तनेऽपि आततायिनस्त्वां हनिष्यतन्त्येव। ततः परावृत्य रणे हतः पापभागेव भविष्यसि। अतः पापमेवाश्रयेदस्मान् इति तु न युद्धे पापम् त्वामाश्रयिष्यति अपि तु युद्धाद्विरमन्तमेव। ।श्रीः।

ननु भवेन्नाम पापं, किन्तु विगतशोकोर्जीवन् शतं भद्राणि द्रक्ष्यामि, इत्यलं युद्धेन, इत्यत आह- अकीर्तिमित्यादि-

''अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ।।३४।।''

रा० कृ० भा०- चकारः पक्षान्तरे, त्वयोक्तं "जीवन्नरः भद्र शतानि पश्येत्" इति अभियुक्तोक्तिं चरतिार्थयता, किन्तु यदि युद्धं न करिष्यसि, तदा पापमवाप्य स्वाकीर्तिमपि न तिरोधातुं प्रभविष्यसि। ते तव पुरन्दरलोकेऽपि प्रख्यापितधनुर्विद्या प्रभावस्य सव्यसाचिनः अव्ययां अविनाशिनीं अकीर्तिं युद्धात् पलायनरूपां भूतानि सामान्याः अपि जनाः कथयिष्यन्ति, अन्योऽन्यं प्रतिख्यापयिष्यन्ति। इमामपकीर्तिं शृण्वन् किं जीवो जिजीविषिष्यसि, च तथा हि संभावितस्य महादेवादिसंग्रामे प्राप्तसम्मानस्य तव इयमकीर्तिः मरणात् मृत्योरपि अतिरिच्यते अतितरां कष्टदायिनी भवति इयं सूक्तिः। सम्मानमाधिगतस्य अपकीर्तिः मृत्योरपि दुःसहतरा, यथोक्तं मानसे श्रीराघवेण-

> "संभावित कहं अपजस लाहू।
> मरण कोटि सम दारूण दाहू। मानस २-९५-७

रूपान्तरं -

> संभावितस्य लोकस्य लाभो ह्ययशसः किल।
> कोटि मृत्यु समः दुःख दाहदो ह्यातिदारूणः।।

तर्हि अनेन जीवनेन किं करिष्यासि, यत् कोटिमरणेभ्योऽप्यतिरिच्येत, ततो युद्ध्यस्व ॥श्रीः॥

"ननु सामान्याः अविज्ञातमदभिप्रायाः पलायमानं मां निन्दन्तु। किन्तु ये मां जानन्ति ते तु प्रशंसन्त्येव, इति आशासानं पार्थमाक्षिपन् प्राह भगवान् वसुदेव नन्दनः भयादित्यादि-"

> "भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।"
> येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ।।३५।।

रा० कृ० भा०- त्वं पूर्व भीष्मादीनां बहुमतः बहुसम्मानभाजनं भूत्वा, इदानीं युद्धात्पराङ्मुखो लाघवं समरभीरुत्वरूपलघुतां यास्यसि। भीष्मस्य पार्थंप्रति बहुमतत्वे वचनम् -

> "किरोटी बलवान् पार्थः कृतास्त्रश्च महारथः।
> को हि पाण्डुसुतं युद्धे विषहेत धनंजयम् ।।"

''अपि वज्रधरः साक्षात् किमुतान्ये धनुर्भृतः।
त्रयाणामपिलोकानां समर्थ इति मे मतिः ।।
म० भा० उद्यो० २१-६-७

द्रोणोक्तिश्च विराटपर्वणि-

नदीजलङ्केशवनारिकेतु-
र्नगाह्वयो नाम नगारिसूनुः।
एषोऽङ्गनावेषधरः किरीटी
जित्वाहवं नेष्यति चाद्य गावः ।। म०भा० विरा० ३९-१०

स एष पार्थो विक्रान्तः सव्यसाची परंतपः।
नायद्धेन निवर्तेत सर्वैरपि सुरासुरैः ।।
म० भा० विराट० ३९-११

''क्लेशितश्च वने शूरो वासवेनापि शिक्षितः।
अमर्षवशमापन्नो वासवप्रतिमो युधि।
नेहास्य प्रतियोद्धारमहं पश्यामि कौरवाः।। ३९-१२
महादेवोऽपि पार्थेन श्रूयते युधितोषितः ।
किरातवेषप्रच्छन्नो गिरौ हिमवति प्रभुः।।
म० भा० विरा० ३९-१३

तत्र गूढत्वात्प्रथम श्लोकार्थो व्याख्यायते- द्रोणः पार्थं प्रसंशन् प्राह– नदी गङ्गा तस्यां जातो नदीजः तत् सम्बुद्धौ हे नदीज हे गङ्गापुत्र भीष्म। एषः अयं अङ्गनावेषधरः नारीवेषधारी, लङ्केशवनारिकेतुः लङ्केशोरावणः तस्यवनं अशोक वनिका तस्य अरिः अशोलवननाशकत्वाच्छत्रुः स लङ्केशवनारिः हनुमान् स एव केतौ यस्य स लङ्केशवनारिकेतुः। लङ्कापति रावणाशोकवनिकाविनाशकाञ्जनेयारूढपताकः, नगच्छतीति नगः वृक्षः तस्य आह्वयम् नाम अर्जुनमिति यस्य स नगाह्वयः अर्जुन वृक्षनामा नाम इति प्रसिद्धौ। नगानां पर्वतानां अरेः शत्रोः पर्वतपक्षशातनस्य इन्द्रस्य सूनुः पुत्रः किरीटी इति प्रसिद्धनामा, अद्य आहवं युद्धं जित्वा वः: युष्माकं गाः युष्माभिर्हताः नेष्यति विराटनगरं प्रापयिष्यति। एवं तव पक्षीयाणामपि पूर्वं त्वं बहुमतो भूत्वा, इदानीं लघुतां गमिष्यसि, तदा ते महारथाः स्वपक्षाः

परपक्षाश्च त्वां रणाद्युद्धात् भयाद्धेतोः उपरतं विरतं पलायितं च मंस्यन्ते। न तु कृपया त्यक्त युद्धं स्वीकरिष्यन्ति। अतो महतामपि त्यक्तयुद्धोनादरभाग्भविष्यसि।। श्रीः।।

ननु मन्यन्तां मां भयादेव युद्धादुपरतं, तेन किम्, अहं तु स्वजनान् अहत्वा सुखी भविष्यामि, इति धारणां निरस्यन्नाह श्रीहरिः अवाच्यवादान्निति-

"अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ।।३६"

रा० कृ० भा० - सा व धारणापि ते निर्मूला इमानहत्वा त्वं सुखी न भविष्यसि। तथा चेमे तव समरतोषितशङ्करस्य निर्दग्धखाण्डववनस्य निहतनिवातकवचस्य पुरन्दरशिक्षितस्यापि देवविस्मापकमलौकिकं सामर्थ्यं रणकौशलं धनुर्वेदपाण्डित्यं च, निन्दन्तः गर्हमाणाः, तव अहिताः विशेषेण कर्णादयः जयद्रथमुखाः। अवाच्यवादान् न वक्तुं योग्यान्, ततः किमपरं दुःखतरं दुःख प्रदतरं, अतो युद्धयस्व ।। श्रीः।।

"ननु चोक्तं "न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो, यद्वा जयेमः यदि वानो जयेयुः" इति गीता २-६, तस्य उत्तरम् उभयमपि श्रेयस्करं विजयः पराजयश्च इत्यत, आह हतोवेत्यादि-

"हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ।।३७।।"

रा० कृ० भा०- वा इति पक्षान्तरे, यदि युद्धे शत्रुभिर्हतः तदा स्वर्गं प्राप्स्यसि, यदि वा विजयी भविष्यसि तदा शत्रूञ्जित्वा पृथिवीं भोक्ष्यसे, अथवा पृथिवीं जित्वा भोगाननु भविष्यसि। तस्मात् उभयोरपि जयपराजययोः, श्रेयस्त्वात् हे कौन्तेय कुन्तीपुत्र! युद्धाय कृतो निश्चयः येन तथा सन् उत्तिष्ठः। रथोपस्थ उपाविशत इति विगर्हते-

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डल भेदिनौ।
योगिनो योगयुक्ताश्च सम्मुखेऽभिहतो रणे ।।श्री।।

"ननूभयज सुखदुःखता सपा विजये कुटुम्बं शोचिष्यामि पराजये ग्लानिमनुभविष्यानि" इत्यत आह सुखदुःखस-

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय जुज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ।।३८।।

रा० कृ० भा०-ततः शब्द तसलिन्तः, हेतुवाचकतस्मादर्थकसुखं च दुःखं च सुखदुःखे समे कृत्वा तयोर्निरस्तरागद्वेषो भूत्वा। लाभः इष्टोपलब्धिः न लाभः अलाभः हानिः। लाभश्च अलाभश्च तौ लाभालाभौ लाभ-हानि समौ कृत्वा, जयः शत्रुपराभवः विजयः। न जयः अजयः पराजयः जयश्च अजयश्च जयाजयौ विजयपराजयौ समौ कृत्वा, एवं लाभालाभयोः जयपराजययोश्च समत्वबुद्धिमास्थाय युद्धाय रणाय युज्यस्व उद्यतो भव। एवं न कुर्वन् पापं प्रत्यवायमेव अवाप्सयसि लप्स्यसे। यद्वा एवं कुर्वन् पापं न अवाप्स्यसि अपितु पुण्यमेव। इत्यनेन पापमेव श्रयेदस्मान् (१।३६) कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितम् (१।३९) अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् (१।४५) इत्यादि सर्वं निराकृतम्।

महापूर्वपक्षः- ननु आत्मनिरूपणं विंशति श्लोक्या भगवता व्यधायि। त्रिशत्तमे श्लोके च "तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि (२।३०) इत्यनेन उपसंहारोऽपि दर्शितः। अनन्तरमेव कर्मयोगस्य वक्तव्यता, तर्हि कथं अष्टश्लोक्या व्यवधानमापादिता सा? इति चेत्, ज्ञानयोगानन्तरमेव कर्मयोगो वक्तव्य एवेति नास्ति राजाज्ञा, भगवतो द्वारिकाधीशस्य कृते। परमेश्वरस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रत्वात। स्वतन्त्रोऽपि परमात्मा शास्त्रार्थाचरणे स्वच्छन्दः किम् ? नैवम् । तस्यलीला यामेव कथंचित् स्वाच्छन्द स्यानुज्ञातत्वात् । किं गीतोपदेशः लीला? नैवम् । किन्तर्हि? चरित्रभाग एषः। कथन्तर्हि व्यवधानम् ? अत्र नास्ति किमपि शास्त्रं नियामकम् । ननु तृतीये "लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ। ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्म योगेन योगिनाम्" (३।३) इत्यनेन भगवतैव निष्ठाद्वैविध्यस्य प्रोक्तत्वात् ज्ञानयोगानन्तरमेव कर्मयोगो वक्तव्यः? इति चेत् लोकविषयतया निष्ठाद्वैविध्यविधानेन पारिशेष्यात्, परलोकार्थ भक्तियोगविधानात् अर्जुनस्य च उपचाराल्लौकिकत्वात् परमार्थतश्च नित्यपरिकरत्वेन

सर्वथैव पारलौकिकत्वात्तत्कृते भक्तियोगोपदेशस्य मध्ये वक्तव्यत्वेन तार्तीयकव्याख्या मस्य निर्दूषणत्वमभ्युपेयम्। ततश्चेयमष्ट श्लोकाभक्तिपरकैव। ननु श्लोकानामर्थावगमे सामान्यतो नैकमपि भक्ति योगसूत्रमुपलभामहे, स्वधर्ममित्यादौ, नैवं पापमवाप्स्यसीत्यन्तायाम् अस्याम् अष्ट श्लोक्याम्? इति चेत्! नैव शास्त्रविचारे गम्भीरहृदयोभवाम् । नैव शास्त्राणि सामान्यधिया विचार्यन्ते तत्रापि श्रीकृष्णस्तु नामतो रूपतश्च त्रिवक्रः। 'कृष्ण' इत्यत्र अक्षरत्रयं वक्रमेव। रूपतोऽपि त्रिभङ्गललितोऽयमतो 'बाँके बिहारी' त्यभिधीयते। तथैव एतच्चारित्र्यामपि नहि सामान्यधिया ध्येयम् । अस्मिन् महाभारतयुद्धस्थल सामन्यतो निःशस्त्रो विलोक्यमानः कियदपूर्वं अभिनयति यन्निरायुधोऽपि सर्वानपि ग्रहीतपरमदिव्यायुधान् अदृश्यमानो मारयित्वा पार्थं प्रति प्राह मायाविमुकुटमणिः। मयैवैते निहताः पूर्वमेव, निमित्तमात्रं भव सव्यसचिन् । महाभारते आत्मनो निरायुधतां प्रतिजानींते विचित्रं वञ्चनं वञ्चकशिरोमणेः। कृष्णाकेशकर्षणकाले एव सर्वे परभटा एतेन निहताः "कचस्पर्शच्छतायुष" (भागवत १।८।६)

अतः निहतचरान् प्रति कथं शस्त्राणि उत्थापयेत् ततो निश्शस्त्रता समुचितैव। न कोऽपि वीरो मृतकान् मारयति अतो वीरोचित मर्यादां निर्वहता भगवता निरायुधेन पार्थसारथ्यमङ्गीकुर्वता लोके कौरवपाण्डवयोर्मध्ये ताटस्थ्यं निदर्शयतापि परमार्थतो महान् प्रपन्नपक्षपातो व्यधायि प्रपन्नपारिजातेन स एव वक्रिमात्रापि भगवतो विभावनीयः।

अथ श्री राघव कृपया विचार्यते, पुनश्चैषाष्टश्लोकी स्वधर्मं (२।३१) गीतेयं शास्त्रम् । 'इति गुह्यतमं शास्त्रम् इति भगवतैवोक्तत्वात् । किञ्च' सर्वशास्त्रीय गीता' (महाभारत भीष्मपर्व ४३।२। १५।२०) इति वैशम्पायनेन जनमेजयं प्रति कथितत्वाच्च। शास्त्रं नाम शासनात् शंसनाच्च। "शासनाच्छंसनाच्च" इति हि तत्र नैरुक्तयम् । शंसति शास्ति यत्तच्छास्त्रम्। ज्ञान शून्यस्यैव हि शंसनम् शासनं च समुपपद्यते। तस्मात् अज्ञातज्ञापकत्वं शास्त्रत्वम् इति हि प्रामाणिकाः। तस्मात् त्रिंशे ज्ञाननिष्ठां समुपसंहृत्य ऊनचत्वारिंशतः च कर्मयोग-निष्ठां वर्ण यिष्यमाणां विभाव्य, तन्मध्ये सरस्वतीमिव सुगोपनीयरहस्यां प्रपन्नजनहि तैषिणीं निजसरस्वतीं समवतारयति सारस्वन सार्वभौमोभगवान् - स्वधर्ममित्यादि-भिरष्टाभिः। चकारः पक्षान्तरे। अथ प्रपत्तिपक्षतो

व्याचक्षे हे क्षत्रियस्य? निजपरा क्रमेण सुभटान् क्षत्रियान् स्यति नाशयति इति क्षत्रियस्यः तत्सम्बुद्धौ हे क्षत्रियस्य। क्षत्रियशब्दात् कर्मो-पपदात् "षोऽन्तकर्मणि" इत्यस्मात् उणादयो बहुलम् ३।३।१ इत्यनेन अच् प्रत्यये "दिवादिभ्यःश्यन्" इत्यनेन बाहुलकात् कृदन्ते परेऽपिश्यन् विकरणे 'औतः श्यनि' इत्यनेन ओकार लोपे श्यनः शकारस्य 'लशक्वतद्धिते' इत्यनेन इत् संज्ञायां 'तस्य लोप' इत्यनेन लोपे नकारस्याप्यनुबन्ध कार्यें विभक्तिकार्यें क्षत्रियस्यः। तत्सम्बोधने हे क्षत्रियस्य। हे विपक्षक्षत्रियवीर्यनाशक।" शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्" (२।७) इति निजोत्त्यैव त्वं साम्प्रतं प्रपन्नः। अतः स्वस्थ मां प्रपन्नस्य मच्छरणागतस्य तव भागवतस्य धर्मः स्वधर्मः। स च लोकधर्मतो विलक्षण,। तं अवेक्ष्य पालयितुं निश्चित्यापि विकम्पितुं नार्हसि। भगवच्छरणागतो भूत्वा कथमहं हिंसानिरतो भवेय मिति मा स्म कम्पथाः। हि यतोहि युद्धं नाधर्ममयम् प्रत्युत मदाज्ञारूपत्वात् धर्म धर्म्यमिव। अत आह- धर्म्यात् । किञ्च अहं कृष्णो धर्मः" धर्मो धर्म विदां श्रेष्ठः इति विष्णु सहस्रनाम सकीर्तत्वात् ।" ततस्तु धर्मोऽन्तरितो महात्मा' (महाभारत ३।६७।४६) धर्मात् अनपेतं धर्म्यम् धर्म 'पश्यर्थन्यायादनपते (४।४।९२)' इत्यनेन अवपेतार्थे यत् तथाहि धर्मात् मद्रूपात् श्रीकृष्णात् अनपेतं धर्म्यम् । मदाज्ञारूपत्वात् नैव मत्तः पृथग्भूतम् । एवं धर्म्यात् धर्मरूप मदात्मक कृष्णात्पृथग्भूतात् अन्यत् किमपि न श्रेयः । शरणागतस्य मदाज्ञा पालनं धर्मः। स चेद् युद्धरूपस्तर्हि त्वया आनन्दित व्यम् न तु विकम्पितव्यम् । अयमेव हि ममानुकूल्यस्य संकल्पः। एतदकरणमेव मत्प्रातिकूल्यम् तच्चत्वया वर्जनीय मेव। इत्येव प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् । 'उत्तिष्ठ परन्तप' (२।३) इत्याज्ञायां दत्तायामपि नोत्तिष्ठसि परलोक भिया। रक्षिष्यतीति विश्वासः युद्धे एव। मया लोकपरलोकौ ते रक्षिष्येते। ततो युद्धकरण एव शरणागते स्तृतीय विधाया रक्षिष्यतीति विश्वासः इत्यस्याः परिपालनम् । यदि मां गोप्तृत्वेन वृतवानसि तदा न योत्स्ये इति कथं स्वातन्त्र्येण निर्णयः। अतो युद्ध एव गोप्तृत्ववरण रूपायाः तूर्य विधायाः परिरक्षणम् यदि कार्पण्यं दैन्यं तदा न योत्स्ये इति कथं मम निराकरण् । न हि दीनो दीनबन्धुं निराकुर्यात् अतो युद्धे पंचम शरणागतिः। यदि चेदात्मनि क्षेपः मयि सर्व समर्पणम् तर्हि समस्त कुटुम्बगमत्व विहाय युध्यस्व इत्येष एव स्वधर्मस्ते। तस्मादिमं युद्धरूपं स्वधर्ममवेक्ष्य विकम्पितुं

नार्हसि। असो मा विषीद, प्रसीद। प्रपत्तियोगरूपं धर्मं पालय इति प्रथमश्लोक निगूढार्थः। यदृच्छया (२।३२) अन्ये भरतादयो भागवता मदाज्ञारूप स्वधर्मपालनं प्रतीक्षन्ते। तव कृते तु यदृच्छया अकस्मादेव अपावृतम् भग्ना वरणं अन्यासु आज्ञासु व्यञ्जनादि व्यापार जृंमितत्वात् सावर्णता। अत्र तु अभिधायामेवउत्तिष्ठ "तस्माद् युद्धयस्व भारत"। इति साक्षादर्भिदधानेन मया स्वयमेव निरावरणता कृता अतो अपावृतम् निष्कपाटं स्वः स्वर्गलोके श्रीयते इति स्वर्गं, साकेत गोलोक महावैकुण्ठात्म्कं तस्य द्वारम् प्राप्ति साधन भूतम् मदाज्ञां पालयन् हि वैकुण्ठ व्रजति इति हि सार्वजनीनता। एवं ईदृशं ईं शरणागत स्वरूपां श्रियम् दर्शयतीति ईदृशम् एतत्प्रकारकम् मदादेशपालनरूप धर्ममयम् उपपन्नम्। शास्त्रीयानि रूपपत्तिभिः सोपपत्तिकम् । सुखिनः भाग्यवन्त एव क्षत्रियाः लभन्ते। सुखित्वं चात्र समकालमेव लोकधर्म भगवद्धर्मयोः पालनाय लब्धावसर त्वात् । अन्यथा शरणागताः प्रायः निरस्तुदण्डा मालायेव जपन्ति। तवैव भाग्यवशात् युद्धेऽस्मिन् लोकः परलोकश्चेत्युभौ पाल्येते। 'एकक्रिया द्वयर्थकरी प्रसिद्धा' आम्राश्च सिक्ता पितरश्च तृप्ताः" इति द्वितीय श्लोकाभि प्रायः' अथ यत्वं (२।३३) इमं धर्मात् मत्कृष्णादवपेतं मदाज्ञारूपत्वात धर्ममयं संग्रामं न करिष्यसि ततः स्वधर्म शरणागत श्री वैष्णवधर्म कीर्तिं च भगवत्वकैंकर्य जनित यशः हित्वा व्यक्तवा पापम वाप्सयसि मदाज्ञाभङ्ग जनितम् । ततो युद्धं कुरुष्व तस्मिन् पापं चेत् तदहं नाशयिष्यामि। यथा श्रीभागवते-

स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः।
विकर्म चेद्युत्पतितं कथञ्चित् धुनोति सर्वं हृदि सन्नि विष्टः।।

इति तृतीयश्लोकार्थः। अकीर्तिं (२।३४) यदि मदाज्ञापरलन रूपं युद्धं न करिष्यसि तदा तव इमां अकीर्तिं वैष्णव प्रपन्न विरुद्धमपयशः अव्ययां अविनाशिनीं भूतानि मत्प्रपन्नभूतानि भागवतवृन्दानि कथयिष्यन्ति ख्यापयिष्यन्ति। एवं मद्भक्तवृन्देषु सम्भावितस्य "रागकर्तार्जुनोऽभूत्" पुरा परशुरामेणापि नारायणानुचरनरत्वेन ख्यापितस्य तव इयमकीर्तिः मदाज्ञातिलधनरूपिणी मरणात् मृत्योरप्यतिरिच्यते अधिक क्लेश दायिनी। अतः प्रपन्नयशोराशिं मा कलङ्कय इति चतुर्थश्लोकार्थः। "भयाद्रणात्" (२।३५) येषां महारथानां त्वं पुरा मत्प्रपन्नतयैव बहुमतः आसीः किं बहुना? दुर्योधनोऽपि मदीयत्वेनैव त्वां बहु मन्यते स्म। यथा-

जानामिते वासुदेव सहायं जानामि ते गाण्डिव तालमात्रम् ।
जानाम्येतत् त्वादृशो नास्ति योद्धा ज्ञानास्ते राज्यमेतद्धरामि।।

एवं अन्येथामपि सम्मान भाजनं भूत्वा इदानीं मदाज्ञारूपं स्वधर्ममुल्लघ्य प्रपन्नधर्म विरुद्धतया लघुतां गमिष्यसि तदा ते महारथाः त्वां भयादेव युद्धात्पराङ्मुखं मस्यन्ते, भयं च सर्वथैव मत्प्रपन्न विरुद्धभावः। अहो मामानन्दकन्दं प्राप्यापि विभेषि मध्ये गंगाजलं पिपासुरिव।

'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन' इति ते त्वां सर्वथैव मद्विमुखमभागवतं स्वीकरिष्यन्ति। किमस्मात्परं दुःखावहम् इति पञ्चमश्लोकार्थः। "अवाच्यवादान्" (२।३६) अन्यदपि तव सामर्थ्यं मद्वशीकरत्वरूपं येन तव प्रपत्यनुकूलप्रेम्णा सर्वेश्वरोऽप्यहं निरतिशय गुणगण जलधिरपि दुर्योधनं चापि निजसम्बन्धिनं दशकोटि नारायणी से न यैव सन्तोषितवान् । तद्यथा-

भवानभिगतः पूर्वमत्र मे नास्ति संशयः।
दृष्टस्तु प्रथमं राजन् मया पार्थो धनंजयः।।
(महाभरत उद्योग पर्व ७।१५)

ते वा युधि दुराधर्षा भवन्त्वेकत्र सैनिकाः।
अयुध्यमानः संग्रामे न्यस्तशस्त्रोऽहमेकतः।। (७।१९)

एवमुक्तस्तु कृष्णेन कुन्तीपुत्रो धनंजयः
अयुध्यमानं संग्रामे वरयामास केशवम् ।। (७।२१)

ते दुर्योधनादयः तवाहिताः इदं तव सामर्थ्यं निन्दन्तः पार्थोऽयं अवैष्णवः प्रपन्नदम्भ करोतीति अश्लीलान् वादान् वदिष्यन्ति। अतो युद्धं कृत्वां मत्प्रपन्नमर्यादां मण्डय इति षष्ठार्थः।

"हतो वा" (२।३७) तव कृते उभावपि पक्षौ मंगलमयौ। न खलु मत्प्रपन्नो मंगलाभावाय कल्पते। यथोक्तं श्रीभागवते-

यस्यास्ति भक्ति र्भगवत्यकिंचना सर्वै गुणसतत्र् समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः।।
(५।१८।१२)

अतो युद्धे हतो स्वर्गीयमानं स्वर्गं मां प्राप्स्यसि वा अथवा मत्सहाय: शत्रून् जित्वा महीं महीयते इति मही तां परमपूजनीयां भक्तिमेव भोक्ष्यसे मदाज्ञया आन्तराम् बाह्यांश्च शत्रून जित्वा निरुपम् -भक्ति रसं प्रपन्नानन्दं समनुभविष्यति। तस्मात् हे कौन्तेय! त्वै कुन्त्या: पुत्र: कुन्ती च मदभजन महिम्नैव त्रिभिर्देवै: कृंतशरीर सम्मर्कापि पंचकन्यासु तुरीयतया प्रात: स्मरणीया जाता। त्वमपि तत्पुत्र:। मदाज्ञा पालन रूप परमधर्म सर्वस्व युद्धकरणेन मत्प्रीतिभाजनमेव भविष्यसि, तत: कृत: निश्चयो येन तथाभूत: प्रपन्न मर्यादां निश्चित्य युद्धाय महादेश रूपतया परमधर्माय तं पालयितु मुत्तिष्ठ इति सप्तमार्थ:।

"सुख दु:खं" (२।३८) निष्कृष्टमाह-षड्विधया शरणागत्या सुख-दु:ख लाभालाभ जय पराजयेषु षट्स्वपि विरुद्धधर्मेषु समो भूत्वा षडैश्वर्य सम्पन्नस्य मे पालयन्नादेशं युद्धाय बाह्यै रान्तरैश्च शत्रुभि: सह समर्दाय युज्यस्व आत्मानमुद्यतं कुरु। एव मष्टावपि श्लोका: अष्ट प्रकृत्यात्मक संसार विजयाय विजया योप दिष्टा:।

इयं चाष्ट श्लोकी विलसित त्रिलोकी पतिकृपा।
प्रपत्ते र्निष्पत्तौ क्षयितमवभीते र्भवभिदः।
गत्यर्थागूढार्था रघुपति कृपा लब्ध मतिना।
मयेत्थं व्याख्याता मृडयतु चिरं वैष्णवजनान् ।

यत्तु संन्यासिना कृते ज्ञाननिष्ठा सामान्यानां च कर्मनिष्ठेति पार्थाय ज्ञानानधिकारिणे मुख्यतया कर्मनिष्ठोपदेश: इति शङ्कराचार्या: व्याचख्यु:, तत्सर्वथैवासंगसमशास्त्रीयं पक्षपात पूर्णंच। यद्यर्जुनो नैव ज्ञानाधिकारी तर्हि कथमस्मै ज्ञानोपदेश:। तं निमित्ती कृत्यापरेभ्य इति चेन्न। योऽधिकारी तस्मा एवोपदेष्टव्यमासीत्? यथा वेदा: नोपदिश्यन्तेऽनधिकारिणे। यद्यर्जुनो न ज्ञानाधिकारी तथा भगवानग्रे किमर्थ माह-

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं (गीता ४।३४) तस्मात् काण्डत्रयीयं कर्मोपासना

ज्ञानात्मिका सर्वेषां कृते उपयोगिनी तत्र भक्तेस्त्रै विध्यात् त्रिष्वपि भक्तिर्विराजते। कर्मयोगे साधना लक्षणा, ज्ञानयोगे साध्यलक्षणा, उपासनायां प्रेमलक्षणा च। कर्म विकर्मणे न स्यात् न चाकर्मणे अतः कर्मयोगः-उपासना वासनायै न कल्पेत अतो भक्तियोगः। ज्ञानं नाज्ञानेनावृतंस्यात् अतो ज्ञान योगः। अतएवं एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धियोगे त्विमां शृणुं। इत्यत्र सांख्याबुद्धि योगबुद्धी एषा इमां इत्येताभ्यां सर्वनाम्यामुक्ते तुना भक्तियोग उक्तः इति पण्डिता विभावयन्त॥श्रीः॥

अथ पंचदशाभिः कर्मयोगं व्याचष्टे-एषेत्या दिभिः। "ननु सुखदुःखे" इत्यादिश्लोके समत्वमुक्तम्? तत्समत्वं कथं कार्यम् पूर्वमात्मांनात्मविवेक उक्तः अनन्तरं प्रपतिधर्मोऽनुशिष्टः तर्हि मया किं कर्तव्यम्? इत्यत आह परमकरूणानिधर्भगवान् -एषा इत्यादिः

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि।२।३९।

रा० क० भा०- हे पार्थ! पृथानन्दन! मद्भक्तायाः पितृस्वसुः पुत्रःसन् त्वं मम स्नेहभाजनम अतस्त्वां न वञ्चयामि। मया श्रुतिगवि दोहनतत्परेण विचार्येव सम्यक् ख्यायते इति संख्या जीवात्म परमात्म विवेकबुद्धिः तस्या इदं सांख्यं तस्मिन् सांख्ये इति विषेये सप्तमी। बुद्धिः बोधनं भावे क्तिन् । ते तुभ्यं अभिहिता विधेयत्वेन प्रोक्ता। एतत् शब्दः समीपतरवर्ती मया तुभ्यमेव एषा समीपवर्तिनी आत्रिंशं सांख्यविषयिणी बुद्धिरनाभिहिता। तुना अनुपदमेव श्लोकाष्टकेन भक्तियोग विषयिणी अपि बुद्धिः उक्ता। अतएव आह इमाम् । अनुपदमेवाष्ट त्रिंशे भक्ति योगविषयतया कृतोपदेशोपसंहाराम् अतिसन्निकृष्टवर्तिनी योगे कर्मयोगे कर्मयोगविषयिणीं कृत्वा इमां बुद्धि' शृणु सावधानः समाकर्णय। ननु किमर्थं शृणुयाम्? ज्ञानयोगश्रवणेन स्वस्वरूप पर स्वरूपे ह्यजानाम् दत्तयोगश्रवणेन उपायफलस्वरूप ज्ञातवान्, इत्यत आह-अनया युक्तः फलस्वरूपं ज्ञास्यसि। यथा मदुक्तया बुद्धया युक्तः कर्मणां बन्धः कर्मबन्धः तं कर्मबन्धम् यद्वा कर्मणा बन्धो यस्मिन् सः कर्मबन्धः तं कर्मबन्ध संसार, यद्वा कर्मण बध्नाति जीवात्मानं इति कर्मबन्धः 'तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंज्ञेन देहिनम्'

एवं भूत कर्मबन्ध रजोगुणं प्रहाष्यसि, (गीता १४/८ प्रकर्षेण त्यक्ष्यसि कदापि न स्वीकरिष्यसि। स योगो नाम कर्मयोग:। त्यक्त फलाशेन परमात्मप्रीत्यर्थं यत्कर्म क्रियते तदेव कर्मयोग इति व्यवह्रियते। तद् विषयणीं बुद्धिं मयाभिधीयमानां शृणु इति श्लोकार्थ:सांख्ये योगे इत्युभयत्र विषयसप्तमी ॥श्री:॥

ननु सन्ति कर्माणि विविधानि येषां च कोटिजन्मभिरपि एकेन कर्त्रा शक्यं नास्त्यनुष्ठानम् । मनागपि व्यत्यये तानि कर्तुर्हानये कल्पन्ते, यथा विधि हीनस्य यज्ञस्य यजमानो विनश्यति। "गायत्र्याश्च जपो नूनं मुद्राहीनो विनश्यतीत्यादि:। एवं बिभ्यन्तं पार्थमाह- भक्तभयभंजनो जनार्दन':-

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।। २/२/४०

रा० कृ० भा०- हे मित्र! इह अमुष्मिन् मदाराधनंनिमित्तके मत्प्रीत्यैक फलके कर्मयोगे अभिक्रम्यते इत्यभिक्रम: प्रारम्भ: बीजं वा। अभिक्रमस्य नाश: अभिक्रमनाश:, अस्मिन्मध्येकर्म विरामेऽपि प्रारम्भस्य तदुपलक्षितस्य कर्मफलस्य नाशो न भवति। यथा- क्रियमाणसन्ध्यात: यद्यर्ध एव विराम: गुर्वागमनादि कारणात् केनचिदप्यपरकारणेन तदा कृतस्य नाशो न भवति। यत स्त्यक्तंपुन: स्तत् प्रारब्धु शक्यते। नैव पुन: प्रारम्भत:। अन्यत्र तु समाप्ते: पूर्वं विश्रामे पुन: पुन: प्रारम्भत: प्रारब्धव्यं भवति। यथा कूपात् उदतिष्ठन् अन्ततोऽपि पतित: पुनर्नीचैर्गच्छति नात्र तथा। अयमेवार्थो बोधित: ज्ञानदीपके प्रसंगे उत्तर काण्डे गोस्वामितुलसीदासमहाराजै: श्रीमानसे तत्रैव स: पर्यालोच्य:। अत्र प्रत्यवायोऽपि न विद्यते। मन्मयत्वात् । अहं हि मदाराधननिमित्तकृतकर्मण: सर्वान् विघ्नान् विहन्मि। अतएव मानसे-

उलटा नाम जपत जग जाना। वालमीकि भए ब्रह्म समाना।।
(मानस अयोध्या० १९५/६)

रूपान्तरम्-

जगज्जानाति वाल्मीकी रामनाम जपन्मुदा।
समानोऽभूद् विधात्रास विपरीतमवि स्फुटम् ।

किं बहुना- अस्य मत्प्रीत्यर्थं विधीयमानस्य धर्मस्य श्रुतिविहितस्य कर्मयोगस्य स्वल्पमपि शोभनं सदल्पमपि शोभनत्वं च भगवन्मय त्वेन। इतरथा अल्प

मित्येवोच्येत। अतः श्रीमद् भागवते:-

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरंजनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पित कर्म यदप्यकारणम्
१।५।१२

महतः भयङ्करादपि भयात् त्रायते। अतो मदाराधननिमित्तक युद्धं कुरु तत्त्वामपि भयात् त्रास्यत इति हार्दम्। ननु बुद्धिः कीदृशी? यया युक्तस्य कर्मयोगस्य स्वल्पमपि महाभयात् त्रातुं प्रभवति। इत्यत आह श्री वासुदेवः-

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसाविनाम् ॥२।४१

रा० कृ० भा०- कुरून् नन्दयतीति कुरु नन्दनः। तत्सम्बुद्धौ हे कुरुनन्दन। मदभिन्नभगवदाराधनाय निष्कामकर्मयोगमाचरंस्त्वं नूनमेव कुरून् नन्दयिष्यसि इत्याशयेनाह हे कुरुनन्दन। इह अस्मिन् ज्ञानयोगे भक्तियोगे कर्मयोगे च व्यवसायः स च अहं दासः हरिः स्वामी। अहं च देहेन्द्रियमनोबुद्धिव्यतिरिक्तः भगवत्परतन्त्रश्चित्सवरूपः प्रत्यगात्मा, श्रीहरिश्च चिदचिद्विशिष्टाद्वैतं ब्रह्म। अहं चित् अचिज्जगज्जातं च शरीरशरीरभावेन परमात्मनि विशेषणे यत्किमपि कृतवान् करोमि करिष्यामि च तद् भगवदाराधनं इत्येवं स्वरूपः निश्चयः तथा हि-

नाहं विप्रो न च नरपति नैवं वैश्यो न तूर्यो।
नाहं वर्णी न च किल गृही नो वनी नो यतिश्च।।
नाहं षण्ढो न च किल पुमान् नैव योषित् सदाहम् ।
सीताभर्तुः पदजलजयोर्दासदासानुदासः।

इत्येवमाकारो व्यवसायः आत्मा स्वरूपं यस्याः सा व्यवसायात्मिका। एवं रूपिणी बुद्धिः एका भवति कुलाङ्नेव मदभिन्नभगवदनन्यविषया। किन्तु अव्यवसायिनाम् अनिश्चित स्वस्वरूप परस्वरूपोपायस्वरूपविरोधिस्वरूप फलस्वरूप व्यवसायात्मनां बुद्धयः बहुविषयत्वाद् बहव्यः बहुशाखा अनेको पासनशाखानुरोधेन बहव्यः शाखाः उपासनापद्धतिभेद प्रभेदाः यासु ताः तथा मन्योऽनन्तः अनन्तरूपाः भवन्ति। श्रीः।

अथ कर्मयोगप्रबलप्रतिबन्धकीभूतां फलाकाक्षां निन्दति त्रिभिः तस्मादेकान्वयं श्लोकत्रयम् - यामित्यादि।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः।।४२।।

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफल प्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति।।४३।।

भोगैश्वर्य प्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते। ।४४।।

रा० कृ० भा०- एतदन्वयः हे पार्थ! वेद वादरताः, अन्यत् न अस्ति इति वादिनः, कामात्मानः स्वर्गपराः अविपश्चितः जन्मकर्मफलप्रदां क्रियांविशेष बहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्ति तया अपहृतचेतसा भोगैश्वर्यप्रसक्ताना व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते। इत्यन्वयस्वरूपम्।

अत्रायंभावः– वेदेषु फलश्रुतयो रोचनार्था अर्थवादमूलिकाः विराजन्ते। यथा– "अक्षं अक्षय्यं हवै। चातुर्मास याजिनोभवति। "अपां सोमममृताअभूम। स वै ब्रह्म हत्यां तरति योऽश्वमेधेन यजते। य एवं वेद। वाजमेधेन यजेत स्वराज्यकामः।" इत्येवमादयः। यथा काचिन्माता मोदकं ते दास्यामि गुडूचीं पिव इति कथयन्ती मोदकेन लोभयित्वा पायायित्वा गुडूचीं बालकं रोगमुक्तं करोति तथैव शिशुवत्सलाः श्रुतयः फलश्रुतिवचनानि व्याहृत्य सामान्यान् तैर्लोभयित्वा अनर्थेभ्यो व्यावर्तयन्ति। ददति च प्रतिज्ञातानि फलानि। तेन सत्यतापि सिद्धा अनर्थमपि निवृत्तम्। किन्तु केचन दुराग्रहिणः वंचक-बालका इव मोदकस्थानीयानि फलान्येव स्वर्गादीन् यदि परमार्थत्वेन मन्येरन् तदा का कथा? सैव परिस्थितिरत्र। ये च मोदक स्थानीय फलानि त्यक्त्वा कर्मैव कुर्वन्ति गुडूचीपानस्थानीयम् ते सार्वकालिकतया भवरोगमुक्ताः भवन्ति। अतो भगवान् पार्थ निषेधति- यत्त्वं न बालः। अतः पुष्पितामेव वाचं निशम्य तस्यां माभूर्लुब्धः। अक्षरार्थस्तु-वेदेषु ये वादाः वचनविशेषा अर्थवाद रूपा अपां सोमं इत्यादयः तेषु रताः सत्यत्वेनाभिनिविष्टाः न त्वर्थवादतया। अतएव

स्वर्गादिभ्यः परम् अन्यत् मोक्षादिकं नास्ति, इति वादिनः इत्येवं वदनशीलाः वादिन इति ताच्छील्ये णिनिः शीलं हि दुर्निवारं भवति यथा तत्र जैमिनिः "सर्वं काण्डत्रयात्मकं आम्नायं क्रियार्थत्वेनैव परिगणयति आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्" (मीमांसासूत्र १।२।७) कथं ते न मन्यन्ते अत्यत आहं- "कामात्मान्ः।" काम स्वर्गादि प्राप्त्याभिलाषाः आत्मसुः मनःसु येषां ते कामात्मान ः । काममय त्वादेव ते मोक्षं निन्दन्ति मोक्षोऽपि कामः इति चेत् आह- स्वर्गपराः। परशब्द इष्टवाची स्वर्गः परः इष्टः येषां तथाविधाः। 'विप्रतिषेधे परं कार्यम् १।४।२ इति सूत्रे भगवान् पतञ्जलिः परशब्दमिष्टवाचिनमाह। एवं स्वर्गमिष्टं मन्यमानाः अतएव अंविपश्चितः मूर्खाः यामिमां फलभिसन्धि संहिताम् अतएव पुष्पितां नैव परमार्थे -फलां पुष्पितां रतामिव वाचं प्रवदन्ति प्रलपन्ति। काम्प्रति प्रवदन्ति इत्यत आह- "जन्मकर्मफलप्रदाम्"। जन्मानि च कर्मफलानि च तानि प्रददाति इति जन्मकर्मफलप्रदा ताम् । संसारजन्मकर्मफलप्रदायिनीम् क्रियाविशेषाः यज्ञादयः बहुलाः प्राचुर्येण वर्तमानाः यस्यां । एवं भोगैश्वर्ययोः गतिं प्रति संसारभोगस्वर्गादिप्राप्ति प्रति प्रमाणभूतां यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्ति परमार्थरूपफलशून्यां आपातरमणीयां गृणन्ति। तयैव वाचा अपहृतानि चोरितानि चेतांसि येषां तेषाम् भोगैश्वर्यप्राप्तौ प्रसक्तानां सकामकर्मानुष्ठानवतां व्यवसायात्मिका निश्चयात्मिका बुद्धिः समाधौ समाधीयते भगवान् यस्मिन सः समाधिः मनः तस्मिन् समाधौ परमात्मनि वा न विधीयते न क्रियते। कर्मकर्तरि लकारः। नैवोत्पादिता भवतीति भावः। तर्हि मया किं कर्तव्यम? इत्यपेक्षायां अर्थपंचकोपदेशोपसंहारे आदेश पंचकात्मकं श्लोक माह श्रीं पुराणपुरुषोत्तमः- त्रैगुण्य इत्यादिः।

त्रैगुण्य विषया वेदा निस्त्रैगुण्योभवार्जुनः।
निर्द्वन्द्वो नित्य सत्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।२।४५

रा०कृ०भा- वेदशब्दोऽत्र कर्मकाण्डप्रयुक्त वेदमंत्रपरः। स एवात्र प्रकरणार्थतयाप्यभिप्रेतः। हे अर्जुन! वेदाः कर्मफलनिन्दापरकतया फलश्रुतिबोधन समान्यार्थाः कर्मकाण्डप्रयुक्त वेदमंत्राः, त्रैगुण्यविषयाः त्रयाणां गुणानां भावः कर्म वा त्रैगुण्यम् "गुणवचन ब्रह्मणादिभ्यः कर्मणिच पा० सू० २५-१-१२४ इत्यनेन ष्यञ् । एवं त्रैगुण्यं प्रचुरं येषां ते त्रैगुण्यप्रचुराः तानेव

विश्रण्वन्ति इति त्रैगुण्यविषया:। त्रैगुण्यप्रचुराणां विषया: त्रैगुण्यविषया: इति सामासिको विग्रह:। मध्यमपहलोपिसमास:। ये त्रैगुण्यप्रचुरा: तानेव पुरुषान् 'अपां सोमो अमृता बभूम' इत्यादयो वेदमंत्रा: विश्रिण्वन्ति बध्नन्ति कर्मष्वेव नियोजयन्ति, त्वं न त्रिगुणप्रचुर: यद्वा यदि एभ्यो मुक्तिमिच्छसि तथा निस्त्रैगुण्यो भव। निष्क्रान्त: त्रैगुण्यात् इति निस्त्रैगुण्य: 'निरादय: क्रान्ताद्यर्थे पंचम्या:' इति समास:। यदा त्वं निस्त्रैगुण्यो भविष्यसि तदा इमे त्वां नैव विशास्यन्ति। यथा परमवत्सला माता सैन्धवमिच्छते सैधवं ददाति मिष्टान्न मिच्छते मिष्टान्नं ददाति' एतेन सर्वाण्यपि इत: पूर्वं टीकाकृतां जल्पितानि निराकृतानि। कथं निर्गुणोभवेयम्? स्वस्वरूप चिन्तनात् स्वस्वरूपं च सेव्यसेवकभावरूपम् । अव्यभिचारिभक्तियोगेन भगवत्सेवैव जीवस्य वास्तविकस्वरूपम् । चदुर्दशे वक्ष्यते च भक्तवाञ्छाकल्पतरु:-

> **मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।**
> **स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।** गीता १४।२६

निर्द्वन्द्वो भव परस्वरूपचिन्तनेन। मत्पदपद्मद्वन्द्वचिन्तनेन शीतोष्णादि द्वन्द्वतो निष्क्रान्तो भव इति भाव:। पुन: नित्यसत्वस्थो भव। नित्यं च तत्सत्वं तस्मिन् तिष्ठति तथाभूतो भव। यद्वा नित्यं सत्वं धैर्यं यस्य स: नित्यसत्व: परमेश्वर:। तस्मिन् तिष्ठतीति नित्यसत्वस्थ: तथाभूतो भव। उपायस्वरूपेण नित्यधैर्यवन्तं मां वासुदेवं प्राप्नुहि। निर्योगक्षेमो भव। योगश्च क्षेमं च योगक्षेमे निष्क्रान्तो योग क्षेमाभ्यां इति निर्योगक्षेम:। यद्वा निर्गते योगक्षेमे यस्मात् । अनवाप्तावाप्तिर्योग:। प्राप्तस्य रक्षण क्षेमम्। ताभ्यां निष्क्रान्तो भव विरोधिस्वरूपचिन्तनेन। यतो हि योगक्षेमयो: सतो: तत्र मद्भजनविरोधिभूतमायाप्रसर: सम्भव:। ततस्ततो दूरं भव। किञ्च "आत्मवान् भव" आत्मा परमात्मा अस्ति अस्मिन्, इदानीं त्वहं त्वया सार्थमस्मि। तव रथस्थ: सारथ्यभावंविमर्मि अत: परं मामेव फलस्वरूपचिन्तनेन निरस्तनिखिलमनोरथे मनोरथे रथीयस्व इति भगवतोऽभिप्राय: ।श्री:।

अथ "निस्त्रैगुण्यं मां वेदा: न विषिणुयु:" इति भवान् प्रत्यपादयत् तर्हि मया। कियन्तोऽशा: वेदस्य ग्राह्या:। सर्वे उताहो ये केचन? इति जिज्ञासायामवोचत् निश्वसित समस्तवेदो वेदान्तवेद्यो भगवान् माधव:- यावानिति-

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः । २।४६

रा०कृ०भा०- यथा पिपासुः सर्वतोऽगाधसलिलमपि जलाशयं प्राप्य यावता स्नानपानादिकं सम्पद्यते तावदेव जलं निजपात्रक्षमतया गृह्णाति, तथैव ब्रह्मवादिनो विवेकिनः सर्वप्राणिनिःश्रेयसवत्सकलसाधनसंकुलेष्वपि वेदेषु निजपात्रताक्षमतताकस्य, ब्रह्मचारि कृते सर्वर्थैवानावश्यकत्वात्। यथावा- कोऽपि संन्यासी 'अयमात्मा' ब्रह्म इति चिन्तनाधिकारी वेदविहितमपि 'सुमंगली वधूरियम्' इति विवाह कर्तव्यताकं मंत्र किं करिष्यति? अक्षरार्थस्तु-सर्वतः सर्वेभ्योऽपि मार्गेभ्यः सर्वासुभृवा दिक्षु सम्पलुतं उपरियावत्परिपूर्णं भूतम् उदकं जलं यस्मिन् तत् सर्वतः सम्प्लुतोदकम तस्मिन् । उदकं पीयते यस्मिन् तद् उदपानम् । पीयते यस्मिन् इति पानम् उदकस्य पानं उदपानम्। उदकस्य उदः संज्ञायाम् पा० सू० ६-३-१५६ इत्येनेन कूपसंज्ञायां गम्यमानायाम् उदकस्य उदादेशः। अत एवामरकोशेऽपि पुंस्येन्धुः प्रहिः कूप उदपानंतु पुंसिवा। तथा हि सम्पूर्णजलसंकुले कूपे कस्यचित्पिपासोः यावनर्थः स्नानपानार्थं यावन्मात्रं जलप्रोयजनं तावदेव जलं तेन गृह्यते। न तु सम्पूर्णं जलं तेन गृह्यते न वा गृहीतुं शक्यते। तथैव विजानतः विवेचन पुरस्सरं परमार्थं जानतः ज्ञातुं यतमानस्य, ब्राह्मणस्य ब्रह्म वेदं परमेश्वरं अणति गच्छति ज्ञात्वा वदति इति ब्रह्मणः शकन्ध्वादित्वात्पररूपम् ब्रह्मण एवं ब्राह्मणः। स्वार्थेऽण् । तस्य ब्राह्मणस्य सर्वेषु वेदेषु सर्वतः सम्प्लुतोदकोदपानस्थानेषु तावानेवार्थः। पिपासुः प्राप्तेऽपि जलसंकुले जलाशये यथा निज वश्यकतानुसारं यावन् मात्रं जलं गृह्णाति तावन्मात्रमंशं विजानन् ब्राह्मणो वैदिकोऽपि जलाशयेभ्य इव वेदेभ्यो गृह्णाति। यत्तु सति सर्वतः समप्लुतोदके उदपाने यावानर्थः तावान् विजानतो ब्राह्मणस्य सर्वेषु वेदेष्वर्थः इति शंकराचार्येण निगदितं तत् असंगतम् अशास्त्रीयं वेदव्याकोप भाजनं च। पूर्वं तु सर्वतसम्प्लुतोदके इति नैव जलाशय परम्। सर्वतः सम्प्लुतम् उदकं यस्मिन् तत् सर्वतः सम्प्लुतोदकं इति बहुव्रीहिदर्शनात् । बहुव्रीहेश्च अन्यपदार्थप्रधान स्वभावः। 'अनेकमन्य पदार्थे' (पाणिनि अष्टाध्यायी २।३।२५) इति सूत्रे अन्यपदार्थविषये वर्तमानमनेकं समस्यते स च वहुव्रीहिः इत्यनुशासनात्। इत्थं विग्रहवाक्ये श्रुनानामन्यपदार्थत्वे विशेषणत्वात् । विशेषणानां च पदार्थत्वेन श्रुते 'पीताम्बरो हरि' रित्यत्र पीताम्बरशब्दस्य हरावधीनत्ववत् सर्वत्र सम्प्लुतोदके

इत्यस्य विशालजलाशये इत्यर्थकथमुदमुदभावि गोविन्दपादशिष्यवर्येण भगवता शङ्कराचार्येण, इति गोविन्द पाद एव जानातु। किंच उदपाने इत्यस्य क्षुद्र जलाशय इतिकथने संज्ञायाः अभावात्, "उदयस्योदः संज्ञायांनम्" इति पा० सू० ६-३-१५७। उदादेश एव न स्यात् । किंच यदिचेत् सर्वतः सम्प्लुतोदके इति विशेषणानुरोधेन महाजलाशये इति विशेषमध्याहृत्य व्याख्या क्रियेत, तदा सति इत्यस्यापि अध्याहारः इति महद् ज्ञान गौरवम् । किंच उपमाने यदि सप्तम्यतद्वयं, तदा उपमेयेऽपि सप्तम्यन्त द्वयेन भवितव्यं, दौर्भाग्यतः सौभाग्यतश्च वेदेषु इत्येकमेव विशेष्यं सम्तम्यन्तं, न च जलाशये इत्यस्य उपमेयत्वेन ब्रह्मणि इति विशेष्यं तत्रापि अध्याहार्यम्, तथा सति अध्याहारबहुलतया समापतेदनवस्था दोषः १ किंच जलाशयस्य ब्रह्मणि उपमेये स्वीकृते त्वद्व्याख्यानुसारं भगवतो वेदस्य क्षुद्रजलाशयोपमेयत्वे महती अवमानना स्यात् सनातनधर्मिणां चबुद्ध इव, परमवैदिक शिरोमणौ भगवति श्रीकृष्णे महती उपेक्षा स्यात्, एतत् सुधियो विभावयन्तु ॥श्रीः॥

नन्विह मया वेदस्य कियानंशो ग्राह्य? इति स्पष्टं वाच्यं भगवता, अत आह-

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूम ति सङ्गोऽस्त्वकर्मणि"॥४७॥

रा० कृ० भा० हे अर्जुन! ते तव निष्कामकर्मयोगमनुतिष्ठतः, कर्मणि एव वेदविहितकर्मानुष्ठान एव अधिकारः, कदाचन कस्मिंश्चिदपि काले फलेषु वेदविहितेष्वपि मा नहि अधिकारः, तत्र तृष्णां मा कार्षीः। यत्तु केचनं 'कर्मण्येव' इत्यत्र प्रयुक्तेन एवकारेण समपक्वान्तःकरणवत्वात् पार्थस्य ज्ञानाधिकारं निराकुरुते इति जल्पन्ति तदनर्गलम् । यदि भगवता अर्जुनस्य ज्ञानाधिकार निषेधःकरणीयः स्यात् तदा सप्तमे 'ज्ञानं तेऽहं सविज्ञान मेदं वक्ष्याम्यर्शेषितः' गीता ७।२ इति वदता अर्जुनाय ज्ञानविज्ञानोपदेशस्य कथं प्रतिज्ञा क्रियेत। किञ्च यदि प्रतिज्ञातं ज्ञानं नोपदिष्टं स्यात् तदा 'इति ते ज्ञानमाख्यातं' गीता १८।६३ इति भगवतैव स्वोपसंहारवाक्ये कथं कथितं स्यात् । किञ्च अत्र न ज्ञानप्रकरणम् । अत्र प्रकरणम् चलति कर्मणां तत्फलानां च। अतः उपस्थितं परित्यज्य अनुपस्थितकल्पने मानाभावः' इति वचनात् प्रकरणतः समुपस्थितस्य फलस्यैव

ऋषिनिषेध्यत्वौचित्यात् अप्राकरणिकस्य दूरमनुपस्थितस्य ज्ञानस्य निषेध्यत्वकल्पने सर्वथैव शास्त्रमर्यादा भंगः। किञ्च "असति बाधके सर्वं वाक्यं सावधारणम् इति नियमात् यदि ज्ञानातिरिक्तं न किमपि व्यवच्छेद्यं कण्ठरवेणोक्तं स्यात् तदा ज्ञानधिकारो व्यवच्छेद्यत्वेन कल्प्येत। अत्र तु भगवदिच्छया "मा फलेषु कदाचन" इति तिष्ठति फलाधिकारव्यवच्छेद्यत्व् वाचकशब्दः। किञ्च प्राप्तस्य व्यवच्छेदः। प्राप्तिश्च सजातीयस्य। ज्ञानस्य च कर्म सजातीयत्वाभावात प्राप्तिरेव नहि। अथ तर्हि एवकारेण कस्य व्यवच्छेदः? इतिचेत् विकर्मणः। विकर्मत्वं नाम श्रुतिविहितत्वे सति स्ववर्णाश्रमविरुद्धत्वम् । कर्मफलहेतुरित्यत्र द्वौं समासौं- कर्मणां फलेषु हेतुर्यस्य सः कर्मफलहेतुः। यद्वा कर्म फलानां हेतुः। किंच "प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते" इतिरीत्या प्रयोजनं विना अहं कथं कर्मणि प्रवृत्तो भवेयम्? इत्यत आह- मेति तृतीयेन। कर्मणां फलानि कर्मफलानि तेषां हेतुः कर्मफलहेतुः एतादृशस्त्वं मा भूः, यदि त्वं कर्मफलेषु अधिकृतो भविष्यसि, फल भोक्तृत्वेन लिप्सिस्यसे। तदा त्वमेव कर्मफलानां हेतुः कारणं भविष्यसि, अर्थात् तव भोगार्थ शुभाशुभकर्मफलानि संभविष्यन्ति, तेन त्वं पुनः संसारे कान्तारे भ्रमिष्यसि। यदि नाधिकृतः तर्हि शुभाशुभेषु कर्मसु कृतेष्वपि तव कृते फलानि नोत्पत्स्यन्ते, हनुमत इव। लङ्का ज्वालिता निहताश्च विविधाः राक्षसाः, परन्तु फलाधिकाराणां मयि श्रीरामरूपे भगवति समर्पणात् नैव कर्मफलान्युपपद्यन्त। तर्हि मया कर्माण्येव न क्रियन्तां? इत्यत आह चतुर्थे-अकर्मणि, श्रुतिविहितकर्माकरणे ते सङ्गः आसक्तिर्मा भवतु, स्वयं कर्माणि मायज्, तव त्यागे मदादेश, सङ्गजनित प्रत्यवायापत्तेः। स्यान्नाम स्वयमेवाकर्मता। इह एवकारेण त्रिःप्रयुक्त मा शब्देन च विकर्मफलाधिकारौ फलासक्तिः अकर्मासक्तिश्च निषिद्धा। श्रीः।।

तर्हि कथं कर्म कुर्याम्? अकृते भवदाज्ञाभङ्गजनितप्रत्यवायापत्तिः, कृते कर्मफलोत्पत्तिमूलकंसंसारापत्तिः इत्युभयतः पाशारज्जु इत्यत आह चतुर चक्र चूडामणिः श्री कृष्णः योगस्थ इत्यादि-

"योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यासिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते" ।।४८।।

रा० कृ० भा०- हे धनञ्जय! धनंजयतीति धनञ्जयः तत्सम्बुद्धौ हे धनञ्जय! यथा युधिष्ठिरराजसूये दिग्विजये नृपाणां धनं विजित्य युधिष्ठिराय दत्तवान्। तथैव साम्प्रतमात्मभूपति दिग् विजये कर्मणां फलरूपधनं मह्यमेव समर्पयेति सम्बोधनस्य हार्दम् । त्वं कर्म फलानां संङ्गम् आसक्तिं त्यक्त्वा, सिद्धिश्चासिद्धिश्च सिद्ध्यसिद्धी तयोः सिद्ध्यसिद्ध्योः, समो भूत्वा सफलतायाविगतहर्षः, विफलतायांच विगत विषादो भूत्वा, योगस्थः योगे तिष्ठतीति योगस्थः, समभावरूपयोगेस्थितः कर्माणि कुरु, यथा वर्णाश्रमं श्रुतिविहितानि कर्माणि मदाज्ञापालनभावनतया समाचार। को नाम योग इति चेत्, समत्वं, समभाव एव योगः उच्यते, परिभाष्यते मया इति शेषः ॥श्रीः॥

"तमेव निष्कामकर्मयोगं स्तौति त्रिभिः, कथं योगस्थः कर्म कुयाम्? इत्यपेक्षायां आह दूरेण इति"-

"दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥

रा० कृ०भा०-दूरेण इति अव्ययं तृतीयान्तप्रतिरूपकं, नतु दूरवाची, हि यतो हि हे धनञ्जय! मत्कृपाधनाहर्तः बुद्धियोगात्, बुद्धेः योगः समत्वलक्षणः यस्मिन् तद् बुद्धियोगम् । ज्ञानपूर्वकसमत्वलक्षणयोगवत् तस्मात् बुद्धियोगात् निष्कामयोगयुक्तात् कर्मणः अपेक्षया सकामं कर्म दूरेण अत्यन्तम् अवरं न वरम् निकृष्टमिति भावः।

अत एव बुद्धौ समत्वलक्षणायां सत्यां, शरणं सर्वशरण्यं परमात्मानं मां अन्विच्छ आश्रयत्वेन वृणु, रक्षकत्वेन वा स्वीकुरु। त्वां पूर्वं कार्पण्यदोषम् उक्तवानसि "कार्पण्यदोषोऽहतः स्वभावः" गीता २-७ फलहे फलं कर्मप्रवृत्तिप्रयोजकं हेतुः येषां ते फलहेतवः, फलार्थं कर्मकुर्वन्त इति भावः। ते कृपणाः त्वम् इमं कार्पण्यदोषं परिहर, कथं शरणमन्विच्छ "यश्च एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः"॥श्रीः॥

अन्यच्च-

"बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ।।५०।।

रा०कृ०भा०- बुद्धियोगेन युक्तः बुद्धियुक्तः मध्यमपदलोपिसमासः। बुद्धियोगेन युक्तः इहैव मयि सुकृतं च दुष्कृतं च सुकृतदुष्कृते कर्मणी शुभाशुभे, यद् वा शुभाशुभ कर्मफले जहाति त्यजति। तस्मात् त्वमपि शुभाशुभे कर्मफले त्यक्तुं योगाय युज्यस्व समत्वबुद्धिलक्षणयोगमनुष्ठातुं समुद्यतो भव "क्रियार्थोपदस्य च कर्मण्यस्थानिनः प अ २।३।१४ इत्यनेन चतुर्थी। योगः समत्वलक्षणः कर्मसु निष्कामसकामेषु कौशलं चातुर्यं। यद् वा स्वार्थे अण् नपुंसकत्वं चानियतत्वात। कुशल एव कौशलं, नित्यनैमित्तिककाम्यप्रायश्चित्तादिकर्मसु योग एव कुशलः। यद् वा कर्मानुरोधेन नपुंसकता कृष्णो सुन्दरं मित्रमितिवत् ।।श्रीः।।

किञ्च निष्कामकर्मयोगिन एव संसारसागरं तरन्ति, इत्यत आह कृपाकूपारः प्रभुः कर्मजमित्यादि-

"कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्" ।।५१।।

रा०कृ०भा०-योगस्य कथं कुशलता? अत्र योगिकार्यमपि विवृणोति- कुशमिव तीक्ष्णं संसारं लुनातीति कुशलः। स एव कौशलं, कौशलत्वं च संसारबन्धन विनिर्मोचनरूपं। हि यतो हि बुद्धियोगेन युक्ताः बुद्धियुक्ताः, मनीषिणः प्रशस्ता मनीषा येषां ते मनीषिणः "ब्रीह्यादेत्वादिनिः" चिदचिद्विवेकशाली प्रशस्त मनीषावन्तः। कर्मजं कर्मभ्यो जातं शुभाशुभं फलं त्यक्त्वा, जन्मनां बन्धः जन्मबधः जन्म इव बन्धः, जन्मबन्धः, जन्मनां बन्धः यस्मिन् स जन्मबधः संसारश्चिदचिदात्मकः तस्मात् विशेषेण निर्मुक्ताः विशिष्टाद्वैतधिया बर्हिर्याताः, अनामयं न विद्यन्ते आमयाः संसाररोगाः यस्मिन्, एवं भूतं निरुपद्रवं साकेतगोलोकाभिन्नं मदीयं पदं धामः "तद् विष्णोः परमं पदम्" इति श्रुतेः गच्छन्ति, लभन्ते। अतस्त्वमपि योगयुक्तो भव, येन सर्वेषां प्रपदनीयं मामेव प्राप्नुहि ।।श्रीः।।

नन्वेवं विधं योगमहं कदा प्राप्स्यामि? इति जिज्ञासा प्राह कलापिकलापमौलिर्भगवान् यदेत्यादि-

''यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च''।।५२।।

रा०कृ०भा०- अहं कालं न निर्धारयिष्यामि साधनस्य त्वदायत्तत्वात्। यदा ते यस्मिन् काले तवार्जुनस्य बुद्धिः गौरिव मोह एव कलिलम् इति मोहकलिलं मोहरूपं महापङ्कं व्यतितरिष्यति लङ्घिष्यति, "कलिलं गहनं शमे" इत्यमरः। यद् वा मोहरूपं महागह्वरं तरिष्यति, तदा श्रोतव्यस्य श्रवणीयस्य कर्मफलस्य श्रुतस्य च विषये निर्वेदं वैराग्यं गन्तासि प्राप्तासि "अनद्यतने लुट्" ॥श्रीः॥

अनन्तरं किं भविष्यति? इत्यत आह श्रुतीति-

''श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि''।।५३।।

रा०कृ०भा०- श्रुतिभ्यो वेदफलश्रुतिभ्यो विप्रतिपन्ना श्रुतिविप्रतिपन्ना, यद्वा श्रुत्या विशेषेण मां प्रतिपन्ना इति श्रुतिविप्रतिपन्ना, यद् वा श्रुत्या विं विष्णुं मां प्रतिपन्ना प्राप्ता निश्चला द्वन्द्वैर्नचाल्यमाना ते बुद्धिः समाधौ मयि परमात्मनि अचला स्वभावतश्चाञ्चल्यवर्जिता स्थास्यति, तदैव त्वं योगं समत्वंलक्षणं अवाप्स्यसि अधिगमिष्यसि ॥श्रीः॥

"अथ समाधौ स्थितस्यैव बुद्धिः स्थिता भवति, स एव योगाधिकारी अतस्तत् परिभाषां पृच्छन् प्रश्नचतुष्टयमवतारयति, तदेव वैशम्पायनो जनमेजयं प्रति शंसति"-

"अर्जुन उवाच"

''स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ।।५४।।

रा०कृ०भा०- अर्जनः पप्रच्छ वचिरत्र प्रश्नार्थः, हे केशव! कं ब्रह्माणम, ईशं शिवं वशयति नियमयति इति केशवः तत्सम्बुद्धौ हे केशव सर्वज्ञ शिरोमणि

महाविष्णो! भाष्यते यया सा भाषा परिभाषा इत्यर्थः, समाधौ तिष्ठतीति समाधिस्थः तस्य समाधिस्थस्य त्वयि भगवति स्थितस्य का भाषा, का परिभाषा किं लक्षणमिति भावः। पुनः स समाधितो व्युत्थितः किं प्रभाषेत कथं भाषितुं शक्यते, किमासीत किमुपवेष्टुं शक्यते, किं व्रजेत् कुत्रापि गन्तुं शक्नोति। हि श्लोके समाधिस्थं स्थितप्रज्ञं व्युत्थितं च स्थितप्रज्ञं प्रति प्रश्नः ॥श्रीः॥

"अर्जुनस्य इयं जिज्ञासा यत् यस्य बुद्धिर्भवति वासुदेवे स्थिता तस्य का दशा, पुनश्च व्युत्थाने कीदृग् व्यवहारः, तत्र प्रथमेन समाधिस्थं निरूपयति-प्रजहातीत्येवावतारयति-

"श्री भगवानुवाच"

"प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

रा०कृ०भा०- श्री भगवान् षडैश्वर्य सम्पन्नः उवाच उत्तरयामास हे पार्थ! यदा समाधिस्यसाधकः मनोगतान् संकल्पप्रभवान् सर्वान् कामान् प्रजहाति, पुनरग्रहणाय त्यजति। आत्मनि एव परमात्मनि मयि तिष्ठति, आत्मना मयैव दत्तकृपावरः तुष्टः सन्तुष्ट, परमानन्दमग्नो भवति। तदा तस्मिन्नेवकाले सः, स्थिता मयि व्यवस्थिता प्रज्ञा बुद्धिर्यस्य तथा भूतः उच्यायते कथ्यते विद्वद्भिः ॥श्रीः॥

"व्युत्थानदशां वर्णयति द्वाभ्याम्, दुःखेष्वित्यिादि-

दुःखेष्वनुद्विग्नमना सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरूच्यते ॥५६॥

रा०कृ०भा०- यश्च दुःखेषु प्रतिकूलवेदनीयेषु, अनुद्विग्नमनाः न उद्विग्नं कामक्रोधाद्युद्वेगयुक्तं मनः संकल्पात्मकं अन्तःकरणं यस्य तथाभूतः। सुखेषु अनुकूल वेदनीयेषु क्षणेषु विगता स्पृहाः अनुकूल वस्तु लिप्साः यस्य स विगतस्पृहः। वीताः विशेषेण गताः रागद्वेषभयक्रोधाः यस्य वीतरागभयक्रोधः, मय्यनुरक्तत्वात् विगतरागः मत्तो लब्धाभयत्वात्, निर्भयः आत्मपरमात्माबोधमयत्वात् निष्क्रोधः स एव मुनिः मनुते वेदार्थान् यस्तथा भूतः, स्थितधीः बुद्धिः यस्य स

स्थितधीः एवमुच्यते। यो नोद्विजते, न स्पृहयति, न रज्यते, न विभेति, न क्रुध्यति, स स्थितप्रज्ञः प्रायो मौनमालम्ब्य मामेव ध्यायति- एवं किं प्रभाषेत एतस्योत्तरं, मुनिः न केनापि सह किमपि प्रभाषते। परिष्कारश्च उद्वेग, स्पृहा, राग, भय, क्रोध शून्यत्वे सति मननशीलत्वे सति मौनशीलत्वं स्थितधीत्वम् ॥श्रीः॥

'अथ व्युत्थाने किं करोति इत्यत् आह'-

"यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

रा०कृ०भा०- यः सर्वत्र सर्वेषु कौटुम्बिकजनेषुः अनभिस्नेहः नास्ति अभीष्टः स्नेहः यस्य सः अनभिस्नेहः, अभीष्टं स्नेहं तु मय्येव करोति। यस्तत्तत् उच्चावचं, अथवा तत्र तत्र शुभाशुभं प्राप्य शुभं नाभिनन्दति, न प्रशंसति, न वा प्रसीदति। अशुभं न द्वेष्टि तस्य साधकस्य प्रज्ञा बुद्धिठि प्रतिष्ठिता वेदितव्या। प्रतिष्ठाम् मति इता प्रतिष्ठिता "शकन्ध्वादित्वात् पररूपम्" ॥श्रीः॥

व्युत्थाने कथमुपविशति यतो हि भाषणं तूक्तं पूर्वस्मिन् सः सामान्यतया तटस्थ स्वल्पमपि न भाषते। किन्त्वासनं कथम् इत्यत आह यदा संहरतेति-

"यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥५८॥

रा०कृ०भा०-तस्यासनं न प्राकृतस्य इव, किन्तु वलिक्षणं, विषयेभ्यः इन्द्रियाणां सङ्कोचनमेवासनम् । इन्द्रियाणि यदा संहरते तथैवास्ते, यदा यस्मिन् समये अङ्गानि अवयवान् कूर्मः कमठ इव सर्वशः सर्वेभ्यः इन्द्रियाणाम् अर्थेभ्यः विषयेभ्यः, शब्ददिभ्यः इन्द्रियाणि श्रवणादीनि आत्मार्थे संहरते सङ्कोचयति। पश्यन्नपि न पश्यति शृण्वन्नपि न शृणोति, जिघ्रन्नपि न जिघ्रति तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता भवति ॥श्रीः॥

ननु आतुरस्यापि आहारहीनस्य विषयाः विनिवर्तन्ते, तर्हि किं वैशिष्ट्यं स्थितप्रज्ञस्य? इत्यत आह परमकारुणिको मधुसूदनः-

"विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ।।५९।।

रा०कृ०भा०- यद्यपि निराहारस्य निराकृत: आहार: येन स निराहार: तस्य आहारसेवन वर्जितस्य, त्यक्त तत्तद्विषयोपभोगस्य विषया: निवृत्ता भवन्ति, बुभुक्षां नोत्पादयन्ति। इति द्वयो: समं, किन्तु रसवर्जं रसो रागस्तं वर्जयित्वा "रसो रागे द्रवे बले" इति कोषात् । विषयासेवनेऽपि तेषु रागो न निवर्तते, किन्तु अस्य स्थितप्रज्ञस्य परं परमात्मानं "रसो वै स:" इति श्रुत्या निरा तिशयरससागरं परमेश्वरं मां दृष्टवा रसोऽपि निवर्तते इत्येवं वैलक्षण्यम् ॥श्री:॥

ननु इन्द्रियाणि अति दुर्जयानि इत्यत आह-यद्वा इन्द्रियै: मनसोऽभिविषयं करणात् रागो न निवर्तते।

"यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ।। ६०।।

रा०कृ०भा०- हि यतो हि हे कौन्तेय! कुन्तीपुत्र! यतत: यतमानस्यापि "अनुदात्तेत्वलक्षणादात्मनेपदस्य अनित्यत्वात् परस्मै पदिता। विपश्चित: ब्रह्मविज्ञानसम्पन्नस्यापि, पुरुषस्य प्रमाथीनि विलोडन स्वभावानीन्द्रियाणि मन: प्रसभं बलादेव हरन्ति, विषयं प्रापयन्ति। अतो तानि संयम्यानि ॥श्री:॥

ननु कथं तेषां संयमः? इत्यत आह ऋषीकेश-
तानि सर्वाणि सयम्य युक्त आसीत मत्परः।
"वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।६१।।

रा०कृ०भा०- अहं कृष्णो भगवान् पर: इष्टदेव: यस्य स मत्पर: मदिष्ट दैवतयुक्त: निष्कामकर्मयोगी सर्वाणि तानि ह्यानीव संयम्य निगृह्य आसीत उपविशेत यस्य जनस्य वशे नियन्त्रणविषये इन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता इन्द्रियनिग्रहे ॥श्री:॥

अनर्थ सम्भावनाम् आह द्वाभ्यां-
ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।।६२।।

क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृति विभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ।।६३।।

रा०कृ०भा०- यतो हि यस्याहं नेष्टदेवः, न तस्य इन्द्रिय निग्रहः मम ध्यानाभावात् । यो मां न ध्यायति स विषयमेव चिन्तयते, विषयान् शब्दादीन् ध्यायतः समरतः तेषु विषयेषु पुरुषस्य सङ्ग आसक्तिर्जायते। सङ्गाद्धेतोः कामः ध्येयविषय बुभुक्षा जागर्ति, भोगानाम् अन्तवत्वात्, बुभुक्षायाश्च तृप्त्यभावत्, विहितायां तस्यां क्रोधः अभिजायते कामापूर्ति निमित्तः। क्रोधात् क्रोधमपेक्ष्य सम्मोहः कर्तव्याकर्तव्यविवेकशून्यता भवति, सम्मोहाद्धेतोः स्मृतेः स्वस्वरूपचिन्तनरूपायाः विभ्रमः विनाशः जायते। स्मृतिभ्रंशात् स्मृतिविनाशाद्धेतोः बुद्धेः आत्मानात्मविवेकस्यापि नाशो भवति। ततश्च साधकः स्वयं प्रणश्यति, विनाशं गच्छति, परमात्मदर्शनयोग्यतातः सुदूरं भवति। अत एव इन्द्रिय संयमनरूपमासनं स्थितप्रज्ञस्य मुख्यं कार्यमिति। अथ व्रजेत किं? इति प्रश्नमुत्तरयति- रागद्वेषशून्येन्द्रियैर्विषयसेवनमेव तस्य वर्जनम् । अत आह-

''रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ।।६४।।

रा०कृ०भा०- तु हेतौ रागद्वेषाभ्यां वियुक्तैः रहितैः वशीकृतैरिन्द्रियैः चक्षुरादिभिः आत्मवश्यैः आत्मनः वशंवदैः आज्ञाकारिभिरिव सेवकैः विषयान् शब्दादींश्चरन् सेवमानः विधेयः शिष्य इव वशंवदः आत्मा मनो यस्य स विधेयात्मा, प्रसादं प्रसन्नतां मम कृपा प्रसादं च अधिगच्छति अधिकृतं यथा स्यात्तथा प्राप्नोति ।।श्रीः।।

अनन्तरं बुद्धिरपि स्वयमेव तदधीना भवति, इत्यत आहभगवान् जनार्दनः प्रसादेति-

''प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ।।६५।।

रा०कृ०भा- हि निश्चयेन प्रसादे तस्य प्रसन्नतायां मम प्रसादे वा

प्राप्ते अस्य स्थितप्रज्ञस्य सर्वेषां दुःखानां, त्रिविधानामपि। हानिः अभावः उप आधिक्येन जायते। एवं प्रसन्नं निजप्रसादात्, भगवत् प्रसादाच्च निर्मलं चेतः यस्य स प्रसन्नचेताः तस्य प्रसन्नचेतसः बुद्धिः मयि पर्यवतिष्ठते, स्थिता भवति ॥श्रीः॥

अथ अकृतकर्मयोगस्य दुष्परिणामं आह, योगेश्वरेश्वरः श्रीकृष्णः नास्तीति-

''नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

रा०कृ०भा०- अयुक्तस्य अननुष्ठितकर्मयोगस्य बुद्धिर्विवेकलक्षणा नास्ति, न भवति। तदभावे अयुक्तस्य अयोगिनः भावना ब्रह्मचिन्तनमपि न भवति। अभावयतः मम भावं अभजतः शान्तिः निर्वृत्तिरपि न हि, अशान्तस्य सुखं कुतः कस्माद् भविष्यति ॥श्रीः॥

विषयं निगमयति इन्द्रियाणामिति-

''इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञा वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥

रा०कृ०भा०- हि यतः चरतां विषयान् सेवमानानाम् इन्द्रियाणाम् अनु आनुकूल्येनैव यत् मनः संकल्पात्मकं विधीयते। तत् तदेव मनः अम्भसि जले प्राप्तां नावं वायुः इव प्रज्ञां बुद्धिमपि हरति, इन्द्रियाणि मनो हरन्ति, मनश्च बुद्धिं हरति, इति विवेकः ॥श्रीः॥

उपसंहरति तस्मादिति-

''तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

रा०कृ०भा०- हे महाबाहो! तस्मात् इन्द्रियाणामेव सकलानर्थमूलकत्वात्, यस्य इन्द्रियार्थेभ्यः सर्वेभ्यः सर्वशः सर्वतो भावेन इन्द्रियाणि निगृहीतानि दण्डेन वशी कृतानि तस्यैव प्रज्ञा मयि प्रतिष्ठिता वेदितव्या ॥श्रीः॥

न केवलमासनं तस्य शयनजागरणे अपि विलक्षणे इत्यत् आह-

"या निशा सर्व भूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।।६९।।

रा०कृ०भा०- इह द्वे रात्री सर्वभूतानां, युष्मदादीनां बद्धजीवानां या निशा ब्रह्मरात्रिः, तस्यां संयमी जागर्ति, न निद्राति। यस्यां संसाररात्रौ भूताः जाग्रति, विषयान् सेवन्ते, अपश्यतः जगत्तो मुद्रितनेत्रस्य मुनेः सा निशा शयनस्थानीया। भक्ति रात्रौ स्थितप्रज्ञो जागर्ति, जीवाः श्वपन्ति, भुक्ति रात्रौ जीवाः जाग्रति भक्तः श्वपिति ॥श्रीः॥

अथ समुद्र इव तस्यासनं स्थिरमाह-

"आपूर्यमाणमचल प्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविष्यन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न काम कामी ।।७०।।

रा०कृ०भा०- यद्वत् आपूर्यमाणं सर्वतः सरिद्भिः पयोभिः पूर्णं क्रियमाणं तथापि अचलः स्थिरा प्रतिष्ठा मर्यादा यस्य एवं भूतं अचलप्रतिष्ठं समुद्रं यद्वत् यथा आपः जलानि प्रविशन्ति। किन्तु तं न मर्यादातश्च्यावयन्ति, न क्षोभयन्तीति भावः। तद्वत् तेनैव प्रकारेण यमकामं सर्वेकामाः प्रविशन्ति कृतार्थाः भवतुं, किन्तु मदनुध्यानात् तं न विरमयितुं पारयन्ति, स एव शान्तिं आप्नोति। यः कामान् कामयेत तच्छीलः कामकामी स नहि ॥श्रीः॥

अथ ब्राह्मीस्थितिं स्तौति-

"एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।।७२।।

रा०कृ०भा०- हे पार्थ! एषा मया षोडशश्लोक्या वर्णिता स्थितिः अवस्था ब्राह्मी, ब्रह्मणः इयं ब्राह्मी भगवन्मयी। एनां प्राप्य मत्प्रपन्नो जीवो न विमुह्यति न विमोहं प्राप्नोति। अस्यां स्थितौ स्थित्वा अन्तकालेऽपि शरीरान्तसमये, यद् वा अन्तको यमः आलुनाति यनत् अन्तकालं जगत् प्रपञ्चम् अस्मिन् वर्तमानोऽपि जीवो ब्रह्मणः निर्वाणं, निर्वान्ति शान्तानि भवन्ति उपद्रवाः

यस्मिन तत् निर्वाणं मोक्षं ऋच्छति प्राप्नोति ॥श्रीः॥

''द्वितीयेऽस्मिन् मयाध्याये श्रीगीतासु यथामतिः।
श्रीराघवकृपा भाष्यं कृतं सीतापतेर्मुदे।।

इति चित्रकूटतुलसीपीठाधीश्वरजगद्गुरुरामानन्दाचार्यश्रीरामभद्राचार्यप्रणीते-श्रीराघवकृपाभाष्ये श्रीमद्भगवद्गीतासु सांख्ययोगोनाम द्वितीयोऽध्यायः।

।। श्री राघवः शन्तनोतु ।।

''श्री मद् राघवोविजायते''।।
''श्री रामानन्दाचार्य नमः।।

द्वितीयोऽध्यायः

मंगलाचरणम्

विलोलं वैदर्भ्यां प्रणतमथ पित्रोः सकरुणम् ।
कृपार्तं भक्तेषु प्रतिपदमहो भावपिहितम् ।
विमृष्टं प्रद्युम्ने सुरपतिसुते स्नेहकलितम् ।
प्रमुग्धं द्रौपद्यां लसति यदुना थाब्ज नयनम् ।।१।।

हिन्दी राघव कृपा भाष्य-भगवान श्रीकृष्ण के वे कमल नेत्र अधिक शोभा पा रहे हैं, जो रुक्मिणी जी के समक्ष चञ्चल वसुदेव देवकी के प्रति विनम्र, भक्तों के सम्मुख सकरुण, कृपा से आर्द्र और प्रत्येक क्षण वात्सल्य भाव से ओतप्रोत, प्रद्युम्न के प्रति पुत्रानुराग से भरे, इन्द्रपुत्र अर्जुन के प्रति मित्र स्नेह से भरे हुए तथा श्री द्रौपदी के प्रति अत्यन्त निर्दोष हैं।।१।।

स जयति यदुकुलजलनिधिविधुरविधुर्जनपद्मपत्रकाणाम् ।
वनवरिकलभमिवार्तं गीताम्भः पाययन् पार्थम् ।।२।।

वन के हाथी के शावक की भाँति आर्त श्री अर्जुन को श्री गीता रूप जल पिलाते हुए, भक्तरूप कमलों के लिए सूर्य तथा यदुकुलरूप क्षीरसागर के चन्द्रमा उन भगवान श्रीकृष्ण की जय हो ।।२।।

जयति जगति जगदीश्वरविधुमुखगीता पुनीतनवनीता।
वैदिकगुणसम्वीता मातेव शाश्वती गीता ।।३।।

इस संसार में माता के समान हित करने वाली, वैदिक सिद्धान्त के गुणों से युक्त, भगवान श्रीकृष्ण के श्रीमुखचन्द्र द्वारा गायी गई, निरन्तर विराजमान भगवती श्रीगीता की जय हो।।३।।

अब सांख्ययोग नाम द्वितीयाध्याय के व्याख्यान का उपक्रम किया जाता है-

ज्ञान को ही सांख्य कहते हैं। संख्यायन्ते भटाः यस्मिन् तत् संख्यम्। जिसमें

भटों की संख्या होती है उस युद्ध को ही संख्य कहते हैं। कोश में भी 'संख्यमाहव' कहा गया है। और प्रथमाध्याय के अन्तिम श्लोक में "एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये" कहा गया है। उस संख्य अर्थात् युद्ध में जो उत्पन्न हुआ उस ज्ञान को सांख्य कहते हैं।

प्रश्न- इस प्रकार का व्याख्यान तो असङ्गत है। क्योंकि युद्धस्थल कोलाहलमय होता है तथा ज्ञान एकान्त वन में, परमहंस परिव्राजकाचार्य निर्मलात्मा, महात्मा महापुरुषों के श्रीचरणकमलों की सेवा से प्राप्त होता है, ऐसा श्रुति कहती है तो फिर यह ज्ञान युद्ध में कैसे सम्भव है? जैसा कि श्रुति भी कहती है कि- "ब्रह्म विज्ञान के लिए समित्पाणि अर्थात् हाथ में समिधा लेकर ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय सद्गुरू की शरण में जाना चाहिए"। जब कि युद्ध का सैनिक मुमुक्षु नहीं अपितु युयुत्सु अर्थात् युद्ध की इच्छा से युक्त होता है। वह समित्पाणि नहीं प्रत्युत शस्त्रपाणि होता है।

उत्तर- ऐसा नहीं कहना चाहिए। इस अध्यात्म विद्या में युद्ध भी आध्यात्मिक होता है। जब साधक के मन में दैवी तथा आसुरी गुणों का संघर्ष होता है उसी टकराव की परिस्थिति में ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होता है अतः पूर्वोक्त व्याख्यान में कोई दोष नहीं है। इसी से सुगमतापूर्वक तुम्हारे द्वारा पहले कही हुई सभी आपत्तियों का परिहार सम्भव है। यहाँ युद्ध भी अन्तःकरण का है बाहर का नहीं और यहाँ द्वन्द्व भी मन के ही हैं। प्रतिकूल और अनुकूल भावों की सन्धि होने पर उनके पारस्परिक संघर्ष परम्परा की परिणति को ही द्वन्द्व कहते हैं। जैसे गीता ७/२७ में भगवान स्वयं कहते हैं-

हे अर्जुन सम्पूर्ण जीव सृष्टिकाल में इच्छा तथा द्वेष से उत्पन्न मोह द्वन्द्व के कारण ही अविवेक को प्राप्त होते हैं। और यह जीव मुमुक्षु होकर इन द्वन्द्वों से जनित क्लेश को दूर करने की इच्छा करता हुआ दिन रात इनसे युद्ध करता हुआ भी परमेश्वर की शरणागति से युक्त सेवक सेवा भाव ज्ञान सम्पन्न होकर भी अकेला इन द्वन्द्वों से दबा होने के कारण इनसे परास्त हुआ, इस क्लेश के नाश के उपाय की जिज्ञासा करता रहता है। यही तो उसका युद्ध है। उस आध्यात्मिक संख्य में कभी तो भगवान श्रीकृष्ण की विभूतिरूप सद्गुरू द्वारा और कभी स्वयं गुरूरूप में पधारे गोविन्द द्वारा ही इस आध्यात्मिक युद्ध में पराजित जीव को हेय हानि सांख्य ज्ञान का उपदेश किया जाता है। जैसा कि स्वयं मदनमोहन माधव श्रीकृष्ण कह रहे हैं-

एषा ते ऽभिहिता सांख्ये (गीता २/३९)
सांख्ययोगौ पृथग्बाला (गीता ५/४) इत्यादि।

यहाँ योग शब्द का तात्पर्य है कर्मयोग। यह पातञ्जल योग शास्त्र की भाँति चित्तवृत्ति निरोधरूप योग नहीं है। तो फिर यहाँ कौन सा योग है?

इसका समत्व ही दूसरा पर्याय है। क्योंकि 'समत्वं योग उच्यते' (गीता २/४८) इस प्रकार उपदेश करते हुए भगवान श्रीकृष्ण के द्वारा ही इनका समत्व लक्षण वर्णन किया गया है।

सांख्य और योग ये दोनों ही इस द्वितीय अध्याय में भगवान के द्वारा नाम ले लेकर निरूपित किये गये हैं। गीता २/३९ में भगवान स्वयं कहते हैं- प्रथम तो तुम्हारे लिए यह ज्ञान सांख्य की दृष्टि से कहा गया, अब इसे योग की दृष्टि से सुनो।

प्रश्न- यहाँ सांख्य ज्ञान से भगवान का क्या तात्पर्य है?

उत्तर- भगवान के द्वारा आत्मानात्मज्ञान ही सांख्य के नाम से व्याख्यायित हुआ। शरीर, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि जो पहले से अनात्मभूत अर्थात् आत्मा से अतिरिक्त पदार्थ हैं, में अत्मत्व बुद्धि का ही नाम अनात्मा में आत्मज्ञान है और आत्मा को आत्मा से अतिरिक्त मानना आत्मा में अनात्मज्ञान है। इस अज्ञान के रहने पर स्वस्वरूप का ज्ञान न रहने के कारण परस्वरूप परमात्मा की प्रपत्ति अर्थात् शरणागति के सर्वथा अनुपपन्न अर्थात् असिद्ध हो जाने पर, जीव का भवबन्धन से छूटना असम्भव हो जाता है। अर्थात् आत्मानात्म के ज्ञान के अभाव में जीव स्वस्वरूप अर्थात् अपने को ही नहीं पहचान पाता और स्वस्वरूप अर्थात् अपने को पहचाने बिना उसे परस्वरूप परमात्मा का ज्ञान नहीं होता। उसके बिना जीव में षड्विध शरणागति नहीं आ पाती। और भगवच्छरणागति के बिना जीव अपने भवबन्धन को नहीं काट पाता। क्योंकि भगवत्प्रपत्ति के बिना उसी के अधीनस्थ, भक्ति विरक्ति एवं भगवद् ज्ञान ये तीनों ही जीव को नहीं मिल पाते। जिससे जीव का भवबन्धन ज्यों का त्यों बना ही रह जाता है। जैसा कि श्रीमद्भागवत में भी कहा गया है-

भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति

रन्यत्र चैष त्रिक एक कालः।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्यु
स्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम् ।। भागवत ११-२-४२

अर्थात् जिस प्रकार भोजन करने वाले व्यक्ति के प्रत्येक ग्रास में एक ही साथ सन्तुष्टि, शरीर में शक्ति तथा क्षुधा का विनाश ये तीनों प्राप्त होते रहते हैं, उसी प्रकार भगवान की शरण में आने वाले महापुरुष के जीवन में अन्यत्र पृथक-पृथक होकर भी भक्ति, वैराग्य एवं भगवत्तत्वज्ञान ये तीनों एक ही साथ प्राप्त हो जाते हैं। संयोग से कौरवों तथा पाण्डवों का संग्राम आध्यात्मिक ही है। इसलिए सांख्य तथा योग ये दोनों ही प्रमुख रूप से जिसमें निरूपित हुए हैं, उस द्वितीय अध्याय को सांख्ययोगाध्याय कहते हैं। इसीलिए प्रथम अध्याय का अर्जुनविषादयोग नाम है।

प्रश्न- अर्जुन के विषाद को योग कैसे माना जाय?

उत्तर- सत्य ही कह रहे हो। परन्तु यहाँ तृतीया बहुव्रीहि से व्याख्या करने पर कोई दोष नहीं आयेगा। 'अर्जुन विषादेन भगवतः समत्व लक्षणयोगः यस्मिन्' अर्थात् अर्जुन के विषाद के साथ भगवान के समत्व लक्षण योग का जिसमें वर्णन है उस अध्याय को ही अर्जुन विषाद योग कहते हैं।

अथवा, अर्जुन का विषाद ही विष है। उस अर्जुन विषाद विष को जो खाता है उस योग को अर्जुन विषाद योग कहते हैं। और अर्जुन विषाद योग को ही अर्जुन विषाद योग कहा गया यहाँ 'विनाऽपि प्रत्ययं पूर्वोत्तर पदयोर्लोपो वक्तव्यः' इस वार्तिक से पूर्व विषाद शब्द का लोप हुआ। इसकी व्युत्पत्तियां समझनी चाहिए- अर्जुनविषाद एव विषम् अर्जुन विषाद विषम्, अर्जुनविषाद विषम् अत्ति समाप्नोति इत्यर्जुनविषाद विषादः। अर्जुनविषादविषाद एव योगः इत्यर्जुनविषादविषादयोगः स एव अर्जुनविषादयोगः। अर्थात् भगवान का वह योग जिसने अर्जुन के विषाद रूप विष को समाप्त कर दिया।

पूर्वपक्ष- न कहो, यहाँ प्रथमाध्याय का तो गीतात्व ही सम्भव नहीं। क्योंकि गीता योगशास्त्र है। जो योग का अनुशासन अथवा शंसन (अर्थात् वर्णन) करता है उसे योगशास्त्र कहते हैं। योग योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण द्वारा कहे गये हैं, जबकि

प्रथमाध्याय में भगवान श्रीकृष्ण का वाक्य ही प्राप्त नहीं होता। तो फिर उसे गीताके अन्तर्गत क्यों स्वीकारा गया?

उत्तर- ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि गीता १/२५ में "उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेता् कुरूनिति" इस प्रकार ग्यारह अक्षरों वाला भगवान का वाक्य मिलता है और उसी से भगवान के समत्व लक्षण योग का अनुशासन और अनुशंसन सिद्ध हो जाता है। इसके अनन्तर सांख्ययोग का प्रारम्भ होता है यही द्वितीयाध्याय की संगति है।

संजय उवाच-

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ।।१।।

रा०कृ०भा०- सामान्यार्थ- संजय धृतराष्ट्र से बोले- कि हे राजन्! इस प्रकार अर्थात् प्रथमाध्याय के वर्णन के अनुसार निरर्थक और अनुचित कृपा से अविष्कृत तथा जिनके नेत्र अश्रुपूर्ण और व्याकुल हो रहे थे ऐसे विषाद करते हुए अर्जुन के प्रति उपेक्षा का भाव न रखते हुए, मधु नामक दानव के शत्रु भगवान श्री कृष्ण यह वाक्य बोले।

व्याख्या- इस प्रकार संजय के मुख से "विसृज्य चापं रथोपस्थ उपाविशत् " अर्थात् शोकाकुल अर्जुन बाणसहित गाण्डीव को विसर्जित करके रथ के निचले भाग में बैठ, गये इस प्रकार सुनकर तथा अर्जुन को युद्ध से उपरत होने की इच्छा करते हुए समझकर, दोनों प्रकार से नेत्रहीन महाराज धृतराष्ट्र को इसके अनन्तर क्या हुआ इस प्रकार कौतूहल पूर्वक समाचार की जिज्ञासा करता हुआ देखकर, धृतराष्ट्र के हृदय में बढ़ रहे उसके पुत्र की विजयाभिलाषा रूप विशालवृक्ष को अपने वचन रूप कुल्हाड़े से काटते हुए से सञ्जय बोले। यहां यद्यपि प्रथमाध्याय के अन्तिम श्लोक में सञ्जय उवाच" प्रयुक्त हो चुका है उसके अनन्तर अभी कोई ऐसी घटना नहीं घटी है, जिससे सञ्जय के सम्बन्ध का विच्छेद हो, फिर भी विशेष भगवद् वाक्य के महत्व को प्रकट करने के लिये भगवान वेदव्यास जी ने वैशयम्पापन के मुख से उवाच पर्यन्त वाक्य खण्ड की अवतारणा कराई। धृतराष्ट्र भगवान तथा भगवान के भक्तोंसे विमुख था। इसलिए परममंगलमय गीता प्रवचन के प्रारम्भ में अत्यन्त अमंगल धृतराष्ट्र के नाम का सम्बोधन नहीं किया।

संजय कहते हैं, राजन्! शस्त्र डालकर रथ के निचले भाग में बैठ जाने पर भी भगवान नें अर्जुन की उपेक्षा नहीं की, प्रत्युत अर्जुन के प्रति गीताशास्त्र का उपदेश किया क्यों? इस पर कहते है, मधुसूदनः मधुं सूदयति इति मधुसूधनः। यहाँ नन्दादित्वात् कर्ता में भूतकाल में ल्यूट् प्रत्यय हुआ है। भगवान ने मधु दानव को मारा है उसी प्रकार अर्जुन को निमित्त बनाकर भगवान श्रीकृष्ण अधर्म में लगे हुए आपके पुत्रोंको भी मार डालेंगे और ब्रह्मा की भांति अर्जुन की रक्षा कर लेंगे, यही मधुसूदन शब्द का यहां गोपनीय तात्पर्य है। मधुसूदन अर्थात् श्री कृष्ण ने तथा अर्थात् उसीप्रकार से, कृपया यहाँ अपने कुटुम्ब के प्राण रक्षा करनेकी इच्छा ही जिसका स्वरूप है ऐसी करुणा से अर्जुन आविष्ट हैं। अथवा 'आकृपया अविष्टं' इस प्रकार पदच्छेद समझना चाहिए। संजय का आशय यह है कि- अभी भी अर्जुन पहले ही की भांति अनुचित कृपा से आविष्ट है। यह अकृपा अर्थात् अनुचित कृपा है क्योंकि कृपा तो सर्व समर्थ परमात्मा का ही विशेष गुण है। सब प्रकार से असमर्थ अणुभूत पार्थ में यह कृपा सर्वथा अनुचित ही तो है। इसी आशय से भगवतपाद आद्यशंकराचार्य जी ने भी कहा है-

दयालोरसमर्थस्य दुःखायैव दयालुता।
जगद्रक्षाधुरीणस्य तवैवैषा हि शोभते।।

अर्थात् दया करने वाले परन्तु किसी को भी प्राण दान देने में असमर्थ सामन्य जीव की दयालुता उसके दुख का ही कारण बनती है, यह तो समस्त संसार की रक्षा का भार वहन करने वाले आप श्री परमात्मा के ही पास सुशोभित होती है।

अथवा नहीं विद्यमान है परा श्रीकृष्णभक्ति जिसमें अथवा नहीं विद्यमान है समर्थक अनुमोदक अथवा विषय रूप में क्षर और अक्षर से अतीत परश्रीकृष्ण जिसमें वही अपरा कृपा ही यहाँ अकृपा है। यह सर्वथा शास्त्र के मर्यादा से शून्य होने के कारण भगवान श्रीकृष्ण की भक्ति से रहित है तथा अर्जुन की इस कृपा का भगवान श्री कृष्ण न तो समर्थन कर रहे हैं और न ही अनुमोदन। अर्जुन की यह कृपा अपने परिवार को विषय बना रही है इसलिए विषयतया भी भगवान इसमें नहीं है अतः परश्रीकृष्ण से रहित होने से यह कृपा अपरा है। अतः गीता १/२८ में कृपयापर्याऽविष्टं कहा गया है। वहाँ भी कृपया अपरयाआविष्टं यही पदच्छेद समझना चाहिये। इस प्रकार "अपरा च" सौ कृपा अकृपा। यह विग्रह करके यहाँ शाकप्रियः पार्थिवः शाकपार्थिवः

देव पूजको ब्राह्मण: देव ब्राह्मण: इत्यादि शब्दों की भांति शाकपार्थिवादि गण में मानकर परा शब्द का लोप करके मध्यमपदलोपिसमास से अकृपा शब्द सिद्ध हुआ। इस प्रकार श्रीकृष्ण और श्रीकृष्ण की भक्ति से रहित इस अकृपा रूप कर्ता से अर्जुन आविष्ट है, भूत की भांति यह अकृपा अर्जुन में आविष्ट हो चुकी है। और अर्जुन इस अनुचित तथा भक्ति भगवन से विहीन कर त्रिभूत अकृपा आवेश रूप फल के आश्रय बन चुके है। इसीलिए अर्जुन के नेत्र अश्रुपूरित और व्याकुल हैं। अश्रु शब्द का अर्थ है जो किसी के भी निषेध को सुने बिना बहते रहते हैं "न श्रुण्वन्ति कस्यचित् निषेधं इति अश्रूणि। भगवान श्रीकृष्ण के मना करने पर भी अर्जुन के आँसू बहे ही जा रहे हैं। अश्रुभि: पूर्णे अश्रु पूर्णे ईच्छते आभ्यां ईक्षणे। उन्हीं आंसुओं से पूर्ण (भरे हुए) ईक्षण अर्थात् अर्जुन के नेत्र आकुल व्याकुल हो रहे हैं। क्योंकि इन्होंने आज बहुत से भगवद् विमुखों को देखा हैं। भगवान के विमुख के दर्शन से भक्तों के नेत्र विकल हो जाते हैं। अश्रु पूर्णे आकुले ईक्षणेयस्य स तम् अर्थात् अश्रु पूर्ण और व्याकुल नेत्र हैं जिनके ऐसे अर्जुन को क्या करते हुए भगवान ने देखा इस पर कहते है- विषीदन्तं। अर्थात् विशाद् युक्त होते हुए तं अपने परम् प्रिय अर्जुन को अपनी प्रसाद सुधा से सन्तुष्ट अर्थात् जीवित करते हुए। इदं तुरन्त कहा जाने वाला यह वाक्य अथवा वासुदेव भगवान श्रीकृष्ण से उत्पन्न इ यानि काम और उससे जनित संसार को दं अर्थात् खण्डन करने वाले "इदं संसार खण्डति" महामोहान्धकार का नाशक वेदान्त महावाक्य की भाँति अविद्यानाशक दो श्लोको में यह वाक्य बोले। इद्यति खण्डयति इति इदं कृपया आविष्टं। इस कथन से अर्जुन ने कृपा के आवेश की सूचना देकर उनके मोह की अपारमार्थिकता कही गई और कृपा को आवेश रूप कहकर प्रेत के आवेश की भाँति कृपा की क्षण भङ्गुरता भी प्रतिपादित की गई। अर्थात् जैसे भूत का आवेश स्थाई नहीं होता उसीप्रकार अर्जुन में कृपा का यह आवेश क्षणिक है। जब किसी पर प्रेत का आवेश होता है तब उसकी आंखें चढ़ जाती है और वह रोते चिल्लाते अनाप-शनाप बोलने लगता है। अर्जुन की ठीक वही परिस्थिति है। भूताविष्ट व्यक्ति का भूत उतारने के लिए भूत झाड़ने वाले ओझा की आवश्यकता होती है आज अर्जुन के प्रति भगवान श्रीकृष्ण वही भूमिका निभा रहे हैं। जैसे किसी में प्रेत का आवेश होता है, उसीप्रकार आज भगवान की लीला में परमात्मा श्रीकृष्ण की भी कोई गिनती किये बिना यह कृपा पिशाचिनी परम् बलशाली अर्जुन में बलपूर्वक आविष्ट हो गई। इसलिए अर्जुन भय के कारण युद्ध से उपर नहीं हुए हैं, इनमें तो भगवान की लीला शक्ति के कारण कृपा पिशाचिनी का

आवेश मात्र हुआ है। यही आविष्टं पद से सूचित करते हैं। भगवान का वाक्य ही यहाँ पिशाचोच्चाटन भूत झाड़ने वाले ओझा का वाक्य है। वही मधुसूदन श्रीकृष्ण शीघ्र ही ओझा की भांति अर्जुन के मोहावेश को समाप्त करके उन्हें युद्ध में प्रवृत्त कर उन्हीं अर्जुन के द्वारा आपकी सेना का संहार करा डालेंगे। यही तथ्य सूचित करने के लिए मधुसूदनः उवाच अर्थात् भूत झाड़ने वाले ओझा की भांति भगवान श्रीकृष्ण बोले, इस वाक्य खण्ड का प्रयोग किया गया। ।।श्री।।

संगति- यद्यपि उवाच मधुसूदनः (गीता २/१) इस वाक्य खण्ड से ही भगवान श्रीकृष्ण के वाक्य बोलने की सूचना दी जा चुकी है, फिर भी धृतराष्ट्र के प्रति कुछ विशेष कहने की इच्छा से संजय उसे सावधान करते हुए अत्यन्त विशिष्ट अर्थ वाले वाक्य खण्ड की अवतारणा कर रहे हैं। अर्थात् हे राजा धृतराष्ट्र! अर्जुन को मोह विमुक्त करने वाले श्रीकृष्ण केवल मधुसूदन चतुर्भुज विष्णु ही नहीं है वह तो इनमें भी परम विलक्षण कुछ और भी हैं।

"श्री भगवानुवाच"

रा० कृ० भा०- सामान्यार्थ- अपने परम प्रिय परिकर श्री अर्जुन को महामोहमयी निद्रा से जगाते हुए परअन्तरंग आह्लादिनी शक्ति श्री जी से समलंकृत ज्ञान शक्ति ऐश्वर्य तेज वीर्य इन छः ऐश्वर्यों से नित्य सम्पन्न श्री भगवान मधुसूदन परमात्मा श्रीकृष्ण चन्द्र बोले-

व्याख्या- संजय कहते हैं हे राजन्! मधुसूदन शब्द से जिनका धर्म ध्वंसी दुष्टों के विनाश का स्वभाव प्रसिद्ध हो चुका है वे श्री कृष्ण केवल तुम्हारे अधार्मिक पुत्रों को ही नहीं मरवायेंगे प्रत्युत इसके साथ ही निरन्तर धर्म का पक्ष लेने वाले परम धार्मिक पाण्डवों को विजय श्री से भी युक्त कर देंगे। यही सूचित करने के लिए यहां श्री सहित भगवानुवाच इस वाक्यांश का प्रयोग किया। यहां भगशब्द ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान एवं वैराग्य इन छः विशेष गुणों का वाचक है। ये छहों विशेष गुण प्रशस्त रूप में निरन्तर जिनमें विराजते हैं वे ही श्रीकृष्ण, श्रीराम, श्रीमन्नारायण भगवान कहे जाते हैं। यहां नित्य योग और प्राशस्ति अर्थ में षष्ठी के योग में प्रथमांत भग प्रातिपदिक से मतुपप्रत्यय, अनुबन्ध कार्य, नुमागम, दीर्घ, विभक्ति लोप, संयोगांत लोप करके भगवान शब्द सिद्ध किया जाता है। भाष्य वार्तिक के अनुसार भूमा अर्थात् आधिक्य, निन्दा, प्रशंसा, नित्ययोग, अतिशयिता, सम्बन्ध तथा अस्ति

की विवक्षा में मतुप् आदि मत्वर्थीय प्रत्यय होते हैं। विष्णु पुराण में भग दो प्रकार से गिनाये गये है।

''ऐश्वर्यस्य समस्तस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गणा।।

यहां प्रत्यय के साथ समग्र शब्द की योजना करनी चाहिए अर्थात् समग्र ऐश्वर्य, समग्र श्री, समग्रज्ञान, समग्र धर्म, समग्र यश एवं समस्त वैराग्य को धर्म कहा जाता है। यही नित्य छहों ऐश्वर्य जिनमें निरन्तर विराजते हैं वे ही भगवान है। इसी व्याख्या से ब्रह्म का निर्गुणवाद परास्त हो गया। क्योंकि जब ऐश्वर्यादि छहों भग एक सब के लिए भी ब्रह्म से अलग नहीं होते तो ब्रह्म निर्गुण अर्थात् गुण हीन हुआ कैसे? यदि कहो कि वे औपाधिक दृष्टि से ब्रह्म में आरोपित हैं तो यह भी कहना उचित नहीं होगा, क्योंकि यदि ये औपाधिक है तो इनमें प्रशस्ति कैसी और यदि आरोपित हैं तो नित्य योग कैसा और प्राशस्त्य तथा नित्य योग के अभाव में भगवान इस शब्द में मतुप् प्रत्यय कैसे होगा। यदि कहो कि- प्राशस्त्य और नित्य योग में मतुप् प्रत्यय के विधान में क्या प्रमाण है तो सुनो मतुप् प्रत्यय विधायक सूत्र के भाष्य में स्थिति–

भूम निन्दा प्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने।
संसर्गेऽस्ति विवक्षायां भवन्ति मतुबादयः।।

यह पतञ्जलि का वार्तिक ही परम प्रमाण है।

यदि कहें कि- आपके सगुण पक्ष के व्याख्यान में निर्गुणं गुणभोक्तृ च (गीता १३-१४) यह भगवद् वचन ही अप्रमाणित हो जायेगा, क्योंकि इसमें तो भगवान को निर्गुण और सगुण दोनों कहा गया है? उत्तर- तो ऐसा न कहें, क्योंकि वहां निर्गुण शब्द गुण रहित अर्थ में नहीं प्रयुक्त हुआ है। वहां निर्गुण का अर्थ है निरस्ताः सत्वरजस्तमोहेयगुणायेन तत्र निर्गुणं। अर्थात् जिनके द्वारा सत्य, रज, तम् आदि हेय गुण निरस्त अर्थात दूर से ही छोड़ दिये गये हैं। वे ही भगवान निर्गुण हैं इस प्रकार के व्याख्यान से यहाँ कोई दोष नहीं आयेगा।

यद्यपि वेदान्त सिद्धान्त में समवाय सम्बन्ध को नहीं स्वीकारा जाता तथापि आश्रयाश्रयीभावसम्बन्ध से भगवान में ही समस्त निरतिशयकल्याणगुण गणों के निवास

के सिद्धान्ततः स्वीकार लेने में हम कोई शास्त्रीय विरोध नहीं देख रहे है। अब भगवान् शब्द की दूसरी व्याख्या कही जाती है-

"उत्पत्तिं च विनाशं च भूतानामगतिं गतिम् ।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति।।"

अर्थात् जो जीवों की उत्पत्ति, विनाश, अगति, गति, विद्या तथा अविद्याको जानते है उन्हीं सर्वज्ञ नारायण, श्रीराम, श्रीकृष्ण को भगवान कहा जाता है।

भूतानाम् इस पद का सबके साथ सम्बन्ध है इसलिए भूतत्वावच्छिन्न निरूपित सम्बन्धावच्छिन्नोत्पत्तिविनाशागतिगतिविद्याऽविद्या वेतृत्व ही भगवत्व है। इससे उपर्युक्त दोनों व्याख्यानों से श्रीकृष्ण के सर्व समर्थत्व के ख्यापन के साथ उनका सर्वज्ञत्व भी सूचित होता है अर्थात् सर्वसमर्थसर्वज्ञ भगवान श्रीकृष्ण बोले।

और भी भगवान शव्दकी व्याख्या कही जाती है– जिनमें हेय गुंणों को छोड़कर ज्ञान, शक्ति बल, ऐश्वर्य, तेज एवं वीर्य निरन्तर विराजते हैं उन परमात्मा को भगवानकहा जाता है।

"ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यतेजोवीर्याण्यशेषतः।
विना हेय गुणैर्यत्र स वाच्यो भगवानिति।।

इसका परिष्कृत लक्षण इसप्रकार है- "निरस्तहेयगुणत्वे सति नित्यज्ञानशक्ति बलैश्वर्यतेजोर्वीर्यवत्वं भगवत्वं।" यह लक्षण साकेताधीश्वर सीतापति राजाधिराज की आकृति से सम्पन्न आप्त काम पूर्ण काम परमनिष्काम लोकभिराम श्रीराम में तथा गोलोक विहारी आनन्दकन्द वृजेन्द्रनन्दन पार्थसारथी श्रीकृष्ण में पूर्णतया संगत हो जाता है, जैसे कि महारामायण में कहा गया है-

"भरणः पोषणाधारः शरण्यः सर्वव्यापकः।
करुणः षडगुणैः पूर्णो रामस्तु भगवान् स्वयम् ।।

अर्थात् सबका भरण करनेवाले, सबके पोषक, सर्वाधार, सबको शरण देने में समर्थ, सर्वव्यापक तथा करुण श्रीराम इन भरणत्व, पोषणत्व आधारत्व, सरण्यत्व, सर्वव्यापकत्व, करूणत्व रूप छवों भग संज्ञक गुणों से पूर्ण श्रीराम भगवान हैं।

इसीप्रकार श्रीमद् भागवद् में श्री कृष्ण के प्रति भी कहा गया है-

"एते चांशकला: सर्वे कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" (भाग १-३-२५) यहां च अथवा तु से भगवान राम का भी संग्रह समझना चाहिए।

अथवा च और तु इन दोनों निपातों के द्वारा भगवान राम की भगवत्ता में सुदृढ़ प्रमाण दिया गया है, द्विर्बद्धं सुबद्धं भवतीति। अर्थात दो बार बांधी हुई वस्तु पूर्ण बद्ध हो जाती है। इसीलिए श्रीमद् भागवत में शुकाचार्य ने पूर्णता के समानार्थक साक्षात् शब्द का प्रयोग किया है जैसे-

"तस्यापि भगवानेष साक्षात् ब्रह्मयो हरिः।
अंशांशेन चतुर्धाऽगात् पुत्रत्वं प्रार्थितः सुरैः ।।

राम लक्ष्मण भरत शत्रुघ्न इति संज्ञया भागवद् ९/१०/३। यहाँ साक्षात् स्वयं समानार्थक है। "तस्य" अर्थात उन महाराज दशरथ के यहाँ स्वयं भगवान राम ही चार प्रकार से पुत्र बनकर आये। यहाँ प्रकारता शरीर के अभिप्राय से है, अंशाशेन इस शब्द में सह के अर्थ में तृतीया है। क्योंकि साक्षात पद का प्रयोग होनो से यहां अंशावतार की परिकल्पना नहीं की जा सकती है।

अथवा अंशांशेन शब्द में एकशेषगर्भषठीतत्पुरुषसमास मानना चाहिए। भगवान श्रीराम के श्री भरत और श्री लक्ष्मण ये दोनों अंश है। श्री शत्रुघ्न अनुज होनेसे श्री लक्ष्मण के तथा अनुज होने से श्रीभरत के अंश हैं। इन तीनों के साथ प्रभु श्रीराम आये हैं।

अथवा कृपा शक्ति एवं लीला शक्ति ये दोनों भगवान के अंश हैं। इनका समाहार करके "अंशाशं" बनता है उससे उपलक्षित होकर भगवान आये। यहाँ कृपा शक्ति जनकनन्दनी सीता तथा लीला शक्ति हैं माया की सीता। भगवान श्रीराम इनदोनों से उपलक्षित हैं। इंन दोनों पक्षों में विग्रह इस प्रकार होगा-"अंशश्च, अंशौ तयो: अंश: अंशाश: तेन अंशाशेन। सीता पक्ष में- अंश: जनकनन्दनी, पुनश्च अंश: मायासीता तयो: अंशाशयो: समाहार: अंशाशं, आर्षत्वात् एकशेषो न तेन अंशांशेन।

अथवा यहां अंश का तात्पर्य है नारायणांश। ब्रह्मा और उन ब्रह्मा के अंश भूत

है भगवान शिव, वहीं हनुमान रूप में श्री रामावतार में अवतीर्ण हुए थे। उन नारायणांश ब्रह्मा के अंश शिव रूप हनुमान जी के साथ। अंशः नारायणांशो ब्रह्मा, तस्यांशः शिवो हनुमान् तेन सह"। कहा भी गया है- कार्तिक मास की कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी तिथि में मंगल के दिन स्वातिनक्षत्र तथा मेषलग्न में अञ्जना के गर्भ में सदाशिव भगवान महेश्वर का प्राकट्य हुआ।

"ऊर्जे कृष्ण चतुर्दश्यां भौमे स्वात्यां सदाशिवः"।
मेष लग्नेऽञ्जनागर्भाद् प्रादुर्भूतो महेश्वरः।।

अथवा अंशों के समूह को आंश कहते हैं। वह आंश समूह (सर्वा) सभी अवतार जिनमें हो वे श्रीराम ही अंश हैं, क्योंकि वे सभी अवतारों के अवतारी हैं अंश श्री भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न के साथ अवतार लेने से उन्हें अंशांश कहा जाता है यहां अभेद में तृतीया है अर्थात् अपने अंश श्रीभरत, श्रीलक्ष्मण, श्रीशत्रुघ्न सहित आंश सर्वावतारी साकेतविहारी श्रीराम से अभिन्न अर्थात स्वयं साकेताधिपति श्रीराम ने ही पुत्र रूप में दशरथ जी के यहाँ जन्म लिया। यहाँ "आंश" शब्द में पहले समूहार्थ में "अण्" और फिर मत्वर्थीय "अच्" प्रत्यय होगा। अंशानां समूहः आंशं आशं अस्ति अस्मिन् इति आंशः। सर्वावतारी। अंशैः सहितः आंशः इति अंशांशः। तेन अभिन्नः इति अंशांशेन। इसलिए श्री रामचरित मानस में स्वयं साकेत विहारी श्रीराम कहते हैं-

अंसन्ह सहित देह धरि ताता।
करिहौ चरित भगत सुखदाता।। (मानस १/१५२/२)

अथवा सभी अंश, कच्छ मत्स्यादि अवतार, जिनमें विराजते हैं वे महाविष्णु श्रीराम केही अंश हैं। यहां बाहुलक के बल पर मत्वर्थ में भी अण् प्रत्यय हुआ। अंश अर्थात् क्षीरसागर वैकुण्ठ एवं श्वेतद्वीप पति विष्णुरूप श्री भरत, लक्ष्मण शत्रुघ्न के साथ अंशाश से अभिन्न भगवान श्रीराम देवताओं द्वारा चतुर्धा अर्थात् नाम, रूप, लीला, धाम इन चार रूपों से प्रार्थित होने पर श्रीदशरथ जी के यहां पुत्र रूप में प्रकट हुए। अथवा सुरैः शब्द मे आदरार्थ बहुवचन है। अर्थात जब देव श्रेष्ठ ब्रह्मा जीने चतुर्धा अपने चारों मुखों से प्रार्थना की तब श्रीराम दशरथजी के यहां परिपूर्णतम परब्रह्म रूप में प्रकट हुए। न तो वे अपूर्ण हैं और न ही मत्स्यादि की भाँति आवेशावतार, तथा न ही कपिलादि की भाँति कलावतार और न ही परशुराम आदि

की भाँति अंशावतार, वे तो सभी अंशो के अंशी स्वयं परिपर्णतम ब्रह्म है, अंशानां आंश: अंशांश: तेन अंशांशेन?" वे श्रीराम कैसे हैं? इस पर आगे कहते हैं- वे साक्षात् अवतरित हुए अंशत: नहीं। अर्थात् पृथु आदि कलावतारों से मत्स्य आदि आवेशावतारों से बौद्ध आदि अंशावतारों से तथा नृसिंहादिपूर्णावतारोंसे विलक्षण । परब्रह्म कौन? इस पर कहते हैं ब्रह्म मय: यहां स्वार्थ में मयट प्रत्यय हुआ है। ब्रह्मैव अर्थात् ब्रह्म ही अवतीर्ण हुए न की उनका कोई अंश।

वे कौन? इस पर कहते हैं– एष: साक्षात् भगवान ये साक्षात भगवान ही हैं। जो कुछ लोग ऐसा प्रलाप करते है कि– श्रीराम बारह कला के और श्रीकृष्ण सोलह कला के अवतार हैं- वह अनर्गल और अशास्त्रीय है। क्योंकि श्रीवाल्मीकि एवं श्री वेदव्यास ने श्री राम एवं श्री कृष्ण इन दोनों को ही परिवूर्ण परब्रह्म माना है। वास्तव में श्रीराम एवं श्रीकृष्ण में ये दोनों ही अवतारी हैं। एक ही भगवान श्रीराम साकेत लोक में श्री सीता जी के साथ और गोलोक में श्रीकृष्ण के रूप में श्री राधा जी के साथ विराजते हैं। इसीलिए श्रीराम स्तवराज में रामं कृष्णं जगन्मयम् और कृष्णो गोपीजनप्रिय: इत्यादि दोनों के अभेद परक वाक्य संगत होते हैं। यद्यपि श्रीमद् भागवत में श्रीकृष्ण के प्रति बहुत बार अंशेन यह प्रयोग देखा गया है। तत्रांशेनावतीर्णस्य (भा० १०/१/२) अथाहमंशभागेन (भागवत १०/२/९) आविवेशांश भागेन (भाग० १०/२/१६) अवतीर्णोऽशभागेन (भाग० १०/१०/३५)। मन्येनारायणस्यांशं कृष्णमक्लिष्टकारिणम् (भाग १०/२६/२३)। अवतीर्णौ जगत्यर्थे स्वांशेन बलकेशवौ (भागवत-१०/३८/३२) इत्यादि।

सौभाग्य से श्री वाल्मीकीय रामायण में हमको एक भी ऐसा प्रमाण नहीं मिलता जिससे श्रीराम का अंशावतारत्व सिद्ध होता हो। प्रत्युत श्री वाल्मीकि ने सर्वत्र ही भगवान श्रीराम को अंशावतारी ही गाया है। जैसे अक्षय्यं मधुहन्तारं जानामि त्वां सुरेश्वरम् (वा० रा० १/७६य१७)

"त्वया त्रैलोक्यनाथेन यदहं विमुखी कृत:" (वा० रा० १/७६/१९)
स हि देवैरूदीर्णस्य रावणस्य वधार्थिभि:।
अर्थितो मानुषे लोके जज्ञे विष्णु सनातन: ।। वा० रा० २/१/७

व्यक्तमेष महायोगी परमात्मा सनातन:।

अनादिमध्यनिधनो महतः परमो महान् ।। वा० रा० ६/१११/११

इस प्रकार आर्ष वाक्यों के समूह से भगवान श्रीराम के परिपूर्णतमता के प्रमाणित हो जाने पर भी यदि कोई दुराग्रही लोग भगवान श्रीराम को बारह कला का अपूर्ण अवतार मानते हैं, तो वे नरक में जाने की इच्छा कर रहे हैं और उनका यह प्रलाप ही है।

वास्तव में तो श्रीराम एवं श्रीकृष्ण में दोनों सभी अवतारों के अवतारी एवं परिपूर्णतम् परब्रह्म है। श्रीमद्‌भागवत में भगवान श्रीराम "कलेश" अर्थात् कलाओं का ईश्वर कहे जाने से रघुनाथ जी की द्वादश कलात्मक अवतार की बात अपने आप निराधार सिद्ध हो जाती है। जैसे-

द्वितीयस्कन्ध में स्वयं भगवान ब्रह्मा कहते हैं हमलोगों पर प्रसाद दृष्टि करके, मुस्कुराते हुए, सम्पूर्ण कलाओं के ईश्वर भगवान श्रीराम कला अर्थात अमरत्व प्रदान करने वाली महारानी श्रीसीताजी के सहित, इक्ष्वाकु वंश में अवतार लेकर, पत्नी एवं श्री लक्ष्मण जीके साथ पिता श्रीदशरथजी के आदेशानुसार वन में प्रविष्ट हुए, जिन प्रभुश्रीराम से विरोध करके रावण घोर संकटों को प्राप्त हुआ। (भागवत २-७-२३)।

अब प्रश्न उठता है कि यदि भगवान श्रीराम परिपूर्णतम परब्रह्म हैं तो फिर महर्षि बाल्मीकि ने उन्हें विष्णु का आधा क्यों कहा? यथा- विष्णोरर्धमहाभागं पुत्र मिइक्ष्वाकु नन्दनम् (वा० रा० १-१८-१०)।

उत्तर- ऐसा है तो सुनो! चूँकि अखण्ड महाविष्णु के लिए सर्वथैव आधे का विभाग करना अनुपपन्न अर्थात असिद्ध है इसलिए व्यवहार के बल से भी विष्णोर्द्ध श्लोक में कहा हुआ अर्धम् अर्थात् आधे टुकड़े का वाचक नहीं है। क्योंकि अर्ध शब्द खण्ड किये जाने पर वस्तु के दो भाग में विभक्त होने पर अंश विशेष की प्रतीति कराता है। जबकि विशुद्ध आनन्दघन जीवात्मा का ही खण्ड नहीं हो सकता तो फिर निरन्तर अखण्ड परमात्मा के टुकड़ों की क्या चर्चा, का कथा। गीता २/ २३-२४ के अनुसार जीवात्मा को शस्त्रों से अछेद्य कहा गया है तो फिर परमात्मा को कौन काट सकता है। किसी वस्तु को टुकड़ा करना यह एक विकार है। विकार क्षेत्र अर्थात शरीर के होते हैं, अर्थात् जीवात्मा तथा क्षेत्रज्ञेश्वर अर्थात् परमात्मा के

नहीं। परमात्मा की निर्विकारता समस्त शास्त्रों में प्रसिद्ध है। जैसा कि गीता जी में भी भगवान कहते हैं कि विकारों के सहित यह क्षेत्र अर्थात् शरीर संक्षेप से कहा गया। (गीता १३-६)। इसलिए इस अर्ध शब्द का कोई नवीन अर्थ होना चाहिए। इसलिए अर्धनोत इति अर्धः। जो विष्णु को भी अर्धनोति यानी अठारह सिद्धि नौ निधि रूप से सम्पन्न कर देते है उन भगवान महाविष्णु को अर्ध कहा जाता है। यहाँ अर्ध शब्द का अर्थ है ऋद्धिमान् करने वाला न कि आधा टुकड़ा, अतः वाक्य का अर्थ हुआ- विष्णोऽर्ध भगवान विष्णु को भी ऋिद्धियों से युक्त करने वाले श्रीराम को कौशल्या ने जन्म दिया।

इस प्रकार विष्णोः अर्ध का अर्थ है– महाविष्णु भगवान श्रीराम। इसी प्रकार भगवान श्रीकृष्ण के प्रकरण में भी जहाँ जहाँ अंश शब्द का प्रयोग दिखे, वहाँ कहीं तो अंश शब्द से श्री बलराम तथा कहीं ज्ञान आदि विभूति अर्थ समझना चाहिए। वह भगवत पदार्थ श्रीराम एवं श्रीकृष्ण रूप में महाविष्णु ही है जैसाकि, श्रीमद्‌भागवत में भी कहा गया है-

अथापि यत्पादनखावसृष्टं
जगद् विरिञ्चोपहतार्हणाम्भः।
सेशं पुनात्यन्यतमोमुकन्दात्
को नाम लोके भगवत्पदार्थः।। भागवत् १-१८-२१

जिन प्रभु के श्री चरण कमल का अवशिष्ट जल, जो कि ब्रह्मा जी द्वारा उपहार में अर्पित परमपूज्य जल के रूप में जाना जाता है, जिसने समस्त संसार को पवित्र किया है और आज भी पवित्र कर रहा है, उस जल के स्रोत रूप भगवान मुकुन्द से अतिरिक्त इस लोक में भगवत्पदार्थ हो ही कौन सकता है? अर्थात् जिनके चरण से प्रगटी हुई गङ्गाः त्रिलोकपावनी बनी वही श्रीमन्महाविष्णु ही भगवान हैं। इसलिए भगवान मुकुन्द से अतिरिक्त और कोई भी भगवत् पद का अर्थ नहीं हो सकता। ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य आदि असंख्येय कल्याण गुणगणों की पुष्कलना को कहने वाले भगवान शब्द के द्वारा उसके प्रवृत्ति-निमित्तों का आश्रय महाविष्णु के अतिरिक्त और कौन हो सकता है। इसप्रकार भागवत्‌भावर्थदीपिका में श्रीधर स्वामी भी कहते हैं- भगभाजनत्व नित्यरूप से भगवान में ही है जैसा कि सनकादि भी कहते हैं-

यस्तां विविक्तचरितैरनुवर्तमानां
नात्याद्रियत्परमभागवतप्रसङ्गः।
स त्वं द्विजानुपथपुण्यरजः पुनीतः
श्रीवत्सलक्ष्म किमगा भगभाजनस्त्वम्। (भागवत ३/१६/२१)

अर्थः-सनकादि विनम्रता पूर्वक निवेदन करते हैं- हे परमात्मन्! जो आप श्रीमान् महाविष्णु परमभागवत अपने भक्तों में इतनी अधिक आसक्ति रखते हैं कि उन भक्तों के समक्ष तो, निरन्तर अपने ऐकान्तिक पत्नी समुचित चरित्रों से आपकी परिचर्या में लगी हुई अपनी प्रियतमा श्रीमहालक्ष्मी का भी उतना आदर नहीं करते क्या वही आप ब्राह्मणों द्वारा सेवित मार्ग की पुण्य धूलि से पवित्र होते हैं? क्या लक्ष्मी के निवास से प्राप्त किया है? यह सब तो हम ब्राह्मणों तथा श्रीमहालक्ष्मीजी को गौरव देने के लिए ही आपकी लीला का परिणाम है। आप तो स्वयं ही नित्य सिद्ध ऐश्वर्यादि छहों भगों के प्राप्त हैं अर्थात ये ऐश्वर्यादि दिव्य गुण आपको छोड़कर कहीं रह ही नहीं सकते। वस्तुतः इन्हें आश्रय देकर इन पर आपने ही उत्तमर्णता प्रस्तुत की है।

इसप्रकार समस्त तम आदि हेय गुणों को स्वयं से अत्यन्त दूर फेंक देने वाले सभी कल्याणकारी गुणों के एक मात्र आश्रय, छः ऐश्वर्यों से युक्त अपनी आह्लादिनी शक्ति प्रपत्ति के साथ निरन्तर विराजमान, परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण उवाच-दो श्लोकों वाला अलौकिक वाक्य बोले! यही श्री भगवानुवाच का भाव है ॥श्री॥

संगतिः-इसके अनन्तर शोक-मोह महासागर से श्री अर्जुन को पार करते हुए भगवान श्रीकृष्ण आक्षेपपूर्वक दो श्लोकों वाला वाक्य बोले-

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥२॥

रा०कृ०भा०- सामान्यार्थ- हे सरल तथा निर्मल स्वभाव वाले, ब्रह्म विद्या के श्रेष्ट अधिकारी अर्जुन! इस विषम स्थल में अनादि अर्थात् मुझसे विमुख अवैष्णव नास्तिकों द्वारा सेवित्, नरक प्राप्ति का हेतु, अपयश को उत्पन्न करने वाला यह तुच्छ मल तुममें कहाँ से आकर उपस्थित हो गया।

व्याख्या- प्रथमाध्याय में अर्जुन के द्वारा साढ़े अट्ठारह श्लोकों से कहे हुए अनात्म ज्ञान सम्बन्धी शोकमोहत्मक शास्त्रविरूद्ध कथन सुनकर, अर्जुन के द्वारा ही पृथ्वी के भार बने हुए असुर रूप राजाओं का वध कराने की इच्छा करते हुए तथा उन्हीं पार्थ को निमित्त बनाकर श्री गीतामृत द्वारा इस समस्त संसार को जिलाने की इच्छा करते हुए मधुसूदन भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन पर आक्षेप करते हैं। हे अर्जुन! हे विमल आचरण वाले, ब्रह्म विद्या के अधिकारिन्। तुम ऋजु होने से अर्जुन हो तथा शरणागति रहस्यों का अर्जन करने से भी तुम्हें अर्जुन कहते हैं। यहाँ विषम का अर्थ है भयंकर युद्धस्थल। इसमें उपस्थित होकर भी युद्ध के लिए निर्णय कर लेने पर त्वाम् अर्थात् तुमको तुम्हारे प्रति तुममें ये भाव कैसे आया। यहां त्वामौद्वितीयाया: (पा० अ० ८/१/२३) इस सूत्र से त्वां को त्वा आदेश हो गया। जबकि तुम मेरे अनन्य परिकर तथा परमभागवत हो। अब कश्मल शब्द के ही तीन विशेषण देते हैं अनार्यजुष्टम् आर्य शब्द आरात् अव्ययपूर्वक या धातु से क प्रत्यय से निष्पन्न होता है। आरात्यान्ति ब्रह्मतत्त्व येते आर्या: अर्थात् जो शीघ्र और समीप ब्रह्म तत्त्व को प्राप्त करते हैं उन्हें आर्य कहा जाता है जो ब्रह्म तत्व नहीं जानते उन्हें अनार्य कहा जाता है। तुम्हारा यह कश्मल उन अनार्यों से सेवित है। अथवा बड़े भाई को आर्य कहते हैं। महर्षि वाल्मीकि एवं वेदव्यास जी ने इसीप्रकार व्याख्या की है जैसे- भरत जी अपने बड़े भइया श्रीराम जी को आर्य शब्द कहते हैं।

अधिरोहार्यपादाभ्यां पादुके हेमभूषिते।
एतेहि सर्व लोकस्य योगक्षेमं विधास्यत:।। (वा० रा० - २।११२/२१)

आर्योऽनुजस्तव गजायुत सत्ववीर्य: (भाग० १/१५/९) ममार्य: पूज्योभीमो यह अन्वितार्थप्रकाशिका टीका में व्याख्या की गई है। इसप्रकार यहाँ आर्य शब्द युधिष्ठिर एवं भीमसेन दोनों का वाचक है अर्थात् जिसकी तुमने चर्चा की है यह अज्ञान तुम्हारे सबसे बड़े भ्राता आर्य युद्धिष्ठिर तथा तुमसे बड़े मझले भइया आर्य भीमसेन द्वारा जुष्ट अर्थात स्वीकृत मार्ग से सर्वथा भिन्न और विरूद्ध है। आर्यौ- युधिष्ठिरभीमौं ताभ्यां जुष्टं आर्य जुष्टं तद्भिन्न तद्विरुद्धम् च अनार्यजुष्टम् अर्थात् इस पक्ष का तुम्हारे बड़े भ्राता युधिष्ठिर एवं भीमसेन भी असहमतपूर्वक विरोध करते हैं। अर्थात् पाप के डर से जो तुमने युद्ध से पलायन रूप कार्य किया और कहा यह तुम्हारे दोनों बड़े भ्राताओं द्वारा भी नहीं स्वीकारा गया। वे भी शस्त्र लेकर युद्ध की इच्छा करते हुए कुरुक्षेत्र में उपस्थित हो रहे हैं। तुम्हीं एक ऐसे हो जो डरकर युद्ध से

पलायन कर रहे हो। अब अर्जुन कह सकते हैं कि- यदि कुटुम्ब भर से उपरत होना स्वर्ग का साधन बन रहा हो तो युद्ध से पलायन करना श्रेठ ही है। अर्जुन की इस शंका का परिहार करते हुए श्री हरि कहते हैं अस्वर्ग्यं स्वर्गायहितं स्वर्ग्यं, नस्वर्ग्यं अस्वर्ग्यं जो स्वर्ग के लिए हितकर हो उसे स्वर्ग्य कहते हैं। यहाँ स्वर्ग शब्द से हित अर्थ में गवादित्वात् यत् प्रत्यय हुआ। अर्थात् तुम्हारा यह पक्ष तो स्वर्ग साधन से भिन्न और विरुद्ध है। यह तो तुम्हें नरक में ले जायेगा। यदि कहो कि– कीर्ति मिल जाय तो नरक में भी जाना श्रेयस्कर होगा इस पर भगवान कहते हैं- अकीर्तिकरम्। अकीर्ति करोति तद्हेतुः। यह तो अपयश का कारण बनेगा। इस युद्ध के पलायन से तुम्हें कीर्ति मिलने वाली नहीं है। तुम्हारी यह आशा भी मरु मरीचिका ही है क्योंकि, इससे तुम्हें कीर्ति से विरुद्ध अकीर्ति ही मिलेगी। तुम्हारे युद्ध से पलायन कर देने पर यहाँ आये हुए सभी राजसुभट तुमको कायर, क्लीव, पुरुषार्थ शून्य, और भीरू ही मानेंगे। इस प्रकार अवैष्णवों से सेवित, नरक साधन, अयशस्कर यह अपवित्र कुत्सित मन तुम जैसे मुमुक्षु तथा मेरी शरण में आने के लिए इच्छुक तुम जैसे सतर्क और चतुर साधक में कहाँ से आ गया? अरे मुझ जैसे सर्वसमर्थ परमात्मा के उपस्थित रहने पर भी मेरी व्यापकता से कौन सा स्थान छूट गया कि जहाँ से यह मोह तुममें आया। हाय! मुझ जैसे परम हितैषी परमात्मा के उपस्थित रहने पर भी तुमको इसप्रकार कौन लूट रहा है?

मेरी छत्र छाया से समावृत तुम्हारा सिर,
मोह मय मूसल से कौन कूट रहा है।

मेरी भगवत्ता की परिधि पूत परिखासे,
पार्थ आज तेरा कौन क्षेत्र छूट रहा है।

मुझ सा समर्थ सखा पाके भी धनञ्जय का,
काँच कुम्भ (आमघट) जैसे कैसे कर्म फूट रहा हैं।

'गिरिधर' की भी आज सजग उपस्थिति में,
कौन मौन लुण्ठक यों तुम्हें लूट रहा है।।

इसी विस्मय को सूचित करने के लिए भगवान कहते हैं- कुतः ।।श्री।।

संगतिः- तो फिर मुझे क्या करना चाहिए? इस पर भगवान उत्तेजना भरे स्वर में कहते हैं-

क्लैव्यं मास्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदय दौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थः- हे पृथापुत्र अर्जुन! अब उर्वशी के शाप का कार्य समाप्त हो चुका है, तुम्हारा एक वर्ष का अज्ञात वास पूर्ण हुआ है, फिर नपुंसकता को न स्वीकारो, अब पुरुषार्थ का आश्रय लो क्योंकि यह क्लीवता तुम जैसे, संग्राम में भगवान शिव को भी संतुष्ट कर देने वाले वीर शिरोमणि सव्यसाची अर्जुन के लिए उचित नहीं है। हे परंतप! शत्रुओं को संतृप्त करने का सामर्थ्य रखने वाले पार्थ! अपने हृदय में छिपे हुए इस बहुत छोटे नीच दुर्बल भाव को छोड़कर उठो, और युद्ध करो।

व्याख्याः- यहाँ पार्थ शब्द भगवान के कई अभिप्रायों से जुड़ा हुआ है। पार्थ तुम उस पृथा के पुत्र हो जो दसो दिशाओं में मेरी भक्ति महिमा का विस्तार करती है। पश्यति मद्भक्तिमहिमानं या सा पृथा। तस्याः अपत्यम् पुमान् पार्थः। तत्सम्बुद्धौ हे पार्थ।

हे पृथा के तृतीय पुत्र! मेरी भक्ति का विस्तार करते हुए पृथा कुन्ती ने अपने महान तप से इन्द्र को प्रसन्न करके उन्हीं से तुमको प्राप्त किया। इन्द्र मेरी विभूति हैं, देवानामस्मिवासवः गीता १०-२२। अतः मेरी विभूति से जन्म लेने के कारण तुम भी मेरी एक विभूति ही हो। तुमने दैवीसम्पत्ति में जन्म लिया है। इसप्रकार दैवी सम्पत्ति में जन्मे हुए अभय स्वरूप तुममें भय रूप आसुर भाव न आ जाय, इस स्वरूप का स्मरण कराने के लिए भगवान 'पार्थ' सम्बोधन करते हैं।

'क्लैब्य' का अर्थ है क्लीव का भाव अर्थात् नपुंसकता। मा स्म गमः। अर्थात् मत प्राप्त करो। यहां मा स्म पूर्वक गम् धातु से "स्मोत्तरे लङ् च" (पा० अ० ३/३/७६) सूत्र से लुङ् लकार हुआ। इसका अर्थ है मत जाओ अर्थात् मत प्राप्त करो। इस सूत्र मे च का प्रयोग होने से स्म शब्द से व्यवहित 'मा' का योग होने पर भी भविष्यतकाल में भी सम्भावित लकारो को बाँधकर लङ् तथा लुङ् लकार का विधान है।

क्लैब्यं मास्म गमः पार्थ!

इस प्रथम चरण से भगवान कहना चाहते हैं कि- यह क्लैव्य तुम्हारे लिए पूर्व अभ्यस्त है, जबकि उर्वशी द्वारा अभिशप्त होने पर तुमने इसे एक वर्ष पर्यन्त ससम्मान स्वीकार करके भोगा क्योंकि उस शाप की उतनी ही अवधि थी। तुम्हारा वह काल चला गया। वह नपुंसकता विराट्पुर में उपयुक्त थी, पर वह इस कुरूक्षेत्र के रूप में उपयुक्त नहीं है। इसलिए, अब उस नपुंसक भाव को छोड़ दो, क्योंकि यहाँ किसी कन्या को संगीत शास्त्र नहीं पढ़ाना है। यह नपुंसकता तुम जैसे, संग्राम में भगवान शंकर को सन्तुष्ट करने वाले, इन्द्रपुर की सुन्दरियों द्वारा धनुर्विधा माहात्म्य का पुरस्कार पाने वाले अर्जुन में उपपन्न अर्थात् उचित नहीं लग रही है।

इसलिए हे परंतप! तुमने पूर्व में अपने शत्रुओं को संतप्त किया है। परान् शत्रून् अतीतपत् इति परंतपः यहां "द्विषत् परयोस्तापे (पा० अ० ३/२/३९) सूत्र से भूतकाल में खच् प्रत्यय तथा उसके परे रहने पर मुम् आगम और ह्रस्व हुआ। अर्थात् तुमने पूर्व काल में अपने शत्रुओं को अपने पराक्रम से उत्पीड़ित किया था इस समय वह पराक्रम क्यों भूल रहे हो। इसप्रकार अर्जुन को प्रोत्साहित करने के लिए भगवान ने परंतप सम्बोधन किया। शास्त्र के द्वारा निषिद्ध होने से यह हृदय का दौर्बल्य अर्थात् अंतःकरणकी दुर्बलता अत्यन्त क्षुद्र है अतः इसे छोड़कर 'उत्तिष्ठ' गाण्डीव लेकर युद्ध के लिए उपस्थित हो जाओ। अर्जुन रथ के निचले भाग में बैठ गये हैं। रथोपस्थः उपाविशत, अर्जुन की इस उपाविशात क्रिया को अनुचित मानकर भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं- उत्तिष्ठ बैठे ही न रहो खड़े हो जाओ- पहले भी तो खड़े थे। परन्तु हृदय की दुर्बलता नहीं छोड़ी थी तथा मेरा आदेश भी नहीं हुआ था। महाभारत में यह तथ्य स्पष्ट किया गया है कि- सभी उपनषिदे गात्र हैं तथा उनका दोहन करने वाले भगवान कृष्ण गोपाल हैं, अर्जुन हैं बछड़े, सुधी जन ही हैं। इस दुग्ध के उपभोक्ता और गीताऽमृत ही है सुन्दर दुग्ध। यहाँ इसी सूत्र को चरितार्थ कर रहे हैं। उत्तिष्ठ शब्द से कठोपनिषद के प्रथम अध्याय के अन्तिम उपदेश को सारांशतः कहते हैं। यह मंत्र है उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्या दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति" क० उ० १-३-१४। उपदेश का उपसंहार करते हुए श्रुति कहती है- हे सोये हुए लोगों उठो अर्थात पलंग छोड़कर खड़े हो जाओ। बहुत से लोग चलते-चलते सोते रहते हैं। कुछ लोग सोते-सोते कोसों चले जाते हैं। इस पर श्रुति कहती है जाग्रत केवल उठकर खड़े होने से ही कार्य नहीं

चलेगा जग जाओ। अर्थात् तुम्हारी गतिशीलता जागरूकता के साथ होनी चाहिए, कोई भी यात्रा सोच समझकर करो। उठना और जागना ही पर्याप्त नहीं है। अत: श्रुति कहती है। प्राप्य वरान् निवोधत श्रेष्ठ महापुरुषों को प्राप्त करके उन्हीं से अपना गन्तव्य निश्चित करो। क्योंकि यह ज्ञानमार्ग अत्यन्त तीक्ष्ण छुरी की धार है। यह पथ अत्यन्त दुर्गम है, ऐसा मनीषी लोग कहते हैं। इसी मंत्र का यहाँ उत्तिष्ठ पद से संकेत किया गया है।

यही श्लोक सम्पूर्ण भगवदगीता का सूत्र है। इस तथ्य को हम स्थल-स्थल पर स्पष्ट करते रहेंगे। यह वाक्य मैंने अभी कहा है कि "क्लैब्यं मा स्म गम:" यह वाक्य गीता जी का सूत्र है। निष्क्रियता अथवा प्रयत्न शून्यता को क्लैब्य कहते हैं। यह क्लैब्य अर्थात नपुंसकता शरीर की दृष्टि से नहीं प्रत्युत शरीरी अर्थात् जीवात्मा की दृष्टि से इस प्रसंग में अभिप्रेत है। आशय यह है कि- परमार्थ के पथ में यदि कोई शारीरिक दृष्टि से नपुंसक है भी परन्तु उसका आत्मतत्व पुरुषार्थी है। तो वह अपने साध्य को पाने में सफल हो जाता है। इसीलिए श्रुतियों और स्मृतियों में सर्वसाधारण के जीवात्म तत्व को पुल्लिंग निर्देश से ही कहा गया है। जैसे- भगवती श्रुति कहती है। मैं 'मुमुक्षु' भगवान के शरण में जा रहा हूँ। यह शरणागति नारी नर नपुंसक सबके लिए साधारण है। जैसा कि मानस उत्तर काण्ड में भगवान श्रीराम भुशुण्डि जी से कहते है-

पुरुष नपुंसक नारि वा, जीव चराचर कोइ।
सर्व भाव भज कपट तजि, मोहि परम प्रिय सोइ।। मानस-७/८७ क

इसीलिए श्रुतियों और स्मृतियों में सहस्त्रों उदाहरण पुल्लिंग निर्देश के ही मिलते हैं। जीवात्मा पुरुष ही होता है नारी अथवा नपुंसक नहीं, फिर क्लैब्यं मा स्म गम:" प्रयोग क्यों किया गया?

उत्तर- यहाँ क्लैव्य का तात्पर्य यह है कि- जब जीवात्मा पुरुषार्थ छोड़कर केवल भाग्यवाद का अवलम्बन ले लेता है तथा अकर्मण्य हुआ शरीर रूप रथ के निचले भाग में बैठ जाता है अर्थात् गतिशीलता समाप्त कर लेता है तब उसे क्लैब्य कहते हैं। और भगवान ने यहाँ इसी क्लैव्यता की निन्दा की है, इसलिए यहाँ क्लैब्य का निषेधवचन आत्मपुरुषार्थ की शून्यता को समाप्त करने के लिए है। वास्तव में भगवान का पुत्र होने के कारण आत्म पुरुष ही है। इसीलिए व्याकरण में

भी "इन्द्रियमिद्रदत्त" इत्यादि सूत्र में भाष्य करते हुए भगवान पतञ्जलि ने भी इन्द्र आत्मा यह पुल्लिंग निर्देश किया है इसीसे आत्मा के लिए श्रुतियों तथा स्मृतियों में पुल्लिंग के निर्देश ही उपलब्ध हैं।

जैसे कि-

"न जायते म्रियते वा विपश्चित्" प्रणवं धनुः सरोह्यात्मा, नायमात्मा बलहीनेने लभ्यः"

"नाययात्मा प्रवचनेन लभ्यो"
न जायते म्रियते वा कदाचित्
"नात्मानमवसादयेत्"
नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि"

ये सभी निर्देश जीवात्मा के लिए पुल्लिंग में ही कहे गये हैं। ज्ञान तथा भक्ति इन दोनों में प्रयत्नसापेक्षता होने के कारण पुरुषार्थता समान रूप से स्वीकारी गयी हैं। मोक्ष चतुर्थ पुरुषार्थ है और भक्ति पञ्चम पुरुषार्थ। जैसा कि हमारी सम्पूर्ण श्रद्धाओं का केन्द्र अभिनव बाल्मीकि जगत् गुरू श्रीमद आद्य रामानन्दाचार्य जी के श्री कमल के पराग रस के रसिक भ्रमर स्वरूप स्वामी श्री नरहर्यानन्द जी के कृपा पात्र शिष्यों के मुकुटमणि श्री तुलसी दास महाराज ने भी श्री रामचरित मानस में जीवाचार्य श्री लक्ष्मण जी के मुख से कहलवाया है-

सखा परम परमारथ एहू।
मन क्रम बचन राम पद नेहू ।। मानस २/९३/५

इस तथ्य को अद्वैत वीथी पथिकों द्वारा जिनके श्री चरण कमलों की पूजा की गई है, ऐसे श्री मधुसूदन सरस्वती अपने भक्ति परक भगवद्भक्ति रसायन ग्रन्थ में समर्थित करते हुए कहते हैं-

नवरसमिलितं वा केवलं वा पुमर्थम्
परममिह मुकुन्दे भक्तियोगं वदन्ति
निरूपम सुख संविद्रूपमस्पृष्टदुःखं
तमिममखिलतुष्टयै शास्त्रदृष्ट्या व्यनज्मि।।

अर्थात यहां भगवद् विषय भक्तियोग को कुछ लोग नवरसों में अन्तर्भाव करके तथा कुछ लोग स्वतन्त्र रूप से मानते हुए भी एक मत से परम पुरुषार्थ कहते हैं। उसी सम्पूर्ण उपद्रवों से शून्य, अलौकिक रूप भक्ति सिद्धान्त को मैं सभी दार्शनिकों को सन्तुष्ट करने के लिए शास्त्र के रूप में निरूपित कर रहा हूँ। इस श्लोक में प्रयुक्त वा अव्यय अरूचि का बीज है। यह नव रस मिलितं तथा केवलं इन दोनों पदों के साथ अन्वित है, परन्तु पुमर्थम् के साथ नहीं। तात्पर्य यह है कि- भले हैं मम्मट रुद्रट, आनन्द वर्धन, विश्वनाथ, जयदेव, जगन्नाथ आदि साहित्याचार्य जो भक्ति को नवों रसों में मिलित अर्थात अन्तर्भूत मानते हैं और इसे देवादि विषया रति कहकर शृंगार में ही अन्तर्भूत कर डालते हैं। इसके विपरीत चैतन्य महाप्रभु श्रीधर स्वामी, भोज, गोस्वामी तुलसीदास, वल्लभाचार्य महाप्रभु, रूप गोस्वामी जी, विश्वनाथ चक्रवर्ती आदि वैष्णवाचार्य भक्ति रस को स्वतंत्र रस मान लेते हैं, परन्तु ये दोनों ही इसकी परम पुरुषार्थता में एकमत हैं। सभी अद्वैती तथा द्वैती वेदान्ताचार्यों के भी मत में भक्ति ही परम पुरुषार्थ है। अतः कहते है-

''मुकुन्दे भक्तियोगं परमं पुमर्थं वदन्ति''

अर्थात् सभी आचार्य एक मत होकर भगवदविषयक भक्तियोग को परम पुरुषार्थ मानते हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष पुरुषार्थ है! यह वचन तो 'हल ही मेरा जीवन है। इस वचन की भाँति ही औपचारिक है। इस प्रकार स्वयं मधुसूदन सरस्वती हरिभक्ति रसायनम् के प्रथम परिच्छेद में व्याख्या करते हैं। इसप्रकार सिद्ध हुआ कि परम पुरुषार्थ भक्ति में भी पुरुषार्थवाद की अपेक्षा है। व्यवहार में माता विषमलिङ्गता होने के कारण ही पुत्री की अपेक्षा पुत्र पर बहुत प्रेमकरती है। अतः भगवान क्लीवत्व का निषेध कर रहे हैं, क्योंकि आत्मा की क्लीवता ज्ञान और भक्ति दोनों पक्षों में बाधक है। यदि कहे कि पुष्टि सम्प्रदाय में भजन विधि में स्त्री की प्रतिष्ठा है। स्त्रीत्वं तेषु प्रतिष्ठितं। अर्थात उनमें स्त्री स्वभाव की प्रतिष्ठा है इसलिए भक्ति में पुरुषार्थवाद अपेक्षाकृत ही है। यह सिद्धन्त सार्वभौम नहीं लगता, तो यह कहना ठीक नहीं क्यों कि– वहाँ स्त्रीत्व का तात्पर्य पुरुषार्थवाद के निषेध में नहीं है वहां तो स्त्री जैसे कोमल हृदय की चर्चा है। कोमल हृदय में ही भक्ति का स्फुरण होता है। यदि नारीशरीर में भी पुरुष प्रधान हृदय हो तो वहाँ भक्ति नहीं आ सकती। पुरुष प्रधान हृदय का तात्पर्य है संवेदना शून्यता से। क्योंकि भक्ति और भगवान दोनों ही आवश्यक होते हैं। यहाँ स्त्रीत्व का तात्पर्य केवल भावुकता से है। जो जितनी मात्रा में भक्ति

एवं भगवान के प्रति अधिक भावुक होगा उसमें उतनी ही मात्रामें भक्ति एवं भगवान का स्फुरण होगा। और भी क्लैब्यं मा स्म: गम: श्लोक में क्लीवत्व का निषेध किया गया है न कि स्त्रीत्वका यद्यपि पार्थ इस सम्बोधन से परम्परमा स्त्रीत्व के निषेध में भी भगवान की ध्वनि प्रतीत होती है। किसी भी परिस्थिति में भगवान को अकर्मण्यता इष्ट नहीं है।श्री।

'अर्जुन उवाच'-

पूर्व के दो श्लोकों में प्रभु का ओजस्वी उद्‌बोधन सुनकर अर्जुन ने जिज्ञासा भरे स्वर में भगवान श्रीकृष्ण से प्रश्न किया-

व्याख्या- इस प्रकार पूर्व के दो श्लोकों से जब भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन के प्रथमाध्याय में कहे हुए निश्चय की अशास्त्रीय कहकर निन्दा की तथा अर्जुन द्वारा लिए हुए युद्ध वैराग्य की लोक एवं वेद से निषिद्ध कहकर भर्त्सना कर डाली। तब अर्जुन किंकर्तव्यविमूढ होगये। क्योंकि वे स्वभाव से निर्मल हैं। भगवान की लीलाशक्ति ने ही उनके अन्त:करण में शोक एवं मोह का संचार कर दिया है। अब वे अशान्त हो उठे। उनके मन में श्रेय की जिज्ञासा जगी। क्योंकि वे गीता शास्त्र के परम अधिकारी के गुणगणों से सम्पन्न हो चुके थे। तथा बड़ी ही आतुरता से वे परमात्मा श्रीकृष्ण के चरण कमलों की शरण में जाने केलिए इच्छुक हो उठे थे। अत: अपनी मनोविकलता को प्रकाशित करते हुए श्री धनंजय ने पाँच श्लोकों में भगवान श्रीकृष्ण से शरणागति की पूर्वपीठिका के सम्वन्ध में जिज्ञासा की।

अर्जुन उवाच- अर्थात् अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण से दोप्रश्न किये। धातुओं का अनेक अर्थ होने के कारण प्रसंग के अनुरोध से यहाँ ब्रू धातु का जिज्ञासा करना अर्थ है। अत: उवाच का अर्थ है- प्रश्न किया अर्जुन: पप्रच्छ-

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ।।४।।

रा०कृ०भा०- सामान्यार्थ- अर्जुन विनम्रतापूर्वक प्रभु से पूछते हैं- हे मधुसूदन! मैं पितामह भीष्म तथा आचार्य द्रोण के साथ बाणों से किस प्रकार युद्ध करूँगा, क्योंकि हे शत्रुओं के संहार करने वाले वासुदेव! ये दोनों ही (भीष्म और द्रोण) मेरे लिए पूजार्ह (पूजनीय) हैं। ये मधुकैटभ की भाँति दैत्य नहीं हैं।

व्याख्या- इस श्लोक में मधुसदन और अरिसूदन ये दो सम्बोधन हैं। ये दोनों क्रम से श्लोक के पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध के साथ अन्वित होंगे। अन्वय में 'इमौ' तथा 'मम' का अध्याहार कर लेना चाहिए। और 'पूजार्हौं' में प्रथमा का द्विवचन समझना चाहिए। अर्थात् ये दोनों मेरी पूजा पाने के योग्य हैं। पूजाम् अर्हत: इति पूजार्हौं। न कि मेरे भयंकर बाण। मधुसूदन शब्द का तात्पर्य है कि– आपने जैसे अधार्मिक मधु दानव को मारा था उसी प्रकार मुझे भी अधार्मिकों के वध के लिए प्रोत्साहित कर रहे हैं। परन्तु मेरी परिस्थिति भिन्न है। जिनसे संग्राम में वीर भयभीत होते हैं वे ही हैं भीष्म, साक्षात् वसु, द्रोण मेरे धनुर्विद्या के आचार्य, ये दोनों पूजा के योग्य हैं न कि वध के योग्य। आदरातिशय के कारण भीष्म का नाम पहले लेते हैं। च दोनों का समुच्चायक है। यहाँ 'अभित: परित: समया निकषा हा प्रतियोगेऽपि वार्तिक से प्रति उपसर्ग के योग में तृतीया से द्वितीया हुई है। अनुदात्त इत् होने के कारण आत्मनेपद की प्राप्ति सम्भव रहने पर भी चक्षिङ् धातु के ङित् करण से आत्मनेपद करके भगवान पाणिनि ने अंनुदात्तेत्वलक्षण आत्मनेपद की अनित्यता ज्ञापित की। और इधर अर्जुन की मनोदशा भी अनित्य ही थी। इन दोनों भावों को प्रतिबिम्बित करने के लिए योत्स्ये आत्मनेपद के स्थान पर योत्स्यामि इस परस्मैपद का प्रयोग किया गया। पूरे वाक्य का अर्थ होगा- मैं भीष्म द्रोण के सम्मुख या भीष्म द्रोणके साथ इषु अर्थात् बाणों को माध्यम बनाकर कैसे युद्ध करूँगा। इषुभि: शब्द में करण में तृतीया है। भीष्म मेरे पितामह हैं और साथ ही मुझ पर बहुत वात्सल्य रखते हैं। तथा द्रोणाचार्य मेरे धनुर्विद्याके आचार्य हैं। मुझ पर उनका विशेष पक्षपात है। इसीलिए अपनी प्रतीज्ञानुसार मुझे अद्वितीय धनुर्धर करने की इच्छा से उन्होंने एकलव्य से उसके हाथ का अँगूठा भी ले लिया था। अत: जिनकी मैंने पुष्पों से पूजा की थी उन्हीं के साथ कैसे युद्ध करूँगा यही श्लोक के पूर्वार्ध का आशय है। यहाँ भगवान कदाचित् यह प्रश्न कर सकते हैं कि मनुस्मृति ८/३५१ श्लोक के अनुसार आते हुए आततायी को बिना विचारे ही मार डालना चाहिए। वर्णित नियम से पूज्य होने पर भी इन शत्रुओं को मारने से कोई प्रत्यवाय (द्रोष) नहीं लगेगा। इस शंका का समाधान करते हुए तुरीय श्रीकृष्ण को चतुर्थ चरण से अरिसूदन सम्बोधन करके कहते हैं। अरीन् सूदयति इति अरिसूदन:। आपने जैसे कंस आदि शत्रुओं को मामा और पूज्य होने पर भी आततायी की दृष्टि से मार डाला था, वैसे मैं नहीं कर सकता। क्योंकि भीष्म एवं द्रोण मेरे सम्माननीय है न कि आततायी। योत्स्यामि इस एकवचन का अभिप्राय यह है कि भले ही सारे पाण्डव भीष्म-द्रोण के साथ युद्ध

करें उन्हें मैं नहीं रोक सकता, पर मैं भीष्म-द्रोण से युद्ध नहीं करूँगा, क्योंकि मैं उनका विशेष वात्सल्यपात्र हूँ। श्री।

संगति- अब अर्जुन पूर्व कहे हुए अभिप्राय को ही (भीष्म द्रोण से युद्ध नहीं करूँगा) फिर अपनी युक्तियों से सिद्ध कर रहे हैं-

गुरूनहत्वा हि महानुभावा-
च्छ्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरुनिहैव,
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धन्।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ- हे मदन मोहन! पूज्यनीय प्रभाव वाले गुरुजन अर्थात भीष्म, द्रोण, कृप आदि गुरु तुल्य लोगों को न मारकर इस लोक में भिक्षा वृत्ति से अर्जित अन्न का भोजन करना मुझ अर्जुन के लिए श्रेयस्कर होगा। हे माधव! क्या अर्थ की कामना वाले गुरुओं का वध करके, उन्हीं के रक्त से सने हुए इस लोक में प्राप्त राजकीय भोगों का मैं भोग करूँ? अर्थात् क्या यह मेरे लिए उचित होगा?

व्याख्या- यहा हि शब्द हेतु अथवा निश्चयार्थक है। अर्जुन का आशय है कि मेरे गुरुजन महानुभाव हैं, उनका अनुभाव अर्थात् प्रभाव महान अर्थात् पूज़यनीय है।भिक्षा से प्राप्त अन्न को भैक्ष्य कहते हैं। अर्जुन के मन में श्रेय की ललक है। गीता १-३१ में स्वयं कहते हैं कि- स्वजनों को मारकर मैं श्रेय नहीं देख रहा हूँ। आज उसी की पुनरावृत्ति कर रहे हैं भैक्ष्यम् अपि भोक्तुम् श्रेयः। अर्थात् गुरुओं को न मारकर। क्षत्रियों के लिए शास्त्र विरुद्ध होने पर भी भिक्षान्न भोजन मेरे लिए श्रेय है। अपि का तात्पर्य यह है कि– शास्त्र के विरुद्ध भिक्षा भी मांग लूंगा परन्तु गुरुओं को नहीं मारूँगा।

यहां भिक्षया प्राप्तम् इस विग्रह में तृतीयान्त से अण् फिर स्वार्थ मे 'ठञ्' प्रत्यय होगा। परन्तु उनके वध से प्राप्त राज्य का उपभोग करना मेरे लिए श्रेष्ठ नहीं है उसी अभिप्राय श्लोक के उत्तरार्ध में प्रयोग हुआ है। यहां हि शब्द पाद पूरक है। तु शब्द किन्तु के अर्थ में अथवा पाद पूर्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'अर्थ कामयन्ते इति' अर्थकामाः जो अर्थ की कामना करते है अथवा अर्थ में ही जिनकी कामना है, ऐसे अर्थ कामना करने वाले गुरुओं की। अर्थ की लिप्सा से धर्म और अधर्म का

विवेक छोड़ दिया है 'ऐसे गुरु जनों को' तीसरे चरण में प्रयुक्त तु शब्द अपि के अर्थ में है। ऐसे लोगों को भी मारकर इह इसी लोक में, ये भोग परलोक में सम्भव ही नहीं है। अत: कहते है इहैव। रुधिर कहते हैं रक्त। प्रदिग्ध अर्थात् सने हए। मुझे इस लोक में मुझे जो भोग प्राप्त होंगे वे मेरे द्वारा मारे हुए गुरुजनों के खून से लतपथ होंगे, क्या ऐसे घिनौने भोगों को मै भोगू? भुञ्जीय यह भोजनार्थक भुज् धातु के आत्मनेपद में सम्प्रश्न में लिङ् लकार उत्तमपुरुष एकवचन में प्रयुक्त है। यहाँ अर्जुन भगवान श्रीकृष्ण से प्रश्न करते हैं कि– आप ही बतायें क्या गुरुओं के खून से लहूलुहान भोग मेरे लिए उचित हैं? यहाँ अर्जुन का अभिप्राय यह है कि- यद्यपि भीष्म द्रोणादि गुरुजन अर्थ की कामना के वश में होकर धर्माधर्म के विवेक से शून्य हो गये हैं, फिर भी आपके श्री चरण कमल से मुझे तो धर्म -अधर्म का विवेक प्राप्त है। इससे मैं ऐसा नहीं करूँगा। वे चाहे जो कुछ हो, हैं तो मेरे गुरुजन। क्योंकि शास्त्र कहते हैं-

एकाक्षरप्रदातारं गुरुं यो नाभिनन्दति।
स नरो नरकं याति यावच्चन्द्रदिवाकरौ।।

अन्यदपि-

गुरुं हुंकृत्य तुं कृत्य विप्रन्निर्जित्य वादतः।
अरण्ये निर्जने देशे जायते ब्रह्मराक्षसः।।

अर्थात् एक अक्षर का ज्ञान कराने वाले भी गुरु का जो अभिनन्दन नहीं करता पर मनुष्य तब तक नरक में रहता है जब तक सूर्य चन्द्र हैं। और भी-

जो गुरुजनों का हुंकार या तुकार करके अपमान करता है और निरर्थक वितण्डावाद से वेदज्ञ ब्राह्मणों को वाग्युद्ध में परास्त करता है, वह निर्जन जंगली प्रदेश में ब्रह्मराक्षस होकर जन्म लेता है, जहाँ उसे जल भी प्राप्त न हो सके ।।श्री।।

संगति- अब यहाँ अन्तर्यामी भगवान श्री कृष्ण का एक अर्धप्रश्न प्रस्तुत होता है। हे अर्जुन! जो अवलित्त अर्थात अहंकार युक्त हो, तथा क्या करना चाहिए क्या नहीं करना चाहिए इसका भी जिसे विवेक न हो, और जो शास्त्र विरुद्ध मार्ग पर चल रहा हो, ऐसे गुरु का भी प्रायशः त्याग कर दिया जाता है। जैसे कि स्मृति का वचन भी है-

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य प्रायस्त्यागो विधीयते।।

संयोग से भीष्म द्रोण आदि अवलिप्त हैं क्योंकि इन्होंने अधार्मिक शिरोमणि पापात्मा दुर्योधन का साथ दिया है। इनमें कार्य और अकार्य का विवेक भी नही है। इसीलिए सामर्थ्यवान होकर भी इन्होंने कौरव राज्यसभा में द्रौपदी के केशकर्षण तथा उनके वस्त्राहरण जैसे भयंकर दृष्यों को अपनी आंखों से देखा और दुर्योधन को मना तक नहीं किया। ये शास्त्रविरुद्ध मार्ग पर भी चल रहे हैं इसीलिए तो अधार्मिक दुर्योधन की ओर से धर्म के विरुद्ध युद्ध करने आये हैं अतः इनमें गुरुत्व है ही नहीं। अतः इनमें से गुरुभाव समाप्त करो और इन्हें मारो। इसप्रकार अन्तर्यामी भगवान श्रीकृष्ण की प्रेरणा से अर्जुन आन्दोलित हो उठे, तथा वे किं कर्तव्यविमूढ़ होकर अपने पूर्व निश्चय से डिगते हुए से बोले-

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ- हे श्याम सुन्दर! अब तो हम यह भी नहीं समझ पा रहे हैं कि, युद्ध और अयुद्ध इन दोनों में हमारे लिए क्या श्रेष्ठ है। और हम यह भी नहीं जानते कि दुर्योधनादि कौरवों को हम जीत सकेंगे। हम केवल इतना जानते है कि जिनको मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे ही धृतराष्ट्र सम्बन्धी सेनानी सुभट युद्ध के लिए हमारे सम्मुख उपस्थित हैं।

व्याख्या- यहाँ अर्जुन की विकल मनोदशा का स्पष्ट चित्रण करने के लिए ही पाँच बार बहुवचन का प्रयोग किया गया है। अथवा जाति की आख्या में एक वचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग है। यहाँ च का अपि अर्थ है। इसका अर्थ होगा हम यह भी नहीं जानते। नः यह शब्द अस्माकं के स्थान पर अन्वादेश रूप में प्रयुक्त हुआ है अथवा चतुर्थी बहुवचनान्ति के अर्थ में। नः अस्माकं अस्मभ्यं वा, कतरत् दो में कौन एक गरीयः गुरुतर अर्थात श्रेष्ट है। यहाँ यद्वा शब्द पक्षान्तर का संकेतक है। अभिप्राय यह है कि जीत तो एक ही पक्ष की होगी हमारी अथवा उनकी। नो जयेयुः पद में प्रयुक्त न शब्द द्वितीया बहुवचन अस्मान् के स्थान पर

आया है। इसका अर्थ है हमको। किन्तु जिनको मारकर हम नहीं जीना चाहते वे ही हमारे सामने हैं। यहाँ 'एव' शब्द जिजीविषाम: पद के साथ अन्त होगा। जिजीविषाम: जीवितुम् इच्छाम: अथवा 'एव' शब्द किन्तु अर्थक भी है। अब तक मैं किसके साथ युद्ध करूँगा। अर्जुन का यही निश्चय था परन्तु अब उसको छोड़कर वे यही निश्चय कर रहे है कि युद्ध नहीं करेंगे ।।श्री।।

संगति: १- अब प्रपत्तियोगंकारिका भाष्य प्रारम्भ किया जाता है- प्रथमाध्या से लेकर द्वितीय अध्याय के छठे श्लोक पर्यन्त अर्जुन की मानसिक विकलता सी प्रतीत होने वाली प्रपत्ति अर्थात् शरणागति की पूर्व पीठिका कही गई। अर्थात् जैसा कि आद्यशंकराचार्य जी ने इतने अंश को शोक मोह परक ग्रन्थ माना है, वह पक्षोचित नहीं है। यह तो शुद्ध शरणागति की भूमिका है।

२- अनन्ये सिद्धे स्वाभीष्टे महाविश्वास पूर्वकम् ।
तदेकोपायता याच्ञा प्रपत्तिः शरणागतिः।।

महाविश्वास के साथ परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी के द्वारा अपने अभीष्ट के सिद्ध न होने पर, उसके सम्बन्ध में एक मात्र परमात्मा से उपाय की याचना करना प्रपत्ति अर्थात शरणागति है।

३- इत्येतदभियुक्तोक्तं शरणागतिलक्षणम् ।
लक्षयामश्चरित्रेऽस्मिन् समग्रे सव्यसाचिनः ।।

इस प्रकार पूर्व आचार्यों द्वारा कहा हुआ शरणागत का सम्पूर्ण लक्षण हम अर्जुन के इस चरित्र में पा जाते हैं।

४- यदूचिवान् प्रसङ्गेऽस्मिन् स्वसिद्धान्तानुसारतः।
वेदान्ताधिकृतिं पार्थे मधुसूदनसरस्वती।।

श्री मधुसूदन सरस्वती ने जो इस प्रसंग में अपने सिद्धान्त के अनुसार श्री अर्जुन में वेदान्त श्रवण के अधिकार का लक्षण घटाया है।

५- नित्यानित्यविवेकं च लोकद्वयविरागताम् ।
शमादि षट्कसम्पत्तिं मुमुक्षुत्वं कपिध्वजे।।

तथा मधुसूदन सरस्वती ने अपने अद्वैत सिद्धान्त के हठधर्मिता से जो अर्जुन में

नित्यानित्यविवेक इहामुत्रार्थफलभोगवैराग्य शमादिषटसम्पत्ति तथा मुमुक्षुत्व यह साधन चतुष्टय सिद्ध करने का प्रयास किया।

६- सोपाधिकत्वमेवाहुरधिकारचतुष्टये।
विभाव्यानर्गलत्वाच्च तन्नैवात्र प्रपंच्यते।।

तथा जो ब्रह्म जीव में अभेद होने पर भी मुमुक्षा आदि गुणों की अनुपपत्ति की आशंका करके ब्रह्मा की सोपाधिक दशा में अधिकार चतुष्टय की सिद्धि करने का प्रयास किया, उन सब पक्षों को शास्त्रीय विचार की कसौटी पर खोटे सिद्ध होते हुए तथा अनर्गल देखकर, हम यहाँ उनका विस्तार नहीं कर रहे हैं। क्योंकि ब्रह्म को नित्यानित्यवस्तु के विवेक की आवश्यकता क्या है? जो समस्त फलों का प्रदाता है उसके सम्बन्ध में फल भोगों के वैराग्य की चर्चा कैसी? जो सब ऐश्वर्य सम्पन्न है उसके लिए शमादि छः सम्पत्तियों की क्यों अनिवार्यता? स्वयं मुक्त परमात्मा में किससे मोक्ष की इच्छा? यदि कहें कि अविद्या उपाधि से उपहित होकर ब्रह्म के जीव भावापन्न हो जाने पर, उसमें चारों साधन स्वयं संगत हो जायेंगे। तो यह कहना भी धूलि प्रक्षेप मात्र है, क्योंकि जब अद्वैत मत में ब्रह्म के अतिरिक्त कोई सत्ता ही नहीं तो अविद्या आयी कहाँ से? यदि कहें कि वह झूठी है, तो वह नित्य सत्य ब्रह्म को उपहित करने का साहस ही कैसे कर सकी। इस दृष्टि से अद्वैत वादियों का साधन चतुष्टयमींमांसापक्ष उन्हीं के सिद्धान्त से विरुद्ध होने के कारण पूर्ण रूप से निराधार सिद्ध हो जाता है।

७- वस्तुतो भगवल्लीला लोलचेतसि पाण्डवे।
क्षणस्था दर्शिता सर्वा प्रपत्ति परिकल्पना।।

वास्तव में भगवान श्रीकृष्ण की लीला से जिनका मन चञ्चल हो उठा है ऐसे श्री अर्जुन में अस्थाई रूप से प्रपत्ति अर्थात् शरणागति की सम्पूर्ण सामग्री का दर्शन करा दिया गया।

८- शरकल्पाधिसंसार संकटाद्विभ्यता भृशम् ।
स्वात्मैव नीयते नूनं यत्तच्छरणमिष्यते।।

शर अर्थात् बाण के समान तीक्ष्ण पीड़ादायक इस घोर संसार संकट से डरता हुआ साधक अपनी आत्मा को जहाँ ले जाता है, वे परमात्मा ही शरण नाम से

जाने जाते हैं।

९- शरान्नयति संसारसंकटात्साधकं द्रुतम् ।
दूरं यत्तत् परंब्रह्म शरणं श्रुतिविश्रुतम् ।।

जो बाण के समान कष्टदायक संसार संकट से साधक को सुदूर ले जाता है वह वेदविश्रुत परब्रह्म ही शरण है।

१०- शरान्नयति संसारकष्टाख्यान् स्वजनाद् बहिः।
चिदचिद्भ्यां विशिष्टं तदद्वैतं शरणं स्मृतम् ।।

जो अपने भक्त से शर के समान पीड़ा दायक संसार के कष्टों को दूर या अलग कर देते हैं, उन्हीं चित् अर्थात् जीव अचित् अर्थात् प्रकृति से विशिष्ट अर्थात् विशिष्टाद्वैत परब्रह्म परमात्मा ही स्मृतियों में शरण कहकर स्मरण किये गये हैं।

११- श्रिणाति पापजातानि प्रपन्नस्य परेश्वरः।
तदेव शरणं ब्रह्म रामः कृष्णादि नामधृक।।

जो अपने शरणागत के सम्पूर्ण पापों को समाप्त कर देते हैं, वे कृष्णादि नाम वाले परमात्मा श्रीराम ही शरण हैं।

१२-प्रपन्नकर्मत्रितयं श्रीणाति पचति द्रुतम् ।
सूदो यथा परं ब्रह्म शरणं रामसंज्ञकम् ।।

जो रसोइया की भाँति शरणागत के अतीत, क्रियामाण एवं अनागत इन तीनों कर्मों को पका डालते हैं, वे श्रीरामसंज्ञक परब्रह्म ही शरण हैं।

१३-इति व्युत्पत्तिवैपुल्य लब्धार्थाः शरणागतेः।
पार्थे दृष्टास्ततोगीता तात्पर्यं शरणागतिः।।

इसप्रकार शरणागति की अनेक व्युत्पत्तियों से प्राप्त सभी अर्थ श्री अर्जुन के चरित्र में दिखाई पड़ते हैं इसलिए शरणागति ही श्री गीता का तात्पर्य है।

१४-स्वाभीष्टमिह शत्रूणां बहिरन्तः सुखच्छिदाम् ।
जयं चानन्यसाध्यं हि विद्वान् विजय आतुरः।।

यहाँ वाह्या एवं आन्तरिक सुखों को नष्ट करने वाले शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना ही स्वाभीष्ट है, जो परमात्मा श्रीकृष्ण के अतिरिक्त और से साध्य नही है। इस तथ्य को जानते हुए परम आतुर होकर विजय अर्थात् अर्जुन ने भगवत्प्रपति का मन बनाया।

१५-महाविश्वासनिश्वास समुज्जृम्भितमानसः।
प्रभुं वव्रे स सारथ्ये पार्थस्त्यक्त चमूस्पृहः।।

अब भगवान के प्रति उत्पन्न हुए महाविश्वास रूप निश्वास से अर्जुन का मन व्याप्त हो गया और उन्होंने सशस्त्र दस कोटि नारायणी सेना का लोभ छोड़कर निःशस्त्र नारायण का ही अपने सारथि के रूप में वरण कर लिया।

१६-संग्रामे सेनयोर्मध्ये स्थापितात्मरथो रथी।
भगवत्प्रेरितः पश्यन् कुरूंल्लीलाप्तचक्षुषा।।

तदनन्तर भगवान श्रीकृष्ण से प्रेरित होकर युद्ध में दोनों सेनाओं के बीच अपने रथ को खड़ा कराकर भगवान की लीला से प्राप्त विवेकनेत्र से कौरवों को देखते हुए महारथी अर्जुन (कुछ क्षण के लिए विचलित हुए)।

१७-श्रेयो जिज्ञासमानो हि भृशं भीतश्च पातकात् ।
प्रपेदे पाद पाथोजमार्तः पार्थः परेशितुः।।

अनन्तर पाप से अत्यन्त डरे हुए अपने श्रेय की जिज्ञासा करते हुए आर्त हुए परम भागवत पार्थ भगवान श्रीकृष्ण के चरण कमल के शरणागत हुए।

१८-तस्मात् प्रपत्तिसिद्धान्तसागरं स्मृतिनागरम् ।
गीताशास्त्रं विलोड्यैतत्तथैव व्याचिकीर्ष्यते।।

इसलिए मेरे द्वारा सम्पूर्ण वेदान्त स्मृतियों में श्रेष्ठ श्री गीताशास्त्र रूप शरणागति सिद्धान्त के महासागर का विलोडन (मन्थन) करके, उसी प्रकार प्रपत्तियोग के अनुसार ही व्याख्या भाष्य करने की चेष्टा की जा रही है।

१९-नैवात्र पक्षपातो मे न च कश्चिद्दुराग्रहः।।
संग्रहः सद्विचाराणां बुद्धेः फलमनाग्रहः।।

इस भाष्य में न तो मेरा कोई पक्षपात है और न ही कोई दुराग्रह। यह तो श्री सीताराम जी की कृपा से प्रस्फुरित मेरे सात्विक शास्त्रीय विचारों का संग्रह है। क्योंकि अनाग्रह (हठ) न करना ही बुद्धि का फल है।

२०-पौर्वापर्यं विचार्यात्र सावधानसुचेतसा।
मयेदं निश्चितं तथ्यं श्रीराघवकृपाजुषा।।

श्री गीता जी के पूर्वापर प्रसङ्गों पर विचार करके तथा प्रीतिपूर्वक भगवान श्री राघव सरकार की कृपा को सेवन करके, सावधान एवं सात्विक चित्त से मेरे (जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्वामी रामभद्राचार्य के) द्वारा श्री गीता जी का तात्पर्य प्रपत्तियोग ही निश्चित किया गया है।

२१-न द्वेषान्नानुरागेण न चिखण्डयिषुः परान् ।
श्री राघवकृपाभाष्ये सत्यं भाषे स्मरन् हरिम् ।।

न किसी के द्वेष से तथा न ही अपने पक्ष के अनुराग से और न ही प्रतिपक्ष के खण्डन का इच्छुक होकर कुछ कह रहा हूँ। मैं निष्पक्षपात मन से भगवान श्री सीताराम का स्मरण करता हुआ, इस श्री राघव कृपा भाष्य नामक व्याख्यान में सब कुछ सत्य ही कह रहा हूँ।

२२-प्रवृत्ता भगवद्गीता जीवश्रेयो विधित्सया।
प्रपत्तिमन्तरेणाहो न प्राप्यं तद्धि केनचित् ।।

यह श्रीमद्भगवद्गीता जी जीवमात्र का श्रेय (कल्याण) करने की इच्छा से ही प्रवृत्त अर्थात् प्रकट हुई है। और वह जीव का श्रेय (कल्याण) बिना प्रपत्ति (शरणागति) के अन्य किसी उपाय से नहीं प्राप्त किया जा सकता।

२३-तस्मादियं प्रपत्तौ हि गतार्था भगवत्स्मृतिः
श्रेयोविधत्ते नः पार्थोपदेशव्यपदेशतः।।

इसलिए प्रपत्ति (शरणागति) रूप महातात्पर्य में गतार्थ भगवान की स्मृति में भगवद्गीता जी श्री अर्जुन के उपदेश के बहाने से हम जीवों का कल्याण कर रही है।

२४-विसृज्य गाण्डिवं श्रेयो याचमानो धनञ्जयः।

प्रपित्सुः प्राह गोविन्दं रथोपस्थस्थ आतुरः।।

२४- गाण्डीव छोड़कर रथ के निचले भाग में बैठकर आतुर हुए भगवान श्रीकृष्ण की शरणागति के लिए उत्सुक, धनञ्जय अर्जुन अपने श्रेय की याचना करते हुए भगवान श्रीकृष्ण से बोले।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।।७।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ- यही श्लोक गीता ज्ञान के अधिकार का सर्वस्व तथा शरणागति का सूत्र है।अर्जुन कातरस्वर में कहते हैं- हे शरणागत वत्सल! कार्पण्य रूप दोष से नष्ट हो गया है सेवकसेव्यभावरूप स्वभाव जिसका तथा धर्म के विषय में सम्यक अर्थात् पूर्ण रूप से मूढ़ हो चुका है चित्त जिसका, ऐसा मैं अर्जुन जिज्ञासु भाव से आप श्री से कुछ पूछ रहा हूँ। मेरे लिए जो श्रेय हो आप वही निश्चित करके कहें, मैं आपका शिष्य हूँ। आप श्री की शरणागत (शरण आये हुए) मुझ अर्जुन को अनुशासन पूर्वक शिक्षा दीजिए।

व्याख्या- कृपण के भाव को ही कार्पण्य कहते हैं। उसी कार्पण्य रूप दोष से उपहत अर्थात् नष्ट हो गया है स्वभाव जिसका तथा धर्म में सम्मूढ़ है चेतस् जिसका इसप्रकार विग्रह करकेकार्पण्यदोषोपहतस्वभाव धर्मसंमूढ़चेतः। इन दोनों पदों में बहुव्रीहि समास होगा।ये दोनों ही पद अर्जुन के विशेषण हैं। और 'श्रेयः' शब्द की दो बार आवृत्ति की गयी है। परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान् नास्त्यकृतः कृतेन तद् विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।।मु० उ० १-२-१२।।

भावार्थः- कर्मों द्वारा निर्मित इन लोकों की परीक्षा करके, नित्य वस्तु अनित्य से नहीं प्राप्त हो सकती इस प्रकार के चिन्तन से वेदज्ञ ब्राह्मण तथा अन्य ब्राह्मण भक्त साधक को संसार के प्रपञ्च से विरक्त हो जाना चाहिए और उस ब्रह्मतत्व के ज्ञान के लिए हाथ में समिधा लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की शरण मे जाना चाहिए। इस प्रकार मुण्डकोपनिषद् में भगवान की शरणागति के पहले सद्गुरु वरण

का विधान है। श्रुति में आया हुआ शब्द तप, शास्त्र एवं योनि से विशुद्ध द्विजन्मा का बोधक है, अर्थात् जो ब्राह्मण से ब्राह्मणी में उत्पन्न हुआ हो तथा जिसमें ब्राह्मणोचित तपस्या एवं अपनी शाखा की परम्परा से प्राप्त षडङ्गवेदज्ञान सम्पन्न हो। ऐसा ब्राह्मण हो अथवा जो ब्राह्मण भक्त हो वही ब्रह्म विद्या का अधिकारी है। प्रथम पक्ष में विशुद्ध अण् प्रत्यय एवं द्वितीय पक्ष में मत्वर्थीय अच् प्रत्यय हुआ। ब्रह्म वेद को कहते हैं उसको अध्यय करने वाली जाति से युक्त व्यक्ति को ब्राह्मण कहते हैं। जो लोग ब्रह्म जानाति इति ब्राह्मणः ऐसी व्युत्पत्ति करते हैं और मनमानी यह अर्थ करते हैं कि जो कोई भी ब्रह्म को जानता हो उसे ब्राह्मण कहते हैं तो इस पर मेरा यह कहना है कि यह शास्त्रीय व्युत्पत्ति नहीं है, क्योंकि व्युत्पत्ति वह होती है जिसके आधार पर प्रत्यय विधान सम्भव हो। सौभाग्य से सम्पूर्ण पाणिनीय अष्टाध्यायी में कोई ऐसा सूत्र ही नहीं है कि 'जो ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः' इस व्युत्पत्ति के आधार पर कोई प्रत्यय करता हो। यहाँ तो ब्रह्म शब्द का अर्थ है वेद, उस वेद का जो जाति परम्परा से अध्ययन करता है उसे ब्राह्मण कहते हैं, इसके अतिरिक्त वेदाध्ययन करने वाले क्षत्रिय और वैश्य को ब्राह्म कहते हैं। जैसे कि सिद्धान्त कौमुदी में दीक्षित जी कहते हैं-

ब्राह्मो जातौ पा० अ० ६/४/१७१)

ब्राह्मं हविः। ततो जातौ। अपत्ये जातावणि ब्रह्मणष्टि लोपो न स्यात्। ब्रह्माणोऽपत्यं ब्राह्मणः। (सि० कौ० अपत्याधिकार-११५८)

अर्थात् अनपत्यि अर्थमें ही टि का लोप होगाऔर अपत्य अर्थ में ब्राह्मण से ब्राह्मणी में उत्पन्न संतान की उत्पत्ति का अर्थ करने पर "टि" लोप के अभाव में ब्राह्मण ही बनेगा। द्वितीय स्थल में ब्राह्मण जिसका पूज्य है उसे भी ब्राह्मण कहते है। यदि कहें कि यहाँ इस द्वितीय व्याख्यान की क्या आवश्यकता है? तो इसका उत्तर यह है कि यदि सूक्ति में प्रयुक्त ब्राह्मण शब्द जाति परक ही माना जाय तो जनक आदि ब्राह्मणेतर महानुभावों के वेदान्त श्रवणाधिकार में प्रश्न चिन्ह लग जायेगा, जबकि बृहदारण्यक, छान्दोग्य आदि उपनिषदों में अनेक राजर्षियों के ब्रह्मविद्याश्रवण और उपदेश के प्रसंग मिलते हैं। जनक का क्षत्रिय और याज्ञवल्क्य का ब्राह्मण होना सर्वविदित है। इस प्रकार ब्राह्मण और ब्राह्मणभक्त दोनों को ही कर्मों द्वारा निर्मित लोक अर्थात् भोग्य पदार्थों का परीक्षण करना चाहिए। यहाँ लोक का अर्थ पदार्थ है

का वरण। आत्मनिक्षेप का अर्थ है– भगवान के चरणारविन्द में अपना सब कुछ सौंप देना। संयोग से शरणागत की ये छहों विधायें श्री अर्जुन में पूर्ण रूप से संगत हो जाती हैं। उनमें कार्पण्यदोषोपहतस्वभाव:– इस प्रथम चरण में अर्जुन की पाँचवी शरणागति कार्पण्य है। पृच्छामि- मैं आपसे पूछता हूँ इस पद से तृतीय शरणागति। बिना विश्वास के प्रश्नकर्त्ता प्रश्न कर ही नहीं सकता। त्वां अर्थात्- आप से पूछता हूँ। इस पद से गोप्तृत्व का वरण चतुर्थ शरणागति सिद्ध हुई। यच्छ्रेय:– स्यात् इस श्रेयो जिज्ञासा से आनुकूल्य का सङ्कल्प सिद्ध हुआ क्योंकि यही सम्पूर्ण अनुकूलताओं का मूल है। निश्चितं ब्रूहि– इसमें अनिश्चयरूप प्रतिकूलता का वर्जन सिद्ध हो गया। शिष्यस्तेऽहम्- इससे आत्मनिक्षेपरूप अन्तिम शरणागति सिद्ध हुई। क्योंकि सर्वसमर्पण के बिना शिष्यता सफल नहीं होती। जैसा कि गुरुगीतामें कहा गया है-

'शरीरं वसु विज्ञानं वासो धर्मान् गुणांस्तथा।
गुर्वर्थं धारयेद्यस्तु स शिष्यो नेतरः स्मृतः।।

अर्थात्

गुरु के लिए शरीर गुरु के लिए द्रविण,
गुरु हित लागि जाको बुद्धि कौ प्रचार है।।

गुरुदेव के हरष लागि जो धरत पट,
गुरुदेव के सुख लागि धरे अलंकार है।
गुरु सुख लागि करै करम धरम बहु
गुरु हित लागि सदगुन को विचार है।
सोई शिष्य रामभद्र चरण कमलं रत,
गुरु पद प्लव लहि होत भव पार है।।

इस प्रकार छहों प्रकार की शरणागति की योग्यता से सम्पन्न श्री अर्जुन प्रभुके समक्ष दोनों हाथ जोड़कर शरणागति की प्रतिज्ञा करते हैं।

दूसरा शरणागति का लक्षण भी यहीं संगत हो जाता है।

जैसे- अन्य के द्वारा असाध्य अपने अभीष्ट के प्रति महाविश्वास पूर्वक भगवान से उसके उपाय की अभ्यर्थना ही शरणागति है। यहाँ स्वाभीष्ट विशेष्य और अनन्यसाध्य

विशेषण है। सप्तमी यहाँ विषय में है। अर्थात् अनन्यसाध्य प्रकारक स्वाभीष्ट विषयिणी उपाय याचना ही शरणागति है। यहाँ अर्जुन का अभीष्ट है श्रेय। और वह भगवान श्रीकृष्ण के अतिरिक्त किसी से भी साध्य नहीं है। इसी महाविश्वास के साथ अर्जुन बार-बार भगवान श्रीकृष्ण से उसकी प्राप्ति का उपाय पूछते हैं। यथा यच्छ्रेय: स्यात् (गीता २/७) 'येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्' (गीता ३/२) यच्छ्रेय एतयोरेकम् गीता ५/१ इत्यादि। संसार की निस्सारता के बोध के साथ संसार से जुड़े हुए पारिवारिक ममत्व के त्यागपूर्वक निर्विघ्न परमेश्वर के श्रीचरण कमल के प्रेम में तल्लीन मनोवृत्ति के साथ भगवान के श्री चरण कमल का नित्य कैंकर्य हो (नित्य सेवा भाव ही) उस श्रेय का स्वरूप है। उसी श्रेय को प्राप्त करने के उपाय की याचना इस श्लोक में समारोह पूर्वक प्रतिपादित की गयी है।

वह शरणागति आर्त तथा दृप्त भेद से दो प्रकार की होती है। इनमें से अर्जुन में आर्तशरणागति है वह इसी श्लोक में अर्जुन द्वाराएक ही साथ प्रथमा, द्वितीया, चतुर्थी पुन: प्रथमा द्वितीया इस प्रकार अनेक विभक्तियों के प्रयोग से तथा एक व्यक्ति में कर्त्ता, कर्म, सम्प्रदान आदि कई कारकों की विचित्र भङ्गिमा से स्पष्ट हो जाती है। क्योंकि आर्त के साथ चित्त चंचल हो जाता है। पुन: यह शरणागति कायिक, वाचिक, मानस भेद से तीन प्रकार की होती है।संयोग से वह तीनों शरणागतियाँ यहीं हो जाती हैं। जैसे पृच्छामि त्वां इति वाचिकी, शिष्यतेऽहम् इति मानसी, त्वां प्रपन्न इति कायिकी। क्योंकि प्रश्न वाणी से सम्बद्ध होता है। शिष्यत्व मन का व्यापार है तथा प्रपन्न होना शरीर की चेष्टा है। प्रपन्न का अर्थ भी यही है प्रपदंनयति जो स्वयं को भगवान के श्री चरणकमल के प्रपद अर्थात अग्र भाग में (पंजे) में समर्पित कर दे वही प्रपन्न होता है। यहाँ प्रपन्नं कहकर अर्जुन ने स्वयं को भगवान के श्री चरण कमल में अपने को समर्पित कर दिया। इसलिए श्री रामानन्दाचारी भी कहते हैं इत्युक्त्वा भगवत्पादमूलमुपससार।

यहाँ कार्पण्य शब्द अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा बहुत अर्थों का वाचक भी है। अर्जुन कहते है कि हे प्रभु! मुझमें कार्पण्य है अर्थात मैं कृपण हूँ आपको पुराण पुरुषोत्तम जानता हुआ भी अपने सुहृदों को पुष्कल धनराशि देता हुआ भी आपको दो चार बूंद आंसू भी नहीं दे सका। इसी दोष से मेरा स्वभाव भ्रष्ट हो गया है अर्थात् अब मैं आपको आत्मीय भी नहीं मान पा रहा हूँ। आप जैसे आत्मीय के रहते हुए भी मैं अनात्म भूत कुटुम्ब के प्रति ममतावान बनारहा। प्रभो! मैं आपको

लोक्यन्ते अनुभूयन्ते इति लोकाः। जो अनुभव में आते है उन पदार्थों को श्रुति लोक कह रही है उनका परीक्षण अर्थात् उनकी क्षणभङ्गुरता का चिन्तन करना चाहिए।

अब श्रुतिचिन्तन का प्रकार बता रही है कृत से अकृत नहीं प्राप्त होता नास्त्यकृतः कृतेन। जिसे बनाया गया हो उसे कृत कहते हैं यहाँ भूतकाल में 'क्त' प्रत्यय हुआ ईश्वर द्वारा बनाया गया है संसार। उस कृत संसार से अकृत अर्थात् कृत भिन्न नित्य परमात्मा नहीं मिलते।अथवा 'कृतेन' पद में व्यत्यय के कारण सप्तमी के अर्थ में तृतीया हुई है अर्थात् अनित्य इस संसार में नित्य परमात्मा की प्राप्ति नहीं होती है। इसलिए यह असार संसार छोड़ ही देना चाहिए। अर्थात् इसमें आसक्ति नहीं रखनी चाहिए। जैसा कि भागवत में प्रह्लाद जी कहते हैं-

तत्साधुमन्येऽसुरवर्य देहिनां सदा समुद्विग्नधियामसद्-ग्रहात
हित्वाऽऽत्मपातं गृहमन्धकूपं वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत।। (भाग० ७/५/५)

अर्थात् हे राक्षसवर्गश्रेष्ठ! मैं वही कृत्य श्रेष्ठ मानता हूँ जो कि इस संसार से उद्विग्न होकर आत्मा का पतन करने वाले अंधेरे कुएँ के समान इस गृह प्रपंच को छोड़कर वन में जाकर भगवान का आश्रय लिया जाय। अथवा कृते यह सप्तम्यांत पद है 'न' यह अलग पद है। 'कृत' इस वैष्णवी माया द्वारा रचित संसार में 'अकृत' अर्थात् नित्य परमात्म वस्तु नास्ति नास्ति।कभी नहीं प्राप्त हो सकती। असम्भावना को सुदृढ़ करने के लिए ही यहाँ न पद की द्विरुक्ति की गयी है। माया रचित संसार में मायापति की प्राप्ति सम्भव नहीं है, इसीलिए श्रीराम चरित मानस में श्री लक्ष्मण से भगवान श्रीराम कहते हैं-

गो गोचर जहँ लगि मन जाई।
सो सब माया जानेहु भाई।। मानस ३/१५/३

इसप्रकार संसार के पदार्थों से विरक्त होकर साधक को ब्रह्म चिन्तन करना चाहिए।

'तस्य' अर्थात् उस निरतिशयकल्याणगुणगणसागरनित्य ब्रह्म के विज्ञान अर्थात् विशिष्टद्वैत ज्ञान के लिए साधक को समिधा हाथ में लेकर गुरू के पास जाना चाहिए, क्योंकि रिक्तपाणि अर्थात् खाली हाथ गुरू जनों के यहाँ जाना निषिद्ध कहा गया है। यहाँ दो विशेषण दिये गये हैं, गुरु को श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिए।

श्रोत्रिय शब्द का अर्थ है वेद वेदाङ्गों का पारङ्गत होना।तथा जिसको ब्रह्म में निष्ठा हो उसे ब्रह्मनिष्ठ कहते हैं। इस प्रकार अश्रोत्रिय, अब्रह्मनिष्ठ गुरू की शरण कभी नहीं लेना चाहिए अन्यथा दुर्योधन के समान संसारापत्ति सम्भव है। यहाँ गुरुमेवाऽभिगच्छेत् इस पद में प्रयुक्त एवकार कर्ता, कर्म तथा क्रिया के साथ अन्वित होकर क्रम से अन्ययोग, अयोग तथा अत्यंतायोग का व्यवच्छेदक है। गुरुमेवाऽभिगच्छेत् सद्गुरू के ही शरण में जाना चाहिए असदगुरु के नहीं अन्यथा दुर्योधन जैसी दुर्दशा हो सकती है क्योंकि दुर्योधन के गुरु द्रोणाचार्य सद्गुरू नहीं थे। स एव अभिगच्छेत् । साधक नहीं था इसलिए भगवान श्रीकृष्ण के समझाने पर भी इसकी बुद्धि नहीं सुधरी। अभिगच्छेत् एव सद्गुरू की शरण में जाना ही चाहिए। जैसा कि मानस कार भी कहते हैं-

बिन गुरु भव निधि तरइ न कोईज़ौ
जौ विरंचि शंकर सम होई।। (रा० मा० ७/९३/५)

श्रुति भी कहती है– जिस दिन मन में वैराग्य हो जाय उसी दिन सद्गुरू की शरण में जाकर भगवद् भजन प्रारम्भ कर देना चाहिए। जैसे श्री विभीषण ने किया था। भगवत्कृपा से इस व्याख्यात श्रुति के सभी लक्षण अर्जुन में घट जाते हैं। उन्होंने कर्म निर्मित लोको का परीक्षण भी किया। यथा तत्रापश्यत्स्थितान् पार्थः (गीता १/२६)। तथा गीता १/४७ में धनुष बाण फेंककर रथ के निचले भाग में बैठना ही अर्जुन का वैराग्य है। शिष्यस्ते गीता २/७ यही अर्जुन का सद्गुरु वरण है। शाधिमां यह अर्जुन का जिज्ञासा करण है। यच्छ्रेयः यही अर्जुन के जिज्ञासा का प्रकार है। संयोग से अर्जुन में छहों प्रकार की शरणागतियां भी संगत हो जाती हैं। अनुकूलता का संकल्प, प्रतिकूलता का त्याग, प्रभु पर रक्षा करने का विश्वास, प्रभु का रक्षक के रूप में वरण, कार्पण्य अर्थात् दीनता, आत्मनिक्षेप अर्थात भगवान के चरणों में अपने सर्वस्व का समर्पण। ये शरणागति के छह भेद कहे गये हैं-

आनुकूलल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् ।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वंवरणं तथा।।
कार्पण्यमात्मनिक्षेपः षड्विधा शरणागतिः।।

'गोप्तृत्वं वरण' पद में तीन प्रकार के समास होंगे- गोप्तृत्व के द्वारा वरण अथवा भगवान के गोप्तृत्व का वरण या गोप्तृत्व अर्थात् अपनी रक्षा के लिए भगवान

दासभूतास्तु वै सर्वे ह्यात्मानः परमात्मनः।
अहं दासो हरिः स्वामी स्वभावं च सदा स्मर।।

अर्थात् ये सभी जीवात्मा भगवान श्रीराम के दास हैं। मैं दास हूँ और श्री हरि स्वामी इसी स्वभाव का निरन्तर स्मरण करो। जीव भगवान का दास है और श्री हरि उसके स्वामी हैं, यही शास्त्र का निर्णय है। अर्थात् मुझमें कार्पण्य है क्योंकि मैंने आपके भजन में कभी समय देने की इच्छा नहीं की, इसी दोष से मेरा आपका भगवत् कार्पण्य रूप स्वभाव नष्ट अथवा विस्मृत हो गया इसीलिए मैं पूछना चाहता हूँ कि युद्ध और भिक्षा में क्या अधिक श्रेष्ठ है। अथवा आपके भजनानुकूल श्रेष्ठ मार्ग क्या है? क्योंकि आपके भजन के प्रतिबन्धक रूप कार्पण्य दोष ने मेरा स्वभाव अर्थात् भजन रसिक स्वभाव समाप्त कर दिया है। यहाँ मे शब्द की दो बार आवृत्ति होगी मे अर्थात् मेरे लिए जो भी श्रेय अर्थात् कल्याणकारक है उसे कहिये, यहां 'स्यात्' पद अस् धातु के लिङ् लकार का नहीं है। प्रत्युत यह अस्ति अर्थ कहने वाला तिङन्त प्रतिरूपक अव्यय है। अतः यहां स्यात का अर्थ होगा है। निश्चिन्तम् अर्थात् आपके द्वारा जो निश्चित किया गया हो अथवा निःशेषण चितम् आपके द्वारा जो शास्त्र रूप पुरुषों से रस रूप में लाया गया हो, वह कहिये। क्यों कहूँ न तुम मेरे शिष्य हो और न ही पुत्र? इस पर अर्जुन कहते हैं- 'शिष्यस्तेऽहम्' अर्जुन का आशय यह है कि- यद्यपि मैं बाल्यकाल में द्रोण शिष्य था फिर विशिष्ट ज्ञान के लिए इन्द्र का शिष्य बना, परन्तु बाण विद्या में उन दोनों का शिष्य होते हुए भी अब निर्वाण विद्या में आपका शिष्य हूँ। यही अर्जुन का अभिप्राय है। इसलिए आपके शरणागत हुए मुझ अर्जुन को आप अनुशासन पूर्वक शिक्षा दें। आज से मैं आप ही के लिए शरीर, धन, बुद्धि, वस्त्र, अलंकार धर्म तथा गुणों को धारण करूँगा। इस प्रकार प्रतिज्ञा करते हुए भगवान के श्री चरण कमल में चले गये।।श्री।।

अब अर्जुन का अभीष्ट भगवान के अतिरिक्त और किसी से नहीं सिद्ध होगा इस तथ्य को प्रकाशित करते हुए कहते हैं-

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्या
द्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ।।८।।

रा०कृ०मा० सामान्यार्थ- अर्जुन आर्तस्वर में कह रहे है- हे श्याम सुन्दर शत्रु रहित सम्पूर्ण पृथ्वी का निष्कंटक समृद्ध राज्य तथा देवताओं का स्वामित्व प्राप्त करके भी मैं वह उपाय नहीं देख पा रहा हूँ जो मेरी इन्द्रियों को सुखाने वाले शोक को नष्ट कर सकें। जिस श्रेय की मैंने जिज्ञासा की है वह कोई अपूर्व ही है उसकी किसी से समता नहीं है, वह आपके ही अधीन है। यदि अप कहें कि उससे सभी श्रेष्ठ है- युद्ध, क्योंकि इसमें तुम्हारे लिए दो विकल्प होंगे- यदि तुम युद्ध में विजयी होकर निष्कंटक पृथ्वी मण्डल का साम्राज्य पाकर शोक से रहित हो जाओगे। मानलो कदाचित शत्रुओं ने तुम्हारी सेना और बल के समाप्त करके तुम्हें मार भी डाला तो तुम सूर्यमण्डल का मोदन करके शोकसागर से पार चले जाओगे। जैसा कि स्मृति भी कहती है-

द्वावेतौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलमेदिनौ।
योगिनो योगयुक्ताश्च सन्मुखेऽभिहतोरणे।।

अर्थात् ये दो पुरुष ही सूर्यमण्डल का भेदक करते हैं। प्रथम-योग से युक्त योगी और द्वितीय युद्ध में सम्मुख लड़कर मरा योद्धा। इससे श्रेयस् की जिज्ञासा करना व्यर्थ है। इसलिए गाण्डीव को लेकर उठो और युद्ध करो। इस प्रकार आदेश देने की इच्छा करते हुए अपने रथ के आभूषण ब्रजभूषण श्यामसुन्दर भगवान श्रीकृष्ण को प्रसन्न करते हुए फिर पृथापुत्र अर्जुन कृताञ्जलि होकर बोले- भूमौ- यहाँ पर अवच्छेद अर्थ में सप्तमी है। सपत्न का अर्थ है- शत्रु। इस प्रकार सार्वभौम शत्रुरहित धनधान्य सम्पन्न पृथ्वी का शासन प्राप्त करके विजयी होकर भी मैं इस शोक को समाप्त नहीं करता। यदि कदाचित् युद्ध में मरकर स्वर्ग को प्राप्त हुआ, उस परिस्थिति का निषेध करते हैं- देवताओं के आधिपत्य स्वामित्व को प्राप्त करके, चकार से तात्पर्य यह है कि सूर्यमण्डल का भेदन करके भी ब्राह्मभाव सम्पन्न मुझ अर्जुन के इन्द्रिय तथा उनसे उपलक्षित शरीर का शोषक जो शोक है उसका अन्त नहीं होगा। क्योंकि प्रथम अध्याय में ही मुख के सूखने एवं चर्मेन्द्रिय के दाह की चर्चा कर चुके हैं। 'उच्छोषणम्' अर्थात् सुखाने वाले। इस शोक को जो अपनुद्यात् सुखपूर्वक नष्ट कर सके। यहाँ आशिषि लिङ्लकार है।क्योंकि पृथ्वी का समृद्धराज्य एवं देवताओं का आधिपत्य ये दोनों अनित्य हैं। इस अनित्य से नित्य वस्तु की प्राप्ति नहीं हो सकती। नास्त्यकृतः कृतेन- ऐसा श्रुति भी कहती है।

स्व अर्थात् अपना धन भी नहीं मान रहा हूँ। इसीलिए तो आप जैसे परम धन्य की उपस्थिति में भी मैं दरिद्र की भाँति 'भैक्ष्यमपीह लोके' कहकर भिक्षा मांगने का प्रयास कर रहा हूँ। प्रभो! इस कार्पण्य दोष में आपके प्रति मेरे स्व अर्थात् जाति भाव को भी समाप्त कर दिया है। इसीलिए मैंने आपको अपना सारथी बनाकर सेनाओं के बीच रथ खड़ा करने का आदेश भी दे डाला। किं बहुना, इस कार्पण्य ने आपके प्रति मेरा स्व अर्थात आत्म भाव ही नहीं रहने दिया, अतएव मैंने परमात्मा आपको आदेश भी दे बैठा। रथं स्थापय मेच्युत। अथवा कृपण का अर्थ है दीन। इसीलिए अमरकोष में नि: स्वस्तु दुर्भगो दीनो दरिद्रो दुर्गतोऽपि स:। यहाँ ऽपि से कृपण शब्द का भी संग्रह है इसीलिए भागवत में बारम्बार दीन के अर्थ में ही कृपण शब्द का प्रयोग हुआ है जैसे- व्यास: कृपणवत्सल: १/४/२४ तमाह भ्रातरं देवी कृपणा करुणं सती १०/४/४ और कृपणपक्षे ह्युत्तमश्लोक जल्प: भागवत १०/४७/ १५। कृपणो दीन: इस प्रकार अन्वितार्थप्रकाशिका में बारबार व्याख्या की गई है। आप जैसे स्वामी के वर्तमान रहने पर भी जगत के प्रति मेरे कार्पण्य अर्थात् दैन्य भाव रूप दोष ने स्वभाव अर्थात् मेरी भगवदीयता नष्ट कर दी। इसीलिए तो भगवद् विमुख की भांति ही मैंने दोनों सेनाओं के बीच में रथ खड़ा करने के लिए भगवान को भी आदेश दे दिया। अत: कृपण का अर्थ है क्षुद्र अर्थात् नीच व्यक्ति जैसा कि अमर कोष में भी कहा गया है: कदर्ये कृपण: क्षुद्र- किं पचानिमितं पचा:।

इसीलिए 'स्वभाव' इन्द्रपुत्र का स्वरूप भी मैं नष्ट कर चुका। इसीलिए कायरों की भांति मैं धनुष बाण फेंक बैठा। अथवा कृपा करने वाले को भी कृपण कहते हैं। कृपयतीति कृपण:। यह एक दोष है क्योंकि कृपा आपका गुण है और उसकी आप में ही शोभा है न कि मुझ जैसे छुद्र जीव में। वह कार्पण्य मुझमें अनुचित रूप से आया इसलिए वह दोष बना। अत: उस कार्पण्य दोष ने मेरे स्वभाव अर्थात् जीव स्वरूप को उपहत अर्थात् विस्मित करा दिया। मैं अपने स्वरूप को भूल चुका हूँ। इसलिए कहते हैं- धर्म सम्मूढ़ चेता:। अर्थात मेरा चित्त धर्म के विषय में मूढ़ हो चुका है। अत: मैं आपसे श्रेय पूछ रहा हूँ। अर्थात् यहाँ कार्पण्य का अर्थ है कृपा पात्रता। आप की कृपा पात्रता होने पर भी, मैंने संसारी जीवों की कृपा की अपेक्षा की इसी दोष से मेरा स्वभाव अर्थात आपका कृपापात्रत्व उपहत अर्थात विस्मित हो चुका है। इसीलिए धर्म के सम्बन्ध में किं कर्तव्य विमूढ़ होकर आपसे श्रेय की जिज्ञासा कर रहा हूँ। यदि स्वभाव को न भूलता तो आपसे श्रेय न पूछता। अथवा

कृपण का अर्थ है मूर्ख जैसा कि अगर कोष में भी कहा गया है।

अज्ञे मूढयथाजातमूर्खवैधेयबालिशाः।
कदर्ये कृपणक्षुद्रकिंपचानमितंपचाः।।

उसी मूर्खता रूप कार्पण्य दोष से मेरा स्वभाव अर्थात सेवक भाव रूप जीव स्वरूप विस्मृत हो चुका है। इसीलिए धर्म में मूढ़ बुद्धि होने के कारण मैं आपसे स्वरूपज्ञानरूप श्रेयस् की जिज्ञासा कर रहा हूँ। अथवा यहाँ कार्पण्य स्मार्त नहीं प्रत्युत श्रुति की व्याख्या के अनुरूप है। वृहदारेणकोपनिषद में जब गार्गी ने याज्ञवल्क्य से पूछा था– कृपण कौन है? तव याज्ञवल्क्य जीने उत्तर दिया- गार्गी कृपण वही है जो इस संसार से इस अक्षर परब्रह्म को बिना जाने ही चला जाता है। यथा-

यो वा एतदक्षरं गार्ग्य विदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः। (वृ० उ० ३/८/१०) इस श्रुति का अर्थ इस प्रकार समझना चाहिए– महाराज जनक की सभा में जब महर्षि याज्ञवल्क्य की ब्रह्मवेत्ता के रूप में परीक्षा हो रही थी उसी समय जिसने अपने तप के प्रभाव से पवित्रता के प्रतिबन्धक नारी जनों के उचित आर्तवादि व्यापारों को ध्वष्त कर डाला था ऐसी परम पवित्र ब्रह्मवादिनी गर्ग गोत्र में उत्पन्न गार्गी को सम्बोधित करते हुए महर्षि याज्ञवल्क्य जी ने कहा। हे गार्गी! जिसकी महिमा का अभी अभी मैंने वर्णन किया है ऐसे, जिसका कभी क्षरण नहीं होता, जो सर्व व्यापक है, जो अक्ष अर्थात् इन्द्रिय उनके विषय तथा उनके आयतन रूप प्रारब्ध निर्मित विविधशरीर तत् तत् जीवात्मा को 'र' अर्थात देता है। अक्षाणि ञति इति अक्षरं तथा जो अ अर्थात् कृपा अमृत का वर्षण करता है, एवं जो अ अर्थात वासुदेवादि व्यूहों को प्रकट करता है। ऐसे अक्षर को अविद्वित्वा अर्थात् न जानकर उसका साक्षात्कार किए बिना इस दृश्य जगत से खाली हाथ भूत के समान चला जाता है वही कृपण है। अर्थात् प्रभु के चरण कमल रूप धन को न प्राप्त करने के कारण वह निर्धन है। उसी के भाव को कार्पण्य कहते हैं। यहाँ अर्जुन का यह आशय है कि इस कार्पण्य दोष से मैंने अपना सेवकभाव भुला दिया। संस्कृत में स्व का सेवक भी अर्थ होताहै। अज्ञान के कारण मैं आपको नहीं जान पाया इसलिए आपको अपना अनुचर मानकर मैंने दोनों सेनाओं के मध्य अपना रथ खड़ा करने का आदेश दे दिया। इसी कार्पण्य ने मेरा सेवकभाव विस्मित करा डाला जब कि श्री हारीति भी कहते हैं।

वास्तव में 'तदेकोपायता याच्ञा' इस वाक्य में प्रयुक्त उपाय का ही यह श्लोक व्याख्यान है। हे प्रभो! वह उपाय केवल आपके अधीन है। पृथ्वी का निष्कण्टक राज्य अथवा देवलोक का स्वामित्व ये दोनों मेरी इन्द्रियों को सुखाने वाले शोक को नष्ट नहीं कर सकते, इसलिए कृपया आप ही कोई उपाय बतायें। जो मेरे इस शोक को दूर कर सके।

सोऽहं भगवो शोचामि तन्मां भवान् शोकस्य पारं तारयतु- इस श्रुति का सारांश तथा अभीष्ट की अनन्य साध्यता भी इस श्लोक में प्रदर्शित हुई ।।श्री।।

संगति- इस प्रकार संजय के मुख से अर्जुन के युद्ध के संन्यास का समाचार सुनकर, जब धृतराष्ट्र के हृदय में अपने पुत्र के प्रति विजयाभिलाषा बढ़ने लगी तब उसे निराकृत करते हुए संजय ने फिर कहा-

इस घटना को वैशम्पायन जनमेजय के समक्ष अवतरित करते हैं-

'संजय उवाच' - संजय बोले-

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परतपः।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह/९९

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ- एवम् अर्थात् पाँच श्लोकों में- हृषीकेश संस्कृत में इन्द्रियों को हृषीक कहते हैं। जो विषयों को प्राप्त कर प्रसन्न होती है और विषयों से जीव को प्रसन्न करती हैं। ऐसे इन्द्रियों, परलक्षित शरीर के अधिष्ठाता सर्वान्तर्यामी श्रीकृष्ण के प्रति अपना मन्तव्य कहकर, निद्रा को जीतने वाले शत्रु तापक अर्जुन, हे गोविन्द! मैं युद्ध नहीं करूँगा यह कहकर मौन हो गये। यहाँ गुडाकेश और परन्तप शब्द अर्जुन के विशेषण हैं। इसी के अनुकूल हृषीकेश और गोविन्द ये दोनों श्रीकृष्ण के विशेषण हैं। गोविन्द का अर्थ है पृथ्वी, गऊ, वाणी एवं इन्द्रियों के अधिष्ठाता। गाम् गाश्च विन्दति इति गोविन्दः। भाग० १०/२७/२० में गोविन्द शब्द की एक नये प्रकार से भी व्युत्पत्ति कही गयी है- गवाम् इन्द्र गोविन्दः। यहाँ प्रसोदरादित्वात् इन्द्र को विन्द आदेश हुआ। त्वं न इन्द्रो जगत्पते। भाग १०/२७/२० कामधेनु गऊ कहती है आप हमारे इन्द्र हैं गवामः इन्द्र गोविन्दः। यदि अर्जुन मन की धर्म भूत गुडाका अर्थात् निन्द्रा पर शासन करते हैं तो भगवान श्रीकृष्ण सम्पूर्ण प्राणियों की हृषीक अर्थात् इन्द्रियां पर।यदि अर्जुन परंतप है तो भगवान श्रीकृष्ण गोविन्द।

इसप्रकार हृषीकेश एवं गोविन्द इन दोनों विशेषणों से भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन के शोक तथा मोह को नष्ट करने की क्षमता को नष्ट करने का संकेत करते हैं। श्री।।

संगति- हे गोविन्द! मैं युद्ध नहीं करूँगा इसप्रकार कहकर गाण्डीवधारी अर्जुन के मौन हो जाने पर भगवान् श्रीकृष्ण ने क्या किया? क्या अपने आदेश का उल्लंघन करने वाले पार्थ अर्जुन को शाप दे दिया। अथवा धन्नंजय अर्जुन की उपेक्षा की। अथवा मदन मोहन माधव ने अर्जुन को फिर युद्ध में प्रवृत्त किया इसप्रकार धृतराष्ट्र को शान्त करते हुए संजय बोले-

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरूभमोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः।।१०।।

रा० कृ० भा०सामान्यार्थ- हे भरत वंश में उत्पन्न महाराज धृतराष्ट्र! इसप्रकार कहकर दोनों सेनाओं के बीच में विषाद करते हुए किं कर्तव्य विमूढ़ अर्जुन से समस्त इन्द्रियों के नियामक हृषीकेश भगवान कृष्ण यह वचन बोले।

व्याख्या- भारत् सम्बोधन से संजय धृतराष्ट्र को अपने वंश के निरीक्षण को प्रेरित कर रहे हैं। आशय यह है कि- हे धृतराष्ट्र आप भरत वंश में उत्पन्न हुए हैं इससे पहले के अपने समेत बहुत से भरतवंशी लोगों को आपने देखा है और सुना है क्या किसी को आपने अर्जुन जैसा भाग्यशाली देखा? भला शंकर, ब्रह्मा आदि देवता दानव, यक्ष, गंधर्व, किन्नर, श्रेष्ठसर्प, मनुष्य, मुनि, सभी लोकपाल, परमहंस, परिव्रताचार्य, विमलात्म महात्मागण भी जिसके स्वप्न में प्राप्त आदेश का भी उल्लंघन नहीं कर सकते ऐसे, अपने वाक्य को ठुकराकर जगद्वन्द्य चरणार विन्द परमात्मा स्वयं को ही अत्यन्त भृष्टता से अपमानित करते हुए उन अर्जुन की न तो भगवान उपेक्षा कर रहे हैं और न ही उनके प्रति क्रोध कर रहे हैं और न ही उनके व्यवहार से दुखी हो रहे हैं, प्रत्युत हृषीकेश अर्थात् संसार की इन्द्रियों के द्वारा उपलक्षित समस्त ब्रह्माण्डलोक के शासन कर्ता प्रभु ने इस लीला शक्ति से श्री गीतामृत के वर्षण के बहाने वैदिक धर्म के लालन पालन की इच्छा से तथा अपने ही श्री चरण कमल की शरण में आये हुए मरणशील चित्त वाले श्री वैष्णव समूहों को जिलाने की इच्छा से रागकर्तार्जुनो अर्थात् भगवान के कीर्तन में अर्जुन ने रागो का निर्देशन किया। अतः पुराण की इस युक्ति के अनुसार, मैंने दूर से ही शोक मोह से रहित तथा निरन्तर कीर्तन के अनुराग से युक्त अनेक रागों की रचना के समूह से समलंकृत

अपने नित्यपरिकर अर्जुन को गीता जी के परमाधिकारी आदर्श का निदर्शन करने की इच्छा से एक क्षण शोक एवं मोह से विवश तथा व्याकुल कर दिया था। उसी लीला शक्ति से अपने हृषीकेश नाम के अनुरूप ऐश्वर्य द्वारा अर्जुन की इन्द्रियों को गाय के समान समान शोक मोह रूप कीचड़ से निकालकर उसे वैदिक धर्म में फिर प्रवर्तित कर दूँ। इस प्रकार निश्चय करके हँसते हुए अर्जुन से यह वाक्य कहा, जैसे कि कोई व्यक्ति अपनी बहुत बड़ी अभीष्ट की उपलब्धि प्राप्त करके जोर से हँस पड़ता है इसीप्रकार होते हुए अर्थात् आज भगवान को बहुत बड़ी उपलब्धि हुई अब वे अर्जुन को निमित्त बनाकर गीतामृत का वर्षण कर सकेंगे। अथवा 'प्रहसन्' यह व्यक्तिविशेष का उपमान है उत्प्रेक्षा नहीं। अर्थात् ठहाके से हँसते हुए व्यक्ति की भाँति प्रसन्न वदन होकर, पहले मेरे परिकर अर्जुन भी विषाद करते हुए कुछ बोले थे 'विषीदन्तिदमब्रवीत्' (गीता १/२८)। अब उनके विषाद को दूर करने के लिए मुझे प्रसीदन अर्थात् प्रसन्नता से प्रत्युत्तर देना चाहिए, इसलिए हँसते हुए बोले। अथवा भगवान का सामान्य हास्य लोगों को उन्मत्त करने वाली माया ही होती है। जैसा कि श्रीमद्भागवत में भी शुक्राचार्य जी ने कहा है-

हे महाराज परीक्षित छन्द अर्थात् वेद भगवान के शिर है, उनके जबड़े ही यमराज हैं तथा मधुर कलायें ही दाँत एवं प्रभु का मन्द हास ही लोगों में उन्माद उंत्पन्न करने वाली माया है और उनका भृकुटि विलास ही शाश्वत सृष्टि का क्रम है।

छन्दांस्यनन्तस्य शिरो गृणन्ति।
द्रंष्टा यमः स्नेहकला द्विजानि
हासो जनोन्मादकरी च माया
दुरन्त सर्गो मदपाङ्गमोक्षः। भागवत २/१/३१

जैसे कि मानस में मन्दोदरी भी कहती है-

अधर लोभ जम दसन कराला।
माया हास बाहु दिगपाला।। मानस ६-१५-५

तथा भगवान का विशिष्टहास भक्तों पर अनुग्रह करने वाला चन्द्रमा है जैसा कि श्री मानस में बाल रूप श्रीराम के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए गोस्वामी तुलसी दास जी कहते हैं-

हृदय अनुग्रह इन्दु प्रकासा।
सूचत किरन मनोहर हासा।। मानस १-१९८-७

इसलिए जिस माया के कारण यह मेरा सखा अर्जुन इस समय घने अन्धकार से युक्त होकर महा मोह रूपी कुम्भ में पड़ना चाहते हैं, अब मैं इस प्रहास के बहाने इनके अन्तःकरण को अनुग्रह किरणों से प्रकाशित करके, इनकी पञ्चपर्वा अविद्या के प्रपञ्च को दूर कर दूँ। इसलिए भगवान ने प्रहास सा किया। अथवा भगवान का मंगल मय हास संसार की शोकरूपसागर को सोख लेता है जैसा कि श्रीमद्भागवत में श्री देवहूतिजी से कपिलदेव कहते हैं- भगवान का मधुर हास ही समस्त शरणागतों से तीव्र शोक सागर को सोख लेता है तथा मुनि जनों का आनन्दकारी भगवान का भ्रूमण्डल कोटि कोटि कामों को भी सम्मोहित कर लेता है। संयोग से अर्जुन भी लोकपालों में अन्यतम इन्द्र के पुत्र ही हैं और वे भगवान के शरणागत भी हैं। इसलिए उनके शोकाश्रु सागर को सोखने के लिए ही भगवान ने प्रहास किया। क्योंकि भगवान ने निर्णय लिया कि इस समय अर्जुन के नेत्र आँसू से भरे हैं (गीता २-१) और वे मेरे चरण कमलों के शरणागत भी हैं (२-७) अतः मैं अपने प्रपन्न तथा विपन्न मित्र के शोक सागर को अपने प्रकृष्ट हाथ से अगस्त्य की भाँति सोख लूँ इसलिए प्रभु हँसे। अथवा गाण्डीवधन्वा अर्जुन इस शोक को दुर्निवार्य मानते हुए इसको नष्ट करने के लिए कोई भी उपाय न देखते हुए व्याकुल हो रहे हैं। इसलिए इस शोक को मैं उसीप्रकार खा जाऊँ जैसे मरणासन्न व्यक्ति को यमराज। यही संकेत करने के लिए प्रहास के बहाने भगवान अपनी यमरूपिणी द्रंष्ट्रा को दिखा रहे हैं कि- पार्थ तुम चिन्ता मत करो। मैं तुम्हारे शोक को शीघ्र समाप्त कर दूँगा। अल्पहास में दाँत दिखाई पड़ते हैं अतः भगवान प्रहास से यह सङ्केत कर रहे हैं, कि वे यमरूप जबड़ों से अर्जुन के शोक को खायेंगे और दाँत रूपी स्नेहकला से अर्जुन का पोषण भी करेंगे। इसलिए प्रहास करके दोनों के दर्शन करा दिये। जैसा कि भागवतकार कहते हैं-

भगवान के जबड़े ही यम हैं और उनकी दाँत ही स्नेह की कला है। अथवा जीव प्रारब्ध कर्मों के वश होने के कारण कभी दुखी हो जाता है और परमात्मा कर्मबन्धन प्राप्त न होने के कारण निरन्तर प्रसन्न ही रहते हैं। जैसे कि श्रीराम चरितमानस में गोस्वामी जी आज्ञा करते हैं-

हरष विषाद ज्ञान अज्ञाना।
जीवधर्म अहमिति अभिमाना। मानस १/११६/७

अर्जुन प्रत्यगात्मा हैं और मैं परमात्मा। इसीलिए उनमें विषाद है और मुझमें प्रसाद। जैसा कि श्री गीता १८/७३ में स्वयं कहते हैं-

हे भगवान्! आपके प्रसाद से मेरा मोह नष्ट हुआ। ऐसा सोचकर अपने स्वाभाविक प्रसन्न सुन्दर मुखारविन्द से दुःखी तथा रथ के निचले भाग में बैठे हुए अपने भक्त अर्जुन को प्रसाद वितरण करते हुए प्रहास करते हुए बोले- 'प्रहसन्निव' अथवा मायापति भगवान श्रीकृष्ण श्रीगीता के उपदेश के समय अर्जुन को स्वस्थ करने की इच्छा करते हुए प्रहास के बहाने अपनी माया को निवारित कर रहे हैं। क्योंकि भगवान का हास माया है और प्रहास अनुग्रह। अथवा प्रहास के बहाने भगवान श्रीकृष्ण अपने जबड़ों में स्थित यमराज को कौरव भटों पर प्रेरित कर रहे हैं। अथवा शोक का निवारण बड़ा ही सुगम है इसी बात को सूचित करने के लिए भगवान ने परिहास सा किया। जो कुछ लोग इसप्रकार व्याख्या करते हैं कि 'प्रहसन्' अर्थात् भगवान अर्जुन का परिहास कर रहे हैं और अपने प्रहसन के बहाने वे अर्जुन में लज्जा और कोप का उत्पादन कर रहे हैं, उन लोगों का वह व्याख्यान अनादिकालीन पापसमूह के कारण मलिनमन होने से, भगवान एवं भगवान के भक्तों की भक्ति भागीरथी के निर्मल तरंगों के अवगाहन के स्वाद का ज्ञान न होने के कारण तथा वैष्णव सिद्धान्त का अध्ययन न होने से चित्त के सारहीन हो जानेके कारण, निस्सार चित्त में उत्पन्न भगवद्भक्ति विहीन विष का वमन होने से उपेक्षित ही कर देना चाहिए। भला बताइये परम कारूणिक शिरोमणि मोर मुकुटधारी भगवान श्रीकृष्ण अपने श्रेष्ठभक्त अर्जुन का परिहास कैसे करेंगे? क्योंकि श्री अर्जुन भगवान की ललित लीला के श्रेष्ठ परिकर होने के कारण सर्वथा निर्दोष हैं।

उभयोः अर्थात कौरव पाण्डव की। संस्कृत में 'इन' शब्द स्वामी का वाचक है। 'इन' अर्थात् सेनापति से युक्त होने के कारण दल को सेना कहते हैं। 'इनेन सह वर्तमाना सेना।' इसप्रकार कौरवों एवं पाण्डवों की दोनों सेनाओं के मध्य स्थित होकर। 'विषीदन्तम्' विषादयुक्त होते हुए अर्जुन के प्रति भगवान यह वाक्य बोले। यहाँ शतृ प्रत्यय वर्तमान काल में है। इससे यह संकेत किया कि- अर्जुन अभी भी विषादयुक्त हैं और उनका यह विषाद आगन्तुक अर्थात अभी-अभी का आया हुआ है बहुत

दिनों का नहीं है। इत अर्थात् यह आगे कहा जाने वाला पाँच सौ छासठ श्लोकों से युक्त गीता शास्त्र रूप वाक्य बोले। अथवा 'अ' का अर्थ है भगवान उनसे उत्पन्न होने वाले सांसारिक प्रपञ्च को ही 'इ' कहते है। उस 'इ' अर्थात शोकमोहात्मकसांसाकप्रपञ्च का खण्डन करने वाला। इद अर्थात् गीताशास्त्ररूपवचन बोले। इम् द्यति इति इदम्।

अथवा इस श्लोक में प्रयुक्त भारत शब्द धृतराष्ट्र का सम्बोधन नहीं है। यहाँ प्रयुक्त भारत युधिष्ठिर एवं दुर्योधन का वाचक है तथा भारत शब्द का सेना शब्द के साथ षष्ठीतत्पुरुष समास है। इसप्रकार भारतसेनयो: यह एक पद है इसका अर्थ होगा भारतों अर्थात् युधिष्ठिर तथा दुर्योधन की सेनयो: सेनाओं के बीच में। इस पद का विग्रह इसप्रकार समझना चाहिए भायां रत: भारत: युधिष्ठिर: पुन: भे भगवति अरत: इति भारत: दुर्योधन: भारतश्च भारतश्च इति भारतौ युधिष्ठिरदुर्योधनौ भारतयो: सेने तयो: भारतसेनयो:। युधिष्ठिर के पक्ष में भा शब्द ज्ञान का वाचक है। धर्मराज भगवत् तत्ववेत्ता होने से उस भ अर्थात भगवत ज्ञान की भक्ति में रत हैं। परन्तु दुर्योधन ठीक करके विपरीत भे अर्थात् भगवान में अरत अर्थात् नहीं लगा है। दुर्योधन भगवान से विमुख है इसीलिए श्रीमदभागवत में परम भागवत विदुर धृतराष्ट्र को अगाह करते हुए कहते हैं हे राजन्! जिस पुत्र को अपनी संतान मानकर तुम भगवान श्रीकृष्ण से विमुख होकर अपनी राजलक्ष्मी को भी तिलांजलि देकर पाल पोस रहे हो, वह परमात्मा श्रीकृष्ण से द्वेष करने वाला दुर्योधन साक्षात् दोष रूप में ही तुम्हारे घर में प्रविष्ट हुआ है। इसलिए अपने कुल की कुशलता के लिए इस अशैव अर्थात् भगवान शिव के भी आराध्य श्री कृष्ण से विमुख दुर्योधन को शीघ्र अपने घर से निकाल दो। (भागवत ३-१-१३)

स एष दोष: पुरुषद्विडास्ते
गृहान् प्रविष्टोऽयमपत्यमत्या।
पुष्णासि कृष्णाद्विमुखो गतश्री-
स्त्यजाश्वशैवं कुलकौशलाय।। भागवत ३-१-१३

इस श्लोक में पठित पुरुषद्विट शब्द का अर्थ है परम पुरुष श्रीकृष्ण का द्वेषी। शिव के सम्बन्धी को शैव कहते हैं शिवस्यायं शैव:। भगवान का विमुख शिव का सम्बन्धी हो ही नही सकता। यद्यपि सुबोधिनी टीका के रचयिता श्री वल्लभाचार्य महाप्रभु इस श्लोक में "त्यजाशुचंनम्" यही पाठ स्वीकारते हैं और मेरा भी इसी

पाठ के प्रति प्रचुर आदर है। इस प्रकार भा ज्ञान में रत होने से युधिष्ठिर भारत है तथा भ भगवान के विषय में अरत विमुख होने से दुर्योधन भारत है। युधिष्ठिर का विजय निश्चित है तथा 'भा' ज्ञान में अरत 'रत' न होने के कारण तुम्हारे पुत्र अज्ञानी दुर्योधन का पराजय भी निश्चिति ही है। अथवा यहां 'भा' शब्द भगवान का वाचक है युधिष्ठिर 'भा' अर्थात् भगवान में अ अर्थात् पूर्ण रूप से एवं आदरपूर्वक 'रत' अर्थात लगे हुए हैं। युधिष्ठिर जी भगवान के सेवक हैं परन्तु तुम्हारा पुत्र दुर्योधन 'भ' अर्थात् भगवान में अरत है अर्थात् उसे भगवान से प्रेम नहीं है अतः वह पराजित होगा ही।

यहाँ ध्यान रहे कि युधिष्ठिर तथा दुर्योधन का वाचक होने से भारत शब्द यद्यपि दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है फिर भी आनुपूर्वी के एक होने से स्वरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ पा० १-२-६४ सूत्र द्वारा एक शेष हुआ। जैसे रामश्च रामश्च रामश्चरामाः प्रयोग में यद्यपि तीनों राम शब्द क्रम से परशुराम दाशरथि राम एवं बलराम के वाचक हैं फिर भी वहां एक शेष हुआ। अर्थात् स्वरूप सूत्र शब्द की समानता के आधार पर ही एक शेष करता है। अतः भारत युधिष्ठिर तथा भारत दुर्योधन की सेनाओं के मध्य स्थित होकर पूर्व की भांति इस समय भी विषाद करते हुए श्री अर्जुन से भगवान श्रीकृष्ण बोले ।।श्री।।

संगति-इसके अनन्तर भगवान ने क्या कहा, इस विषय में कुछ भी न कहकर पूर्वश्लोक में ही तमुवाच भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन के प्रति यह वाक्य कहा- इसप्रकार पहले ही- कहकर सञ्जय कुछ विशेष कहने की इच्छा करते हुए राजा धृतराष्ट्र को कुछ विशेष वास्तविकता की जिज्ञासा करते हुए वाक्य के अनुवाद से पहले इस वाक्य के वक्ता की ही अवतारणा करते हैं-

श्री भगवानुवाच

षडेश्वर्य सम्पन्न भगवान श्री कृष्ण बोले! यहाँ यह विशेष जानने का विषय है कि कदाचित्त धृतराष्ट्र जिज्ञासा कर सकता था कि- इस समय भगवान श्री कृष्ण के लिए अर्जुन के प्रति यह अध्यात्म का उपदेश अनुचित है। क्योंकि इसके लिए न तो यह समय उपयुक्त है और न ही यह क्षेत्र। यह क्षेत्र है उस संग्राम का जहां सब ओर अनेकानेक अस्त्र शास्त्रों से सुसज्जित हाथी, घोड़े रथ आदि वाहनों के तुमुल स्वर एवं ओजस्वी वीरों के भयंकर गर्जन, तर्जन, ताल ठोकना एक दूसरे को ललकारना

आदि अनेक प्रकार के कोलाहल से वातावरण अत्यन्त अशान्त हो चुका है और युद्ध में व्यस्त होने के कारण किसी का मन भी स्थिर नहीं है। यहाँ इस गहन विषफ का उपदेश सम्भव कैसे होगा और भी कदाचित श्रीकृष्ण तथा अर्जुन के संवाद में व्यस्त हो जाने के कारण कहीं प्रतिपक्षीगण इन पर प्रहार न कर सके। इसलिए इन दोनों रथी तथा सारथि को बहुत सावधान भी रहना होगा। तो फिर श्रीकृष्ण कैसे उपदेश कर सकेंगे और अर्जुन कैसे सुन सकेंगे? इसप्रकार यहाँ उपस्थित किये हुए अथवा अनुपस्थित विचारित और अविचारित इन अनेक असम्भवों का समाधान करने के लिए संजय श्री भगवान शब्द का प्रयोग करते है। संजय का अभिप्राय है कि हे राजन! श्रीकृष्ण भगवान हैं उनके यहाँ सब कुछ सम्भव है वहाँ कई भी वस्तु असम्भव है हीनहीं। यहाँ भग शब्द श्री, काम, एवं माहात्म्य का बोधक है। भगवान ने अपनी भगवत्ता से श्री गीतोपदेश में इसलिए भगवत ज्ञान में रत होने से भारत अर्जुन के समक्ष शान्ति का वातावरण उपस्थित कर दिया। बाधक बनने वाली सभी दुर्घटनाओं को सुघटनाओं में बदल दिया जैसा कि श्री रास लीला में पाँच कोश वाले वृन्दावन में अनन्तकोशों का समावेश, चार प्रहर वाली रात्रि में अनन्त प्रहरों का समायोजन, शरद में भी बसन्त का वातावरण, सामान्य गोपियों के क्षणभङ्गुर शरीर में नित्य एवं अलौकिक शरीरों का आविर्भाव, सम्पूर्ण प्रकृति का रसमय हो जाना, स्वयं की बाल्यावस्था को किशोर वय में ढाल लेना, यह रहस्य वृजवासियों द्वारा न जाना जाना पूर्णचन्द्र का अनन्त वर्ष पर्यन्त एक रस में रहना तथा रासलीला में किसी भी उपद्रव को न आने देना यह सब भगवान के भगवत्ता का ही तो चमत्कार था इन्हीं असम्भवों को सम्भव होते देखकर ही रास लीला के मङ्गला चरण में ही परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री शुकदेव जी ने भगवान शब्द का प्रयोग किया। भगवानपि ता रात्रीः भागवत १०-२९-१। ठीक उसी प्रकार यहाँ भी भगवान ने अपने उसी भगवत्ता का प्रयोग किया। भगवान सब कुछ करने में समर्थ हैं क्योंकि वे सर्व समर्थ तथा अघटितघटनाऽपटु एवं अचिन्त्य जगन्नाट्यशाला की जननी इस महामाया नटी के सूत्र धार हैं। उन्होंने अपनी भगवत्ता के बल पर ही दोनों सेनाओं के तुमुल स्वर के बीच भी अर्जुन को कोई भी विरुद्ध शब्द सुनाई ही नहीं पड़ा। जब तक प्रभु योगेश्वर श्रीकृष्ण ने श्री अर्जुन को गीता जी का उपदेश किया तब तक दोनों सेनाओं को स्तब्ध रखा एवं अपनी चितवन की जादू चलाकर विपक्षियो की आयु शक्ति तथा नेत्रों को चुरा लिया, जिससे गीताजी के उपदेश काल मे शत्रु योद्धा हथियार डाल देने पर भी श्री अर्जुन पर किसी भी प्रकार का प्रहार

नहीं कर सके। इन्हीं सब अभिप्रायों को कहने के लिए ही सञ्जय ने श्रीभगवानुवाच शब्द की अवतारणा की। इसके अनन्तर भगवान ने क्या कहा यह कहते है-

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः।। गीता-११

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ- भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन के शोक को निराधार बताते हुए कहते है कि- हे अर्जुन! तुमने उनके सम्बन्ध में शोक किया जो वास्तव में सोचनीय नहीं है। जबकि तुम पण्डितों की सी भाषा बोल रहे हो। क्योंकि जिन के प्राण चले गये हैं अथवा जिनके प्राण नहीं गये हैं पर निकट भविष्य में जाने वाले हैं। उन दोनों के ही सम्बन्ध में सदसद् विवेकशील बुद्धि से युक्त पण्डितगण कभी भी नहीं शोक करते।

व्याख्या- यहाँ श्लोक के पूर्वार्ध में भगवान अशोच्यान् इत्यादि से अर्जुन के पूर्वशोक का अनुवाद करके उसका अनौचित्य कहकर पुनः उत्तरार्ध में नानुशोचन्ति शब्द से अर्जुन के शोक में निषेध की योग्यता कहते हैं। पूर्वार्ध में कहा हुआ च विषय का समुच्चायक है और उत्तरार्ध में कहा आ च अपि के अर्थ का वाचक है। यद्यपि न शोच्याः अशोच्याः तान् अशोच्यान् इसप्रकार प्रारम्भ में कहा हुआ शब्द नञ् समास घटित होने से यद्यपि शोक के निषेधार्थ में अभिप्रेत है फिर भी इसके और भी बहुत अर्थ कहे जा सकते हैं। श्री गीता में भगवान कहते है- अक्षरों में अकार मैं हूँ और एकाक्षरी कोश के अनुसार भी अकार भगवान वासुदेव का वाचक है। और अशोक अर्थात् शोक के अभाव रूप में भी भगवान ही हैं। इसलिए अकार शोक के निषेध में प्रयुक्त होकर भी श्री हरि का नाम होने से मङ्गलाचरण है जैसे कि स्मृति भी कहती हैं-

मङ्गलं भगवान् विष्णुर्मङ्गलं गरुड़ध्वजः।
मङ्गलं पुण्डरीकाक्षौ मंगलायतनं हरिः।।

भगवान आक्षेप पूर्वक अर्जुन के शोक का निराकरण करते हैं- अर्जुन इस अध्याय के द्वितीय श्लोक में मैंने अनार्यजुष्टम् अस्वर्ग्यम् अकीर्तिकरम् इन तीन विशेषणों से इस कश्मल रूप शोक की निन्दा करके इसका निषेध किया था तथा तीसरे श्लोक में क्लैव्यं मा स्म गमः कहकर उत्तेजना पूर्वक वाक्य से तुम्हें प्रोत्साहित भी

किया था फिर भी तुमने अशोच्यों के प्रति शोक किया। जो शोक के योग्य नहीं होते उन्हें अशोच्य कहते हैं। अनु का अर्थ है अनुलक्षण अर्थात् भीष्म आदि शोक के योग्य नहीं है फिर भी तुमने उन्हीं के सम्बन्ध में शोक किया है। क्योंकि इनका .जन्म और मरण निश्चित है अत: ये शोक योग्य नहीं है।

अब एक प्रश्न उठता है कि भगवान ने अन्वशोचस्त्वं यह लङ् लकार का प्रयोग कैसे किया। क्योंकि लङ् लकार अनद्यतन भूतकाल में होता है, जब कि अर्जुन के शोक की घटना अद्यतन अर्थात आज अभी-अभी घटी है, क्योंकि इसके पूर्ववर्तीश्लोक मे अर्जुन के प्रति विषीदन्तं यह वर्तमान कालिक शतृप्रत्ययोन्त प्रयोग किया गया है। इसी से श्रीगीतोपदेश के समय अर्जुन के शोक का होना निश्चित हो जाता है अत: न ही यहाँ वर्तमानकाल है और न ही अनद्यतन भूतकाल इसलिए अन्शोच: के स्थान पर अन्वशोचसि अथवा कथञ्चित एक क्षण पूर्व की घटना होने से अन्वशोची: यह लङ् लकार का प्रयोग होना चाहिए था क्योंकि अर्जुन का शोक या तो वर्तमान कालिक है या वर्तमान से अतिसमीप भूतकालिक है। यहाँ शब्द और अर्थ दोनों स्थानों पर व्यत्यय है। व्यत्ययोवहुलम् पा० अ० ३-१-८५ इस सूत्र द्वारा लङ् अथवा लट् लकार के स्थान पर व्यत्यय हुआ। अर्जुन में आज जातिधर्म कुलधर्म वर्णधर्म का व्यत्यय है इसीलिए भगवान ने भी ऐसा प्रयोग किया शुच् धातु का शोक अर्थ है शुच् शोके पा० धा० प० १८३। बिछुड़े हुए बन्धओ का स्मरण करके क्लेश का अनुभव करना ही शोक है। इसीलिए बाल मनोरमा कार ने शोचति का- बिछुड़े हुए बन्धु जनों का स्मरण करके क्लेश का अनुभव करता है, अर्थ लिखा है। अर्जुन के व्यक्तित्व में अनेक व्यत्ययों अर्थात् परिवर्तनों को देखकर ही भगवान ने जान बूझकर व्यत्यय घटित प्रयोग किया ऐसा मुझे प्रतीत होता है। भगवान का आशय यह है कि जो सोचने योग्य नहीं है तुम उन्हीं के प्रति शोक कर रहे थे और अब भी कर रहे हो यद्यपि क्योंकि बिछुड़े लोगों के प्रति ही शोक करना उचित होता है, जब कि भीष्म आदि अभी तुमसे अलग नहीं हुए हैं वे तो तुम्हारे पास ही स्थित है। इसलिए यह शोक योग्य नहीं है। यह विडम्बना ही है कि जब दुर्योधन के द्वारा द्यूतक्रीड़ा में तुम लोगों का सब कुछ छीन लिया गया था तथा तुम सब तेरह वर्षों के लिए पत्नी सहित निर्वासित हो चुके थे, तब तुम से अलग होने के कारण भीष्म आदि शोच्य थे। पर उस समय तुमने इनके प्रति शोक नहीं किया और आज ये तुम्हारे सामने उपस्थित है फिर भी शोक कर रहे हो यही

अशोच्यों के प्रति तुम्हारे शोक का अनौचित्य है। अथवा यदि तुम्हें इनके मरण की आशंका है तो भी इनके प्रति शोक करना उचित नहीं है क्योंकि तुम इनके मरण को टाल नहीं सकते। यदि तुम्हें इनके मरण का निश्चय हो चुका है तो फिर इनके प्रति क्यों सोच करते हो क्या तुम्हारे शोक करने से इनकी मृत्यु टल जायेगी। वह तो कटु सत्य है। अथवा द्रौपदी के चीर हरण के समय ही ये सब मेरे द्वारा मारे जा चुके हैं जैसा कि भागवत में भी कहा गया है। उन दुष्टराजाओं को पाण्डवों द्वारा मरवाकर भगवान श्रीकृष्ण द्वारिका पधारे जिनका द्रौपदी के केशों के स्पर्श के समय ही आयु क्षीण हो चुका था। भागवत १-८-५। इसलिए अब ये शोच्य नहीं हैं, यदि इनको तुम जिलाना चाहते हो तो भी सम्भव नहीं है क्योंकि इनको मैंने निश्चय पूर्वक मार डाला है इसीलिए इसी गीता शास्त्र में ११, ३२ और ३४ में भगवान द्विर्बद्धम् सुबद्धम् भवति अर्थात् दो बार बांधी हुई वस्तु कभी नहीं छूटती इसी न्याय का अनुसरण करते हुए भगवान दो बार अर्जुन से कहते हैं-

१- अर्जुन ये मेरे द्वारा पहले ही मारे जा चुके हैं तुम केवल निमित्त बन जाओ गीता ११-३७।

२- हे अर्जुन द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण आदि वीरों को मैंने पहले ही मार डाला है अतः अब स्थूल रूप से इन्हें मारो गीता ११-३४। इसलिए अब ये जिलाये नहीं जा सकते। यदि ये देह विशिष्ट जीवात्मा हैं तो भी तुम्हारा शोक करना उचित नहीं है। क्योंकि देहनाश अवश्यम्भावी है। यदि तुम इन्हें जीवात्मा ही मानते हो तो भी इनके प्रति शोक मत करो क्योंकि ये तुमसे अलग हुए ही नहीं फिर भी उन अशोच्यों के प्रति सोच कर रहे हो।

प्रज्ञावादान्-प्रज्ञावताम् वादाः प्रज्ञावादाः। यहाँ पर प्रज्ञा अस्ति येषां इस विग्रह में मतुप् प्रत्यय हुआ और उसका विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदलोपो वक्तव्य इस वार्तिक से मतुप् प्रत्यय का लोप हुआ। प्रज्ञा बुद्धि को कहते हैं अर्थात् तुम बुद्धि मानों के जैसी बात करते हो। अथवा प्रज्ञायाः वादाः प्रज्ञावादाः यहाँ कल्पकल्पकभाव सम्बन्धे षष्ठी । अर्थात् तुम्हारी कल्पना है विद्वानों जैसी परन्तु बात करते हो मूर्खों जैसी। तुम सब बातें अपनी बुद्धि में कल्पित करके कह रहे हो। अथवा "प्रज्ञया कल्पिताः वादाः प्रज्ञावादाः" यहाँ शाकपार्थिव नियम से मध्यमपदलोपी समास हुआ है। जो मधुसूदन सरस्वती ने अकार का प्रश्लेष करके व्याख्यान किया है- "अवक्तुं योग्याः अवादाः,

प्रज्ञानाम् अवादा: प्रज्ञावादा:'' जो बोलने योग्य नहीं होते हैं उन्हें अवाद कहते हैं, प्रज्ञों के अवाद को प्रज्ञावाद कहते हैं। इसप्रकार उन्होंने व्युत्पत्ति भी की है वह सर्वथा अशास्त्रीय है। क्योंकि अर्ह अर्थ में कहीं भी कृत्यार्थ घञ का विधान नहीं देखा गया। यदि कहें कि अर्हे कृत्यतृचश्च पा० अ० ३-३-१६९ इस सूत्र से घञ् किया जा सकता है तो ये कहना ठीक नहीं है। क्योंकि वहां कृत्य प्रत्यय तृच् तथा लिङ् लकार का विधान है और घञ् प्रत्यय कृत्य संज्ञक प्रययों के अन्तर्गत नहीं आता है। वास्तव में हमारे मत में प्रज्ञावाद शब्द में प्रज्ञ तथा आवाद इन दो शब्दों का संयोग है। आदरणीय वाद को आवाद कहा जाता है। जो ब्रह्मतत्व को प्रकृष्ट रूप से जानते हैं वे ही प्रज्ञ हैं उन्हीं प्रज्ञों का आवाद प्रज्ञावाद है। इस प्रकार विद्वाजानों के आदरणीय तत्व बुभुत्स: कथा रूप वाद ही प्रज्ञावाद है। प्रकृष्टं ब्रह्म तत्वं जानन्तीति प्रज्ञा: तेषां आवादा: प्रज्ञा वादा:। वर्तमान सामीप्ये। इस सूत्र से वर्तमान के अधिक समीपवर्ती भूतकाल के अर्थ में किया गया है। यहाँ भगवान का आशय यह है तुम अभी अभी विद्वानों के आदरणीय वाक्य बोल रहे थे और जिनके लिए शोक नहीं करना चाहिए उन्हीं के प्रति शोक कर रहे थे।

पण्डिता:– सत् एवं असत् का विवेक करने वाली बुद्धि ही पण्डा है वह पण्डा जिनमें उत्पन्न हो चुकी हो वे सद्सद् विवेक सम्पन्न महापुरुष पण्डित कहे जाते हैं। सदसद्विवेकिनी बुद्धि: पण्डा, सा सञ्जाता येषां ते पण्डिता: इस विग्रह में षष्ठी के अर्थ में प्रथमान्त पण्डा शब्द से तदस्य संजातं तारकादिभ्यं इतच् पा० अ० ५-२-३६ इस सूत्र से इतच् प्रत्यय से पण्डित शब्द सिद्ध होता है। संस्कृत में असु शब्द प्राण का वाचक है। जिनके असु गत हो गये हैं अर्थात् मरे हुए तथा अगतासु अर्थात जीवित प्राणियों के प्रति कभी भी शोक नहीं करते हैं। क्योंकि किसी के शोक करने से किसी के जीवनमरण नहीं टला करते हैं। जो गीतागूढ़ार्थदीपिका में मधुसूदन सरस्वती ने गतासून् का मृत और अगतासून् शब्द का मृत लोगों के पुत्र पौत्र ऐसा अर्थ किया है वह सर्वथा असंगत है क्योंकि वशिष्ठ आदि में इसका विपरीत क्रम भी देखा गया है यह अनिवार्य नहीं है कि पितामह मृत हो और पौत्र जीवित हो कभी कभी पितामह के सामने भी पुत्र पौत्र की मृत्यु देखी जाती है। जो कुछ लोगों ने गतासु शब्द से जीवात्मा और अगतासु शब्द से देह अर्थ लेकर व्याख्या की है वह सर्वथा अनुचित है क्योंकि जीवात्मा एवं देह के लिए गतासु और अगतासु शब्द का कहीं भी प्रयोग नहीं देखा गया है। कभी-कभी मरने के पश्चात शरीर भी तो

गतासु हो जाता है और जीवात्मा निरन्तर अगतासु अर्थात् प्राण सहित ही रहता है इसी लिए गीता १५-९ में भगवान ने स्पष्ट कहा है-

कि मन और पाँचों इन्द्रियों के साथ जीवात्मा सर्वत्र भ्रमण करता है। मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति गीता १५-७। अथवा गतासून् जिनके प्राण चले गये है ऐसे जीवात्मा तथा अगतासून् जिनके प्राण नहीं गये हैं ऐसे देह विशिष्ट जीवात्माओं के प्रति जीर्ण वस्त्र की भांति पण्डित जनशोक नहीं करते। क्योंकि ये दोनों विशेषण क्षणभङ्गुर हैं, ऐसी व्याख्या की जाती है। यह भी एकदेशीय है। वास्तव में तब इस श्लोक के उत्तरार्ध में प्रयुक्त गतासून् अगतासून् इन दोनों विशेषणों के अन्य पदार्थ भी समान ही हैं। यहाँ बहुव्रीहि समास है। बहुव्रीहि प्रायः अन्यपदार्थ प्रधान हुआ करता है इस दृष्टि से गतासून् का विग्रह होगा गताः निर्गताः असवः प्राणाः येषां ते गतासवः। तान् गतासून्। अर्थात् जिनके प्राण चले गये हैं वे ही गतासु हैं। गतासु शब्द के द्वितीया बहुवचन में गतासून् बनता है उसीप्रकार अगतासून् शब्द के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए, अर्थात् यहाँ भगवान कहना यह चाहते हैं कि ये भीष्म आदि भी गतासु और अगतासु भी हैं। दुःशासन द्वारा द्रौपदी के केश कर्षण के समय ही इन सबको मैंने मार डाला था। परन्तु मेरी लीला शक्ति से माया मयशरीर एवं प्राण से युक्त होकर ये रणभूमि में तुम्हारे साथ युद्ध करेंगे। इसलिए परमार्थतः भीष्म आदि मेरी दृष्टि से गतासु अर्थात् निष्प्राण हो चुके है पर तुम यह रहस्य नहीं जानते इसलिए तुम्हारी दृष्टि में ये अगतासु अर्थात् जी रहे हैं। अतः परमार्थ में मरे हुए और व्यवहार में जीवित इन भीष्म आदि के प्रति पण्डित कभी शोक नहीं करते। क्योंकि जीवात्मा शरीर मन, इन्द्रिय तथा बुद्धि से विलक्षण है जैसा कि कठोपनिषद् में भी कहा गया है-

विषम इन्द्रियों से सूक्ष्म है, मन से भी सूक्ष्म बुद्धि है और बुद्धि से सूक्ष्म है यह जीवात्मा, जीवात्मा से सूक्ष्म है अव्यक्त भगवान की माया और अव्यक्त से भी सूक्ष्म है केवल परमात्मा परमात्मा से कोई वस्तु श्रेष्ठ नहीं है और नहीं सूक्ष्म। वे ही सबकी सीमा तथा परमगति भी है। कठो० उ० १-३-१०-११।

यहाँ ल्यब्लोप में पंचमी है और पर शब्द सूक्ष्मता तथा श्रेष्ठता का वाचक है अर्थात् इन्द्रियों की अपेक्षा अर्थों की, अर्थों के अपेक्षा मन की, मन के अपेक्षा बुद्धि की, बुद्धि की अपेक्षा जीवात्मा की, जीवात्मा के अपेक्षा अव्यक्त अर्थात भगवान के

योगमाया, की अव्यक्त के अपेक्षा परमात्मा की सूक्ष्मता तथा श्रेष्ठता समझनी चाहिए। श्रुति के इस व्याख्यान से जीवात्मा परमात्मा का अभेदवाद निरस्त हो गया क्योंकि यहाँ श्रुति ने स्पष्ट कह दिया कि जीवात्मा से योगमाया और योगमाया से भगवान श्रेष्ठ है।

महतः परमं व्यक्तं अव्यक्तात् पुरुषः परः क० उ० १-३-१

यहाँ आत्मानात्म, विवेक ही सांख्यज्ञान के नाम से कहा गया है। इसी को अर्थपञ्चक ज्ञान कहते है। इस गीता शास्त्र में ज्ञान के चार भेद हैं गुह्य गुह्यतर, गुह्यतम् और सर्व गुह्यतम् । गीता १८-६८ में गुह्य, गीता १८। ६३ में गुह्यतर,गीता १५-२० ॅ गुह्यतम तथा गीता १८-६४ में सर्वगुह्यतम ज्ञान की चर्चा की गई है। यही सर्वगुह्यतमज्ञान प्रपत्ति योग नाम से जाना जाता है इस विभाग चतुष्टय को हम यथा अवसर स्पष्ट करेंगे। उनमें सर्वप्रथम आत्मानात्मज्ञान का सूत्रभूत यही प्रथम श्लोक है, इसी में भगवान ने संक्षेप रूपसे आत्म और अनात्म तत्व की व्याख्या की है। ।।श्री।।

संगतिः- इस प्रकार पूर्वश्लोक में भीष्मादि की अशोच्यता का वर्णन करके सर्व सर्वेश्वर भगवान श्री कृष्ण ने मोह रूप महापर्वत को नष्ट करने के लिए वज्र के समान शक्ति से सम्पन्न, मिथ्यावाद रूप कमल के लिए पाले के समान तथा मयावाद जल्पनरूपअन्धकार को नष्ट करने के लिए सम्पूर्ण श्री वैष्णव के सिद्धान्तों के श्रेष्ठ भावों से युक्त बारहवे सूर्य के समान, इस श्लोक को अपनी निरतिशय कल्याण गुणगणों से समन्वित, सर्वज्ञता से सनाथित, अत्यन्त सुन्दर, चिन्मय चिन्तन रूप उदयाचल के शिखर से महर्षि कश्यप की भांति प्रकट किया।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ।।१२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थः- भगवान श्री कृष्ण कहते हैं- हे अर्जुन! मैं परमात्मा श्री कृष्ण भूतकाल में नही था ऐसा नहीं है, तुम नही थे ऐसा भी नहीं है। ये राजा पहले नहीं थे यह भी नही कहा जा सकता अर्थात मैं तुम ये सभी राजागण पहले भी थे। हे धनञ्जय! यह भी कहना किसी भी प्रकार संगत नहीं होगा कि हम सभी भविष्य में नही रहेंगे। अर्थात् इसके बाद में, तुम तथा मे सभी राजागण इस सृष्टि

के अनन्तर भी रहेंगे। क्योंकि जीवात्मा और परमात्मा ये दोनों ही नित्य हैं। इनका विनाश कभी नही होता।

व्याख्या-

सर्ववेदान्त दुग्धाब्धि सारं ब्रह्मात्मनिर्णयम् ।
द्वितीये द्वादशं श्लोकमद्वितीयं हरिर्जगौ।।

श्री गीता के इस द्वितीय अध्याय में भगवान श्री हरि ने जीवात्मा एवं परमात्मा के सिद्धान्त निर्णय से युक्त सम्पूर्ण वेदान्त रूप क्षीर सागर के सार रूप, इस अद्वितीय बारहवें श्लोक को समारोह पूर्वक गाया है।

वेदकल्पतरोर्वल्ली प्रपत्तिफलमण्डिता।
भूरिदा भूरिभा दिव्यानुष्टुब्भाति ककुप्स्वियम् ।।

'नत्वे वाहं गीत २-१२ यह श्लोक अनुष्टप छन्द में है यह अनुष्टुप शरणागतरूप फल से सुशोभित, वेदरूप कल्पवृक्ष की लता है, जो अनन्त फलदायिनी तथा अपरिमित शोभा से युक्त होकर दिव्य दशों दिशाओं में विराज रही है। अर्थात् श्री गीता जी का यह अत्यन्त प्रसिद्ध एवं गहन अनुष्टुप् है। यहाँ एव शब्द एवं के अर्थ में समझना चाहिए। न तु एवम् अहम्- इसप्रकार प्रयोग उचित होने पर भी पर कुशल वैयाकरण पार्थ सारथि भगवान श्रीकृष्ण ने व्यत्ययो बहुलं पा० अ० ३-१-८५ इस सूत्र से एवं के मकार हल का लोप करके सवर्ण दीर्घ कर नत्वेवाहम् इस प्रकार श्लोक पाठ कर दिया। यहाँ तु निश्चय के अर्थ में है। और हेतु का अनुवादक भी है। जातु शब्द कदाचित् के अर्थ में है। आस शब्द की दो बार अनुवृत्ति की गई है और दो बार विभक्ति विपरिणाम भी किया गया है। अर्थात् त्वम् के साथ आसीः और इमे के साथ आसन् शब्द की योजना समझनी चाहिए। इसी प्रकार जातु शब्द की भी। इसी प्रकार न एव इन दोनों शब्दों की भी, इसका अन्वय इसप्रकार समझना चाहिए-

त्वं जातु न आसीः न एव, इमे जनाधिपाः जातु न आसन् न एव, न अन: परम् अहं त्वम् इमे जनाधिपाः वयं सर्वे न भविष्यामः जातु न एव।

अर्थात् तुम कभी नही थे ऐसा भी नहीं है, राजागण कभी नही थे ऐसा भी

नहीं है, ऐसा भी नहीं है कि मैं तुम ये राजागण हम सब इसके अनन्तर नहीं रहेंगे।

भगवान श्रीकृष्ण सम्पूर्ण जीव मात्र के प्रमेय है। उन्हीं को मुमुक्षु जीव, प्रमाता बनकर प्रत्यक्ष, अनुमान तथा उपमान इन तीनों प्रमाणों से सिद्ध करके अपने मन में निश्चत करता है। परमात्मा ही चित् अर्थात् जीव अचित् अर्थात् प्रकृति से विशिष्ट-विशिष्टाद्वैततत्व हैं। जीव एवं प्रकृति ये दोनों ही शरीर-शरीरि भाव से भगवान के विशेषण हैं। भगवान अविनाभावसम्बन्ध से प्रत्येक जीवात्मा के साथ उसी के द्वारा स्वीकृत शरीर में उसके मित्र बनकर रहते हैं। जीव और ब्रह्म की भी सदैव स्वरूप से मित्रता बनी रहती है। भगवान सम्पूर्ण कल्याण गुण गणों के आकर हैं और शरणागति का संकल्प करने वाले जीवों की रक्षा ही उनका अपना व्रत है। इसप्रकार अपने तथा जीव के स्वरुपत: भेद, सख्य सम्बन्ध, जीव मात्र के अपनी उपेयता, अपनी एकता तथा जीव की अनेकता एवं शरणागत जीव की महत्ता को प्रकट करने के लिए ही परमात्मा श्रीकृष्ण भगवान श्रीगीताजी के द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत इस लोकोत्तर, अतिगहन बारहवें अनुष्टुप श्लोक की अवतारणा कर रहे हैं।

तु का अर्थ है क्योंकि अथवा निश्चय। अहम् अर्थात् जो मैंने साधु पुरुषों की रक्षा के लिए, दुष्टों का वध करने की इच्छा से, सनातन धर्म की प्रतिष्ठापना करने के लिए तथा पृथ्वी का भार उतारने की इच्छा से, माया से परे, सम्पूर्ण कल्याण गुणगणों से युक्त तथा श्रुतियों में श्रेष्ठ, उपनिषदों द्वारा गाये हुए, अलौकिक नित्य नवीन अत्यन्त सुन्दर, विशुद्ध सच्चिदानन्द श्री विग्रह को स्वीकार किया है। तथा अभिमान रहित अपने सेवकों पर परम अनुग्रह करने की जिसे इच्छा बनी रहती है ऐसा वसुदेव पुत्र देवकी के गर्भ से उत्पन्न हुआ वही मैं परमात्मा श्रीकृष्ण हूँ। जातु अर्थात् कभी भी न। आसं का अर्थ है इस सृष्टि से पूर्व मैं नहीं था, क्योंकि ब्रह्मा का अनद्यतन्तु वही होगा कारण कि सृष्टि की अवधि ही ब्रह्मा के एक दिन की होती है।नैव अर्थात् ऐसा नहीं कहना चाहिए। यहाँ एवं शब्द के अर्थ में एव का प्रयोग है। मकार का व्यत्यय से लोप हो रहा है न एव का अर्थ है ऐसा नहीं समझना चाहिए। यही न एव का भाव है अर्थात् इस सृष्टि के पूर्व भी मेरी विद्यमानता थी ही। त्वं अर्थात् मेरे निकट रहने वाले तुम अर्जुन जो कि शोकसागर में डूब रहे हो जिसने गाण्डीव धनुष तथा बाण नीचे डाल दिये हैं तथा जिसको भूल गया है इन्द्र से प्रशास्ति प्राप्त वह प्रबल पराक्रम एवं दुर्दम्य प्रताप ऐसे पृथा पुत्र अर्जुन तुम नहीं थे अर्थात् विधाता की इस सृष्टि से पूर्व तुम्हारी उपस्थिति नहीं थी ये नहीं कहना

चाहिए क्योंकि मेरे सेवक होने से तुम पहले भी मेरे साथ थे ही। क्योंकि श्रुति भी कहती है कि हे सौम्य! सृष्टि के पहले भी यह सब सत् ही था अर्थात् अव्याकृत नाम रूप वाले जगत एवं जीव से विशिष्ट सद् रूप परमात्मतत्व ही था। इमे अर्थात् भीष्म द्रोण आदि। जनाधिप का अर्थ है जन्म से युक्त अधिपाः अर्थात् चतुरंगिणी सेना सहित। यदि कहें कि जनानाम् अधिपाः जनधियाः (जनों के स्वामी) इसीप्रकार षष्ठी समास क्यों नहीं कहा गया। तो सुनिए षष्ठीतत्पुरुष समास कहने पर भीष्म, द्रोण, आदि का संग्रह नहीं हो सकेगा, क्योंकि वे राजा नहीं हैं इसलिए यहाँ जनैः सहिताः अधिपाः जनाधिपाः यह मध्यम पद लोप समास ही उचित होगा। जबकि भगवान भीष्म द्रोण प्रमुख सेनापति एवं राजाओं से भिन्न अन्य सैनिकों का भी संग्रह चाहते हैं। यहाँ भी जातु का अर्थ है कदाचित् और न आसान् एव का अर्थ है ब्रह्मा के अनद्यतन अर्थात् इस सृष्टि के पहले भीष्म द्रोण आदि सेनापति तथा ये राजा नहीं थे ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। इमे शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया क्योंकि ये भीष्म द्रोण आदि मेरे चरण कमल से विमुख होने के कारण तुम्हारी अपेक्षा छोटे अर्थात् बद्धजीव हैं, अतः ये भी इस सृष्टि के पूर्व थे।

यहाँ अहं, त्वं इमे इसप्रकार अस्मद् युष्मद् और इदं का प्रयोग करके भगवान यह कहना चाहते हैं कि इस सृष्टि के पूर्व जो मैं परमात्मा और तुम दोनों मुमुक्षु और बद्ध जीवात्मा थे, वे ही हम सब इस समय भी हैं और वे ही हम आगे भी रहेंगे। चकार तीनों का समुच्चय करने के लिए है। यहाँ अतः परं का अर्थ है इस सृष्टि के पश्चात् वयम् अर्थात् मैं, तुम, ये भीष्म द्रोण आदि सेनापति सैनकि योद्धा तथा राजागण। न भविष्यामः अर्थात् नहीं विद्यमान रहेंगे यह नहीं कहना चाहिए, क्योंकि हम सब पहिले भी थे, अब भी है और पश्चात् भी रहेंगे।

यहाँ यह शस्त्रार्थ है– वेदान्तदर्शन की स्मृतियों में श्री गीता शास्त्र सर्वश्रेष्ठ तथा प्रपत्तियोग शास्त्र है। यह हम बार-बार कह चुके हैं। वह प्रपत्ति भक्ति पूर्वक होती है और भक्ति सम्पूर्ण कल्याण गुणगणों के समुद्र परमकरुणासागर श्रीराम श्रीकृष्ण नाम वाले परमेश्वर में परम आसक्ति ही है उसी को कुछ लोग ध्रुवानुस्मृति भी कहते हैं। इसमें मामनुस्मर युद्ध च गीता ८-७ इत्यादि प्रमाण भी है। वह भक्ति श्रीगीताजी के तीनों अध्याय षटकों में क्रम से स्थित है, प्रथम छह अध्यायों में कर्ममिश्रा, तृतीय, छह अध्ययों में अर्थात् तेरह अठारह तक ज्ञानमिश्रा तथा द्वितीय मध्यम षटक में सातवें अध्याय से बारहवें अध्याय में मध्यमा अंगुलि की भांति

शुद्धा भक्ति अथवा प्रथम छ अध्यायों में साध्य लक्षणा तृतीय छ अध्यायों में साधलक्षणा तथा दोनों के बीच द्वितीय छ अध्यायों में प्रेमलक्षणा बनकर भगवती भक्ति तीन रूपों में श्री गीता जी में शोभा पा रही हैं। अथवा जगदगुरुश्रीमदाद्यरामानन्दाचार्य के सिद्धान्त के अनुसार श्री गीता के प्रथम छ अध्यायों में अविरला, द्वितीय छः अध्यायों में निर्भरा तथा तृतीय छ अध्यायों में अनपायिनी भक्ति का वर्णन है। इनके उदाहरण मानस में क्रम से इसप्रकार है।

१- अविरला-

अविरल भगति माँगि वर गीध गयउ हरि धाम।
ताकी क्रिया यथोचित निज कर कीन्हीं राम।। मानस ३-३-२

२- निर्भरा-

भक्तिं प्रयच्छ रघुपुंगव निभरां में।। मानस-५- मंगलाचरण।।

३- अनपायिनी-

नाथ भगति अति सुख दायिनी
देहु कृपा करि अनपायिनी।। मानस ५-३४-१

वे भक्ति और प्रपत्ति श्रुति सम्मत हैं, श्री गीताजी में भी भगवान ने बहुत बार स्वयं कण्ठरव से श्री मुख द्वारा इन दोनों का वर्णन किया है। श्रुति में कठोपनिषद् का विश्राम करते हुए भगवती श्रुति स्पष्ट शब्दों में कहती है।

यस्य देवे पराभक्तिः यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मनः ।। क० उ० १-३-२५

जैसा कि प्रपत्ति में-

मुमुक्षुर्वे शरणमहं प्रपद्ये।। श्वे० उ० ६-१८

श्री गीताजी में-

भक्त्यात्वनन्यया शक्य ११-५४
भक्त्या मामभिजानाति १८-५५
भक्तिं मयि परां कृत्वा १८-६८

जैसाकि प्रपत्ति में-

शाधि मां त्वां प्रपन्नम् २-७
मामेव ये प्रपद्यन्ते ७-१४
ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ७-१९
मामेकं शरणं व्रज: १८-६६

उस प्रपत्ति में प्रपद्य, प्रपत्ता और प्रपदन ये तीन तत्व हैं। जिसकी शरणागति ली जाती है उसे प्रपद्य कहते हैं। शरणागति स्वीकार करने वाले को प्रपत्ता, तथा शरणागति की प्रक्रिया को प्रपदन अर्थात् प्रपत्ति कहा जाता है। ये तीनों तत्व जीवात्मा और परमात्मा के एकत्ववाद में सम्भव नहीं होंगे क्योंकि जब जीवात्मा और परमात्मा में कोई भेद ही नहीं होगा तो कौन किसकी शरण में जायेगा। जबकि हम उपक्रमोप संहारादि छहों प्रमाणों से शरणागति को ही गीता का तात्पर्य निश्चित कर चुके हैं। क्योंकि एक ही तत्व में परस्पर विरुद्ध प्रपतित्व और प्रपद्यत्व ये दोनो धर्म एक साथ कैसे रह सकते हैं। अत्यन्त चतुर नट भी स्वयं स्वयं के कन्धे पर नहीं चढ़ सकता उसी प्रकार शरण में आने वाला शरण्य कैसे बन सकता है। इसलिए प्रपत्ता अर्थात् जीवात्मा तथा प्रपद्य परमात्मा इन दोनों का स्वरूप से सुस्पष्ट भेद है। ये दोनों अलग-अलग तत्व हैं, अत: अद्वैतवाद प्रतिष्ठापन के आचार्य भगवतपादशंकराचार्यजी अन्ततोगत्वा यही कहते हैं कि- हे नाथ! भले ही मैंने युक्तियों से भेद वाद का खण्डन किया हो परन्तु मैं आपका ही अंश हूँ। आप मेरे अंश नहीं है क्योंकि तरङ्ग समुद्र से प्रकट होती है न कि समुद्र तरङ्ग से।

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम् ।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचित समुद्रो न तारङ्गः।।

इसीलिए श्रुति ने भी क्षरप्रधानममृताक्षरो हरः कहा। स्मृति भी इसी प्रकार की है। जैसे कि श्रीगीताजी के पन्द्रहवें अध्याय में पुरुषोत्तम योग की व्याख्या करते हुए भगवान श्रीकृष्ण द्वारा क्षर-अक्षर एवं अक्षरातीत ये तीन तत्व सुस्पष्ट रूप से स्वीकार किये गये हैं। जैसे भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार ये आठों प्रकृतियाँ एवं इनसे निर्मित देहविशिष्ट भूत प्राणी क्षर है। देह से अतीत विशुद्ध जीवात्मा अक्षर और इन दोनों से अतीत पुरुषोत्तम भगवान क्षरअक्षरातीत तत्व है । जैसे कि वहाँ के श्लोक इसप्रकार है-

१- द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।।

इस संसार में नाशवान और अविनाशी भी ये दो प्रकार के पुरुष हैं इनमें सम्पूर्ण भूत प्राणियों के शरीर तो नाशवान और जीवात्मा अविनाशी कहा जाता है।

२- उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।।

इन दोनों से उत्तम पुरुष तो अन्य ही हैं, जो तीनों लोकों में प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करता है एवं अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा इसप्रकार कहा गया है।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।।

क्योंकि नाशवान जड़वर्ग क्षेत्र से तो सर्वथा अतीत हूँ और अविनाशी जीवात्मा से भी उत्तम हूँ, इसलिए लोक में और वेद में भी पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ।

यही तथ्य परा और अपरा प्रकृति के नाम से सातवें अध्याय में स्पष्ट किया गया जैसे कि-

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीव भूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ।।

अर्थात् हे महाबाहो अर्जुन! पृथ्वी, जल, अग्नि, वायू, आकाश मन, बुद्धि, अहंकार इसप्रकार आठ रूपों में विभाजित मेरी यह प्रकृति अपरा अर्थात बहिरंग क्षर तथा विनाशशील है। इससे अतिरिक्त जीवस्वरूपणी मेरी परा चेतन तथा अक्षर प्रकृति को जानो, जिसके द्वारा इस जगत को धारण किया जाता है। इसप्रकार अविनाशी होने के कारण क्षर प्रकृति से उत्तम तथा स्वतन्त्र होने के कारण अक्षर जीव प्रकृति से भी उत्तम परमात्मा नाम वाला तो कोई अन्य ही पुरुष है जो अविनाशी एवं ईश्वर होकर इन तीनों लोको में आविष्ट हुआ इनका पालन-पोषण करता है। क्योंकि

मैं क्षर से अतीत तथा अक्षर से उत्तम हूँ इसलिए मुझे ही अर्थात् शरीर में शमन करने के कारण इन तीनों पुरुषों में उत्तम होने से ही पुरुषोत्तम कहा जाता है इसप्रकार श्रुति में जिसे क्षर-अक्षर और हर कहा गया है तथा स्मृति में जिसे क्षर-अक्षर और क्षरातीत कहा गया उसीको वेदान्त की भाषा में चित् अचित् एवं चिदचिद् विशिष्टतत्व के नाम से कहा गया है। अर्थात् परमेश्वर तत्व अविनाशी और स्वतन्त्र होने के कारण पुरुषोत्तम है। अब यहाँ सन्देह होता है कि इस व्याख्यान से आचार्य पाणिनि का विरोध होगा, क्योंकि पाणिनी ने जीव को ही स्वतन्त्र कहा है। स्वतन्त्रः कर्ता पा० अ० १-४-५४।

उत्तर- ऐसा नहीं है। प्रथम तो वैयाकरण होने के कारण वेदान्त दर्शन से सर्वथा भिन्न होने के कारण यदि पाणिनि का विरोध भी हो रहा हो तो कोई आपत्ति नहीं। यदि कहें आचार्य पाणिनि भी ऋषि है इसलिए उनका वाक्य सार्वभौम है। अतः उनसे विरुद्ध व्याख्या नहीं होना चाहिए, तो इसका उत्तर यह है कि 'स्वतन्त्रः कर्ता' कहकर पाणिनि ने कर्म करने में जीव को स्वतन्त्र माना है तथा फल भोगने में परन्तन्त्र। यही गीताका भी सम्मत है अर्थात्-

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेशु कदाचन् । गीता २-४७। सर्व स्वतन्त्र ही परमात्मा ही हैं वहाँ स्वतन्त्र शब्द का अर्थ है स्व अर्थात् परमात्मा का तन्त्र है। जिस पर "स्वस्य परमात्मनः तन्त्रं यस्मिन्।"

इसप्रकार क्षर शब्द से क्षीण होने के कारण अचित् तत्व प्रकृति एवं अक्षर तत्व से अविनाशिनी जीव संज्ञक चित् प्रकृति, इन्हीं क्षर-अक्षर अर्थात् अचित् चित् से विशिष्ट पुरुषोत्तम ही विशिष्टाद्वैत परब्रह्म है और इन्हीं पर आश्रित है सम्पूर्ण दशनों का मुकुटमणि हमारा विशिष्टा द्वैतवाद। शरीर-शरीरि भाव सम्बन्ध से भगवान स्वयं चित् अचित् से विशिष्ट हैं तथा ये चित् अचित् जीव और प्रकृति भगवान के विशेषण तथा शरीर हैं। अब यहां शंका होती है कि विशेषण तो विद्यमान होकर इतर का व्यावर्तक होता है तो यह विशेषण इस प्रसंग में कैसे घटेगा?

उत्तर- यह चित् अचित् नाम वाले जीव और प्रकृति भगवान के विशेषण एवं शरीर है, इसलिए ये विद्यमान होकर भी इतर अर्थात् निर्विकल्प ब्रह्म के व्यावर्त तथा परतन्त्र हैं। जैसा कि मानसकार कहते हैं-

मायावस्य जीव अभिमानी।
ईस वस्य माया गुणखानी मानस ७-७८-६

जीव अणु और अनेक हैं तथा परमात्मा विभु होकर एक। इसीप्रकार इन दोनों के लक्षण भी हैं। अणुत्वे सति चेतनत्वं जीवत्वं विभूत्वे सति चेतनत्वं परमात्मत्वम्।

कार्य और कारण भेद से ब्रह्म के दो रूप हैं कारण ब्रह्म भगवान श्रीराम परम् व्योम साकेत में निवास करते हैं तथा कार्य ब्रह्म अन्तर्यामीरूप से प्रत्येक शरीर में विराजमान हैं। तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशदि अर्थात् उस शरीर को बनाकर ब्रह्म ने उसी में प्रवेश कर लिया। ऐसा श्रुति भी कहती है-

यदि कहें कि इस प्रकार से व्याख्यान करने से तो श्रीमद् भागवत में कहा हुआ वसुदेव का वचन विरुद्ध हो जायेगा क्योंकि भागवत १०-३-१४ में वसुदेव कहते हैं- हे परमात्मन्! आपने सबसे पहले अपनी प्रकृति से इस जगत का निर्माण करके इसमें प्रवेश न करते हुए भी प्रविष्ट की भाँति शोभा पायी। इसका उत्तर यह है कि श्रुति ने जीव जगत में भगवान का अंशत: प्रवेश माना तथा भागवत ने सम्पूर्णता से प्रवेश का निषेध स्वीकारा है इसीलिए गीता जी में भी 'नत्वहं' तेष्वस्थित: गीता ९-४।

अर्थात् मैं उनमें स्थित नहीं हूँ तथा ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति गीता १८-६१। अर्थात् ईश्वर सम्पूर्ण भूतों के हृदय में निवास करते हैं। ये दो परस्पर विरुद्ध वचन भी संगत हो जाते हैं। क्योंकि पूर्ण रूप से भगवान कहीं भी नहीं रहते और अंशत: सर्वत्र रहते हैं यही शास्त्र की व्यवस्था है। इसी तथ्य को स्पष्ट करने के लिए भगवान ने स्पष्ट भेद के प्रतिपादक अहं त्वं इमे वयं, इन चार सर्वनामों का प्रयोग किया। यहाँ ध्यान रहे कि अहं पुरुषोत्तम का, त्वं अक्षर जीवका इमे देह विशिष्ट क्षर का तथा वयं इन तीनों के समूह का वाचक है। अहं पद के वाच्य पुरुषोत्तम भगवान श्रीकृष्ण हैं, त्वम् पदार्थ अक्षर अर्जुन तथा इदं पदार्थ क्षर सम्पूर्ण राजा है। यदि कहें यहाँ भगवान ने देह विशिष्ट प्रयोगों के अभिप्राय से अहं त्वं, इमे, वयं इन भेद प्रतिपादक सर्वनामों का प्रयोग किया क्योंकि अनेक देहों से विशिष्ट होने के कारण एक ही आत्मा अनेक रूप में व्यवहरित होता है तो यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि विशेषणीभूत देह अनित्य है इसलिए विशिष्ट भी

अनित्य होगा, तो फिर भगवान का आस्म वर्तामहे भविष्यामः अर्थात् हम सब थे हैं, और रहेंगे इसप्रकार त्रिकाल नित्यता का प्रतिपादन कैसे संगत होगा? विशेषण के नष्ट होने पर विशिष्ट का नष्ट होना लोक में भी प्रसिद्ध है। जैसे दण्ड के नष्ट होने पर कोई व्यक्ति भूतपूर्व दण्डी के प्रति वर्तमान काल में "दण्डिनं पश्य" दण्डी को देखो ऐसा नहीं कहता है। यदि कहें कि यह तो काकवतो देवदत्तस्य गृहम्। इस प्रयोग की भाँति यह प्रयोग औपचारिक है तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि परमार्थ के उपदेश काल में औपचारकिता पूर्ण प्रयोग पूर्णतः अनुचित है। यदि कहें कि भगवान ने अभ्युपगमवाद अर्थात् अर्ध सत्य स्वीकार करके अहं त्वं इमे, वयं इन भेद प्रतिपादक सर्वनामों का प्रयोग किया होगा, तो ऐसा भी नहीं कहना चाहिए 'क्योंकि अर्जुन ने शिष्यस्तेहं, मैं आपका शिष्य हूँ' आप मुझ शरणागत के अनुकूल शिक्षा दीजिए कहकर भगवान से वास्तविकता का बोध कराने की प्रार्थना की है। इतने पर भी यदि भगवान अर्धसत्य या असत्य बोलेंगे तो उनकी भक्त वत्सलता ही नष्ट हो जायेगी और उनका मिथ्या वादी होना सिद्ध हो जायेगा। यदि कहें कि भर्तृहरि ने कहा है- शास्त्र का अभ्यास करने वाले बालकों के लिए उपाय उपलालना अर्थात् असत्य से भरे हुए प्रलोभन मात्र होते हैं। व्यक्ति असत्य मार्ग पर स्थित होकर ही सत्य की चेष्टा करता है। इस दृष्टि से अर्जुन को बालक मानकर उनकी उप लालना करते हुए उन्हें बहकाते हुए भगवान ने असत्य भूत देह विशिष्ट जीवात्मा की अनेकता के अभिप्राय से ही औचित्य का विचार करके अहं आदि चारों सर्वनामों का प्रयोग किया तो ये भी कहना ठीक नहीं है। क्योंकि अर्जुन इस समय बालक नहीं है जिनकी उपलालना की जाय, वे भगवान के शरण में आये हैं "शाधि मां त्वां प्रपन्नं" गीता २-७।। शरणागत मुमुक्षु होता है न कि बालक "मुमुक्षुर्वैशरणमहंप्रपद्ये।" इसलिए मुमुक्षु शरणागत अर्जुन को भगवान क्यों बहकायेंगे। यदि कहें कि लीला में यदि अर्जुन को भगवान बहकाये भी तो कोई आपत्ति नहीं। तो ऐसा मत बोलो! ऐसा करने से तो भगवान की लीला में प्रामाणिकता ही नहीं रह जायेगी। इसलिए भगवान लीला में भी अर्धसत्य या असत्य का सहारा नहीं ले सकते।

यदि कहें कि भगवान की सार्वकालिक सवर्ज्ञता में क्या प्रमाण है? तो इसका उत्तर है- यहाँ स्वतः प्रमाण और परतः प्रमाण ये दोनों ही भगवान की नित्य सर्वज्ञता में उपलब्ध हैं। श्रुति को स्वतः प्रमाण तथा स्मृति को परतः प्रमाण कहा जाता है। मुण्डकोपनिषद में १-१-९ में श्रुति कहती है- भगवान सर्वज्ञ अर्थात् सब

कुछ जानते हैं क्योंकि ज्ञान ही उनका तप है। इसीप्रकार गीता ७-२६ में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं– हे अर्जुन! मैं इससे पहले उत्पन्न हुए तथा वर्तमान काल में उत्पन्न एव भविष्य में उत्पन्न होने वाले सभी जड़ चेतन जीवों को जानता हूँ। परन्तु मुझे पूर्ण रूप से कोई भी नहीं जानता। यह स्मृति ही भगवान की सार्वकालिक सर्वज्ञता में सबसे श्रेष्ठ परतः प्रमाण है। अब यहाँ प्रश्न होता है कि – जीवात्मा और परमात्मा के भेद में क्या कोई वैदिक प्रमाण है? उत्तर- हाँ बहुत से वैदिक प्रमाण उपलब्ध हैं उनमें से यहाँ एक प्रमाण व्याख्या सहित उपस्थित किया जा रहा है।-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषष्वजाते तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्न्यो अभिचाकशीति मु० उ० ३-१-१। मुण्डक श्रुति कहती है कि– अनादिकाल से समान रूप से सुन्दर पंखों वाले, एक साथ परस्पर मित्र भाव से रहने वाले दो पक्षी इस शरीर रूप वृक्ष को चिपककर बैठे हैं। उनमें से एक अर्थात् जीवात्मा रूप पक्षी पीपल के फल अर्थात शुभाशुभ कर्म फल का स्वाद पूर्वक भक्षण अर्थात् भोग कर रहा है और दूसरा परमात्मा रूप पक्षी न खाता हुआ भी अर्थात् कर्म फल का बिना भोग किए ही स्वस्थ एवं प्रसन्न रहता है। यहाँ द्वौ सुपर्णौ सयुजौ सखायौ इन चार 'औ' विभक्त्यन्तो में 'सुपां सुलुस्' सूत्र से पूर्व सवर्ण होकर सुपर्णा सयुजा सखाया प्रयोग हो गया है और परिषष्व जाते यह भी लिट् लकार प्रथम पुरुष द्विवचनान्त का प्रयोग है। इस प्रकार इस एक ही मन्त्र के पूर्वार्ध में चार सुबन्त एक तिंङन्त में पाँच द्विवचनान्त प्रयोग करके श्रुति भगवती यह स्पष्ट संकेत कर रही हैं कि पंच भूतों से विशिष्ट इस जीवात्मा से पर, विभु व्यूह, अन्तर्यामी और अर्चा इन पाँच भेदों से युक्त परमात्मा सर्वथा भिन्न हैं। यदि कहें कि यहाँ घटाकाशा महाकाश की भांति औपाधिक भेद से जीवात्मा परमात्मा का भेद है। जैसे एक ही महाकाश घट, पट, मठ आदि अनेक उपाधियों के कारण घटाकाश, मठाकाश आदि अनेक रूपों में प्रतीत होता है, वैसे ही, अज्ञान की उपाधि से अवछिन्न परमात्मा ही अनेक जीवात्माओं के रूप में प्रतीत होता है, तो ऐसा मत कहो, क्योंकि उपाधि की दृष्टि से भेद स्वीकार कर लेने पर परस्पर निरूपाधिकत्व और स्वोपाधिकत्व ऐ दोनों परस्पर विरुद्ध धर्म जब उपस्थित होंगे तब इनके साथ श्रुतयुक्त सुपर्णत्व, सुयत्व और सखित्व आदि कैसे संगत होंगे? जैसे दिन के साथ रात नहीं रह सकती उसीप्रकार निरुपाधिक के साथ स्वपाधिक नहीं रह सकता। भला निरुपाधिक और स्वोपाधिक सखा कैसे बन

सकते हैं? इसलिए निरुपाधिकत्व तथा स्वो पाधिकत्व इन परस्पर विरुद्ध धर्मों से युक्त जीवात्मा और परमात्मा में सुपर्णत्वादि धर्म संगत नहीं होंगे यदि कहें कि न संगत हों। हमें कोई आपत्ति नहीं तो ऐसा मानने पर श्रुतियों में असत्य वादिता का आरोप होने लगेगा, जबकि श्रुति कभी झूठ नहीं बोलती। जैसे परस्पर विरुद्ध घटाकाशत्व, महाकाशत्व का इसलिए सामञ्जस्य नहीं होता क्योंकि उन्होंने परस्पर विरुद्ध निः सीमतास सीमता, निर्वच्छिन्नता, सावच्छिन्नता आदि परस्पर विरुद्ध धर्म हैं। ठीक उसी प्रकार निरुपाधिकत्वाव छिन्न परमात्मा और सोपाधिकत्वावच्छिन्न जीवात्मा में इसके समान धर्म कैसे घटेंगे। इसके अतिरिक्त और भी- परिषस्वजाते यह लिट् लकार द्विवचनान्त का प्रयोग है और लिट् परोक्षअनद्यतन भूत काल में होता है, इससे सिद्ध हुआ कि अनादिकाल से जीवात्मा और परमात्मा इस शरीर रूप वृक्ष का आलिंगन कर रहे हैं। इससे इन दोनों की स्वरूपतः भेद के साथ नित्यता सिद्ध हो जाती है। यदि कहे यह भेद तात्कालिक उपाधिकृत है। तो इस सन्देह का पहले ही उत्तर दे दिये जाने के कारण कोई अवसर ही नहीं है। अच्छा तुम्हीं बताओ उपाधि क्या है। यदि वह धर्म रूप है तो फिर तुम्हारे ही द्वारा सिद्ध किए हुए निर्धर्म ब्रह्म में वह कहाँ से आयी। क्योंकि तुम्हारा ब्रह्म तो सर्वथा धर्म शून्य है। यदि कहें वह आगन्तुक बनकर उपस्थित हो गयी तो तुम्हारे सिद्धान्त की ही हानि हो जायेगी, क्योंकि तुम ब्रह्म के अतिरिक्त कोई अन्य तत्व नहीं स्वीकारते। यदि कहो कि उपाधि भ्रमरूप है, तो उसका आधार कहना पड़ेगा। यदि कहो कि ब्रह्म ही उसका आधार है, तो फिर ब्रह्म में परम प्रकाशकत्व नहीं सिद्ध हो सकेगा। यदि कहें कि वह उपाधि उसी प्रकार ब्रह्म के एकांश को ढकती है जैसे बादल सूर्य नारायण के एक देश को तो ऐसा मान लेने पर ईश्वर की सर्वज्ञता नष्ट हो जायेगी।भला बताओ भ्रम, उन्माद, विप्रलिप्सा, करणापाटव आदि सभी पुरुष दोष एवं शंकापंककलंक जिससे निरस्त हो गये हैं ऐसे अपौरुषेय भगवान वेद द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म में भेद का अवसर ही कहाँ। और यस्य ज्ञान मयं तपः अर्थात् जिनका ज्ञान ही तप है इस श्रुति का विरोध हो जायेगा। इसलिए भगवान में भ्रम की कल्पना निराधार है। यदि कहें कि यह अविद्या ही उपाधि है तो फिर यह बताओ कि वह टिकी कहां है। यदि कहें कि वह ब्रह्म में आश्रित है, तो यह कहने से शास्त्र विरुद्ध हो जायेगा, क्योंकि सूर्य नारायण में अन्धकार रह ही नही सकता।

और भी परिषष्वजाते- इस भूतानद्यतन परोक्ष प्रयोग से ब्रह्म और जीव की

अनादि कालीन भेद सहिष्णुता नित्यता के सिद्ध हो जाने पर तुम्हारे भ्रम कल्पित उपाधि वाद में कोई युक्ति नहीं रह जाती। क्योंकि किसी के द्वारा कल्पित होने से भ्रम में अनादिकालिता सिद्ध नहीं होती। और उसके बिना परिषष्वजाते प्रयोग निरर्थक सिद्ध होने लगता है। यदि कहें कि शरीर रूप उपाधि के भेद से अहं त्वम् इमे इसप्रकार भेदपरक प्रयोग संगत हो जायेंगे। "क्योंकि" हे सोम्य! सृष्टि के पहले यह सब इस श्रुति के अनुरोध से ब्रह्म और जीव का भेद औपचारिक है पारमार्थिक नहीं तो नहीं कहना चाहिए । क्योंकि शरीरों की अनित्यता से प्रस्तुत श्लोक में प्रतिपादित नित्यता को सिद्ध करने का प्रयास करने पर आम्र का प्रश्न करने पर कोविदार के उत्तर की भाँति यहाँ भी प्रश्न तथा उत्तर के भिन्न विषय होने से अत्यन्त परिहास होगा। यदि कहें अभी अभी दशमश्लोक में भगवान के लिए प्रहसन् इव का प्रयोग किया गया, इससे यहाँ परिहास में कोई आपत्ति नहीं तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँ भगवान के प्रहास की चर्चा है न कि किसी अन्य के। अथवा प्रहसन यह उपमान का विशेषण है अर्थात् परम प्रसन्न हंसते हुए व्यक्ति के समान प्रसन्न होकर भगवान बोले। अत: आलंकारिक होने से उस प्रहास का यहाँ प्रसंग नहीं लाया जा सकता है। और भी सम्पूर्ण शास्त्रों के चूडामणि श्रीमद् भगवद्गीता में परिहास की कल्पना कर लेने पर स्मृति में अप्रमाणिकता आ जायेगी। अच्छा तो सुनो- तुम्हारी उपाधि क्या है अविद्यमान होकर, विधेय में अन्युत न होकर इतर का व्यावर्तन करना। तो बताओ अविद्यमान वस्तु को इतर का व्यावर्तन करते हुए तुमने कहीं देखा या सुना है। स्वाभाविक से व्यक्तित्व की कल्पना करने पर आकाश पुष्प की भाँति अप्राकृतिक विडम्बना प्रस्तुत हो जायेगी। क्योंकि रात में न रहने वाला सूर्य अन्धकार को नहीं नष्ट कर पाते, अथवा सीपी में कल्पित चाँदी ब्रह्मा के द्वारा भी अलङ्कार बनाने के काम में नहीं लायी जा सकती और न ही मरुमरीचिका में भ्रम से दिखने वाले जल बिन्दुओं के द्वारा किसी की प्यास बुझायी जा सकती है और भी तुम लोगों द्वारा कल्पित यह कपट पूर्ण उपाधि कितने अंश में ब्रह्म तथा आत्मा के एकत्व मूल ज्ञान को ढँकती है? यदि कहें सम्पूर्ण ज्ञान को? तो सम्भव ही नहीं है, क्योंकि ब्रह्म का ज्ञान अनन्त है और उपाधि सीमित। अनन्त योजन वाले आकाश को प्रकाशित करने वाले भगवान् सूर्य को छोटा सा अन्धकार अर्थात् बादल क्या कभी ढाँक सकता है? कभी नहीं। यदि ये कहो कि यह उपाधि ब्रह्म के कुछ अंशों को ढँकती है, तो ऐसा मान लेने पर ब्रह्म में सावयवता दोष आजायेगा। यदि कहो कि ब्रह्म के अवयववान् होने में हमें कोई आपत्ति नहीं तो ऐसा नहीं कहा जा

सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर तुम्हारा अद्वैतवाद ही समाप्त हो जायेगा। क्योंकि तुम्हारे यहाँ ब्रह्म कोअवयव हीन माना गया है और दूसरा दोष यह भी आयेगा कि ब्रह्म का अवयव स्वीकार लेने पर उसमें अनित्यत्व आने लगेगा। जो जो सावयव होता है वह कार्य होने के कारण अनित्य होता है जैसे घड़ा, वह अवयववान है अत: अनित्य है। इसी प्रकार ब्रह्म की सावयवता की कल्पना से अनित्यता आ जायेगी। पूर्व पक्ष यदि ब्रह्म में सावयव नहीं मानेंगे तो आपके मत में भी श्रीराम श्रीकृष्ण आदि भगवान के विग्रहों में अप्रमाण्य होने लगेगा। उत्तर– नहीं। वहाँ हस्तचरण आदि के दर्शन होने पर भी नित्य तथा अखण्ड होने के कारण भगवान में अवयवावयवि भाव की कल्पना नहीं हो सकती है। क्योंकि आनन्दघन भगवान में अंगों का विभाग किया ही नहीं जा सकता। प्रश्न- यदि भगवान में अवयवावि भाव नहीं माना जायेगा तो भागवत् जी में सनकादि के प्रति कहा हुआ भगवान का यह वाक्य कि– मैं ब्राह्मणों के विरुद्ध वहा कर रहे अपने भुजा को भी काट सकता हूँ, असिद्ध हो जायेगा। अखण्ड का खण्ड कैसे, जैसा कि भगवान चारों सनकादि के प्रति स्वयं कहते हैं। भागवत ३-१६-६ में भगवान कहते हैं कि, हे महर्षियों- जिस मुझ परमात्मा के अमृतमय निर्मल कथा श्रवण वृहस्पति से चाण्डाल पर्यन्त जगत को शीघ्र पवित्र कर देता है वही आप लोगों से ही पवित्र कीर्ति प्राप्त करने वाला मैं, आपसे विरुद्ध वर्तने पर अपनी भुजा भी काट सकता हूँ। इसका उत्तर यह है कि वहाँ भगवान अपने बाहु छेदन की प्रतीज्ञा नहीं कर रहे है। प्रत्युत सनकादि कर्त्रिक स्वबाहु कर्मक दर्शन के निषध की प्रतीज्ञा करते हैं अर्थात् आप लोगों को सुखी करने के लिए ही मैंने अपनी श्री अंगों के दर्शन कराये हैं। यदि इनमें से किसी से भी आप लोगों को कष्ट हो रहा हो तो मैं उस दर्शन को ही समाप्त कर दूँगा यही व्याख्या जगन्नाथा भिमत है अर्थात श्रीजगन्नाथ भगवान के श्रीविग्रह में जो श्री हस्त चरणों के दर्शन नहीं होते उसका यही तात्पर्य है कि प्रभु भक्तों के ही हस्त चरणों को अपना हस्तचरण मानकर अपने अंगों (हस्तचरण) को छिपा लेते हैं।

अच्छा यह बताओ कि तुम्हारी उपाधि किसको आश्रय मानकर स्थित रहती है यदि कहो कि यह स्वश्रया है अर्थात अपने को ही आश्रय मानकर रहती है? तो यह सर्वथा असम्भव है। कोई भी वस्तु बिना किसी दूसरे आधार के स्थित रह ही नहीं सकती यह विशेषता तो केवल भगवान की है। इसीलिए श्रुति कहती है- स्वे महिम्नि। अर्थात् भगवान अपनी ही महिमा में प्रतिष्ठित हैं। यदि कहो कि यह उपाधि

जीव को आश्रय मानती है, अर्थात जीवाश्रय है। तब तो तुमने ब्रह्म से पृथक जीव की सत्ता मानकर मेरा ही पक्ष स्वीकार कर लिया। यदि कहो कि यह उपाधि ब्रह्म के आश्रित है, तो तुम्हे उसका अवच्छेदक बताना पडेगा। स्वरूप से ब्रह्मको आश्रित मानते हैं, या सम्बन्ध से यदि कहो -स्वरूप से। तो सम्भव ही नहीं है, क्योंकि ब्रह्म का स्वरूप तो परम-प्रकाशवान जैसा कि श्रुति भी कहती है- यस्य भषा सर्वमिदं भांत। सम्बन्ध से भी उपाधि ब्रह्म को, आश्रय नहीं बना सकती हैं, क्योंकि श्रुति ने सर्वत्र ब्रह्म को सभी सम्बन्धों से परे माना है। और भी तुम यह बताओ कि तुम्हारी यह उपाधि नित्य है, या अनित्य। यदि कहो नित्य है तो फिर अनादि कालीन नित्य उपाधि से ढक जाने के कारण किसी का मोक्ष ही नहीं होगा। यदि कहो तुम नहीं हो तब तो मोक्ष का उपदेश ही निष्प्रयोजन सिद्ध हो जायेगा। मोक्ष व्यर्थ हो जाय तो ऐसा नहीं कह सकते इससे तो बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था ही समाप्त हो जायेगी और "मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये यह श्रुति का उपदेश ही व्यर्थ हो जायेगा। इसीप्रकार" मुनिर्मोक्षपरायण: इत्यादि गीता वचनों में प्रामाणिकता ही नहीं रह जायेगी। यदि कहें अनित्य है, तब तो उससे ब्रह्म का तिरोधान हो ही नहीं सकेगा क्योंकि अनित्य वस्तु से नित्य वस्तु नहीं ढकी जा सकती है। और भी यदि उपाधि को नित्य माना जाय तब तो ब्रह्म के समान सत्ता होने से वह ब्रह्म को ढक ही नहीं सकेगी। अथवा और भी आपकी इस उपाधि का स्वरूप क्या है? प्रकाश या अन्धकार। यदि कहो प्रकाश ही इसका स्वरूप है, तो यह ठीक नहीं क्योंकि ऐसा मान लेने पर वह व्यवधायक ही नहीं बन सकेगी क्योंकि प्रकाश किसी को नहीं ढक सकेगी। यदि कहें अन्धकार इसका स्वरूप है तो भी ठीक नहीं, क्योंकि उस परम ज्योति के समक्ष अन्धकार एक क्षण भी टिक नहीं सकता, क्योंकि सूर्य स्वयं अन्धकार के नाशक हैं और यहाँ तो कोटि-कोटि सूर्यो के समान प्रकाशमान परमात्मा को अन्धकार रूप उपाधि कैसे ढक सकती है। और भी यदि यह उपाधि शरीर के सम्बन्ध से ब्रह्म का आवरण करेगी तब तो प्रत्येक शरीर में उपाधि द्वारा ब्रह्म ज्ञान के ढक लिए जाने पर भुशुण्डि तथा सौभर्य आदि महापुरुषों को जातस्मरत्व अर्थात् पूर्व जन्म का ज्ञान सिद्ध नहीं हो पायेगा। जब कि श्री भुशुण्डि जी स्वयं अपने बहुत से पूर्व जन्मों के स्मरण की बात कहते हैं-

सुधि मोहिं नाथ जनम बहु केरी।
शिवप्रसाद मति मोह न घेरी।। मानस ७-९७-१०

यदि तुम कहो पुनर्जन्म वाद में कोई प्रमाण नहीं, तो ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि पुनर्जन्म वाद के समर्थन में श्रुतियों एवं स्मृतियों के असंख्य प्रमाण जागरूक है, जैसे श्रुति कहती है- पुण्य पुण्येनकर्मणा पाप: पापेन कर्मणा। स्वयं उपनिषद में वामदेव कहते हैं कि- मैं सूर्य हुआ, मैं इन्द्र हुआ मैं मनु हुआ इत्यादि। श्री गीता ७-१९ में भगवान कहते है बहुत जन्मों के अनन्तर ज्ञानवान मुझे प्रपन्न होता है अर्थात् मेरे शरणागत होता है। श्री गीता ६-४५ में योग सिद्धि का वर्णन करते हुए भगवान कहते है कि- अनेक जन्मों में सिद्ध होकर ही व्यक्ति परम गति को प्राप्त कर लेता है। पुनर्जन्म के आधार पर ही श्री गीता २-२२ में भगवान ने शरीर को जीर्ण वस्त्र की उपमा देते हुए कहा कि- यह जीवात्मा जीर्ण वस्त्र के भाँति पुराने शरीर को छोड़कर नये वस्त्र के समान नये शरीर को धारण कर लेता है। यदि पुनर्जन्म न होता तो सद्य: उत्पन्न वह बालक जो दूध का स्वाद भी नहीं जानता दूध पीने में कैसे प्रवृत्त होता। पुनर्जन्म होने के कारण ही इस शरीर में जिनका कभी नहीं अनुभव किया गया है उन प्रिय अप्रिय वस्तुओं को देखकर जीव के मन में सहसा राग द्वेष आदि विकार उत्पन्न हो जाते हैं। जैसा कि शाकुन्तलम् नाटक में महाकवि कालीदास भी कहते हैं- रमणीय वस्तुओं को देखकर तथा मधुर शब्दों को सुनकर जिनका इस शरीर से कभी भी नहीं ज्ञान किया है उनको प्राप्त करने के लिए उत्सुक हो जाता है क्योंकि, उसे पूर्व जन्म का स्मरण हो जाता है, वह इसलिए कि अनेक पूर्व जन्मों के सम्बन्ध वासना में स्थित रहते है। इससे पूर्वजन्म परम प्रामाणिक सिद्ध हो जाता है।

और भी-प्रत्यक्ष अनुमान तथा शब्द से ये शरीर अनित्य तथा क्षणभङ्गुर सिद्ध होते हैं, इसीलिए श्री गीता २-१८ में इन्हें अन्तवान एवं १५-३ में आदि अन्त और प्रतिष्ठा रहित कहा गया है। इसलिए ये अनित्य शरीर नित्य परमात्मा को कैसे उपहित कर सकेंगे। यदि कहो कि- अन्त:। करण उपाधि है तो यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि विशुद्ध चेतन घन परम ज्योति परमात्मा से तो अहंकार दूर ही रहता है। अहंकार किसी कर्ता में होता है जबकि परमात्मा सामान्यत: कर्मों के कर्ता नहीं है इसीलिए गीता ५-१४ में स्पष्ट कहा गया है कि- परमात्मा लोक के कर्तृत्त्व और कर्मों का निर्माण नही करते है तथा गीता १८-१६ में स्पष्ट कहा गया है कि- जो केवल आत्मा को कर्ता मानता है वह ठीक से नहीं देखता। इसलिए यदि कहो कि मन ही उपाधि है तो यह कहना भी बहुत अनुचित होगा, क्योंकि मन भगवान

की विभूति है। इन्द्रियाणां मनस्चास्मि। भगवद विभूति भगवान के महात्म्य को कहने के लिए होती है, न कि उन्हें ढकने के लिए। अन्यच्च- तुम्हारी उपाधि का कोई कर्ता नहीं है जबकि इस मन को स्वयं भगवान ने ही बनाया है। यह श्रुति और स्मृति दोनों में प्रसिद्ध है। यथा तन्मनोऽसृज तन्मनोऽकुरुत, वीक्ष्य तंमनश्चक्रे। इसलिए मन कैसे उपाधि हो सकता क्योंकि परमात्मा निश्चल है और मन चञ्चल है। भला चञ्चल मन निश्चल परमात्मा को कैसे ढक सकेगा। और भी– तुम्हारे मत में ब्रह्म एवं आत्मा के एकत्व ज्ञान के विरोधानुरूप ब्रह्म साक्षात्कार का प्रतिबन्धक धर्म ही उपाधि है, जबकि मन ब्रह्मसाक्षात्कार- के साधन के रूप में श्रुति में वर्णित हैं ब्रह्म साक्षात्कार में मन के साधुत्व का निषेध किया है। अंशत: दर्शन कोई बधा नहीं। इसलिए मन भी उपाधि नहीं हो सकता। यदि कहो कि, बुद्धि उपाधि है, तो ऐसा मत बोलो, (क्योंकि श्रुतिनेर्न) बुद्धि को ब्रह्म साक्षात्कार में साधन माना है। जैसे यथा- "दृश्यते त्वग्रतयाबुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्म दर्शिभि:। बुद्धि कर्मानुसारिणी होती है तथा ब्रह्म कर्म बन्धनों से मुक्त। भला उस कर्म बन्धन मुक्त परमात्मा को कर्मानुसारिणी बुद्धि कैसे ढक सकती है। इसी प्रकार चित्त भी उपाधि नहीं बन सकता, क्योंकि चित्त भी ब्रह्म साक्षात्कार साधन के रूप में श्रुति एवं स्मृति दोनों में प्रसिद्ध है। जैसे- "एषोणुरात्मा चेतसा वेदितव्य:" "चेतसा सर्वकर्माणि मपि सन्यस्य मत्पर:" अर्थात् यह अणु आत्मा चित्त से ही जाना जाता है और तुम चित्त से सम्पूर्ण कर्मों को मुझ में अर्पित कर दो। इस प्रकार भगवत् साक्षात्कार मे साधन चित्त उपाधि कैसे बन सकता है। जो लोग अज्ञानावाच्छिन्न अन्त:करणोपहित चेतन्य ही जीव है ऐसा मानते हैं। उनका वह पक्ष इस व्याख्यान से निरस्त हो गया यहां हमने एक एक करके मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त इन चारों के उपाधित्व का खण्डन कर दिया।

और भी यदि उपाधिगत भेदभाव भी लिया जाय, और शरीर तथा अन्त: करणमें से किसी एक को उपाधि मान लिया जाय तो भी वशिष्ठ, सौभरि आदि के दूसरे शरीरमें प्रवेश करने पर उनके पूर्व शरीरके ज्ञान में अनुपपत्ति आ जायेगी। क्योंकि जब अंत:करण अथवा शरीर के उपाधि से ज्ञान ढ़क ही गया तो उनको पूर्व काल का स्मरण कैसे रह पाया। जब कि स्मृतियों में उनके पूर्व शरीर के अनुभवों के हजारों प्रमाण मिलते हैं। यदि कहो कि "उपाधिना क्रियते विश्वरूप:"। उपाधि से भगवान के अनन्तरूप हो जाते हैं। इस वचन के बल से औपाधिक भेद को प्रामाणिक मानने में कोई आपत्ति नही, तो ऐसा कहना उचित नहीं है। क्योंकि पहले तो

उपाधिना क्रियते विश्वरूपः"। यह वचन कहाँ का है? यही कहना बहुत कठिन होगा। मानलो जो कहीं इस वचन का लिखित आधार मिल जाय तो वहाँ उपाधि का अर्थ भगवान की लीला कर लेनी चाहिए। जैसे श्री अवध में सभी प्रकार वासियों को एक साथ आनन्द देनें के लिए भगवान श्रीराम ने अपनी लीला शक्ति से अनन्तरूप बना लिये यथा-

प्रभु विलोकि हरषे पुरवासी।
जनित वियोग विपत्ति सब नासी।।
प्रेमाकुल सब लोग निहारी।।
कौतुक कीन्ह कृपालु खरारी।।
अमित रूप प्रगटे तेहि काला।
यथा जोग मिले सबहिं कृपाला।। मानस -७-६-३,४,५

इसलिए वहाँ उपाधि का लीला विशेष में तात्पर्य होने से सभी प्रसंगों में नहीं जोड़ा जा सकता।

वस्तुतः-उपाधि का आश्रय ही संकट ग्रस्त है। यदि कहें कि उपाधि का आश्रय जीव ही है तो अन्योन्य आश्रय दोष होगा। क्योंकि उपाधि जीव का आश्रय और जीव उपाधि का आश्रय। इसप्रकार दोनों में स्पष्ट अन्योऽन्याश्रयता हो जायेगी। यदि ब्रह्म को उपाधि का आश्रय माना जाय तो अद्वैत की ही हानि हो जायेगी। यदि कहो उपाधि स्वयं सत्य है उसे किसी के आश्रय की आवश्यकता नहीं है तो उसे सत्य मान लेने पर तुम्हारे ही अद्वैत वाद की हानि हो जायेगी। क्योंकि अद्वैत वाद में केवल ब्रह्म की ही सत्यता स्वीकारी गयी है। यदि कहो कि वह मिथ्या है तो उसके लक्षण पर विचार करना होगा। आपके मत में प्रतीयमान होकर तत्वज्ञान से बाधित हो जाना ही मिथ्या पदार्थ है। प्रतीयमानत्वं सतिबाधा मानत्वं। जैसे रज्जु में सर्प का ज्ञान। अंधेरे में रस्सी में सर्प की प्रतीति होती है। परन्तु प्रकाश होते ही वह बाधित हो जाता है। इसप्रकार तुम्हारे मत में मिथ्या पदार्थ की परिभाषा की गयी है। जो कि सर्वथा बाधित है। उस मिथ्या भूत उपाधि द्वारा परमसत्य तथा नित्यब्रह्म कैसे आवृत किया जा सकेगा। यदि कहो कि- जैसे प्रकाश के द्वारा रज्जु में सर्प का ज्ञान बाधित होने पर भी व्यक्ति को कम्पभय होता रहता है तथा जैसे टोकरी में से पुष्प निकाल लेने पर भी उसमें पुष्पों की सुगन्ध रहती है, उसीप्रकार बाधित ज्ञान की अनुवृत्ति से मिथ्या उपाधि ब्रह्म को आवृत कर सकती है। तो यह कहना भी उचित नहीं है

क्योंकि बाधित ज्ञान की अनुवृत्ति बहुत देर तक नहीं रहती। जैसे रस्सी में सर्प के ज्ञान के बाधित होने पर कुछ ही देर तक भय कम्प आदि होते हैं, तथा पुष्पों के निकाल लेने पर पेटी कुछ ही देर तक सुगन्धित रहती है। उसी प्रकार बाधित ज्ञान की अनुवृत्ति कुछ क्षणों के लिए स्थाई होगी और उससे ब्रह्म का आवरण सम्भव नहीं है, और बाधित ज्ञान के अनुवृत्ति में श्रुति का कोई प्रमाण भी नहीं है। जैसे सूर्योदय होने पर समाप्त हुए अन्धकार की अनुवृत्ति नहीं हो सकती उसी प्रकार भेदमूलक श्रुतियों के द्वारा उपाधि के निरस्त किये जाने पर पुनः उसकी अनुवृत्ति सम्भव नहीं है। और बाधित ज्ञान की अनुवृत्ति स्वीकारने पर नित्योऽनित्यानां श्रुति के महत्व की प्रामाणिकता में सन्देह हो जायेगा। और यहाँ भी देवदत्त हन्तृ हतन्याय की प्रवृत्ति होने लगेगी, क्योंकि देवदत्त के मारने वाले को मारडालने पर देवदत्त का जीवन सम्भव नहीं है। उसीप्रकार बाधित ज्ञान की अनुवृत्ति करने पर बाधित विषय तो लौटकर नहीं आ सकता। यदि कहो कि हमें कोई आपत्ति नहीं है तो यह कहना भी ठीक नहीं होगा। क्योंकि इससे लोक मत का विरोध हो जायेगा और न हि लोकाद् भिद्यते शास्त्रं लोक से शास्त्र पृथक नहीं हो सकता इस भगवान पतञ्जलि के वचन का विरोध हो जायेगा और पतञ्जलि सार्वभौम ऋषि हैं, उनका अनुशासन समस्त शास्त्रों को मान्य है। यदि कहें कि इस अलौकिक ब्रह्म विद्या में लौकिक न्याय का कोई महत्व नहीं हुआ करता, ये कहना बहुत गलत है। क्योंकि लोक को समझाने के लिए शास्त्र प्रवृत्त होते हैं अतः उनका लोक योग्य होना आवश्यक होता है, इसलिए शास्त्र लोक को उसी की भाषा में समझाते हैं। यदि ऐसा न हो तो वक्ता में ही जड़ता की आशंका हो जायेगी "वक्तुरेवहितजाड्यं यत्र श्रोता न बुद्धते" वह वक्ता ही जड़ है जिसकी बात श्रोता न समझता हो। जैसे जल के लिए घड़े की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार लोक को अपनी बात समझाने के लिए लोक प्रचलित न्यायों की शास्त्र को भी आवश्यकता है। बाधित ज्ञान की अनुवृत्ति कुछ ही क्षणों के लिए होती है, यह तो सर्वानुभव सिद्ध है। जबकि प्रकृति श्लोक में आसं आसीः आसन्, वर्तामहे, भविष्यामः। इन पाँचों क्रियाओं से भगवान ने जीवात्मा और परमात्मा का तीनों कालों में नित्य भेद स्वीकारा है। इस प्रकार अनित्य बाधित ज्ञाना अनुवृत्ति से नित्य भेद को औपाधिक दृष्टि से सिद्ध करना और उसके प्रति युक्तियां देना तुम्हारा मूर्ख भाषण ही तो है।

पूर्वपक्ष- जीव एवं ब्रह्म के भेद में क्या कोई स्पष्ट श्रुति प्रमाण है?

उत्तर- सुस्पष्ट प्रमाण है। कठशाखाध्यायी कठोपनिषद् में इसप्रकार पढ़ते है-

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम।। क० २-५-१३।।

अर्थात् जो परमात्मा नित्य जीवों के नित्य मित्र तथा चेतनों के भी चेतनाधिष्ठान एवं बहुत से जीवों के समस्त मनोरथों को पूर्ण करने वाले एक मात्र परमेश्वर हैं, उन अपने ही शरीर में अन्तर्यामी रूप से स्थित परमात्मा को जो धीर लोग अनुकूलता से दर्शन का विषय बनाते हैं, उन्हीं को शाश्वत शान्ति मिलती है अन्य को नहीं। यह श्रुति प्रकरण के अनुसार ही परमात्मा का प्रतिपादन कर रही है। जैसे कि कठो पनिषद् की पाँचवीं वल्ली के आठवें मन्त्र में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करने के लिए श्रुति ने उपक्रम किया- उस ब्रह्म का कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता। तदु नात्येति कश्चन- एतद्वै तत् क० उ० २-५-८ वही यह ब्रह्म है। इस प्रकार प्रतिज्ञा करके फिर अग्नि एवं वायु के दृष्टान्त से परमात्मा की प्रत्येक शरीर में स्थित सिद्ध करके, फिर सूर्य के दृष्टान्त से परमात्मा की प्रत्येक शरीर में स्थित सिद्ध करके, फिर सूर्य के दृष्टान्त से परमात्मा को वाह्य दुःखों से अलिप्त कहकर, अनन्तर परमेश्वर के सगुन साकार रूप की निर्धारण करने की इच्छा से उन्हें अंगुष्ठ मात्र तथा भक्तों के ह्रदय में निवास करने वाला सूचित करके, सबसे अंत में जीव और ब्रह्म के शाश्वत भेद को सिद्ध करने के लिए समस्त श्री वैष्णव सिद्धान्त रूप कमल राशि को विकसित करती हुई सूर्य नारायण के किरण की भाँति यह श्रुति विराज रही है। यहाँ नित्यानां, चेतनानां, बहूनां इसप्रकार तीन बार निर्धारणषष्ठी का प्रयोग हुआ है। अर्थात् जो चेतनों के मध्य में चेतन, घन नित्य एवं अनन्त जीवों के मध्य में स्वयं नित्य तथा एक होता हुआ उनके सभी मनोरथों को पूर्ण करती है। आत्मा अर्थात् अपने भक्त को स्पर्श करके उसके समीप जो विराजमान रहता है, अथवा आत्मा यानि जीवात्मा के साथ जो रहता है, उस परमात्मा को आत्मस्थ कहते हैं। अथवा आत्मा शब्द के मन, बुद्धि और शरीर ये तीन अर्थ होते है। जो परमेश्वर आत्मा अर्थात मन में तथा आत्मा यानि सात्विक बुद्धि में और आत्मा यानि शरीर में विराजता है। उसे आत्मस्थ कहते हैं। ऐसे सम्पूर्ण भक्तों के ह्रदय तथा मन बुद्धि में रहने वाले परमेश्वर को जो लोग धीर, अर्थात् अपनी बुद्धि को भगवान के भजन में लगाते हैं। उन्हें धीर कहते है। अथवा धी अर्थात् ध्यान लक्षमणा बुद्धि को र अर्थात् परमेश्वर के चरण कमलों में अर्पित कर देते हैं, ऐसे भगवद्भक्त अनुपश्यन्ति

अर्थात् अनुकूलता से भगवान का साक्षात्कार करते हैं। तेषाम् अर्थात् जिन्होंने भगवान को अपना सेव्यमान तथा अपने को अपना सेवक माना हैं, उन्हीं को शाश्वती अर्थात् अनन्तकाल पर्यन्त स्थायिनी शान्ति मिलती है। यहाँ शान्ति का तात्पर्य हैं - भगवत प्रपत्ति जनित संतोष से, 'नेतरेषां' जो भगवान के श्री चरण कमल से विमुख हैं, उनको कभी नहीं शान्ति मिलती है। जैसा कि मानसकार स्वयं कहते हैं-

तब लगि कुशल न जीव कहुँ। सपनेहुँ मन विश्राम।।
जब लगि भजति न राम कहुँ। शोक धाम तजि काम।।

यह श्रुति का सामान्य अर्थ है। वस्तुतः नित्यानाम् इत्यादि षष्ठी का धार्य धारक भाव सम्बन्ध है। जीव धार्य हैं और परमेश्वर धारक है। इस प्रकार षष्ठयन्त बहुशब्द का काम के साथ भी अन्वय है अर्थात् 'नित्यत्व चेतनत्व बहुत्वावच्छिन्न' जीवों की कामना को नित्यत्व, चेतनत्व, एकत्व से विशिष्ट जो परमात्मा एक साथ धारण करते हैं, अपने हृदय में स्थित परमात्मा को जो साक्षात्कार का विषय बनाते हैं। उन्हीं को शाश्वत शान्ति प्राप्त होती है। अथवा षष्ठयन्तों का कामान् पद के साथ अन्वय नहीं है प्रत्युत यह शब्द की ही तीन बार आवृत्ति की गयी है। अब इसका अर्थ होगा जो नित्य अविनाशी जीवों के मध्य नित्य हैं तथा जो चेतनावान जीवों के मध्य निर्बाध चेतना वाला है एवं जो बहुत से जीवों के बीच एक मात्र स्वामी हैं तथा जो सृष्टि के लिये सत्वगुण से, क, अर्थात् ब्रह्मा को पालन के लिए रजोगुण से अर्थात् विष्णु को तथा संहार के लिए तमोगुण से म अर्थात महेश्वर शंकर को विद धाति सृष्टि पालन प्रलय के लिए बनाते हैं न कि अपने लिए। इसीलिए विधत्ये इस आत्मने पद का प्रयोग नहीं किया गया। यदि कहें कि 'नित्यों' नित्यानां यहाँ नित्य अनित्यानां ऐसा पाठ मान लिया जाय और जो नित्य परमात्मा अनित्य जीवों की कामना को पूर्ण करते हैं, इस प्रकार व्याख्या की जाय तो ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि सहचरित और असहचरित के बीच सहचरित को ही ग्रहण किया जाता है। इस नियम के अनुसार आगे चेतनः चेतनानां इस आकार प्रश्लेष रहित पाठ को देखकर यहाँ भी उसी प्रकार का पाठ मान लेना चाहिए। इन्हीं भगवती श्रुति के द्वारा तीन बार आमन्त अर्थात् 'नित्यानां चेतनानां बहूनाम्' इसप्रकार षष्ठी बहुवचनान्तों का प्रयोग करके तथा 'नित्यः चेतनः एकः' रुक अर्थात् प्रथमा एकवचन का प्रयोग करके जीव और ब्रह्म का परस्पर भेद एवं दोनों की चेतन घनता तथा जीव का बहुत्व एवं ब्रह्म का एकत्व यह सब बहुत स्पष्ट कह दिया गया है। इतने

पर भी यदि लोगों को संदेह हो तो उनके प्रति इतना ही कहकर हम संतोष कर लेंगे कि-

नोलूको यदि हेक्षते दिनकरं कस्तर्हि दोषो रवेः।
नोकाको यदुपैतिकण्ठमृदुतां को वापराव्यो मधोः।।
वर्षायां न फलेद्धि वेत समथो पर्जन्य दोषोऽत्रकः।
तीरस्थोम्रियते मृगो यदि तृषा किं जाह्नवी दूषणम् ।।.

अर्थात्

उल्लू को न दीखे यदि दिन में भी दिनकर।
कहो कौन दूषण है तरूण दिनेश को।।
कौए के जो कण्ठ में जो आई मंजूमृदुताई।
कहो कौन अपराध ऋतुप शुभेश को।।
वर्षा में भी फले नहीं वेत को विटप यदि।
कौन कहो दूषण है जलन प्रवेश को।।
गंगा तट पे मरे जो हरिण पियासो होईके।
जाह्नवी को दोष कौन पाप है मृगेश को।।

इसलिए 'नित्योनित्यानां' इस श्रुति का अनुवाद रूप 'नत्वेवाहं' गीता २-१२ श्लोक कहकर भगवान् श्रीकृष्ण ने जीव एवं ब्रह्म के स्वाभाविक भेद दोनों का चेतनत्व जीव की अनेकता एवं अपनी एकता को सिद्धान्त रूप में स्वयं ही प्रस्तुत कर दिया है। अथवा तीन षष्ठी बहुवचनान्त शब्दों का प्रयोग करके श्रुति ने जीवों के साथ भगवान् के त्रिकालसिद्ध सम्बन्ध को ही सिद्ध किया है अर्थात् अविनाशी तथा अनेक जीवों के शाश्वत सम्बन्धी भगवान् नित्य एक तथा विशुद्ध चेतनघ होकर उनके सभी मनोरथों को पूर्ण करते रहते हैं। इसलिए इस श्लोक में 'अहम्' 'त्वम्' 'इमे' (मैं, तू, ये) इसप्रकार तीनों पुरुषों का प्रयोग करके भूतभविष्यत् तथा वर्तमान की अभावसत्ता का निशेध करके अर्जुन के साथ अपने शाश्वत सम्बन्ध को सिद्ध कर रहे हैं, जो कि वैङ्कट ब्रह्मानन्दगिरि के व्याख्यान में श्रीकृष्णार्जुन सम्वाद को अपने सिद्धान्त के अनुरूप सिद्ध करने के लिए इस प्रसंग में भगवान् ने इन्द्रजाल की लीला की है ऐसा कहा गया वह सब अनर्गल है। ऐसा मान लेने पर बौद्ध दर्शन की भाँति श्रीगीता में भी अप्रमाणिकता आ जायेगी क्योंकि अवतार होने पर भी भगवान् बुद्ध ने अपने 'धम्म पद' नामक ग्रन्थ में सब कुछ वेद के विरुद्ध कहा इसीलिए उसका हम वैदिक धर्मावलम्बी प्रमाण नहीं मानते। क्योंकि अर्जुन कोई दैत्य

शत्रु तो है नहीं, इसलिए भगवान् को उनके सम्मोहन की कोई आवश्यकता नहीं है भला अपने मित्र अर्जुन को मोहरहित करने के लिए कहे जा रहे इस गीता शास्त्र में भगवान् 'अहम्' 'त्वम्' 'इमे' इन शब्दों से असत्य उपाधिकृत तथा अविधा कल्पित भेद कह कर क्यों अपलाप केरेंगे।

इसलिए न त्वेवाहं इत्यादि श्लोक से कहा हुआ जीव ब्रह्म का भेद दोनों की नित्यता तथा चेतनता जीव की अनेकता तथा ब्रह्म की एकता यह सब कुछ पारमार्थिक ही है असत्य नहीं। जो किसी ने यह कहने का दुःस्साहस किया कि ईश्वर में पहले अज्ञान ही था फिर उनमें शास्त्र से सर्वज्ञता आयी और एक नट की भाँति अर्जुन से अज्ञानी का अभिनय कराकर ईश्वर और जीव में अभेद होने पर भी श्रीकृष्ण ने नट की भाँति अर्जुन के प्रति 'अहं' 'त्वं' 'इमे' इसप्रकार भ्रममूलक भेद वचन कहे वास्तव में जीव और ब्रह्म में पारमार्थिक भेद नहीं है। तो उसका यह अपलाप सर्वथा अनुचित है। क्योंकि मुण्डक १-१-९ में भगवान् को सर्वज्ञ और सर्वविद कहा गया तथा गीता ७-२६ में भगवान् ने स्पष्ट कहा मैं भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् इन तीनों काल के जीवों को जानता हूँ तथा मुझे कोई नहीं जानता। इस श्रुति और स्मृति का स्पष्ट विरोध हो जायेगा क्योंकि इन दोनों ने भगवान् की अनादिकालीन सर्वज्ञता सिद्ध की है। जो कि उसी प्रच्छन्न बौद्ध ने यह कहने की कुचेष्टा की कि जैसे श्रीराम एवं परशुराम का संवाद दोनों के अवतार होने के कारण अभिनव मात्र है उसीप्रकार श्रीकृष्ण एवं अर्जुन दोनों ही ईश्वर है अतः उनका परस्पर भेद कथन एक नाटक मात्र है।

वस्तुतः इस कथन में भी कोई सार नहीं है क्योंकि उक्त कुचेष्टा करने वाले ने वाल्मीकीय रामायण का ठीक से नहीं अध्ययन किया है तथा भगवान की विमुखता के कारण उसका मन भी अत्यन्त दूषित है। इसीसे उसने ऐसा विष वमन किया। पहले श्रीराम एवं परशुराम तथा श्रीकृष्ण एवं अर्जुन की परिस्थिति के भेद पर विचार कर लेना चाहिए भगवान के दश अवतारों में परशुराम जी को छठाँ अवतार माना गया है, जैसे-

कच्छ, मत्स्य, वाराह नरहरि वामन भृगुराम।
रघुवर हलधर बुद्ध तनु श्री कल्की बलधाम।।

इसीप्रकार भागवत के १-३-२० में परशुराम को सोलहवाँ अवतार कहा गया

है तथा भागवत २-७-२२ में प्रभु के अवतार लीला का वर्णन करते हुए परशुराम जी को श्रीमन्नारायण के उग्र अवतार के रूप में कहा गया है। इसलिए वहाँ अंश और अंशी के अभेद के अभिप्राय से औपचारकि भेद वाक्य है जैसे कि वाल्मीकिरामायण में भगवान् श्रीराम कहते हैं कि हे परशुराम जी आप ब्राह्मण है और विश्वामित्र जी के भाञ्जे के पुत्र होने के कारण आप मेरे पूज्य भी है इसलिए मैं आपके ऊपर प्राणघातक बाण नहीं छोड़ सकता (वा० रा० १-७६-६) जैसा कि इसी प्रसंग में परशुराम जी भी कहते हैं,

"हे काकुत्स्थ श्रीराम तीनों लोकों के स्वामी आपने जो मुझे पराजित कर दिया इसमें आपको कोई लज्जा नहीं होनी चाहिए क्योंकि आप अंशी है और मैं अंश। आपसे पराजित होने में मेरा सौभाग्य है" (वा० रा० १-७६-१९)

यहाँ दोनों प्रसंगों में मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम ने अपनी भगवत्ता को छिपाकर पूज्य पूजक भाव की व्यवस्था के लिए मैं और आप इसप्रकार भेदमूलक शब्दों का प्रयोग किया। इसीप्रकार परशुराम ने भी सर्वावतारी भगवान् श्रीराम में अपने अवतार को समर्पित करके शुद्ध जीवबुद्धि से ही 'मैं आप द्वारा पराजित हुआ' जीव ब्रह्म के पारमार्थिक भेद को ही कहा औपचारिक नहीं।

इसप्रकार परशुराम श्रीराम संवाद की परिस्थिति से श्रीकृष्णार्जुन संवाद की परिस्थिति सर्वथा भिन्न है। क्योंकि श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास कहीं भी हम अर्जुन की ईश्वरावतार होने की चर्चा नहीं उपलब्ध कर पा रहे हैं अर्थात् अर्जुन को सर्वत्र भगवान् के भक्त के रूप में ही माना गया है। पद्म पुराण में अर्जुन को भगवान् की कीर्तन मण्डली का निर्देशक कहा गया है। रागकर्तार्जुनोऽभूत। यदि कहो कि गीता १०/३७ में भगवान ने स्पष्ट कहा है कि पाण्डवों में धनञ्जय मैं हूँ। 'पाण्डवानां धनञ्जय:' इस वचन से अर्जुन का भगवदावतार होना सिद्ध हो गया, तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि वहाँ भगवान् की विभूतियों का वर्णन किया गया है। न की अवतारों का। यदि विभूतियों को ही अवतार माना जाने लगेगा तब तो प्रह्लाद में भी भगवान् के अवतारत्व का आरोप होगा क्योंकि गीता १०/२९ में भगवान् ने उनके लिए भी कहा है कि दैत्यों में प्रह्लाद मैं हूँ। यदि कहें कोई आपत्ति नहीं, तो ऐसा मान लेने पर भगवान् के अवतार प्रह्लाद की रक्षा के लिए खम्भे को फाड़कर भगवान् का नरसिंहावतार वर्णन ही व्यर्थ हो जायेगा। क्योंकि अवतार की अवतार द्वारा रक्षा

से भगवान् में असमर्थता का आरोप होगा और प्रह्लाद को अवतार मान लेने पर श्रीमद्भागवत् में प्रतिपादित प्रह्लाद तथा नरसिंह भगवान् के भक्त भागवत् सम्बन्ध में ही हानि होने लगेगी। भला भगवान् के अवतार रूप प्रह्लाद स्वयं नरसिंह की स्तुति कैसे करेंगे और स्वयं नरसिंह भगवान भगवान रूप प्रह्लाद को वरदान कैसे देंगे। वास्तव में श्री गीता का दसवां अध्याय भगवान की विभूतियों का प्रतिपादक है, न कि अवतारों का। इसलिए उस प्रकरण में कहा हुआ 'अहं' शब्द भगवान् की विभूतियों का बोधक समझना चाहिए। वहाँ 'सिंहो माणवक:' अर्थात् ब्रह्मचारी सिंह है, इत्यादि वचनों की भाँति औपचारिक है। यदि विभूतियों में भी अवतार की कल्पना की जायेगी तब तो नदियों में रहने वाले मगरमच्छ को भी भगवान् का अवतार मानना पड़ेगा क्योंकि गीता १०/३१ में भगवान् कहते हैं मछलियों में मगरमच्छ मैं हूँ। इस प्रकार अतिसामान्य वस्तुओं में अवतार की कल्पना से बहुत बड़ी अव्यवस्था होने लगेगी। 'महत्यनवस्था स्यात्' । बहुत क्या कहें गीता दशमअध्याय में वर्णित विभूतियों की अवतारणा तो भगवान के द्वारा ही निरस्त कर दी गयी। भगवान् ने १०/१९ में उपक्रम करते हुए स्पष्ट कहा कि अब मैं अपनी दिव्य विभूतियों का वर्णन करता हूँ। इसीप्रकार प्रकरण का उपसंहार करते हुए १०/४० में भगवान् ने और अधिक स्पष्ट किया कि यद्यपि मेरी विभूतियों का अन्त नहीं है, फिर भी मैंने अपनी प्रधान विभूतियों के नाम गिनाते हुए कुछ विस्तार की चर्चा की। कहीं-कहीं विभूतियों की अधिकता होने के कारण अवतारों में भी विभूति का व्यवहार कर दिया गया है। इसीलिए १०/३७ में प्रयुक्त वासुदेव पद बलराम का ही वाचक है। कृष्ण का नहीं। इसीप्रकार 'राम: शस्त्र भृतामहम्' गीता १०/३१ में प्रयुक्त राम शब्द भगवान् में अपने अवतार को समर्पित किये हुए सामान्य महर्षि परशुराम का वाचक है, नारायण का वाचक नहीं। इसलिए रघुवर राम और भृगुवर परशुराम के संवाद में तुमने भले ही किसी प्रकार औपाधिक और अपारमार्थिक भेद सिद्ध किया हो। परन्तु श्रीकृष्ण एवं अर्जुन के सम्बन्ध में ऐसा सम्भव नहीं है क्योंकि अर्जुन भगवान् के अवतार नहीं हैं, वे केवल भगवान की विभूति हैं। अत: उनका पारस्परिक भेद वास्तविक है। इसलिए, 'राम: शस्त्र मृतामहम्' यह वाक्य परशुराम के उस स्वरूप में तात्पर्य ग्राहक है, जब वे वैष्णव धनुष के समर्पण के बहाने श्रीराम में अपने नारायणावतार को समर्पित करके मुनिमात्र रह चुके थे। वस्तुत: व्याख्या श्री रामानुजाचार्य मत के अनुसार की गई है। क्योंकि ब्राह्मणोऽसीति पुज्यो में यह श्लोक भी भगवान रामने तब कहा जब वैष्णव धनुष का समर्पण करके परशुराम अपने अवतार को प्रभु श्रीराम के चरणों में समर्पित कर चुके थे। उनके शरीर पर भगवान् शंकर की केवल भस्म बच गई थी

वे मुनि मात्र अवशेष थे इसलिए परशुराम श्री राम संवाद में भी भेद पारमार्थिक ही है, औपचारिक नहीं। इसी प्रसंग में परशुराम जी इस तथ्य को स्वीकारते हुए स्वयं कहते हैं कि हे शत्रुतापन! इस वैष्णव धनुष के आप द्वारा चढ़ा दिये जाने पर ही आपका पूर्ण परमात्मा होना सिद्ध हो चुका है। मैं मान चुका हूँ कि आप अविनाशी क्षर और अक्षर से परे पुरुषोत्तम मधुसूदन भगवान् हैं आपका कल्याण हो (वा० रा० १-७६-१७)

> अक्षय्यं मधुहन्तारं जानामि त्वां सुरेश्वरम् ।
> धनुषोऽस्य परामर्शात् स्वस्ति तेषु परन्तपः ।।

'परामर्शात्' यहाँ हेतु में पञ्चमी है परशुराम जी का आशय यह है कि जिस समय मेरे दिये हुए धनुष को आपने स्पर्श किया उसी समय मेरा नारायणावतार भाव सर्वावतारी आप में विलीन हो गया। अब मैं सामान्य जीव ज्ञाता ही रह गया हूँ। इस समय मैं ज्ञेय परमात्मा नहीं हूँ। 'जानामि त्वां' अर्थात् आपको जानता हूँ- इस पंक्ति का यही भाव है।

श्रीगीता १३-१२ में परमात्मा को ज्ञेय कहा गया है। इसी रहस्य को स्फुटित करने के लिए महर्षि ने यहाँ जानामि का प्रयोग किया। आशय यह है कि परशुराम जानामि कहकर अपने को जानने वाला जीव सिद्ध कर रहे हैं। परामर्शात् में ल्यब् लोप में पञ्चमी है। अर्थात् आपके करकमल की अपेक्षा करके ही मेरा ईश्वरत्व आपमें चला गया। अथवा यहाँ प्रभृति के योग में पञ्चमी है, प्रभृति शब्द के प्रयोग के बिना भी 'गम्यमान क्रिया कारक विभक्तीनां प्रयोजिका' इस नियम से यहाँ पञ्चमी समझनी चाहिए। अर्थात् धनुष का आप श्री द्वारा स्पर्श किये जाने के समय से ही मैं आपको सुर अर्थात् देवों का ईश्वर, अक्षय्य अर्थात् जिसका नाश असम्भव है, ऐसे मधु दानव के हन्ता महाविष्णु को जानता हूँ। अथवा मधुहम् और तारम् ये दोनों पृथक शब्द हैं। अर्थात् आप मधुमास चैत्र में कौशल्या जी के यहाँ प्रगट हुए एवं जीवों को संसार सागर से तारते हैं, ऐसे महाविष्णु आपको मैं जीव स्वभाव से जानता हूँ फिर भी ब्राह्मण स्वभाव से स्वस्ति यह आशीर्वाद दे रहा हूँ। क्योंकि आप महाविष्णु मानव लोक का अनुसरण कर रहे हैं और परम ब्राह्मण भक्त भी हैं। धनुष के स्पर्श के समय ही परशुराम का ईश्वर भाव समाप्त हो गया था, इसके और भी प्रमाण हैं।

इत्युक्त्वा राघवः क्रुद्धो भार्गवस्य वरायुधम् ।
शरं च प्रतिजग्राह हस्ताल्लघुपराक्रमः।। (वा० रा० १-७६-४)

अर्थात् इसप्रकार कहकर क्रुद्ध श्रीराम ने अतिशीघ्रता से परशुरामजी के हाथ से वैष्णव धनुष एवं बाण ले लिया। यहाँ 'उक्त्व अराघव' ऐसा पदच्छेद समझना चाहिए। 'अस्वासौ राघव' अकार के वाचक महाविष्णु ही रघुकूल में उत्पन्न होकर सर्वावतारी श्रीराम अपने कलावतार परशुराम पर क्रुद्ध हो गये। अथवा 'कुध्यतीति क्रुत्' तं दधाति समाहरति इति क्रुद्धः, अर्थात् परम क्रोधी क्रुत् शब्द के वाचक परशुराम को भगवान ने अपने में, 'ध' अर्थात् समेट लिया। लघु अर्थात् अपने अंशावतार परशुराम के ऊपर जिन्होंने अपना पराक्रम प्रकट किया, ऐसे श्रीराम ने वरायुध अर्थात् परशुराम द्वारा वरदान के रूप में प्राप्त किये हुए शार्ङ्ग धनुष को शर अर्थात् बाण च अर्थात् तरकस अथवा चकार के प्रतीक चन्दवंशावतंस परशुराम के नारायणावतार को ही प्रतिजग्राह प्रतिक्रिया स्वरूप ग्रहण कर लिया। इसलिए श्री रामानन्दीय वंश कमल के सूर्य हमारे प्रातः स्मरणीय गोस्वामी तुलसीदास जी श्रीमानस में कहते हैं-

देत चापु आपुहिं चलि गयऊ।
परशुराम मन विसमय भयऊ।। (मानस १-२८३-८)

इसलिए वाल्मीकीय रामायण में वर्णित श्रीराम परशुराम संवाद में भार्गव एवं राघव का भेद पारमार्थिक ही है, औपचारिक नहीं। इस प्रतिपादन से अद्वैत कल्पित अभेदवाद रूपी पर्वत धूलि में मिला दिया गया।

यदि कहें कि जीव ब्रह्म का परस्पर भेद स्वीकार कर लेने पर अद्वैत प्रतिपादक सहस्रों श्रुतियाँ कुपित हो जायेंगी। तो ऐसा मत कहो, क्योंकि श्री राघव के चरण कमल मकरन्द की भ्रमरी बनी हुई दिव्य बुद्धि से जिन्होंने परपक्ष प्रासादों को ढहा दिया है, ऐसे हम लोगों पर श्रुतिय माँ के समान प्रसन्न होंगी क्योंकि हमारा सिद्धान्त श्रुतियों के विरुद्ध है ही नहीं। जैसे ईशोपनिशद् का सातवां मन्त्र-

यस्मिन सर्वाणि भूतानि आत्मैनाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।।(ई० उ० ७)

इस मन्त्र का सिद्धान्त सम्मत अर्थ देखिए। यस्मिन् का अर्थ है जीवात्मा। सर्वाणि भूतानि यहाँ षष्ठी बहुवचन के अर्थ में प्रथमा है, अर्थात् सम्पूर्ण भूतों के समक्ष अथवा यहां सप्तमी बहुवचन के अर्थ में प्रथमा है, अर्थात् सम्पूर्ण भूतों में। आत्मा

एवं यहाँ आत्मा का अर्थ परमात्मा है और एवकार से शारीरिक सौन्दर्य का निषेध है। तत्र अर्थात् सातों धातुओं के मध्य में एकत्व का अर्थ है, स्वस्वामि भाव सम्बन्ध अर्थात् जहाँ सम्पूर्ण भूतों में विशिष्टाद्वैत के अनुसार चिन्तन करने वाले महापुरुष के लिए एक मात्र आत्मतत्त्व का ही आविर्भाव हो जाता है, वहाँ जीव और ब्रह्म के बीच स्वस्वामी भाव का चिन्तन करने वाले महापुरुष के लिए कहाँ शोक और कहाँ मोह। अब यहाँ प्रश्न उठता है कि एकत्व शब्द के सम्बन्ध अर्थ स्वीकार में क्या प्रमाण है।

उत्तर- वेदार्थ विचार में पटु भगवान् बादरायण वेद व्यास का भागवत वचन ही इसमें परम प्रमाण है, ऐसा हम कहते हैं। जैसे-

गोप्यः कामाद्भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः।
सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद्यूयं भक्त्या वयं विभो।।(भागवत ७-२-३०)

यहाँ प्रस्तुत सम्बन्ध शब्द का पर्यायवाची एकत्व दशम स्कन्ध के उन्तीसवें अध्याय में इसप्रकार कहा गया है।

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हिते।। (भागवत २०-२९-१५)

भागवत भावार्थ दीपिका में श्री धराचार्य ने भी ऐक्य का सम्बन्ध ही अर्थ माना है। ऐक्यं सम्बन्ध (भागवत २०-२९-२५ श्री धरी) यदि कहें कि सर्वाणि भूतानि यह प्रथमा बहुवचनान्त सप्तमी के अर्थ में है इसमें क्या युक्ति है।

उत्तर- इसमें गीता जी के पांचवें अध्याय का अट्ठारहवां श्लोक ही परम प्रमाण है जैसे-

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिता समदर्शिनः।। (गीता ५-१८)

अर्थात विद्याविनय सम्पन्न ब्राह्मण में, गौ में, हाथी में, कुत्ते में तथा चाण्डाल में पण्डित लोग समान रूप से ब्रह्म का दर्शन करते हैं। यहाँ पाँच बार सप्तमी के एकवचन का प्रयोग करके भगवान् ने स्पष्ट संकेत किया कि पञ्चभूतात्मक इस चराचर जगत् में एकमात्र ब्रह्म विराजमान है। यदि कहें कि "सर्वं" खल्विदं ब्रह्म छान्दोग्य उपनिषद् ३-१४-१ इस श्रुति का कैसे अर्थ किया।

उत्तर- यहाँ भी पूर्वोक्त दृष्टि से सप्तमी के अर्थ में प्रथमा माननी पड़ेगी। अथवा ङि को ही यहां सु आदेश करके अतोऽम् से अमादेश हुआ है, अर्थात् सर्वस्मिन् ब्रह्म सम्पूर्ण चराचर जगत में परब्रह्म परमात्मा व्याप्त हैं, यही यहाँ श्रुत्यर्थ समझना चाहिए। अब यहाँ प्रश्न उठता है कि "सर्वस्मिन् ब्रह्म" इस विग्रह में सप्तमी का कौन सा अर्थ किया जाय।

उत्तर- यहाँ औपश्लेषिकी सप्तमी है, यदि कहे कि यहाँ संयोग तथा इन दोनों में उपश्लेष का कौन सा अर्थ माना जाय तो उत्तर होगा अर्थात् गुरो वसति इत्यादि प्रयोगों की भांति अन्तरयामी ब्रह्म सबमें अर्थात् सबके समीप विराजते हैं। इसीलिए औपश्लेषिकी शब्द में उपसामिप्येनश्लिष्यते तस्मिन भवा अर्थात् जो से श्लिष्ट होकर उपस्थित हो उसे औपश्लेषिकी कहते हैं, इसलिए वृहदारण्यक उपनिषद के अन्तर्यामी ब्राह्मण के तृतीय मन्त्र में श्रुति ने भगवान् से जीव का सामीप्य सम्बन्ध ही स्वीकार है। 'यहाँ याज्ञवल्क्य कहते हैं जो पृथ्वी में रहते हुए पृथ्वी के समीप हैं, जिन्हें पृथ्वी नहीं जानती, जिनका पृथ्वी शरीर है जो पृथ्वी के समीप रहकर उसका नियन्त्रण करते हैं वे ही अन्तर्यामी मरण धर्म से रहित परब्रह्म तुम्हारे शाश्वत सम्बन्धी परमात्मा है। यहाँ अन्तर शब्द का अर्थ ही सामीप्य है यदि कहें कि ब्रह्म के सामीप्य में क्या कोई श्रुति का स्पष्ट प्रमाण है तो हाँ बता रहा हूँ। ईशावास्योपनिषद् के पाँचवें मन्त्र में श्रुति ने स्पष्ट कहा है कि ईश्वर जीव से दूर भी है और निकट भी।

अब यहाँ पूर्व पक्षी ने फिर प्रश्न किया कि अभी तक तो आपने अपनी शास्त्रीय युक्तियों से जीव और ब्रह्म का परस्पर भेद सिद्ध किया किन्तु सोऽहमस्मि इस मन्त्र में करने पर जीव और ब्रह्म का अभेद ही सिद्ध होता है जैसे सः अहम् अस्मि वह परमात्मा मैं ही हूँ। यहाँ आत्मा परमात्मा का भेद कैसे सिद्ध होगा?

उत्तर- ऐसा नहीं कहना चाहिए। यहाँ आपने जो भी आशंका व्यक्त की है वह इसीलिए क्योंकि आपने उस मन्त्र के प्रसंग को गम्भीरता से समझने का प्रयास ही नहीं किया। यह मन्त्र ईशावास्य तथा वृहदारण्यक इन दोनों उपनिषदों में मिलता है। जैसे-

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह।
तेजोयत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।।
ई० उ० १६ वृ० उ० ५/१५/१

यहाँ साधक भगवान् से प्रार्थना करता है कि हे जगत के पोषणकर्त्ता, हे, सर्वव्यापक, हे सर्वनियन्ता, हे सबके प्रेरक, हे प्रजापति परमेश्वर, आप अपनी किरणो को समेट लीजिए, तथा अपने प्रचण्ड तेज को संक्षिप्त कर लीजिए, आपका जो परम कल्याणमय रूप है मैं उसी को देखने का इच्छुक हूँ। क्योंकि व्याहतियों का ।अवयव पूर्ण तथा पुरुषाकार शरीर में वर्तमान जो पुरुष पद का वाच्य जीवात्मा है वह मैं ही हूँ। इस मंत्र पर ईशावास्य तथा वृहदारण्यक इन दोनों उपनिषदों में आपके अद्वैतमत प्रवर्तक भगवान आद्यशंकराचार्य का भाष्य भी इसी तथ्य की ओर संकेत कर रहा है। उदाहरणार्थ दोनों भाष्य यहाँ दिये जा रहे हैं- जैसे कि ईशावास्य उपनिषद में श्री आद्यशंकराचार्य व्याख्या करते हैं- वस्तुतस्तु मैं आपसे किसी वैतनिक सेवक की भाँति नहीं याचना कर रहा हूँ जो वह सूर्यमंडल में स्थित व्याहतियों का अवयव पुरुषाकार अथवा जिसके द्वारा बुद्धि मन आदि पूर्ण है अथवा जो शरीर में शयन करता है ऐसा वह जीवात्मा पुरुष मैं ही हूँ। इस व्याख्या का समर्थक मंत्र भी इसप्रकार का है।

उस पुरुष का 'भूर्' सिर है 'भुव': दोनों भुजायें तथा "स्व:" प्रतिष्ठा अर्थात् चरण है। इसीप्रकार वृहदारण्यक उपनिषद् के भाष्य में आद्यशंकराचार्य कहते हैं, जो वह भूर्भुव: स्व: इन व्याहतियों का अवयव पुरुषाकृति वाला जीवात्मा पुरुष है वह मैं ही हूँ। इन दोनों व्याख्यानों में शंकराचार्य ने जीवात्मा की ही मुख्यार्थता मानी है। ईशावस्योपनिषद् में शंकराचार्य ने इस पुरुष को प्राण आदि बुद्धि से पूर्ण कहकर तथा बृहदारण्यक में व्याहतियों को पुरुष का अवयव बताकर पुरुष पदार्थ जीवात्मा ही स्वीकार लिया है। क्योंकि परमात्मा स्वयं परिपूर्ण होने के कारण किसी अन्य से पूर्णता की अपेक्षा नहीं करते। इसीप्रकार उन्होंने ही पुरुषको व्याहतियों से अवयववान कहा जबकि परमात्मा में अंङ्गाङ्गी भाव होता ही नहीं। वास्तव में "योऽसावसौ पुरुष: सोऽहमस्मि" इस मंत्र खण्ड का प्रार्थयिता अर्थात् प्रार्थना करने वाले के साथ सम्बन्ध है। प्रार्थना करने वाला जीवात्मा ही होता है न कि परमात्मा क्योंकि परमात्मा तो प्रार्थ्यमान अर्थात प्रार्थना के विषय हैं। अर्थात् उनसे प्रार्थना करना प्रसिद्ध है। वे किसी से क्यों प्रार्थना करेंगे। सूर्य मण्डल में श्री सीताराम विराजते हैं। इसीलिए श्री सनतकुमार संहिता के श्री रामस्तवराज श्लोक संख्या ४१ में भगवान नारद कहते हैं- सूर्यमण्डल में स्थित कमललोचन प्रत्यक्षादि प्रमाणों से परे गुरुजनों की सेवा में तत्पर श्री सीतासहित भगवान श्रीराम को मैं प्रणाम करता हूँ।

इन्हीं सूर्य मण्डल में स्थित श्री सीताराम जी के दर्शनों का इच्छुक जीवात्मा भगवान सूर्य से प्रार्थना करता है, जो किसी प्रकार श्री सीताराम जी के दर्शन हो जायं। यदि मेरे नेत्र सूर्यनारायण के तेज के चकाचौंध में चकमका जायेंगे तो मैं परमेश्वर दम्पति श्री सीताराम जी के दिव्य रूप को नहीं देख सकूँगा। इसलिए हे पूषन! अर्थात् सारे संसार के पोषण कर्त्ता एकमेव अद्वितीय गतिशील यम सबके नियन्ता सूर्य सुन्दर प्रेरक (यहाँ राजसूर्य सूर्य सूत्र से यत् प्रत्यय) ईट् धातु के ईकार का लोप सृ उपसर्ग में डकार का दीर्घ हुआ। "प्राजापत्य" प्रजापति कश्यप के पुत्र ।अथवा चक्षोः सूर्योः अजायत् इस मन्त्र के अनुसार प्रजापति परमेश्वर से उत्पन्न भगवान सूर्य आप रश्मीन अर्थात् रस के शोषक किरणों को व्यूह दूर करो, तथा ये तुम्हारा तेजः अपने मण्डल में स्थित श्री सीताराम के दर्शनों के प्रतिबन्धक तेज को समूह समेट लो जिससे मैं उन अलौकिक दम्पत्ति के दर्शन कर सकूँ। क्यों? इस प्रश्न का उत्तर देते है 'ते' अर्थात तुमसे सम्बद्ध तुम्हारे मण्डल में स्थित जो श्री सीताराम जी का सम्पूर्ण कल्याण गुण गणों का भवन मंगलमथ स्वरूप है उसे देख सकूँ। यहाँ व्यत्यय से प्रार्थनार्थक लोट् लकार के स्थान पर लट्लकार हुआ हैं। क्यों देखना चाहते हो इस पर साधक कहता है योऽसौ इत्यादि क्योंकि तुम्हारे मण्डल में स्थित श्री सीताराम जी के स्वरूप दर्शन का मैं एक मात्र अधिकारी हूँ। मैं आपसे वैतनिक सेवक की भाँति कुछ नहीं मांग रहा हूँ प्रत्युत पिता से एक पुत्र का अधिकार माँग रहा हूँ। इसी बात को योऽसौ इस अन्तिम खण्ड को स्पष्ट करते हैं। असौ-असौ यह पदच्छेद है। प्राणवाची असुः शब्द के सप्तमी के एक वचन में असौ बनता है यहाँ अविप्सा द्वित्व है और सप्तमी का उपश्लेष अर्थ है। अर्थात जो प्रत्येक प्राण से समीपतः सम्बद्ध जीवात्मा है वह मैं हूँ। आशय यह है कि जो प्रत्येक प्राण से सम्बद्ध तथा निश्चित रूप से प्रत्येक क्रियाशील शरीर में रहने वाला मुमुक्षो पुरुषार्थवादी जीवात्मा है वह इस समय के देह से अवच्छिन्न मैं ही हूँ। इस व्याख्यान से कोई दोष नहीं आयेगा। इस व्याख्यान से सोऽहंवाद परास्त हुआ। सः यह पद प्रत्यभिज्ञा का वाचक है। यत और तत् का नित्य सम्बन्ध है। अर्थात् जो मैं पुरुषार्थवादी मुमुक्षो जीवात्मा सूर्यमण्डलस्थ श्री सीताराम के दर्शन के लिए सूर्य नारायण से ही प्रार्थना कर रहा हूँ वही फिर वहाँ आपकी माया के वशीभूत होकर आपके कैङ्कर्य भाव को भूला हुआ अहंकारी पुरुष मैं ही हूँ।

यदि श्रुति के द्वारा ब्रह्म तथा जीव का भेद करना इष्ट होता तो ननु अहं अस्मि वह ब्रह्म मैं हूँ श्रुति इसप्रकार बोलती। इसलिए जीवात्मा और परमात्मा का

परस्पर भेद निर्विवाद सिद्ध है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में श्रुति दोनों का स्पष्ट भेद स्पष्ट करती हुई प्राकृतिक जगत को क्षेत्र जीवात्मा को क्षेत्रज्ञ तथा परमात्मा को क्षेत्रज्ञपति कहती है। 'प्रधान क्षेत्रज्ञपतिर्गणेशः' यहाँ प्रकृति को प्रधान तथा जीव को क्षेत्रज्ञ तथा परमात्मा को उन दोनों का पति कहा गया है। यदि कहें कि गीता १३-१ में भगवान ने सम्पूर्ण क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ जीवात्मा मुझे ही जानों इसप्रकार जीवात्मा परमात्मा का अभेद ही कहा है तो ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि यदि वहाँ भगवान को जीवात्मा परमात्मा में अभेद कहना ही इष्ट होता तो वे क्षेत्रज्ञमेव मां विद्धि अर्थात् क्षेत्रज्ञ मुझे ही जानो ऐसा कहते परन्तु भगवान ने क्षेत्रज्ञंचाऽपि मां इस प्रकार कहा है, वहाँ च शब्द समुच्यार्थक है जो कि जीवब्रह्म के अभेद में सम्भव नहीं। क्योंकि समुच्चय तो परस्पर भिन्न दो वस्तुओं का होता है। जैसे- राम और श्याम और अऽपि शब्द निश्चय वाचक अव्यय है। इस प्रकार इस वाक्य का अर्थ होगा कि हे अर्जुन सभी शरीरों में क्षेत्रर जीवात्मा तथा उसके पति मुझ परमात्मा को भी स्थित जानों। अर्थात् प्रत्येक शरीर में जीवात्मा के साथ मेरी उपस्थिति अनिवार्य है। इस प्रकार सब कुछ निर्दोष है अर्थात् कहीं भी जीवात्मा और परमात्मा का अभेद नहीं कहा गया। यदि कहो कि यह सब कुछ आत्मा ही था, हे सौम्य सबसे पहले यह सब सत ही था। ब्रह्म एक और अद्वितीय है। इत्यादि एकत्व की प्रतिपादिका श्रुतियों की संगति कैसे लगेगी उत्तर- इस प्रश्न का समाधान सावधान होकर सुनो- माया तथा जीव के विशेषण होने के कारण भिन्न होने पर भी राजा ययाति इत्यादि की भाँति एकत्व व्यवहार को विशेष्य के अभिप्राय से समझना चाहिए। जैसे- राजा जा रहा है इस वाक्य में राजा के परिवारों का गमन यद्यपि सिद्ध है क्योंकि कहीं भी राजा एकाकी नहीं रहा करता फिर भी वहाँ राजा के ही गमन में उसके विशेषण रूप सेवकों के गमन का अन्तर्भाव करके विशेष्य के अभिप्राय से एकवचन का प्रयोग किया गया। उसीप्रकार यहाँ भी जीव और माया का विशेषण होने पर भी विशेष्य में व्यवहार के अभिप्राय से एकवचन का प्रयोग हुआ। वेदान्त प्रतिपाद्य ब्रह्म चित्त अचित्त अर्थात् जीव और माया से विशिष्ट होकर अद्वैत है इसलिए उसे विशिष्टाद्वैत कहते हैं। सृष्टि से पहले नाम एवं रूप रहित जीव भगवान में विलीन रहते हैं और वे ही सृष्टि के प्रारम्भ में भिन्न-भिन्न नाम रूप धारण करके भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म लेते हैं जैसे कि गीता जी के आठवें अध्याय में कहा गया है।"हे अर्जुन सृष्टि के प्रारम्भ में उस अव्यक्त परमात्मा के पास से भिन्न-भिन्न नाम रूपों में जीव प्रकट होते हैं और सृष्टि का प्रलय होने पर उसी अव्यक्त संज्ञक परमात्मा में विलीन हो जाते हैं। उसीप्रकार वही यह जीवों का समूह उत्पन्न हो होकर प्रलयकाल में परमात्मा

में विलीन होता है और सृष्टिकाल में उन्हीं से उत्पन्न होता है। (गीता ८-१९)

इसीप्रकार सृष्टि के पहले यह जीव- जगत परमात्मा में ही विलीन था, जैसे राजा जा रहा है इस वाक्य में राजा के गमन में ही उनकी सेना 'महारानी' मन्त्री आदि परिकरों का भाव हो जाता है, उनका पृथक निर्देश नहीं होता उसीप्रकार इन श्रुतियों में भी विशेष ब्रह्म के 'निर्देश में ही विशेषण जीव माया का अन्तर्भाव करके एकवचन का प्रयोग किया गया। अब यहाँ प्रश्न होता है कि जीव और ब्रह्म में अभेद मानने पर 'अयमात्माब्रह्म तत्वमसि अहंब्रह्मास्मि' इन तीन महावाक्यों का व्याकोप अर्थात् वचन विरोध हो जायेगा? क्योंकि ये तीनों ही जीव और ब्रह्म की एकता का ही प्रतिपादन करते हैं। ऐसा मत बोलो, क्योंकि अहं ब्रह्मास्मि शब्द में व्यत्यय से टानि, नसि, नस् नि इन पाँच विभक्तियों को लोप करके सवर्ण दीर्घ किया गया है। इस परिस्थिति में अहं ब्रह्मास्मि शब्द के पाँच विग्रह होंगे। "अहं साधकः, ब्रह्मणः, ब्रह्मणे, ब्रह्मणः सकाशात् ब्रह्मणः ब्रह्मणि अस्मि अर्थात् मैं साधक ब्रह्म के द्वारा संचालित हूँ। ऐन जातानि जीवन्ति यही श्रुति यहाँ प्रमाण है। मैं ब्रह्म के लिए हूँ इस चतुर्थी विग्रह में "कस्मैः देवाय" इत्यादि श्रुति प्रमाण है। मैं ब्रह्म से उत्पन्न हूँ इस व्याख्यान में "यतो व इमानि" यह श्रुति प्रमाण है। मैं ब्रह्म का हूँ। इस व्युत्पत्ति में ममैवां सो जीव लोके "यह स्मृति प्रमाण है" मैं ब्रह्म में हूँ इस विग्रह में "तत्रैवाव्यक्त संज्ञके" यह स्मृति प्रमाण है। इसीप्रकार अयमात्मा ब्रह्म इस श्रुति में आत्मा शब्द परमात्मा परक है इसीलिए धनञ्जयादि कोषों तथा अमरकोष में भी आत्मा शब्द ब्रह्मवाचक कहा गया है जैसे "आत्माशरीरे जीवे च जीवते परमात्मनि" "आत्मायत्ने धृतौ बुद्धौ स्वभाव ब्रह्म वर्ष्मसु" अतः यहाँ अर्थ होगा कि हमारे अति निकटवर्ती ये परमात्मा ही ब्रह्म हैं। इसलिए भागवत् (१०-१४-५५) में भगवान शुक्राचार्य ने श्रीकृष्ण को सभी आत्माओं की आत्मा कहा और वंशीधर शर्मा ने आत्मा की व्याख्या परमात्मा ही की है। आत्मनं परमात्मानं (भागवत् १०-१४-५५ वंशीधरी) इसी तरह तत्वमसी में भी सिंहोमाणवकः की भाँति तत् पद की तत् सदृश में लक्षणा है अथवा पूर्व व्याख्यान की भाँति तत्वं शब्द में तेन त्वं तस्मैत्वं तस्मान् त्वं तस्य त्वं तस्मिन् त्वं इसप्रकार तृतीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी, सप्तमी तत्पुरुष समास होंगे। इसप्रकार अन्यत्र भी समझ लेना चाहिए। बहुत क्या कहूं-

"न कोऽपि जातो जगतीलेऽस्मिन् ।
प्रवीतमान स्फीतपयो जनन्याः ।।

यो ब्रह्म जीवैक्य मतर्क्य बुद्धया।
संसाधयेत तिष्ठति रामभद्रे।।
संसार में किसने जननि का दूध गाढ़ा है पिया।
किसने स्वगुरू से प्रेम से सच्ची लंगोटी है लिया।।
जोकर सके अद्वैतसाधन ऋण चुका स्वाचार्य के।
वेदान्त बुद्धि विशुद्ध रहते रामभद्राचार्य के।।

प्रश्न- अच्छा तो जीव ही क्यों नहीं ईश्वर मान लिया जाता?

उत्तर- क्योंकि जीव के ईश्वरत्व में कोई प्रमाण नहीं मिलता। सृष्टि करने का सामर्थ्य न होने के कारण प्रत्यक्ष में भी जीव ईश्वर नहीं हो सकता। इसीलिए ब्रह्मसूत्र में वेदव्यास कहते हैं कि प्रकरण होने से और सन्निहित न होने के कारण जीव ईश्वर के सभी गुणों को प्राप्त करके भी सृष्टि रचना की सामर्थ्य नहीं प्राप्त कर सकता। इसीप्रकार अनुमान भी साधक का अव्यभिचारी नहीं बन पा रहा है क्योंकि वहां कोई प्रमाण नहीं है क्योंकि शब्द भी 'द्वा सुपर्णा' मन्त्र में जीव और ब्रह्म की स्पष्ट रूप से भेद प्रतिज्ञा की गयी है। इसीप्रकार 'पृथगात्मानं' मन्त्र में भी जीव ब्रह्म की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकारी गयी है। इसप्रकार जीव तथा ब्रह्म की पृथकता के प्रचुर प्रमाणों के होने से अनुमान भी जीव के ईश्वरत्व में प्रमाण नहीं बन पा रहा है। जैसा कि अनुमान भी किया जाता है घटादि की भाँति ही श्रीवत्सलाञ्छन और सृष्टि रचना सामर्थ्य न होने से जीव परमात्म प्रतियोगिक धर्म वाला नहीं है। मुक्त जीव भी मुक्त के समय में अपनी सत्ता नहीं छोड़ता परम ज्योति रूप संपद्य इत्यादि श्रुति वचन भी प्रमाण हैं। वह परमात्मा के साथ सम्पूर्ण कामनाओं को भोगता है इस श्रुति से भी जीव की अनीश्वरता सिद्ध हो जाती है। इसलिए गीता १४१/२ में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि इस ज्ञान को प्राप्त कर मेरे समान धर्म को प्राप्त हुए जीव सृष्टि में न तो हीन योनियों में जन्म लेते हैं और नहीं प्रलय में दुखी होते हैं।' यदि कहे कि नित्य जीव और परमात्मा में क्या अन्तर है तो इसका उत्तर यही है कि नित्य जीवों में सब कुछ होने पर भी भगवान् का श्रीवत्सलाञ्छन और सृष्टिरचना सामर्थ्य नहीं हुआ करता। इसप्रकार भगवान् अर्जुन के अशोच्यान् श्लोक के अर्जुन के शोक को निरस्त करके अहं पद से जीवों के उपेय रूप अपनी त्रिकाल वर्तमानता तथा उपायभूत प्रपत्ति के अधिकारी प्रपन्न अर्जुन की भी त्रिकालवर्तमानता तथा तृष्णा रूप तरंग से तरंगायित संसार सागर में निमग्न स्वचरण विमुख जीवों की भी इसी पद से त्रिकाल वर्तमानता ही भगवान् ने सिद्धान्तित किया। 'इत्थं द्वित्वं

द्वादशं श्लोकमेनं गीताशास्त्रे चाद्वितीये द्वितीये। युक्त्याऽभावे शास्त्रतोरामभद्राचार्यो नर्घ्यैः प्रातिभैः सत्प्रमाणैः' इसप्रकार गीता शास्त्र के इस अद्वितीय द्वितीयाध्याय में वर्णित बारहवें श्लोक की बहुमूल्य स्व प्रतिभा प्रसूत श्रेष्ठ प्रमाणों से मैंने (जगद्गुरू रामानन्दाचार्य स्वामी रामभद्राचार्य ने) स्व सिद्धान्तानुकूल भाष्य व्याख्या प्रस्तुत की है। ।।श्री।।

संगतिः- इसप्रकार बारहवें श्लोक में भगवान के द्वारा वर्णित जीवात्मा तथा परमात्मा के परस्पर भेद·मूलक सिद्धान्त को सुनकर अर्जुन के मन में एक अन्तर प्रश्न उठा कि अरे! भगवान ने आत्माओं की नित्यता, अनेकता और चेतनावत्ता तो कह दी, तथा आत्मा के नित्य होने के कारण उसके प्रति शोक करना भी अनुचित बताया, परन्तु आत्मा के नित्य होने पर चैत्रमरा मैत्र ने जन्म लिया इसप्रकार जन्म मृत्यु के व्यवहार कैसे संगत होंगे अथवा आत्मतया इनके प्रति भले ही शोक न किया जाय परन्तु इनके ये शरीर तो भविष्य में देखने को नहीं मिलेंगे अथवा युद्ध में नष्ट हो जाने पर भीष्म, द्रोण आदि वर्तमान स्वरूप में तो अब हमें प्रणाम करने के लिए नहीं सुलभ हो सकेंगे? अर्जुन की इन तीन अन्तःशंकाओं का समाधान करते हुए भगवान श्रीकृष्ण दृष्टान्त के साथ अपना अगला श्लोक प्रस्तुत करते हैं-

''देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तर प्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति।।१३।।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन जिसप्रकार इस पाञ्च भौतिक शरीर में क्रम से कौमारावस्था, युवावस्था तथा जरावस्था आती है उसीप्रकार इस जीवात्मा को कर्मवशात् उत्कृष्ट-अपकृष्ट भिन्न-भिन्न शरीरों की प्राप्ति होती है। इस विषय में धीर पुरुष कभी भी मोहित नहीं होता अर्थात् जैसे कुमारावस्था सुखद, युवावस्था सुख-दुख से मिली हुई तथा वृद्धावस्था दुःखप्राय होती है उसीप्रकार जीवात्मा सात्विक कर्मों के फलस्वरूप देव शरीर तथा सत्व एवं रजोगुण से मिश्रित कर्म के परिणाम से मानव शरीर एवं तामसी कर्म के फल से त्रिर्यक अर्थात् पशु पक्षी, मक्खी, मच्छर आदि निकृष्ट शरीर को प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या- प्रथम श्लोक में अर्जुन का शोक समाप्त करने के लिए भगवान ने 'अशोच्यान' कहकर उपक्रम किया और बारहवें श्लोक में जीवात्मा की नित्यता और सार्वकालिकता के प्रतिपादन से शोक निर्मूल किया और अब अर्जुन के मोह को नष्ट करने का उपक्रम करते हैं।

हे अर्जुन! तुम्हारे द्वारा युद्ध न करने पर भी ये भीष्म, द्रोण, कृप आदि बहुत दिनों तक नहीं रह सकेंगे। क्योंकि शरीर क्षणभंगुर होता है, वह किसी न किसी दिन जायेगा ही। यह जीवात्मा नित्य है। इसके लिए दूसरा शरीर प्राप्त करने पर भी यह विकारयुक्त नहीं होता। और वह अपने कर्मों के अनुसार उत्कृष्ट और निकृष्ट शरीरों को प्राप्त करके शास्त्रों का अध्ययन न करने के कारण अपने को मोहाविष्ट होने पर भी आत्मा मानने वाला व्यक्ति शरीर सापेक्ष होने के कारण मोहित हो जाता है। जो आत्मा और अनात्मा के रहस्य को जानता है वह मोहित नहीं होता।

अस्मिनः- अर्थात जड़ चेतनात्मक स्थूल सबको देखने में आने वाले जीवों के उपभोगार्थ भगवान की माया द्वारा निर्मित कर्ण कलेवर वाले इस शरीर में 'कुमार' के भाव को ही कौमार कहते हैं। वही कुमार का भाव अथवा कर्म जिस अवस्था में हो उस अवस्था को कौमार कहते हैं। जिसप्रकार इच्छा न करने पर भी यौवन अथवा युवावस्था जरा वृद्धावस्था ये तीनों स्वयं अनुभूति होती रहती हैं उसी प्रकार देही इस देह विशिष्ट जीवात्मा को देहान्तर अर्थात् अन्य देहों की प्राप्ति होती रहती है। अन्य देह को देहान्तर कहते हैं। अश्वपद विग्रह में मयूरव्यंसकादि के अर्थ में अन्तर शब्द का प्रयोग और तत्पुरुष कर्मधारय समास हो जाता है। देहान्तरों की प्राप्ति ही देहान्तर प्राप्ति है। यहाँ कौमारावस्था देव शरीर का युवावस्था मानव शरीर का तथा वृद्धावस्था त्रिर्यक शरीर का उपमान है। अपने कर्मों के अनुसार इस जीवात्मा को सामान्य और विशेष शरीरों की प्राप्ति होती रहती है। इस सम्बन्ध में 'धीर' अर्थात् जिसने अपनी बुद्धि को भगवान के चरणों में लगा दिया है अथवा अपनी ध्यान लक्षणा 'धी' बुद्धि को 'र' भगवान के चरणों में समर्पित करने वाला 'न मुह्यति' विचलित नहीं होता यहाँ दृष्टांत और द्राष्टांतिक समीक्षण से जीवात्मा की नित्यता सिद्ध होती है।

दृष्टांत में दो धर्मों का संकेत है जैसे बाल्य, युवा और वृद्धावस्था के जाते रहने पर भी शरीर वहीं रहता है उसीप्रकार भिन्न-भिन्न शरीरों के बदलते रहने पर भी जीवात्मा में कोई परिवर्तन नहीं होता जैसा कि श्री मानस में भुषुण्डि जी कहते हैं।

जो तनु धरउ सो परिहरउ अनायास हरियान।
जिमि नूतन पट पहिरहि नर परिहरहि पुरान।। मानस ७-११० ग

द्राष्टान्तिक में शैशव, यौवन, और जरावस्था का क्रम से देव, नर और त्रिर्यक योनि क्रमाथ साधर्म्य है अथवा शैशवावस्था के समान निर्दोष तथा भगवत्कैंकर्य में

लगा हुआ नित्य जीवों का शरीर है और युवावस्था के समान गुण प्रचुर भगवत्कैङ्कर्य के योग्य मुक्तों का शरीर तथा जरावस्था के समान भगवान की सेवा के लिए सर्वथा अयोग्य हम सब बद्ध जीवों का शरीर समझना चाहिए, कहीं-कहीं भगवद्भजन की महिमा से इससे विपरीत भी दिखाई पड़ता है। जैसे कौमार के समान हनुमान जी का शरीर जो कि सर्वथा अखण्ड ब्रह्मचर्य सम्पन्न और निर्दोष है और यौवन के समान वानरों, भालुओं तथा निषाद आदि का शरीर एवं वृद्धावस्था के समान परमगिद्ध जटायु का शरीर। ये सब के सब भगवान की सेवा में तत्पर देखे गये हैं। भीष्मादि की मृत्यु होने पर शैशवास्था की भाँति इन्हें कभी देव शरीर की भी प्राप्ति हो सकती है। अत: इनका उत्कर्ष समझकर तुम्हें शोक और मोह नहीं करना चाहिए। तुम्हारे शस्त्रों से पवित्र होकर ये भीष्मादि निश्चत ही देव शरीरों को प्राप्त करेंगे। इसलिए इन्हें देह विशिष्ट मानते हो अथवा विशुद्ध जीवात्मा इन दोनों ही पक्षों में यह शोचनीय नहीं है।क्योंकि किन्हीं का मरण शोचनीय होता है और किन्हीं का नहीं। जैसा कि किसी महानुभाव ने एक बार किसी महर्षि के पास राजकुमार ऋषिकुमार, बहेलिया तथा एक साधु ये चारों एक साथ आये। सबने महर्षि को प्रणाम किया। परन्तु महर्षि ने चारों को विलक्षण आर्शीवाद दिया। ऋषि ने राजपुत्र से कहा हे राजपुत्र! तुम बहुत दिन जियो। क्योंकि वर्तमान कुकृत्यों के अनुसार तुम्हें अगले जन्म में नरक यात्रा भोगनी ही होगी इसलिए इस जन्म में पूर्व के शुभ कर्मों का सुख भोग लो। पुन: ऋषि ने मुनि कुमार से कहा ऋषि कुमार तुम मत जियो। क्योंकि इस समय तुम्हें तपस्या में कष्ट उठाना पड़ रहा है। अगले जन्म में तुम्हें स्वर्ग मिलेगा अत: शीघ्र मरकर स्वर्ग सुख का अनुभव करो। पुन: महर्षि ने साधु से कहा तुम जियो या मरो तुम्हारे लिए दोनों मङ्गलमय है क्योंकि संत का जीवन और मरण ये दोनों ही धन्य और सुखद होते हैं। अनन्तर खीजकर बहेलिये से कहा कि हे व्याध, तुम मत जियो मत मरो क्योंकि तुम्हारा जीवन और मरण दोनों ही निरर्थक हैं।

राजपुत्र चिरंजीव मा जीव ऋषि पुत्रक।
जीव वा मर व साधो व्याध मा जीव मा मर।।

इसप्रकार राजकुमार का मरण शोच्य है और ऋषि कुमार का जीवन साधुओं के दोनों ही शोचनीय नही है और व्याध के दोनों ही शोचनीय है।

इस श्लोक में भगवान श्रीकृष्ण के द्वारा ही जीवात्मा के विभुत्ववाद का एवं

अन्तःकर्णावच्छिन्न चैतन्य के जीव वाद का खण्डन किया गया है। यदि ही जीव होता तो अन्तःकर्णावच्छिन्न चैतन्य ही जीव होता तो अन्तःकरण अवच्छेदकों के परिवर्तित होने पर जीव में भी परिवर्तन होता। इसीप्रकार यदि जीव विभु अर्थात् व्यापक होता तो वह एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को कैसे पाता क्योंकि व्यापक को तो एक ही समय सभी शरीरो में रहना चाहिए। यदि कहें कि उपाधि भेद से व्याख्यान करनेसे कोई दोष नहीं होगा तो यह कहना ठीक नहीं. है क्योंकि भगवान ने उपाधि से रहित जीवों में अनेकता का व्याख्यान करके उपाधिवाद को स्वयं ही निरस्त कर दिया है। जैसे कि गीता ५-२५ में भगवान कहते है कि जिनका 'द्वैध 'अर्थात् परमेश्वर से पृथक स्वतन्त्र सत्ताभाव समाप्त हो गया है। ऐसे सम्पूर्ण भूतों के हित में लगे हुए निर्दोष ऋषिगण निर्वाण रूप ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं। इसीप्रकार गीता ९-१३ में भगवान कहते हैं, दैवी प्रकृति का आश्रय लेने वाले महात्मा ही मेरा भजन करते हैं। यदि जीवात्मा विभु अर्थात् सर्व शरीर संयोगी होता तो उसकी देहान्तर प्राप्ति कैसे हो पाती इसलिए जीव नित्य अणु और चेतन है। इसीलिए मुण्डकोपनिषद १-३-९ में श्रुति कहती है यह जीवात्मा अणु है। इसका चित्त से ही चिन्तन करना चाहिए। यदि कहें कि अणु आत्मा को सुख-दुःख का अनुभव कैसे होता है तो उसका उत्तर है अणु होने पर भी आत्मा धर्म ज्ञान आदि विभूतियां से युक्त है इसलिए उन्हीं विभूतियों के बल से जीवात्मा को सुखदुःखादि का अनुभव होता रहता है। ।।श्रीः।।

संगति- अब अर्जुन अन्तर प्रश्न करते हैं कि हे परमेश्वर! यदि आत्मा को अणु और नित्य माना जाय तब तो शोक करना अनुचित है। परन्तु देह विशिष्ट जीवात्माओं को तो सुख दुःखादि की अनुभूति होती ही है। क्योंकि बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न धर्म-अधर्म औंस संस्कार ये धर्म आत्मामें ही रहते हैं। इसलिए देहादि अवच्छेदको युक्त भीष्म आदि का शोक तो छोड़ा ही नहीं जा सकता अथवा मेरे शस्त्र के प्रहार से भीष्म आदि को तो पीड़ा होगी ही? अर्जुन की इन दोनों शंकाओं का निराकरण करते हुए भगवान श्री कृष्ण कहते हैं-

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्ण सुख दुःखदाः।
आगमापायिनो नित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।। रा० कृ० भा०

व्याख्या- हे भरतवंश में उत्पन्न अर्जुन! विषय और उनके संयोग अनुभव शीत और उष्ण की भांति सुख-दुख देने वाले उत्पत्ति और विनाश से युक्त तथा

अनित्य हैं। इन द्वन्द्वों को सुस्थिर मन से सहन करो क्योंकि द्वन्द्व आत्मा के धर्म नहीं है। ये तो आगन्तुक हैं निरन्तर नहीं रहेंगे। इसलिए उनकी तितिक्षा ही श्रेयस्करी होगी। जिनके द्वारा विषय सुखों का अनुभव किया जाता है। उन विषय अर्थात् शब्द, स्पर्श रूप, रस, गंध, को मात्रा कहते हैं। यहां 'माङ् धातु से करण में इषट्रन् प्रत्यय 'टाप' हुआ मीयन्ते ऐभि इति मात्राः विषय अथवा विषयों का संयोग मन को स्पर्श करते हैं। इसलिए इन्हें स्पर्श कहा जाता है उत्पत्ति को आगम तथा विनाश का अपाय कहा जाता है। तु शब्द का यहीं अर्थ है। कुंन्ती से उत्पन्न होनेके कारण अर्जुन को कौन्तेय कहा जाता है। यहाँ स्त्रीभ्यो ढक ४-१-१२० इससे ढक् प्रत्यय होकर 'यय्' आदेश हुआ मात्रा अर्थात् विषय सुखों का अनुभव कराने वाले शब्दादि विषयों के साथ स्पर्श अर्थात् विषय संयोग जन अनुभव ही शीतोष्ण के समान सुख दुःख देते हैं। अर्थात् जैसे इनसे शांत और उष्ण का अनुभव होता है, उसीप्रकार सुख और दुःख का भी। अतः जैसे सर्दी और गर्मी का सहन किया जाता है वैसे ही सुख और दुःख का करना चाहिए इसके दो विग्रह होंगे 'शीतोष्ण रूपे' सुख दुःखे ददति इति शीतोष्ण सुखदुःखदाः अथवा शीतोष्णे च सुख दुःखे च ददति इति शीतोष्ण सुख दुःखदाः' अर्थात् यह शीत, उष्ण, सुखः, दुःख सब देते हैं।

जो लोग जिनके द्वारा विषयों का अनुभव किया जाता है ऐसी व्युत्पत्ति करके मात्रा का इन्द्रिय तथा स्पर्श का अर्थ विषय मानते हैं वह उचित नहीं है। क्योंकि कोषों में कहीं भी इन्द्रियों के लिए मात्रा शब्द का व्यवहार नहीं देखने में आता। जो लोग यह कहते हैं कि शीत और उष्ण में अनियत हैं, इसलिए इन्हें पृथक कहा गया यह भी ठीक नहीं है। वस्तुतः शीत और उष्ण ये दोनों सुख और दुःख के उपमान हैं। और तितिक्षा के उदाहरण भी। यहाँ इसीप्रकार का व्याख्यान उचित है। कोई स्पर्श शीत होता है कोई उष्ण उसीप्रकार विषय इन्द्रियों के सम्बन्ध कोई अनुकूल होने से सुखद और प्रतिकूल होने से दुःखद होते है। ये आत्म धर्म नहीं है। इसलिए इसमें आगम तथा अपाय अर्थात् उत्पत्ति तथा विनाश ये दोनों हैं। अनात्म होने से ये नित्य नहीं है इसलिए हे भारत! हे भरतवंश में उत्पन्न अथवा 'भा' अर्थात् प्रपत्ति में लगे हुए हे मेरी शरणागत अर्जुन! इन्हें सहन करो अथवा मात्रा अर्थात् पंचतन्मात्राओं में जिनका स्पर्श अर्थात् अनुभव होता है वे ही शीत, उष्ण, सुख, दुःख देने वाले उत्पत्ति विनाशशाली संसार के सभी सम्बन्ध अनित्य हैं। अतः इनको सहन करके मेरा नित्य सम्बन्ध स्वीकार लो यही उपदेश का सारांश है। ॥श्री॥

संगति- अर्जुन अन्तर्प्रश्न करते हैं कि इन विषय सुखों के अनुभवों के सहन करने में मेरा क्या लाभ होगा? इस पर भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं-

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःख सुखं धीरं सोऽमृतत्वायकल्पते।। २-१५ गीता।।

रा० कृ० भा०- सामान्यार्थ- हे मेरी प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करनेवाले पुरुषों में श्रेष्ठ सुख दुःख में समान रहने वाले जिस धीर पुरुष को ये इन्द्रिय विषयों के संयोग व्यथित नहीं करते वही अमृतत्व अर्थात् ब्रह्मभाव अथवा अमृतस्वरूपा भक्ति को पाने का अधिकारी हो जाता है।

व्याख्या- शरणागत के पूर्व भगवान श्रीकृष्ण ने क्लैव्यं मास्मगमः कहकर अर्जुन में क्लैव्यं पुरुषार्थ शून्यता की आशंका की थी। परन्तु जब अर्जुन ने शिष्यस्तेऽहं कहकर भगवान की शरणागति स्वीकार कर ली तब उनकी पुरुषार्थ शून्यता दूर हो गयी। जैसा की भागवत् ११-२-४२ में कहा गया है कि 'जिसप्रकार भोजन करते हुए व्यक्ति के प्रत्येक ग्रास में एक ही समय मन की सन्तुष्टि शरीर की पुष्टि एवं क्षुधा का विनाश होता है उसीप्रकार भगवान के शरणागत व्यक्ति के जीवन में एक ही समय भक्ति संसार से विरक्ति और भगवतत्त्व का ज्ञान यह तीनों ही आ जाते हैं।' इसीलिए भगवान अर्जुन को 'पुरुषर्षभ' कह रहे है अर्थात् तुम पुरुषों में ऋषभ अर्थात् श्रेष्ठ हो चुके हो क्योंकि तुममें शरणागति महिमा से श्री वैष्णवों के सभी गुण आ गये हैं इसीलिए तुम इसे सरलता से सहन कर सकोगे। क्योंकि दुःख सुख में समान रहने वाले जिस मनीषी को अर्थात् जिनकी व्याख्या की जा चुकी है, ऐसे वैषयिक सुखों के अनुभव नहीं डिगाते। यहाँ अमृतत्व के ब्रह्म भाव तथा भक्ति भाव दोनों अर्थ हैं क्योंकि नारदभक्ति सूत्र में भक्ति को 'अमृतस्वरूपा' कहा गया है। 'अमृतस्वरूपा च ना० भ० सू० १-१-३ और वृहदारण्यक के अन्तर्यामी ब्राह्मण में भगवान को तेइस बार अन्तर्यामी अमृतः'' कहा गया है।

वही निनिक्षावान व्यक्ति अमृतभाव अर्थात् ब्रह्म और भक्ति को प्राप्त करता है तुम भी उन दोनों को प्राप्त करो ।।श्री।।

संगति- पुनः अर्जुन की अन्तर्जिज्ञासा हुई हे! मनमोहन! आपने आत्मा की नित्यता और विषय सुखों की अनित्यता का प्रतिपादन किया परन्तु वे मात्रा स्पर्श

मेरे मन से कैसे जा सकेंगे। और उनके वेगों की मैं कैसे तितिक्षा कर सकूँगा? इस पर भगवान श्रीकृष्ण आगे कहते हैं।

नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥२-१६॥

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! असत् वस्तु की निरन्तर सत्ता नहीं रहती, और सद् वस्तु का अभाव नहीं होता। इन दोनों सत् और असत् का सामञ्जस्य रूप निर्णय तत्व दर्शी अर्थात् जीव और जगदीश इन तीनों तत्वों को जानने वाले महानुभावों द्वारा देखा जा चुका है। अर्थात् असत् का सत् से कभी मेल नहीं हो सकता यह प्रत्यक्ष सिद्ध है।

व्याख्या- गीता १७-२३ के अनुसार भगवान को 'ॐ, तत् और सत्' इन तीन निर्देशों की व्याख्या करनी है उनमें 'ॐ' के विवरण का विचार करते समय 'अ, उ, म' ये तीन अक्षर उस ओंकार के अवयव के रूप में प्रस्तुत होते हैं। वहाँ 'अ' का अर्थ है वासुदेव भगवान'' और 'उ' निश्चय का वाचक है तथा जीव मकार का पदार्थ है। अ का उ के साथ चतुर्थी और षठी समास हुआ है अर्थात् अकार के वाच्यार्थ भगवान के लिए अथवा 'अकार' के पदार्थ भगवान वासुदेव का यह जीव निश्चय ही सेवक और अंश है। यहाँ बारहवें श्लोक में अकार रूप भगवान की तथा तेरहवें श्लोक में उनके सेवक मकार के पदार्थ जीव की नित्यता का प्रतिपादन किया गया है और चौदहवें श्लोक में असत् तथा जड़' मात्रास्पर्शों की नित्यता और पन्द्रहवें श्लोक में उनकी तितिक्षा की फलश्रुति कही गयी और सोलहवें श्लोक में असत और सत् का असामञ्जस्य कहकर क्षण भङ्गुर मात्रा स्पर्शों को सहन करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। इन्हें इसलिए सहन करो क्योंकि ये स्थाई नहीं रहेंगे। देखो जिसका अस्तित्व ही नहीं है उस अनात्मभृत 'मात्रा स्पर्श' अर्थात् विषय सुख की कोई सत्ता नहीं रहती और 'सत्' जीवात्मा का कभी अभाव नहीं होता। इसलिए इनसे मत डरो। ये वैषयिक सुख तुम्हें नष्ट तो कर सकते नहीं केवल सता सकते हैं। इन्हें सर्दी-गर्मी की भाँति सहन करो ये चले जायेंगे। यह प्रत्यक्षत: सिद्ध है। शांकर मत में तत्त्व का अर्थ है ब्रह्म तनोति तत् तत: भाव: तत्त्वम् अर्थात् सर्व व्यापक ब्रह्म के भाव को तत्त्व कहते हैं। परन्तु विशिष्टाद्वैत पद्मत मार्तण्ड श्रीमदाद्यरामानन्दाचार्य भगवान के मत में तत्त्व शब्द तत् शब्द से भाव में त्व प्रत्यय करके निष्पन्न हुआ है। अर्थात् "तेषां जीव जगद्जगदीशानां भावस्य तत्त्वं"

जीव जगत और जगदीश के भाव को तत्व कहते हैं। इसी चिद्विशिष्ट ब्रह्म तत्व को साक्षात्कार करने वाले महानुभावों को तत्वदर्शी कहा जाता है। उनके द्वारा दिन के साथ रात की भाँति सत् के साथ असत् का सामञ्जस्य नहीं हो सकता इसलिए तुम सत् हो। अतः इन असत् मात्रा स्पर्शों को सहन करो इस व्याख्या से भगवान ने जड़ चेतन के ग्रन्थिवाद असत् में सत् बुद्धिरूप अध्यासवाद का दृढ़ता से खण्डन किया। क्योंकि अर्जुन सत् हैं तथा शरीर आदि संसार के सुख असत् इसलिए असत् पदार्थ का सत् पदार्थ के साथ सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। ॥श्रीः॥

संगति- पुनः अर्जुन को अन्तः शंका होती है कि हे भगवन् वासुदेव! यद्यपि आपके द्वारा पिछले श्लोक में परस्पर विरूद्ध सत्ता वाले सत् और असत् का असामञ्जस्य कह दिये जाने पर भी क्या इन दोनों से अतिरिक्त कोई पदार्थ है, जिससे सत् और असत् का सामञ्जस्य बना रहता है और जिससे चित् अचित् इन दोनों तत्वों का समन्वय हो जाता है। जिसका गत् श्लोक के चर्तुथ चरण में आप श्री गरुड़ ध्वज ने अप्रधान वृत्त विशेषण रूप तत्व दर्शभिः शब्द से की है? इसप्रकार पूछने की इच्छा करते हुए परमादरणीय पार्थ के प्रति पार्थ सारथि श्रीकृष्ण बोले-

''अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनासमव्यस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥२-१७॥

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! तुम अविनाशी उसी परब्रह्म परमात्मा को जानो जिससे यह जीव जगत व्याप्त है इस अव्यय अर्थात् त्रिकाल सत्य परमात्मा का कोई विनाश कर ही नहीं सकता।

व्याख्या- 'तु' शब्द निश्चयार्थक है। भगवान कहते हैं कि- इन सत् असत् पर्याय वाले चित् जीव अचित् जगत इन दोनों से विलक्षण तत् नामक पदार्थ है।वह अविनाशी है तु शब्द से जीवात्मा भी अविनाशी है। येन यहाँ यत् शब्द में एक शेष है। जो जीवात्मा और परमात्मा दोनों का परामर्शक है। अर्थात् जीवात्मा से विशिष्ट जिस परमात्मा द्वारा यह जगत व्याप्त है। यहाँ 'नपुंसकनपुंसकेन पा० अ० १-२-६९' इत्यादि सूत्र से एक शेष और एकवद्भाव हो गया। अव्यय अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा का स्वरूप अव्यय है उसमें त्रिकाल में भी उपचय अपचय नहीं होता। कोई देहाभिमानी उसका विनाश नहीं कर सकता। इस व्याख्यान से जीवात्मा और परमात्मा की स्वरूप से तथा अन्यप्रकार से नित्यता कही गयी। असद् भूत

जगत की अनित्यता का प्रति पादन किया गया-किन्तु भगवान ने जगत का मिथ्यात्व नहीं स्वीकारा। यहाँ अनित्यता ध्वंस प्रतियोगित्व रूप है जिसका अर्थ है वस्तु का दूसरी अवस्था को प्राप्त कर लेना। यदि कहें कि इस व्याख्यान से 'सत्कार्यवाद' का समर्थन होता है तो हमें कोई आपत्ति नहीं क्योंकि महर्षि कपिल भी भगवान के अवतार हैं। और उनका 'सत्कार्यवाद' पक्ष श्रुति सम्मत है। इसलिए हम उसे मुक्त कण्ठ स्वीकारते हैं। यदि कहें कि सत्कार्यवाद मानने पर मायावादियों का विरोध होगा तो हो जाय क्योंकि हम् रामानन्दी श्री वैष्णव मायापतिवादी हैं मायावादी नहीं। जो जो श्रुति सम्मत हो उसे ग्रहण करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इसलिए सांख्य सिद्धान्त सम्मत होने पर भी प्रत्यक्ष अनुमान तथा शब्द इन तीनों प्रमाणों को हम भी स्वीकारते हैं। इससे सत्कार्यवाद स्वीकारने पर कोई हानि नहीं है। सत् से ही उत्पत्ति देखी जाती है अर्थात् जो कारण में विद्यमान रहता है वही उत्पन्न होता है जैसे- दूध में से घी निकलता है न कि बालू आदि से।

प्रश्न- सत्कार्यवाद में क्या प्रमाण है?

उत्तर- 'छान्दोग्य' श्रुति को ही हम शब्द प्रमाण रूप में उपस्थित कर् रहे हैं। सदेव सोमदेमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ।।छा०० ६-२-१।। अर्थात् हे सोम्य सृष्टि के पहले यह सब सत् ही था अर्थात् चिद् चिद् विशिष्ट एक मात्र अद्वितीय परमेश्वर ही स्वतन्त्र सत्ता में विराज रहे थे। जीव और जगत् की सत्ता उन्हीं में विलीन थी। असत् कार्यवाद वैदिक नहीं है। इसीलिए श्रुति अरूचि बीज का अनुवाद करती है। ''तद्धैक आहुरस देवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत।। छा० उ० ६-२-१।। उसी को कुछ लोग कहते है कि पहले एक अद्वितीय असत् ही था उसी असत् से सत् उत्पन्न हुआ। भगवत्पाद शंकराचार्य ने भी इस श्रुति का भाष्य करते हुए 'एके वैनाशिकाः' अर्थात् असत् कहने वाले वैनाशिका 'बौद्ध' अवैदिक है, इसप्रकार व्याख्या की। कार्यकारण में सूक्ष्म रूप से रहता है। यदि असत् से सत् की उत्पत्ति मानते है तो बालू से तेल क्यों नहीं उत्पन्न किया जाता। वास्तव में तो इस जगत् के अभिन्न निमित्तोपादान कारण भगवान राम ही हैं। वे ही श्री गीता के उपदेश के समय श्री अर्जुन के सारथी श्रीकृष्ण के रूप में सुशोभित हो रहे हैं। यदि कहो कि 'सत्कार्यवाद' के स्वीकार कर लेने पर तो विवर्तवाद गया? हाँ यदि ऐसा है तो उसको तिलांजलि दे दी जाय। हम लोग तो परिणामवाद मानते हुए भी परमात्मा में विकार नहीं मानते जैसे एक दीपक से बहुत से दीपकों के जलाये जाने पर भी

दीपक में कोई विकार नहीं आता उसीप्रकार जगत को उत्पन्न करके भी जगदीश्वर भगवान निर्विकार बने रहते हैं। विकार अचिदन्श माया में आते हैं। चित् जीवात्मा अतद् विशिष्ट भगवान निर्विकार ही रहते हैं। अब वक्तव्य से विराम लिया जाता है। ।।श्री।।

संगति- 'ओम् तत्सत्' इन तीन ब्रह्म निर्देशों की व्याख्या की गयी अब असत् का भी स्वरूप कहना चाहिए अत: भगवान कहते हैं कि हे अर्जुन! भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य आदि नाम शरीरों के है न कि शरीरी के। जीवात्मा का कोई व्यपदेश अर्थात् कोई चिन्ह नहीं होता तुम युद्ध करो या न करो ये भीष्मादि तो मरेंगे ही। इसलिए इनके प्रति शोक मत करो। इसी आशय को भगवान अगले श्लोक में स्पष्ट कर रहे है।

''अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत। २-१८

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- नित्य एवं विनाश रहित अथवा गुणों के भोग अलिप्त प्रमाण रहित इस जीवात्मा के ही सम्बन्धी ये शरीर अन्तवान कहे गये है। अर्थात् इन शरीरों का ही नाश होता है। जीवात्मा का नहीं। इसलिए हे भरतवंश में उत्पन्न अर्जुन! तुम युद्ध करो। अर्थात् तुम्हारे शस्त्रों का प्रहार भीष्मादि के शरीर पर होगा जीवात्मा पर नहीं।

व्याख्या- इमे अर्थात् जो प्रत्यक्षत: इन्द्रियों द्वारा अनुभव में आ रहे हैं तथा जो कर्मफल के भोग के लिए ही निर्मित किये गये हैं ऐसे में कार्यसंधात रूप पंच भौतिक शरीर अन्तवन्त: विनाशशील हैं। देह का तात्पर्य है हाथ पांव अंगो से युक्त विशेष शरीर। जिनका अन्त हो उन्हें अन्तवान कहते हैं। अब यहाँ प्रश्न उठता है कि जहाँ- जहाँ देहत्व है वहाँ-वहां अन्तवत्ता होगी? 'सावयवो' होने के कारण घटा आदि की भाँति। क्योंकि जो जो सावयो होता है वह विनाशवान होता ही है ऐसा कार्यकारण भाव प्रसिद्ध है। यदि ऐसा नियम जागरूक रहा तो परमेश्वर के शरीरों में और भगवान के नित्य परिकरों के शरीरों में अन्तवात्ता आने लग जायेगी क्योंकि वहाँ भी सावयवत्त्व है?

उत्तर- इसका उत्तर यह है कि उद्देश्यता में सन्निकृष्टत्व का यदि निवेश कर दिया जाय तब ईश्वर शरीर एवं नित्य परिकर शरीर में दोष नहीं आयेगा और

अनुमान का आकार होगा 'तत्तदन्तवत्वावच्छेदकं' अर्थात: जो जो देह सन्निकृष्टत्व से विशिष्ट होंगे। यदि कहे कि सन्निकृष्टत्व के निवेश से लाभ क्या हुआ? तो इसका उत्तर यह है कि जिस जिस देह का प्राकृत इन्द्रिय से सन्निकर्ष होता है वहीं नाशवान होता है। भगवान और उनके नित्य परिकरों के शरीर प्राकृत इन्द्रियों के विषय नहीं बनते अत: वहाँ यह कार्य-कारणभाव उपस्थित नहीं होगा।

प्रश्न- यहाँ सन्निकृष्टत्व के निवेश में क्या प्रमाण है?

उत्तर- "अन्तवन्त इमे देहा" गीता २-१८ श्लोक में इमे पद का प्रयोग ही यहाँ परम प्रमाण है। इदं शब्द का सन्निकृष्ट अर्थ में ही प्रयोग होता है। 'इदम: सन्निकृष्टे' अत:' इमे का अर्थ है सन्निकृष्टा: वैशिष्ट भी स्वरूप सम्बन्ध से देह में अन्वित होता। नित्य जीव एवं भगवान के शरीर प्राकृत नेत्र के विषय नहीं बनते। इसलिए गीता ११-८ में भगवान कहते है कि हे अर्जुन! इन प्राकृत नेत्रों से तुम मुझे नहीं देख सकते इसलिए तुझे मैं ऐश्वर्य सम्पन्न योग देखने के लिए दिव्य नेत्र दे रहा हूँ। अथवा देह शब्द के प्रकृत्यर्थ से ही परमेश्वर और उनके परिकरों में अन्तवत्व लक्षण नहीं घटता। 'दिह' धातु उपचयार्थक है। उपचय का अर्थ है बढ़ना 'दिह' उपचये' अदादि धातु पाठ १०१५ जिसमें रस, रक्त, मांस, मज्जा, मेद्य, अस्थि और शुक्र उपचय अर्थात् वृद्धि को प्राप्त होते हैं उन्हें देह कहते है। सौंभाग्य से भगवान और उनके परिकरों में ये सातों धातु होते ही नहीं इसलिए वहाँ अन्तवत्व नहीं जायेगा। भगवान के अवतार और उनके परिकरों में इस अन्तवत्व का प्रसार नहीं होगा। उसीप्रकार नित्य भगवत् किङ्करो में भी यही व्यवस्था समझनी चाहिए। अथवा यह नियम शरीर के लिए नहीं है। तो फिर किसके लिए? जो भी देह धर्म के साथ अन्तवत्व है अथवा शरीरी के देह अन्तवान हैं भगवान शरीरी नहीं हैं क्योंकि उनमें देह देही भाव नहीं है। यही जीवात्मा से परमात्मा की विशेषता है। जीवात्मा में अनात्मा एवं प्रत्यगात्मा की अथवा जड़ चेतना की ग्रन्थि है "इसलिए अनात्मभूत घट पटादि पदार्थ स्थूल देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, इनसे जीवात्मा अतिरिक्त तत्व है" क्योंकि इनका नाश होता है।

परमात्मा का सब कुछ परमात्मा ही है जैसा कि बहुत ब्रह्मसंहिता में कहा गया है। "आनन्द मात्रकरपाद मुखो दरादिम गोविन्दमादि पुरुषं तमहं नमामि।।" अर्थात भगवान के श्रीचरण, हस्तारविन्द पदारविन्द, मुखारविन्द सब कुछ आनन्दमात्र है।

ऐसे आदि पुरुष गोविन्द का मैं भजन करता हूँ। जैसे वर्फ से बनी मूर्ति में बाहर भीतर सब जगह जल ही होता है अथवा जैसे चीनी से बने घोड़े में उसके सभी अंग चीनी ही होते हैं इसीप्रकार भगवान के श्री विग्रह में सब कुछ भगवान ही है ऐसा समझना चाहिए। इसलिए जहां-जहां शरीरी होगा वहाँ-वहाँ उपचयधर्मी देह होगा और जहाँ-जहाँ उपचय धर्मी देह होगा वहाँ-वहाँ अन्तवत्व अर्थात् विनाश अवश्यम्भावी होगा। इसीप्रकार भगवान के नित्य किंकरो में भी भगवान के अनुग्रह की महिमा से देह देही भाव नही रहता। क्योंकि वे भगवान के वर प्रसाद से पंचभूतों की परिधि से ऊपर उठे हुए होते हैं। उनमें क्षण-क्षण केवल भक्ति रस की वृद्धि होती है। इसीलिए देह का व्यवहार कर लिया जाता है। जैसा कि भगवती जनकनन्दिनी सीता जी के वर प्रसाद से श्री हनुमान जी में सप्तधातुओं के गुण नहीं हैं अत: वहाँ नाश भी नहीं है श्री रामचरित में श्री सीताजी कहती है-

अजर अमर गुण निधि सुत होहु। करहु बहुत रघुनायक छोहु। मानस ५-१७-३॥

इसप्रकार सब कुछ निर्दोष सिद्ध हो गया। नित्य अर्थात् उत्पत्ति अर्थात् विनाश से रहित जीवात्मा के। शरीरिण: अर्थात् जिनमें निरन्तर शरीर विद्यमान रहते हैं जो बिना शरीर के कभी नहीं रहता उसी जीवात्मा के सम्बन्धी भूत शरीर ही नाशवान होते हैं। यहाँ सम्बन्ध में षष्ठी है। फिर वह शरीर कैसा है इस पर कहते है अनाशिन: जिसका कभी नाश नही होता अब यहाँ प्रश्न उठता है कि 'नित्यस्य' पद के प्रयोग से ही जीवात्मा का जन्म मरण से रहित होना सिद्ध हो जाता है उसके लिए कृष्ण भगवान ने 'अनाशिन:' शब्द का प्रयोग क्यो किया? क्या यहाँ भगवान ने एक ही अर्थ के लिए समानार्थक नित्यस्य अनाशिन: दो शब्दों का प्रयोग करके पुनरूक्ति नहीं की? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

विनाश दो प्रकार का होता है एक प्रध्वंसात्मक दूसरा दर्शन का अभाव रूप जीवात्मा के ध्वंस का निवारण करने के लिए अनाशिन: शब्द का प्रयोग किया गया, क्योंकि जीवात्मा का विनाश नहीं अदर्शन होता है। इसीलिए गीता २-२९ में भगवान कहेंगे कि इस जीवात्मा को कुछ ही लोग आश्चर्य से देखते हैं अर्थात् सभी नहीं देखते। इसके अतिरिक्त और भी पाणनीय धातु वृत्ति में 'णश्' धातु का अर्थ अदर्शन कहा गया है- 'णश अदर्शने' ११९४ दिवादि। न दर्शनअदर्शनम यहाँ 'नञ्' का अभाव अर्थ है न्याय दर्शन में स्वीकृत चार अभाव में से यहां प्राग् भाव और प्रध्वंसाभाव ये दो गृहीत होंगे। श्री गीता जी में इन दोनों के उदाहरण हैं। गीता ६-

३० में भगवान कहते हैं कि जो सबमें मुझे देखता है और मुझमें सबको देखता है न मैं उसके लिए प्रनष्ट होता हूँ और न वह मेरे लिए-

''तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति''

यहाँ प्रनष्ट शब्द का आँख से ओझल होना अर्थ है। इसीप्रकार गीता १८-७३ में अर्जुन भगवान श्रीकृष्ण से कहते है- 'नष्टो मोह:' यहाँ नष्ट शब्द का अर्थ है ध्वस्त होना। इसलिए यहाँ नित्यस्य पद से ध्वंसाभाव का वारण और 'अनाशिन:' शब्द से दर्शन के प्रागभाव का वारण किया गया। अत: पुनरूक्ति नहीं हुआ, क्योंकि जीवात्मा काम तो विनाश होता है न ही अदर्शन। .अथवा जैसे-दर्पण के नष्ट होने पर प्रतिबिम्ब का नाश स्वयं हो जाता है उसीप्रकार देह के नष्ट होने पर आत्मा के विनाश की आशंका को दूर करने के लिए नित्यस्य पद का प्रयोग किया गया। उपाधि के नाश से आत्मा के विनाश का नित्य शब्द से वारण कर दिये जाने पर भी बिम्ब निमित्तक प्रतिबिम्ब विनाश का वारण करने के लिए 'अनाशिन:' शब्द का प्रयोग किया गया। अथवा यहाँ भगवान के दोनों शब्दों में अर्थ का संकोच मानना चाहिए। इस दशा में नित्य शब्द का उत्पत्ति रहितस्य यही अर्थ होगा और 'अनाशित:' शब्द का विनाश रहित अर्थ माना जायेगा। अथवा यहाँ नित्य का अर्थ है, उत्पत्ति विनाश से रहित, और 'अनाशिन: का अर्थ है। नाशवान देह से विलक्षण। वास्तव में तो अनाशिन: शब्द 'णश्' धातु से नहीं बना है तो फिर किससे बना है? भोजनार्थक 'अश' धातु से अश भोजने क्रयादि १५२३' जैसे कि 'अश्नाति तच्छील:' इति आशी न आशी अनाशीतस्य अनाशिन: जो चारों प्रकार के भोजन करता है, उसे आशी कहते है। जीवात्मा स्थूल भोजन नहीं करता। भगवत् भजन ही उसका भोजन है इसलिए वह अनाशी है। क्योंकि भोजन शरीर का धर्म है, जीवात्मा का नही। यदि कहो यह व्याख्यान असंगत है, क्योंकि यहाँ भोजन रूप अर्थ प्रकरण से प्राप्त नहीं है। जैसे भोजन करते समय 'सैन्धव' शब्द से नमक के बदले अश्व रूप का उपस्थापन करना प्रकरण के विरुद्ध है। उसीप्रकार यहाँ भी। ऐसा मत बोलो। क्योंकि जीवात्मा के अणुत्व को सिद्ध करने के लिए भोजनार्थक अश धातु से ही 'णिनि प्रत्यय' और 'नञ्' समास करके अनाशिन: शब्द बनाना अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि स्थूल व्यक्ति ही चार प्रकार के भक्ष भोज्य, लेह्य चोष्य अन्न खा सकता है। अणु नहीं। श्रुति ने जीवात्मा को अणु कहा 'एष्वऽणुरात्मा' मु० उ० ३-१-९ इसप्रकार पहले ही जीवात्मा को अणु कहा जा चुका है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में 'अणु' को अत्यन्त सूक्ष्म कहा गया है। जैसे बालाग्र शत भागस्य शतधा कल्पितस्य च जीव: स

एव विज्ञेयस्ततोऽनन्तमाय कल्पते। अर्थात एक बाल के सौवें भाग के भी सौवें भाग के समान आकार वाला जीव को समझना चाहिए। वही जीव भगवान की शरणागति प्राप्त करके अन्तर्हित बन जाता है। भला एक बाल के दस हजारहवें भाग के आकार वाला जीव रोटी, दाल, चावल कैसे खा सकता है, इसलिए उसके लिए अनाशी अर्थात् अशन् रहित कहना सर्वथा उपयुक्त है। यदि कहो उसी मुण्डक श्रुति में जीव को पिप्पल फल का खाने वाला कहा गया है। त्योरन्य: पिप्पलं स्वादन्ति मु० ३-१-१ तो इसका उत्तर ये है क्योंकि वहाँ श्रुति का जीव के कर्म, फल भोग में तात्पर्य है रोटी दाल के भोजन में नहीं। यह भगवान श्री राघवेन्द्र सरकार की कृपा से अनाशिन: शब्द पर मेरे मन में स्फुरित हुआ समाधान है। अप्रेमयस्य अर्थात् जिसे पूणरूप से प्रमा का विषय नहीं बनाया जा सकता। अथवा दर्शन की दृष्टि से परमात्मा ही प्रमेय है तथा जीवात्मा प्रमाता। अत: अप्रेय का अर्थ है प्रमेय से भिन्न प्रमाता जीव। इसप्रकार उत्पत्ति विनाश रहित अपने कर्म फलों से अर्जित उत्कृष्ट निकृष्ट शरीरों से सदा सम्बद्ध एवं अणु होने के कारण स्थूल रूप से असत् अर्थात् भोजन न करता हुआ ऐसा जो प्रमेय तत्व ब्रह्म से स्वरूपत: भिन्न जीवात्मा है। उसके सम्बन्धी ये सभी देव, नर, और त्रियक शरीर नाशवान है। इसलिए हे भारत अर्थात् विवेक बुद्धि में लगे हुए अथवा भा भगवत् भक्ति अथवा प्रपत्ति में आरतपूर्ण संलग्न अर्जुन युद्धस्व इसे मेरा आदेश मानकर वर्णाश्रम धर्म का पालन करो क्योंकि तुम शरणागत होकर 'न योत्स्ये' "मैं युद्ध नहीं करूँगा ऐसा निर्णय कैसे कर बैठे। इसलिए भीष्मादि के प्रति ममत्व बुद्धि छोड़कर सम्प्रहार रूप क्रिया करो यही मेरी आज्ञा है। ।।श्री।।

संगति- यहाँ अर्जुन फिर अन्तर्जिज्ञासा करते हैं कि हे परमात्मन! जब युद्ध छिड़ेगा तो मैं युद्ध में पितामह भीष्म को मारूँगा। क्योंकि मैंने पहले ही शकुनि पुत्र उलूक के द्वारा दुर्योधन को अपनी प्रतिज्ञा से अवगत करा दिया था। यथा- हे धृतराष्ट्र पुत्र दुर्योधन तुम जिनका बल पाकर इतना बहॅक रहे हो सबसे पहले मैं उन्हीं पितामहभीष्म को सभी धनुर्धरों को देखते-देखते मार डालूँगा। म० उ० प० १६३-११।।

हे दुर्योधन तुम अधिक गर्वीले हो चुके हो इसलिए अपने समीप आये हुए अनर्थ को नहीं देख रहे हो अतएव मैं सर्वप्रथम तुम्हारे समूह में से कुरू वृद्ध तुम्हारे पितामह भीष्म को मार डालूँगा- म० उ० प० १६३-१२ कल सूर्योदय

होते-होते अपनी सेना को इकट्ठी करके रथारूढ़ होकर ध्वज सजाकर देख लेना और सत्य प्रतिज्ञा वाले उन पितामह भीष्म की रक्षा करना। मैं स्वयं स्वस्थ्य रहकर अपने बाणों से पितामह भीष्म को रथ पर से गिरा दूँगा। म० उ० प० १६३-१३॥ इस प्रकार युद्ध करने पर अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार मेरे लिए इनका वध अनिवार्य हो जायेगा, अथवा युद्ध में प्रतिपक्षी योद्धा ही मुझे मार डाले तो हमारे पुत्र, भ्राता, पत्नी आदि का क्या होगा इसलिए मुझे युद्ध नहीं करना है। इसप्रकार अर्जुन के मन में व्याप्त युद्ध कर्तृत्व और उसका कर्मत्व निराकृत करते हुए भगवान कहते हैं-

''य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौतौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ।।१९।। गी०

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- जो व्यक्ति इस आत्मा को मारने वाला अर्थात हनन किया का कर्त्ता जानता है, तथा जो इस मरने वाला अर्थात् हनन क्रिया का कर्म मानता है, वे दोनों ही ठीक से नहीं जानते क्योंकि न तो यह किसी को मारता है और न ही मारा जाता है। अर्थात् यह कभी भी हनन क्रिया का कर्त्ता बनता है और न ही कर्म।

व्याख्या- किसी कार्य को करने के लिए उद्यत व्यक्ति को किसी दूसरे कार्य में नियुक्त कर देना ही अन्वादेश है। इससे पूर्व जीवात्मा को नित्यत्त्व अणुत्व और व्यापकत्व आदि में नियुक्त करके भगवान ही तुरन्त उसे हनन क्रिया के कर्तृत्व और कर्मत्व के निराकरण में नियुक्त कर रहे हैं यही उनका जीवात्मा के प्रति अन्वादेश है। इसीलिए द्वितीय 'टौस्स्वेनः' २-४-३४ सूत्र से इदं शब्द को ऐन आदेश हुआ। इसी से जीवात्मा की अपेक्षा परमात्मा में अधिक शक्तिमत्ता द्योतित होती है। एनं अर्थात् नित्य अविनाशी और अप्रमेय इस जीवात्मा को जो व्यक्ति हन्तारं मारनेवाला हनन क्रिया का करने वाला व्यक्ति जानता है। यहाँ चकार समुच्यार्थक है, तथा जो इसे मेरे दासभूत जीवात्मा को हतं किसी के द्वारा मारा हुआ मन्यते समझता है वे दोनों ही विवेचन पूर्वक नहीं जानते क्योंकि यह जीवात्मा अणु होने के कारण न किसी को मारता है और नित्य तथा निरवयव होने के कारण नहीं मारा जाता है क्योंकि जब इसके अवयव ही नहीं है तो उन्हें नष्ट ही कौन कर सकेगा। आत्मा नित्य, अणु और व्यापक है इसलिए न तुम भीष्मादि को मारोगे और न ही तुम मारे जाओगे। अतः हर्ष शोक छोड़कर मेरी आज्ञा का पालन करो। यहाँ ध्यान रहे कि यह श्रीमद्भगवत गीता इसलिए ही नहीं श्रेष्ट है कि भगवान श्रीकृष्ण ने इन्हें

कहा। वस्तुतः इसलिए भी श्रेष्ठ है कि श्री गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने जो कुछ कहा वह सब श्रुति मूलक कहा। क्योंकि यदि भगवान भी वेद विरुद्ध कहें तो उनका वह कथन प्रमाण नहीं बन सकता। भगवान तो कभी-कभी देवताओं का कार्य करने के लिए 'छल' आदि कर करके वेद विरुद्ध कर सकते हैं जैसे बौद्धावतार में 'धम्म पद' का उपदेश और 'छल' करके 'वृन्दा' का व्रत टालना। किन्तु श्रीमद्भागवत्‌गीता में कृपालपरमात्मा ने सब कुछ वेद सम्मत कहा इसीलिए श्रीमद्‌भगवत गीता सम्पूर्ण दार्शनिक ग्रन्थों की शिरोमणि मानी जाती हैं। अतः प्रस्तुत श्लोक भी कठोपनिषद् की श्रुति का अक्षरशः अनुवाद है। जैसे कि-

''हन्ता चेन्मन्यते हन्तु हनश्चेन्मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतौनायं हन्ति न हन्यते।। क० उ० २-१९ ।।श्री।।

संगति- अब अर्जुन का प्रश्न होता है कि यदि यह नित्य जीवात्मा जन्म ले या मरे तब तो मेरा शोक अनुचित नहीं। ये भीष्मादि आगे जन्म लेकर मेरे शस्त्र प्रहार का चिन्तन करके दुःखी होंगे, इसलिए मैं इनके प्रति कैसे न शोक करूँ? अर्जुन के इस संदेह का निराकरण करते हुए भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं-

न जायते म्रियते व कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजोनित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो,
न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।२/२०

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- यह जीवात्मा न तो कभी जन्म लेता है और न कभी मरता है तथा यह न कभी होकर वर्तमान है और न ही फिर आगे होने वाला है। यह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है और पुराण है। शरीर के नष्ट किये जाने पर भी यह नष्ट नही होता।

व्याख्या- यहाँ भूत्वा अभविता इसप्रकार शंकराचार्य का किया हुआ अकार प्रश्लेष पाठ अनुचित है। अभविता शब्द का कोई अर्थ नहीं है। इसके पूर्व और उत्तर में भी अकार प्रश्लेष के सहित पाठ भी उपलब्ध नहीं है। इतना ही नहीं सबसे बड़ा आश्चर्य इस बात का है कि शाङ्कर सिद्धान्त पथ के पथिकों द्वारा जिनके चरण कमल की पूजा की गयी है ऐसे मधुसूदन सरस्वती एवं वेंकटनाथ गिरि इन दोनों ही महानुभावों ने अकार प्रश्लेष सहित पाठ दूर से ही छोड़ दिया है। इसीलिए यहाँ अकार प्रश्लेष

की कोई उपयोगिता नहीं है। यहाँ प्रथम और द्वितीय चरण में दो बार प्रयुक्त हुआ शब्द समुच्चयवाची चकार के अर्थ में है। यह मन्त्र देहात्मवाद निषेधपरक है और पूर्व मन्त्र नैयायिकों और चार्वाकों के .मत के खण्डन के लिए है। जैसे कि जो नैयायिक वैशेषिक चार्वाक पथ का अनुयायी इस जीवात्मा को अपने तर्क बल से हनन क्रिया का कर्त्ता जानता है। द्वितीय चरण में प्रयुक्त चकार चार्वाक परक है। 'चरतीति चारं चारं वाकं यस्य स चार्वाकः। अर्थात् जो बकरी की भाँति वेद सिद्धान्त को खाती है, ऐसी वाणी से सम्पन्न नास्तिक दार्शनिक को चार्वाक कहते हैं।' ऐसा श्रुति सिद्धान्तों का अतिचरण करने वाला चार्वाक इस आत्मा को देह के नष्ट होने पर नष्ट हुआ मान लेता है। वे दोनों ही विवेकपूर्वक श्रुति सिद्धान्त को नहीं समझते। यह 'विजानीतः' शब्द की प्रथम व्याख्या हुई अथवा 'वि' उपसर्ग का विशिष्टताद्वैत अर्थ है अर्थात् वे दोनों नैयायिक और चार्वाक विशिष्टाद्वैत परम्परा से श्रुति सिद्धान्त का चिन्तन नहीं करते। इसीलिए वे दोनों वेद विरुद्ध साहस करते हैं। वास्तव में यह न किसी की हिंसा करता है और न ही किसी के द्वारा हिंसित होता है। यहाँ हन्ति तथा हन्यते इन दोनों स्थलों में लट् लकार एवं क्रमशः कर्तृवाच्य तथा कर्मवाच्य का प्रयोग देखने से जीवात्मा के कर्तृत्व और कर्मत्व के निषेध का संकेत समझना चाहिए। क्योंकि स्वयं भगवान दोनों स्थलों पर नकार का प्रयोग करके जीवात्मा के कर्तृत्व और कर्मत्व का निरसन कर रहे हैं।

यदि कहें कि जीवात्मा के कर्तृत्व और कर्मत्व का निषेध कर देने पर "द्यावा भूमि जनयन्देव एकः "कर्त्तासर्वस्य लोकस्य" "विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता" अर्थात् एक ही परमात्मा ने स्वर्ग और पृथ्वी को बनाया वे सम्पूर्ण लोकों के कर्त्ता हैं तथा परमेश्वर सारे संसार के कर्त्ता एवं सम्पूर्ण भुवनों के रक्षक हैं इत्यादि श्रुति स्मृतियों का विरोध हो जायेगा तो ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि इन श्रुतियों स्मृतियों का परमेश्वर में ही तात्पर्य है और यहाँ का प्रकरण ही जीवात्मापरक है। हमने जीवात्मा और परमात्मा का भेद बारम्बार सिद्ध किया है। इस व्याख्यान से इस मन्त्र में पूर्व मन्त्र की पुनुरूक्ति हुई है। इस प्रलाप का निराकरण कर दिया गया है। जैसा कि यह जन्म नहीं लेता, यह कभी नहीं मरता, यह होकर फिर नहीं होने वाला है, यह अजन्मा है, यह नित्य है, यह शाश्वत है, यह पुराण है, यह शरीर के नष्ट किये जाते समय भी नष्ट नहीं किया जा सकता यही इसका अन्वय प्रकार है। अयं अर्थात् अयं पद का 'द्वा सुपर्णा' इस श्रुति के अनुसार मित्र होने से और साथ रहने से मेरे साथ ही इस शरीर वृक्ष का आलिङ्गन करने के कारण मुझ अन्तर्यामी का अत्यन्त

निकटवर्ती तुम सरीखे अनन्त जीवात्माओं का समूह ही इदं पदार्थ है। वह शरीर के जन्म लेने पर भी जन्म नहीं लेता। वा अर्थात् और शरीर के मरने पर भी नहीं मरता क्योंकि उसका अज होने से जन्म सम्भव नहीं तथा नित्य होने से विनाश भी असम्भव है। जन्म और मरण शरीर के होते हैं जीवात्मा तो अणु और निरवयव होने के कारण जन्म और मृत्यु से सर्वथा परे है। अब शंका होती है कि आत्मा जन्म मृत्यु से दूर है तो फिर श्रुतियों और स्मृतियों में जीवों के जन्म मरण की कैसे चर्चा आयी। जैसा कि तै० उ० ३/१ में श्रुति कहती है 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' अर्थात् जिससे भूतों का जन्म होता है जिसके द्वारा वे जीते है और जिसमें विलीन होते हैं वही ब्रह्म है उसी की जिज्ञासा करो। इसीप्रकार गीता १४/२ में भगवान कहते हैं कि इस ज्ञान को प्राप्त करके मेरी समान धर्मता प्राप्त किये हुए महानुभाव न तो सृष्टि के समय जन्म लेते है और न प्रलय के समय व्यथित होते हैं गीता ६/४५ में भगवान कहते है कि योगी अनेक जन्मों के अभ्यास से सिद्ध होकर अनन्तर परम गति प्राप्त करता है। इसप्रकार जन्म मरण सिद्ध करने वाली इन श्रुतियों और स्मृतियों के विरोध का कैसे परिहार होगा?

उत्तर- ऐसा नहीं है क्योंकि तुम्हारे द्वारा उदाहृत श्रुतियों, और स्मृतियों का देहावच्छिन्न चेतन के जन्म मरण के समर्थन में तात्पर्य है, और न जायते म्रियते निषेध देह धर्म से अतीत विशुद्ध जीवात्मा के जन्म मरण के निषेध में अपना तात्पर्य रखता है। 'मृङ्' धातु का प्राण त्याग अर्थ है। 'मृङ् प्राण त्यागे' तुदादि धातु संख्या १४०३ प्राण त्याग देहावच्छिन्न चैतन्य में ही सम्भव है जीवात्मा में नहीं क्योंकि प्राण आदि जीवात्मा के धर्म नहीं हैं। जीवात्मा के प्राण तो भगवान ही हैं जो अविनाभूत सम्बन्ध से उसके साथ रहते ही हैं। अब अर्जुन की अन्तर्जिज्ञासा होती है कि, हे अन्तर्यामी द्वारकाधीश प्रभो! जीवात्मा भले ही गर्भवास की अपेक्षा करके न जन्म ले भले ही वह न मरे परन्तु आकाश की भाँति परमात्मा से जीवात्मा का जन्म हो और प्रलय में वह आकाश की भाँति ही परमात्मा में लीन हो जाय क्या आपत्ति है। अर्जुन की अन्तर्जिज्ञासा को समझकर सर्वज्ञ शिरोमणि परमात्मा श्रीकृष्ण कहते हैं नायं भूत्वा। अयं अर्थात् यह जीवात्मा न भूत्वा अर्थात् पूर्वकाल में जन्म लेकर स्थित नहीं है क्योंकि उसने कदाचित अर्थात् किसी काल में किसी देश में तथा किसी व्यक्ति में जन्म लिया ही नहीं और भविष्यत अनद्यतन में अर्थात् आज के पश्चात भविष्यतकाल में किसी भी समय किसी भी देश तथा किसी भी व्यक्ति में यह फिर से जन्म लेगा भी नहीं। इन्हीं सिद्धान्तों को अगले चरण के चार विशेषणों

से दृढ़ कर रहे हैं। 'अजः' अर्थात् अजन्मा होने से इसका कहीं भी जन्म लेना सम्भव नहीं है अथवा श्रुति अकार को भगवान वासुदेव का पर्यायवाची मानती है। 'अकारो वै सर्वावाक वाग् वै ब्रह्म' इन श्रुतियों में अकार को सम्पूर्ण वाणी का मूल और वाणी को ही ब्रह्म कहा गया है। गीता जी में भी भगवान ने 'अकार' को ही अपनी विभूति मानी। उस 'अ' अर्थात् मुझसे अभिन्न वासुदेव से ज अर्थात् संसार कर्मयोग के लिए यह जीवात्मा संसार में आया 'आद् अजायत इति अजः।' इसी लिए भगवती श्रुति कहती है हे अमृत परमात्मा के पुत्रों सुनो और गीता १५/७ में भगवान जीवात्मा को अपना सनातन अंश मानते हैं।

'ममैवांशो जीव लोके जीवभूतः सनातनः'

अर्थात् यह जीव मेरा ही सनातन अंश है। मुझसे प्रथम जन्म लेकर यह संसार में कहीं जन्म नहीं लेता वहाँ तो शरीर ही जन्म लेते हैं, उनमें यह प्रवेश भर करता है। क्योंकि भाई-भाई में उत्पन्न नहीं होता। यह नित्य अर्थात् विनाश से वर्जित है इसीलिए नहीं मरता। शाश्वत अर्थात् निरन्तर स्थित रहता है इसीलिए 'नायं भूत्वा' पूर्व में भी यह कहीं होकर नहीं आया। यह पुराण अर्थात् पहले भी नया था 'पुरापि नवः' इति पुराणः इसलिए भविष्यति काल में भी यह कहीं जन्म नहीं लेगा क्योंकि जीर्ण होकर ही व्यक्ति फिर जन्म लेता है। 'वासांसि जीर्णानि' यह आगे कहेंगे। तो फिर बालक क्यों मरता है और जन्म लिए बिना ही गर्भस्थ शिशु मर जाता है जबकि उनके शरीर में अभी जीर्णता नहीं आयी ऐसा मत कहो? वहाँ अवस्था के द्वारा लायी हुई जीर्णता से अभिप्राय नहीं है तो फिर कैसी वहाँ प्रारब्ध कृत जीर्णता से तात्पर्य है जिसके कर्म जितनी जल्दी परिपक्व होते हैं वह उतनी ही शीघ्र जीर्ण हो जाता है कर्म फल कब पक्व होंगे, यह कहना बहुत कठिन है क्योंकि उनका परिपाक नियत नहीं होता यही तो कर्मफल की विचित्रता है। अब चतुर्थ चरण में निष्कर्ष कहते हैं न हन्यते अर्थात् शरीर के नष्ट होने पर जीवात्मा नष्ट नहीं होता इसलिए भीष्मादि के शरीरों के नष्ट होने पर भी उनकी आत्माओं का नाश नहीं होगा, इसलिए उनके विषय में शोक मोह करना अनुचित है, यही भगवान का अभिप्राय है। यह मंत्र भी थोड़ी सी आनुपूर्वी को परिवर्तित करके कठोपनिषद् रूप गाय से गोपालनन्दन कृष्ण ने दूध की भाँति दुहा जैसे-

न जायते म्रियते वा विपश्चि-
न्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे।। क० उ० २/१८।।

इससे जीवात्मा की निर्विकारता सिद्ध हुई। इतना ही नहीं इस श्लोक से आत्मा के छओ विकार निषिद्ध हुए। यास्क ने प्राणियों के छः विकार कहे हैं, जन्म लेना, स्थिर रहना, बढ़ना, घटना बदलना और नष्ट हो जाना। यहाँ प्रथम चरण से जन्म मृत्यु का निषेध और तृतीय चरण के चार विशेषणों से चारों विकारों का अभाव कहा गया, अज होने से अस्तित्व का नित्य होने से अपक्षय का शाश्वत होने से वृद्धि तथा पुराण होने से परिणाम का निषेध कहा गया। ।।श्री।।

संगति- इस श्लोक की तीन प्रकार से संगति की जा सकती है।

१- इसप्रकार पूर्वोक्त दस श्लोकों से 'दशमस्त्वमसि' मंत्र का शक्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ कहा गया है इसको सुनकर बुद्धिमान व्यक्ति स्वतः देहात्मवाद को छोड़कर परमार्थ का चिन्तन करने लगता और शोक मोह छोड़ दो। इसी अभिप्राय का उपसंहार करते हुए भगवान कहते हैं।

२- अथवा पूर्वोक्त दस श्लोकों से आत्म तत्व और अनात्म पदार्थों के सिद्धान्तों को सुनकर अर्जुन स्वयं जिज्ञासा करते हैं कि यदि आत्मा निर्विकार व्यापक अणु और चेतन है तो फिर मैं भीष्म आदि को क्यों मारूँ और भीष्म आदि हनन व्यापारमय युद्ध में भगवान हमें क्यों लगा रहे हैं? अर्जुन की इसी जिज्ञासा का समाधान करते हुए अकारण करुणा वरूणालय भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं वेद इत्यादि।

३- अथवा इसके पहले अर्जुन ने सात बार हनन कर्तृत्व का अभिमान प्रदर्शित किया जैसे- न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे गीता १/३१ एतान्न हन्तुमिच्छामि गीता १/३५ निहत्य धार्तराष्ट्रन् नः गीता १/३६ तस्मान्नार्हा वयं हन्तुम गीता १/३७ स्वजनं हि कथं हत्वा गीता १/३७ हन्तुं स्वजन मुद्यताः गीता १/४५ गुरुन हत्वा गीता २/५ इसप्रकार अर्जुन द्वारा सात बार प्रदर्शित किये हुए हनन कर्तृत्व अभिमान को देखकर उसे स्वयं शान्त करते हुए भगवान कहते हैं वेदेत्यादि। इसप्रकार तीन संगतियां हुई-

वेदा विनाशिनं नित्यं य एनमजयव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्तिकम् ।। ।।२/२१ गीता।।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! जो इस जीवात्मा को अविनाशी नित्य, अजन्मा और अव्यय जानता है वह पुरुष कैसे किसी को मरवायेगा और कैसे किसी को मारेगा। यहाँ वर्तमान सभी भविष्यतकाल में वैकल्पिक वर्तमान का प्रयोग हुआ है।

व्याख्या- पार्थ सम्बोधन का अभिप्राय यह है कि– तुम पृथा के पुत्र हो जो मेरी परम भक्त है, अत: तुम सामान्य नहीं हो तुममें सभी अप्राकृत गुण हैं, तुम्हारी क्या बात एक साधारण मानव भी यदि परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की कृपा से अविनाशी अरे अयमात्मा इस श्रुति से समर्थित अविनाशितु तद् विद्धि: गीता २/१७ इस मेरे उपदेश से इस जीवात्मा को अविनाशी अर्थात् नाश धर्म रहित जान लेता है, तथा नित्योनित्यानां इस श्रुति और नित्यस्योक्ता: शरीरिण: इस स्मृति के आधार पर जो इसकी नित्यता का निश्चय करके इसे ध्वंस रहित समझता है, तथा न जायते इस श्रुति और इसी स्मृति के अनुरोध से जीवात्मा को अजन्मा मानता है, एवं 'शाश्वतोऽयं पुराण:' इस श्रुति वचन से तथा 'अव्ययश्चास्य इस स्मार्त वचन से जो इसे अव्यय अर्थात् सदैव एक रस में रहने वाला वृद्धि और ह्रास से रहित उपचय अपचय धर्म से वर्जित समझता है 'स: पुरुष:' वह पूर्ण पुरुष 'कथं' किस प्रकार से 'कं' किसी को घातयति मरवायेगा और कं हन्ति कैसे किसी को मारेगा। यहाँ 'कथं' शब्द की आवृत्ति की जायेगी एक का अन्वय घातयति के साथ और दूसरे का अन्वय हन्ति के साथ होगा। 'कं' शब्द दोनों स्थलों पर कश्चित के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है अथवा विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरयोंलोऽपोवक्तव्य: इस वार्तिक से दोनों स्थलों में 'चित् प्रत्यय' का लोप हुआ है। दोनों वर्तमानकालिक क्रियाओं में 'वर्तमान सामीप्ये वर्तमानवद्वा' ३/३/१३१ सूत्र से वर्तमानकाल के समीप भविष्यतकाल में वर्तमान का प्रयोग हुआ है। इसप्रकार सिका वाक्यार्थ अब यों होगा 'स: पुरुष: कश्चित् कथं घातयिष्यति कश्चित कथं हनिश्यति अर्थात् जीवात्मा को अविनाशी अजन्मा और अव्यय समझने वाला वह पुरुष कैसे किसी को मारने के लिए प्रेरित करेगा और कैसे किसी को स्वयं मारेगा। क्योंकि नाशरहित नित्य, अजन्मा तथा वृद्ध क्षय रहित जीवात्मा कामारना या मरवाना दोनों ही असम्भव है इसलिए यहाँ दोनों क्रियायें निरर्थक सिद्ध होंगी। अत: न तो मैं तुम्हें भीष्म आदि के वध के लिए प्रेरित कर रहा हूँ और न ही तुम इनका वध कर रहे हो मैं तुम्हें केवल युद्ध रूप स्वधर्म का पालन करने की आज्ञा दे रहा हूँ। तुम केवल मेरी आज्ञा का पालन करो क्योंकि द्रौपदी के केश कर्षण के समय ही ये मेरे द्वारा मारे जा चुके है- 'मयैवैते निहता:

पूर्वमेव' गीता ११/३३ अत: अपने द्वारा मारे हुए भीष्मादि को तुमसे क्यों मरवाऊँगा और मेरे द्वारा मारे हुए इन लोगों को तुम क्यों मारोगे तुम निमित्त मात्र बन रहे हो। इसप्रकार मेरे मन में यहाँ भगवान का अभिप्राय स्फुरित हुआ है। ।।श्री।।

संगति- इस श्लोक की दो प्रकार से संगति लगायी जा सकती है।

१- यहाँ अर्जुन की अन्तर्जिज्ञासा होती है कि अविनाशी आत्मा में मरवाना और मारना सम्भव नहीं है तो फिर इसके जन्ममरण कैसे देखे जाते हैं और इस जीवात्मा में जन्म और मरण ये दोनों व्यवहार सिद्ध कैसे होते हैं? अर्जुन की इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए भगवान मधुसूदन जीर्ण वस्त्र के दृष्टान्त से अगला श्लोक प्रस्तुत करते हैं। अथवा भगवान स्वयं ही अर्जुन के शोक और मोह को निरर्थक सिद्ध करने के लिए जीर्ण वस्त्र का दृष्टान्त देते हैं, अर्थात् ये भीष्म, द्रोण कृपाचार्य आदि शोचनीय नहीं है। आजन्म धर्म पालन करते हुए प्रारब्ध से निर्मित भोगों के आयतन रूप भीष्मादि के शरीर वृद्धावस्था से बहुत जीर्ण हो चुके हैं। इन शरीरों के रहते ये महानुभाव स्वर्ग नहीं जा सकते क्योंकि मृत्युलोक के शरीर स्वर्ग सुख भोग में बाधक बनते हैं, इसलिए तुम्हारे शस्त्रों से अपने जीर्ण शरीर को छोड़कर भीष्म आदि सुखपूर्वक स्वर्ग का भोग करेंगे इसीप्रकार दुर्योधन आदि इतना पाप कर चुके है कि वे स्वर्ग जा ही नहीं सकते। अत: तुम्हारे आयुधों से पवित्र होकर जीर्ण वस्त्रों की भाँति अपने पुराने घिनौने शरीरों को छोड़कर सुखपूर्वक स्वर्गभोग करेंगे इसप्रकार तुम्हारे युद्ध से भीष्मादि पुण्यआत्माओं तथा दुर्योधन आदि पापात्माओं इन दोनों का ही परम उपकार होगा। इसी बात को इस श्लोक को वस्त्र के उपमान से स्पष्ट करते हैं।

''वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ।।२/२२ गीता।।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! जिस प्रकार मनुष्य पहने हुए अयोग्य फटे पुराने वस्त्रों को छोड़कर दूसरे नये वस्त्रों को धारण कर लेता है उसी प्रकार यह जीवात्मा प्रारब्ध के क्षीण हो जाने पर जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि जैसे अनेक निमित्तों से जीर्ण हुए शरीरों को निर्मम भाव से सुखपूर्वक छोड़कर पूर्व शरीरों

से विलक्षण कर्म फल भोग के लिए परमात्मा की माया द्वारा सद्योनिर्मित देवता मनुष्य तिर्यक योनि सम्बन्धी उत्तम, मध्यम, निकृष्ट शरीर को प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या- यह श्लोक इन्द्र बज्रा उपेन्द्रवज्रा के लक्षणों का मिश्रण होने के कारण 'उपजाति' वृत्त है वासस शब्द वस्त्र का पर्यायवाची है। बहुवचन का तात्पर्य है उत्तम, मध्यम, निकृष्ट वस्त्रों से। जीर्णानि जो पहनने के योग्य नहीं है या किसी कारण से फट गये है। 'नर: नरमते इति नर:' अर्थात् आत्मतत्व वेत्ता मुमुक्षु जीवात्मा, उपमान पक्ष में और संस्कारवान मानव अर्थात्- जैसे शिष्ट मनुष्य फटे पुराने चिथड़े कपड़ों को बिना किसी ममता के सहर्ष छोड़कर, अपने द्वारा खरीदे हुए नये कपड़ों को धारण कर लेता है, उसीप्रकार यह जीवात्मा क्षीण प्रारब्ध वाले जन्म मृत्यु, जरा, व्याधिग्रस्त जीर्ण शरीरों को छोड़कर, नये अर्थात् भगवत् कैंकर्य के उपयोगी देवरूप, नर रूप, तिर्यक रूप शरीरों को प्राप्त करता है। देवताओं में ब्रह्मा, शंकर, इन्द्र, कुबेर आदि भगवत् परायण देवताओं के दिव्य शरीर मनुष्यों में दशरथ कौशल्या, वसुदेव-देवकी निषाद शबरी ब्रंजगोप, ब्रजांगना, कलियुग के भी श्रीमदाद्यरामानन्दाचार्य, श्री तुलसीदास जी आदि, परम भागवत महानुभावों के भगवत् कैंकर्य उपयोगी दिव्य शरीर और तिर्यक में गजेन्द्र, जटायु श्री हनुमान अट्ठारह पद्म यूथपति वानर श्री ब्रज के बछड़े और नन्दराम की नौ लाख गायें। ऐसे भगवदीय शरीरों को जीवात्मा संजाति अत: प्रसन्नता से प्राप्त कर लेता है। इसी श्लोक से भागवत १०/२२ में वर्णित गोपी वस्त्र हरण लीला की व्याख्या भी कर ली गयी। यमुना तट पर उतारे हुए ब्रजाङ्गनाओं के वस्त्र लेकर भगवान कदम्ब पर चढ़ जाते है। ये वस्तुत: शरीर के उपमान है अर्थात् भगवान ने गोपियों के मायामय शरीर को जो सर्वथा मायामय होने से रासलीला से अनुपयुक्त थे तथा पाञ्चभौतिक होने से उनका अनन्तकाल पर्यन्त निर्विकार रूप से स्थिर रहना सम्भव न था। अत: भगवान ने अपने कर कमल के स्पर्श से रासलीला में बाधक सभी दुर्गुणों को दूर कर उन्हें नया अर्थात् अनन्तकालीन रासलीला के लिए उपयोगी और अपने अलौकिक स्पर्श के योग्य बना दिया। इसलिए भगवान शुकाचार्य जी ने गीता जी के शब्दावली का प्रयोग करके कहा 'वासांसि ताभ्य: प्रायच्छत्' गिरिधर प्रेम दीवानी मतवाली मीरा ने तो इस लीला को श्याम सुन्दर द्वारा अपने पंचरंगी चुनरी के रंगे जाने का संकेत माना।

'श्याम पिया मोरी रंग दे चुनरिया' आश्चर्य यही है कि श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्द के बाइसवें अध्याय में मात्र बाइस श्लोकों में ही भगवान शुकाचार्य ने गोपी वस्त्राहरण

लीला का वर्णन किया जैसे वे गीता २/२२ की स्पष्ट व्याख्या कर रहें हों। इसीलिए गीता जी में प्रयुक्त वासांसि शब्द का जो कि बाइसवें श्लोक में ही प्रस्तुत हुआ था का इस बाइसवें अध्याय में बार-बार प्रयोग किया जैसे १- तासां वासांस्यु पादाय २- देहि वासांसि धर्मज्ञ ३- स्कन्धेनिधाय वासांसि ४- स्वम् - स्वम् वास: प्रतीक्ष्यताम ।।श्री।।

संगति- अब तीन श्लोकों से जीवात्मा के छेदकत्व, छेद्यत्व और छेदन क्रिया के निराकरण के बहाने जीवात्मा के कर्तृत्व, कर्मत्व, और कर्णत्व को निराकृत करने का उपक्रम करते हैं। उनमें सबसे पहले जीवात्मा के कर्मत्व का निषेध कर रहे हैं।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावक:।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत:।। गीता- २/२३

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! इस जीवात्मा को शस्त्र काटकर अलग नहीं करते। इसे अग्नि नहीं जलाता, और इसे समुद्र, नदी, तालाब और प्रलय मेघ के जल भी गीला नहीं करते। इसे वायु नहीं सुखाता।

व्याख्या- हे पार्थ! तुम्हारे गाण्डीव से छूटे हुए बाण भीष्म आदि को कष्ट देंगे ऐसा भी नहीं है, क्योंकि यह आत्मतत्व पृथ्वी तत्व से ऊपर है। अत: पार्थिव शस्त्र इसे काटकर टुकड़े-टुकड़े नहीं कर सकते। यह जीवात्मा अग्नि से भी परे और उससे भी पावन इसमें कोई मल नहीं है। इन सारे संसार को पवित्र करने वाला पावक, अर्थात् अग्नि इसे जला नहीं सकता। यहाँ आप: मे बहुवचन जलबिन्दुओं के अभिप्राय से है अथवा आधार भेद से यहाँ बहुवचन है। अर्थात् सागर, नदी, तालाब, कूप, और प्रलयमेघ के जल भी इसे गीला नहीं कर सकते। क्योंकि यह सच्चिदानन्द घन है। मरूत एव मारुत: मरुत को ही मारूत कहते है जिसके बिना या जिसके बढ़ जाने पर प्राणी की मृत्यु हो जाती है उसे मारूत कहते है ऐसा महा पवन भी इसे नीरस नहीं कर पाता, क्योंकि यह जीवात्मा परमेश्वर की भक्ति से पूर्ण होने के कारण परमानन्द महासागर हो चुका है इसे छोटा सा वायु कैसे सुखा सकता है। यहाँ चारों चरणों में पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु इन चारों महाभूतों की प्रतिक्रिया से जीवात्मा को परे दिखाकर उसे चारों भूतों से श्रेष्ठ सिद्ध किया गया परन्तु आकाश का नाम नहीं लिया गया, क्योंकि उसमें कोई प्रतिक्रिया ही नहीं होती इस श्लोक में छिन्दन्ति, दहति, क्लेदयन्ति, और शोषयति इन चारों क्रियाओं में शक्यार्थ में लिङ्

लकार 'शकि लिङ् च ३/३/१७२ हुआ और व्यत्तययो बहुलम्' से लट् लकार प्रथम पुरुष का व्यत्यय हो गया- ३/१/८५ अर्थात् अब इसी श्लोक की वाक्य योजना इसप्रकार होगी। इस जीवात्मा को पार्थिव शरीर नहीं काट सकते इसे अग्नि भस्म नहीं कर सकता, इसे जल आर्द्र नहीं कर सकता और इसे वायु नहीं सुखा सकता। ॥श्री॥

संगति- इसप्रकार पूर्व श्लोक में छेदन, दहन, क्लेदन, और शोषण के कर्त्ता पृथ्वी, तेज, जल, वायु में असामर्थ्य कहकर अग्रिम श्लोक में जीवात्मा में इन क्रियाओं की कर्मता का निषेध करते हैं-

अच्छेद्योऽयम दाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः गीता २/२४

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- यह जीवात्मा नित्य होने के कारण पर्थिव शस्त्रों से काटा नहीं जा सकता। सर्वव्यापी तथा अवयवहीन होने से अग्नि द्वारा भस्म नहीं किया जा सकता। स्थाणु अर्थात् खम्भे के समान कठोर होने के कारण जल द्वारा इसे गीला नहीं किया जा सकता अचल आनन्द रस राशि होने के कारण यह वायु द्वारा सुखाया नहीं जा सकता और सनातन निरन्तर विद्यमान रहने के कारण इसे आकाश द्वारा अपने में छिपाया भी नहीं जा सकता। यह नित्य है सर्वव्यापक है स्थिर है और अचाल्य तथा सनातन है।

व्याख्या- यहाँ पूर्व श्लोक के कर्तृवाचक शब्दों को इस श्लोक में षष्ठी विपरिणाम करके अनुवृत्ति कर लेना चाहिए और चारों धातुओं से 'शकि लिङ' च ३/३/१७२ सूत्र से शक्यार्थ में णत् प्रत्यय होगा। अर्थात् यह शस्त्रों का छेद्य नहीं है, यह पावक का दाह्य नहीं नहीं वारि का क्लेदय पवन का नहीं शोष्य सम्बाह्य नहीं। पूर्वार्ध में कर्मता का निषेध और उत्तरार्ध में हेतु गर्म पाँच विशेषण दिये गये हैं। जीवात्मा नित्य अर्थात् उत्पत्ति विनाश रहित है इसीलिए पार्थिव शस्त्र उसे काट नहीं सकते। अब शंका होती है कि नैयायिक परमाणु रूप में पृथ्वी का नित्य मानते है "नित्या परमाणुरूपा तो फिर जीवात्मा कैसे नित्य हुआ?

उत्तर- इसका उत्तर यह हुआ कि "श्रुति नित्योनित्यानां" इस मंत्र में जीवात्मा परमात्मा की ही नित्यता कहती है, अर्थात् नित्य जीवात्माओं के बीच में एक मात्र परमात्मा नित्य हैं। श्रुति के बहुआर्थिक होने से आकार का प्रश्लेष मान लेना चाहिए,

अर्थात "अनित्यानां पार्थिव जलीय तैजस् वायवीयानां" अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज और वायु के परमाणुओं की अपेक्षा जीवात्मा नित्य है। यदि कहो कि इस अर्थ में क्या प्रमाण है? तो हम कहते हैं कि श्रुति ही इसमें परम प्रमाण है। श्रुति कहती कि इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, और आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, जो जो उत्पन्न होता है वह अनित्य ही होता है। यदि कहो तब तो जीवात्मा भी अनित्य हो जायेगा हो जाय, परमात्मा की अपेक्षा जीवात्मा की अनित्यता में कोई आपत्ति नहीं। सर्वगत: आत्मा सर्वव्यापी है, क्योंकि इसकी निष्पत्ति "सातत्य गमनार्थक 'अत्' धातु से हुई है। यह स्थाणु की भाँति कठोर घनीभूत है "इसलिए जल इसे गीला नहीं कर पाता। यह भगवान के आनन्द सुधा सागर के प्रचुर रस राशि को अपने में समाहित कर लिए है, अत: सागर की भाँति अचल इसलिए मारुत इसे नहीं सुखा सकता। पूर्वार्ध में 'एव च' कहकर आकाश का भी संग्रह कर लिया गया है। अत: यहाँ सनातन शब्द से आकाश का भी व्यवच्छेद है 'सना' शब्द सदा शब्द का पर्यायवाची है सदा भवा सनातन: इस विग्रह में "पाणिनीय अष्टाध्यायी ४/१/२३ से 'ट्यु' प्रत्यय 'टुट' का आगम और ७/१/१ से यु को अनादेश होकर सनातन शब्द बनता है। अर्थात् जो निरन्तर रहता है उसे सनातन कहते हैं। आकाश निरन्तर नहीं रहता, आकाश आत्मा से उत्पन्न हुआ है इसलिए यह सनातन आत्मा आकाश द्वारा अवकाशित नहीं होता।

पंच महाभूतों से परे है यह आत्म तत्व
इसको सताती नहीं कभी विश्व विपदा,
सीताराम प्रेम रस मग्न यह एक रस
इसको न ललचाती लोभ लघु सम्पदा।
अच्छेद्य अदाह्य ये अक्लेद्य औ अशोष्य नित्य
आकाश का जन्मदाता अनाकाश्य सर्वदा,
परम विलक्षण अलक्षण सुलक्षण है
रामभद्राचार्य चित्त चिन्तनीय है सदा। ।।श्री।।

संगति- इसप्रकार जीवात्मा की नित्यत्व से अच्छेद्यता सर्वगता से अदाह्यता, स्थाणुत्व से अक्लेद्यता, अचलत्व से अशोष्यता तथा सनातनत्व से अनवकाश्यता कहकर उसकी पांचों भूतों से विलक्षणता तथा श्रेष्ठता का प्रतिपादन करके भगवान श्रीकृष्ण अग्रिम श्लोक में जीवात्मा की मन वाणी शरीर से अगोचरता सिद्ध कर रहे हैं।

अव्यक्तोऽयम चिन्त्योऽयम विकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२/२५ गीता॥

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! यह जीवात्मा श्रुतियों तथा मेरे द्वारा भी वाणी की अभिव्यक्ति से परे तथा मन के चिन्तन से अत्यन्त दूर एवं किसी भी शरीर से अविकार्य अर्थात् विकृत करने में अशक्य है। इसलिए जीवात्मा को इस प्रकार पंचभूतों तथा मन वाणी से परे समझकर इसके प्रति तुम निरन्तर शोक करने के योग्य नहीं हो। अतः तुम्हारे लिए जीवात्मा के प्रति शोक करना उचित नहीं है।

व्याख्या- वाणी कर्मेन्द्रिय और जड़ है तथा जीवात्मा विशुद्ध ज्ञानाघन चिन्मय स्वरूप है। अतः वाणी से यह व्यक्त नहीं किया जा सकता। मन चंचल है "चंचलं हि मनः कृष्णः" गीता ६/३४ और जीवात्मा अचल है अचलोऽयं सनातनः गीता २/२४ इसलिए चंचल मन से अचल जीवात्मा का चिन्तन नहीं किया जा सकता। अतः कहते हैं 'अचिन्त्योऽयं' यह नित्य है अवयव रहित है। पहले ही इसे पंचभूतों से परे कहा जा चुका है। इसलिए कोई पंचभूतमय शरीर इसे विकृत नहीं कर सकता। तुम अद्वितीय धनुर्धर होकर भी अपने किसी भी दिव्यास्त्र से इसे लक्ष नहीं बना सकते चाहे आग्नेयास्त्र हो या वारुणास्त्र चाहे नारायणास्त्र हो या पाशुपतास्त्र, यहाँ सब निष्फल हो जाते हैं, इसलिए इस प्रकार समझकर शोक मत करो, यदि यह जीवात्मा मन वाणी शरीर से परे है तो इसे जानता कौन है, इस पर कहते हैं 'उच्यते' मेरी श्वासभूता श्रुतियां कहती है और मैं भी कहता हूँ जैसे- अभी-अभी चौदह श्लोकों में मैंने इसका महात्म्य कहा और केनश्रुति भी कहती है वहाँ नेत्र नहीं जाता तथा वहाँ वाणी तथा मन भी नहीं जाते। हम नहीं समझते और द्विवचन करके भी नहीं जान सकते उसका कैसे उपदेश किया जाय। यदि कहो कि यह श्रुति ब्रह्म उपदेशपरक होने से जीवात्मा के विषय में प्रमाण नहीं बन सकती तो इसका उत्तर है कि श्रुति यहाँ तन्त्र से परमात्मा तथा जीवात्मा दोनों का व्याख्यान कर देगी। श्रुति एक कुलांगना वधू है परमात्मा इसके पति और जीवात्मा इसका पुत्र। किसी भी कुलवती महिला के लिए पति और पुत्र दोनों प्रिय होते हैं, वह पति और पुत्र में से एक के बिना भी नहीं शोभित होती, वह पति से सधवा और पुत्र से अवन्ध्या होती है। दोनों पर उसका सौभाग्य निर्भर होता है, पति उसका मधुर प्रेम का पात्र है और पुत्र वात्सल्य का। इसीलिए यह श्रुति जीवात्मा और परमात्मा दोनों का साथ प्रतिपादन करेगी। अतः तुम इसप्रकार समझकर इसके प्रति शोक मत करो ॥श्री॥

संगति- अब तीन श्लोकों से अभ्युपगमवाद् अर्थात् अर्ध सत्य का अवलम्बन लेकर भगवान अर्जुन के शोक को अनुचित बता रहे हैं। देहात्मवाद की दृष्टि से भी तुम्हारा शोक अनुचित है, इसी तथ्य को भगवान तीन श्लोकों में स्पष्ट कर रहे हैं।

"अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ।।२६।।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन। यदि देहात्मवाद की दृष्टि से तुम इस जीवात्मा को निरन्तर जन्म लेने वाला, और निरन्तर मरने वाला मानते हो, फिर भी हे महाबाहो! तुम इस प्रकार शोक करने योग्य नहीं हो, अर्थात् तुम्हें इसप्रकार साधारण मनुष्य की भाँति शोक नहीं करना चाहिए।

व्याख्या- यहाँ अथ और च ये दोनों निपात अव्यय पक्षान्तर के सूचक हैं। आशय यह है कि यद्यपि जीवात्मा और परमात्मा की नित्यता वेद सम्मत है, और यह प्रत्यगात्मा पांच महाभूत तथा मनवाणी शरीर से भी परे है, यह भी श्रुति के द्वारा सिद्धान्तित कर दिया गया है। फिर भी यदि तुम अवैदिक चार्वाकादि नास्तिक पक्ष को स्वीकार कर इस जीवात्मा को 'नित्यजातं' निरन्तर जन्म लेने वाला और नित्य मरणशील मानते हो, तो भी अर्थात् इस अवैदिक पक्ष के स्वीकार कर लेने पर भी तुम्हें इसप्रकार गाण्डिव धनुष और बाण फेंककर शोक नहीं करना चाहिए। क्यों? इस पर कहते है "महाबाहो महान्तौ बाहू यस्य स महाबाहुः तत् सम्बुद्धौ हे महाबाहो" आशय यह है कि जिसके बाहु महान् होते है, उसीको सम्बोधन में महाबाहु कहा जाता है। बाहु शब्द लोक और परलोक का प्रतीक है, तुम्हारे बाहु महान हैं, क्योंकि इन लोक परलोक रूप में तुम्हारे बाहुओं को मैंने पकड़ रक्खा है। इन्हें कोई शत्रु नहीं काट सकता, फिर साधारण मनुष्य की भाँति क्यों शोक कर रहे हो। 'नित्यजातं' शब्द में जात पद भाव में क्त प्रत्ययान्त होकर 'अर्श' आद्यजन्त है, उसका 'नित्यं' इस क्रिया विशेषण के साथ "सुप् सुपा" समास हुआ, अर्थात् देहात्मावाद पक्ष में भी जीवात्मा के प्रति शोक नहीं करना चाहिये। क्योंकि जीव के जन्म और मरण अनिवार्य सत्य हैं।।श्री।।

संगति- जन्म और मृत्यु अनिवार्य सत्य है, जिसने जन्म ग्रहण किया है वह मरेगा। और जो मरा है वह जन्म लेगा, यह संसार का निश्चित नियम है, उस विषय में तुम्हारे शोक करने से क्या होगा, इसी विषय को भगवान अगले श्लोक में

कहते हैं।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ।।२७।।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- क्योंकि जिसने जन्म लिया है, उसकी मृत्यु निश्चित है, और जो मर चुका है उसका जन्म भी ध्रुव सत्य है, इसीलिए इस अनिवार्य सत्य में तुम्हें इसप्रकार शोक नहीं करना चाहिए।।

व्याख्या- यहाँ 'हि' निपात हेत्वर्थक है, जन्म लेने वाले का मरण ध्रुव अर्थात् निश्चित है, वह किसी के द्वारा लांघा नहीं जा सकता, प्रत्येक प्राणी को सातों दिनों में किसी न किसी दिन मरना ही पड़ता है, उसके लिए आठवाँ दिन नहीं आता। उसीप्रकार 'मृतस्य' अर्थात् जिसके प्राण छूट गये है, उसका जन्म अर्थात् प्रादुर्भाव निश्चित है, वह बिना जन्म लिये नहीं रह सकता। इसीलिए 'अपरिहार्ये' अर्थात जिस सत्य का कोई विकल्प नहीं है, ऐसे जीव के जन्म-मरण रूप ध्रुव सत्य के सम्बन्ध में भीष्मादि के प्रति तुम इसप्रकार शोक मत करो। क्योंकि तुम जन्म मरण से रहित विशुद्ध जीवात्मा हो। क्योंकि यदि सर्व समर्थ परमेश्वर होकर भी मैं भगवान श्रीकृष्ण, जीव के इन जन्म-मरण रूप सत्यों को नहीं टाल पाता, तो फिर उस सम्बन्ध में तुम्हारे शोक करने से क्या लाभ होगा। अतः जीव के जन्म-मरण के सम्बन्ध में तुम्हारा शोक निरर्थक है।।श्री।।

संगति- अर्जुन अन्तर प्रश्न करते हैं, हे प्रभो! जीव के जन्म-मृत्यु भी अपरिहार्यता रहे, इसमें कोई आपत्ति नहीं। किन्तु जिन भीष्म आदि पूज्य महानुभावों के चरणों में पहले मैंने पूजा के पुष्प चढ़ाये थे, उन पर तीखे बाणों का कैसे प्रयोग करूँ, इसीलिए शोक कर रहा हूँ। अर्जुन के इसी शोक बीज का समूल उच्छेद करते हुए, प्रणतशोकहारी श्री हरि कहते हैं-

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ।।२८।।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे भरतवंशी अर्जुन! ये देहविशिष्ट प्राणी जन्म से पहले भी अव्यक्त होते हैं, अर्थात् जन्म से पहले इनका कोई नाम या रूप नहीं होता, जिनका मध्य व्यक्त होता है, अर्थात् जिनकी जन्मानन्तरीय अवस्था में ही

नामरूपात्मक सम्बन्ध दिखाई पड़ते हैं। पुनः जिनका निधन अर्थात् मरण के पश्चात आने वाली अवस्था अव्यक्त ही रहती है, अर्थात् जिनकी जन्म की पूर्वावस्था और मरण की पश्चात अवस्था अव्यक्त केवल छोटा सा मध्य ही व्यक्त हो, उन भीष्मादि के सम्बन्ध में तुम्हारी यह परिवेदना अर्थात् शोकपूर्ण प्रलाप क्यों और किस लिये।

व्याख्या- भरतवंश में उत्पन्न होने से अर्जुन को भारत कहते हैं। अथवा यहाँ 'भ' का अर्थ है भगवान 'आ' का अर्थ है आदरपूर्वक 'र' का अर्थ है लगा हुआ।भे भगवति आदरेणरतः भारतः हे भारत तुम मुझ भगवान में आदरपूर्वक लगे हो। अतः हे मेरे शरणागत भारत अर्जुन। यहाँ भूतानि पद के तीनों विशेषण षष्ठी बहुव्रीहि में समस्त कहे गये हैं आदि शब्द जन्म की पूर्व अवस्था का वाचक है, अव्यक्त शब्द का अर्थ है, नाम रूप के अयोग्य, मध्य शब्द जन्मग्रहण अथवा जन्म के अनन्तर आने वाली बाल, युवा, जरा अवस्था का वाचक है। निधन शब्द मरण और उसके उत्तर अवस्था का वाचक है। शोक के समय विक्षिप्त मन से किये हुए अनाप्-सनाप् प्रलाप को परिदेवना कहते हैं। अर्थात् जिनकी जन्म की प्रागवस्था और मरण की उत्तरावस्था अव्यक्त है, क्योंकि वहाँ जीवों के नाम रूप स्पष्ट नहीं होते। केवल जिनका मध्य अर्थात् जन्म का अनन्तर काल ही व्यक्त होता है, और उसी अल्पकाल में जीव से माता पिता, भाई, बहन, पुत्र, पुत्री, पत्नी, धन, सम्पत्ति, घर परिवार, बन्धु बान्धव, ये सब नाशवान् सम्बन्धी जुड़ जाते हैं। उन जीवों के सम्बन्ध में तुम इतना प्रलाप क्यों कर रहे हो। पहले अध्याय में अट्ठाइस से छियालीस तक दूसरे अध्याय में पाँच से नौ तक तुमने व्यर्थ के प्रलाप में इतना अमूल्य समय बिताया, इसीसमय में यदि मेरे नाम रूप, लीला, धाम का संकीर्तन कर लिया होता, तो कितना मंगलप्रद होता। क्योंकि मुझ श्री हरि का सब कुछ मंगलमय है, जैसा की पौराणिक भी कहते हैं-

मंगलं भगवान् विष्णुः मंगलं गरुडध्वजः।
मंगलं पुण्डरीकाक्षो मंगलायतनं हरिः।।

श्रीमद्भागवत में भी कहते हैं---

यन्नामधेय श्रवणानुकीर्तनाद्
यत्प्रह्वणाद्यत्स्मरणादपि क्वचित् ।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते
कुतः पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात् ।।

हे भगवन् जिनके मंगलमय नाम के श्रवण और संकीर्तन से तथा जिनके वन्दन और स्मरण से कहीं चाण्डाल भी सवन अर्थात् यज्ञ स्नान की योग्यता प्राप्त कर लेता है। ऐसे आप श्री परमेश्वर के यदि साक्षात् दर्शन हो जायें तो फिर क्या कहना।

अब इन तीनों श्लोकों का श्री राघवकृपा से स्फुरित हुआ नवीन अर्थ भी कहा जा रहा है--- वस्तुतः केनोपनिषद् में भगवती उमा के द्वारा जिन्हें ब्रह्म विद्या का उपदेश किया गया तथा छान्दोग्योपनिषद में जिन्होंने प्रजापति के श्रीचरणों में बैठकर जीवात्मा और परमात्मा के स्वरूप का यथार्थ बोध प्राप्त किया। ऐसे यज्ञ में हवि प्राप्त करने वाले देवताओं में सर्वप्रथम बृद्धश्रवा पुरन्दर इन्द्रदेव की महान् तपस्या से प्रस्फुटित हुए तेजोमय अंश से महान् कुल में उत्पन्न हुई भगवती कुन्ती से जिसने जन्म प्राप्त किया, ऐसे परमेश्वर श्रीकृष्ण के सखा अर्जुन के लिए नास्तिक पक्ष का अवलम्बन सर्वथा अनुचित है। इसीलिए पूर्वव्याख्यात तीनों श्लोकों का अर्थ दूसरी प्रकार से व्याख्यायित किया जा रहा है।

अथ और चेत् ये दोनों निपात् अवधारण यानि निश्चयार्थक हैं। यदि तुम अर्जुन मेरे बारम्बार उपदेश में 'एनं' इस जीवात्मा को 'नित्यजातं' अर्थात् संसार के लिए नित्य मुझ परमात्मा से 'जातं, अर्थात् जन्म हुआ है। जिसका तात्पर्य यह है कि तुम्हें यह निश्चित हो गया है, कि यह जीवात्मा भगवान में निवास करता हुआ भी परमेश्वर की इच्छा से ही भगवान के शरीर से पृथक होकर ही, इस शरीर में आता है और यहाँ भगवान की इच्छा ही इसे जगत व्यापार के लिए भेजती है। ऐसा मानते हो। इस विग्रह में 'नित्य' शब्द परमात्मा का वाचक होगा और 'जातं' शब्द यहाँ जन्म के अर्थ में प्रयुक्त है। 'जननम जातं' यहाँ भाव में 'ल' प्रत्यय दीर्घादि करके जात शब्द की सिद्धि की गयी अर्थात् नित्य परमात्मा से 'जात' याने भगवान के शरीर से पृथक भाव रूप का जन्म हुआ है जिसका ऐसा मानते हो। मन्यसे मृतं शब्द में अकार का प्रश्लेष है 'मन्यसे अमृतं' अमृत अर्थात् मरण धर्म से भिन्न। संसार में भ्रमण करता हुआ जीव महाकाल के द्वारा भी नष्ट नहीं किया जा सकता, केवल काल के द्वारा जीव के शरीर ही नष्ट किये जाते हैं। इसीलिए यहाँ अमृतं, शब्द का प्रयोग करते हैं। अथवा यहाँ आकार का प्रश्लेष न किया जाय अकर्मक 'मृङ्' धातु से वर्तमानकाल में कर्त्ता में क्तः प्रत्यय करने से मृत शब्द बनता है। 'मृयन्ते इति मृतानि' जो मरते है उन शरीरों को मृत कहते हैं। वे मृत शरीर अर्थात्

मरण धर्म वाले शरीर जिसके पास होते हैं उस जीव को भी मृत कहते हैं अर्थात् जीव में मरण धर्म नहीं होता वह तो मरण धर्म वाले शरीरों को धारण करता है। आशय यह है कि यदि तुम जीवात्मा को नित्य परमात्मा के पास से जन्म लेने वाला नित्य विनास से वर्जित अमृत अथवा मृत स्वयं मरण धर्म से रहित किन्तु मरण धर्म वाले शरीर से युक्त मानते हो। फिर भी हे महाबाहो। तुम इसप्रकार जिसे ब्रह्म विद्या का ज्ञान नहीं है ऐसे अज्ञ जीव की भाँति शोक करने के लिए योग्य नहीं हो। यहाँ छब्बीसवें श्लोक का नवीन अर्थ कहा गया। अर्जुन कह सकते हैं कि मुझे क्यों नहीं शोक करना चाहिए? इस पर भगवान सत्ताइसवें श्लोक में कहते हैं- 'जातस्य हि' क्योंकि जो जन्म लेता है उसका मरण अनिवार्य होता है यदि जीवात्मा जन्म लेता ही नहीं तो उसका मरण कैसा, और मृत्यु के अभाव में बान्धवों के वियोग से शोक कैसे सम्भव है? जिसका मरण होता है उसी का जन्म अनिवार्य होता है। यदि जीवात्मा मरण धर्म से वर्जित है तब उसका जन्म भी सम्भव नहीं है। इसलिए 'अ' अर्थात् मुझ वासुदेव के द्वारा ही जो परिहार्य अर्थात् संसार सागर से पार किया जाता है ऐसे 'अर्थे' जो सभी मुमुक्षु जीवों द्वारा अर्थनीय अर्थात् प्राप्त किये जाने योग्य होता है ऐसे स्वस्वरूप भूत प्रत्यगात्मा के सम्बन्ध में तुम क्षण-क्षण शोक करने के लिए योग्य नहीं हो। यह सत्ताइसवें श्लोक का नवीन अर्थ है। अब अर्जुन पुनः अन्तर्जिज्ञासा करते हैं कि अब मैं न तो इस जीवात्मा के सम्बन्ध में शोक कर रहा हूँ। क्योंकि यह अलग होता ही नहीं और न ही देह विशिष्ट जीवात्मा के प्रति शोक कर रहा हूँ, क्योंकि देह क्षणभंगुर है, किन्तु मैं पृथ्वी आदि पंचभूतों के सम्बन्ध में शोक कर रहा हूँ। मेरे द्वारा मारे हुए भीष्मादि महापुरुषों के शरीरों के पृथ्वी आदि पंचभूत कहाँ जायेंगे। इस पर भगवान अट्ठाइसवां श्लोक कहते हैं- भीष्म आदि के शरीरों के पंचभूत केवल मुझी को प्राप्त होंगे। अतः उनके सम्बन्ध में शोक भरा प्रलाप क्यों कर रहे हो? क्योंकि अव्यक्त मुझ परमात्मा का नाम है। मुझ अव्यक्त परमात्मा में ही इनकी आदि अर्थात् जन्म की पूर्व अवस्था थी। अर्थात् जन्म से पहले ये सब मुझमें ही थे और पुनः 'अव्यक्त निधनानि' अर्थात् मन बुद्धि के द्वारा अग्राह्य मुझ अव्यक्त अक्षर वासुदेव में ही निधन इनकी मरणावस्था भी होगी। अर्थात् ये मरण के पश्चात् मुझमें ही जायेंगे। 'व्यक्तमध्यानि' व्यक्त अर्थात् संसार में मध्य अर्थात् जन्म और मरण का मध्य भाग है जिनका, अर्थात् केवल जन्म-मरण का मध्यवर्ती जीवन संसार में रहता है अथवा आदि पद का अर्थ है जन्म 'अव्यक्ताः' आदि येषां, इस पद का यों अर्थ समझना चाहिए कि जन्म से पूर्व जीव भगवान में ही रहता है, और वह सम्पूर्ण रात्रि युग प्रारम्भ के पूर्व तक वहीं बिता देता है,

और फिर दिवस के अन्त अर्थात् प्रलय में मुझमें ही चला जाता है। केवल इनकी जन्म मरण की मध्यावस्था ही संसार में रहती है। इसलिए इनके प्रति क्यों प्रलाप किया जाय? ये जैसे आदि अन्त में मुझमें रहते है वैसे तुम भी रहते हो। तो फिर इनका तुमसे कहां वियोग है जब भी इनको देखने की इच्छा होगी तब तुम इन्हें मुझमें देख सकोगे। यदि तुमको भीष्मादि महापुरुषों के सशरीर दर्शन की इच्छा होगी तो 'व्यक्त मध्यानि' व्यक्त में मध्य है जिनका अर्थात् साधुओं की रक्षा दुष्टों के विनाश तथा सनातन धर्म प्रतिष्ठापना के लिए श्री वसुदेव के भवन में सबके नेत्रों का विषय बनकर मैं ही व्यक्त अर्थात प्रगट हुआ हूँ। और मुझ व्यक्त परमात्मा में ही इनका मध्य अर्थात् पाञ्च भौतिक शरीर रहता है। तुम इनके शरीरों को मेरे मुख में ही देख लेना। इसी क्रम में अतिशीघ्र तुम्हीं कहोगे। अतिशीघ्र ही अपने मुख में तुम्हें इनके दर्शन कराऊँगा। आगे तुम्हीं कहोगे जैसे एकादश अध्याय में ही। अर्जुन कहते हैं हे भगवन् ? सम्पूर्ण सेनापति राजाओं के साथ और मेरे भी मुख्य योद्धाओं के सहित ये धृतराष्ट्र पुत्र, भीष्म, द्रोण और सूद्र पुत्र कर्ण ये सब आपकी ओर दौड़ते हुए आपके ही जबड़ों के कारण कराल तथा भयानक मुखों में त्वरित गति से प्रवेश कर रहे हैं कुछ लोग आपके दाँतों के कोने में चिपके हुए टूटे हुए सिरों से उपलक्षित स्पष्ट दिख रहे हैं। श्रुति भी कहती है- तैतिरीय उपनिषद् के तीसरी बल्ली के प्रथम मन्त्र में श्वेतकेतु को उनके पिता उपदेश करते हुए कहते हैं जिससे सम्पूर्ण भूत प्राणी उत्पन्न होते हैं, और जिसके द्वारा जन्म लेकर जीते हैं, जिसमें जाकर समा जाते हैं उसकी विचार पूर्वक जिज्ञासा करो वही ब्रह्म है।

इस प्रकार श्री मदाद्यरामानन्दाचार्य जी के चरणारविन्द के पराग के चिन्तन से जिसकी मनीषा विमल हो चुकी है तथा भगवान श्री सीताराम जी की कृपा से जिसको भगवत् भाव का पूर्ण अनुभव हो चुका है ऐसे मुझ रामभद्राचार्य की बुद्धि में श्री सीताराम भगवान की कृपा ने यह नवीन प्रकरणार्थ प्रकाशित किया है। माधववस्त्रायताम। ।।श्री।।

संगति- अब प्रकरण का उपसंहार करते हुए पार्थ सारथी भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! यह आत्मा तत्त्व बहुत ही दुर्ज्ञेय है, अनेक जन्मों के सुकृत से जिनके दुरित एवं परमार्थ जिज्ञासा के प्रतिबन्धक पाप शान्त हो चुके हैं। तथा शास्त्र, सन्त, सद्गुरू और परमेश्वर के प्रसाद से जिनकी बुद्धि पवित्र हो चुकी है, एवं श्री चित्रकूट, अयोध्या, मथुरा, वृन्दावन, ब्रजभूमि, कुरुक्षेत्र, द्वारका, प्रयाग आदि

दिव्य तीर्थों के सेवन से जिनका शरीर पवित्र हो चुका है तथा भगवान के नाम, रूप, लीला, धाम के चिन्तन एवं संकीर्तन से जिनके मनवचन पवित्र हो चुके हैं। तथा भक्त-भगवन्त, श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरुदेव की जिनपर कृपा बरस रही हैं, ऐसे निर्मल मन वाले महात्मा भी इस आत्मतत्व को सरलता से नहीं जान सकते जैसे कि-

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२/२९॥

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! यह आत्मतत्व इतना गहना है कि कोई तो इसे आश्चर्य के साथ और आश्चर्य जैसे देखता है और कोई अन्य इसे आश्चर्य के साथ कहता है और कोई इसे आश्चर्य के साथ सुनता है और कोई तो इसे सुनकर भी नहीं जानता।

व्याख्या- यह आत्मतत्व इतना कठिन है कि प्रस्तुत श्लोक के तीन चरणों में आश्चर्य का ही निरूपण किया गया है इसका समानान्तर कठोपनिषद में वर्णित 'नचिकेता यम' संवाद यहां संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है। उद्दालक पुत्र आरूणिवाजश्रवा अपने यज्ञ में वृद्ध-वृद्ध गायें अपने ब्राह्मणों को दे रहे थे और दुधारू गायें अपने पुत्र के लिए रख रहे थे। पिता का अनुचित व्यवहार देखकर क्षुब्ध हुए नचिकेता ने बारम्बार पूछा कि पिता जी मुझे किसके हाथों में दे रहे है, वाजश्रवा ने चिल्लाकर कहा तुम्हें मृत्यु को दे रहा हूँ। पिता के वचन के अनुसार नचिकेता यमराज के यहाँ गये और तीन दिन तीन रात उनके घर भूखे पड़े रहे अनन्तर अपनी पत्नी की प्रेरणा से यमराज ने नचिकेता से तीन वरदान माँगने के लिए कहा। नचिकेता ने प्रथम वरदान पिता का परितोष, द्वितीय वरदान से स्वर्ग अग्नि विद्या, तथा तृतीय वरदान से आत्मविद्या का प्रसाद माँगा। यमराज ने दो वरदान प्रसन्नता से दे दिये परन्तु तृतीय वरदान की गहनता की चर्चा करते हुए बोले इस आत्मतत्व के सम्बन्ध में देवताओं को भी शंसय हुआ था, यह अणु मात्र भी सुज्ञेय नहीं है, हे नचिकेता । इसके अतिरिक्त दूसरा वरदान मांग लो मुझे विवश मत करो इस वरदान को छोड़ दो। नचिकेता ने कहा यदि आत्मतत्व के सम्बन्ध में देवता भी संदिग्ध थे और आप भी इसे सरलता से सुज्ञेय नही मानते इस सम्बन्ध

में आपके अतिरिक्त कोई दूसरा वक्ता भी नहीं है इसलिए मैं तो आपसे यही वरदान लूँगा कि आप मुझे आत्मतत्व समझाने की कृपा करें। इसके अनन्तर यमराज ने नचिकेता को और प्रलोभन दिया यथा- हे नचिकेता। तुम सैकड़ों वर्ष जीने वाले पुत्र-पौत्र, हाथी-घोड़े गाँव, स्वर्ण, पृथ्वी का विशाल साम्राज्य देव दुर्लभ ललनादि भोग सामग्री सब कुछ मांग लो परन्तु आत्मबल मत माँगों। जो कि मरण शब्द की शंकराचार्य ने मरण सम्बन्धी ऐसी व्याख्या कर डाली वह असंगत है वास्तव में, नचिकेतो मरणं मानु प्राक्षीः, इस पद का हे, नचिकेता मरणं अनु मां प्राक्षीः, अतः मृत्यु के पश्चात क्या होता है यह मत पूँछना। अथवा 'मस्य जीवस्य अरणं, शरणं इति मरणं' तन्त्र में हलन्त मकार को जीव का वाचक माना गया है इसीलिए नमः शब्द में प्रयुक्त मः का अर्थ मम् किया जाता है, इसीलिए राम बीज की मीमांसा में आचार्य लोग र आ म विच्छेद करके तीन अक्षर मानते है, उनकी दृष्टि में राम का आ आदि शक्ति सीता का तथा म लक्ष्मण का वाचक है यद्वा यदि म को अजन्त ही माना जाय तो भी म अरणं इसप्रकार विच्छेद करके सकन्ध्वादित्वात् पररूप समझना चाहिए। अर्थात् हे नचिकेता देह विशिष्ट प्राणियों के शरण जीवात्मा के सम्बन्ध में कुछ मत पूँछो। इसप्रकार प्रलोभित होने पर भी नचिकेता ने अपना अभीष्ट नहीं छोड़ा और बोले- हे यमराज ये सांसारिक पदार्थ कल तक ही रहेंगे जो सभी इन्द्रियों के तेज को समाप्त कर रहे हैं। यह जीवन भी थोड़े ही दिनों का है इसलिए ये हाथी घोड़े धन धान्य, नृत्यगीत, ललनाएँ आपही के पास रहे हमें नहीं चाहिए। मनुष्य कभी धन से सन्तुष्ट नहीं होता वह तो जितना भाग्य में है उतना मिलेगा जब तक आप चाहेंगे तब तक हम जियेंगे इसलिए नचिकेता तृतीय वरदान का कोई विकल्प नहीं मान सकता। इसप्रकार बहुत प्रलोभन देने पर भी जब नचिकेता का मन आत्मतत्व से नहीं डिगा तब यमराज आदरपूर्वक बोले-

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यम न विद्युः
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्योज्ञाता कुशलानुशिष्टः।।
(क० उ० २/७)

यमराज कहते हैं कि- हे नचिकेता यह आत्मतत्व कोई सरल नहीं है जो बहुत से लोगों के द्वारा श्रवण के लिए भी नहीं प्राप्त होता, बहुत से लोग सुनकर भी जिसे नहीं जान पाते इसका वक्ता आश्चर्यपूर्ण ही होता है। इसको पाने वाला भी कोई कुशल व्यक्ति ही होता है। कुशल महापुरुष के द्वारा उपदिष्ट आत्मतत्त्व भी आश्चर्यमय ही होता है। (क० उ० २/७) इसी कठोपनिषद् प्रसिद्ध गहन आत्मतत्त्व को परम

कारूणिक भगवान अर्जुन के प्रति सरलता से कह रहे हैं। यद्यपि नचिकेता की ही भाँति युद्ध का आमन्त्रण देने द्वारका गये हुए अर्जुन भगवान की दस कोटि नारायणी सेना के प्रलोभ में नहीं आये उन्होंने निरायुध भगवान का ही वर्णन किया। अतः भगवान कहते हैं आश्चर्यवत् इत्यादि।

कोई सुधी इसे आश्चर्य के जैसे अथवा आश्चर्य के साथ देखता है। यहाँ या तो तुल्यार्थ में 'वति' प्रत्यय है अथवा 'मतुप' प्रत्यय और क्रिया विशेषण होने से द्वितीया। 'पश्यति' का अर्थ है साक्षात्कार करना। दृश धातु का ज्ञान रूप अर्थ भी महर्षि पाणिनि ने अष्टाध्यायी ३/२/६० से आलोचन भिन्न अर्थ में कञ् और क्विन का विधान करके मान लिया है। इसीप्रकार आत्म द्रष्टा से विलक्षण कोई इसे आश्चर्य के साथ बोलता है, और कोई इसे आश्चर्य के तुल्य सा सुनता है, और उससे विलक्षण कोई व्यक्ति इसे गुरुमुख से सुनकर भी नहीं जानता। क्या मैं नहीं जान सकूँगा? तो भगवान कहते हैं ऐसा नहीं। कठोपनिषद् की श्रुति कहती है कि जिस व्यक्ति के हृदय में गुरु और गोविन्द के प्रति पूर्ण भक्ति होती है उसी महात्मा की बुद्धि में ये औपनिषद् अर्थ प्रकाशित हो जाते हैं। सौभाग्य से तुम गुरुरूप तथा गोविन्दरुप मुझ कृष्ण में भक्तिमान हो इसलिए ये सभी विषय तुमको समझ में आ जायेंगे। कुछ लोग इस श्लोक के चारों चरणों में नकार का आवर्तन करके इसप्रकार अर्थ करते हैं। कोई इसे आश्चर्य से नहीं देखता कोई इसे आश्चर्य से नहीं सुनता और कोई इसे सुनकर भी नहीं जानता पर इसप्रकार की व्याख्या प्रौढ़वाद मात्र अर्थात् निरर्थक पांडित्य का प्रदर्शन है। इस व्याख्या में कठ् श्रुति की एक वाक्यता से विरोध भी होगा। श्रुति में सर्वत्र निषेध नहीं है। बहुतों का निषेध है। जैसे कि कठ-२/७ में श्रुति स्पष्ट कहती है-

> "श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
> आश्चर्योवक्ताकुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥
> (क० उ० २/७)

यहाँ पूर्वार्ध में निषेधार्थक नकार का दो बार प्रयोग हुआ है। अर्थात् जिसे श्रवण के लिए बहुत लोग नहीं पा सके और जिसे सुनकर भी बहुत लोगों ने नहीं जाना। इस प्रकरण में आत्मा के श्रवण और ज्ञान में अनाधिकारी की दृष्टि से बहुत लोगों का निषेध है पर सबका निषेध नहीं है। अर्थात् आत्मतत्त्व के जानने में बिरले लोगों को ही अधिकार होता है। सौभाग्य से इस मंत्र के तृतीय और चतुर्थ चरण में

नकार की चर्चा ही नहीं की गयी है। अज्ञान को कुश कहते हैं उसे नष्ट करने वाले को कुशल कहा जाता है। यहाँ आश्चर्य शब्द का अद्‌भुत अर्थ है, अर्थात् इस आत्मतत्व को प्राप्त करने वाला अज्ञान के छेदकवक्ता अद्‌भुत ही होता है, और उसी अज्ञान छेदक कुशल वक्ता के द्वारा अनुदिष्ट अर्थात् उपदिष्ट ज्ञाता आश्चर्य मय ही होता है। अथवा यदि तुम्हें यहाँ अकार की वृत्ति बहुत ही अनुकूल लग रही हो तो फिर श्लोक के द्वितीय चरण में स्थित तथैव चान्य: के एवकार का नकार के साथ सर्वत्र आवर्तन करो। इस पक्ष में श्लोक का अर्थ होगा कि कोई-कोई ही इसे आश्चर्य से नहीं देखते अर्थात् निर्भ्रान्त दर्शन करते हैं। बहुत लोगों को तो इसके दर्शन में आश्चर्य होता ही है कोई एक व्यक्ति ही इसे आश्चर्य से नहीं कहता। अर्थात् निश्चयपूर्वक उपदेश करता है। सर्वसाधारण को तो आत्मतत्व के उपदेश में भी आश्चर्य होता है। कोई बिरला ही आश्चर्य के साथ नहीं सुनता। बहुत से लोग आत्मा के अणुत्व, व्यापकत्व, नित्यत्व आदि सुनकर आश्चर्यचकित हो जाते हैं और कोई तो इसे सुनकर भी नहीं जानता। (गीता ७/३) जैसा कि भगवान कहते हैं सहस्त्रों मनुष्यों में कोई ही मुझे प्राप्त करने का यत्न करता है उन यत्न करने वाले हजारों में कोई बिरला ही मुझे तत्व से जान पाता है। इसी रीति से यहाँ भी व्याख्या कर लेनी चाहिए। अर्थात् सहस्त्रों नर-नारी साधकों में कोई ही इस आश्चर्यवान आत्मतत्व का साक्षात्कार करता है, इसीप्रकार सहस्त्रों आत्मदर्शियों में कोई बिरला ही स्वयं आत्मदर्शन करता हुआ दूसरों को भी समझाने में समर्थ होकर आश्चर्यवान आत्मतत्व का व्याख्यान करता है। इसीप्रकार आत्मतत्व के श्रवण के लिए उपस्थित हजारों श्रोताओं में से कोई बिरला ही इस आश्चर्यमय रहस्य को श्रद्धापूर्वक श्रवण करता है। और कोई तो गुरु गोविन्द में श्रद्धा न होने के कारण अभागा आत्मतत्व को सुनकर भी नहीं समझ पाता।

अथवा वृहदारण्यक २/४/५ में याज्ञवल्क कहते हैं अरे मैत्रेयी आत्मा का दर्शन करना चाहिए, श्रवण करना चाहिए, मनन करना चाहिए और निदिध्यासन करना चाहिए। आत्मा के दर्शन से श्रवण से मनन से निदिध्यासन से सब कुछ जान हो जाता है। इसप्रकार श्रुति के द्वारा आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन विहित है। यहाँ द्रष्टव्य विधेय है। आत्मा का दर्शन कैसे करना चाहिए इस पर श्रुति है 'श्रोतव्य:'। पहले सद्‌गुरु के चरण में बैठकर श्रुति के वाक्यों से आत्मतत्व का श्रवण करना चाहिए फिर श्रुति कहती है मन्तव्य: अर्थात् श्रवण के पश्चात् अपनी युक्तियों से आत्मतत्व का मनन करना चाहिए। मनन के अनन्तर 'निदिध्यासितव्य:'

अर्थात् उसका बारम्बार चिन्तन करना चाहिए। अनन्तर 'द्रष्टव्यः' इसके पश्चात् आत्मा का दर्शन करना चाहिए। जो इन तीनों उपायों से शून्य है अर्थात् जिसने कभी श्रवण, मनन, निदिध्यासन नहीं किया वह सुनकर भी नहीं जान सकेगा। इसप्रकार यहाँ वेद का सिद्धान्त भी भगवान के द्वारा दिखाया गया है। कोई जीवात्मा को आश्चर्यवत् अर्थात् अद्‌भुत की भाँति ही देखता है साधारण रूप से नहीं। इससे विलक्षण को दूसरा इसे अद्‌भुत की भाँति ही कहता है। यहाँ वदन (बोलना) निदिध्यासन है। इसी में मनन का भी अन्तर्भाव है।अथवा तथा, एव, च, इन तीन निपातों के द्वारा आश्चर्यवत वदति के साथ-साथ आश्चर्यवत् मनुते शब्द का अध्याहार समझना चाहिए अर्थात् तीनों निपातों के बल पर अद्‌भुत की भाँति मनन करता है । यह अर्थ भी आ गया। अथवा वदति शब्द ही उपलक्षण है वह अपना बोध कराकर मनन का भी बोध करा देगा। अन्य अर्थात् सर्व साधारण से भिन्न जो वेदान्त श्रवण का अधिकारी है, वह इसेअद्‌भुत की भाँति ही सुनता है। इसीप्रकार श्रवण मनन और निदिध्यासन से हीन अव्यवास्थित अनधिकारी इसे सुनकर भी नहीं जानता 'अपि' 'एवकार' के अर्थ में है अर्थात अनाधिकारी ही नहीं जानता, अधिकारी तो जानता ही है। यही गीता जी का हार्द है।चतुर्थ चरण का अन्वय इसप्रकार है।, च श्रुत्वा एव एनं कश्चित अपि न वेद, यहाँ एवकार से मनन और निदिध्यासन को छोड़कर आत्मतत्व का केवल श्रवण ही करता है ऐसा कोई भी इसे नहीं जानता। यह मेरा नया भाव है। इसीलिए श्रीरामचरितमानस में पुष्पवाटिका प्रकरण में भगवान् श्रीराम ने कंकन किंकिणि नूपुर रूप श्रुति वाक्यों से श्रवण तथा हृदय विचार रूप मनन एवं लक्ष्मण के समक्ष सीता जी का स्वरूप कथन रूप निदिध्यासन करके ही सीताजी के दर्शन किये जैसे-

कंकन् किंकिनि नूपुर धुनि सुनि
कहत लखन सुनि राम हृदय गुनि।
मानहु मदन दुन्दुभी दीन्हीं
मनसा विश्व विजय कहुँ कीन्ही ।। मा- बा० २/३०

यहाँ मदन शब्द का अर्थ है आत्मदर्शनानन्द। क्योंकि माद्यति जनो येन स मदनः अर्थात् जिसके द्वारा व्यक्ति प्रसन्न हो जाता है उसे मदन कहते हैं। मदी धातु के हर्ष और सम्मोह दोनों अर्थ हैं। इस व्याख्यान से पुष्पवाटिका में श्रीराम पर काम का आक्रमण हुआ यह कहने वाले परास्त हो गये।

अब दूसरे पक्ष की व्याख्या की जाती है यहाँ 'क:' अर्थात् सुखस्वरूप चित् चेतनावान चित् तत्व प्रमाता जीव 'एनं' इस जीवात्मा को 'आश्चर्यवत्' आश्चर्य रूप ब्रह्म के साथ देखता है। क्योंकि जीवात्मा देह से अलग होकर भी अविनाभूत सम्बन्ध से परमात्मा के साथ ही रहता है। उसीप्रकार कश्चिदन्य: अर्थात् भगवान के दर्शन के आह्लाद से युक्त चित्त अर्थ पंचक ज्ञान का चयन करने वाला विलक्षण महापुरुष इस जीवात्मा को 'आश्चर्यवत्' वदति आश्चर्य रूप ब्रह्म के साथ ही वदति स्तुति का विषय बनाता है। परमेश्वर के चरणों से विमुख जीवात्मा की तो निन्दा ही की जाती है जैसे वाल्मीकि रामायण में अयोध्यावासी कह रहे हैं-

यश्च रामं न पश्येत्तु यं च रामो न पश्यति।
निन्दित: सर्व लोकेषु स्वात्माप्येनं विगर्हते।(वा० रा० २/२/१७/१४)

यहाँ दो चकारों से श्री सीता एवं श्री लक्ष्मण का भी संग्रह है। इसीलिए वाल्मीकि रामायण के सुन्दरकाण्ड में श्री हनुमान जी महाराज कहते हैं-

नमोऽस्तु रामाय सलक्ष्मणाय
देव्यै च तस्य जनकात्मजायै। (वा० रा० ५/१३/५९)

इस श्लोक का भावार्थ होगा कि जो श्री सीता जी और श्री लक्ष्मण जी के साथ भगवान श्रीराम को निहारने का प्रयत्न नहीं करता अथवा जिसे श्री सीता लक्ष्मण सहित भगवान श्रीराम कृपा दृष्टि से नहीं निहारते वह सम्पूर्ण लोकों में निन्दित होता है, और उसका आत्मतत्व भी उसे धिक्कारता है। इसीप्रकार कोई अन्य अर्थात् मुमुक्षु जीव इस जीवात्मा को आश्चर्यवत् अर्थात् आश्चर्य रूप ब्रह्म के साथ ही श्रवण करता है। यदि कहो कि 'एनं' इस द्वितीय एक वचनान्त शब्द का आश्चर्यवत् यह नपुंसक लिंङ शब्द कैसे विशेषण बना है तो इसका उत्तर है 'आर्षत्वात्'। भगवान श्रीकृष्ण स्वयं नारायण ऋषि हैं इसीलिए पूर्वाचार्यों ने गीता जी के श्लोकों को मन्त्र कहा है। अब यहाँ प्रश्न है कि इस मन्त्र में आश्चर्यवत् शब्द का तीन बार प्रयोग क्यों किया गया है?

उत्तर- द्वा सुपर्णा श्रुति में ब्रह्म के जीव के साथ तीन बार प्रयुक्त साहचर्य का अनुवाद करने के लिए ही। अर्थात् तीनों कालो में जीव ब्रह्म के साथ ही रहता है। जैसे सयुजा, सखाया, परिषस्वजाते इसप्रकार तीन बार जीव ब्रह्म के साहचर्य सूचक शब्दों का प्रयोग श्रुति में किया गया है। इन तीन कथनों का अभिप्राय क्या है? ब्रह्म

का जीव का तीनों कालों में साहचर्य है इसी तथ्य को स्पष्ट करने के लिए यहाँ तीन बार वाक्य हुआ। इसीप्रकार कश्चित अर्थात् कोई आश्चर्य रूप ब्रह्म के बिना इसे सुनकर के भी नहीं जान पाता इसीलिए चतुर्थ चरण में आश्चर्यवत् शब्द का प्रयोग नहीं हुआ अर्थात् जीवात्मा का दर्शन, श्रवण, मनन परमात्मा के साथ ही हो सकता है परमात्मा के बिना केवल आत्मा को सुनकर उसे कोई नहीं जान पाता इसप्रकार गीता (२/२९) में भगवान श्रीकृष्ण ने मुक्त कण्ठ से विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का युक्ति-युक्त प्रतिपादन किया है, परन्तु ये भाव किसी टीका-टिप्पणी या भाष्य में नहीं आये हैं यह तो भगवान श्री सीताराम की कृपा एवं, शास्त्र, सन्त, तथा सद्गुरू चरणों के आशीर्वाद से मेरी प्रतिभा का प्रस्फुरण है और यही भाव पुष्पांजलि में जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्वामी रामभद्राचार्य विनम्रतापूर्वक जगद्गुरु श्रीमदाद्य रामानन्दाचार्य जी के श्री चरणाविन्द में समर्पित करता हूँ। ॥श्री॥

संगति- अब भगवान निगमन विधि से प्रसंग का उपसंहार कर रहे हैं।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि (गी० २/३०)

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे भरतवंश में उत्पन्न विवेक बुद्धि सम्पन्न अर्जुन! सम्पूर्ण जीवों के शरीर में रहने वाला यह देह विशिष्ट देहाभिमानी आत्मा निरन्तर अबध्य है। इसलिए द्रौपदी के केशकर्षण के समय ही मेरे द्वारा मारे जाने के कारण प्रेत भाव को प्राप्त हुए अर्थात् भूत बने हुए इन भीष्म आदि योद्धाओं के प्रति शोक करने के लिए तुम योग्य नहीं हो।

व्याख्या- देहाभिमानवान होने से जीवात्मा को देही कहते हैं अयं अर्थात यह जिसकी महिमा के वर्णन में मैंने तुम्हें उन्नीस श्लोक सुनाये। सर्वस्य देहे अर्थात् यह सभी के देह में रहता है, सर्व और देह इन दोनों स्थलों में जाति के अभिप्राय से बहुवचन है 'अवध्य' यह कभी भी वध के योग्य नहीं है। इसलिए 'सर्वाणि भूतानि' 'अभूवन इति भूतानि' यहाँ भूतकाल में कर्ता क्तः प्रत्यय हुआ। अर्थात् ये द्रौपदी के केशकर्षण से पूर्व में थे अब नहीं हैं। कौन हैं तब कहते हैं 'भूतानि' अब ये प्रेत हो चुके हैं मेरे संकल्प से मृत्यु पाकर भी मुक्त नहीं हुए इनका अपने बाणों से तर्पण करो। शोक मत करो। मुक्त हो जायेंगे। इसीलिए गीता अध्याय ११ के ३३/३४ में कही हुई भगवान की उक्तियां संगत हो जाती है वहाँ भगवान कहते हैं- ये लोग मेरे द्वारा पहले ही मारे जा चुके हैं।

२- मेरे द्वारा मारे हुए भीष्मादि को तुम निमित्त बनकर मारो।

इसप्रकार भगवान श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन के प्रति कहा गया आत्मा और अनात्मा का प्रसंग मैंने (रामभद्राचार्य) भाष्य की पद्धति से व्याख्यायित किया है। यह सज्जनों के आनन्द के लिए हो। भगवान श्री सीताराम की कृपा से प्रयासपूर्वक शास्त्रों का मंथन करके अपने सम्प्रदाय अर्थात् श्री रामानन्दीय श्री वैष्णव सम्मत सीताराम विशिष्टाद्वैत मत के अनुसार मैंने इस बीस श्लोकों वाले प्रकरण की व्याख्या की है। जिसने गीता गायी वही भगवान गीता के रहस्य को जाने भला उसे मुझ जैसा संसार सागर में मग्न प्राणी कैसे जान सकता है। फिर भी भगवान के श्री चरण कमल के चिन्तन का आश्रय लिए हुए चित्त में जैसा कुछ स्फुरित हुआ वहीं सब मैंने श्री वैष्णवो के आनन्द के लिए यहाँ कह दिया।

आत्मानात्म प्रसंगोऽयं पार्थायाच्युत भाषितः।
श्री रामभद्राचार्येण व्याख्यातोऽस्तु सतां मुदे।।
सम्प्रदायानुरोधन शास्त्रमालोड्य यत्नतः।
व्याख्याता विंशति श्लोकी सीतेश कृपया मया।।
गीतां स एव जानातु येन गीयत गीतिना।
संसार सागरे मज्जन् मद्विधो वेत्तु हा कथम।।
तथापि तत्पदाम्भोज चिन्तनाश्रित चेतसि।
मद्भावं तदिह प्रोक्तं वैष्णवानां मुदे मया। ।।श्री।।

संगति- अब भगवान श्रीकृष्ण प्रसंग प्राप्त होने के कारण प्रथम अध्याय में श्री अर्जुन द्वारा उठायी हुई आशंकाओं का समाधान करने के लिए आठ श्लोकों का प्रकरण प्रारम्भ कर रहे हैं जिसमें युद्ध की अवश्यकरणीयता सिद्ध की जायेगी। सर्वप्रथम युद्ध को ही धर्मसंगत बताते हैं।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।। २/३१

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! स्वधर्म को भी गम्भीरता से विचार कर तुम इसप्रकार कम्पित होने के लिए योग्य नहीं हो, अर्थात् तुम्हें कम्पित नहीं होना चाहिए क्योंकि क्षत्रिय के लिए इस धर्ममय युद्ध से बढ़कर अन्य कोई श्रेष्ठ कार्य है ही नहीं।

व्याख्या- यहाँ 'स्व' शब्द के आत्मीय, आत्मा, और ज्ञाति ये तीन अर्थ लिए गये हैं, और यहाँ दो समास अर्थात् षष्ठी, तत्पुरुष और कर्मधारय जानना चाहिए, स्वोधर्म स्वधर्मः, स्वस्य धर्मः स्वधर्म; यहाँ चकार पक्षान्तर का सूचक है, भगवान कहते हैं कि कुछ क्षणों के लिए वेदान्त का विचार छोड़कर यदि लौकिक दृष्टि से चर्चा की जाय और उसमें आत्मीय धर्म आत्मधर्म और जाति धर्म पर भी यदि गम्भीरता से विचार करें तो भी तुम्हें कम्पित नहीं होना चाहिए। इस श्लोक से भगवान प्रथमाध्याय के उन्तीसवें और तीसवें प्रश्न का प्रत्युत्तर दे रहे हैं। अर्जुन ने कहा था 'वे पथुश्च शरीरे में' गीता (१/२९) अर्थात् मेरे शरीर में कम्पन हो रहा है। उसके उत्तर में भगवान कहते हैं- 'न विकम्पितुमर्हसि' अर्थात् तुम्हे कम्पित नहीं होना चाहिए क्योंकि यही तुम्हारा धर्म है। फिर तुम्हारे अंग क्यों विषीर्ण हो रहे हैं तुम्हारा मुख क्यों सूख रहा है? तुम क्यों कांप रहे हो? और तुम क्यों रोमांचित हो? रहे हो क्योंकि युद्ध धर्म्म अर्थात् धर्म से अनपेत है, एक इन्च भी धर्म मार्ग से इधर-उधर गया नहीं है। तुमने सातवें श्लोक में श्रेय की जिज्ञासा की थी तो तुम्हारे लिए युद्ध ही सबसे बड़ा श्रेय है। क्योंकि शास्त्रों में कहा भी गया है।

संग्रामादनिवर्तित्वं प्रजानां चानुपालन् ।
सुश्रुषणं ब्राह्मणानां राज्ञां निः श्रेयसं परम।।
संग्रामान्न निवर्तेत राजधर्म मनुस्मरन् ।
समोत्तमाधमैश्चापि समाहूतो नृपोत्तमः।।

अर्थात् युद्ध से पलायन न करना प्रजा का पालन करना और ब्राह्मणों की सेवा ये तीन कर्म राजा के लिए परम कल्याण कारी हैं। अपने से समान, उत्तम या निर्बल किसी भी योद्धा द्वारा ललकारे जाने पर श्रेष्ठ राजा को राजधर्म का स्मरण करके युद्ध से पीछे नहीं लौटता चाहिए। तुमको उलूक के द्वारा दुर्योधन ने युद्ध के लिए ललकारा है। इसलिए युद्ध की तुम्हारे लिए परम श्रेयस्कर है अतः वर्ण धर्म मानकर युद्ध करो यही उपदेश का अभिप्राय है ।।श्री।।

संगति- इतना ही नहीं तुमने १/३२ में राज्य विजय और सुख की अनिच्छा की बात कही न हो राज्य विजय सुख की आकांक्षा पर स्वर्ग की तो तुम्हें आकांक्षा है ही इसीलिए तो नरक से डरते हो, यदि नरक से न डरते तो १/४४ नरक की चर्चा क्यों करते? इसलिए सहजता स्वर्ग द्वार तुम्हारे सामने उपस्थित है इसी तथ्य को स्पष्ट करते हैं।

२- मेरे द्वारा मारे हुए भीष्मादि को तुम निमित्त बनकर मारो।

इसप्रकार भगवान श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन के प्रति कहा गया आत्मा और अनात्मा का प्रसंग मैंने (रामभद्राचार्य) भाष्य की पद्धति से व्याख्यायित किया है। यह सज्जनों के आनन्द के लिए हो। भगवान श्री सीताराम की कृपा से प्रयासपूर्वक शास्त्रों का मंथन करके अपने सम्प्रदाय अर्थात् श्री रामानन्दीय श्री वैष्णव सम्मत सीताराम विशिष्टाद्वैत मत के अनुसार मैंने इस बीस श्लोकों वाले प्रकरण की व्याख्या की है। जिसने गीता गायी वही भगवान गीता के रहस्य को जाने भला उसे मुझ जैसा संसार सागर में मग्न प्राणी कैसे जान सकता है। फिर भी भगवान के श्री चरण कमल के चिन्तन का आश्रय लिए हुए चित्त में जैसा कुछ स्फुरित हुआ वहीं सब मैंने श्री वैष्णवो के आनन्द के लिए यहाँ कह दिया।

आत्मानात्म प्रसंगोऽयं पार्थायाच्युत भाषितः।
श्री रामभद्राचार्येण व्याख्यातोऽस्तु सतां मुदे।।
सम्प्रदायानुरोधन शास्त्रमालोड्य यत्नतः।
व्याख्याता विंशति श्लोकी सीतेश कृपया मया।।
गीतां स एव जानातु येन गीयत गीतिना।
संसार सागरे मज्जन् मद्विधो वेत्तु हा कथम।।
तथापि तत्पदाम्भोज चिन्तनाश्रित चेतसि।
मद्भावं तदिह प्रोक्तं वैष्णवानां मुदे मया। ।।श्री।।

संगति- अब भगवान श्रीकृष्ण प्रसंग प्राप्त होने के कारण प्रथम अध्याय में श्री अर्जुन द्वारा उठायी हुई आशंकाओं का समाधान करने के लिए आठ श्लोकों का प्रकरण प्रारम्भ कर रहे हैं जिसमें युद्ध की अवश्यकरणीयता सिद्ध की जायेगी। सर्वप्रथम युद्ध को ही धर्मसंगत बताते हैं।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।। २/३१

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! स्वधर्म को भी गम्भीरता से विचार कर तुम इसप्रकार कम्पित होने के लिए योग्य नहीं हो, अर्थात् तुम्हें कम्पित नहीं होना चाहिए क्योंकि क्षत्रिय के लिए इस धर्ममय युद्ध से बढ़कर अन्य कोई श्रेष्ठ कार्य है ही नहीं।

व्याख्या- यहाँ 'स्व' शब्द के आत्मीय, आत्मा, और ज्ञाति ये तीन अर्थ लिए गये हैं, और यहाँ दो समास अर्थात् षष्ठी, तत्पुरुष और कर्मधारय जानना चाहिए, स्वोधर्म स्वधर्मः, स्वस्य धर्मः स्वधर्म; यहाँ चकार पक्षान्तर का सूचक है, भगवान कहते हैं कि कुछ क्षणों के लिए वेदान्त का विचार छोड़कर यदि लौकिक दृष्टि से चर्चा की जाय और उसमें आत्मीय धर्म आत्मधर्म और जाति धर्म पर भी यदि गम्भीरता से विचार करें तो भी तुम्हें कम्पित नहीं होना चाहिए। इस श्लोक से भगवान प्रथमाध्याय के उन्तीसवें और तीसवें प्रश्न का प्रत्युत्तर दे रहे हैं। अर्जुन ने कहा था 'वे पथुश्च शरीरे में' गीता (१/२९) अर्थात् मेरे शरीर में कम्पन हो रहा है। उसके उत्तर में भगवान कहते हैं- 'न विकम्पितुमर्हसि' अर्थात् तुम्हें कम्पित नहीं होना चाहिए क्योंकि यही तुम्हारा धर्म है। फिर तुम्हारे अंग क्यों विषीर्ण हो रहे हैं तुम्हारा मुख क्यों सूख रहा है? तुम क्यों कांप रहे हो? और तुम क्यों रोमांचित हो? रहे हो क्योंकि युद्ध धर्म्म अर्थात् धर्म से अनपेत है, एक इन्च भी धर्म मार्ग से इधर-उधर गया नहीं है। तुमने सातवें श्लोक में श्रेय की जिज्ञासा की थी तो तुम्हारे लिए युद्ध ही सबसे बड़ा श्रेय है। क्योंकि शास्त्रों में कहा भी गया है।

संग्रामादनिवर्तित्वं प्रजानां चानुपालन् ।
सुश्रुषणं ब्राह्मणानां राज्ञां निः श्रेयसं परम।।
संग्रामान्न निवर्तेत राजधर्म मनुस्मरन् ।
समोत्तमाधमैश्चापि समाहूतो नृपोत्तमः।।

अर्थात् युद्ध से पलायन न करना प्रजा का पालन करना और ब्राह्मणों की सेवा ये तीन कर्म राजा के लिए परम कल्याण कारी हैं। अपने से समान, उत्तम या निर्बल किसी भी योद्धा द्वारा ललकारे जाने पर श्रेष्ठ राजा को राजधर्म का स्मरण करके युद्ध से पीछे नहीं लौटना चाहिए। तुमको उलूक के द्वारा दुर्योधन ने युद्ध के लिए ललकारा है। इसलिए युद्ध ही तुम्हारे लिए परम श्रेयस्कर है अतः वर्ण धर्म मानकर युद्ध करो यही उपदेश का अभिप्राय है ।।श्री।।

संगति- इतना ही नहीं तुमने १/३२ में राज्य विजय और सुख की अनिच्छा की बात कही न हो राज्य विजय सुख की आकांक्षा पर स्वर्ग की तो तुम्हे आकांक्षा है ही इसीलिए तो नरक से डरते हो, यदि नरक से न डरते तो १/४४ नरक की चर्चा क्यों करते? इसलिए सहजता स्वर्ग द्वार तुम्हारे सामने उपस्थित है इसी तथ्य को स्पष्ट करते हैं।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! बिना प्रयास के अपने आप उपस्थित और खुले हुए इस प्रकार के युद्ध रूप स्वर्ग द्वार को भाग्यवान क्षत्रिय ही प्राप्त करते हैं।

व्याख्या- यहाँ चकार समुच्चयार्थक है। अर्थात् वेदव्यास की प्रेरणा से और इन्द्र की कृपा से जो स्वर्ग द्वार तुमने प्राप्त किया वहाँ पर भी तुम उर्वसी के शाप से नपुंसक बने परन्तु यहाँ तो बिना किसी तपस्या के यह स्वर्ग का द्वार उपस्थित हैं वो भी 'अपावृतम्' अपगतं, अवृतं अवर्ण यस्मात् 'तत्' अर्थात् तुम्हें खोलना भी नहीं पड़ा दुर्योधन आदि ने स्वयं उसके किवाड़ खोल दिये हैं। तुम कहते हो कि स्वजनों को मारकर हम कैसे सुखी होंगे तो उसका उत्तर है 'सुखिना क्षत्रीया:' इसप्रकार के युद्ध रूप स्वर्ग द्वार को भाग्य रूप सुख से युक्त क्षत्रिय ही प्राप्त करते हैं। इसलिए युद्ध करो। ॥श्री॥

संगति- जो अर्जुन ने गीता १/३६ में कहा था कि इन आततायियों को मारने से हमको पाप ही लगेगा इस प्रश्न का उत्तर दे रहे है वचन रचना नागर भगवान नन्दनागर।

अथ चेत्त्वामिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि।।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- यदि तुम पाप से भयभीत होकर इस धर्ममय संग्राम को नहीं करोगे तो अपने धर्म और कीर्ति को छोड़कर पाप ही प्राप्त करोगे।

व्याख्या- यहाँ अथ शब्द पक्षान्तर का सूचक है, और चेत का अर्थ है, यदि इमं चिरकाल से प्रतीक्षित धर्म्यं धर्ममूलक अर्थात् यह बहुत दिनों से प्रतीक्षित है। भगवान मनु भी कहते हैं कि चाहे गुरु हो या बालक, वृद्ध हो या विद्वान ब्राह्मण, यदि वह आततायी है तो उसे सामने आते ही बिना विचारे मार डालना चाहिए। क्योंकि आततायी को मारने में मारने वाले को कोई दोष नहीं लगता। इसप्रकार मनु धर्म युद्ध को धर्म मूल मानते हैं अत: इसे यदि नहीं करोगे तो अपने क्षात्र धर्म और कीर्ति को नष्ट करके पाप को ही प्राप्त कर लोगे। क्योंकि युद्ध करने पर तुम्हें पाप न लगता पर युद्ध से भागने पर पाप लगेगा। क्योंकि युद्ध से भागने पर भी दुर्योधन आदि तुम्हें मार डालेंगे और पराङमुख होकर मरने से तुम्हें नरक ही होगा

इसलिए युद्ध करो।

।।श्री।।

संगति- अर्जुन फिर अपना पक्ष देते हैं कि होने दीजिए पाप परन्तु बन्धु बन्धुओं को न मारकर जीता हुआ सैकड़ों कल्याणों के दर्शन करूँगा इस पर भगवान कहते हैं।

अकीर्तिं चापि भूतानि
कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
सम्भावितस्य चाकीर्ति-
र्मरणादतिरिच्यते।।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! यदि तुम युद्ध नहीं करोगे तो तुम्हारी इस अविनाशिनी कीर्ति को सामान्य लोग भी एक दूसरे से कहेंगे। तुम जैसे सम्मानित व्यक्ति के लिए अपकीर्ति मरण से भी अधिक कष्टप्रद होती है।

व्याख्या- तुमने "जीवन्नरः भद्र शतानि पश्येत्" इस प्राचीनोक्ति को चरितार्थ करते हुए युद्ध न करने का निर्णय लिया। परन्तु युद्ध न करके क्या तुम सुखी रह पाओगे। क्योंकि 'ते' अर्थात् इन्द्रलोक में भी जिसने अपनी धनुर्विद्या के प्रभाव का दबदबा जमाया, ऐसे सव्यसाचि तुम्हारी युद्ध से पलायन रूप अपकीर्ति सामान्य लोग भी एक दूसरे से कहेंगे। तुम सम्भावित हो, अर्थात् युद्ध में श्रीमहादेव ने भी तुम्हें सम्मान दिया है, वहीं तुम साधारण लोगों के सामने पीठ दिखाओगे। अपकीर्ति सम्मानित व्यक्ति के लिए मरण से भी "अतिरिच्यते" अर्थात् अत्यन्त कष्टदायिनी होती है। जैसे की श्रीमानस में भगवान् श्रीराम सुमन्त्र जी से कहते हैं-

संभावित कह अपजस लाहू
मरण कोटि सम दारुण दाहू।। मानस २-९५-७

संगति- अर्जुन पक्षान्तर प्रस्तुत करते हैं, ठीक है जो मेरा अभिप्राय नहीं जानते, वे युद्ध से भगता हुआ देखकर मेरी निन्दा करें। परन्तु जो मुझे जानते हैं वे तो बन्धु वध से विरत देखकर मेरी प्रशंसा करेंगे ही इस प्रकार आशान्वित अर्जुन के प्रति आक्षेप करते हुए भगवान वसुदेव नन्दन श्रीकृष्ण बोले-

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ।।३५।।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- जिन महारथियों के लिए तुम अत्यन्त सम्मानित होकर अब युद्ध से भागकर लघुता को प्राप्त करोगे। वे तुम्हारी प्रशंसा नहीं करेंगे। प्रत्युत वे तुम्हें भय के कारण युद्ध से उपरत अर्थात् भागा हुआ मानेंगे।

व्याख्या- तुम पहले जिन भीष्मादि के लिए बहुमत अर्थात् बहुत सम्मानित होकर अब युद्ध से पलायन करके "लाघवं" अर्थात् युद्धभीरूत्वरूप लघुता को प्राप्त होओगे। जैसे भीष्म को अर्जुन के प्रति कितना सम्मान है, वे कहते हैं:-

किरीटी बलवान् पार्थः कृतास्त्रश्च महारथः।
को हि पाण्डुसुतं युद्धे विषहेत धनंजयम् ।।
अपि वज्रधरः साक्षात् किमुतान्ये धनुर्भृतः।
त्रयाणामपिलोकानां समर्थ इति मे मतिः।।

महाभारत उद्योग प० २१-६,७

किरीटि अर्जुन अत्यन्त बलवान है, वे शस्त्र विद्या में निपुण और महारथि तथा परम समर्थ हैं। युद्ध में पाण्डुपुत्र धनञ्जय का तीनों लोकों में कौन सामना कर सकता है। चाहे वे साक्षात् इन्द्र हों या अन्य धनुर्धर ऐसा मेरा अर्थात् (भीष्म का) मानना है।

द्रोणाचार्य स्वयं विराट् पर्व में कहते हैं-

नदीजलक्लेशवनादिकेतु-
र्नगाह्वयो नाम नगारिसुनुः।
एषोऽङ्गनावेषधरः किरीटी
जित्वाहवं नेष्यति चाद्यगावः।।
स एष पार्थो विक्रान्तः सव्यसाची परंतपः।
नायुद्धेन निवर्तेत सर्वैरपि सुरासुरैः।।
क्लेशितश्च वने शूरो वासनेनापि शिक्षितः।
अमर्षवशमापन्नो वासवप्रतिमो युधि।
नेहास्य प्रतियोद्धारमहं पश्यामि कौरवाः।।
महादेवोऽपि पार्थेन श्रूयतेयुधि तोषितः।
किरातवेषप्रच्छन्नोगिरौ हिमवति प्रभुः।।

महाभारत विराट पर्व ३९-१०, ११, १२, १३ गूढ़ होने के कारण यहाँ

प्रथम श्लोक की व्याख्या की जा रही है, द्रोण अर्जुन की प्रशंसा करते हुए कह रहे हैं। यहाँ नदी शब्द गङ्गा का वाचक है, उनसे उत्पन्न होने से भीष्म को नदीज कहते हैं। लङ्केश अर्थात् रावण उसका वन 'अशोकवनिका' उसके अरी अर्थात् श्री हनुमान जी जिसके केतु अर्थात् पताका पर विराजते हैं ऐसे लङ्केशवनादिकेतु कपिध्वज नग अर्थात् अर्जुन वृक्ष के समानाक्षर है नाम जिसका ऐसे पर्वतों के शत्रु इन्द्र के पुत्र नारी वेषधारी ये अर्जुन आज युद्ध जीतकर तुम लोगों की गौओं को विराट नगर ले जायेंगे।

२- यह सव्यसांची शत्रुओं को पीड़ा देने वाले पराक्रमी अर्जुन बिना युद्ध किये हुए देवता और दानवों के द्वारा भी नहीं लौटाये जा सकेंगे।

३- हे कौरवों! युद्ध में इन्द्र के समान पराक्रमी वीर अर्जुन वन में बहुत कष्ट पाये और स्वर्गलोक में जाकर इन्द्रदेव से धनुर्विद्या की विशेष शिक्षा ली, 'अब वे अत्यन्त क्रुद्ध हो चुके हैं, इसीलिए मैं उनके प्रतिपक्ष में युद्ध करने वाला कोई योद्धा नहीं देख रहा हूँ।

४- ऐसा सुना जाता है कि हिमालय पर्वत पर किरात वेष में छिपे हुए भगवान शंकर भी युद्ध में अर्जुन से सन्तुष्ट हो गये थे। इसप्रकार अपने पक्ष वाले वीरों के लिए भी पहले बहुत सम्मानित होकर इस समय लघुता को प्राप्त करोगे। तब स्वपक्ष और परपक्ष के वे सभी महारथी तुमको भय के कारण युद्ध से पलायित हुआ मानेंगे। अर्थात् महान् लोगों के लिए भी युद्ध से पलायित होकर तुम सम्मान भाजन नहीं बन सकोगे। ।।श्री।।

संगति- फिर अर्जुन पक्ष प्रस्तुत करते हैं कि लोग मुझे युद्ध से पलायित हुआ भले हि मान ले", पर मैं तो स्वजनों को न मारकर सुखी हो जाऊँगा। अर्जुन की इस धारणा का खण्डन करते हुए श्री हरि कहते हैं-

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ।।३६।।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! तुम तब भी सुखी नहीं रह पाओगे, तुम्हें युद्ध से पलायित देख तुम्हारे पूर्व शत्रु कर्णादि तुम्हारे धनुर्विद्या सामर्थ्य के

निन्दा करते हुए तुम्हारे लिए बहुत से न कहने योग्य दुर्वचन बोलेंगे। इससे अधिक और क्या दुःख होगा।

व्याख्या- वह धारणा भी तुम्हारी निर्मूल है, इनको न मारकर भी तुम सुखी नहीं रह सकते। जैसे तब जिसने युद्ध में शंकर भगवान को सन्तुष्ट किया और जिसने देवताओं को पराजित करके खाण्डव वन जलाया, और निवात कवच को मारकर जिसने देवताओं की सहायता की, तथा इन्द्रदेव से जिसे धनुर्विद्या की शिक्षा मिली, ऐसे तुम्हारे देवताओं को विस्मित कर देने वाले अलौकिक सामर्थ्य तथा धनुर्विद्या पाण्डित्य की निन्दा करते हुए ''तव अहिता'' तुम्हारे शत्रु विशेषतः कर्ण आदि तुम्हारे न कहने योग्य वाक्य कहेंगे, इससे अधिक दुःख और क्या होगा। इसीलिए युद्ध करो ।।श्री।।

संगति- यहाँ अर्जुन का फिर प्रश्न होता है कि मैंने गीता २-६ में कहा था कि हमारे लिए क्या श्रेष्ठ है? विजय या पराजय। इस पर भगवान् कहते हैं।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ।।३७।।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे कुन्ती पुत्र अर्जुन! यदि तुम युद्ध में मारे गये। 'तो स्वर्ग प्राप्त करोगे और यदि युद्ध में जीते तो पृथ्वी सुखों का उपभोग करोगे। इसीलिए युद्ध करने के लिए निश्चय करके रथ के क्रोऽभाग से उठकर गाण्डीव लेकर खड़े हो जाओ।

व्याख्या- अर्जुन के पूर्व प्रश्न का उत्तर देते हैं की तुम्हारे लिए जय और पराजय दोनों श्रेयस्कर हैं। क्योंकि यदि शत्रुओं ने तुम्हें मार डाला तो स्वर्ग अर्थात् स्वर्गीय देवतओं द्वारा गाये जाने वाले गोलोक को प्राप्त करोगे। प्रथम चरण में प्रयुक्त 'वा' शब्द अरूच्यर्थक है, क्योंकि अर्जुन का मरण संभव ही नहीं है। द्वितीय चरण में प्रयुक्त 'वा शब्द तथा के अर्थ में है।' जीत्वा का स्वतन्त्र और नहीं शब्द के साथ अन्वय हो सकता है, अर्थात् जब युद्ध में विजयी होवोगे, तब पृथिवी का उपभोग करोगे अथवा यदि युधिष्ठिर द्वार हारी हुई पृथिवी को जीत लोगे तब भोक्ष्य से अर्थात् दिव्य भोग भोगोगे। इस हेतु युद्ध के लिए किया गया निश्चय जिसके द्वारा ऐसे तुम उठकर खड़े हो जाओ। 'उत्तिष्ट' शब्द का प्रयोग करके 'गीता' १-४७ में

अर्जुन की रथोपस्थ उपाविशत् वाक्य खण्ड द्वारा प्रस्तुत हुई 'रथोपस्थोपवेशन' क्रिया की भगवान् निन्दा कर रहे हैं। क्योंकि स्मृति कहती है- कि दो ही पुरुष सूर्यमण्डल का भेदन कर पाते हैं' योग में निपुण योगी अथवा सम्मुख युद्ध में मारा गया वीर ॥श्री॥

संगति- अब अर्जुन ने प्रश्न किया कि जय और पराजय दोनों में सुख और दुःख समान होंगे 'विजयी होकर अपने द्वारा मारे हुए कुटुम्बी जनों के प्रति शोक करूँगा, और पराजित होकर अपने में ग्लानि का अनुभव करूँगा। तो फिर क्या करूँ? इस पर भगवान कहते हैं।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ।।३८।।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन 'इस कारण से सुख और दुःख' 'लाभ हानि' 'जय तथा पराजय' इन छहों को समान करके अर्थात् इनके अनुकूलांश से राग, और प्रतिकूलांश से द्वेष छोड़कर युद्ध के लिए उद्यत हो जाओ। ऐसा करके पाप को नहीं प्राप्त होवोगे। और ऐसा नहीं करोगे तो पाप को प्राप्त हो जाओगे॥

व्याख्या- 'तत': शब्द तसिल् प्रत्ययान्त होकर हेतु वाचक 'तस्मात्' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। क्योंकि तुम्हारे लिए जय और पराजय दोनों में घी का लड्डू है। इसीलिए सुख दुःख को तथा लाभ, अलाभ, जय और पराजय, इन सबमें समत्व बुद्धि ले आओ। अर्थात सुख 'लाभ और जय से राग मत करो, उसीप्रकार दुःख' अलाभ अर्थात् हानि और पराजय के प्रति द्वेष बुद्धि मत करो। मेरी आज्ञा मानकर युद्ध के लिए तैयार हो जाओ। चतुर्थ चरण के दो अर्थ होंगे, 'एवं न पापं अवाप्स्यसि' ऐसा करके पापा को नहीं प्राप्त करोगे। अथवा' न एवं पापमवाप्स्यसि'' अर्थात् ऐसा नहीं करोगे तो पाप लगेगा। इस वाक्य से गीता १-३६ से लेकर गीता १-४५ तक के सभी पक्षों को निरस्त कर दिया गया। अब यहाँ पूर्व पक्षी के द्वारा प्रश्न किया जाता है कि भगवान ने ज्ञान योग के दृष्टि से ११ से ३० तक २० श्लोको में आत्मा का निरूपण किया और तीसवें श्लोक में उसका उपसंहार भी किया। इसके पश्चात् तुरन्त ही उन्हें 'कर्मयोग' का वर्णन करना चाहिए था, ऐसा न करके भगवान ने आठ श्लोको से कर्मयोग को व्यवहित क्यों कर दिया?

उत्तर- ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्यों कि ज्ञान योग के अनन्तर कर्मयोग ही कहना चाहिए' भगवान द्वारकाधीश के लिए कोई ऐसी राजाज्ञा नहीं है। क्योंकि परमेश्वर सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हैं।

प्रश्न- तो क्या सर्वतन्त्र स्वतन्त्र परमात्मा शास्त्रार्थ के आचरण में स्वतन्त्र है?

उत्तर- नहीं लीला में उनकी स्वच्छन्दता को किसी प्रकार स्वीकारा जा सकता है। आचरण में नहीं।

प्रश्न- तो क्या श्री गीता जी का उपदेश भगवान कृष्ण की लीला है, की इसमें स्वच्छन्दता करेंगे?

उत्तर- नहीं

प्रश्न- तो फिर क्या है?

उत्तर- यह तो भगवान का चरित्र भाग है, इसीलिए इसमें भगवान की स्वच्छन्दता को अनुमति नहीं दी जा सकती।

प्रश्न- तो फिर यहाँ आठ श्लोकों से कर्मयोग का व्यवधान क्यों हुआ?

उत्तर- ज्ञान योग के पश्चात कर्मयोग ही कहा जाय इसमें कोई शास्त्र नियामक नहीं है।

प्रश्न- गीता जी के तृतीय अध्याय के तृतीय श्लोक में भगवान स्वयं कहते हैं कि इस लोक में ज्ञानियों के लिए ज्ञान योग के द्वारा तथा योगियों के लिए कर्मयोग द्वारा दो प्रकार की निष्ठा मैंने सृष्टि की प्रारम्भ में ही कह दी थी। इसप्रकार भगवान के द्वारा कही हुई द्विविध निष्ठा के आधार पर सुस्पष्ट हो जाना है कि ज्ञान योग के अनन्तर ही कर्मयोग का व्याख्यान करना चाहिए?

उत्तर- ऐसा नहीं है क्योंकि भगवान ने 'लोकेऽस्मिन्' कहकर लोक में ही ज्ञानयोग के पश्चात कर्मयोग की अनिवार्यता कहीं शास्त्र में ऐसी कोई राजाज्ञा नहीं है।

और अर्जुन व्यवहार में भले ही लौकिक हो, परन्तु परमार्थ में भगवान के नित्य परिकर होने से पारलौकिक है। उनके लिए ज्ञान योग के अनन्तर भक्तियोग के व्याख्यान की आवश्यकता होने के कारण तृतीय व्याख्यान निर्दोष है' ऐसा समझना चाहिए। इसीलिए यह अष्टश्लोकी भक्तिपरक ही है।

प्रश्न- आश्चर्य है की 'स्वधर्म' इत्यादि "नैवं पापमवाप्स्यसि" इस वाक्य पर्यंत अष्टश्लोकी में आठों श्लोकों का सामान्यतः अर्थ विचार करने पर हमें भक्तियोग का एक भी सूत्र तो उपलब्ध नहीं होता?

उत्तर- वास्तव में शास्त्रविचार में आपका हृदय गम्भीर नहीं है। शास्त्रों का सामान्य बुद्धि से विचार नहीं किया जाता। उसमें भी 'गीताशास्त्र' जिसे स्वयं भगवान कृष्ण ने कहा। जो भगवान् कृष्ण नाम और रूप दोनों में ही त्रिवक्र अर्थात् तीन-तीन स्थानों से टेढ़े हैं। उनके कृष्ण नाम के तीनों अक्षर टेढ़े, रूप में भी, वे घुटने 'कटी और गले से टेढे होकर त्रिभङ्ग ललित कहे जाते हैं। इसीलिए उन्हें भक्तजन 'बाँके बिहारी 'कहते हैं। इसीप्रकार उनका चरित्र भी टेढ़ा है, जो सामान्य बुद्धि से नहीं से नहीं विचारा जा सकता। महाभारत में देखिये स्वयं 'निरायुध' होकर भी बड़े बड़े परम दिव्यास्त्रों को धारण करने वाले वीर धीर धुरन्धरों को मारकर भी इन मायावी मुकुट मणि प्रभु ने अर्जुन से कितनी चतुरता से कहा, इन लोगों को मैंने पहले ही मार डाला है, तुम निमित्त मात्र बन जाओ। इन वञ्चक शिरोमणि प्रभु का कितना विचित्र वञ्चन। अहो भागवत १-८-६ के अनुसार कचस्पर्शक्षतायुषः 'अर्थात् द्रौपदी जी के केश कर्षण के समय ही प्रभु ने प्रतिपक्षी भटों को मार डाला था। इसीलिए पहले ही मारे हुए वीरों के ऊपर शास्त्र कैसे उठाते' इसीलिए भगवान की निःशस्त्रता समुचित ही है। क्योंकि कोई भी वीर मरे हुए लोगों को नहीं मारता। इसीलिए वीरोचित मर्यादा का निर्वाह करते हुए अर्जुन का सारथि बनना स्वीकार करके लोक में कौरव और पाण्डवों के बीच में तटस्थता का निदर्शन कराते हुए भी, परमार्थतः प्रपन्नपारिजात भगवान के द्वारा अपने शरणागत पाण्डवों पर बहुत बड़ा पक्षपात किया गया। भगवान् का वही टेढ़ापन गीताजी की इस अष्टश्लोकी में भी समझना चाहिए। अब भगवान श्री राघव सरकार की कृपा से इस अष्टश्लोकी पर मैं फिर नये सिरे से विचार कर रहा हूँ। 'स्वधर्म २-३१ यह गीता जी शास्त्र है इति गुह्यनमं शास्त्रं १५-२० भगवान कहते हैं' यह गोपनीय शास्त्र है और भी सर्वशास्त्र मयी गीता गीना सर्वशास्त्रमय है। इसप्रकार वैशम्पायन जी ने जनमेजय के प्रति कहा

है। जो शासन अर्थात् अनुशासन करता है और शंसन अर्थात् उपदेश करता है उसे शास्त्र कहते हैं। ऐसी वहाँ की निरूक्ति है। 'शास्ति इति शास्त्रम्' 'शंसति इति शास्त्रम्' ज्ञानशून्य के लिए ही शंसन या शासन उत्पन्न होता है, इसीलिए दार्शनिकों के मत में अज्ञात वस्तुका ज्ञापक अर्थात् न जानी हुई वस्तु को जनाने वाला ही शास्त्र है, ऐसा दार्शनिक महानुभाव मानते हैं। 'अज्ञातज्ञापकत्वं शास्त्रत्वम्' इसीलिए तीसवें श्लोक में ज्ञानयोग का उपसंहार करके पुनः उन्तालिसवें से कर्मयोग का वर्णन किया जायेगा, ऐसा विचार कर इन दोनों के बीच में अत्यन्त गोपनीय जल वाली सरस्वती नदी की भाँति शरणागतों के हितैषिणी अत्यन्त गोपनीय भक्ति रहस्य से युक्त अपनी रसस्वती को सारस्वत सार्वभौम भगवान् श्रीकृष्ण 'स्वधर्म' इत्यादि आठ श्लोकों से समवतारित कर रहे हैं। इस श्लोक में प्रयुक्त चकार पक्षान्तर का सूचक है। अब प्रपत्ति पक्ष से व्याख्या कर रहा हूँ 'इक्कीसवें श्लोक के चतुर्थ चरण में प्रयुक्त' क्षत्रियां स्यति तत्सम्बुद्धौ हे क्षत्रियस्य इस विग्रह में क्षत्रिय कर्म उपपद से अन्तकर्मार्थकषोधातु उपादि 'अच्' प्रत्यय और श्यन् विकरण से सम्बोधन में क्षत्रियस्य शब्द बना अर्थात् जिसने अपने पराक्रम से प्रतिपक्षी क्षत्रियों को समाप्त किया है ऐसे हे अर्जुन गीता २/७ के 'शिष्यस्तेऽहं' के अनुसार अब तुम मेरी शरणागत हो चुके हो। इसलिए स्वस्य धर्मः स्वधर्म, अर्थात् स्व माने मेरे शरणागत का धर्म ही स्वधर्म है' जो लोक धर्म से विलक्षण है उस सुधर्म अर्थात् शरणागत धर्म को अपि भी 'अवेक्ष्य' पालन करने के लिए निश्चित करके 'विकम्पितुं नार्हसि' मैं कैसे हिंसा करूँ इसप्रकार कम्पित न हो हि क्योंकि युद्ध अधर्ममय मय नहीं है, वह तो मुझ शरण्य परमात्मा की आज्ञा होने के कारण पूर्णतः धर्ममय है इसलिए उसे धर्म्य कहते हैं। वास्तव में धर्म भगवान श्रीकृष्ण का नाम है विष्णुसहस्त्रनाम में 'धर्मो धर्म विदां श्रेष्ठः' कहा गया और महाभारत (२/६७/४६) में ततस्तु धर्मोऽन्तरितो महात्माा 'इसप्रकार कहा गया है। ऐसे धर्मरूप' श्रीकृष्ण से उनकी आज्ञा होने से अनपेत होकर यह युद्ध धर्म्य बन गया यहाँ अनपेत अर्थ में धर्म पथ्यर्थ न्यायादनपेते (४/४/९२) इस सूत्र से यत् प्रत्यय हुआ अर्थात् जो धर्म रूप मुझ श्रीकृष्ण से अनपेत यानि अलग नहीं है ऐसे युद्ध से अन्य शरणागत के लिए कोई श्रेय नहीं है, यही यहाँ आनुकूल्य का संकल्प है। मेरी आज्ञा का पालन ही शरणागत का धर्म है यदि वह युद्ध रूप ही है तो उसके पालन में तुम्हें आनन्दित होना चाहिए न कि कम्पित। यही मेरे आनुकूल्य का संकल्प है इसका न करना ही प्रातिकूल्य है वह तुम्हें छोड़ना पड़ेगा। यही प्रातिकूल्य का वर्जन है। "मैंने उत्तिष्ठ" परं तप' कहकर तुम्हें उठने की आज्ञा दी फिर भी तुम परलोक के डर से नहीं उठ रहे हो युद्ध मे मैं तुम्हारे लोक परलोक की रक्षा करूंगा नव

'रक्षिष्य तीति विश्वासः' भगवान रक्षा करेंगे इसप्रकार महा विश्वास आ जायेगा। इसलिए युद्ध करने में ही शरणागति की तृतीय विधा का पालन होगा। यदि मुझे रक्षक के रूप में वरण किया है तो फिर युद्ध नहीं करूँगा ऐसा स्वतन्त्र निर्णय क्यों ले लिया इसलिए युद्ध में ही 'गोप्तृत्व' वरण नामक चतुर्थ शरणागति का रक्षण होगा। यदि कार्पण्य ही दैन्य है तो फिर मैं युद्ध नहीं करूँगा इसप्रकार तुमने मेरा अपमान क्यों किया। दीन कभी दीनबन्धु का निराकरण नहीं करता। इसलिए युद्ध में ही 'कार्पण्य' नामक पंचम शरणागति की रक्षा होगी। यदि तुम्हारा आत्म निक्षेप अर्थात् मुझमें सर्वसमर्पण है तो फिर कुटुम्ब ममत्व को छोड़कर युद्ध करो यही तुम्हारा धर्म है। अतः इस शरणागत के धर्म को देखकर कम्पित न हो, 'विषाद मत करो युद्ध रूप शरणागत धर्म का पालन करो यही अष्टश्लोकी के प्रथम श्लोक का निगूढ़ अभिप्राय है। 'यदृच्छया' (२/३२) अन्य भरत आदि भागवत गण मेरी आज्ञा पालन रूप स्वधर्म की प्रतीक्षा करके रहते हैं तुम्हारे लिए तो यह अकस्मात् प्राप्त हो गया।

अपावृतम् - अन्यत्र तो व्यंजना आदि वृत्तियों के कारण मेरी आज्ञाओं में कोई न कोई आवरण रहता है 'परन्तु तुम्हारे लिए तो उठो हे भारत युद्ध करो' इसप्रकार अभिधा में स्पष्ट करते हुए मैंने ही आवरण हटा दिया है इसीलिए 'अपावृतम् अर्थात् इसमें कोई आवरण या कपाट नहीं है।

स्वर्गद्वारम् - जो स्वर्ग लोक में गाया जाता है उस साकेत, गोलोक, तथा महावैकुण्ठ को स्वर्ग कहते हैं। यह युद्ध उसका द्वार है। क्योंकि यह उसे पाने का साधन है' मेरी आज्ञा का पालन करने वाला वैकुण्ठ को प्राप्त कर लेता' है यह सर्वविदित है।

ईदृशम् - 'ई' दर्शयति, यह शरणागति की श्री का दर्शन कराता है इसप्रकार धर्म मय जो कि उत्पन्न है अर्थात् शास्त्रीय युक्तियों से युक्त है। ऐसे युद्ध को भाग्यवान क्षत्रिय ही प्राप्त करते हैं, प्रायः शरणागत न्यस्त दण्ड होकर माला ही जपते है, परन्तु तुम्हारे भाग्य से युद्ध भी शरणागति के अन्तर्गत आ गया। यह तो लोक परलोक दोनों का पालन हो रहा है। दो कार्य करने वाली एक क्रिया प्रसिद्ध होती है जिससे आम्र के वृक्षों का सिंचन भी हो जाय और पितरों का तर्पण भी। इसप्रकार इस युद्ध से तुम्हारे लोक परलोक दोनो बनेंगे, यह द्वितीय श्लोक का अर्थ हुआ।

अथ चेत्त्वं - (२/३३) अब तीसरे श्लोक की व्याख्या की जाती है 'यदि तुम' 'इमं इस (धर्म्यं) धर्मरूप मुझ कृष्ण से अनपेत अर्थात् अपृथक संग्रामं मेरे आदेश रूप संग्राम को नहीं करोगे, ततः तो फिर स्वधर्म शरणागत के धर्म को च और कीर्ति भगवत्कैंकर्म के मिलने वाले यश को हित्वा 'छोड़कर 'पापं अवाप्यस्यसि' 'मेरे' आदेश भंग से उत्पन्न पाप को ही प्राप्त करोगे। क्योंकि शरणागति में आदेश पालन का बड़ा महत्व है। जैसा कि 'कवितावली रामायण' में श्री अंगद रावण से कहते हैं-

कोशलराज के काज हैं आज त्रिकूट उपारिलै वारिद बोरौं
महाभुजदण्ड द्वै अण्ड कटाह चपेटि के चोट चटाक दै फोरौं।
आयसु भंग ते जौ नडरौं सब सभासद सोनित घोरौं
मी बालि को बालक तो तुलसी दसहुँ मुख रन में रन तोरों।

तौरौं इसलिए भगवान कृष्ण कहते हैं अर्जुन युद्ध करो उसमें यदि पाप भी होगा तो उसे मैं नष्ट कर दूँगा जैसे कि गीतोपदेश के अन्त में स्यवं कहते हैं-

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।

अकीर्तिं (२/३४) यदि तुम मेरी आज्ञा का पालन रूप युद्ध नहीं करोगे तब भूतानि मेरे शरणागत भागवतवृन्द 'ते तुम्हारी' 'अव्ययाम्' अविनाशिनी अकीर्तिं भगवदाज्ञा भंग से उत्पन्न कीर्ति को 'कथयिष्यन्ति' मेरे भक्तों के बीच प्रचारित करेंगे। लोग कहेंगे कि अर्जुन जैसे शरणागत भागवत् ने युद्ध न करके भगवान की आज्ञा का उल्लंघन किया। सम्भाश्रवितस्य 'तुम शरणागत श्री वैष्णवो के बीच अधिक सम्भावित हो चुके हो मेरे कीर्तन मंडल में तुम्हें राग निर्देशक का गौरव प्राप्त है। रागकर्त्ताऽजुनोभूत्' परशुराम भी तुम्हें नारायण का अनुचर नरावतार मान चुके है। इतना सम्मान प्राप्त करके तुम्हारे लिए यह अकीर्ति मेरी आज्ञा के उल्लंघन का यह अपयश मरण से भी कष्टप्रद होगा। श्री मानस में भी निषादराज कहते हैं-

साधु समाज न जाकर लेखा। रामभगत महुँ जासु न रेखा।
जामैं जियत जग सो महिभारू। जननी जौवन विटप कुठारू।।

(मा० २/११०/७,८)

इसलिए शरणागत के सुयश का रक्षण करने के लिए युद्ध करो यह चौथे

श्लोक का अर्थ हुआ।

भयाद्रणात् (२/३५) अब पंचम श्लोक की व्याख्या की जाती है 'भगवान कहते हैं कि हे अर्जुन मेरे शरणागत होने के कारण ही विपक्षी महारथी भी तुम्हें बहुत मानते हैं' यहाँ तक कि दुर्योधन भी मेरे भक्त होने से तुम्हारा सम्मान करता है।

जानामिते वासुदेवं सहायं जानामि ते गाण्डिवं तालमात्रम् ।
जानाम्येतत् त्वादृशो नास्ति योद्धाजानानस्ते राजमेतद्धरामि।।

दुर्योधन कहता है हे अर्जुन! मैं जानता हूँ कि भगवान श्रीकृष्ण तुम्हारे सहायक हैं मैं यह भी जानता हूँ कि ताल वृक्ष के समान गाण्डीव तुम्हारे पास हैं मैं यह भी जानता हूँ कि वर्तमानकाल में त्रिलोक में तुम्हारे जैसा कोई योद्धा नहीं है परन्तु यह सब जानता हुआ भी तुम्हारा यह राज्य हड़प रहा हूँ। इसप्रकार मेरे शरणागत के कारण ही तुम जिन विपक्षी योद्धाओं के भी सम्मान पात्र बने 'उन्हीं के समक्ष आज मेरी आज्ञा का उल्लंघन करके लघुता को प्राप्त करोगे' तब वे महारथी तुम्हें भय के कारण युद्ध से भगा हुआ भागवत् विमुख प्राणी मानेंगे जो कितना दुःखद होगा। यह पाँचवें श्लोक का अर्थ है।

अवाच्यदान- (२/३६) अब छठें श्लोक की व्याख्या की जाती है। हे अर्जुन! तुम्हारे प्रेम का कितना बड़ा सामर्थ्य था कि जिससे वशीभूत होकर मैं सम्पूर्ण गुणगण महासागर परमात्मा भी तुम्हारा पक्षपात करके अपने समधी दुर्योधन को भी मात्र दस कोटि नारायणी सेना से संतुष्ट कर दिया जैसा कि महाभारत में भगवान श्रीकृष्ण कहते भी हैं-

भवानभिगतः पूर्वमत्र मे नास्ति संशयः।
दृष्टस्तु प्रथमम् राजन् मया पार्थो धनं जयः ।। म० उ० ७/१५
अपुध्यमानः संग्रामे न्यस्तशास्त्रोऽहर्मक्तः
तेव युधि दुराधर्षो भवन्त्वेकत्र सैनिकाः।।७/१९
एव मुक्तस्तु कृष्णेन कुन्तीपुत्रो धनंजयः।
अयुध्यमानं संग्रामे वरयामास केशवम् ।।७/२१)

अर्थात् भगवान कृष्ण कहते हैं आप मेरे पास प्रथम आये हैं इसमें मुझे कोई

संशय नहीं' पर मैंने आपसे पहले अर्जुन को ही देखा फिर भी एक ओर मेरी दस कोटि नारायणी सेना के सशस्त्र वीर योद्धा रहेंगे और दूसरी ओर मैं अकेला नि:शस्त्र रहूँगा। इतना कहने पर भी कुन्ती पुत्र धनंजय अर्जुन ने युद्ध न करते हुए भी निशस्त्र श्रीकृष्ण का ही वरण कर लिया। यहाँ अर्जुन के लिए भगवान वेदव्यास ने 'धनञ्जय' शब्द का बड़ा सार्थक प्रयोग किया है। 'धनं जयति' इति धनंजय। जिसने श्रीकृष्ण रूप धन को जीता है वह धनंजय है। तुम्हारे उसी सामर्थ्य की निन्दा करते हुए तुम्हारे शत्रु दुर्योधनादि तुम्हारे लिए अवाच्यवाद अर्थात अश्लील शब्दों का प्रयोग करेंगे। वे कहेंगे कि अर्जुन भगवान का भक्त नहीं, ढोंगी और दम्भी है, नहीं तो भगवान की आज्ञा का उल्लंघन क्यों करता? इसलिए मेरी शरणागति की लाज रखने के लिए युद्ध करो। यह छठें श्लोक का अर्थ है।

हतो वा (२/३७) अब सप्तम् श्लोक की व्याख्या की जाती है। अर्जुन तुम्हें भय किस बात का, गंगा के बीच रहकर प्यासा मरने जैसा कुबेर के यहाँ रहकर भूखे रहने जैसा तुम्हारे लिए दोनों पक्ष मंगलमय हैं। क्योंकि मेरे भक्त का कभी अमंगल नहीं होता। यदि शत्रु द्वारा मारे जाओगे तो स्वर्ग अर्थात् स्वर्गलोक में गाये जाने वाले मुझ परमात्मा को प्राप्त करोगे। यदि मेरी सहायता से जीतोगे तो 'महीम' अर्थात् परम पूजनीय भक्त सुख का भोग करोगे 'महीङ्' पूजायां महीयते पूज्यते इति मही भकित:। मही शब्द 'महीङ् पूजायां' धातु से बनता है। कौन्तेय तुम्हारी माता कुन्ती धर्म पवन और इन्द्र इन तीन देवों से शरीर सम्पर्क करने पर भी मेरी भक्ति की महिमा से प्रातः स्मरणीय और पंच कन्याओं में चतुर्थ स्थान पर पूजित हुई उसीप्रकार तुम भी मेरे आदेश का पालन करके शरणागतों में पूजनीय स्थान प्राप्त कर लोगे' इसलिए युद्ध के लिए उठो और शरणागत धर्म के पालन का निश्चय करो। यह सप्तम श्लोक का अर्थ हुआ।

सुख दुःखे (२/३८) अब आठवें श्लोक की व्याख्या की जाती है। शास्त्रों में शरणागत के छः भेद कहे गये हैं।

१- आनुकूल्य का संकल्प २- प्रातिकूल्य का वर्जन।

३- भगवान रक्षा करेंगे इसप्रकार का विश्वास।

४- रक्षक के रूप में भगवान का वरण। ५- कार्पण्य ६- आत्मनिक्षेप। इन

छओ शरणागतियों से 'सुख दुःख' लाभ हानि' जय 'पराजय' इन छओ में समभाव रखकर षड्ऐश्वर सम्पन्न मुझ परमात्मा के आदेश का पालन करते हुए बाहरी और भीतरी शत्रुओं से युद्ध के लिए अपने आत्मतत्व को तैयार करो ऐसा करोगे तो पाप नहीं लगेगा। क्योंकि वह तो मेरा आदेश होने से तुझ शरणागत के लिए परमधर्म हो जायेगा यदि ऐसा नहीं करोगे तो मेरे आदेश भंग का तुम्हें पाप लगेगा। इसप्रकार ये आठों श्लोक आठों प्रकृतियों पर विजय पाने के ये आठ सूत्र हैं और इन्हीं द्वारा भक्ति के सुन्दर ग्राह्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ।

इमं चाष्टश्लोकी विलसित त्रिलोकी पतिकृपा,
प्रपत्तेनिष्पित्तौ क्षपितभवभीतेर्भवभिदः।
गतार्था गूढ़ार्था रघुपतिकृपा लब्ध मतिना,
मयेत्थं व्याख्याता मृऽयतु चिरं वैष्णव जनान् ।।
गीता जी के द्वितीय अध्याय की ये अष्टश्लोकी।
जाही में त्रिलोकी पति कृपा लहराई है।
परमात्मा की शरणागति के सिद्ध सूत्र
करि करि जतन सजोय सरसाई है।।
प्रतिभा विलास सीतानाथ की कृपा हुलास
नाना शास्त्र युक्ति सूक्ति सरिता सुहाई है।
नवल विचार श्रुति सार भव भार हर,
रामभद्राचार्य भाष्य भास के सुनाई है।।

शंकराचार्य जी ने गीताभाष्य में यह पक्ष प्रस्तुत किया कि संन्यासियों के लिए ज्ञान निष्ठा तथा योगियों के लिए कर्मनिष्ठा का उपदेश हुआ है। अर्जुन ज्ञान के अधिकारी नहीं है, इसलिए भगवान ने उन्हें कर्मयोग का उपदेश दिया। शंकराचार्य जी का यह वक्तव्य सर्वथा असंगत् शास्त्र विरुद्ध और पक्षपातपूर्ण है, क्योंकि अर्जुन यदि ज्ञान के अधिकारी नहीं हैं तो फिर भगवान श्रीकृष्ण ने उन्हें ज्ञान का उपदेश दिया ही क्यों? जब कि भगवान (१४/१) में अर्जुन के लिए उत्तम ज्ञानोपदेश देने की प्रतिज्ञा करते हैं-

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः।।

भगवान कहते हैं हे अर्जुन! मैं तुम्हें फिर उस दिव्य ज्ञानों में परम उत्तमज्ञान

का उपदेश करूँगा। जिसे जानकर सभी मुनिगण इस संसार से परम सिद्धि को प्राप्त कर गये। यदि भगवान ने अर्जुन को ज्ञान का उपदेश न किया होता तो फिर १८/६३। में वे स्वयं क्यों कहते इसप्रकार मैंने तुम्हारे लिए गोपनीय से भी गोपनीय ज्ञान का उपदेश किया। इसे समझकर जो इच्छा हो वह करो।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया।
विमृश्यैत् दशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।। १८/६३

यदि कहें कि भगवान ने अर्जुन को निमित्त बनाकर दूसरों के लिए ज्ञान का उपदेश किया होगा तो यह कहना भी अनुचित होगा। क्योंकि ज्ञान और खेती संदेशों से नहीं हुआ करती। वस्तुत: श्रीमद्‌भगवत् गीता वेद के महातात्पर्य का प्रतिपादक ग्रन्थ है। वेद में जैसे ज्ञान, कर्म और उपासना का प्रतिपादन है उसीप्रकार श्रीमद्‌भगवत् गीता में भी काण्डत्रयी का प्रतिपादन है। तीनों काण्डों में भक्ति का रहना आवश्यक है इसलिए कर्मकाण्ड में साधन लक्षणा ज्ञानकाण्ड में साध्य लक्षणा तथा उपासना काण्ड में प्रेम लक्षणा भक्ति का निरूपण हुआ है। इन्हीं काण्डों से जब भक्ति मिलती है तो वे योग बन जाते हैं। कर्म, विकर्म न हो जाय। इसलिए उससे साधना भक्ति जुड़कर कर्मकाण्ड के स्थान पर कर्मयोग की संज्ञा दे देती है। इसीप्रकार उपासना वासना में न परिवर्तित हो। अत: प्रेम लक्षणाभक्ति उससे जुड़कर उसे उपासना को भक्ति योग बना देती है और ज्ञान। अज्ञान से ढक न जाय इसलिए वहाँ साध्य लक्षणा भक्ति आकर उसे ज्ञान योग शब्द से अलंकृत करती है 'उन्तालीसवें श्लोक में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि-

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगेत्त्विमां श्रणुं।

अर्थात् यह बुद्धि तुम्हारे लिए सांख्य के सम्बन्ध में कही गयी। अब इसे कर्मयोग के सम्बन्ध से सुनो। यद्यपि यहाँ सामान्यत: सांख्य योग, और कर्मयोग की ही चर्चा प्रतीत होती है ''परन्तु योगेत्वि मां शृणु' इस पद में तु शब्द का प्रयोग होने से ज्ञान और कर्मयोग के बीच में भक्तियोग का स्पष्ट संकेत मिलता है। यद्यपि गीता जी के अट्ठारह अध्यायों में छ: छ: अध्यायों के तीन षट्‌क कहे गये हैं। इनमें प्रथम षट्‌क में कर्मयोग मध्यम में भक्तियोग और तृतीय में ज्ञान योग का वर्णन हुआ है। तथापि सूत्राध्यायी होने के कारण द्वितीय अध्याय में ही तीनों के बीच उपलब्ध हो जाते हैं। प्रथम अध्याय से लेकर द्वितीय अध्याय के दसवें श्लोक पर्यन्त सत्तावन श्लोकों में गीता शास्त्र के अधिकारी का वर्णन हुआ है। ग्यारह से तीस तक

बीस श्लोकों में ज्ञान मोग का, इक्कीस से अड़तालिस तक आठ श्लोकों में भक्तियोग का, उन्तालिस से त्रिपन तक पन्द्रह श्लोकों में कर्मयोग का सूत्रण हुआ है। पश्चात् के उन्नीस श्लोकों में साधना की चर्चा है। इसप्रकार अष्टमी को प्रकटे आठों प्रकृतियों से परे अष्टांगयोग के अधीश्वर मुख्य रूकमणी आदि आठ पटरानियों के पति, देवकी के आठवें पुत्र प्रभु श्रीकृष्ण ने इस अष्टश्लोकों में अतिगोपनीयतम् भक्ति का सूत्रण किया। जिसे मैंने उन्हीं की कृपा से श्री राघव कृपा भाष्य में गुम्फित किया है। ।।श्री।।

संगति- अब 'एषा' इत्यादि पन्द्रह श्लोकों द्वारा कर्मयोग का निरूपण करते हैं। अर्जुन के मन में जिज्ञासा होती है कि 'सुख दुःखे' इत्यादि श्लोक में भगवान ने समत्व की बात कही अथवा पहले आत्मानात्म विवेक का निरूपण हुआ फिर शरणागति का उपदेश किया गया? तो शरणागत को क्या करना चाहिए क्या निष्क्रिय हो जाना चाहिए? इस जिज्ञासा पर भगवान कहते हैं- निष्क्रिय नहीं होना चाहिए? श्रुति विहित कर्म करना चाहिए। परन्तु उसमें कर्तृत्व का अभिमान छोड़कर फल भगवान के चरणों में समर्पित कर देना चाहिए। यही कर्मयोग है। जब तक कर्म के फल कर्त्ता के पास रहेंगे तब तक कर्मकाण्ड रहेगा और जब कर्म के फल भगवान को सौंप दिये जायेंगे तब कर्मकाण्ड ही कर्मयोग बन जायेगा।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ।।२/३९

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे पृथा पुत्र अर्जुन! कुछ क्षणों पहले मेरे द्वारा तुम्हारे लिए सांख्य विषयिणी बुद्धि कही गयी। अब योग अर्थात् कर्मयोग के विषय में इसे सुनो। जिस बुद्धि से युक्त होकर कर्मों के बन्धन को अथवा कर्म बन्धनमय संसार को या कर्मबन्धन के कारण रूप रजोगुण को पूर्ण रूप से छोड़ दोगे।

व्याख्या- पार्थ शब्द का तात्पर्य है कि तुम मेरी भक्त पृथा कुन्ती के पुत्र हो। इसलिए तुम्हें गोपनीय रहस्य समझाने में कोई आपत्ति नहीं। बुद्धि शब्द "भावक्त" प्रत्यान्त होकर बोधपरक ही है। सांख्ये और योगे इन दोनों स्थलों में विशेष सप्तमी है। ऐषा शब्द समीपतरवर्ती ज्ञान योग का संकेत करता है। अर्थात् इससे आठ श्लोकों से पहले ज्ञानयोग संबन्धिनी बोधन किया गया, तु शब्द का तात्पर्य है कि इसके अनन्तर आठ श्लोकों में अभी अभी भक्ति का वर्णन हुआ। अभी अभी इसकी

फलश्रुति कही गयी। इसलिए इसी के अनन्तर कर्मयोग के विषय में इसे सुनो। अर्जुन जिज्ञासा करते हैं कि इसके श्रवण से क्या लाभ होगा? क्योंकि ज्ञान योग के श्रवण से स्वस्वरूप और परस्वरूप का ज्ञान हुआ तथा भक्तियोग के श्रवण से उपाय और फलस्वरूप का ज्ञान हुआ। अब क्या करेंगे कर्मयोग सुनकर? इस पर भगवान तृतीय चरण कहते हैं हे पार्थ! इससे युक्त होकर मनुष्य कर्म बन्ध अर्थात् कर्म के बन्धनों एवं कर्मबन्धन के अधिकार, संसार तथा कर्मबन्धन के माध्यम रजोगुण को समाप्त कर लेता है। इसीप्रकार तुम भी अपने तीनों बन्धन, संसार तथा रजोगुण को समाप्त कर लोगे। जिससे ये फिर कभी नहीं आयेंगे। ।।श्री।।

संगति- अब अर्जुन को डर लगा और वे सोचने लगे। कर्म तो अनेक हैं जिनका करोड़ों जन्मों में एक कर्त्ता द्वारा अनुष्ठान नहीं किया जा सकता और थोड़ी सी भूल हो जाने पर कर्त्ता को कठोरतम दण्ड भी मिलते हैं। जैसे कर्मकाण्डी कहते है कि विधिहीन यज्ञ का यजमान ही नष्ट हो जाता है और मुद्रा से ही रहित गायत्री जप नष्ट हो जाता है। मुद्रायें सुमुख से लेकर वैराग्यान्त बत्तीस होती हैं। इसप्रकार कर्म के विघ्नों से डरते हुए अर्जुन को देखकर भक्तभयभंजन भगवान बोले-

नेहाभिक्रम नाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! मेरे आराधन रूप और मेरी प्रीति के लिए किये जा रहे इस कर्मयोग में अभिक्रम अर्थात् बीज और प्रारम्भ का नाश नहीं होता तथा इसमें कोई विघ्न भी नहीं होता। इस धर्म का थोड़ा भी अंश जीव को बहुत बड़े भय से छुड़ा देता है।

व्याख्या- अभिक्रम शब्द प्रारम्भ और बीज का वाचक है- भगवान का आशय है कि यह कर्मयोग मेरी आराधना है और मेरी ही प्रीति के लिए किया जाता है। अतः इसे मध्य में छोड़ भी दिया जाय तो भी इसके बीज या प्रारम्भ का नाश नहीं होता जैसे की जा रही संध्या किसी अनिवार्य कारण से छोड़नी पड़े तो उसका नाश नहीं होगा। कार्य सम्पादन करके जहां से छोड़ी वहीं से फिर कर लेनी चाहिए। प्रारम्भ से करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह सुविधा ज्ञान में नहीं है। मानस के ज्ञान दीपक प्रकरण में गोस्वामी जी ने स्पष्ट कहा है। यदि ज्ञान के साधन में करते-करते बीच में कहीं विघ्न आ गया तो फिर से प्रारम्भ से ककहरा पढ़ो जैसे-

विषय? समीर बुद्धि कृत भोरी। तेहि विधि दीपक बार बहोरी,

तब फिर जीव विविध विधि, पावइ संसृति क्लेश।
हरि माया अति दुस्तर, तरि न जाय विहगेश

मानस ७/११७/१६/११७ क

जैसे कूप में पड़ा हुआ व्यक्ति उसमें से निकालते समय बाहर आते आते द्वार के समीप से गिर जाय तो फिर उसे प्रारम्भ से ही निकालना पड़ता है। पर कर्मयोग में ऐसा कुछ नहीं होता। क्योंकि भगवान के निमित्त किया हुआ अणुमात्र व्यर्थ नहीं जाता। आगे कहते है 'प्रत्यवायो न विद्यते' यहाँ कोई विघ्न नहीं है 'क्योंकि मेरे आराधन में आने वाले सभी विघ्नों को मैं ही नष्ट कर देता हूँ। बहुत क्या कहूँ यह धर्म है। वेद विहित धर्म होता है। श्रुति कहती है 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' (ई० उ० २) जो थोड़ा होते हुए भी सुन्दर हो उसे स्वल्प कहते है। 'शोभनं अल्पं स्वल्प' भगवान में अर्पित होने के कारण इसका अंश अल्प नहीं कहा जाता। इसलिए भगवान इसे स्वल्प कह रहे हैं। श्रीमद्भागवत (१/५/१२) में नारद कहते हैं जिसमें भगवान का भाव न हो वह निरंजन नैष्कर्म ज्ञान बहुत शोभा नहीं पाता। फिर तो जो निरन्तर अभद्र है ऐसा कर्म यदि ईश्वर को समर्पित नहीं किया गया वह कर्म कैसे शोभन होगा। सौभाग्य से कर्मयोग की यह बाध्यता है कि वहाँ कर्मफल भगवान को अर्पित करना पड़ेगा ही। अत: भगवान कहते है कि इस धर्म का थोड़ा भी सुन्दर अंश जीव को महान भय से छुड़ा देता है। इसलिए तुम भी मेरा आराध्य रूप कर्म करो यह तुम्हें महान भय से छुड़ा देगा।

संगति- अब श्री अर्जुन को जिज्ञासा होती है कि वह कौन सी बुद्धि होती है। जिससे युक्त कर्मयोग जीव को महान भय से छुड़ा देता है। इस पर भगवान श्री कृष्ण कहते हैं-

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरु नन्दन
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम ।।२/४१।।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! 'ज्ञान योग', 'भक्तियोग' तथा कर्मयोग इन तीनों में व्यवसायात्मिका अर्थात् निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही होती है। जिनके जीवन में कोई निश्चय नहीं होता उन अव्यवसायियों की बुद्धियाँ बहुत भेद प्रभेदों वाली और अनन्त अर्थात् अनगिनत होती है।

व्याख्या- यहाँ कुरुनन्दन का अभिप्राय यह है कि तुम मेरे आराधन रूप निष्काम कर्मयोग का आचरण करते हुए अपने पूर्व कुरुओं को आनन्दित करोगे। यह शब्द ज्ञानयोग, भक्तियोग, और कर्मयोग इन तीनों का बोधक है। अर्थात् तीनों में ही निश्चयात्मिका बुद्धि की अपेक्षा होती है। 'व्यवसायः आत्मा स्वरूपं यस्याः स व्यवसायात्मिका' अर्थात् व्यवसाय ही जिसकी आत्मा है 'ऐसी बुद्धि एक ही होती है' दार्शनिक परम्परा में व्यवसाय शब्द का निश्चय अर्थ होता है। परन्तु यहाँ व्यवसाय शब्द से भगवान का एक विशेष आर्थप्राय है। मैं दास हूँ भगवान मेरे स्वामी हैं मैं देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि से विलक्षण भगवान का परतन्त्र चित् स्वरूप प्रत्यगात्मा हूँ। सारा जगत अचित तत्व है मैं चित् जगत् अचित दोनों ही शरीर शरीरी भाव से परमात्मा के विशेषण हैं। भगवान चित- अचित से विशिष्ट होकर वेदान्त वेद्य विशिष्टाद्वैत तत्व है। 'मैंने आज तक'? जो किया जो कर रहा हूँ जो करूँगा वह सब भगवान का आराधन है। इस प्रकार का साधक का निश्चय ही व्यवसाय हैं जैसे कि-

नहि मैं हूँ ब्राह्मण नहि मैं कोई राजपुत्र
नही मैं हूँ वैश्य न चतुर्थ वर्ण खास हूँ।
न मैं ब्रह्मचारी न गृहस्थ नहिवानप्रस्थ
न ही मैं संन्यासी घरबार से उदास हूँ।।
नही मैं नपुंसक कभी न पुरुष पूर्ण
ललना ललित न मैं काम प्रेम पास हूँ।
रामभद्राचार्य रामभद्र का दास जीव,
सीतापति पद दास-दास अनुदास हूँ।।

इसप्रकार निश्चय ही जिसका स्वरूप है, ऐसी मुझ भगवान को अनन्य रूप से वरण करने वाली व्यवसायात्मिका बुद्धि एक ही होती है। किन्तु इससे विपरीत जिन्होंने स्वस्वरूप परस्वरूप। उपायस्वरूप। फलस्वरूप एवं विरोधी स्वरूप का निश्चय नहीं किया है, ऐसे लोगों की बुद्धियाँ बहुतों के उपासना करने के कारण बहुत से भेद प्रभेदों वाली और अनन्त होती है। श्री।।

संगति- अब कर्मयोग की प्रबल बाधक फलाकांक्षा की तीन श्लोकों में निन्दा करते हैं। इसलिए तीनों श्लोकों का एक ही अन्वय है।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः
वेद वादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ।।२/४२

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफल प्रदाम् ।
क्रिया विशेष बहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ।। २/४३
भोगैश्वर्य प्रसक्तानां तयापहृत चेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ।। २/४४

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे पार्थ! वेदवाद में लगे हुए अर्थात् रट्टू तोता की भाँति वेद मंत्रों को अर्थज्ञान के बिना केवल रटने वाले वेद में कर्मकाण्ड के अतिरिक्त कुछ नहीं है। ऐसा बोलने वाले अनेक कामनाओं से दूषित अन्तःकरण वाले स्वर्ग को ही परम पुरुषार्थ मानने वाले 'ऐसे' अज्ञानी कर्मकाण्ड वादी वेदवादी, मीमांसक आदि जन्म कर्म रूप फल देने वाली क्रिया विशेषों के द्वारा विस्तृत तथा भोग एवं ऐश्वर्य की प्राप्ति के प्रति तात्पर्य रखने वाली जिस पुष्पित अर्थात् फल का प्रलोभन देने वाली' किन्तु फल रहित जिस इस वेदों में वर्णित फलश्रुति वाणी का प्रवाद करते हैं। उसी से वेद की फलश्रुति से जिनका चित्त चुरा लिया गया है, ऐसे संसार के भोग विलास और ऐश्वर्य में लगे हुए सकामी लोगों की बुद्धि समाधि अर्थात् समत्व में अथवा ब्रह्म विचार और भगवत् भजन में निश्चयात्मिका नहीं की जा सकती अर्थात् वे अनिश्चय में ही डूबे रहते हैं।

व्याख्या- इस प्रसंग का यह आशय है- वेदों में सामान्य व्यक्ति को कर्म में लगाने के लिए रूचि उत्पन्न करने वाली अर्थवाद मूलक बहुत ही फलश्रुतियाँ विराजती हैं। तात्पर्य यह है कि कल्याण कारिणी माँ की भाँति जिस निषिद्ध कर्म से जीव को अलग करना होता है उसकी श्रुति बहुत निन्दा करती है और जिस कर्म में जीव को प्रवृत्त करना होता है उसकी बहुत प्रशंसा करती है। यद्यपि श्रुति के कहे हुए सभी फल सत्य होते हैं परन्तु श्रुति का किसी की निन्दा या प्रशंसा में तात्पर्य नहीं होता। उसका तात्पर्य तो जीव को निषिद्ध से हटाकर विधेय में लगाना भर होता है। जैसे चातुर्मास करने वाले का फल अक्षय होता है। हमने सोमयज्ञ में सोमरस पिया अमृत हो गये। अश्वमेध करने वाला ब्रह्महत्या के पाप को समाप्त कर लेता है। स्वराज्य की कामना करने वाला अश्वमेध यज्ञ करे इत्यादि। जैसे कोईमाता रुग्ण बालक से कहती है- गुड़ची पियो लड्डू दूँगी। इस प्रकार लड्डू के प्रलोभन से गुड़ची पिलाकर रोग मुक्त कर देती हैं। उसीप्रकार पुत्र वत्सला श्रुतियां सामान्य लोगों को फलश्रुतियों से प्रलोभित करके उन्हें अनर्थों से हटाकर सत्कर्म में लगा देती हैं। अपनी प्रतिज्ञानुसार फलों को भी देती है। इसप्रकार अनर्थ भी निवृत्त हुआ और सत्य की रक्षा भी हो

गयी। किन्तु दुष्ट बालकों की भाँति यदि कुछ दुराग्रही फलों को ही मोक्ष के स्थान पर परम पुरुषार्थ मान लें। तो क्या कहा जाय। वही परिस्थिति यहाँ भी है। जो लोग मोदक स्थानीय फलों को छोड़कर गुडुची पान स्थानीय कर्म ही करते हैं। वे सदा-सदा के लिए रोग मुक्त हो जाते हैं। यहाँ भगवान अर्जुन को निषेध कर रहे हैं कि तुम बालक नहीं हो। इसलि इन पुष्पित वाणियों को सुनकर उनपर लुब्ध मत हो। यह भावार्थ है अब श्लोकों का अक्षरार्थ देखिये-

वेदवादरताः- वेदों में वर्णित अर्थवाद वचनों को ही सत्य मानने वाले, इसीलिए स्वर्गादि से अतिरिक्त वेदों में कुछ नहीं है ऐसा बोलने वाले। वादिनः नं० यहां ताच्छील्य अर्थ में णन प्रत्यय हुआ है। शील शीघ्रता से छुड़ाया नहीं जा सकता। जैसा कि वहाँ जैमिनी कहते हैं- वे सम्पूर्ण काण्डत्रयी को क्रियापरक ही मानते हैं (मीमांसा १-२-७ में) उनका मानना है कि सम्पूर्ण वेद क्रिया परक है और कुछ नहीं। वे लोग ऐसा क्यों मानते हैं? इस पर भगवान कहते हैं 'कामात्मानः' यहाँ आत्मा शब्द मन का वाचक है। 'इनके मन में स्वर्गादि के प्राप्ति की इच्छायें रहती हैं। इसलिए ये लोग मोक्ष की निन्दा करते हैं' यदि मोक्ष को ही काम मान लिया जाय तो भगवान कहते हैं स्वर्गपराः। यहाँ पर शब्द अभीष्ट का वाचक है। 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' १-४-२ इस सूत्र में भगवान भाष्यकार ने भी 'पर' शब्द अभीष्ट ही माना है इसलिए 'स्वर्ग को ही अभीष्ठ मानते हैं मोक्ष को नहीं इसीलिए वे 'अविपश्चितः एषाम्' अर्थात् वे स्वर्ग को ही अभीष्ट मानते हैं मोक्ष को नहीं इसीलिए वे 'अविपश्चित' अर्थात् अज्ञानी हैं। जो इस फलाकांक्षा से युक्त अतएव पुष्पित अर्थात् फल की प्रत्यासा से युक्त पुष्पित लता की भाँति ऐसी वाणी बोलते हैं। किनके प्रति बोलते हैं इस पर भगवान कहते हैं। संसार में जन्म और कर्म फलों को देने वाली जिस पुष्पित, अर्थात् मनोरथ रूप फूलों से युक्त वाणी यज्ञ विशेषों से प्रचुर ऐसे भोग ऐश्वर्य की प्राप्ति के सम के सम्बन्ध में बोलते हैं। जिसका परमार्थ में कोई फल नहीं होता। ऐसी सरसरी दृष्टि से सुन्दर लगने वाली वाणी बोलते हैं। उसी वाणी से जिनका चित्त चुरा लिया गया है। ऐसे भोग और ऐश्वर्य में लगे हुए लोगों की बुद्धि समाधि अर्थात् मन और भगवान में निश्चयात्मिका नहीं की जा सकती। यहाँ कर्मकर्त्ता में लकार है। वह भगवान में उत्पन्न नहीं होती। श्री।।

संगति- तो फिर मुझे क्या करना चाहिए? इस अपेक्षा में अर्थ पंचक उपदेश का संहार करते हुए भगवान पांच आदेशों से युक्त श्लोक उपस्थित करते हैं भगवान

पुराण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण त्रैगुण्य इत्यादि।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन
निर्द्वन्द्वो नित्यस्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।। २/४५

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! वेद अर्थात् कर्मकाण्ड में प्रयुक्त फलश्रुति परक वेदमन्त्र त्रिगुण प्रचुर पुरुषों को बांधते हैं। इसलिए तुम स्वरूपका चिन्तन करते हुए अव्यभिचारी भक्तियोग से मेरी सेवा करते हुए तीनों गुणों से अतीत हो जाओ। तुम निर्द्वन्द्व हो। तुम नित्यवस्तु परमात्मा में स्थित हो जाओ, और योगक्षेम को छोड़कर आत्मवान् अर्थात् मुझ परमात्मा से युक्त हो जाओ।

व्याख्या- सत्व, रज, तम इन तीनों गुणों को ही त्रैगुण कहते हैं, यहाँ गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च० पा० सू० ५-१-१२४ सूत्र से "ष्यञ्" प्रत्यय हुआ। ये त्रैगुण ही प्रचुर हैं। जिनमें उन पुरुषों को त्रैगुण्य प्रचुर कहते हैं। त्रैगुण्य प्रचुरान् विषिण्वन्ति इति त्रैगुण्य विषया। यहाँ प्रचुर शब्द का मध्यम पदलोप हुआ, अर्थात् जिनमें तीनों गुणों की प्रचुरता होती है, वेद के फलश्रुति मन्त्र उन्हीं को बाँधते हैं। इसीलिए तुम मेरे स्वरूप का चिन्तन करते हुए अव्याभिचरित भक्तियोग से मेरी सेवा करके तीनों गुणों से परे हो जाओ। 'निर्द्वन्द्वोभव' और परस्वरूप अर्थात् मेरे चरण कमल द्वन्द्व का चिन्तन करके सुख दुःख हर्ष शोक आदि द्वन्द्वों से ऊपर उठ जाओ। 'नित्यसत्वस्थः भव' नित्य सत्वे तिष्टति इति नित्य सत्वस्थ अथवा नित्यं सत्वं धैर्य यस्य स नित्यसत्व, तस्मिन् तिष्ठति इति 'नित्य सत्वस्थः' अर्थात् नित्यवस्तु मुझ परमात्मा में अथवा उपायस्वरूप का चिन्तन करके नित्य धैर्य सम्पन्न मुझ परमात्मा में स्थित हो जाओ। "निर्योगक्षेमो भव" अलभ्य लाभ को योग ओर प्राप्त की रक्षा को क्षेम कहते हैं। तुम विरोधि स्वरूप का चिन्तन करके योग और क्षेम से निष्क्रान्त हो जाओ, क्योंकि योगक्षेम को देखकर जीव के पास माया आती है। नौवां अध्याय में कहे जाने वाले वचन के अनुसार अनन्य चिन्तकों का योगक्षेम में ही वहन करता हूँ। "आत्मवान् भव" यहाँ आत्मा शब्द परमात्मा परक है। अर्थात् फलस्वरूप का चिन्तन करके तुम मुझ परमात्मा से युक्त हो जाओ "क्योंकि" आत्मा परमात्मा अस्त्यस्मिन् स आत्मवान् "अर्थात् अब तक तो मैं तुम्हारे साथ रहकर तुम्हारे रथ का सारथी बना रहा, और तुम रथी अब तुम भगवदीय मनोरथों से युक्त अपने मनोरथ पर मुझे रथी बना लो। इसप्रकार इस श्लोक में भगवान ने अर्थ पञ्चक की परम्परा से अर्जुन को पांच आदेश दिये।। श्री।।

संगति- अब अर्जुन को जिज्ञासा होती है कि हे भगवन्! आपने यह कहा कि यदि तुम तीनों गुणों से परे हो जाओगे तो तुम्हें वेद के फलश्रुतिपरक मन्त्र नहीं बांध सकेंगे, तो मेरे द्वारा वेद के कितने अंश ग्रहण किये जायें? पूरे अथवा कुछ? अर्जुन की इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए समस्त वेद जिनके निःश्वास हैं ऐसे वेद-वेदान्त वेद्य भगवान श्रीकृष्ण बोले।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संलुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।।४६।।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- सब ओर से परिपूर्ण जल वाले उदपान अर्थात् कूप आदि जलाशय में जलार्थी प्यासे व्यक्ति का जितना प्रयोजन होता है, विवेक पूर्वक परमात्माको जानने के लिए यत्न करने वाले ब्राह्मण अर्थात् वेद में श्रद्धा करने वाले साधक का सम्पूर्ण वेदों में उतना ही प्रयोजन होता है। अर्थात् कूपादि जलाशयों के जल से परिपूर्ण होने पर भी जलार्थी उनमें से उतना ही जल लेता है, जितने की उसे आवश्यकता होती है, और जितने जल की उसके पात्र में क्षमता रहती है, वह सम्पूर्ण कूप को न तो ले जा सकता है, और नहीं उसको उतनी आवश्यकता है। ठीक उसी प्रकार अगाध जलाराशि के समान भगवान वेद से ब्रह्म जिज्ञासु उतने ही अंश लेता है, जितनों का वह ब्रह्मज्ञान में उपयोग समझता है। यद्यपि गीता प्रेस ने भगवान् शंकराचार्य के भाष्य का अन्धानुकरण करते हुए इस श्लोक का मेरे अर्थ से विरूद्ध अर्थ किया है।

जैसे सब ओर से परिपूर्ण जलाशय के प्राप्त हो जाने पर छोटे जलाशय में मनुष्य का जितना प्रयोजन रहता है, ब्रह्म को तत्त्व से जानने वाले ब्राह्मण का समस्त वेदों में उतना ही प्रयोजन रह जाता है। गीता २-४६ गीता प्रेस हिन्दी अनुवाद। इस अर्थ में बहुत दोष हैं "पहला तो यही कि" सर्वतः सम्प्लुतोदके शब्द को गीता प्रेस के टीका कारने बड़े जलाशय का वाचक किस आधार पर माना दूसरी आपत्ति यह है कि यदि उपमान में "उदपाने" और "सर्वतः सम्प्लुतोदके" ये दो सप्तम्यन्त हैं, तो इसके उपमेय में भी दो सप्तम्यन्त होने चाहिए थे, परन्तु हमारे सौभाग्य से और गीता प्रेस के टीकाकार के दौर्भाग्य से ऐसा नहीं हो सका।

तीसरी आपत्ति यह है कि इस व्याख्या से ब्रह्म को बड़ा और वेद को छोटा कहने पर भगवान वेद की महिमा घटेगी, जिसे कोई भी सनातनधर्मी सहन नहीं

सकेगा। क्योंकि हम सनातनधर्मी ब्रह्म और वेद में अन्तर मानते ही नहीं, और हमारे सिद्धान्त में तो भगवान से भी वेद का स्थान उत्कृष्ट है, क्योंकि भगवान देवकार्यानुरोधसे कभीकभार छल प्रपंच कर सकते हैं, जैसे वृन्दा के यहाँ छल करि ठान्यो तासु व्रत "मानस १-१२३ परन्तु भगवान वेद कभी भी ऐसा नहीं कर सकते। वे तो भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, कर्णपाटव आदि समस्त पुरुष दोषों से रहित हैं। किं बहुना वेद का दूसरा नाम श्रुति है। श्रुति भगवान की पत्नी है, तथा हम सबकी माँ। शास्त्र के अनुसार पिता से माँ बड़ी होती है, कभी पिता-माता के बीच विवाद होने पर शिष्ट बालक माता का ही पक्ष लेता है। इसीलिए सनातन धर्मियों ने श्रुति का पक्ष लेकर ही बुद्धि की बात नहीं मानी। जैसा कि गोस्वामी जी कहते हैं-

अतुलित महिमा वेद की तुलसी कीन्हि विचार।
जो निन्दत निन्दित भये विदित बुद्ध अवतार।।

गीता प्रेस की व्याख्यान से वेद निन्दा को बढ़ावा ही मिलेगा। शेष विचार व्याख्या में किया जायेगा।

व्याख्या- जिसप्रकार प्यासा व्यक्ति जल से सम्पूर्ण जलाशय को प्राप्त करके भी उतना ही जल लेता है। जितने से उसकी स्नान-पान आदि क्रियायें सम्पन्न होती हैं और जितनी उसके जलपात्र में ग्रहण की क्षमता होती है। उसीप्रकार विवेकी ब्रह्मवादी जन संम्पूर्ण प्राणियों के कल्याणयुक्त साधनों से संकुल वेदों के होने पर भी उनमें से अपनी आवश्यकतानुसार सामाग्री ले लेते हैं। ऐसे ब्रह्मचारी क्या वेद विहित होने पर भी गृहस्थों के कर्मप्रतिपादक वेद को ग्रहण करेगा नहीं? क्योंकि वेद विहित होने पर भी गृहस्थ कर्म के प्रतिपादक वेद की ब्रह्मचारी को कोई आवश्यकता नहीं है। अतः अनावश्यक वेद को छोड़कर ब्रह्मचारी नास्तिक नहीं हुआ। जैसे मेडकिल स्टोर की सभी दवाओं को एक व्यक्ति नहीं ले सकता। उसके लिए जो निर्दिष्ट होगी वही होगा। जैसे "अयमात्मा ब्रह्म" इत्यादि महावाक्यों के चिन्तन का अधिकारी कोई सन्यासी महानुभाव वेद विहित होने पर भी "सुमंगलीवधूरियं" इस विवाह प्रतिपादक मंत्र को लेकर क्या करेगा।

अब इसके अक्षरार्थ पर विचार करते हैं। "सर्वतः सम्प्लुतोदके" सभी मार्गों से सभी दिशाओं में ऊपर तक भरा हुआ है, उदक अर्थात् जल जिसमें। अर्थात् जिसमें लबालब जल भरा हुआ हो।

उदपाने- उदक अर्थात् जल जिससे पिया जाता है, उस कुएँ का वोध होने पर 'उदकस्योद: संज्ञायां' (पा० अ० ६/३/१५७) सूत्र से कूप अर्थ में उदक शब्द से उद् आदेश हुआ। इसीलिए अमरकोष में भी 'उदपान' शब्द कुएं के पर्याय के रूप में कहा गया है। 'पुंस्येवान्धु: प्रहीकूप उदपानं तु पुंसिवा' जैसे कि सम्पूर्ण जल से भरे हुए उद्पान अर्थात् कूप में कोई भी जलार्थी उतने ही प्रमाण में जल लेगा जितने से उसकी स्नान आदि की आवश्यकता पूर्ण हो सके। न तो वह कूप का पूर्ण जल लेता है और न ले सकता है। उसीप्रकार "विजानत:" ब्रह्म को जानने के लिए प्रयास करते हुए "ब्राह्मणस्य" वेदज्ञ महापुरुष का "सर्वेषु वेदेषु जल से भरे हुए कुएँ के उपमेय रूप वेदों में उतना ही प्रयोजन होता है अर्थात् ब्रह्म जिज्ञासा शान्ति के लिए उसे जितने अंश की आवश्यकता होती है उतना ले पाता है। क्योंकि वेद तो सभी की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हैं। यहाँ ब्राह्मण शब्द योगिक हैं ब्रह्म अणाति इति "ब्राह्मणा" जो परमेश्वर को प्राप्त करता है। तथा जो वेद का चिन्तन करता है उसे ब्राह्मण कहते है। यह व्याख्या इसी प्रसंग के लिए है , अन्यत्र तो ब्राह्मण से ब्राह्मणी में उत्पन्न और तपस्या शास्त्र से सम्पन्न ही ब्राह्मण होगा। इसप्रकार वेद में श्रद्धा रखने वाले व्यक्ति का अगाध जलाशय स्थानी वेदों में उतना ही प्रयोजन होता है जैसे जल से लबालब भरे हुए जलाशय को प्राप्त करके भी जलाशय से उतना ही जल लेता है जितनी उसे आवश्यकता होती है, उसीप्रकार सभी के लिए उपयोगी सामग्रियों से भरे हुए वेदों के रहते हुए भी विवेकपूर्ण ब्रह्मज्ञ उनमें से उतनी ही सामाग्री लेता है। जितनी उसके लिए उपयोगी होती है। जो आद्यशंकराचार्य जी ने इस श्लोक की व्याख्या में कहा कि जैसे विशाल जलाशय के होने पर जलार्थी का छोटे जलाशय में जितना प्रयोजन होता है ब्रह्म को जानने वाले का वेदों में उतना ही प्रयोजन होता है। आद्यशंकराचार्य की यह व्याख्या असंगत अशास्त्रीय और वेद के विरुद्ध भी है 'क्योंकि' ब्रह्म. के बड़े जलाशय से उपमा देकर छोटे जलाशय के समान वेद को हलका बताना यह सनातन धर्म की मर्यादा के विरुद्ध है। क्योंकि और ब्रह्म में कोई अन्तर ही नहीं है "वेदो नारायणा साक्षात।" पहले तो शंकराचार्य जी को यही सोचना चाहिए कि "सम्प्लुतोदके" पद जलाशय का वाचक कैसे? क्योंकि वेद चारों ओर से सम्प्लुत अर्थात् भरा है जल जिसमें। इसप्रकार सप्तमी बहुव्रीहि विग्रह होने से यह जलाशय का विशेषण है न कि जलाशय। बहुव्रीहि का स्वभाव ही अन्य पदार्थ प्रधान है। वह प्राय: विशेषण ही होता है। "अष्टाध्यायी २-३-२५ के अनुसार अन्य पद के अर्थ में वर्तमान" अनेक सुबन्त समस्त होने

हैं और समास बहुव्रीहि होता है अनेक मन्य पदार्थे २/३/२५

इसप्रकार विग्रह वाक्य मे सुने जाने वाले शब्दों का अन्य पदार्थत्व निश्चित होता है। जैसे "पीताम्बरो हरि:" शब्द में पीताम्बर शब्दार्थ हरि शब्दार्थ के अधीन है उसीप्रकार सम्प्लोदके यह बहुव्रीहि समस्त पद उदपान शब्द का विशेषण होकर उसी के अधीन होगा। इस परिस्थिति में श्री गोविन्दपाद के सुयोग्य शिष्य भगवान आद्यशंकराचार्य ने सम्प्लोदक शब्द 'का विशाल जलाशय अर्थ कैसे कर लिया। यह तो गोविन्दपाद (उनके गुरुदेव) अथवा भगवान गोविन्द ही जाने, क्योंकि आज के दिनाँक में उपलब्ध किसी भी कोष में सम्प्लुतोदक शब्द का विशाल जलाशय अर्थ रूप देखने को नहीं मिलता। और भी यदि उपमान का अर्थ छोटा जलाशय अर्थ मान लिया जायेगा तब तो संज्ञा न होने पर "उदकस्योद: संज्ञायां" (पा० अ० ६/३/१५७) सूत्र से उदक का उद् आदेश ही नहीं होगा। यदि कहो कि "सम्प्लुतोदक" शब्द के अनुरोध से महाजलाशय इस विशेष पद का अध्याहार करके व्याख्या की जाय, तो सति शब्द भी अध्याहार करना पड़ेगा और बहुत बड़ा ज्ञान गौरव होगा। और भी यदि उपमान में विशेष्य दो सप्तम्यन्त अर्थात् उदपाने महा जलाशयों स्वीकारे जायेंगे। तब तो उपमेय स्थल में भी दो सप्तम्यन्त शब्द स्वीकारने पड़ेगे। परन्तु आपके दुर्भाग्य और हमारे सौभाग्य से वहाँ 'वेदेषु' एक ही सप्तम्यन्त पद दिखाई पड़ता है। यदि कहें कि जैसे हमने, जलाशय का अध्याहार किया उसीप्रकार उपमेय ब्रह्म का भी अध्याहार कर लेंगे। ऐसा करने पर अध्याहार की बहुलता से अनवस्था दोष आ जायेगा। और दूसरी बात यह भी है कि आप श्री ने विशेषण की अनुपपत्ति की स्थिति में जलाशय का अध्याहार किया और उसकी अनुपपत्ति की स्थिति में उपमेय ब्रह्म का अध्याहार कर रहे है। यदि जलाशय स्वयं अनुपपन्न अर्थात् असिद्ध है, तो वह सम्प्लुतोदक विशेषण को कैसे सिद्ध करेगा 'यदि कहे कि जलाशय शब्द उपपन्न है। तो फिर उसके आधार पर उपमेय ब्रह्म का अध्याहार कैसे? अरे! जल पर कब तक दीवार उठाते रहोगे। और भी यदि ब्रह्म को जलाशय का उपमेय माना जायेगा 'तब तो तुम्हारी व्याख्या के अनुसार भगवान वेद का बहुत अपमान होगा। ऐसी परिस्थिति में सनातन धर्मियों की, परम वैदिक शिरोमणि भगवान श्रीकृष्ण के प्रति भी बुद्ध की भाँति बहुत उपेक्षा होने लगेगी। इसलिए मेरी ही व्याख्या यहाँ न्याय संगत है।

संगति- अब अर्जुन प्रश्न करते है कि मैं वेद के किस अंश को ग्रहण करें?

यह भगवान स्पष्ट बतायें। इस पर परमात्मा श्रीकृष्ण कहते हैं-

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफल हेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।।२/४७।।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन कर्म में ही तुम्हारा अधिकार है फल में कभी नहीं 'अर्थात् वेद मन्त्र विहित कर्म करने के लिए तुम अधिकृत हो' पर वेद मंत्र प्रोक्त फलों में तुम्हारा कभी अधिकार नहीं है जैसे वेद ने कहा- वाजमेधेन यजेत स्वर्ग काम: ''यहाँ कर्म और फल दोनों का निर्देश किया गया है' उसमें यजन करने में तुम्हारा अधिकार है और श्रुति सम्मत फल देनेमें मेरा। इसलिए तुम कर्मफल को ही कर्म करने में हेतु मत बनाओ और अकर्म में तुम्हारी आसक्ति भी न हो अर्थात् फल निर्पेक्ष होकर कर्म करो।

व्याख्या- भगवान कहते हैं कि निष्काम कर्मयोग का अनुष्ठान करते हुए तुम्हारा अर्थात् अर्जुन का कर्म में ही अधिकार है 'अर्थात् श्रुति विहित कर्म करो' परन्तु श्रुति में विहित होने पर भी फलांश को छोड़ दो। क्योंकि तुम उसके लिए अधिकारी नहीं हो। यहाँ एव का अर्थ प्रसंगत: फल का ही विच्छेद कर रहा है 'क्योंकि यहाँ कर्मकाण्डी श्रुतियों का ही प्रसंग है' जो लोग यह कहते है कि ''कर्मणि एव'' का तात्पर्य है कि अपक्व अन्त:करण होने से अर्जुन का कर्म में अधिकार है ज्ञान में नहीं ''तो उनका कहना सर्वथा अनुचित है'' क्योंकि यदि अर्जुन के अन्त:करण में दोष होता तो भगवान उन्हें पुरुर्षभ ''भरतर्षभ, अनघ, देहभृताम्वर'' भरत सप्तम, ''भक्तोऽसिमेंसखा'' इत्यादि प्रयोग क्यों करते? यदि अर्जुन का अन्त:करण अशुद्ध ही होता तो भगवान सप्तम अध्याय में अर्जुन के लिए ज्ञान-विज्ञान के उपदेश की प्रतिज्ञा क्यों करते। यदि यहाँ ज्ञान के अधिकार का निषेध ईष्ट होता तो भगवान ''मा फलेषु'' कहकर फलाधिकार के निषेध की चर्चा क्यों करते। यदि कहें कि ''मां फलेषु'' कहकर भगवान अर्जुन के फलाधिकार का निषेध कर ही रहे है। तो कर्मणि एव में एवकार से किसका निषेध कर रहे है? विकर्म का। अर्थात् तुम्हारा वेद विहित कर्म में अधिकार है ''विकर्म में'' नहीं। यहां वर्णाश्रम विरूद्ध कर्म ही विकर्म है। अर्थात् वेद विहित होने पर भी तुम्हारा विकर्म में अधिकार नहीं है। जैसा कि तुम गृहस्थ होकर सन्यासियों के लिए वेद विहित भिक्षाचरण करने की इच्छा कर रहे थे। विकर्म होने से उसमें तुम अधिकृत नहीं हो। अब अर्जुन का प्रश्न होता है कि प्रभो आपने कर्म फलों में मुझे अधिकारी नहीं माना तो फिर मैं कर्म क्यों करूँ?

क्योंकि मूर्ख भी बिना प्रयोजन के कोई कर्म नहीं करता। इस पर भगवान कहते हैं। "मा कर्म फलहेतुर्भूः"।। कर्म फल हेतुः मा भूः महा सप्तमी बहुव्रीहि और षष्ठी तत्पुरुष ये दो समास होंगे। कर्म फलेषु हेतुः यस्य स अथवा कर्म फलानां हेतुः। कर्म फल हेतुः। अर्थात् कर्म फलों में हेतु वाले मत बनो किसी फल की इच्छा से कर्म मत करो। अथवा तुम कर्म फल के हेतु अर्थात् जन्मदाता मत बनो। क्योंकि यदि तुम स्वयं को कर्मफलों में अधिकारी मानोगे 'तब तो तुम्हारे भोग के लिए कर्मफल उत्पन्न होंगे और उन शुभाशुभ कर्मफलों के भोगार्थ स्वयं को कर्मफलों में अधिकारी मत मानो जैसे श्री हनुमान जी ने सम्पूर्ण लंका जलायी, राक्षसों को मारा' परन्तु कर्मफल रामरूप मुझे ही सौंप दिया। इसीलिए उनके भोगार्थ शुभाशुभ कर्मफल उत्पन्न नहीं हुए, फिर जिज्ञासा होती है कि यदि कर्मफल ही आवागमन के कारण हैं तो कर्म किया ही न जाय? इस पर भगवान कहते हैं "अकर्मणि ते संगो मा अस्तु" अर्थात अकर्म में तुम्हारी आसक्ति न हो। यदि कर्म नहीं करोगे तो तुमको मेरे आदेश भंग का पाप लगेगा। यहाँ तीन बार मा कहकर और एक बार एवकार से भगवान ने अर्जुन को चार वस्तुओं से रोका- विकर्म से 'फलाधिकार' से फलासक्ति से तथा अकर्माशक्ति से ।।श्रीं।।

संगति- यहाँ अर्जुन को फिर जिज्ञासा होती है तो फिर कर्म कैसे करूँ? यदि कर्म न किया जाय तो आपकी आज्ञा भंग से पाप लगे, यदि कर्म किया जाय तो संसार आपत्ति होगी। इसप्रकार न करने पर पाप लगेगा कर्म करने पर संसार में आवागमन बनेगा इसप्रकार से दोनों ओर से फाँसी है? इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए चतुर चक्रचूड़ामणि श्रीकृष्ण कहते हैं।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समोभूत्वा समत्वं योग उच्यते।। २/४८

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे मुनिजन के धन मुझ कृष्ण को प्रेम से जीतने वाले धनंजय अर्जुन तुम निष्काम कर्म योग में स्थित होकर कर्मफल की आसक्ति छोड़कर कर्मों की सिद्धि (सफलता) तथा उनकी असिद्धि असफलता में सम होकर अर्थात् सफलता के राग तथा असफलता के द्वेष से मुक्त होकर कर्म करो। क्योंकि समत्व ही योग कहा जाता है।

व्याख्या- यहाँ धनंजय सम्बोधन का अभिप्राय यह है कि- जिसप्रकार युधिष्ठिर

को धन दिया था उसीप्रकार इस आत्मभूपाल के दिग्विजय में कर्म का फल मुझे दे दो। संगम् अर्थात् कर्मफल की आसक्ति। यहाँ सिद्धि का तात्पर्य है कर्मों की सफलता से असिद्धि अर्थात विफलता। इन दोनों में समभाव हो जाओ। अर्थात् सफल होने पर प्रसन्न मत होवो और विफल होने पर दुःखी मत होवो। ''योगस्थः सम्भाव रूप योग में स्थित हुए ''कर्माणि कुरु'' अर्थात् नित्य 'नैमित्तिक' प्रायश्चित रूप कर्म करो कर्माणि इस बहुवचन का यही अभिप्राय है। योग किसे कहते हैं, इस पर चतुर्थ चरण में योग का लक्षण कहते है 'समत्वं'। यहाँ पातञ्जलि योग दर्शन जैसा चित्त वृत्ति के निरोध से योग का तात्पर्य नहीं है'' यहाँ तो समत्व ही योग है। अर्थात् कर्मों की सफलता और असफलता में समभाव रहना ही योग है। ।।श्री।।

संगति- उसी निष्काम कर्मयोग की तीन श्लोकों से प्रशंसा करते हैं। योग में स्थित होकर कैसे कर्म करें? अर्जुन की इस जिज्ञासा पर भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं।

दूरेण ह्यवरं कर्मबुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणा फलहेतवः।। २/४९

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन ज्ञानपूर्वक समत्व लक्षण योग से कर्म अर्थात् सकामकर्म अत्यन्त निकृष्ट है, इसलिए समत्व बुद्धि की उपस्थिति में मुझ परमात्मा की शरण में जाओ। क्योंकि फल की आकांक्षा करने वाले लोग कृपण होते हैं।

व्याख्या- बुद्धियोग शब्द में मध्यम पद लोपी तत्पुरुष अथवा बहुव्रीहि समझना चाहिए। अथवा षष्ठी तत्पुरुष मानना चाहिए। बुद्धि पूर्वक योग है, जिसमें ऐसे निष्काम कर्मयोग से सकाम काम निकृष्ट है। अथवा बुद्धिपूर्वक योग से अथवा बुद्धि के समत्व लक्षण योग से कर्म निकृष्ट है। दूरेण शब्द अत्यन्त के अर्थ में तृतीया प्रतिरूपक अव्यय है। वस्तुतः यहाँ समत्व लक्षणा बुद्धि ही बुद्धि शब्द से अभिमत है। ऐसी बुद्धि के आ जाने पर शरणम् अपने हृदय गुफा में छिपे हुए परमात्मा को खोजो। तुमने इसी अध्याय के सातवें श्लोक में कहा था कि मेरा कार्पण्य दोष से स्वभाव नष्ट हो गया है। वास्तव में जो फल को ही कर्म प्रवृत्ति का हेतु मानता है वह कृपण है। जैसा कि याज्ञवल्क्य गार्गी से कहते है-

यश्च एतदात्क्षरं गार्ग्य विदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः।

हे गार्गी! जो इस अक्षर परमात्मा को बिना जाने ही इस लोक से चला जाता है, वही कृपण है। इसलिए इस कार्पण्य को छोड़ो और मुझको शरण रूप में स्वीकारो। श्री।।

संगति- और भी भगवान श्रीकृष्ण निष्काम कर्मयोग की प्रशंसा करते हुए कहते है-

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ।। गीता- २/५०

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! बुद्धियोग से युक्त व्यक्ति यहीं अर्थात् मुझ परमात्मा में ही शुभाशुभ कर्मों के फल को छोड़ देता हैं' इसलिए तुम निष्काम कर्मयोग का अनुष्ठान करने हेतु उद्यत हो जाओ। क्योंकि समत्व लक्षण योग ही सभी कर्मों की कुशलता या समस्त कर्मों में कुशल कर्म है।

व्याख्या- "बुद्धियुक्त" शब्द में बुद्धियोगेन युक्तः बुद्धि युक्तः इसप्रकार मध्यम पद लोपी समास है। इह शब्द का तात्पर्य परमेश्वर से है। अर्थात् समत्व लक्षणा बुद्धि योग से युक्त मानव यहीं अथवा "इदं" पदार्थ मुझ परमात्मा में "उभे " दोनों सुकृत और दुष्कृत कर्मों अथवा कर्म फलों को छोड़ देता है। इसलिए 'योगाय योगं कर्तुम निष्काम कर्मयोग का आचरण करने के लिए' युज्यस्व तैयार हो जाओ। क्योंकि योग कर्मों में कौशल है। यहाँ कुशल शब्द में स्वार्थ में अण् प्रत्यय हुआ है। स्वार्थी प्रत्ययो का लिङ्ग नियत नहीं होता इसीलिए यहाँ नपुंसकलिङ्ग हुआ। अथवा भाव में ही अण् प्रत्यय मान लिया जाय कुशलस्य भावः कौशलम् "। योग कर्मों में कुशलता है। समत्व लक्षण बुद्धि के आने पर कर्म कुशल बन जाते हैं। कर्म की कुशलता की चर्चा गीता (१८/१० में भगवान करेंगे। और मानस में भी भरत जी को श्रीराम द्वारा पादुका प्रसंग में कुशल शब्द कर्म का विशेषण बनकर आया है। कुल कपाट कर कुशल करमके। मा० २/३१७/७

अतः प्रत्येक परिस्थिति में समान रहो यही कर्म की कुशलता है।

संगति- निष्काम कर्मयोगी ही संसार सागर को तरते हैं इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए भगवान श्रीकृष्ण कहते है-

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा ममीषिणः।
जन्मबन्धविनिमुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ।। गीता २/५१

रा० कृ० मा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! बुद्धि योग से युक्त निर्मल बुद्धि सम्पन्न साधक ही कर्म से उत्पन्न फलों को छोड़कर जन्मों बन्धनमय संसार से विशिष्टा द्वैत की पद्धति से मुक्त होकर अनामय सम्पूर्ण रोगों से रहित परमपद को प्राप्त कर लेते हैं।

व्याख्या- भगवान पूर्व श्लोक में कहे हुए ''कौशलं'' शब्द का यौगिक अर्थ ही स्पष्ट कर रहे हैं- 'कुशं लुनाति' इति कौशलं यह कुश जैसे तीक्ष्ण संसार बंधन को काटकर समाप्त कर देता है, इसलिए इसे कौशल कहते हैं। बुद्धियोग से मुक्त ही यहाँ बुद्धि युक्त शब्द से अभिप्रेत हैं। ''चिदचिद् विवेकशालिनी बुद्धि को मनीषा कहते हैं। ऐसी प्रशस्त मनीषा जिनके पास होती है, उन्हें मनीषी कहते हैं। जन्म बन्ध शब्द में क्रम से षष्ठी तत्पुरुष कर्मधारय और सप्तमी बहुव्रीहि है। अर्थात् जन्म रूप बन्धन और जन्मों का बन्धन है जिसमें ऐसे संसार से ''विनिर्मुक्ता विशिष्टाद्वैत पद्धति के अनुसार मुक्त हुए अनामयं रोग को आमय कहते हैं'' जिसमें आमय अर्थात् संसार रोग न हो उसे अनामय कहते हैं। ऐसे निरुपद्रव मेरे पद को प्राप्त करते हैं।

संगति- इसप्रकार के योग को मैं कब प्राप्त कर सकूँगा? इस पर मोर मुकुटधारी भगवान कहते

यदा तें मोह कलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ।।२/५२

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! जब तुम्हारी बुद्धि इस मोहरूपी गहन वन को पारकर लेगी तभी तुम सुनने योग्य और सुने हुए कर्मफल के सम्बन्ध में निर्वेद अर्थात् वैराग्य प्राप्त कर लोगे।

व्याख्या- भगवान कहते हैं मैं काल का निर्धारण नहीं करूँगा। क्योंकि वह साधन तुम्हारे अधीन है। इसलिए तुम जब चाहोगे योग तभी प्राप्त हो जायेगा। यहाँ 'कलिलं' शब्द गहन अर्थात घना जंगल और दलदल का वाचक है। 'कलिलं गहनं समं' मोह ही कलिल है। अर्थात् यह वन के समान घना, भटकाने वाला और

दलदल के समान फँसाने वाला भी है।जब तुम्हारी बुद्धि मोह रूप कलिल अर्थात् गहन वन से सिंहिनी की भाँति पार हो जायेगी" अथवा मोह रूप दलदल से फंसी हुई गौ की भाँति निकल जायेगी तभी तुम श्रोतव्य अर्थात् श्रवण करने योग्य और श्रुत सुने हुए कर्म फलों के सम्बन्ध में वैराग्य प्राप्त कर लोगे। यहाँ निर्वेद का अर्थ है वैराग्य और "श्रोतव्यस्य श्रुतस्य" इन दोनों स्थलों में सम्बन्ध में षष्ठी है। गन्तासि में अनद्यतन लुट् लकार है अर्थात् आज के पश्चात् कभी भी वैराग्य प्राप्त कर सकते हो। ॥श्री॥

संगति- इसके पश्चात क्या होगा? इस पर भगवान कहते हैं।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुदिध्स्तदा योगमवाप्स्यसि ।।२/५३।।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! जिस समय तुम्हारी बुद्धि भिन्न फलश्रुतियों से वैराग्य प्राप्त करके प्रलोभनों से चलायमान न होती हुई समाधि रूप मुझ परमात्मा में अचल भाव से स्थित हो जायेगी, उसीसमय तुम समत्व लक्षण योग प्राप्त कर लोगे।

व्याख्या- यहाँ श्रुति शब्द वेद की फलश्रुतियों का बोधक है। विप्रतिपन्ना शब्द का अर्थ है वैराग्य को प्राप्त हुई। इस पक्ष में पंचमी तत्पुरुष समास हुआ "श्रुतिभ्यो विप्रतिपन्ना" अथवा तृतीय तत्पुरुष समास किया जाय और वि शब्द का अर्थ होगा विशेष और प्रतिपन्न का अर्थ होगा प्राप्त। अथवा यहाँ वि शब्द उपसर्ग न होकर विष्णु का वाचक है, अर्थात् वेद की फलश्रुतियों से विरक्त। अथवा "मुमुक्षुर्वै शरणं-ऽहं प्रपद्ये" इत्यादि श्रुति से विशिष्टाद्वैत की प्रणाली से मुझे प्राप्त अथवा श्रुति से प्रेरित होकर वि यानि महाविष्णु रूप मुझ परमात्मा के शरण में आयी हुई निश्चला द्वन्द्वों से जो चलायमान नहीं हुई ऐसी ते तुम अर्जुन की 'समाधौअचला' मुझ परमात्मा रूप समाधि में स्वभाव से चंचलता छोड़कर स्थित हो जायेगी अर्थात् मुझ परमात्मा को छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं जायेगी तब तुम समत्व लक्षण योग प्राप्त कर लोगे।॥श्री॥

संगति- अब समाधि में ही स्थिर व्यक्ति की बुद्धि फलश्रुतियों से वैराग्य प्राप्त करती है और वही योग प्राप्त करता है। अतः अर्जुन इसी सम्बन्ध भगवान से चार प्रश्न करते हैं। इन्हीं चार प्रश्नों की अवतरणिका जनमेजय के समक्ष वैशम्पायन प्रस्तुत कर रहे हैं।

स्थित प्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ।।२/५४

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- इसप्रकार भगवान के कर्मयोग परक पन्द्रह श्लोकों में कहे हुए वक्तव्य को सुनकर अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण से चार प्रश्न किये। हे केशव 'समाधि' अर्थात् आपके श्री चरणों में स्थित, प्रेम समाधि में मग्न स्थित प्रज्ञ महापुरुष की क्या परिभाषा है? और स्थित प्रज्ञ व्यक्ति कैसे बोलता है,- कैसे बैठता है और कैसे चलता है।

व्याख्या- यहाँ केशव शब्द क अर्थात् ब्रह्मा 'ईश यानि शिव' इन दोनों को व वश में करने वाले परमात्मा श्रीकृष्ण के अर्थ में है। अर्थात् हे ब्रह्मा और शिव को नियन्त्रित करने वाले सर्वज्ञ शिरोमणि प्रभो! 'समाधिस्थस्य' समाधि में स्थित प्रज्ञस्य स्थित हो चुकी है प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि जिसकी ऐसी महापुरुष की 'का' भाषा यहाँ भाषा शब्द परिभाषा परक है अर्थात् क्या परिभाषा है। परिभाषा शब्द सामान्यतः लक्षण के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अर्जुन पूछते है- समाधि में स्थित, स्थित प्रज्ञ महापुरुष का क्या लक्षण है? पुनः समाधि से व्युत्थित महापुरुष जो अपनी समाधि को छोड़ देता है वह कैसे किसी से बात करता है? अर्थात्? क्या उसकी भाषा व्यावहारिक रह जाती है अथवा किं प्रभाषेत 'क्या वह किसी से बोलता भी है।' किमासीत" वह कैसे किसी के पास बैठता है। अथवा क्या किसी के पास बैठता भी है। कहीं एकान्त में चला तो नहीं जाता। "व्रजेत किम्" वह चलता कैसे है। सामान्य रूप से अथवा उसकी विशेष गति होती है। अथवा क्या वह कहीं जाता भी है या किसी कन्दरा में छिप जाता है।

संगति- यहाँ अर्जुन ने एक प्रश्न "समाधिस्थित स्थित प्रज्ञ" के सम्बन्ध में किया और तीन प्रश्न व्युत्थित अर्थात् समाधि छोड़े हुए स्थित प्रज्ञ के सम्बन्ध में। अतः भगवान पहले प्रथम स्थित प्रज्ञ की व्याख्या कह रहे हैं-

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ।।२/५५

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- भगवान श्रीकृष्ण बोले हे पृथा पुत्र अर्जुन! जिस समय साधक अपने मन में वर्तमान सभी कामनाओं को छोड़ देता है और अपने में ही अपने से संतुष्ट हो जाता है, अथवा मुझमें स्थित हुआ मेरी ही कृपा से संतुष्ट

हो जाता है, अथवा मुझमें स्थित हुआ मेरी ही कृपा से संतुष्ट हो जाता है, उस समय वह विद्धानों के द्वारा स्थित बुद्धि वाला कहा जाता है।

व्याख्या- यह स्थित प्रज्ञ की परिभाषा है। 'प्रजहाति' का अर्थ है जब साधक मनोगत इच्छाओं को सदा सर्वदा केलिए छोड़ देता है। आत्म शब्द आत्मा और परमात्मा दोनों का वाचक है। अर्थात् जब वह मुझमें स्थित हुआ मुझसे अर्थात् मेरे कृपा प्रसाद से संतुष्ट हो जाता है। ॥श्री॥

संगति- अब दो श्लोकों से भगवान समाधि से उठे हुए स्थित प्रज्ञ महापुरुष की दशा का वर्णन करते हैं-

दुःखेष्वनुद्विग्नमना सुखेषु विगतस्पृहः
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते। २/५६

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन जिसका मन दुःख के क्षणों में उद्विग्न नहीं होता और सुख के क्षणों में जिसे अनुकूल वस्तु प्राप्त करने की इच्छा नहीं होती, ऐसा राग, भय, क्रोध से रहति मननशील और मौनशील साधक स्थित बुद्धि वाला कहा जाता है॥

व्याख्या- दुःखेषु अर्थात् दुःख के क्षणों में 'अनुद्विग्नमनाः' जिसका मन काम, क्रोध, आदि उद्वेगों से युक्त नहीं होता 'सुखेषु' अनुकूल अवसरों पर 'विगतस्पृहः' जिसको प्रिय वस्तु पाने की इच्छा नही होती। प्रिय वस्तु पाने की अभिलाषा का नाम स्पृहा है। जो मुझमें अनुरक्त होने से अन्यत्र राग नही करता और मुझसे अभयदान पाकर किसी से द्वेष नही करता, और आत्मा परमात्म ज्ञान संपन्न होने से किसी पर क्रुद्ध नही होता। जो केवल शास्त्रों का और मेरे नाम रूप लीला धाम का मनन करता है, और प्रायः मौन रहता है, किसी से भाषण नही करता, वही विद्वानों के द्वारा स्थित बुद्धिवाला कहा जाता है। अर्थात् जो उद्वेग स्पृहा, राग, भय, क्रोध शून्य होता है, वही स्थित बुद्धि है। अर्जुन ने प्रश्न किया था-

"स्थित धी किं प्रभाषेत" अर्थात् स्थित प्रज्ञ कैसे बोलता है? भगवान ने उत्तर दिया मुनि अर्थात् वह किसी से भाषण करता ही नही है, मौन रहता है। यह अर्जुन के प्रथम प्रश्न का उत्तर है। ॥श्री॥

संगति- वह स्थित प्रज्ञ समाधि से उठकर क्या करता है? इस पर भगवान

कहते हैं।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।५७।।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- जो सर्वत्र अभिस्नेह अर्थात् अभीष्ट स्नेह से रहित होता है, और भिन्न-भिन्न शुभ-अशुभ वस्तुओं को प्राप्त करके शुभ से न तो प्रसन्न होता है, और न तो प्रशंसा करता है। और अशुभ से न द्वेष करता है, उसीकी बुद्धि मुझ परमात्मा में प्रतिष्ठित होती है।

व्याख्या- न अभीष्ट स्नेह यस्य स अनभिस्नेहः अर्थात् जो अपने कुटुम्ब के प्रति अभीष्ट स्नेह नहीं करता, अभीष्ट स्नेह तो मुझसे ही करता है। 'प्रतिष्ठिता' का अर्थ है उसकी प्रज्ञा मुझमें प्रतिष्ठा को प्राप्त कर लेती है। 'प्रतिष्ठां इता प्रतिष्ठिता' शकन्ध्वादि से पररूप हो गया। अर्थात् उसकी प्रज्ञा की मैं प्रतिष्ठा यानि सम्मान करता हूँ।।श्री।।

संगति- अब अर्जुन को जिज्ञासा होती है कि मेरा प्रथम प्रश्न का उत्तर तो मुझे मिल गया की स्थितप्रज्ञ साधक प्रायशः मौन रहता है। परन्तु वह बैठता कैसे है? उसका उपवेशन सामान्य लोग जैसा होता है, या कुछ विशिष्ट? इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए भगवान कहते हैं।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।५८।।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- जिसप्रकार कछुआ अपने अङ्गों को सब ओर से समेट लेता है, उसीप्रकार जब साधक अपनी श्रवण आदि इन्द्रियों को सभी शब्दादि विषयों से समेट लेता है, तब उसकी प्रज्ञा मुझ परमात्मा में प्रतिष्ठित हो जाती है।।

व्याख्या- तृतीयं प्रश्नंउत्तरयति तदा 'इन्यस्य' अध्याहारः सर्वशः सर्वेभ्यः' अर्थ विषयाः, स्थितप्रज्ञ का आसन प्राकृत जैसा नही होता, विषयों से इन्द्रियो का संकोचन ही उसका आसन अर्थात् बैठना है। कूर्मका अर्थ है कछुआ, अर्थात् जब साधक अङ्गों को कछुए की भाँति इन्द्रियों को विषयों से समेटकर देखता हुआ भी नहीं देखता, सुनता हुआ भी नहीं सुनता, खाता हुआ भी नहीं खाता, सूंघता हुआ भी नहीं सूंघता, और स्पर्श करता हुआ भी नहीं स्पर्श करता। तब उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित ही

जाती है।।श्री।।

संगति- अब अर्जुन ने प्रश्न किया की कोई बीमार व्यक्ति जब आहार छोड़ देता है, तो उसके भी शब्द स्पर्श आदि समाप्त हो जाते हैं। फिर रुग्ण व्यक्ति और स्थितप्रज्ञ में क्या अन्तर आया? अर्जुन के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए परम कारूणिक भगवान मधुसूदन कहते हैं।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परंदृष्ट्वा निवर्तते ।।५९।।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन निराहार अर्थात् विषयों का सेवन छोड़ देने वाले व्यक्ति के विषय समाप्त हो जाते हैं। किन्तु उसके मन से उन विषयों के प्रति लगा हुआ रस अर्थात् राग नहीं समाप्त होगा। किन्तु 'अस्य' अर्थात् स्थित प्रज्ञ को मुझ निरतिशय परमात्मा को देखकर राग भी समाप्त हो जाता है।

व्याख्या- अन्तर इतना ही है कि बीमार व्यक्ति विवशता में विषयों का त्याग करता है। परन्तु मनसे उनका चिन्तन करता है। परन्तु स्थित प्रज्ञको विषय से वैराग्य हो जाता है, 'निराहारस्य' का अर्थ है जिसने आहार को निराकृत कर दिया, यहाँ आहार शब्द पाँचों विषयों के सेवन के अर्थ में प्रयुक्त है। कोष में रसके राग, द्रव, बल और शृङ्गारादि रस कहे गये है- 'रसो रागे द्रवे बले' 'रसवर्ज रसं रागं वर्जयित्वा' अर्थात् विषय के राग को छोड़कर रोगी और विरागी में इतना ही अन्तर है कि रोगी विषय छोड़कर उससे राग नहीं छोड़ पाता। और वैरागी परमात्मा को देखकर राग भी छोड़ देता है।।श्री।।

संगति- अब अर्जुन प्रश्न करते हैं कि इन्द्रियाँ तो अत्यन्त अजेय हैं' उन्हें कैसे जीता जाय? इस पर भगवान कहते हैं कुछ भी करके उन्हें जीतना ही पड़ेगा।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।।६०।।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे कुन्ती पुत्र अर्जुन निरन्तर यत्न करते हुए भी ब्रह्मवेत्ता पुरुष के मन को ये प्रमथन स्वभाव वाली इन्द्रियाँ बलपूर्वक विषयों में लगा देती है।

व्याख्या- यहाँ हि हेत्वर्थक है, 'अनुदात्रेत्व' लक्षण आत्मने पदके अनित्य होने से 'यतमानस्य' के स्थान पर यतत: यह परस्मैपदीय शतृ प्रत्ययान्त प्रयोग हुआ। यहाँ ह धातु का प्रापण अर्थ है। चुराना नहीं। अर्थात् मन को इन्द्रियाँ बलपूर्वक विषयों के पास पहुँचा देती हैं।।श्री।।

संगति- उन इन्द्रियों का संयम कैसे किया जा सकता है? अर्जुन के इस प्रश्न पर भगवान ऋषीकेश कहते हैं।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्पर:।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।६१।।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- यहाँ पर शब्द इष्टका वाचक है, इसप्रकार स्वयं महाभाष्यकार भगवान पतञ्जलि विप्रतिषेधे परं कार्यम् पा० अ० १-४-२ के भाष्य में कहते हैं। अत: 'मत्पर:'मैं "श्रीकृष्ण ही जिसका इष्टदेवता हूँ" ऐसा साधक "निष्काम कर्मयोग करते हुए उन सभी इन्द्रियों का संयम करके मेरे श्री चरणों की छाया में बैठे। क्योंकि जिस साधक की इन्द्रियाँ उसके नियन्त्रण में होती हैं' उसकी प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि मुझमें प्रतिष्ठित होती है।

व्याख्या- मत्पर: जिसका मैं ही 'पर' अर्थात् इष्ट देवता हूँ वही मत्पर है, अर्थात् जिसने मुझको अपना इष्टदेवता मान लिया है, उसको इन्द्रिय निग्रह में कोई कठिनता नहीं होती। युक्त 'निष्काम कर्मयोगी' 'तानि सर्वाणि' उन प्रमथनशील इन्द्रियों को ।।श्री।।

संगति- इन्द्रियों का निग्रह न होने पर उससे होने वाले अनर्थों की सम्भावना से अर्जुन को अगाह करते हुए भगवान श्रीकृष्ण दो श्लोकों में अनर्थों की तालिका प्रस्तुत करते हैं-

ध्यायतो विषयान पुंस: सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संञ्जायते काम: कामात्क्रोधोऽभिजायते ।।२/६२
क्रोधात् भवति सम्मोह: सम्मोहात्स्मृति विभ्रम:।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धि नाशोबुद्धि नाशात् प्रणस्यति।।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- यहां दोनों श्लोक एकान्वयी हैं। विषयों का ध्यान करते हुए पुरुष की उनमें निकृष्ट आसक्ति हो जाती है और आसक्ति के कारण

काम अर्थात् उन विषयों को भोगने की इच्छा उत्पन्न होती है। इच्छा पूर्ति के अभाव में क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध के कारण व्यक्ति में सम्मोह कर्तव्य शून्यता हो जाती है। सम्मोह से स्वस्वरूप रूप स्मृति का विमोह हो जाता है। स्मृति का नाश होते ही विवेक बुद्धि का नाश होता है। और विवेक बुद्धि के नष्ट होते ही जीवपूर्ण रूप से नष्ट हो जाता' अर्थात् वह मुझ परमात्मा से कोसों दूर चला जाता है।

व्याख्या- भगवान का आशय यह है कि 'जो मुझे इष्ट देवता नहीं मानता उसकी इन्द्रियां वश में नहीं होती और वह मेरा ध्यान न करके विषयों का ही ध्यान करता है। इसीलिए सभी अनर्थ होने लगते हैं। इसलिए साधक को मुझे इष्टदेव मानकर इन्द्रियों को वश में करना चाहिए' यही उसका आसन है। काम का अर्थ है विषय भोग की इच्छा 'सम्मोह का अर्थ है 'किंकर्तव्य विमूढ़ता।' 'स्मृतिभ्रंश' स्वस्वरूप की विस्मृति को कहते हैं। ।।श्री।।

संगति- अत्र व्रजेत किं 'स्थितप्रज्ञ' कैसे गमन करता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं। राग द्वेष से रहित इन्द्रियों द्वारा विषयों का सेवन ही स्थितप्रज्ञ का व्रजन है। इसी तथ्य को भगवान स्पष्ट कर रहे हैं-

राग द्वेष वियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमाधिगच्छति २/६४

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! जिसने अपने मन को वश में कर लिया है' ऐसा स्थित प्रज्ञ साधक विषयों के राग द्वेष से रहित अपने वश में हुई इन्द्रियो द्वारा विषयों का सेवन करता हुआ मन की प्रसन्नता तथा मेरा कृपा प्रसाद अधिकार पूर्वक प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या- वश्य का अर्थ होता है आज्ञाकारी आत्मनः वश्यानि: 'जब इन्द्रियां आत्मा की आज्ञा मानने लगती है तथा ;"विधेयात्मा अर्थात् "जब मन साधक का शिष्य बन जाता है" तभी साधक भगवन कृपा प्रसाद का अधिकारी बनता है। विधेय का अर्थ है शिष्य और आत्मा का अर्थ है मन। "विधेयः आत्मा यस्य सा विधेयात्मा।" ।।श्री।।

संगति इसके अनन्तर बुद्धि भी साधक के अधीन हो जाती है। इसी बात को भगवान जनार्दन अगले श्लोक में कह रहे हैं-

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योप जायते
प्रसन्न चेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ।।२/६५

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- इसप्रकार साधक की प्रसन्नता और मेरे कृपा प्रसाद के प्राप्त हो जाने पर उसके सभी दुःखों की अत्यन्त हानि हो जाती है। तथा अपनी प्रसन्नता और मेरी कृपा प्रसाद से जिसका चित्त निर्मल हो चुका है' ऐसे साधक की बुद्धि शीघ्र ही मुझ परमात्मा में प्रतिष्ठित हो जाती है।

व्याख्या- यहाँ प्रसाद शब्द से मन की प्रसन्नता और भगवत कृपा प्रसाद ये दोनों अर्थ समझने चाहिए। 'उपजायते ' यहाँ उप का अधिक अर्थ है 'उपोधिके च' (१/४/८७) अर्थात् भगवान के प्रसाद से साधक के तीनों दुःखों का आत्यन्तिक विनाश हो जाता है। यहाँ प्रसन्न शब्द निर्मल अर्थ में है।।श्री।।

संगति- अब जिसने निष्काम कर्मयोग का अनुष्ठान नहीं किया है' उसका दुष्परिणाम कह रहे हैं योग योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण-

नास्तिबुद्धिर युक्तस्य न च युक्तस्य भावना।
न चा भावयतः शान्तिर शान्तस्य कुतः सुखम् ।।२/६६

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- क्योंकि जो कर्मयोगी नहीं हैं' उसके पास विवेक बुद्धि नहीं होती और अयोगी के पास ब्रह्मचिन्तन भी नहीं होता। तथा मेरा चिन्तन न करने वाले को शान्ति भी नहीं मिलती, फिर तो अशान्ति को सुख कैसे मिलेगा-

व्याख्या- अयुक्त का अर्थ है अयोगी। यहाँ ब्रह्म चिन्तन ही भावना शब्द का अर्थ है। जीवन में भगवत भाव के बिना शान्ति नहीं आती और अशान्ति व्यक्ति कभी सुखी नही हो सकता। ।।श्री।।

संगति- अब भगवान अपने वक्तव्य को संक्षिप्त कर रहे हैं-

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।।२/६७

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- क्योंकि विषयों का सेवन करती हुई इन्द्रियों के बीच में जो मन जोड़ दिया जाता है, वह मन साधक की प्रज्ञा को उसीप्रकार

प्रहरण कर लेता है, जैसे जल में पड़ी हुई नाव को वायु डुबो देता है।

व्याख्या- ''अनुविधीयते'' का अर्थ है अनुकूलता से सम्बुद्ध कर देना। इन्द्रियां की षष्ठी ''मातुः स्मरति'' की भाँति शेषत्व की विवक्षा में हुई है।इन्द्रियां मन का अपहरण करती है और मन प्रज्ञा का। यहाँ यह विवेक है। ॥श्री॥

संगति- अब विषय का उपसंहार करते है-

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।२/६८

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे विशाल भुजा वाले अर्जुन जिसकी इन्द्रियां सभी विषयों से बलपूर्वक मोड़कर हटा ली गयी है। उसी की प्रज्ञा मुझमें प्रतिष्ठित समझनी चाहिए।

व्याख्या- तस्मात्' का तात्पर्य है कि अनियन्त्रित इन्द्रियां ही सारे अनर्थों का मूल है। ''निगृहीतानि' का अर्थ है- बलपूर्वक वश में करना। ॥श्री॥

संगति- अब भगवान कहते हैं कि स्थित प्रज्ञ का बैठना ही विलक्षण नहीं है, प्रत्युत उसके शायन और जागरण भी सामान्य लोगों से अलग ही होते है ''इसलिए गोस्वामी जी ने विनय पत्रिका में कहा-

जेहि निसि सकल जीव सूते,
प्रभु कृपा पात्र जग जागै।।

इसी बात को भगवान अग्रिम श्लोक में कहते है-

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशापश्यतो मुनेः।। २/६९

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन सम्पूर्ण भूत प्राणी के लिए जो रात्रि है अर्थात् जिस भगवन् भक्ति रात्रि में सामान्य लोग सोते हैं, उसमें संयमी 'स्थित प्रज्ञ' योगी जागता है जिस अविवेक रात्रि में सामान्य जीव जागते हैं उसमें स्थितप्रज्ञ सो जाता है अर्थात् विषयों से अपनी आँख मूंद लेना है।

व्याख्या- यहाँ दो रात्रियाँ कहाँ गयी है। सामान्यवद्ध जीव के लिए भुक्ति रात्रि और भगवत प्रपन्न स्थित प्रज्ञ के लिए भक्ति रात्रि। भक्ति रात्रि में सामान्य जीव सोता हैं, और स्थित प्रज्ञ जगता है। यही है रास पंचाध्यायी की महारात्रि। और भुक्ति रात्रि में संसार के लोग जगते है और भुक्त सोता है यही है मोहरात्रि। सा 'निशापश्यतो' यहाँ निशा अपश्यता यह प्रश्लेष समझना चाहिए। अर्थात् जिसमें सामान्य लोग जागते हैं, उसमें ''अपश्यता'', संसार से आँख मूँदे हुए मुनि सोता है।।।श्री।।

संगति- अब स्थित प्रज्ञ का समुद्र की भाँति स्थिर आसन कह रहे हैं-

> **आपूर्यमाणमचल प्रतिष्ठं**
> **समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।**
> **तद्वत्कामा यं प्रविश्यन्ति सर्वे**
> **स शान्ति माप्नोति न कामकामी ।।२/७०**

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- जिस प्रकार नदियों के जलों से पूर्ण किये जाते हुए अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र में जलधारायें प्रविष्ट हो जाती हैं, पर उसे क्षुब्ध नहीं कर पातीं उसीप्रकार समुद्र के समान गम्भीर अचल प्रतिष्ठा वाले इस महापुरुष में सभीकाम्य पदार्थ प्रविष्ट होते हैं, पर उसको मेरे ध्यान से डिगा नहीं पाते। वही शान्ति प्राप्त करता है। काम्य पदार्थों की कामना करने वाला कभी नहीं।

व्याख्या- समुद्र की उपमा से साधक की गम्भीरता का अभिप्राय हैं जैसे जल में प्रवाह होता है उसीप्रकार कामनाएँ भी प्रवाहशील होती है। श्री।।

संगति- अब अन्तिम प्रश्न का उपसंहार करते हैं।

> **विहाय कामान्यः सर्वान्पुमाँश्चरति निःस्पृहः।**
> **निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ।।२/७१**

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- जो सम्पूर्ण काम्य पदार्थों को छोड़कर स्पृहा रहित होकर ममता और अहङ्कार से मुक्त हुआ। तटस्थ भाव से संसार में विचरण करता है वही शान्ति प्राप्त करता है।

व्याख्या- ''विहाय कामान्न'' का तात्पर्य है कि जो उपस्थित भोगों का भी सेवन नहीं करता। निष्पृह अर्थात् जिसे भगवत चरणारविन्द के अतिरिक्त कोई भी

वस्तु पाने की इच्छा नहीं होती, वह शान्ति को अधिकृत रूप से प्राप्त करता है। श्री।।

संगति- अब भगवान ब्राह्मी स्थिति की स्तुति करते है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थनैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणि मृच्छति।। २/७२।।

रा० क० भा० सामान्यार्थ- हे पृथा पुत्र अर्जुन! यह स्थिति ब्रह्म सम्बन्धिनी अर्थात् भगवनमयी है। इसको प्राप्त करके जीव नहीं मोहित होता। इसमें स्थित होकर अन्तकाल में निश्चित रूप से सम्पूर्ण उपद्रवों से रहित निर्वाण ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या- एषा अर्थात् जिसकी मैंने सोलह श्लोकों में चर्चा की वह स्थिति ब्राह्मी है। अन्तकाले शब्द के दो अर्थ है। एक तो अन्तिम समय और दूसरा जगत् । "अन्तकं अ लुनाति इति अन्तकालं। अर्थात् जो काल को भी समाप्त कर देता है " उस जगत में रहकर भी जीव भगवत् पद का अधिकारी बन जाता है। ।।श्री।।

रामानन्दाचार्य शास्त्र सिद्धान्त सुहावन
रामभद्र आचार्य सकल वैष्णव मनभावन।
शोधि विशिष्टाद्वैत चारू सिद्धान्त पुनीता,
भाष्य द्वितीयाध्याय दिव्य श्री भगवतगीता।।
सीताराम प्रसाद ते करि विचार निज विमल हिय
राघवकृपा सुनाम ते भाष्य संत जन हेतु किया।।

श्रीमद्भगवतगीता द्वितीयअध्याय जगद्गुरुरामानन्दाचार्य रामभद्राचार्य प्रणीत राघवकृभाष्य सम्पूर्ण।।

।।श्री राघवः शंतनोतु।।

●●

''श्री मद्राघवो विजायते''

''श्री रामानन्दाचार्याय नमः।।

तृतीयोऽध्यायः

मंगलाचरणम्

धुन्वन्ध्वान्तमशेषमात्मवसतिः सीताप्रभाभास्वरः,
श्रेयः सद्गुणदिव्यदीधितिमयः सौमित्रियन्ता हरिः।
कौसल्यादितिसम्भवो भवभवस्तेजःप्रतापार्चितो,
रामो वानवंश्यवारिजनषां पायात्पपीः पाप्मनः।।

नवजलधरश्यामो रामोऽभिराममनो
हरोहरहरहरो हारी हारी हरारिहरारिसूः।
मम गुणजलनिधिर्धिष्णा व्रीड्यद् बृहस्पतिपा,
सुमनसि पदाम्भोजं धेयाद्धनंजयसारथिः।।

रामानन्दाचार्यं पुण्यसदनसुतमहं मुहुर्नत्वा,
गीताध्यायतृतीये कुर्वे राघवकृपाभाष्यम् ।।

अथ परम कारुणिको निरवधिकल्याणगुणगणालि न लयो महायोगेश्वरः श्री हरिः श्रीकृष्णसंज्ञो भगवान् निमित्तीकृत्य निजपरिकरं पार्थं निश्चित्यनिचित्य-निखिलनिगमार्थं यथार्थं परमार्थं उपदिदिक्षुः श्रीगीताशास्त्रमवतारयन् निजकलावतारेण समधिगतसकलश्रुतिसारेण निजनामरूपलीलाधामपरायणेन बादरायणेन श्री गीतायाः प्रथमाध्याये तच्छ्रवणाधिकारिमीमासां ग्रन्थयित्वा तस्याः द्वितीयाध्यायं निजमुखकमलविनिसृतैर्दिव्यैर्नव्यैः श्लोकैः मण्डयामास। अत्र च षोडशाध्याय्यां वर्णयिष्यमाणान् समस्तानपि सिद्धान्तान् समसूत्रयन् महाभारतसूत्रधारः। त एव यथानुपूर्व्यं भगवन्मुखपद्मविनिसृताः श्लोकाः वेदव्यासेन मध्ये महाभारतं लिपिबद्धाः कृताः। अथ त्रिषष्टिश्लोका भगवदुक्ताः त्रयः संजयेन षट् पार्थेन। अत्र च एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु (गीता २।३९) इत्यत्र सांख्ययोगयोः संकीर्तनात् उभयत्र च विषयसप्तमीनिर्देशात् ते इति चतुर्थ्येकवचनान्तनिर्देशाच्च

एषा सांख्यविषयिणी बुद्धिः तुभ्यं अभिहिता। पुनश्च योगविषविणीं इमां बुद्धिं त्वमेव श्रुणु इति स्वरसत आयातम् । पुनश्च अत्र भगवता बुद्धेर्विषयविभागकाले न हि कण्ठरवेणाधिकारि विभागः कृतः। पुनश्च 'बुद्धियुक्तो जहातीह उभयसुकृतदुष्कृते' इत्यादिभिः कर्मणो बुद्धे र्ज्यात्रस्त्वमप्युक्तम् । अतो वीभत्सो व्याकुलो वभूव। यत्-यदि कर्ममार्गतो ज्ञानमार्गः श्रेयान् तर्हि भक्तवत्सलोऽपि भगवान् निजशरणागतमपि मां हिंसादिपापप्रचुरे 'तस्माद् युध्यस्व भारत' इत्यादि वचनैः कथं नियुङ्क्ते। अतो व्याकुलीभूय पपृच्छ प्रांजलिः परमेश्वरं द्वाभ्यां ज्यासीत्यादिभ्याम

अर्जुन उवाच-

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव । ३।१।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ।। ३।२।

रा० कृ० भा०- चेत् यद्यर्थे 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' ३।२।१८८ इत्यनेन पूजार्थे विहितक्तप्रत्ययसन्नियोगेन तृतीयार्थे षष्ठी। हे जनार्दन! जनैः अर्द्यते याच्यते इति जनार्दनः 'कृत्यल्युटो वहुलम् ३।३।११३ इत्यनेन कर्मणि ल्युट् ततश्चानुक्तकर्तरि षष्ठी' कर्तृकर्मणोः कृतिः २।३।६५ इत्यनेन। पुनः षष्ठीशेषसमासः। त्वं तु जनैः अर्द्यसे स्वाभीप्सितं याच्यसे तथैव मयापि 'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे' (२।७) इत्यनेन निजश्रेयो याचितः। यतस्त्वं जनार्दनः। इत्याभिप्रायेण जनार्दन इति सम्बोधनम्। यदि कर्मणः कर्मापेक्षया बुद्धिः ज्ञानं ते त्वया सर्वेश्वरेण श्रीकृष्णेन ज्यायसी मता प्रशस्यतरा पूज्यत्वेनाभिमता तत् तर्हि हे केशव! कं ब्रह्माणं ईशं शंकरमयि वशयति नियमयति तथाभूतः ब्रह्मशिवयोरपि नियन्ता सन् त्वं अस्मिन् घोरे हिंसाप्रचुरे कर्मणि युद्धरूपे कथं नियोजयसि।

'तस्माद्युध्यस्व भारत' (२।१८), तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः (२।३७) ततो युद्धाय युज्यस्व इत्यादिभिर्वाक्यैःकथं नियोगप्रयोजको भवसि? निपूर्वक युज् धातुः शुद्धोऽपि सकर्मकः यथा गुरुःशिष्यं अध्ययने नियुङ्क्ते।

अतएव किरातार्जुनीये भारविः-
प्रजासु वृत्तिं यमयुङ्क्त वेदितुम् । किरातार्जुनीय १।१

यथा कोऽपि चेतनः कमपि चेतनं क्वचिद् व्यापारयति तथैव भगवन्मयतया भगवद्वाक्यान्यपि चेतनानि। तानि स्वयमेव नियुञ्जते भगवांस्तु प्रेरयति अतो नियोजयति इति निगूढम् । यद्वा केशाः कुंचिताः सन्त्यस्य इति केशवः। यथा तव केशाः वक्राः तथैव त्वम् । वक्रकर्मणि मां नियोज्य मां पाशयितुमीहसे। "ननु मया स्पष्टमुक्तं किन्तु त्वयैव नाव बुद्धं इत्यत आह-हे केशव व्यामिश्रेण संकीर्णार्थेन वाक्येन वचनेन मे मम बुद्धिं स्थिरामपि मोहयसीव विमोहं प्रापयसीव। तव कानिचिद् वाक्यानि संकीर्णार्थानीव दृश्यन्ते। यथा "बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ" (२।३) "कर्मजं बुद्धियुक्ता हि" (२।५१) इत्यादि। अतएव नाध्यवस्यामि यद् द्वयोर्मध्ये कतरत् श्रेयः इति तत् एकं निश्चित्य निश्चयं कृत्वां वद। येन अनुष्ठीयमानेन कर्मणा ज्ञानेन वा अहं श्रेयः परमकल्याणं परमात्मानम् आप्नुयाम् लभेय। इवार्थस्तु यद्यपि भगवान् व्यामिश्रं न वदति-"एषा ते भिहिता सांख्ये" (२।३९) इत्यनेन सांख्ये, 'बुद्धियोंगे त्विामां शृणु' इत्यनेन योगविषये च सुस्पष्टं बुद्धेर्विभाग उक्तः अतो न संकीर्णार्थता। मोहयसीव इति कथनं तु ममैव बुद्धिमान्द्यम् । अहो! विमोहनाशाय प्रवृत्तः कथं विमोहयिष्यसि सुस्पष्टवादी कथं व्यामिश्रं वदिष्यति किन्त्वहमेव एकः सन्नपि व्याप्यजीवः वाक्यं व्यामिश्रयन्तमिव भवन्तं पश्यामि। तत् द्वयोः मम कृते निश्चित्य एकं कथयतु यत् अहं चिरप्रतीक्षितं श्रेयो लभेय ।।श्रीः।।

संगति- "एवं व्याकुलेन अर्जुनेन पृष्टः भगवान् किमकरोत् ? इति धृतराष्ट्र-जिज्ञासां शमयन् संजयो भगवद्वचनं अवतारयन् आह-

रा० कृ० भा०- श्री भगवान् उवाच-श्रियासहितो भगवान् श्रीभगवान् । उत्पत्तिं च विनाश च भूतानां मागतिं गतिम् । वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति।।

अर्जुनस्य पात्रता विषये भगवतः पूर्ण ज्ञानमस्ति इति द्योतवितुमाह श्री भगवान्। अर्थात् कदाचिद् धृतराष्ट्रस्य मैवं भ्रमोऽभूत् यद् भगवान् अरण्यरोदनवदनधिकारिणेऽपि ज्ञानस्य पार्थाय ज्ञाननिष्ठामुपदिशति। किं भगवानुपदेशशास्त्रं मर्यादां न जानाति? ननु 'नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्' इति मानवानुशासनात् भगवान् पार्थेनापृष्टः कथं ज्ञानोपदेशं करोतीति चेन्न। "न च श्रेयोऽनुपश्यामि" (१।३) श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह

लोके (२।५) यच्छ्रेय: स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे (२।७) येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् (३।२) "यच्छ्रेय एतयोरेकं" (५।१) इति पार्थजिज्ञासासु बहुश: श्रेय: शब्दप्रयोगदर्शनात् तस्मिन् न ब्रह्म जिज्ञासा इति कथनं तु दुराग्रहाज्ञानविजृम्भितमेव अनधिकारी कथं श्रेयो जिज्ञासेत। तथा हि कठश्रुतौ नचिकेतसं प्रति यम:-

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीर:।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमात् वृणीते। (कठ १।२।२)

धीर: प्रेयस: अभिश्रेय: वृणीते प्रेय: पदार्थान् पशुपुत्रादीन् तिरस्कृत्य पार्थ: परमात्मानं प्रति श्रेय एव वृणान: पञ्चकृत्व स्तदेव पार्थयते। यदि श्रुतिरेव प्रभुं पार्थस्य श्रेयो वर्णलक्षणम् धीरत्वं व्यनक्ति तर्हि कस्त्वं सर्वज्ञशिखामणे: श्रुतेरपि बुद्धिमत्तर:। किञ्च यदप्युक्तं मलिनान्त:करणस्य कर्मयोगा-धिकारिता। शुद्धान्त:करणस्य च ज्ञाननिष्ठाधिकारिता तदप्यसङ्गतम् ।

पूर्वं तावत् केषाचिद् ज्ञाननिष्ठाधिकारिणं नामानि वाच्यानि। शुकाचार्य-वामदेवादय: इति चेत् ते तु आजन्मन: ज्ञानिन: न तु ज्ञानाधिकारिण: तेषामध्ययनं तु लोकसंग्रहार्थम् । यथा श्रीमद्भागवते जातमात्रस्य भगवत: शुकाचार्यस्य परिव्रज्याभिधानात् यथा-

यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेत कृत्यं
द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव।
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदु-
स्तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि ।। भागवत १।२।२

किञ्च ज्ञानं नाम तत्त्वंपदार्थशोधकम् ।शुद्धान्त:करणे स्वयमेव तच्छुध्यां शुद्ध्योस्तत् त्वं पदार्थयो: किं ज्ञानभूमिकया। रोगमुक्तस्य औषधिवत् । यदपि विजल्पितं यत् - 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' इति वदता भगवता मिलनान्त:, करणत्वात् पार्थ: कर्मयोगाधिकारित्वेन विभक्तांकृत: तदपि मत्तप्रलपिनमेव। 'पुरा प्रोक्ता मयानध' इति भगवनैव पार्थं प्रति अनघेति सम्बोधनेनैव कुपक्षनिरासात् । किञ्च ज्ञानानधिकारित्वे पार्थस्य 'एषा नेऽभिहिता सांख्ये' इति भगवद् वचन एव नितरां अनौचित्यापत्ति: स्यात् । वस्तुतस्तु 'बहूनांजन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते' (गीता ७।१९) इति भगवदुक्त: प्रपत्तेरेव ज्ञानमत्त्वस्यानुमापकत्वे सिद्धे। 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मांत्वां प्रपन्नम्'

इति पार्थप्रपत्त्यैव तद्ज्ञानवत्वमप्यनुमितम् । तथा हि अर्जुनो ज्ञानवान् भगवत्प्रपन्नत्वात् शुकाचार्यादिवत् । यन्नैवं तन्नैवम् । शुकाचार्यस्य च प्रपत्तेः श्री भागवते नवमे दृष्टत्वान्नैव संदेहः कार्यः। यथा-

यस्मामलं नृपसदस्सु यशोऽधुनापि गायन्त्यघौघ्नमृषयो दिगिभेन्द्रपट्टम्।
तं नाकपालवसुपालकिरीटजुष्टपादाम्बुजं रघुपतिं शरणं प्रपद्ये।

भागवत ९।११।२१

हे अनघ। न विद्यते जघं पापं यस्मिन् स अनघः तत्सम्बद्धौ हे अनघ! हे निष्पाप! त्वया आत्मनि ग्लानिर्न क्रियताम् यदशुद्धान्तःकरणः। स तु देवर्षिपितृणां ऋणेभ्यो मुत्त परमपावनो भवति। तद्यथा-करभाजनो निमिं प्रति-

देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां न किंकरो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकन्दं परिहृत्य कर्तम् ।

श्री भागवत् (११।५।४१)

"कृतर्भव कर्तम् स्वार्थेऽण् । एतेन कर्मण्येव ते अधिकारः न ज्ञान निष्ठायां (गीता २।४७ शंकरभाष्य) इति शङ्करव्याख्यानं अत्रैव अशुद्धान्तःकरणस्य तत्त्व ज्ञानोत्पत्त्ययोग्यस्य तत्त्व ज्ञाननिष्ठायां नाधिकारः इति मधुसूदनसरस्वतीव्याख्यानं चापास्तम् । कथमहो भक्तोऽसि मे सखा चेति (गीता ४।३) "इष्टोऽसि मे दृढमिति (गीता १८।६४) प्रतिजाने प्रियोऽसि मे" (गीता १८।६५) इत्यादि- विशेषणैर्भगवतैव समलङ्कृतः श्रीकृष्णधिः। तथा विधप्रलपन्तौ तावेव ज्ञाननिष्ठायामनधिकृतावशुद्धान्तः करणा च

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुराप्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगने सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ।।३।३

रा०कृ०भा०- अस्मिन् लोके संसारे अस्मिन् वर्तमाननां संख्यायते चिन्त्यते परमेश्वरो यया सा संख्या 'बुद्धिर्मनीषा धी संख्या' इति कोशात् । तया संख्यया युक्ता सांख्या शेषे ४२।९२ इत्यनेन अण् । तेषां सांख्यानाम् कृते ज्ञानमेव योगः ज्ञानयोगः तेन ज्ञानयोगेन 'करणे तृतीया' तथा योगिनां योगः परमेश्वरेण सह सेव्यसेवकभावसम्बन्धः 'षष्ठी स्थाने योगाः' (अष्टाध्यायां १।१।४९) इत्यत्र योगः सम्बन्धः इति भगवतामसहाभाष्यकृतैव व्याख्यानत्वात्। 'अनिर्धारित सम्बन्ध

विशेषा षष्ठी' इति तत्र वृत्तिकृतापि विवृतत्वात्। कर्मयोगेन कर्म एव योगः कर्मयोगः कर्मणा योगः कर्मयोगः तेन कर्मयोगेन कर्मयोगद्वारिका एवं भूता द्वि विधा द्वे विधे यस्याः सा द्विविधा द्विप्रकारिका परन्त्वेकैव निष्ठा स्थितिः पुरा पूर्वस्मिन् काले सर्गारम्भे अथवा द्वितीयेऽध्याये मया भगवता सर्वेश्वरेण प्रोक्ता प्रकर्षेण उक्ता-

एषा तेऽनिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगेत्त्विमांशृणु। इति नामग्राहमेव व्याख्याता। तर्हि म कुत्राधिकारः? इति चेत् नित्यपरिकरत्वात् न कुत्रापि लीलायां त्वां निमित्तीकृत्य गीताशास्त्रमिदं अवतार्यते। ननु ज्ञानवत्त्वेन प्रपत्त्यनुमितेन ज्ञान्यहं कथं नहि? तथापि लोकबुभुत्सया तुभ्यं ज्ञानमाख्यायते अग्रे वक्ष्यते च-इति ते ज्ञानमाख्यातम् (गीता १८।६३) "परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञाननिनां। ज्ञानमुत्तमम्" (गीता १४।१) "ज्ञानंतेऽहं सविज्ञानम्" (गीता ७।२) "ज्ञानं विज्ञानसहितं" (गीता ९।१) इत्यादिः। तस्माल्लीलायां तव उभयाधिकारित्वम् ।

ननु "कर्मण्येवाधिकारस्ते" इत्यत्र भगवतैव अन्ययोगव्यवच्छेदकेनैवैवकारेण ममार्जुनस्य ज्ञाननिष्ठाधिकारिता निरस्ता इति चैन्मैवं वाचः। तत्र श्लोके एव द्वितीय चरणे "मा फलेषु कदाचन" इति ब्रुवता मयैव फलस्यैव व्यवच्छेद्यत्वेन प्रदर्शितत्वात्। तत्र हि प्राकरणिकतया कर्मफलनिन्दाया एव प्रस्तुतत्वात् निषेधस्य तत्रैव तात्पर्यमवगन्तव्यम् । व्यवच्छेद्ये समुपस्थिते सति एवकारस्य फले ततोऽन्यव्यवच्छेद्यकल्पने उपस्थितं परित्यिज्य अनुपस्थितकल्पने मानाभावः इति न्यायेन सम्मुखमुपस्थितां कामधेनुं परित्यिज्य पयसे गर्दभीसेवनवत् वैधेयत्वात् । वस्तुतस्तु निष्ठायाः द्विविधायाः सतोरपि विकल्पयोर्द्वयोः ज्ञानयोगकर्मयोगयोः कर्मयोगस्यैव ज्यायस्त्वम् । वस्तुतस्तु द्वावपि प्रकारौ निःश्रेयष्करौ। "संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ (गीता ५।२) एक सांख्यं च योगं च' यः पश्यति स पश्यति (गीता ५।५)" इत्याद्युक्तत्वात् न तयोर्विरोधः। लोकसंग्रहार्थं तव द्वयोरप्युपयोगात। कुरुक्षेत्रेकर्मयोगस्य कुशस्थल्यां ज्ञानयोगस्य च। तर्हि कथं द्वैविध्यं निष्ठायाम्? रुचिवैचित्र्यानुरोधात् । तुल्याधिकारत्वेऽपि भिन्नरुचयो भवन्ति पुत्राः' कस्मै चिन्मोदकं रोचते "कस्मैचित पायसम्" । रुचिश्च निसर्गसिद्धमनोमृदुत्वकठिनत्वादिवैलक्षण्यतो भिन्ना भवन्तीत्यलमतिविस्तरेण। श्रीः।

अथ प्रमानुपर्यालोचनायां प्रमानायं पार्थः स्वस्मिन स्वरूप- जिज्ञासां दृष्ट्वा

पृच्छति-

प्रणतंक्र बन्धो! त्वत्पदपद्मनित्यकैंकर्यार्थं मया किं विधेयम् कर्मणां अनारम्भणं उताहो क्रियमाण कर्मणां संन्यसनम्? चेदाह-अतर्क्यनाटकनटो वासुदेव:। नहि तावत् कर्मणामनारम्भेण न वा कर्म-संन्यसनेन नैष्कर्म्यापरपर्याया सिद्धिर्भवति। न खलु कर्माण्यकुर्वाणं क्रियमाणानि वा त्यजन्तं पुत्रमभिनन्दति पिता। किं तर्हि कर्माणिंकुर्वन्तम्। अर्थात् श्रुतिस्मृतिपुराणविहितकर्माणि भगवदादेशान्मत्वा पितुरादेशपालनकर्तव्यम् सफलता वा विफलता वा इत्येवं ताटस्थ्यं स्वीकृत्य कर्म कुर्वन्तं पुत्रं यथा मातापितरावभिनन्दत: तथैवाविचारितकर्मफलामिसन्धिश्रुतिविहितानि कर्माणि मदाराधनधिया कुर्वन्तं श्रुतिरहं चाभिनन्दाव:। अत आह-

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ।।३।४

रा०कृ०मा०- कर्मणाम् श्रुतिविहितानां नित्यनैमित्तिकानां आरम्भणं आरम्भ: न आरम्भ: अनारम्भ: तस्मात् अनारम्भात् 'हेतौ पंचमी'। प्रारम्भं अकृत्वा इति भाव: कर्मकर्मकप्रारम्भप्रतियोगिकाभावात् हेतो: पुरुष: नैष्कर्म्यं निर्गतानि कर्माणि यस्मात् स निष्कर्मा तस्य भाव: नैष्कर्म्यं फलजनकतया कर्मणामभाव:। वस्तुतस्तु कर्मपदमत्र भावसाधनम् । नैष्कर्म्यं कर्मत्वाभाव:। पुरुष: न अश्नुते न भङ्क्ते तर्हि किं स्वीकृत्य क्रियमाणानि कर्माणि मध्यत: संन्यसेयम्? इत्यत आह न चेत्यादि। कर्मणमित्यनुषज्जते चकार: पक्षान्तरे च तथा अपरस्मिन् विकल्पे कर्मणां संन्यसनात् त्यागात् एवकार: अप्यर्थ:। अपि हेतो: सिद्धिं ज्ञाननिष्ठां न समधिगच्छति नैव सम्यग् अधिकृत: सन् लभते। तस्मात् कर्मणाम् फलशून्यानाम् आरम्भादेव परमात्मन: प्रसन्नता तत: प्रीति: तत: परमात्मनि विश्वास: ततश्च भक्ति: ततश्च 'भक्त्या मभिजानाति' इत्युक्तिरीत्या ज्ञानावाप्ति: इति विवेक:। श्री:।

किं बहुना! ज्ञाननिष्ठापि कर्ममूलिकैव। तत्र कर्माणि ज्ञानाग्नौ भस्मसात् क्रियन्ते "ज्ञानाग्नि: सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा" (गीता ४।३७) 'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं' (गीता ४।१९)

यतोहि कर्माण्यन्तरेण कोऽपि क्षणमपि न तिष्ठति अत आह-

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।। ३।५

रा०कृ०भा०- हि यतः कश्चिदपि चिदचिदात्मको जीवो जातु कदाचिदपि क्षणं यावत् कर्म करोतीति कर्मकृत्, न कर्मकृत् अकर्मकृत्।कर्मकृद् भिन्न कर्माणि न कुर्वन् निमेषमपीह न तिष्ठति गतिनिवृत्तिमान् न भवति। प्रकृतेः जाता, प्रकृतिजातैः प्रकृतिजैः प्रकृतिसम्भवैर्गुणैः सत्वरजस्तमोभिः प्रकाशप्रवृत्तिनिवृत्ति फलकैः अवशः विवशः मायागुणानाम् इति भावः सर्वः सम्पूर्णजीवलोकः कर्म कार्यते अनिच्छन्त । मयि प्राकृतगुणास्तं कर्म कारयन्तीति भावः। 'हृक्रोरन्यतारस्याम् पा० अ० १।४।५३' इत्यनेन गौणकर्मणि विकल्पे द्वितीया। ततश्च कर्मवाच्ये तत्रैव लकारात् प्रथमा। अवश इत्यनेन जीवस्य पारतन्त्र्यमुक्तम् । श्रीः।

संगति- अथ द्वाभ्यां कदाचारसदाचारवैलक्षण्यमाह- मिथ्याशव्दोऽत्र मोघपरः-

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।। ३।६

रा०कृ०भा०- विमूढः विमोहोपेत आत्मा मनो बुद्धिर्वा यस्य स विमूढात्मा स्वस्वरूपानभिज्ञः। यः कश्चन दाम्भिकः कर्मेन्द्रियाणि पाणिपादोपस्थपायुवाग्नामानि संयम्य एषां विषयेभ्यो व्यावर्त्य मनसा सर्वथैवासंयतेन संकल्पात्मेकन अन्तः करणेन विषयान् शव्दादीन् तदुपलक्षितसंगीतसुन्दरीकुसुमसुगन्धद्रवरसवत्पदार्थान् स्मरन् चिन्तयन् इन्द्रियाणां अर्थभूतान् आस्ते न तु मां सर्वशव्दं सर्वरसं सर्व रूपं सर्वगंधं सर्वस्पर्शं क्षणमपि चिन्तयते स मिथ्याचारः मिथ्या मोघः अवास्तवः आचारः इन्द्रियनिग्रहरूपो यस्य तथाभूतः उच्यते कथ्यते सर्वजनैः। तस्मात् कर्मयोगप्रस्तावनायां सर्वतः पूर्वं विशुद्धेन मनसा मन्नामरूपलीलाधाम्ना स्मरणं कार्यम् । तेनैव निसर्गतः तदिन्द्रियाणि संयनानि भवष्यिन्तीनि हार्दम् । श्रीः।

अथ द्विविधेष्विन्द्रियेषु कनरैः कर्मयोग आचारणीयः? इत्यन आह हृषीकाधीशो भगवान् -यस्तु इत्यादिः।

यस्त्विन्द्रियाणि ममसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते। ३।७

रा०कृ०भा०- तु पक्षान्तरे एतस्मादन्यस्मिन् पक्षे हे अर्जुन? शुभ्रहृदयः यः असक्तः संसारे आसक्तिवर्जितः मनसा चेतसैव प्रग्रहरूपेण 'मनः प्रग्रहमेव च' (कठ ३।१०) इति श्रुतेः यथा हयान् आरोहकः रश्मिणा नियच्छति तथैव मनसा ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रचक्षुत्वग्रसनाघ्राणानि शब्दरूपस्पर्शरसगन्धेभ्यः नियम्य व्यावर्त्य कर्मेन्द्रियैः वाक्पाणिपादपायूपस्थैः कर्मयोगं मदाराधनरूपमारभते स विशिष्यते ज्ञानयोगिनः श्रेष्ठो भवति कर्मयोगी। यद्वा कर्मेन्द्रियनिग्रहिणो ज्यायान भवति ज्ञानेन्द्रिय निग्रही। कर्मार्थानि इन्द्रियाणि इति कर्मेन्द्रियाणि तैः कर्मेन्द्रियैः।

यथोक्तं श्रीमद्भागवते श्रीभगवन्तं स्तुवद्भिर्देवैः तृतीयस्कन्धे-

पानेन ते देवकथासुधायाः प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया ये।
वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोधं यथाञ्जसान्वीयुरकुण्ठधिष्ण्यम् ।।

तथा परे चात्मसमाधियोगबलेन जित्वा प्रकृतिं बलिष्ठाम्।
त्वामेव धीराः पुरुषं विशन्ति तेषां श्रमः स्यान्न तु सेवया ते।

(भागवत ३।५।४५-४६)

यः कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमारभते स विशिष्यते इत्यनेन ज्ञानेन्द्रियैः कर्मयोगमारभमाणो न विशिष्यते इत्यायातम् । अतएव-"तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते" (गीता ५।२)

यत्त्वत्र अशुद्धान्तःकरणानां कृते वाक्यमेतत् इति शाङ्करैः विजल्पितं तत्तु वितण्डितमेव। अस्मिन् पक्षे श्रुतिरपि प्रमाणम्। तथा हि- ईशावास्य श्रुतिः-

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।

इह कर्माणि कुर्वन् एव शतं समाः जिजीविषेत् । इतः अन्यथा नास्ति एवं त्वयि नरे कर्म न लिप्यते इत्यन्वयः। इह अस्मिन् संसारे कर्माणि कुर्वन् एवं शतं समाः जिजीविषेत् । एषः सामान्य निर्देशः ज्ञानिनां कर्मिणां च। न चा शुद्धान्तःकरणानाम् कृते एवेति वाच्यम् । विनिगमनाविरहात् । ननु त्वत्पक्ष एव किं मानम्? इति चेत् । "असति बाधके सर्वं वाक्यं सावधारणं भवति" इति नियमात् । मत्पक्ष एव सावधारणता। न च बाधकाभावे किं मानम्! कुर्वन्

इत्येववचनम्। एकवचननिर्देशो हि समान्ये भवति तत्त्वं च नित्यत्वे सत्येकत्वे सत्यनेकसमवेतत्वम् । कुर्वन्निति परस्मैपदनिर्देशस्तु फलत्यागसूचनार्थम् अन्यथा कुवार्ण एव कर्माणि इति ब्रूयात्। तथाहि-कमार्णि परार्थं कुर्वन् फलं परस्मै परमात्मने समर्पयन् शतं समाः जिजीविषेत् जीवितुम् इच्छेत् । इतः निष्कामकर्मयोगात् परः अन्यथा अन्येन प्रकारेण युक्तः कोऽपि पन्था नास्ति। एवं फलत्यागपुरःसरं अनासज्यामाने भगवदाराधनरूपाणि कर्माणि नित्यनैमित्तिकानि कर्माणि कुर्वति त्वयि नरे न रमते इति नरः तस्मिन् नरे सङ्गवर्जिते कर्म न लिप्यते, भविष्यदर्थे लट्। कर्मलेपो न भविष्यति। एवं नान्यथेतोऽस्ति इत्युक्त्या ज्ञानयोगिनां स्वातन्त्र्यपक्षः परास्तः, इयमेव च श्रुतिः श्रीगीतानिगदितकर्मयोगमहावृक्षस्य बीजभूताः ।।श्रीः।।

निष्कर्षमाह-

"नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ।।८।।

रा०कृ०भा०- अत एव त्वं नियतं श्रुतिविहितं कर्म कुरु अनुतिष्ठ। इह कुरुष्व इत्यनुक्त्वा कुर्विति कथने परस्मैपदप्रयोगे पार्थाभिन्नकर्तरि फलनिवारणं भगवदभिप्रायः प्रतीयते। इतरथा "स्वरितजित प० अ० १।३।७२ कर्त्रभिप्राये क्रियाफले" इत्यनेन आत्मने पदे कृते कुरुष्व इति क्रियाफलं कर्त्रनुगामीत्वेन दृश्येत। यतो हि अकर्मणः नैष्कर्म्यात् ज्ञानलक्षणात् कर्म निष्कामकर्मयोगः ज्यायः श्रेयः। किमर्थमकर्म निषिध्यते इत्यत आह शरीरयात्रेति-शरीरस्य यात्रा देहनिर्वाहः अपि ते तव अकर्मणः "अत्र हेतौ पञ्चमी" कर्माभावद्धेतोः तव देहनिर्वाहोऽपि न प्रसिद्ध्येत् न प्रसिद्धिं आप्नुयात् यतो हि कर्माभावे शरीरमपि स्थातुं न प्रभवते तमन्तरेण-ज्ञानयोगकर्मयोगौ कथं स्यातां, अत एव आमनन्ति "शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम् ।।श्रीः।।

ननु नियतकर्मकरणे तज्जनितबन्धनं स्यात् । अकरणे च शरीरयात्रा न चलेत् इत्युभयतः पाशारज्जु इत्यत आह-

"यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचार ।।९।।

रा०कृ०भा०- "यज्ञो वै विष्णुः" इति श्रुतेः। यज्ञ शब्दोऽत्र भगवत्परः,

यज्ञाय इदं यज्ञार्थं तस्माद् यज्ञार्थात्, भगवन्निमित्तकात् कर्मणः अन्यत्र अन्यस्मिन् स्थले अय लोकः, दृश्यमानोऽयं चिदचिदात्मकः कर्मबन्धनः कर्मणां बधनं यस्मिन् तथाभूतः। यानि खलु मदभिन्नभगवन्निमित्तानि कर्माणि तानि न बंधनाय भवन्ति, मदन्यत्र कृतानि कर्माणि फलैर्बध्नन्त्येव कर्तारम् । यथा श्री भागवते दशमे द्वाविंशे-

''न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते
भर्जिताः क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते ।। भा० १०-२२-२६

अत एव हे कौन्तेय। तदाराधनमेव अर्थः यस्मिन्, एवं भगवदाराधनप्रयोजनकं कर्म मुक्तसङ्गः मुक्तः सङ्गः येन तथाभूतः, आसक्तित्यागेन भक्तिपूर्णचित्तेन श्रद्धया सम्यक् आचर आदरेण कुरु ।।श्रीः।।

"यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्" गीता १८-५ इत्यग्रे वक्ष्यमाणरीत्या यज्ञस्य विदुषामपि पावनत्वात्, कर्तव्यतया च कर्मयोगिभिः प्रथमं तमेव स्तौति, सहयज्ञा इति-

''सहयज्ञाः प्रजा सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ।।१०।।

रा०कृ०भा०- यज्ञो वै विष्णुः तेन सह वर्तमानाः सहयज्ञाः "वोपसर्जस्य प० अ० ६।३।८२ इत्येनेन वैकल्पिकसादेशविधानात् तदभावपक्षोऽत्र तस्मादप्रवृतत्वेऽपि नित्यविधित्वाभावात् तदुद्देश्यताक्रान्तत्वेनापि न साधुत्वक्षतिः। "तत्सृष्ट्वे तदैवानु प्राविशत्" इति श्रुतेः, यज्ञेन विष्णुना सह अन्तर्यामितयैव व्यापकेनव्याप्तेन चैव प्रतिशरीरं इति स्पष्टार्थः। इत्यनेन जीवब्रह्मणोरविनाभूतसंवन्धः प्रदर्शितः। इदम् प्राचामनुरोधेन, वस्तुतस्तु यज्ञो नाम वेदविहितः श्रौतस्मार्तश्च, श्रौतोऽपि द्विधा क्रतुरक्रतुश्च, क्रतुस्संकल्पात्मको राजसूयवाजपेयाश्वमधादि, तद्यथा- "तरति ब्रह्म हत्यां योऽश्वमेधेन यजते" "राजसूयेन यजेत स्वाराज्याकामः" "स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत"। अक्रतुर्नित्ययज्ञः यथात्रैव पञ्चयज्ञा विहिताः, तत्राह मनु गृहस्थानां गृहेषु तिष्ठन्ति पञ्च सूनाः,तासां प्रायश्चित्तार्थं पञ्चयज्ञानां विधिः तथा हि-

''ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ।। मनु० ४-२१

ऋषियज्ञ एवात्र ब्रह्मयज्ञः, तत्र वेदस्वाध्यायेन ब्रह्मयज्ञः, होमात्मको देवयज्ञः, तर्पणात्मकः पितृयज्ञः बलिवैश्वदेवात्मको भूतयज्ञः अतिथिभोजनात्मकश्च मनुष्ययज्ञः। तथा हि मानवे तृतीये-

"पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्लीपेषण्युपस्कराः।
कण्डनी ह्युदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ।।

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः।
पञ्चक्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ।।

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौती नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ।।

पञ्चैतान्यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः।
स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते ।। मनु० ३-६८-६९,७०, ७१

एवं विधेन निष्कामयज्ञेन निर्मलीकृतान्तःकरणस्य ज्ञाननिष्ठा संपादनयोग्यता। ननु पूर्वं "यज्ञो विष्णुः" "तदर्थात् कर्मणः अन्यत्र कर्मबन्धनोऽयं लोकः इति व्याचष्ट भवान् । इदानीं च श्रुतिविहितयज्ञेन सह वर्तमानाः प्रजाः इति व्याचष्टे "इत्यर्धजरतीयन्यायः" इति चेन्न। सामान्यविशेषप्रकरणवैलक्षण्येनादोषात्। यद् वा तत्राप्यस्मिन् व्याख्याने न दोषः, यद्यपि लोकोऽयं इति व्याहरणात् तस्य वक्तव्यस्य सामान्यतात्पर्यग्राहकतया "यज्ञो वै विष्णुः" विष्णुरर्थं कर्म यज्ञार्थं इत्येव व्याख्यानं निर्दूषणम् । तथैव वक्ति वामनः-

"व्यनक्त्येषा भगवतो यज्ञशब्देन भारती।
यन्निर्गुणेऽर्पितस्यात्र बन्धस्त्रुट्येन्न कर्मणः।।

रज्जुर्मिथ्योरगस्येवाधिष्ठानमिह निर्गुणम् ।
किन्तु साधुस्तदन्यश्च ध्रुवं तस्य समावुभौ।।

यथा न म्रियते रज्ज्वा जातु भ्रमभुजङ्गमः।
तथैव निर्गुणेनापि पुण्यपापे न नश्यतः।।

न रज्ज्वा कल्पितः सर्पो न च सा द्रावयत्यमुम् ।
रज्ज्वा नश्यति चेत्सर्पस्तत्र तिष्ठेदसौ कथम्?।।

वह्न प्रकाशते दारु परं तद्दह्यते क्षणात् ।
सति द्रष्टर्याप्रलयं भात्यज्ञातेऽगुणे फणी।।

तस्माद्रज्जोर्यदज्ञानं तेन मिथ्योरगोद्भवः।
वराटके तु विज्ञाते नावतिष्ठति सक्षणम् ।।

यदज्ञानं भवेच्छुल्वं भासेत तदहिः कथम्?।
भासेत वा यदज्ञाने तस्मिन्नश्येत् कथं नु सः?।।

रज्ज्वज्ञानात् समुद्भूतस्तज्ज्ञानाच्च लयं गतः।
यथोरगस्तथा कर्मप्रपञ्चोऽप्येष निर्गुणे।।

कर्मैवं स्यादविद्या तां ब्रह्मविद्यैव बाधते।
विद्या च काचिदीशस्य शक्तिराद्यस्य तस्य सा।।

ईशोऽसौ सगुणस्तस्य चरणार्पणयोगतः।
आविद्यकर्मणो नाशं केशवः कारयिष्यति।।

ब्रह्मार्पणप्रसङ्गेऽत्र भगवानेव वक्ष्यति।
अविद्यानाशकं नैवं निर्गुणं जात्विति स्फुटम् ।।

तस्मात्कर्म न यज्ञाख्यविष्णोर्यत्प्रीतये कृतम् ।
तदेव लोके बन्धाय भवतीति विनिश्चितम् ।।

अथ क्रियामयो यज्ञो यद्यत्राभ्युपगम्यते।
स कर्मैव स्वयं तस्माद्यज्ञो विष्णुः श्रुतेर्बलात् ।।

कर्मणोऽर्थं कृतं कर्म न बन्धकमिति स्फुटम् ।
ननु मत्तो नरो लोके को नाम कथयिष्यति?

अथ यज्ञपदे नान्या देवता इति चेन्न तत् ।
इहान्यदेवतोपास्तेः सर्वथा प्रतिषेधनात् ।।

"यत्करोषि यदश्नासि तत्कुरुष्व मदर्पणम्"।
इत्युक्तं नवमेऽध्यायेऽन्यत्रापि च वदिष्यति।।

तदित्थं कर्म विष्णवाख्ये सगुणे ब्रह्मणीह यत् ।
नार्प्यते बन्धकं तत् तस्यान्निर्णैषीदिति नन्दकी।।

नन्दकः खड्गः अस्ति यस्य सः इति नन्दकी महाविष्णुर्भगवान् श्रीकृष्णः। इति वामनस्य सप्तदर्श श्लोकाः।।

"निगूढार्थामिमां मत्वा प्रकरणेऽत्रोपयोगिनीम् ।
व्याख्यापि निजभारत्या वामां वामनभारतीम् ।।

व्यनक्तीति यज्ञशब्दोऽत्र विष्णुपरः, विष्णुश्च निर्गुणः सगुणश्चेति विवेष्टीति विष्णुः "विष्लृ व्याप्तौ" १०९५ जुहोत्यादि, इत्यामात् कर्तरि कस्नु प्रत्ययः, कित्वाद्गुणाभावः। यद् वा विष्णाति निजभक्तान् कामक्रोधादिभ्यो वियुनक्ति दूरीकरोति स विष्णुः।

यथोक्तं श्री भागवते-

"ब्रह्मन् यमनुगृहणामि तद्विशो विधुनोम्यहम्।
यन्मदः पुरुषः स्तब्धो लोकं मां चावमन्यते ।। भा० ८-२२-२४

यद् वा विश् प्रवेशने" तुदादि १४२४, विशति प्रविशति सर्वं जीवजातं इति विष्णुः "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इति श्रुतेः, अत्र कस्नुः "उणादयो बहुलं" इत्यनेन कित्वात् गुणाभाव "व्रश्चभ्रस्ज "इत्यादिना षत्वं णुत्वम् । यद् वा विशिष्टेषु विशिष्टाद्वैतमार्गानुसारम् आराधयत्सु, स्नौति द्रवीभूतो भवति इति विष्णुः" "ष्णु प्रस्रवणे" अदादि १०३८ इत्यस्मात् कर्तरि क्विप्। नत्र यज्ञ शब्देन कोऽभिप्रेतः इति चेन् सगुण एव, तथा हि यज्ञशब्दोऽयं यज् धातोः कर्मसाधनो नङन्तः।

यज् धातुश्च अर्थत्रये- "यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु" भ्वादि १००२, "देवपूजा त्विह देवतोद्देशेन विधिवोधितो द्रव्यत्याग:" "इति तत्त्वबोधिनी। एवं ईज्यते पूज्यते भक्तैः यः स यज्ञः। यद् वा बाहुलकाच्चतुर्थ्यर्थे नङ्, ईज्यते विष्णूद्देशेन तनधन प्राणादिकं वानरादिभिर्यस्मिन् स विष्णुर्भगवान् रामः, स एव यज्ञः "जज्ञे विष्णु : सनातनः" वा० रा० २-१-६ यद् वा ईज्यते संङ्गम्यते भक्तैः अविद्यानाशनाय, भवबन्धविभोक्षाय यः सः यज्ञः 'अत एव प्राह भगवान् नारदो वाल्मीकिं प्रति-

"सर्वदाभिगतः सद्भिः समुद्र इव सिन्धुभिः।
आर्यः सर्वसमश्चैव सदैव प्रियदर्शनः।। वा० रा० १-१-१६

यद् वा ईज्यते दीयते सर्वस्वं निष्किञ्चनैर्भक्तैर्यस्मै स यज्ञः विष्णुः श्रीरामः कृष्णसंज्ञः। अत एवात्रैव नवमे-

"पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ।।गीता ९-२६

इत्यत आह वामनः- गीतायास्तृतीयेऽध्याये नवमश्लोके यज्ञार्थादित्यादौ प्रयुक्तेन यज्ञशब्देन भगवतो महाविष्णोः श्रीकृष्णस्य एषा भारती सरस्वती, व्यनक्ति स्पष्टीकरोति यत् निर्गुणे ब्रह्मणि अर्पितस्य ज्ञानयोगिभिः समर्पितस्य कर्मणः वन्धः वन्धनं न त्रुट्येत् नैव च्छिन्नो भवति। तस्मात् यज्ञार्थादित्यत्र प्रयुक्तो यज्ञशब्दः विष्णुपरकः स च विष्णुः सगुणः साकारः, यथोक्तं भगवता वादारायणेन।

"शान्ताकारं भुजगशनं पद्मनाभं सुरेशम्।
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं सुभाङ्गम् ।।
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यं।
वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम् ।।

यदि भगवता निर्गुणे ब्रह्मणि कर्मार्पणमीप्सितं स्यात्, तदा "ब्रह्मार्थात् कर्मणोऽन्यत्र" इत्येवं कथितं स्यात्, इति प्रथम श्लोकार्थः। अथ निर्गुणवादिभिः कल्पितं निर्गुणमतं निराचष्टे- किंच त्वन्मते यथा सर्पस्य मिथ्याभूतस्य रज्जुरधिष्ठानं तस्यामेव सर्पभ्रमात्, तथैव मायासवलस्य सगुणब्रह्मणः निर्गुणं ब्रह्माधिष्ठानं किन्तु तदन्यश्च पक्ष साधुः तस्य उभावपि पक्षौ समौ, यतो हि रज्जुर्वर्तते सर्पो नास्ति इति वाच्यं न भवति, कुत्रचित् सर्पोऽपि वर्तते। येन रज्जुज्ञानेन तव मते मोक्षः

सैव रज्जुः कृष्णावतारे यशोदाद्वारेण बध्नात्युलूखले गीतावक्तारं भगवन्तमपि। यः सर्पश्च त्वन्मते बन्धकारणं स एव श्रीरामावतारे श्रीलक्ष्मणरूपेण भक्तानां मुक्तिकारणं स एव च श्रीविष्णोः शय्या- "शान्ताकारं भुजगशयनं" इत्युक्ते इति द्वितीयार्थः।

किञ्च निर्गुणब्रह्मणोऽकिञ्चित्कर्म करत्वम् अवसीयेत्- यथा कदापि भ्रमात्मकोऽपि सर्पः रज्वा तु न म्रियते तथैव निर्गुणेन ब्रह्मणा पुण्यपापे नैव नाशं गच्छतः। ज्ञानबाधे वस्तुबाधा न भवति रज्जुरियं सर्पो नास्ति इति कथयतापि त्वया रज्ज्वा सर्पो मृतः इति कदापि कथयितं न शक्यते। अतएव विनयपत्रिकायामपि प्राह श्रीतुलसीहर्षवर्धनः-

मरइ न उरग अनेक जतन वलमीक विविध विधि मारे।

रूपान्तरणं-

रज्ज्वामारोपितः सर्पो म्रियते न कदाचन।

हन्यमानेषु शस्त्रैश्च वल्मीकेषु प्रयत्नतः।। इति तृतीयार्थः।

अथेयं कल्पनाप्यस्मदीयैव न रज्जुकृता। अत आह-

रज्ज्वा सर्पस्य कल्पना न कृता। अतः सा तं दूरीकर्तुमपि न शक्नोति। यदि रज्ज्वैव सर्पनाशः स्यात् तदा तत्र स तिष्ठेत् कथं? तस्मादियं कल्पना निर्मूला।

किञ्च वह्नौ अग्नौ काष्ठं प्रकाशते किन्तु क्षणादेव भस्मी भवति। तथैव प्रलयं यावत् सर्पःस्थास्यत्येव। स्वयमेवाज्ञाने निवृत्ते तस्य तिरोधानं सम्भवम् । अतएव रज्जुविषयकं यदज्ञानं तेनैव असत्सर्पोद्भवः। तस्मिन् ब्रह्मणि विज्ञाते क्षणमपि स तत्र न तिष्ठति। रज्जुविषयकेन अज्ञानेन सर्पकल्पना न तु रज्ज्वा। इत्यनेन रज्जुसर्पयोरिव निर्गुणसगुणयोः ब्रह्मणोः सत्यता साधिता।

किञ्च यदि रज्जुविषयकज्ञानं स्यादेव। तदा सर्पस्तत्र कथं भासेत। यदि ज्ञातेऽपि तस्य भासः स्यात् तदा नाशः कथ ससममवेत्? अतएव यथा रज्जोरज्ञानात् सर्पस्य उद्भवः रज्जुज्ञानादेव सर्पस्य विनाशः। तथैव निर्गुणब्रह्मज्ञानात् प्रपंचसद्भावः। तस्य च ज्ञानान् तस्मिन्नेव प्रपंचोऽपि लीयते।

वस्तुतस्तु अविद्यैव कर्म। तामविद्यां ब्रह्मविद्या बाधते। सा विद्या ईश्वरस्य काचिच्छक्तिः।

येन ईशेन अविद्या नाशयितुं शक्या स सगुण एव न तु निर्गुणः। तस्यैव चरणयोः कर्मणां कर्मफलानां च अर्पणेन अविद्यातत्कार्यभूतकर्मणां नाशः इत्येव भगवानग्रे वक्ष्यति सगुणसाकारपरमात्मनः भजनमन्तरेण अविद्यकर्मणाम् नाशोऽसम्भव इत्येव गीता- तात्पर्यम् ।

किं बहुना-अत्रैव नवमेऽध्याये सप्तविंशे अष्टविंशे च भगवान् स्फुटं कथयिष्यति यन्निर्गुणेन ब्रह्मणा कथमप्यविद्या नाशयितुमशक्या।

अतएव विनिश्चितमाह-यत्कर्म यज्ञरूपविष्णोः प्रीतये न करिष्यते तदेव स्फुटतया बन्धहेतुर्भविष्यति।

यदि चेदत्र क्रियामयः यज्ञः इत्यभ्युपगम्यते तदा सकर्मैव विष्णुस्तु यज्ञः। यज्ञो वै विष्णुः इति श्रुतेः।

किञ्च कर्मणः कृते कृतं कर्म न बन्धाय भवति इति कः निष्प्रमत्तजनः कथयिष्यति। अत्रोपपत्तौ त्रीणि दृष्टान्तान्याह- यथा रात्रिगतेन अन्धकारेण रात्रिगतन्धकारस्य यथा वा तमसा तमसः विनाशो न सम्भवः तथैव कर्मणा कर्मणः नाशो न सम्भवः।

अथ चेत् यज्ञपदेन देवतान्तरोपासना अभिमता इति वाच्यम्? अत्र अन्यदेवतानामुपासनानिषेधत्वात् ।

एवं यत्करोषीत्यादि नवमेऽध्याये अन्यत्र च भगवान् वदिष्यति। एतस्य एतदेव तात्पर्यं यत्कर्मणां सगुणब्रह्मण्येवार्पणं न तु निर्गुणे।

उपसंहरति- विष्णुनाम्नि सगुणब्रह्मणि यत्कर्म नाप्यते तदेव बधाय भवति इत्येव नन्दनन्दनो भगवान् निर्णिनाय।

अथ प्रकृतमनुसरामः। इत्थं यज्ञेन श्रौतेन स्मार्तेन च सह प्रजाः सृष्ट्वा रचयित्वा प्रजापतिः, भगवान् ब्रह्मा अथप्रजानां पतिः भगवान् श्रीरामः श्रीकृष्णसंज्ञः अहं

पुरा उवाच अवदम् उवाच इति उत्तमपुरुषस्यैकवचने प्रयोगः। अनेन यज्ञेन प्रसविष्यध्वम्। प्रसवः वृद्धिः तां गमिष्यथ गच्छत वा। प्रसविष्यध्वमिति प्रसूयध्वम् इत्यर्थकम् । व्यत्ययात् लोट् लकारेऽपि श्यभाव इडागमश्च। प्रजायतेश्छन्दोमयत्वात् तत्प्रयोगेऽपि छान्दसत्वम् । यद्वा प्रजापतिः ब्रह्मा उवाच अवदत् अनेन कर्मयोग-सर्वस्वेन यज्ञेन यूयं प्रसविष्यध्वम् वृद्धिं गच्छत। एष यज्ञः वः युष्माकं कृते इष्टान् कामान् दोग्धि इति इष्टकामधुक् इष्टकामप्रदाता ।।श्रीः।।

परिशेषमाह-देवानिति।

देवान् भावयतानेन ते देवाः भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ।। ३।११।

रा०कृ०भा०- हे प्रजाः! अनेन यज्ञेन यूयं देवान् इन्द्रादीन् हविषा भावयत सन्तोषयत। देवाश्च युष्माभिर्भाविता वः युष्मान् अन्नपानादिभि भावियन्तु। एवं परस्परं अन्योऽन्यं भावयन्तः सत्कुर्वन्तो यूयं देवाश्च परं श्रेयः कल्याणं विष्णोः पदम् अवाप्स्यथ लप्स्यध्वे। ।।श्रीः।।

ननु कर्मयोगे कृते इष्टभोगावाप्तिः भविष्यति न वा इत्यत आह-

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ।।३।१२।।

रा०कृ०भा०- हि निश्चये। निश्चयँ नैव यज्ञेन भाविताः देवाः इन्द्रादयः वः युष्मभ्यम् इष्टान् भोगान् दास्यन्ते। अत्र आत्मनेपदं कर्तृगामिक्रियाफलप्रयोजकम्। तैर्दीयमानभोगैस्तृप्यन्तो यूयं तेभ्योऽपि किमपि दास्यथ इत्यभिलाषा रूपम् । अतएव दास्यन्ते इति सापेक्षाः। तस्मात् दास्यन्तीति परस्मैपदं न प्रोक्तम् । तैर्देवै र्दत्तान् एभ्यः देवेभ्यः वलि- वैश्वदेवादिविधिना न प्रदाय यो भुङ्क्ते स स्तेन तस्कर एव। देवताभ्यो दानमत्र वुभुक्षितेभ्यो भोजनदानं नग्नेभ्यो वस्त्रदानं, शीते वेपमानेभ्यः कम्वलादिदानम् विकलांगेभ्यः कृत्रिमाङ्गादिदानं आवश्यकतावदभ्यः आवश्यकवस्तु दानमेव कर्मयोगस्य परिणतिः। अतएवोक्तम्

मरुस्थले यथा वृष्टिः क्षुधार्ते भोजनं यथा।
दरिद्रे दीयते दानं सफलं पाण्डुनन्दन।।
अतएव श्रुतिराह-केवलादः केवलाघो भवति।।श्रीः।।

अथ अतिथिभोजनादि कर्तव्यतामाह-

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ।।३।१३।

रा०कृ०भा०- इह उभयथा व्याख्यानम् । यज्ञाः पूर्वोक्ताः ब्रह्मादयः पंचयज्ञाः

किञ्च-

ब्रह्मयज्ञो देवयज्ञः पितृयज्ञस्तथैव च।
भूतयज्ञो नृयज्ञश्च पञ्चयज्ञास्तु नित्यशः।।

एभ्यः पंचयज्ञेभ्यः वलिवैश्वदेवादिकर्मभ्यः शिष्टं अशनं तच्छीलाः सन्तः भवन्तः सन्त इति शतृ प्रत्ययान्तः, निरन्तरं यज्ञशिष्टाशनमेव खादन्त इति भावः। सर्वकिल्विषैः सर्वपापैः कर्तृभूतैः मुच्यन्ते मुक्ताः क्रियन्ते। नैव दुष्कर्मपरिपाकैः क्लिश्यन्ते। अथवा यज्ञो विष्णुः 'यज्ञो वै विष्णुः इति श्रुतेः' अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् । मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्।। ''गीता ९।१६ 'यज्ञो यज्ञपतिर्यज्वा' विष्णुसहस्रनामश्लोक सं १०४, नाम संख्या ९७५ तस्ययज्ञस्य विष्णो र्मम शिष्टं उच्छिष्टं मह्यं कृतनैवेद्यमिति भावः। अश्नन्ति तच्छीलाः ये स्वभावतः मन्निवेदितमेव अश्नन्ति। एवं भूताः सन्तः साधवः सर्वकिल्विषैः पापः मुच्यन्ते मुक्ताः भवन्ति। तु किन्तु ये आत्मनः शरीरस्य कारणात् हेतोः पचन्ति अकृतपञ्चयज्ञाः पचन्ति भोजनं निर्मायन्ते तदर्थं वा धनं संहरणन्ति ते पापाः पापिनः अघमेव भुञ्जते। पापमयमेव भोजनं कुर्वते। यथा मनुः-

देवतातिथिभृत्यानां पितृणामात्मनश्च यः।
न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न स जीवति ।। (असुस्मृति ३।७२) श्रीः।

अथ द्वाभ्यां परस्परसापेक्षतया वैंदिककर्मणां तन्मूलकस्य वेदस्य यज्ञे प्रतिष्ठितत्वमाह-

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञकर्म समुद्भवः ।।३।१४।।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ।।३।१५।।

रा०कृ०भा०- अद्यते इति अन्नम् । अभ्यवहरणीयं किमपि। अन्नात् इत्यत्र ल्यब्लोवे पंचमी। यद्वा हेतौ। अन्नमपेक्ष्य अन्नाद्धेतोवा तत्परिणतशुक्रशोणित संयोगात् भूतानि प्राणिनः भवन्ति। पर्जन्यः जलदो मेघः अन्नसम्भवः। अन्नस्य सम्भवो यस्मात् तथा भूतः। तथा चाह मनुः-

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्या ज्जयते वृष्टि र्वृष्टे रन्नं ततः प्रजाः ।।३।७६।।

स च पर्जन्यः यज्ञाद् हेतोः यज्ञमपेक्ष्य वा भवति। यज्ञे दीयमानाहुतिः सूर्यमुपतिष्ठते सूर्यादेव फलभावनः पर्जन्यो जायते। यज्ञश्च कर्म समुद्भवः। कर्मभ्यो वैदिककर्मभ्यः समुद्भवति तथाभूतः। कर्म च ब्रह्मवेदः तदेव उद्भवः विधिनिर्देशको यस्य तथा विधं विद्धि। कर्मणां वेदमूलकत्वात् । ब्रह्मवेदः अक्षरः परमात्मा। अश्नुते सर्वं व्याप्नोति न क्षरति न क्षीयते वा इति व्युत्पत्तेः। "यो वा एतदक्षरं" इति श्रुतेः। अक्षरं ब्रह्म परमं (गीता ८।३) त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् (गीता ११।३७) इत्यादि स्मृतेश्च। अतएव सर्वगतं सर्वव्यापकं ब्रह्म वेदः परमात्मा च यज्ञे नित्यं प्रतिष्ठितम् । सः प्रतिष्ठितं विराजितं भवति। ब्रह्म शव्दो ह्यनेकार्थः-"वेदस्तत्वं तपो ब्रह्म" इत्यमरः (तृतीय काण्ड ३।११४) ब्रह्मतत्वतपोवेदे न द्वयोः पुंसि वेधसि। ऋत्विग्योगभिदो विप्रे इति मेदिनी (३।११४) प्रकृतिरपि इति गीता। एवं ब्रह्मशव्दस्य परमेश्वरः, प्रकृतिः तपो, वेदेष्वर्थेषु इह कत्यर्थाः विवक्षिताः इत्यत्र श्रूयताम। सत्स्वनेकार्थेषु इह वेदपरमेश्वररूपौ द्वावेवार्थौ अपेक्षितौ। द्वयोः सर्वव्यापकत्वात् नित्यत्वात् । तस्मात् सर्वत्रैकशेषः। एवं सर्वगतं च सर्वगता नित्यं च नित्यं। ब्रह्म च ब्रह्म च ब्रह्म। इति व्यवस्था।

एवं यज्ञमारभ्य ब्रह्मपर्यन्तं किमर्थमनुधावनं इति चेत्? अनेन अवश्यम्भावितया ब्रह्मप्राप्तेः। तथा हि मदाज्ञया निष्कामकर्मयोगस्ततो यज्ञः ततः पर्जन्यः ततोऽन्नम् ततो भूतानि। पुनः भूतेभ्यः कर्म तच्च वेदमूलकं वेदस्तु ब्रह्मात्मकः। अथवा ईश्वराद् वेदः वेदात्कर्म, कर्मणः यज्ञः यज्ञात् पर्जन्यः, पर्जन्यादन्नम्, आन्नाद् भूतानि। इत्येव समीचीनः क्रमः। इत्येन चक्रम् । ततो यज्ञः करणीय एव ।।श्रीः।।

उपसंहरति-

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ।।३।१६।।

रा०कृ०भा०- एवं मयैव प्रवर्तितं वैदिककर्मपरम्परा क्रमं यः नानुवर्तयति न चालयति यद्वा "स्वार्थे णिच्" नानुवर्तते। हे पार्थ! अघायुः अघं आयुषि जीवने यस्य,अघं अघमयं आयुः जीवनं यस्य अथवा अघे पापकर्मण्येव जीवनं आयुर्यस्य स अघायुः। इन्द्रियेषु आरमति इति इन्द्रियारामः। अथवा इन्द्रियाणि एव आरामः उद्यानं विहरणस्थानं यस्य स इन्द्रियारामः पापिष्ठः सः मोघं जीवति व्यर्थमेव यथा स्यातथा जीवति। इत्यनेन" यानेव हत्वा न जिजीविषामः" (गीता २।६) इति पार्थेच्छापि निराकृता। एषामहनने एव मच्चक्रानुवर्तनाभावात् तव जीवने मोघता तस्मात् स्वधर्मपालनानुरोधेन इमान् हत्वा निजजिजीविषां पालय। कर्मचक्रमेव मदीयं चक्रम्। तन्न केनापि विदितं इदं त्वं पालय। विधिवशात् तव हस्तागतम् ।श्रीः।।

नन्विदं कर्म मया कदा यावत्कर्तव्यम्? इत्यत आह-

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते। ३।१७

रा०कृ०भा०- हे पार्थ! एतच्चक्रानुवर्तनेन पुरुषः ज्ञाननिष्ठां सम्पादयति। इदं तावदेव कर्तव्यं भवति यावदात्मरमणतर्पणसन्तोषाः न जायन्ते। यावच्च मानवे परापेक्षा तिष्ठति किन्तु यो मानवः मनोरथं मानवः मनुप्रोक्तमर्यादायां बद्धादरः आत्मनि स्वात्मनि स्वस्वरूपे परमात्मनि वा रतिः निरतिशयप्रीतिर्यस्य स आत्मरतिः। स्वस्वरूपपरस्वरूपे ज्ञात्वा स्वस्मिन् मत्कैंकर्यसौभाग्यजनितरतिः मयि च दास्यात्मिका प्रीतिः स्यात् ।एवं सति अत्रापरोऽपि विग्रहः-आत्मा जीवात्मा पुनश्च आत्मा परमात्मा। आत्मा च आत्मा च आत्मानौ तयोः प्रातिगात्मपरमात्मनोः रतिः रमणं रंजनं वा यस्य स आत्मरतिः। एवंकारेण भगवत्प्राप्ति विरोधि भूतानात्मरतिव्यवच्छेदः। यश्च आत्मतृप्तः आत्मना स्वेन मत्कैंकर्मलब्धकृतार्थ भावेन पुनश्च आत्मना परमात्मना मया निरतिशय सौन्दर्यादिदिव्यगुणगणसमण्हत चेतसा तृप्नः विगतानात्मपदाथा-उपलब्धितृष्णः अस्मिन् पक्षेऽपि पूर्ववद् विग्रहः। आत्मभ्यां तृप्नः आत्मतृप्तः। तथा च आत्मनि परमात्मनि मय्येव सर्वसमर्थे स्वामिनि अत्रौपश्लेषिकी सप्तमी मामुपश्लिष्य समालिङ्ग्य सन्तुष्टः स्वात्मनि यथा

सुतीक्ष्णः- अति सय प्रेम देखि रघुवीरा। प्रगटे हृदय हरन भव भीरा

मुनि मग मारि अचल होइ बैसा।
पुलक सरीर पनसफल जैसा।

रुपान्तरम् -

प्रेमाणं चाधिकं वीक्ष्य भवभीतिहरो हरिः। (अरव्यका १०।१४।-१५)
रघुवीर सुतीक्ष्णस्य हृदये प्रकटोऽभवत् ।।

मध्ये मार्गं मुनिस्तावदुपविष्टोऽचलः शनैः।
पुलकाप्त शरीरोऽसौ पनसस्य फलं यथा।।

एवं परमात्मानं पदपकजावच्छेदेनोपश्लिष्य सन्तुष्टः, त्यक्तान्यदेवस्पृहः तस्य कृते कार्यं करणीयं न विद्यते। श्रुतिवाक्येषु किमपि प्रेरणीयं नास्ति। अत्र कर्म न निषिध्यते। किं तर्हि?

कर्तव्यता स विधिर्निषेधातीतो भवति।

कथं किं श्रुतितत्र पक्षपातं करोति? इति चेन्मैवम् । अत्यन्ताप्राप्तौ विधिर्भवति। स्वच्छन्दो बालकों विधीयते। कृतभगवत्साक्षात्कारस्य शात्रातिलंघनसम्भावना प्रतियोगिकाभावात् तत्र विध्येर्वैयर्थ्यात् किञ्च तस्मै किमपि विधीयते येनोन्मार्गं गच्छता अनुकरणमिषेण कोऽपि भेत्तुं शक्येत। विहितमत्साक्षात्कारस्य तु लोकातीत त्वेनातनुकरणीयत्वात् ततो मर्यादाभंगभीत्यनुपपत्तौ विधेरनावश्यकत्वात अत्र श्लोके स्वस्वरूपः परस्वरूपोपायस्वरूपःविरोधिस्वरूपफलस्वरूपेत्यार्थपञ्चकं व्याख्यानम् । तथा हि प्रथमचरणेन स्वस्वरूपस्य, द्वितीयचरणेन उपायस्वरूपस्य, तार्तीयकेन परस्वरूपस्य तूर्येण फलस्वरूपस्य संकीर्तनं, प्रतमतृतीयपदस्थाभ्यां एवकाराभ्यां व्यवच्छेद्यतया जडभूत्स्य मायाख्यस्य अनात्मत्त्वस्य विरोधिस्वरूपस्य संकेतः, इति श्री वैष्णवाः विभावयन्तु ।।श्रीः।।

तमेवार्थं प्रपंचयति-

नैव तस्य कृतेनार्थो ना कृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ।।३।१८।।

रा०कृ०भा०- एवं विहितमच्चरणारविन्दपरमरसमयसमुपगूहनस्य परमभागवतस्य

तस्य इह संसारे कृतेन कर्मणा कश्चन अर्थो नास्ति न वा तस्य अकृतेन कर्माननुष्ठानेन कश्चन अनर्थः यद्वा तस्य कृतेन न वा काचित्स्वार्थसिद्धिः अकृतेन वा न वा काचित्स्वार्थासिद्धिः। यद्वा तस्य कृतेन संसारस्य न कोऽप्यर्थः, तस्याकृतेन वा न कोऽप्यनर्थः कथम्? यतो हि अर्थानर्थौ तस्य युज्येते यस्यार्थानर्थकरिणा सह कश्चन सम्बन्धो भवतु। यस्तु मदभिन्नभगवच्चरणारविन्दभक्ति भागीरथ-तरलप्रवाहभग्नसंसारसम्बन्धलेशः अस्य भागवदीयस्य सर्वभूतेषु देवतिर्यङ्मनुष्येषु कोऽपि अर्थव्यपाश्रयः प्रयोजनस्य विशिष्टोऽपकृष्टो वा आश्रयः आधारः आश्रयणं वा भवत्येव न हि। सः किमपि करोतु वा न करोतु वा। यत्करणीयमासीत्तत्कृतम। साहंकारस्य हि कुशलाकुशलान्वयौभवतः निरहंकारस्य कथमपि नहि।यथा श्री भागवते शुकाचार्य परीक्षितं प्रति-

कुशलाचारितेनैषामिह स्वार्थो न विद्यते।
विपर्ययेण वानर्थो निरहंकारिणां प्रभो? भागवत १०।३३।३३

तथोक्तं विनयपत्रिकायां श्रीमद्गोस्वामितुलसीदासचरणैः

तेन तप्तं हुतं दत्तमेवाखिलं तेन सर्वं कृतं कर्मजालम् ।
येन श्रीरामनामामृतं पानकृतमनिशमनवद्यमवलोक्य कालम् ।।श्रीः।।

निष्कर्षमाह- यदिमां प्राप्तुमिच्छसि तर्हि कर्मणैव मां प्राप्तुं शक्नोषि। अतो विहितं कर्म विगतासक्तिकः सन् कुरु। इत्येवार्थं दृढयति-

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः। ३।१९।

रा०कृ०भा०- यतो हि मत्कृतसाक्षात्कारस्य न विधिनिषेधौ प्रवर्तेते। यद्यपि त्वमपि मम साक्षात्कारं कृतवानसि तथापि लोकसंग्रहार्थम् सततं यावज्जीवनं असक्तः कार्यं श्रुतिस्मृतिभिर्विधेयत्वेन बोधितं कर्म समाचर आदरेण अनुत्तिये यतः असक्तः आसक्तिवर्जितः पूरुषः 'अन्येषामपि प० अ० ७।३।१३७ इत्यनेन दीर्घः। एवं विधो नरः कर्म आचरन् वैदिकर्माणि कुर्वन् परं परमात्मानं आप्नोति साक्षात्करोति ।। श्रीः।।

पूर्वोक्तमर्थं दृढयति- यद्वा इनः पूर्वमपि कोऽपि कर्मणा परं पुरुषं भवन्नं प्राप्तवान् इति जिज्ञासायामाह- अथ किम्? कस्तावत्? रामावतारे मनु श्वसुर

एव अतस्त्वां सखायं उपदिशामि-

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि। ३।२०।।

रा०कृ०भा०- यतो हि जनकः श्री रामाभिन्नस्य मे श्वसुरो मिथिलाधिपतिर्महाराजविदेह आदिर्मुख्यो येषां ते जनकादयः। जनकप्रभृतयः अन्येऽपि राजर्षयः कर्मणा एव न तु कर्मसंन्यासेन न वा कर्मणामनारम्भेण संसिद्धिं मत्प्राति लक्षणां आस्थिताः अधिगताः। जनको यथा श्री वाल्मीकीये-

इमौ कुमारौ भद्रं ते देवतुल्यपराक्रमौ।
गजतुल्यगती वीरौ शार्दूलवृषभोपमौ।।

पद्मपत्रविशालाक्षौ खड्गतूणी धनुर्धरौ।
अश्विनाविव रूपेण समुपस्थितयौवनौ।।

यदृच्छयेव गां प्राप्तौ देवलोकदिवामरौ।
कथं पद्भ्यामिह प्राप्तौ किमर्थं कस्य वा मुनेः।।

ननु येन भगवान् प्राप्तव्यः स करोतु कर्म। अहं तु बाल्यत एव त्वां परमपुरुषमवाप्तवानस्मि। निजमित्रत्वेन, निजसम्बन्धित्वेन च। इति जिज्ञासमानं प्रत्याह फाल्गुनसखः श्रीकृष्णः। भवतु त्वं मां साक्षात्कृतवानसि मम मित्रं शिष्यः सम्बन्धी अतस्त्वां प्रत्यपि शास्त्रीयविधिनिषेधौ न प्रवर्तेते निसर्गसिद्धज्ञाननिष्ठत्वात्। यथा मत्संकीर्तनपरिकरमण्डले स्थितं श्री शुकाचार्यं न बाधेते विधिनिषेधौ, तथा त्वमपि मत्कीर्तनपरिकरः किञ्च त्वत्पता इन्द्रः मत्कीर्तने मृदंगवादकः शुकाचार्यश्च कीर्तनरचनाकारः। यता श्रीमद्भागवत माहात्म्ये पठे:

प्रह्लाद स्तालधारी तरलगतितया चोद्धवः कास्यधारी,
वीणाधारी सुरर्षिः स्वरकुशलतया रागकर्तार्जुनोऽभूत् ।
इन्द्रोऽवादीन्मृदङ्गं जय जय सुकरा कीर्तने ते कुमाराः
यत्राग्रे भाववक्ता सरसरचनया व्यासपुत्रोबभूव।।

भावं माहात्म्यं अत आह उत्तरार्धम्। तथापि लोकानां संग्रहः लोकसंग्रहः तं लोकसंग्रहम् सम्पश्यन् विलोकयन्नपि कर्म कर्तुं त्वं अर्हसि योग्यो भवसि। श्रीः।।

ननु लोकसंग्रहे कश्चन अपरोऽपि प्रमाणं वर्तते? इत्यत अन्ह। यद्वा लोकसंग्रहमेव विवृण्वन्नाह-

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ।। ३।२१॥

यतो हि गतानुगतिको लोक वरिष्ठमेवानुगच्छति । श्रेष्ठः लब्धख्यातिपुरुषः यद्यत् शुभमशुभमाचरति श्रेष्ठानुगमनपरः तत्तदेव इतरः कर्मिष्ठोऽपि जनः आचरति। श्रेष्ठो जो यत्प्रमाणं किमपि विशिष्टं कुरुते सामान्यलोकः तदेवानुवर्तते अनुकरोति शुभाशुभं न विचारयति। साम्प्रतं त्वं श्रेष्ठः यदि किमपि प्रमाणं करिष्यसि लोकस्त्वा-मेवानुकरिष्यति। अतस्त्वं कर्मैव कुरु लोकसंग्रहार्थं यथा सर्वे कर्मणैव मां प्राप्नुयुः। श्रीः।।

ननु मत्तः श्रेष्ठतरो भवानपि किं लोकसंग्रह्य कर्म करोति? अतआह- भगवान् देवकीपुत्रः-

न मे पार्थस्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।।३।२२

रा०कृ०भा०- चकारस्त थाप्यर्थः। हे पार्थ? त्रिषु लोकेषु भुर्भुवः स्वर्लोकेषु किंचनापि कार्य मे मम कृत्यानां कर्तरि वा पा० अ० २।३।७१ इत्यनेन विकल्पेन षष्ठी, मदभिन्नकर्त्रा कर्तव्यं नास्ति। मां विधिनिषेधौ नातिचरत इति भावः। अथ किमपि अवाप्रव्यं प्राप्तुं योग्यं वस्तु अनवाप्तं मे न, प्राप्तमेव यद्यत्प्राप्तव्यं, स्वर्णमयी द्वारिका, रुक्मण्यादयः, अष्टोत्तर शताधिकषोडशसहस्रपत्न्यः लक्षतोऽप्यधिका पुत्राः पारिजातसुधर्मादिदेवोचितान्युपकरणानि। तथाप्यहं कर्मण्येव वर्ते। नाकर्मणि न वा विकर्मणि। अतस्त्वमपि मामनुगच्छन् कर्माणि कुरु। ततः लोकास्त्वां अनुगमिष्यन्ति। इह पूर्वार्धेन नित्यकर्मणि स्वकीयं वर्तनं तृतीयचरणेन च नैमित्तिक कर्मणि तुर्यांध्रिस्थचकारेण प्रायश्चित्तकर्मणि स्वकीयं वर्तनं प्रतिजज्ञे वैदर्भीजानिः। एवं 'कर्मणि' इत्यत्र नित्ये नैमित्तिके प्रायश्चित्ते कर्मणीति भावः। श्रीः।

अकर्म परिणाममह- यद्वा लोकसंग्रहाभावे तत्परिणाम-भूतान् अनर्थान् संकेतयति-

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थः सर्वशः।।३।२३।।

रा०कृ०भा०- हि यतो हि यदि चेत् जातु कदाचित् अतन्द्रितः त्यक्तालस्यः सन् अहं अवाप्तसमस्तकामः परमेश्वरोऽपि कर्मणि न वर्तेयं न प्रवत्तो भवेयम् तदा हे पार्थ! सर्वशः "प्रथमार्थे शस्, सर्व एव मनुष्याः ममैव वर्त्म मार्ग कर्माकरणरूपं अनुवर्तन्ते, इह व्यत्ययात् हेतुहेतुमद्भाव लिङि लट्लकारः" अनुवर्तेरन् इति भावः ॥श्रीः॥

ततश्च.किं स्यात् इत्यत आह-

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ।।२४।।

रा०कृ०भा०-अत्र सर्वत्र हेतुहेतुमतोर्लिङ् (३।३।१५६) इत्यनेन हेतुहेतुमद् भावे लिङ्लकारः- यदि चेत् अहं कर्म न कुर्यां, तदा सर्व एव लोकाः विकर्म प्रवृत्तित्वात् उत्सीदेयुः नष्टाः स्युः। तथा चाहं संकरस्य संकीर्ण सन्तानस्य जनयिता हेतुः स्यां, तथा इमाः वर्णाश्रमाचारवतीः प्रजाः उपहन्यां नाशयेयम् । अतो लोक संग्रहार्थं अहमपि कर्म् करोमि, तथा त्वयापि कम कर्तव्यम् । ज्ञानिनां लक्ष्यभूतेनापि सर्वस्वतन्त्रेण परमात्मना मया यदि कर्म न हीयते, तर्हित्वया कथं हातव्यम् ॥श्रीः॥

"तर्हि मूर्ख ज्ञानिनोर्मध्ये को भेदः कर्म करणे उभयोः समानत्वात् इति चेन्नैवम्। आसत्त्यनासक्त्ययोर्वैलक्षण्यं, अविद्वान् सक्तः बन्धविनिर्मुक्तये कर्म करोति। विद्वांश्च लोकसंग्रहं चिकीर्षन् अनासक्तः करोति, इदमेव प्रपंचयति-

"सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ।।२५।।

रा०कृ०भा०- हे भारत न विदन्तीति अविद्वांसः, अज्ञातस्वस्वरूप परस्वरूपाः कर्मणि सक्ताः आसक्तिवन्तः यथा येन प्रकारेण रुचिपूर्वकं कर्म कुर्वन्ति। तेनैव प्रकारेण लोकसंग्रहं चिकीर्षुः कर्तुमिच्छुः असक्तः आसक्तिरहितः विद्वान् ब्रह्मवेत्तापि तथा कुर्यात्, इत्येव मे आदेशः। ज्ञाननिष्ठोऽपि लोकसंग्रहार्थं कर्म कुर्यात् इति निर्णयः, एतेन ज्ञाननिष्ठस्य कर्मणि नाधिकारः इति प्रवदन्तो वावदूकाः परास्ताः।श्रीः॥

"अथ विद्वान् निजवर्णाश्रमाधिकारमाप्तानि कर्माणि कुर्वन् लोकशिक्षार्थं किं कुर्यात् इत्यत् आह कर्मठशिरोमणिर्भगवान्"

"न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ।।२६।।

रा०कृ०भा०- युक्तः समत्वलक्षणयोगयुक्तः विद्वान् ब्रह्मवेत्ता अज्ञानां मूढानां अतएव कर्मसङ्गिनांकर्मसुसुङ्गं आसक्तिरस्ति येषां इति कर्मसङ्गिन। तेषां कर्मसंङ्गिनांकर्मासक्तिमतां, बुद्धेः भेदं बुद्धिभेदं न जनयेत् । कर्माण्यनर्थमूलानि तानि ब्रह्मसाक्षात्कारे न साक्षात्प्रयोजनानि इत्यादि वदन् तेषां बुद्धिं कर्मतो न चालयेत्। समाचरन् सादरं कर्म कुर्वन् सर्व कर्माणि जोषयेत्, तान्यपि कर्तुं प्रेरयेत। इतरथा अज्ञानां हित हानिः ।।श्रीः।।

"कर्मकर्त्रौर्वास्तवस्वरूपं निर्णयति प्रकृतेरिति, यद् वा कर्मयोगे कर्त्तृत्वाभावानुसन्धान प्रकारं वर्णयति त्रिभिः-"

"प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।।२७।।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ।।२८।।

प्रकृतगुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ।।२९।।

रा०कृ०भा०- प्रकृतिर्नाम सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था मम माया, वा अतएव श्वेतारोपनिष्पदि श्रुतिराह- "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।" दैवी ह्येषा गुणमयी गीता ७-१४ इत्यग्रे वक्ष्यमाणत्वात् । तस्याः गुणैः सत्वरजस्तमोभिः प्रकाशप्रवृत्तिनिवृत्तिः लक्षणैः स्वयमेव क्रियमाणानि स्वभाविकानि गमनादीनि कर्माणि, अहङ्कारेण अनहमर्थेऽहमर्थाभिमानेन विमूढः विमोहमाप्तः आत्मा मनः यस्य एवंविधः, अज्ञातस्वपरस्वरूपसंबन्धः, अहं कर्ता गच्छामि, पश्यामि, अग्निहोत्रं जुहोमि इत्येवं कर्तृत्वाभिमानवान् आत्मानं कर्तेति मन्यते। नु किन्तु हे महाबाहो! गुणकर्मणां

विभागयोः, गुणविभागस्य कर्म विभागस्य च तत्त्ववित् तत्त्वज्ञः मायायाः गुणाः गुणेषु तत्कार्येषु वर्तन्ते, भगवन्मायैव नियामिका अहं तु दारुयन्त्रवत् तत्पराधीनः, इति मत्वा विचार्य न सज्जते कर्मणि नासक्तिमान् भवति। एवं प्रकृतेः मामायाः गुणेषु सम्मूढाः गुणकर्तृक कर्मसु सज्जन्ते सङ्गवन्तो भवन्ति। तान् अकृत्स्नविदः न कृत्स्नं विदन्ति तथा भूतान् कृत्स्नं वेतेतीति कृत्स्नवित् समग्रज्ञाता ब्रह्मवादि न विचालयेत, नैव कर्मतः पातयेत् । यदि त्वं कृत्स्नविदपि कर्म न करिस्यसि, तदा त्वदनुकरणेन मन्दाः पतिताः भविष्यन्ति, इति प्रकरणार्थः ॥श्रीः॥

निष्कर्षमाह मयीति-

''मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।''
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः।। ३०।।

रा०कृ०भा०- हे पार्थ! जीवात्मपरमात्मनोः शरीरशरीरि भावेन संबन्धः, अत एव अहं भगवतः भृत्यः भगवदाज्ञयैव कर्माणि करोमि। एवं विचारयन् निराशीः निर्गता आशिषः फलानि यस्मात् स निराशीः फलाशा रहितः, निर्ममः कर्मसु ममत्वभावरहितः, सर्वाणि कृतानि कर्माणि मय्येव संन्यस्य समर्प्य, विगतज्वरः विगतः नष्टः ज्वरः सन्तापः यस्य, एवं भूत्वा युध्यस्व युद्धं कुरूष्व। अकर्मक - धातु प्रयोगेण अर्जुनमपि स्वस्मिन् फलसमर्पकृतया अकर्मकं भवितुं प्रेरयति ॥श्रीः॥

अथ द्वाभ्यां स्तुतिनिन्दा परकमर्थवादं प्रस्तौति- ये मे इत्यादिभ्यां-

''ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ।।३१।।

रा०कृ०भा०- ये श्रद्धावन्तः आस्तिकबुद्धिसम्पन्नाः, अनसूयन्तः न निन्दन्त मानवाः मे मम परमेश्वरश्री कृष्णस्य नित्यं शाश्वतं ज्ञानिभिरपि कर्मैव कर्तव्यमिति मम मतं अनुतिष्ठन्ति, कुर्वन्ति। तेऽपि निश्चतमेव कर्मभिः मुच्यन्ते, कर्मसंन्यसनं विनापि कर्मबन्धनात् मुक्ताः भवन्ति। इह वर्तमानसामीप्ये भविष्यति लट् । अतो ये मम नित्यं मतमनुष्ठास्यन्ति, ते शीघ्रं कर्मभिः मोक्ष्यन्ते इति भगवदभिप्रायः प्रतिभाति मे ॥श्रीः॥

एतद्विपरीतं किमित्यत आह-

''ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ।।३२।।

रा०कृ०भा०- तु किन्तु ये केचनज्ञाः अभ्यसूयन्तः मां निन्दन्तः एतन्मे मतं नानुतिष्ठन्ति न पालयन्ति तान् अचेतसः अपवित्रं चेतो येषां तान् सर्वस्मिन् ज्ञाने विमूढान्,सर्वस्य ब्रह्मणो वा ज्ञाने विमूढान् नष्टान् विनाशं गतानेव विद्धि जानीहि ।।श्रीः।।

ननु ज्ञानवता तु कर्माणि करणीयानि, अथ किं? कथं इत्यत आह-

''सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ।।३३।

रा०कृ०भा०- यतो हि मत्कर्मयोगं विना मत्कृपाया अभावात् ज्ञानवतोऽपि पातित्यसंभावना, प्रकृति खलु दुर्जया ज्ञानवानपि विश्वामित्रपाराशरादिरिव, स्वस्याः प्राक्तनजन्मानुभूतानादिवासनावत्या स्वभावाख्यायाः सदृशमनुरूपमेव चेष्टते। न कोऽपि मद्भक्तमन्तरेण प्रकृतिं जयति। अतः सर्वाणि भूतानि प्रकृतिमेव यान्ति, नदीप्रावह इव सागरम् । तत्र मम तव श्रुतेर्वा निग्रहः निषेधवाक्यजनितः दुराग्रहः किं करिष्यति, पारिशेष्यात् , ममानुग्रहस्तु करिष्यत्येव। तस्मात् कर्मयोगलक्षणया मदुपासनयैव वासनामयी प्रकृतिर्हातव्या इति हार्दम् ।।श्रीः।।

ज्ञानिनः बहवः शत्रवः, न तु कर्मयोगिनो भक्तस्य इत्यत आह-

''इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ।।३४।।

रा०कृ०भा०- यतो हि इन्द्रियस्य ज्ञानेन्द्रियस्य चक्षुरादेः इन्द्रियस्यार्थे स्वस्य विषये निजे निजे अर्थे इति नियमनायैव पुनः षष्ठी। अन्यथा इन्द्रियस्येन्द्रियार्थे च इत्येव वदेत्,समासे सन्देहः स्यात् इन्द्रियस्यार्थे, इन्द्रिययोरर्थे, इन्द्रियाणामर्थे वा, न च अर्थे इति ङ्यन्त प्रयोगेणैव एकस्यैवेन्द्रियस्य अर्थे इत्यर्थो लभ्येत।

एकोऽर्थः न बहुनामिति वाच्यं, जातिपक्षेण बहुत्वेऽप्येकवचने दोषतास्तादव स्थ्यात् । प्रत्येकमिन्द्रियस्य स्वस्वार्थे पूर्ववासनानुसारं अभीष्टे रागोऽनभिष्टे द्वेषो इति द्वौ व्यवस्थितौ भवतः। श्रवणस्य सङ्गीतादौ शब्दे रागः, गालिकादौच द्वेषः। एवमन्येषामपि अतस्तयोः रागद्वेषयोः इष्टानिष्ट वषिययोः वशं न आगच्छेत्, ज्ञानवानिति

पूर्वतोऽनुषङ्ग। हि यतो हि तौ रागद्वेषौ अस्य ज्ञानवतः परिपन्थिनौ शत्रू, हि निश्चयेन ।।श्रीः।।

एवं ज्ञानिनो दुर्दशामुक्त्वा सिद्धान्तमाह, प्रभुः श्रेयानिति-

''श्रेयान् स्वधर्मोविगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।।३५।।

रा०कृ०भा०- प्रत्येकेन मानवेन यथा वर्ण यथाऽश्रमं प्राप्तः स्वधर्म एव श्रेयान् कुतः इत्यत् आह स्वनुष्ठितात् परधर्मातं, शोभनमनुष्ठितात् परस्य धर्मात् विगुणः विगतः गुणः यस्मात् स विगुणः अन्यदृष्ट्या दूषणयुक्तोऽपि श्रेयान् प्रशस्यतरः। स्वधर्मे निजधर्मपालने निधनं मरणं श्रेयः इत्येव "यच्छ्रेयः स्यात्" इति प्रश्नस्य उत्तरम् । परस्य धर्मः निज वर्णाश्रमानधिकृतः भयावहः अशास्त्रीयत्वात् भयजनकः, स्वधर्मः अभयावहः, अभयं मां ब्रह्म आवहति तथाभूतः। वस्तुतः स्वनुष्ठितात् परधर्मात् स्वधर्मः वर्णाश्रमानुरूपः सम्प्रदायानुरूपश्च। विगुणः विशिष्टाः गुणाः यस्मिन् तथाभूतः, अत एव क्षत्रियत्वात् युद्धात्पलायनरूपः, गृहस्थत्वात् कर्मयोगरूपः, वैष्णवत्वात् मदाज्ञापालनरूपोऽयं युद्धाख्यो धर्मः विपुलगुणः सन् श्रेयान् । अस्मिन् स्वधर्मे युद्धे निधनं श्रेयः न तु अशस्त्रं इत्युक्तः प्रकारेण न्यस्त शस्त्रत्वरूपब्राह्मणभिक्षुकोचितधर्मे मरणं श्रेयः ।।श्रीः।।

अर्जुनो जिज्ञासते, पापकरणे कस्य प्रेरणा मयापि बहुपापं कृतं क्षत्रियधर्मतः विरुद्धं शस्त्रन्यसनं, प्रभुं प्रति अविश्वासः कदाचित् कठोरवाक्यकथनम् । अतस्तां जिज्ञासामवतरयति अर्जुनेत्यादि- "अर्जुन उवाच"

''अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ।।३६।।

रा०कृ०भा०- हे वार्ष्णेय! अथ आस्तां तावत् अनिच्छन् इच्छां न कुर्वन्नपि बलात् शक्तितः नियोजितः व्यापारितः इव, अयं पुरुषः पुरुषार्थी साधकः। केन हेतुना प्रयुक्तः पापं शास्त्रविरुद्धं विकर्म आचरति ।।श्रीः।। ३६

अर्जुन जिज्ञासां समाधातुं भगवद्वाक्यमुपक्रमयति- "श्री भगवानु वाच"

''काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम् ।।३७।।

रा०कृ०भा०- श्री भगवान् ऐश्वर्यषट्कसम्पन्नः व्याख्यातपूर्व एष शब्दः, हे पार्थ! रजोगुणसमुद्भवः रजश्च तमोगुणश्च तौ समुद्भवौ यस्य तथाभूतःएष काम एव केनचिद् व्याहतः, एष क्रोधो भवति। शुद्धकामः सन् अयं महाशनः महत् अशनं यस्य तथाभूतः कदापि भोगेभ्यो न विरज्ते यथोक्तं मनुना

''न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।।

यद् वा महान्तः महा पराक्रमिणः पुरषाः अशनं भोजनं यस्य स महाशनः यथोक्तं-

मत्तेभकुम्भदलने भुवि केऽपि शूराः
केचिद् भवन्ति मृगराजवधे विदग्धाः।
किन्तु ब्रवीत्रि बलिनां पुरतः प्रसह्य
कन्दर्पदर्पदलने विरलाः समर्थाः।।

पुनः क्रोधसंज्ञां गतः महापाप्मा महान्ति अगणितानि पाप्मानि पापानि येन, यास्मिन् वा स महापाप्मा अत्र एनं काममेव वैरिणं शत्रुं विद्धि। अत्र वामन भारत्यपि विभावनीया:-

महाशनो महापाणेत्युभयं लक्षितं क्रमात् ।
सर्वभक्षोऽप्यसन्तुष्टः कामः क्रोधश्च पात की।।१।।

क्रोधोऽपि काम एव स्याद् भेदेऽप्याह्वानरूपयोः।
किन्तु क्रोधस्तमोरूपो ज्ञेयः कामो रजोगुणः ।।२।।

अत्रैवं सति कृष्णेन क्रोधोऽपि रजसो यदा।
वक्ष्यते सूक्ष्मबुद्धीनां तदा सन्देह उद्भवेत्।।३।।

तत्रावधेयं कुशलैः किमेतत् कामोऽस्तु तन्निर्मलमाविलं च।
प्रसन्नमप्येति कमाविलत्वं चलाचलं पंकितपल्वलस्थम् ।।४।।

वारो यथाधार इहास्ति पंकस्तथैव वेद्यो रजस्तमोऽपि।
क्षुब्धे रजस्याशु ततो नितान्तं क्रोधभ्रमं तत्र तमस्तनोति।।५।।

अविद्यमाने सलिले तु शुष्यन् निषद्वरः प्राच्छंति मृत्तिकात्वम्।
स्वान्ते तथैवासति कामलेशे न कोपशंकापि पदं करोति।।६।।

यावदस्ति जलं तावन्निर्मलं चाविलं तथा।
भासते किन्तु समलमपि कीलालमेव तत् ।।७।।

भेदावुभौ जलस्यैव यथाच्छकलुषाभिधौ।
कामक्रोधो तथा भेदौ रजसःपरिकीर्तितौ।।८।।

जम्बालेनाविलमपि जलमेवोच्यते पयः।
तमो युक्तस्तथा कामो रज एवेति गीयते।।९।।

काम एव कथं क्रोध इति चिन्तयतां हृदिं।
बोधं गूढतमं कञ्चित्स्फोरयत्यत्र माधवः।।१०।।

तयोऽत्र विषयाः ज्ञेयाः हृषीकाणि रजोगुणः।
तद्वासनामयः कामो विषयाधारतो भवेत् ।।११।।

भूभौ यद्वत्स्थितवति जले यात्यसौ पङ्कभावम्,
कालुष्यं द्राग्भजति च तदाधारमेवाभ्रमपुष्टम् ।
पात्रेऽन्यस्मिन्निहितमिह तन्नाविलत्वं जिहीते,
तद्व्युद्युक्तः स हरिभजने क्रोधतां नैति कामः।।१२।।

हरिभक्तिकुठारोऽसौ छिनत्ति भवकाननम्,
तदुद्भवं कामकाष्ठं किन्तु तत्र नियोजयेत् ।।१३।।

कामो निर्विषयस्तत्र नितान्तं रजसो लयः।
उदयः शुद्धसत्त्वस्य भक्तिरियभिधीयते।।१४।।

यः कामो विंषया श्रितस्तु बलवान् स ज्ञानमार्गे रिपुः
प्रारब्धं हि बलेन तस्य विषयेष्वासञ्जयत्यञ्ज सा।।१५।।

वैराग्यप्रवणानपि क्षणमतोऽनिच्छन्त एते क्वचित्।
पापं चापि चरीकरीति भगवांस्तस्मान्निन्दाऽत्र तम् ।।१६।।

ज्ञानिनो सर्वस्वं भक्षन्नपि कामः असन्तुष्टः अतो महाशनः क्रोधश्च पापबहुलत्वात् महापात्पा। आह्वानं नाम, रूपं आकारः, क्रोधः तमोरूपः कामश्च रजोरूपः इत्येव विवेकः। अत्र एकमेव जलं यथा रजसा निर्मुक्तं विमलं पल्वलस्थं च समलं, तथैव एक एव रजोगुणः शुद्धः सन् कामः तमोमिश्रः क्रोधो भवति। मम मतेन यदा तमोऽभिभूय रजः प्रबलं तदा कामः यदा रजोऽभिभूय तमसः प्रबाल्यं तदा क्रोधः। यथा वारि रजसा मिलितं पंको भवति, तथैव तमसा मिलितं रजः क्रोधो भवति। असति जले यथा कर्दमः मृत्तिका भवति, तथैव कामाभावे क्रोधोऽपि निर्मूलता गच्छति। जम्वालं शैवालं। विषयास्तमोमया इन्द्रियाणि राजसानि अतो राजसं आधारं मत्वा विषयेषु कामो जायते, अतो रज इति कथ्यते। यथा भूमिसम्पर्केण जलं पंकिलं भवति, अन्यपात्रे निहितं तदेव निर्मलं जायते, तथैव निर्विषयः कामः यदा हरिभक्तौ नियोज्यते, ततः कामकाष्ठदण्डयुक्तो हरिभक्तिकुठारः भवकाननं छिनत्तीति वामनीयं हार्दम् ॥श्रीः॥

कथं वैरी इत्यत, आह आवरणप्रकारम् -

''धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ।।३८।।

रा०कृ०भा०- यथा धूमेन वह्निः अग्निराव्रियते, तथा ज्ञानं परमात्मविषयकं, यथाऽदर्शः दर्पणं मलेन आव्रियते, तथात्मनित्यत्वज्ञानं यथा च उल्वेन जरायुना गर्भः आवृतः। तथा अनेन संसारानित्यत्वज्ञानम् । तथा हि वह्निमिव प्रकाशमानं परमात्मज्ञानं, धूमीभूय दर्पणमिव प्रतिबिम्बावभासकं जीवात्मज्ञानं, मला भूय गर्भमिव अस्फुटं किन्तु चेतनावत् संसारानित्यत्वज्ञानं उल्वीभूय आवृणोति एवं कामोऽपि

त्रेधा इन्द्रियाश्रयः मनसाश्रयः बुद्ध्याश्रयश्च, इति मामकीना नव्या उद्भावना ।।श्रीः।।

अथेदं पदार्थः कः? इत्यत आह-

''आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ।।३९।।

रा०कृ०भा०- हे कौन्तेय? कुन्तीपुत्र चकारः इवार्थः, अनलेन अग्निना च इव, दुष्पूरेण पूरयितं दुःशकेन कामः रूपं यस्य सकामपः तेन कामरूपेण एतेन ज्ञानिनः नित्यवैरिणा शाश्वतेन शत्रुणा ज्ञानं आवृतं भवतीति शेषः ।।श्रीः।।

''क्वतिष्ठत्ययम् । इत्यत आह-

''इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्वेष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ।।४०।।

रा०कृ०भा०- अस्य ज्ञानिनः शत्रोः इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि दशः, मनो बुद्धिश्च अधिष्ठानं दुर्गरूपं निवासस्थानम् । सामान्यशत्रूणां षडेव दुर्गाणि भवन्ति, एतस्य तु द्वादश इत्याश्चर्यम् । एतैरेव करणीभूतैः द्वादशावरणैः ज्ञानमावृत्य एषः देहिनं जीवात्मानं विमोह्यति, परमात्मविस्मृतिं नयति ।।

अतो मया किं कर्तव्यमित्यत् आह मधुसूदन् :

''तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ।।४१।।

रा०कृ०भा०- तस्माद्धेतोः त्वं आदौ भीष्मादिभिः युद्धकरणात् प्राक्ः आन्तराणि इन्द्रियाणि नियम्य निगृह्य, हे भरतेषु ऋषभः भरतश्रेष्ठ एनं ज्ञानं स्वस्वरूपविषयकं, विज्ञानं परस्वरूपविषयं नाशयति तथाभूतं, एनं पाप्मानं कामं हि निश्चयेन प्रजहि पशुमारं मारय ।।श्रीः।।

त्वं चिन्तां मा कार्षीः, यतो हि त्वं आत्मासि-

''इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ।।४२।।

रा०कृ०भा०- अर्थेभ्यः इन्द्रियाणि पराणि सूक्ष्माणि, इन्द्रियेभ्यः मनः परं सूक्ष्मम् मनसः परीभूता बुद्धिः, यो बुद्धेः परतः तु निश्चयेन सः जीवात्मा त्वम्

स एव त्वं अतः बुद्धि स्थमिमं मारय। एवं काठकाः पठन्ति-

''इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ।।क० उ० १-३-१०
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरषान्न परं किञ्चित्सा काष्टा सा परा गतिः।। क० १-३-११, ।।श्रीः।।

उपसंहरति

''एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ।।४३।।

रा०कृ०भा०- एवं पूर्वोक्तप्रकारेण हे महावाहो! आत्मानं बुद्धे रपि परं बुद्ध्वा ज्ञात्वा, पुनश्च आत्मना परमात्मना मय संस्तभ्य स्वस्थं कारयित्वा, कामरूपं दुरासदं दुःखेनासादमितुं शक्यं, शत्रुं, जहि मारय ।।श्रीः।।

''तृतीयोऽयं मयाध्यायो श्रीगीतासु यथामति।
श्रीरामभद्राचार्येण व्याख्यातः प्रीतये हरेः।।

इति श्रीतुलसीपीठाधीश्वरजगद्गुरुरामानन्दाचार्यस्वामी रामभद्राचार्य प्रणीत श्रीराघवकृपाभाष्ये श्रीमद्भगवद्गीतासु कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः

।।श्रीराघव शंतनोतु।।

●●

"श्रीमद् राघवो विजयतेतराय"
"श्री रामानन्दाचार्याय नमः"

तृतीयोऽध्यायः

मंगलाचरणं

धुन्वनध्वान्तमशेषमात्मवसतिः सीताप्रभाभास्वरः
श्रेयः सद्‌गुणदिव्यदीधितिमयः सौमित्रियन्ता हरिः।
कौसल्यादितिसम्भवो भवभवस्तेजःप्रतापार्चितो
रामो वानजवंश्यवारिजनुषां पायात्पपीः पाप्मनः।।१।।

अपने स्वरूप भूत श्री अवधरूप आकाश में निवास करने वाले एवं श्री सीतारूप प्रभा से सुशोभित तथा सकल कल्याण गुणगणरूप किरणों से युक्त तथा श्री लक्ष्मण ही जिनके सारथि हैं एवं कौसल्यारूप अदिति से उत्पन्न एवं भगवान शङ्कर तथा इस जगत् का कल्याण करने वाले तेजरूप प्रताप से सुपूजित ऐसे सूर्यवंशी रूप कमलवन के सूर्य भगवान श्रीराम हमें पापों से बचायें।

नवजलधरश्यामो रामोऽभिराममनोहरो
ऽहरहर हरो हारी हारी हरारिहरारिसूः
गुणजलनिधिर्धिष्णा व्रीड्यद् बृहस्पतिपा मम,
सुमनसि पदाम्भोजं धेयाद्धनजं जयसारथिः ।।२।।

नवीन मेघ के समान सुन्दर भावुकों के मन को चुराने वाले वनमाली तथा श्री हरि के पुत्र स्वयं प्रद्युम्न का हरण करने वाले शम्बरासुर के शत्रु ऐसे पूर्वजन्म में भगवान शङ्कर जिनके शत्रु रहे हैं ऐसे काम को ही पुत्र के रूप में प्राप्त करने वाले तथा गुणगणों के समुद्र एवं अपनी बुद्धि से बृहस्पति की भी बुद्धि को चकित कर देने वाले ऐसे राधामाधवरूप अर्जुन के सारथि भगवान श्रीकृष्ण मेरे निर्मल मन में प्रतिदिन अपने श्रीचरण कमल से थिरकन किया करें।

रामानन्दाचार्यं पुण्यसदनसुतमहं मुहुर्नत्वा।
गीताध्यायतृतीये कुर्वे राघवकृपाभाष्याम् ।।

अब मैं पुण्यसदन शर्मा के चिरञ्जीव जगद्गुरू श्रीमद्रामानन्दाचार्य जी को बार-

बार प्रणाम करके श्रीगीता के तृतीय अध्याय पर श्रीराघवकृपाभाष्य कर रहा हूँ। परमकारुणिक निस्सीम दिव्य कल्याण गुणगणों के एक मात्र निलय महायोगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने अपने परिकर अर्जुन को निमित्त बनाकर सम्पूर्ण वेदार्थ से युक्त यथार्थ परमार्थ का उपदेश करने के लिए सम्पूर्ण वेदों के सार को धारण किये हुए अपने ही नाम रूप लीलाधाम में परायण ऐसे अपने कलावतार भगवान वादरायण वेदव्यास द्वारा श्रीगीताजी का प्रथमाध्याय में गीता श्रवण के अधिकारी की मीमांसा का ग्रन्थन कराकर गीता के द्वितीयाध्याय को अपने मुखकमल से विनिर्गत भव्य एवं नव्य श्लोकों से मण्डित किया । इसी दूसरे अध्याय में महाभारत के सूत्रधार भगवान श्रीकृष्ण ने अगले सोलह अध्यायों में कहे जाने वाले सम्पूर्ण विषयों को सूत्रबद्ध कर दिया। वे ही भगवान श्रीकृष्ण के मुख से निकले हुए श्लोक आनुपूर्वी के भङ्ग के बिना यथावत् वेदव्यास जी द्वारा महाभारत में लिपिबद्ध किये गये। यहाँ पर यह भी ध्यान रहे कि महाभारत के अन्य ९९३०० श्लोकों को वेदव्यास ने बोला और गणपति ने लिपिबद्ध किया परन्तु गीता के ७०० श्लोकों को भगवान वेदव्यास ने स्वयं लिपिबद्ध किया। इस मङ्गलमय प्रकरण को लिपिबद्ध करते समय उन्होंने आदरातिशयात् गणपति जी से लेखनी ले ली थी। यह कितने सौभाग्य की बात है। इस द्वितीय अध्याय में ६३ श्लोक भगवान ने कहे, और ६ अर्जुन ने कहे हैं। यहाँ गीता २/३९ में 'एषा तेऽभिहिता 'सांख्ये' बुद्धियोगे त्विमां शृणु सांख्य और योग की चर्चा की गई है और दोनों स्थानों पर विषय सप्तमी एवं ते शब्द में चतुर्थी एकवचन का निदेश है जिसका अर्थ है तुम्हारे लिए । इसप्रकार वाक्यार्थ हुआ कि तुम्हारे लिए यह सांख्य विषयक ज्ञान कहा गया अब इसको योग के विषय में सुनो । यह अर्थ गीता जी के अर्थों से ही स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकरण में बुद्धि का विभाग करते समय भगवान ने कण्ठरव से कहकर अधिकारी का विभाग नहीं किया। फिर गीता २/५० में भगवान ने कर्म की अपेक्षा बुद्धि की श्रेष्ठता भी कही। अत: वीभत्स अर्जुन व्याकुल हो गये। क्योंकि यदि कर्ममार्ग से ज्ञानमार्ग श्रेष्ठ है तो फिर भक्तवत्सल भगवान भी अपने शरणागत मुझ अर्जुन को तस्माद युध्यस्व भारत इत्यादि वचनों में हिंसामय घोर कर्मों में नियुक्त कर रहे हैं। इसलिए व्याकुल होकर हाथ जोड़कर अर्जुन ने परमेश्वर श्रीकृष्ण से ज्यायसी इत्यादि दो श्लोकों में प्रश्न किया।

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियो जयसि केशव।।३/१

रा०कृ०मा० समान्यार्थ- हे जनार्दन यदि कर्म की अपेक्षा बुद्धि आपके द्वारा श्रेष्ठ और पूज्य मानी गयी है तो फिर हे ब्रह्मा और शंकर को नियंत्रित करने वाले तथा कुटिल केशों वाले केशव भगवान कृष्ण आप इस घोर कर्म में आप मुझे क्यों लगा रहे हैं। अर्जुन का अभिप्राय है कि आप से भक्त कुछ माँगते है इसीलिए आपको जनार्दन कहा जाता है। मैंने भी आपसे श्रेय की ही याचना की थी 'यच्छ्रेय:' स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे 'गीता २-७' आप जनार्दन है 'जनैः अद्यते, याच्यते इति जनार्दन: 'कृत्य ल्युटो: बहुलम' ३-३-११३ सूत्र से बाहूलक के बल पर कर्म में ल्युट प्रत्यय अनुबन्ध कार्य अनादेश और शेष षष्ठी समास करके जनार्दन शब्द निष्पन्न हुआ। आपने स्वयं २-४९ से २-५१ तक तीन श्लोकों में कर्म की अपेक्षा बुद्धि को श्रेष्ठ माना। ते मता यहापूजा के अर्थ में त प्रत्यय और षष्ठी विभक्ति है अर्थात् आप बुद्धि योग को पूज्य भी मानते हैं तो फिर जैसे आपके कुटिल केश लोगों के मनो को फंसा लेते है उसीप्रकार आप इन कुटिल कर्मों में मुझे फंसाना चाहते है। किं 'नि'योजयसि निपूर्वक युज धातु स्वयं सकर्मक है उसका अर्थ होता है नियुक्त करना। जैसे 'किरातार्जुनीयम्' में भारवि अयुङ्क्त का प्रयोग करते हैं 'यम युङ्क्त वेदितुं' अर्थात् दुर्योधन का मनोभाव जानने के लिए जिस किरात को नियुक्त किया था तो फिर यहाँ अर्जुन नियुङ्क्षे के स्थान पर 'नियोजयसि' क्यों कह रहे है? इसका आशय यह है कि भगवान के वाक्य स्वयं चेतन घन होकर नियुक्त कर रहे हैं। भगवान उनके प्रेरक हैं 'अत: अर्जुन कहते हैं प्रभो!' 'हे अर्जुन युद्ध करो।' हे कुन्तीपुत्र युद्ध के लिए निश्चय करके खड़े हो जाओ। अब युद्ध के लिए तैयार हो जाओ इत्यादि बातों से आप इस घोर कर्म में मुझे क्यों नियुक्त करा रहे हैं? क्योंकि आप ब्रह्मा, शंकर के नियामक हैं परन्तु जैसे आपके केश टेढ़े और काले हैं उसीप्रकार कर्म भी। अत: उनमें मुझे आप मत लगाइये। ।।श्री।।

संगति-भगवान ने कहा मैंने तो स्पष्ट कहा पर तुम्हीं नहीं समझ पाये। इस पर अर्जुन फिर कहते हैं-

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ।।३-२

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ- हे प्रभो! आप अपने संकीर्ण अर्थात् मिले जुले अर्थ वाले जैसे वाक्यों से मेरी बुद्धि को मानो मोहित कर रहे हैं। इसलिए निश्चय

करके एक ही उपाय बतायें जिससे मैं परम कल्याण को प्राप्त कर सकूँ।

व्याख्या- अर्जुन का तात्पर्य है कि आपके वाक्य संकीर्णार्थ जैसे लगते हैं आप २-३९ में कहते हैं कि बुद्धि से मुक्त होकर तुम कर्म बन्धन छोड़ दोगे और २-४७ में कहते हैं कि तुम्हारा कर्म में अधिकार है। यहाँ 'इव' का तात्पर्य है यद्यपि आपने २-३९ के पूर्वार्द्ध में स्पष्ट रूप से बुद्धि के दो विभाग कहे, परन्तु मेरी ही बुद्धि का भ्रम है कि मैं इतने स्पष्ट वाक्य को 'व्यामिश्र' कह रहा हूँ। 'मोहयसीव' में 'इव' का तात्पर्य है कि आपतो मेरा मोह-मोह नष्ट करने के लिए प्रवृत्त हैं फिर मुझे मोहित कैसे करेंगे इसलिए मैं व्याप्य जीव हूँ। अतः तृतीय चरण में अर्जुन ने अपनी भूल सुधारी। आप अन्यथा न सोचे। ज्ञानयोग और कर्मयोग में से मुझे निश्चय करके एक ही बतायें जिससे मैं परम श्रेय को प्राप्त कर सकूँ। ।।श्री।।

संगति- इसप्रकार व्याकुल हुए अर्जुन द्वारा प्रश्न करने पर भगवान ने क्या किया? धृतराष्ट्र की इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए संजय भगवान के वचन की ही अवतारणा कर रहे हैं।

श्री भगवान उवाच

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ- राजन भगवान चुप नहीं बैठे षडैश्वर्य सम्पन्न सर्वशक्तिमान श्री सहित भगवान ने उत्तर दिया।

व्याख्या- श्री के सहित भगवान को ही भगवान कहते हैं। जो जीव की उत्पत्ति विनाश, गति, अगति, विद्या और अविद्या को जानते हैं उन्हें भगवान कहते हैं। अर्जुन की पात्रता के विषय में भगवान को पूर्ण ज्ञान है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए श्री भगवान शब्द का प्रयोग करते हैं। अर्थात् कदाचित धृतराष्ट्र को यह भ्रम न हो जाय कि भगवान अरण्यरोदन की भाँति ज्ञान के अधिकारी न होने पर भी अर्जुन में ज्ञान निष्ठा उत्पन्न करना चाह रहे हैं। भगवान को सब कुछ ज्ञात है। क्या भगवान उपदेश शास्त्र को मर्यादा नहीं जानते? अब यहाँ धृतराष्ट्र का अन्तर्प्रश्न हुआ कि मनुस्मृति वचन के अनुसार बिना पूछे किसी से कुछ नहीं कहना चाहिए। तो अर्जुन ने पूछा कहाँ? उत्तर- न च श्रेयोऽनुपश्यामि (१-३१) श्रेयोभोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके (२-५) यच्छ्रेया स्यान्निशिचितं ब्रूहि तन्मे (२-७) येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् (३-२)

यच्छ्रेय एतयोरेकं (५/१) इस प्रकार अर्जुन की जिज्ञासाओं में बहुत बार श्रेयः शब्द के प्रयोग दर्शन से अर्जुन में ब्रह्म जिज्ञासा नहीं है यह कहना दुराग्रह और अज्ञान से कल्पित बुद्धि का दिवालियापन ही हो सकता है। भला ज्ञान का अनधिकारी श्रेय की जिज्ञासा कैसे कर सकता है? भला ज्ञान का अनधिकारी श्रेय की जिज्ञासा कैसे कर सकता है? जैसे कि कठोपनिषद में नचिकेता के प्रति यमराज कहते हैं-

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमात् वृणीते।।
(कठ १/२/२)

अर्थात् हे नचिकेता! श्रेय और प्रेय अर्थात् संसार और भगवान ये दोनों मनुष्य के पास उपस्थित होते हैं। धीर साधक इन दोनों को प्राप्त करके विवेचन करता है अनन्तर धीर पुरुष 'प्रेय' अर्थात् सांसारिक सुखों का तिरस्कार करके श्रेय ब्रह्मज्ञान का वरण कर लेता है और भगवान को प्राप्त करता है। मन्द व्यक्ति योगक्षेम अर्थात् प्राप्त वस्तु की रक्षा के लिए भगवान को छोड़कर सांसारिक वस्तु 'प्रेय' को स्वीकार करता है यह श्रुति का अर्थ है। अर्जुन ने तो 'प्रेय' वस्तुओं को छोड़कर भगवान से पांच बार श्रेय की जिज्ञासा की तो कैसे कहा जा सकता है कि अर्जुन ब्रह्म ज्ञान के अधिकारी नहीं थे। भला तुम कौन हो जो कि सर्वज्ञ शिरोमणि भगवती श्रुति से अधिक बुद्धिमान बन बैठे? जबकि श्रुति भगवती ही ने प्रभु के प्रति अर्जुन में श्रयोवर्ण लक्षण संगत कर उनका धीरत्व स्पष्ट कर दिया है।

और भी जो तुमने यह कहा कि मलिन अन्तःकरण वाले व्यक्ति को ही कर्मयोग में अधिकार है। और शुद्ध अन्तःकरण वाला ज्ञानयोग का अधिकारी है। यह भी असंगत है। पहले तो तुम किन्हीं ज्ञानी योग के अधिकारी का नाम बताओ। यदि कहें शुकाचार्य, वामदेव, सनकादि, तो यह पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि वे तो जन्म से ही ज्ञानी हैं। उनका अध्ययन तो लोक के संग्रह के लिए हुआ। जैसे श्री मद्भागवत में कहा भी गया है कि शुकाचार्य जन्म लेते ही संन्यासी हो गये थे। जैसे-

यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं
द्वैपायनो विरहकात्तर आजुहाव।
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदु
स्तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि ।। भा० १।२।२

अर्थात् जन्म लेते ही अपने सभी कृत्यों को भगवान के चरणों में सौपंकर तथा ज्ञान के लिए किसी गुरु आदि का वरण करके वन में प्रव्रजन करते हुए अर्थात् घर छोड़कर वन को जाते हुए जिन शुकाचार्य जी को विरह से विकल होकर श्री वेद व्यास ने 'पुत्र लौट आओ' इस प्रकार जोर से चिल्लाकर बुलाया था और वृक्षों ने भी जिन्हें लौटाने के लिए तन्मय होकर पुत्र-पुत्र चिल्लाया था ऐसे सम्पूर्ण प्राणियों के हृदयों को अपनी ओर आकृष्ट करने वाले परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री शुकदेव मुनि को मैं आदरपूर्वकर नमन कर रहा हूँ। और भी ज्ञान 'तत्वं' पदार्थ को शुद्ध ही शुद्ध अन्तःकरण में उसी की शुद्धि से स्वयं ही 'तत्वं' पदार्थ शुद्ध हो चुके होंगे फिर वहां ज्ञान की क्या भूमिका होगी। जैसे रोगमुक्ति व्यक्ति के लिए औषधि निरर्थक होती है। जो तुमने यह कहा कि 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' यह कहते हुए भगवान ने अर्जुन को कर्म में ही अधिकार दिया क्योंकि उनका अन्तःकरण मलिन था। तो यह भी तुम्हारा पागलपन का ही प्रलाप है। क्योंकि गीता-३।३ में भगवान ने अर्जुन को अनघ सम्बोधन देकर उनके अन्तःकरण की शुद्धता प्रमाणित कर दी। यह से तुम्हारा यह पक्ष भी झूंठा है। गीता- २।३९ में भगवान ने यह कहा कि यह बुद्धि तुम्हारे लिए सांख्य अर्थात ज्ञान के विषय में कही गयी, यदि अर्जुन ज्ञान के अधिकारी नहीं है तो उन्हें भगवान ने (२०) बीस श्लोकों में ज्ञान का क्या दिया क्यो? इस प्रकार भगवान के वचन में ही अनौचित्य आ जायेगा। वास्तव में भगवान ने गीता ७।१९ में कहा कि बहुत जन्मों के अन्त् में ज्ञानवान मेरे शरणागत होता है इससे शरणागति ही ज्ञानवत्ता में अनुमापक हेतु बनी। जैसे धूम से अग्नि का अनुमान होता है उसी प्रकार शरणागत से ज्ञान का अनुमान होता है। 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' (२।७) इस प्रकार अर्जुन की प्रपत्ति से उनकी ज्ञानवत्ता का अनुमान हो जाता है। जैसे कि- अर्जुन ज्ञानवान है प्रपन्न होने के कारण। शुकाचार्य आदि के समान यह अनुमान का आकार होगा। शुक्राचार्यजी की प्रपत्ति का वर्णन भागवत जी के नवम् स्कन्ध में स्पष्ट है इसलिए वहाँ कोई सन्देह नहीं करना चाहिए-

"रघुपति शरणं प्रपद्ये" (भागवत ९।११।२०) गीता ३।३ में अनघ शब्द का सम्बोधन करके भगवान स्पष्ट कह रहे हैं कि तुम अनघ हो। अर्थात् जिसमें पाप नहीं होता उसे अनघ कहते हैं। 'पापवान' होने से मैं ज्ञान का अधिकारी नहीं हूँ। इस प्रकार तुम्हें ग्लानि नहीं करनी चाहिए। क्योंकि तुम मेरे शरणागत होने से देवऋण,

ऋषिऋण और पितृऋण से भी मुक्त हो चुके हो। जैसा कि श्रीमद्भागवत में योगेश्वर करभाजन महाराज निमि के प्रति कहते हैं-

देवर्षि भूताप्तनृणां पितृणां न किंकरो नायमृणी च राजन् ।
सर्वात्मना य शरणं शरण्यं गतो मुकन्दं परिहृत्य कर्तम्
(श्रीमद्भागवत ११।५।४१)

हे राजन्! जो सर्वभाव से संसार के सभी कृत्यों को छोड़कर भगवान के शरणागत हो जाता है वह देवऋषि पितरों के ऋण से मुक्त हो जाता है और किसी का दास भी नहीं रहता। कृत को ही कर्त कहते हैं। यहा स्वार्थ में अण् प्रत्यय हुआ। मेरे इस वक्तव्य से "तुम्हारा कर्म में आधिकार है ज्ञान में नही यहाँ गीता २।४७ मे कहा हुआ शंकराचार्य का व्याख्यान" एवं तुम्हारा अन्तःकरण अशुद्ध है इसलिए हे अर्जुन! अभी तुम तत्वज्ञान उत्पत्ति के अयोग्य हो अतः "तुम्हारा कर्मनिष्ठा में ही अधिकार है" इस प्रकार मधुसूनद सरस्वती का व्याख्यान भी निरस्त हो गया। अहो जिन अर्जुन के प्रति भगवान ने गीता ४।३ में कहा 'तुम मेरे भक्त और सखा हो' यहाँ तक कि गीता १८।६४ में अर्जुन ने भगवान को अपना इष्ट भी कहा और गीता १८।६५ में भगवान ने अर्जुन को अपना प्रिय कहा। ऐसे भगवान के अन्तरंग प्रेम भाजन अर्जुन को ज्ञान निष्ठा का अनाधिकारी और अशुद्ध अन्तःकरण वाला कहने वाले पूर्व चर्चित दोनों महानुभाव ही वास्तव में ज्ञान निष्ठा के अनाधिकारी और अशुद्ध अन्तःकरण वाले हैं। अब प्रकृति भगवान कहते हैं-

लोके ऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ।।३/३

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ- हे निष्पाप अर्जुन! सृष्टि के प्रारम्भ में अथवा पूर्व के द्वितीय अध्याय में मेरे द्वारा ज्ञानियों के लिए ज्ञानयोग से और योगियो के लिए कर्मयोग से दो प्रकार की निष्ठा कही गयी।

व्याख्या- 'अनघ' जिसमे 'अघ' अर्थात् पाप न हो उसे अनघ कहते हैं। अर्थात् तुममें कोई पाप नही है। तुम मेरे नित्य परिकर हो। वस्तुतः मेरे शरणागत होने से तुममे नित्य ज्ञान है। यदि तुम कहो तो ज्ञान का उपदेश क्यों? तुम्हें निमित्त बनाकर औरों के लिए। वस्तुतः तुम दोनों प्रकार के जीवों के प्रतिनिधि हो। इस लीला क्षेत्र

में तुम्हारा ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा इन दोनों में अधिकार है। किन्तु 'अस्मिन् लोके' इस लोक में मैंने दो निष्ठायें कहीं। ज्ञानमेव योग: ज्ञानयोग:। इसी प्रकार कर्मयोग की भी व्यत्पत्ति समझनी चाहिए। जिससे परमात्मा का चिन्तन किया जाता है उस बुद्धि को संख्या कहते हैं। कोष में भी 'बुद्धिर्मनीषा धी संख्या' इस प्रकार संख्या शब्द बुद्धि का पर्यायवाची कहा गया है। उस संख्या से युक्त साधकों को सांख्य कहते हैं। यहाँ 'शेषे' ४।२।९२ सूत्र से युक्तार्थ में अण् प्रत्यय हुआ। योग शब्द का सम्बन्ध अर्थ है। षष्ठी स्थाने योग: (पा० अ० १।१।४९) सूत्र में महाभाष्यकार भगवान पतञ्जलि ने योग का सम्बन्ध ही अर्थ माना है और वृत्तिकार ने भी 'स्थाने अयोगा' विच्छेद कर अयोगा शब्द का अनिर्धारित सम्बन्ध विशेषा अर्थ किया है। इस प्रकार जिसमें परमेश्वर के साथ सेव्य सेवक भाव सम्बन्ध है ऐसे योगियों के लिए यह निष्ठा कर्मयोग के द्वारा कही गयी है। द्विविधा अर्थ के प्रकार हैं। अर्थात् निष्ठा एक हीं है। भले उसके दो प्रकार हों। यद्यपि सांख्य और योग में तत्वत: कोई अन्तर नहीं है। ये बात भगवान (५।५) में कहेंगे। फिर भी रुचियों की विविधता से दो विभाग कहे गये हैं। यदि दोनों एक ही हैं तो फिर द्वैविध्य क्यों रूचियों की विविधता के कारण ये रूचियां मन की कठोरता और कोमलता पर आधारित हैं फिर भी ज्ञानयोग की अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ हैं परन्तु लोक संग्रह में तुम्हारा दोनों में अधिकार हैं कुरूक्षेत्र में कर्मयोग का और कुशस्थलि में ज्ञानयोग का ।।श्री।।

संगति- अब प्रमाता की पर्यालोचनामें प्रमाता का ही अभिनय करते हुए अर्जुन स्वस्वरूपकी जिज्ञासाकी दृष्टिसे पूछते हैं। हे प्रणतैक बन्धो आपके श्रीचरणकमलकी नित्य सेवाके लिये मुझे क्या करना चाहिए? क्या कर्मोका आरम्भ ही न करूँ? अथवा कर्मका सन्यास करलूँ? इसपर अतर्क्य नाटकनट भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं। कर्मोंका आरम्भ न करने से अथवा क्रियमाण कर्मका सन्यसन करने से भी सिद्धि नहीं मिलती। कभी कर्मोंको न करते हुए अथवा किये जाते हुये कर्मों को छोड़ते हुये पुत्रको पिता कभी भी अभिनन्दित नहीं करता। तो कब करता है? जब बालक कर्म करता है तब। इसीलिये श्रुतिस्मृति प्रोक्त नित्य नैमित्तिक प्रायश्चितादि कर्मोंको फलाभिसन्धि छोड़कर करते हुये बालकको देखकर श्रुति और मैं भगवान् कृष्ण दोनों ही प्रसन्न हो जाते हैं। यही बात भगवान अगले श्लोकमें स्पष्ट कर रहे हैं-

" न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! श्रुतिस्मृति पुराणोक्त नित्य नैमित्तिक प्रायश्चित्त आदि कर्मों के अनारम्भ से अर्थात् कर्मोंका आरम्भ न करके कोई नैष्कर्म्य अर्थात् कर्मत्वाभावको नहीं प्राप्त कर पाता। और नहीं क्रियमाण कर्मोंका मध्यमें त्याग करके ही कोई ज्ञानलक्षणा सिद्धि ही प्राप्त कर सकता है। इसीलिए दोनों ही पक्ष ठीक नही हैं।

व्याख्या- अनारम्भका तात्पर्य हैं, कमकर्मकप्रारम्भ प्रतियोगिक अभाव, अनारम्भात् में हेतु पञ्चमी हैं। नैष्कर्म्य पदमे कर्मशब्द भावपरक हैं, अर्थात् कोई सोचे कि कर्मोंका आरम्भ न करके उसे कर्मत्वका अभाव प्राप्त होगा अर्थात् कर्मबन्धन से मुक्त हो जायेगा, यह उसका भ्रम है। क्योंकि न करने पर भी कर्म होते ही रहते हैं। यहाँ च शब्द पक्षान्तरका बोधक हैं, और एव शब्द अपि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ । अर्थात् इसके विकल्पमें दूसरे पक्ष में भी क्रियमाण कर्मोका संन्यसन करके भी कोई पुरुष ज्ञानलक्षणा सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता। इसीलिये फल निरपेक्ष्य होकर कर्मोको करते रहना चाहिए, यही श्रुति की आज्ञा है।।श्री।।

संगति- बहुत क्या कहें ज्ञान निष्ठा भी कर्ममूलक ही होती हैं। वहाँ ज्ञानाग्नि में कर्म भस्म कर दिये जाते हैं, जैसे- गीता ४।३७ में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि जैसे ईंधन अग्नि को जलाता है उसी प्रकार ज्ञानाग्नि सम्पूर्ण कर्मों को जला डालती है। इसी प्रकार (गीता ४।१९) में भगवान कहते हैं जिसके कर्म ज्ञानाग्नि में जलजाते हैं उसी को विद्वान लोग पंडित कहते हैं। इसलिए भगावन कहते हैं-

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ- क्योंकि हे अर्जुन! कोई भी जड़ चेतनात्मक प्राणी बिना कर्म किये एक क्षण भी नही रह सकता। प्रकृति से उत्पन्न होने वाले सत्, रजस्, तमस्, इन तीनों गुणों द्वारा सम्पूर्ण जीव से विवशता से कर्म कराया ही जाता हैं।

व्याख्या- यहाँ 'कश्चित्' शब्द चिद् चिदात्मक जगत् के तात्पर्य में है। 'कार्यते' यहाँ तृतीया के अर्थ में 'हृकोरन्यतरस्याम' (पा० अ० १।४।५३) सूत्र से वैकल्पिक द्वितीया हुई है और उसी को कर्मवाच्य में सर्वः यह प्रथमा हो गयी। 'ह्यवशः'का तात्पर्य है कि सत्व 'रजस्' और तमस ये तीनों गुण क्रम से प्रकाश प्रवृत्ति और निवृत्ति से युक्तं होते हैं। ये न चाहते हुए भी जीव से कर्म कराते ही हैं कर्म तो उसी का छूटता है जो मेरी आराधना करके इन तीनों से अतीत हो जाता है। इसलिए निष्काम कर्मयोग से मेरीं आराधना करो जिससे इनसें अतीत होकर स्वतन्त्र हो सके, घ्मवशः शब्द का तात्पर्य होता है कि जीव परतन्त्र ही होता है पहले माया के वश में फिर मायापति के।

संगति- अब दो श्लोकों से सदाचार और कदाचार की विलक्षणता का वर्णन करते हैं-

''कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियर्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ।।३।६।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! जो मोहग्रस्त बुद्धि अथवा मोहग्रस्त मन वाला व्यक्ति कर्मेंद्रियों के विषयो को हटाकर मन से उनके विषयो का स्मरण करता हैं उसे मिथ्याचार अथवा झूठे आचरण वाला दाम्भिक कहा जाता है। अतः सदाचारी वही है जो तन और मन दोनों से इन्द्रियों को विषय से हटाता है।

व्याख्याः हस्त, चरण, उपस्थ, पायु और वाक में पाँच कर्मेन्द्रियां होती हैं। दर्शन में अर्थशब्द विषयों का वाचक होता है। मूलतः इन्द्रियों के शब्द, रुपरस, गन्ध स्पर्श ये पाँच विषय होते हैं। कदाचारी इनका स्मरण करते रहते हैं और सदाचारी इनका विस्मरण करके सर्व, शब्द, सर्वस्पर्श, सर्वरुप, सर्वरस, सर्वगंध मुझ परमात्मा का ही स्मरण करते हैं। यहाँ मिथ्या शब्द मोघ, अथवा दम्भ के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ।श्री।

संगति- अब अर्जुन का प्रश्न है कि हे हर्षीकेश! इन्द्रियां दो प्रकार की होती हैं- श्रवण, नेत्र रसना, घ्राण और त्वक् ये पाँच ज्ञानेन्द्रियां है और हस्त चरण उपस्थ पायु और वाक ये पांच कर्मेन्द्रियां है इनसे किन पाँचो द्वारा कर्मयोग का

आचारण करना चाहिए। इस पर भगवान कहते हैं।

''यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ।।३।७

रा०कृ०भा० समान्यार्थ- हे अर्जुन! जो मन से इन्द्रियों के अर्थों का नियमन करके संसार में अनासक्त भाव से कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्मयोग का आचरण करता है वह श्रेष्ठ होता है।

व्याख्या- यहां तु शब्द पक्षान्तर का सूचक है अर्थात् इससे अतिरिक्त जो मन से इन्द्रियों का निग्रह करते है क्योंकि श्रुति ने मन को लगाम कहा है अर्थात् जैसे-अश्वारोही लगाम से घोडे का नियन्त्रण करता है और उसी से उसका नियन्त्रण सम्भव होता भी है। क्योंकि 'इन्द्रियेभ्य: परंमन:' गीता- ३।४२ अर्थात् मन इन्द्रिय से सूक्ष्म होता है। इस प्रकार मेरे ध्यान में निष्ठ मन द्वारा इन्द्रियों को उनके विषयों से नियन्त्रित करके कर्मेन्द्रियैः वाक पाणिपाद पायुपस्थ इन पाचों कर्मेन्द्रियों से संसार के प्रति अनासक्त हुआ कर्म का जो आचरण करता है वह विशेषत: ज्ञानी से श्रेष्ठ होता है अथवा कर्मेन्द्रियों के निग्रह की अपेक्षा ज्ञानेन्द्रियों का निग्रह श्रेष्ठ है। उसी प्रकार कर्मेन्द्रियों को वश में करने वाले की अपेक्षा ज्ञानेन्द्रियों का निग्रही श्रेष्ठ होता है। कर्मेन्द्रिय शब्द का मध्य पदलोप तत्पुरुष समास होगा कर्मर्थानि इन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियानि अर्थात् वाग आदि पाँच इन्द्रियां कर्म के लिए है और चक्षुआदि पांच इन्द्रियां ज्ञान के लिए। इसलिए जो जिसके लिए हो उससे वही करना चाहिए। अत: कर्मेन्द्रियों से कर्म योग करना चाहिए जैसे कि श्रीमदभागवत के तृतीय स्कन्ध में भगवान की स्तुति करते हुए देवता कहते हैं-

अर्थात् हे देव आपकी कथा सुधा का पान करके बढ़ी हुई भक्ति से जिनका अन्त: करण निर्मल हो चुका है ऐसे महापुरुष वैराग्य ही जिसका बल है ऐसे सेव्यसेवक भाव रूप बोध प्राप्त करके जिस प्रकार आपको सरलता से प्राप्त कर लेते हैं। उसी प्रकार यद्यपि दूसरे लोग भी समाधि योग के बल से अतिबलवती प्रकृति को जीत कर आपमें ही प्रवेश कर लेते हैं परन्तु उन्हें श्रम होता है क्योंकि वे सेवा के माध्यम से आपको नही प्राप्त करते। इससे यह स्पष्ट हुआ कि जो लोग कर्मेन्द्रिय से कर्म योग का आरम्भ करते हैं वे श्रेष्ठ होते हैं परन्तु ज्ञानेन्द्रिय से कर्म योग का

नही। इसी लिए गीता ५।२ में भगवान कहते हैं कि कर्म संयास से कर्मयोग श्रेठ होता है। जो शंकराचार्य ने इस प्रकार की जल्पना की कि गीता ५।२ का वाक्य अशुद्ध अन्तः करण वालो के लिए है तो उनका यह कथन वितण्डावाद ही है। इस पक्ष में श्रुति भी प्रमाण हैं-

जैसा कि ईशावास्य श्रुति कहता हैं-

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेँच्छत समाः।
एवं त्यति नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।

इस संसार में कर्म दूसरों के लिए कर्म करते हुए ही सौ वर्ष पर्यन्त जी ने की इच्छा करो। इसके अतिरिक्त दूसरे प्रकार से जीनेका कोई मार्ग नहीं है। इस प्रकार परार्थ काम करते हुए भोगों से अनासक्त तुममे कर्म का लेप नही होगा। यह ज्ञानी और कर्मी दोनों के लिए सामान्य निर्देश हैं।

यदि कहो कि यह निर्देश उन्ही के लिए है जिनका अन्तःकरण शुद्ध नही है तो इसमें क्या प्रमाण है कि यह शुद्ध अन्तःकरण वालो के लिए नही है। यदि कहें कि यह श्रुति, ज्ञानी और कर्मी दोनों के लिए है इसमें क्या प्रमाण है? तो इसका उत्तर यह है कि 'कुर्वन' यह एक वचन का प्रयोग ही प्रमाण है। क्योकि यहाँ एक वचन सामान्य में हुआ है और सामान्य नित्य होकर अनेक में समवेत होता हैं। यदि केवल कर्मी के लिए ही निर्देश माना जाय तो यह लक्षण सामान्य में घटेगा ही नहीं, क्योंकि सामान्य का लक्षण है 'नित्यत्वे सत्येकत्वे सत्य नेक समवेतत्वम्' वास्तव में बाधक न रहने पर वाक्य सावधान हो जाता है इससे मेरा पक्ष ही श्रेष्ठ है यदि कहोकि आपके पक्ष में कोई बाधक नही है, इसमें क्या प्रमाण हैं? 'कुर्वन' यह एक वचन ही। यहाँ परस्मैं पद के प्रयोग का तात्पर्य है कि कर्म करते हुए फल परमात्मा को समर्पित कर देना चाहिए। नही तो 'कुर्वाण एव कर्माणि' इस प्रकार का प्रयोग होता। इस प्रकार फलों परमात्मा के चरणों में समार्पित करके दूसरों के लिए कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीना चाहिए। इतः अर्थात् इस निष्काम कर्मयोग से अतिरिक्त अन्यथा न अर्थात् ज्ञानयोग से जाने का मार्ग नहीं है। श्रुति के इसी निर्देश से ज्ञानयोग का स्वतन्त्र पक्ष निरस्त हो गया। इस प्रकार भगवदाराधन रुप कर्म करते हुए तुझ जीव में कर्म का लेप नही होगा यही मंत्र गीताजी में प्रतिपादित निष्काम कर्मयोग का महावृक्ष का मूल है ।।श्रीः।।

संगति- अब निष्कर्ष कहते हैं-

''नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धेयदकर्मणः ।४।८

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! इसलिए तुम नियत अर्थात् श्रुति से विहित नित्य नैमित्यि प्रायश्चितादि सभी कर्म करो। क्योंकि अकर्म अर्थात् कर्म के अभावकी अपेक्षा श्रुति विहित कर्म श्रेष्ठ है। क्योंकि कर्म न करने से तुम्हारी शरीर यात्रा भी नहीं चल सकेगी।

व्याख्या- यहाँ नियत का तात्पर्य है तुम्हारे वर्ण और आश्रम के अनुसार श्रुति ने जिन कर्मों का विधान किया है वे ही नियत हैं। कुरु का तात्पर्य हैं उनके फलों को स्वयं मत लो इसीलिए भगवान यहाँ परस्मै पद का प्रयोग कर रहे हैं। नहीं तो स्वरितेति होने से कर्तृगामी फल की अवस्था में आत्मने पद होता। पर भगवान अर्जुन रूप कर्त्ता से कर्मफल का स्वयं निवारण चाहते हैं इसीलिए 'कुरुष्व' न कहकर 'कुरू' कहते हैं। अकर्म का अर्थ है कर्म का अभाव। अब प्रश्न होता है कि आप अकर्म का निषेध क्यों करते हैं? इस पर भगवान तृतीय चरण में कहते हैं क्योंकि अकर्म अर्थात कर्म न करने से तुम्हारी शरीर यात्रा भा नहीं चलेगी। ।।श्री।।

संगति- अर्जुन की अन्तर्जिज्ञासा होती है यदि नियत कर्म करते हैं तो कर्म - बन्धन होता हैं यदि नहीं करते हैं तो शरीर यात्रा नहीं चलती। इस प्रकार दोनों ओर से फाँसी। इस पर भगवान कहते हैं-

''यज्ञार्थात कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचार।। (३।९ गीता)

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ- हे कुन्ती पुत्र अर्जुन! यज्ञ निमित्तक कर्म से अतिरिक्त सभी स्थलों में यह लोककर्म बन्धन वाला है। इसलिए आसक्ति छोड़कर यज्ञ रूप भगवद् आराधन ही जिसका प्रयोजन है ऐसा कर्मश्रद्धा और आदर पूर्वक करो ।

व्याख्या- यज्ञ विष्णु को कहते हैं। श्रुति कहती है- "यज्ञो वै विष्णुः" यज्ञार्थ का अर्थ है यज्ञ के लिए किये जाते हुए कर्म से अतिरिक्त,! "लोकः" अर्थात् यह

चिद्चिदात्मक संसार, कर्म वंधना, कर्मणां बन्धन यस्मिन, कर्मणा बध्नाति वा, अर्थात् यह लोक कर्मों के बन्धन वाला अथवा कर्मों से बाँधने वाला है 'तदर्थम्' यहाँ मध्यम पद लोपी समास है। अर्थात् तदाराधनम् अर्थः यस्मिन् । भगवान का यज्ञ रुप आराधन जिसमें प्रयोजन है। ।।श्री।।

संगति- गीता-१८।५ में भगवान यज्ञदान और तप को मनीषियों की पवित्रता के साधनों के रूप में कहेंगे। अतएव यज्ञ सबके द्वारा समदृत है और उसके स्वाहाकार से भगवान के चरणों में सर्वस्व समर्पण की प्रेरणा मिलती हैं इसलिए कर्मयोगियों को यज्ञ करना चाहिए अत: भगवान यज्ञ की स्तुति करते हैं।

"सहयज्ञाः प्रजा सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्याध्वमेषवोऽस्त्विष्टकामधुक् ।।३।१०।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ- 'यज्ञ' अर्थात् विष्णु अथवा श्रौत स्मार्त यज्ञों के साथ प्राणियों की रचना करके सृष्टि के प्रारम्भ में ही प्रजापित भगवान ने कहा था हे प्रजाओं इसी यज्ञ से सुख, शान्ति, समृद्धि प्राप्त करो यह यज्ञ तुम लोगों के लिए अभीष्ट कामनाओं का देने वाला हो।

व्याख्या- यज्ञ विष्णु को कहते हैं प्रजायें उनके साथ वर्तमान हैं। इसलिए 'सहयज्ञाः' कहा गया। "लोप सर्जनस्य" ६।३।८२ सूत्र से 'सह' को विकल्प से 'सा' आदेश होता है यहाँ अभाव पक्ष स्वीकारा गया है। इसलिए विधि के प्रवृत्त न होने के कारण उसकी उद्देश्यतावच्छेदकता से क्रान्त होने पर भी साधुत्व में क्षति नही हुई। श्रुति कहती है कि सृष्टि की रचना करके भगवान उसमें प्रवेश कर गये। जीव के साथ भगवान का आविनाभाव सम्बन्ध है। अन्तर्यामी रूप से भगवान व्यापक और व्याप्त होकर जीवात्माके साथ प्रत्येक शरीर में निवास करते हैं। यह व्याख्या प्राचीनों के अनुरोध से की गयी। वास्तव में यहाँ यज्ञ का श्रौत स्मार्त यज्ञों से तात्पर्य है श्रौत यज्ञ भी क्रतु और अक्रतु भेद से दो प्रकार का होता हैं। संकल्पात्मक यज्ञ को क्रतु कहते हैं। जैसे राजसूय, वाजपेय, अश्वमेघ आदि। इनमें संकल्प प्रधान होता है। जो अश्वमेघ यज्ञ करता वह ब्रह्म हत्या को पार कर जाता हैं। स्वराज्य प्राप्त करने वाला राजसूय यज्ञ करें। स्वर्ग की इच्छा करने वाला ज्योतिष्टोमे यज्ञ करें।

अक्रतु अर्थात् जिसमें कोई संकल्प नहीं होता उसे अक्रतु यज्ञ कहते हैं जैसे- इसी प्रकरण में गृहस्थ के लिए पाँच यज्ञों का विधान किया गया है। वहाँ मनु कहते हैं कि गृहस्थों के घर में पाँच कसाई खाने रहते हैं उनके प्रायश्चित के लिए गृहस्थ को पाँच यज्ञ करने चाहिए। जैसे-मनु स्मृति के चौथे अध्याय के इक्कीसवें श्लोक में मनु कहते हैं गृहस्थ को चाहिए ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ, इन पांचों को यथा शक्ति को और कभी न छोडें। ऋषियज्ञ ही यहाँ ब्रह्मयज्ञ है वेद का स्वाध्याय कर ब्रह्मयज्ञ होमकरना देवयज्ञ और तर्पण करना पितृयज्ञ है। बलिवैश्व देवात्मक ही भूतयज्ञ है। अतिथियों को भोजन कराना मनुष्ययज्ञ है। जैसा कि मनुस्मृति के तीसरे अध्याय में कहा गया है-

पञ्चसूना गृहस्थस्य चुल्लीपेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ।। मनु० ६८

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः।
पंचक्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् । म० ६९

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौती नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ।। म० ७०

पञ्चैतान्यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः।
स गृहेपि वस न्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते ।। म० ७१

इस प्रकार निष्काम यज्ञ से जिसका अन्तः करण निर्मल हो चुका है उसमें ज्ञान निष्ठा सम्पादन योग्यता आती है।

पूर्वपक्षः- अरे! आपने पिछले श्लोक में यह व्याख्या की थी कि विष्णु ही यज्ञ हैं। उन विष्णु रूप यज्ञ निमित्तक कर्म से अन्यत्र स्थलों में यह लोक कर्म बंधन मय है। अब ठीक उसी के अनन्तर इस श्लोक में आप यज्ञ पद से श्रुति विहित श्रौत स्मार्त यज्ञों का तात्पर्य ले रहे हैं। इस प्रकार अर्ध जरतीय न्याय क्यों?

उत्तर- सामान्य और विशेष प्रकरण की विलक्षणना के कारण कोई विरोध नही

हैं। अर्थात् सामान्य रूप से यज्ञ का अर्थ विष्णु ही होता है। प्रथम श्लोक में लोक की चर्चा आयी है। अतः वहाँ विष्णु पद का यज्ञ अर्थ किया गया। परन्तु यहाँ कर्मकाण्ड का प्रकरण हैं इससे यज्ञ पद श्रौत-स्मार्त यज्ञ के तात्पर्य में है। वहां पर भी इस व्याख्यान में कोई दोष नही आयेगा। "लोकोऽयं" इस प्रकार कहने से वह वक्तव्य सामान्य में तात्पर्य का ग्राहक है। और यज्ञ विष्णु है उनके निमित्त किया हुआ कर्म यज्ञार्थ कर्म है। इस व्याख्यान में भी कोई दूषण नही है। इसी प्रकार आचार्य वामन भी कहते हैं-

व्यनक्त्येषा भगवतो यज्ञशब्देन भारती।
यन्निर्गुणेऽर्पितस्यात्र वन्धस्त्रुध्ये येन्न कर्मणाः।।

भगवान श्री कृष्ण की यह सरस्वती यज्ञ शब्द से यह कह रही है कि निर्गुण ब्रह्म में अर्पित कर्म का बन्धन नहीं टूट सकता-

रज्जुर्मिथ्योरगस्येवाधिष्ठानमिह निर्गुणम् ।
किन्तु साधुस्तदन्यश्च ध्रुवं तस्य समावुभौ।।

सर्प के अधिष्ठान रज्जु की भाँति यह निर्गुण भी मिथ्या है इसलिए इसके अतिरिक्त सगुण सत्य है वहाँ दोनों अधिष्ठान और अधिष्ठेय दोनों समान और सत्य होंगे।

यथा न म्रियते रज्ज्वा जातु भ्रमभुजङ्गमः।
तथैव निर्गुणेनापि पुण्यपापे न नश्यतः।।

जैसे रज्जु से भ्रमकल्पित निर्गुण सर्प नहीं मरता उसी प्रकार अधिष्ठान भूत निर्गुण ब्रह्म से जीव के पुण्य पाप नष्ट नहीं होते।

न रज्ज्वा कल्पितः सर्पो न च सा द्रावयत्यमुम् ।
रज्ज्वा नश्यति चेत्सर्पस्तत्र तिष्ठेदसौ कथम् ।

वास्तव में न तो रज्जु के द्वारा सर्प की कल्पना की गई और नही वह सर्प को दूर कर सकती है। क्योंकि यदि सर्प रस्सी से नष्ट ही हो जाता तो वह रहता कहाँ?

ब्रह्नै वह्नौ प्रकाशत् दारु परं तद्दहयते क्षणात् ।
सति द्रष्टर्याप्रलयं आत्मज्ञातेऽगुणे फणी।।

आश्चर्य है। अग्नि में लकडी दिखाई पड़ती है। परन्तु वह एक क्षण में नष्ट भी तो हो जाती है। किन्तु विचित्र है निर्गुणवाद की रामकहानी। यहाँ तो प्रलय पर्यन्त अज्ञात निर्गुण द्रष्टा में दृश्यरूप सर्प भासित ही हो रहा है।

तस्माद्रज्जोर्यदज्ञानं तेन मिथ्योरगोद्भवः।
वराटके तु विज्ञाते नावतिष्ठति स क्षणम् ।।

इसलिए जो रज्जु विषयक अज्ञान है उसी से मिथ्या सर्प का उदभव हुआ है। यदि कोई रस्सी को ठीक ठीक जान ले तो सर्प वहाँ एक क्षण नहीं रह सकता।

यदिज्ञानं भवेच्छुल्बं भासेत तदहि, कथम्
भासेत यदि वाज्ञाने तस्मिन्नश्येत् कथं नु सः।।

यदि ज्ञान छोटा है तो उसमें सर्प का भास कैसा? और यदि उसमें सर्प भासित हो रहा है तो उसके नष्ट होने पर वह नष्ट क्यों नहीं होता।

रज्ज्वज्ञानात् समुद्भूतस्तज्ज्ञानाच्च लयं गतः।
यथोरगस्तथा कर्मप्रपञ्चोऽप्येष निर्गुणे ।।

वस्तुतः जैसे रज्जु के न जानने से सर्प उत्पन्न हुआ था और उसके ज्ञान से समाप्त हो गया । उसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म के न जानने से प्रपंच उत्पन्न हुआ था और उसके जानने से नष्ट हो गया।

कर्मैवं स्यादविद्या तां ब्रह्मविद्यैव बाधते।
विद्या च काचिदीशस्य शक्तिराद्यस्य तस्य सा।।

वस्तुतः कर्म अविद्या है जिसे ब्रह्म विद्या बाँधती है। वह ब्रह्मविद्या आद्य परमात्मा की कोई अलौकि शक्ति है।

ईशोऽसौ सगुणस्तस्य चरणार्पणयोगतः।
आविद्यकर्मणो नाशं केशवः कीर्तयिष्यति।।

वह ईश्वर सगुण साकार ही है। आगे चलकर भगवान श्रीकृष्ण यह कहेंगे कि सगुम साकार परमात्मा के चरणारविन्द के योग से ही अवद्यिासम्वन्धी कर्म का नाश होता है।

ब्रह्मार्पणप्रसंगेऽत्र भगवानेव वक्ष्यति।
अविद्यानाशकं नैव निर्गुणं जात्विति स्फुटम् ।।

इसी अध्याय में ब्रह्मार्पण प्रसंग में भगवान श्रीकृष्ण कहेंगे कि निर्गुण ब्रह्म अविद्या जनित कर्म का कभी भी विनाश नहीं कर सकता।

तस्मात्कर्म न यज्ञाख्यविष्णोर्यत्प्रीतये कृतम् ।
तदेव लोके बंधाय भवतीति विनिश्चितम् ।।

इसलिए जो कर्म यज्ञ नामक भगवान विष्णु की प्रीति के लिए नहीं किया जाता वही कर्म लोक में बन्धन के लिए होता है. यही स्पष्ट हुआ।

अथ क्रियामयो यज्ञो यद्यत्राभ्युपगम्यते।
स कर्मैव स्वयं तस्माद् यज्ञो विष्णुः श्रुतेर्नलात् ।।

यदि इस प्रकरण में यज्ञ शब्द से क्रियामय यज्ञ का अर्थ माना जाय तो फिर वह तो स्वयं कर्म ही है। भला कर्म–कर्म को कैसे नष्टकर सकेगा? इस लिए "यज्ञो वै विष्णुः" इस श्रुति के अनुरोध से इस प्रकरण में यज्ञ शब्द को विष्णु परक ही मानना चाहिए।

कर्मणोऽर्थं कृतं कर्म न बन्धकमिति स्फुटम् ।
ननु मत्तो नरो लोके को नाम कथयिष्यति।।

यदि कहो कि कर्म के लिए किया हुआ कर्म बन्धन के लिए नहीं हो सकता तो तुम्हारे अतिरिक्त इस संसार में ऐसा कौन पागल कहेगा।

अथ यज्ञपदे नान्या देवता इति चेन्न तत् ।
इहान्यदेवतोपास्तेः सर्वथा प्रतिषेधनात् ।।

यदि कहा जाय कि यज्ञ पद से यहाँ अन्य देवता का ग्रहण है तो यह पक्ष सर्वथा असंगत है। क्योंकि गीताजी में अन्य देवता की उपासना का निषेध है।

यत्करोषि यदश्नासि तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।
इत्युक्तं नवमेऽध्यायेऽन्यत्रापि च वदिष्यति।।

क्योंकि भगवान ने नवम अध्याय में कहा कि जो करते हो, जो भोजन करते

हो जो हवन करते हो जो दान देते हो, जो तपस्या करते हो वह सब मुझे अर्पित कर दो। इस प्रकार अन्यत्र भी कहेंगे।

तदित्थं कर्म विण्वाख्ये सगुणे ब्रह्मणीह यत् ।
नार्प्यते बन्धकं तस्यान्निर्णैषीदिति नन्दकी ।।

ये वामनाचार्य के सत्रह श्लोक पाठकों के आनन्द के लिए हमने अविगीता नामक टीका से उद्धृत करके अनुवाद सहति प्रस्तुत किये हैं।

इस प्रकार जो कर्म यज्ञस्वरूप महाविष्णु सगुण ब्रह्म श्रीकृष्ण में नहीं अर्पित किया जाता वही कर्म बधन के लिए होता है इस प्रकार नन्दक खड्ग धारी भगवान नारायण श्रीकृष्ण ने यहाँ निर्णय दिया है।

इस प्रकरणमें वामन भारती के टेढें अंशों का मैं अपनी सरस्वती के आधार पर सरल व्याख्यान प्रस्तुत कर रहा हूँ-

आचार्य वामन ने यज्ञ शब्द से विष्णु को अभिप्रेत माना है वे विष्णु निर्गुण और सगुण दोनों हैं। विष्णु शब्द की व्युत्पत्तियाँ हैं व्याप्त अर्थवाली विष्लृ धातु जुहोत्यादि १०९५ कर्ता में क्ष्नु प्रत्यय 'कित्व' के कारण गुण का अभाव। विवेष्टि इति विष्णु अर्थात् जो सबको व्याप्त कर लेता है उसे विष्णु कहते हैं। विष्णाति इति विष्णु, अर्थात् जो अपने भक्त को काम क्रोधादि से दूर कर देते हैं उन्हें विष्णु कहते हैं। श्रीमद्‌भागवत में भी भगवान कहते हैं। ब्रह्मा जी मैं जिसपर कृपा करता हूँ, उसका धन छीन लिया करता हूँ। क्योंकिं जब मनुष्य धन के मद से मतवाला हो जाता है तब मेरा और लोगों का तिरस्कार करने लगता है। भा० ८।२२।२४। अथवा प्रवेशार्थक त्वदाति १४२४ धातु से पूर्व प्रक्रिया से विष्णु शब्द बनता है। विशतीति विष्णुः जो सम्पूर्ण जीव जगत में प्रविष्ट हैं उन्हें विष्णु कहते हैं। यहां प्रक्रिया पूर्ववत् है अथवा विशिष्टेषु स्नौति जो विशिष्टाद्वैत पद्धति से आराधना करने वाले वैष्णव पर संतुष्ट हो जाते हैं उन्हें विष्णु कहते हैं। यहाँ वि उपसर्ग और द्रवार्थक ष्णु धातु से कर्त्ता में क्विप प्रत्यय हुआ। वे विष्णु कौन है? इस पर कहते है 'यज्ञ' अर्थात सगुण साकार पर ब्रह्म। यज् धातु देव पूजा संगति करण और दान अर्थ में भवादि १००२, करण और सम्प्रदान में नङ् प्रत्यय करके यज्ञ शब्द सिद्ध

होता है। ईज्यते, पूज्यते। देवता के निमित्त द्रव्य का दान किया जाता है अथवा ईज्यते अपने भवभय का नाश करने के लिए भक्त जिससे मिलते हैं वे भगवान राम ही यज्ञ हैं अथवा जिनके लिए भक्त सर्वस्व लुटा देते हैं वे श्री राम से अभिन्न कृष्ण संज्ञक विष्णु ही यज्ञ है। किं बहुना यदि यहां निर्गुण ब्रह्म से तात्पर्य होता तो गीता ३।१ में भगवान ब्रह्मार्थात कहते।

अब द्वितीय श्लोक के अर्थ का तात्पर्य कहते हैं यदि निर्गुणवादी कहें कि सगुण ब्रह्म माया सबल ब्रह्म है रज्जु में सर्प की भाँति वह निर्गुण ब्रह्म अधिष्ठित हैं तो यह कहना ठीक नही है वे दोनों ही समान हैं क्योंकि रज्जु और सर्प ये दोनों कहीं न कहीं विद्यमान हैं। तुम्हारे मत में रज्जु से मोक्ष होता है जवकि कृष्णावतार में उसी रज्जु से यशोदा जी ने गीता गायक श्रीकृष्ण को रज्जु से बाँधा। जो सर्प वन्धन करता है वही रामावतार में श्री लक्ष्मण बनकर भक्तों के मोक्ष का कारण बना।

ज्ञान का बाध होने पर भी वस्तु का बाध नहीं होता। जैसे रज्जु सर्प नही है यह कहने पर भी रस्सी से सर्प तो नही मरता। इसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म पाप पुण्य को नही नष्ट कर सकता। इसलिए राम चरित मानस में गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं-

व्यापक एकु ब्रह्म अविनासी। सत चेतन घन आनंद रासी।।
अस प्रभु हृदय अछत अविकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी।।

इस प्रकार आचार्य वामन ने भी नौवेंश्लोक में यज्ञ शब्द को विष्णु अर्थक ही माना है। परन्तु प्रस्तुत श्लोक के लिए कोई राजाज्ञा नही है। इस प्रकार सहयज्ञः का अर्थ है श्रौत स्मार्त यज्ञ के साथ। प्रजापति शब्द ब्रह्मा और भगवान दोनों के अर्थ में प्रयुक्त है। उवाच शब्द भी ब्रह्मा के पक्ष में प्रथम पुरुषैकवचनान्त है और भगवान के पक्ष में उत्तम पुरुष एक वचनान्त है। उत्तम पुरुष के एक वचन मे भी लिट् लकार में णल प्रत्यय ही होता है। अर्थात सृष्टि के प्रारम्भ में श्रौत स्मार्त यज्ञों के साथ प्रजापति ब्रह्मा ने अथवा प्रजापति परमेश्वर मैंने कहा था। अनेन इस निष्काम काम रूप यज्ञ से। 'प्रसविष्यध्वम्' तुम लोग समृद्धि को प्राप्त करो। प्रसविष्यध्वम् यह शब्द छान्दस् है। क्योंकि प्रजापति छन्दोमय हैं। लोट्लकार मे भी प्रसव शब्द से स्या विकरण इट का आगम होकर प्रसविष्यध्वम् बना। ।।श्रीं।।

संगति- अब परिशिष्ट कहते हैं-

देवान् भावतानेन ते देवाः भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ।।३।११

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ- प्रजापति ने कहा हे प्रजाओं इस निष्काम कर्म योग मय श्रौत स्मार्त यज्ञ से तुम लोग देवताओं को सन्तुष्ट करो और देवता अन्नपानादि से तुम लोंगो को सन्तुष्ट करें। इस प्रकार एक दूसरे को सन्तुष्ट करते हुए तुम दोनों ही परम कल्याण को प्राप्त कर लोगे।

व्याख्या- यहाँ मनुष्य और देवताओं का परस्पर समन्वय है। यज्ञ से देवता प्रसन्न होते हैं। यज्ञ के धूम से सात्विक परमाणु बनते हैं। उनसे व्यक्ति में दैवी सम्पत्ति का उदय होता है। भाव धातु यहाँ सम्मान अर्थ में है। श्रेय शब्द भगवत परक हैं। भगवान अर्जुन से कहते हैं- कि तुम श्रेय की जिज्ञासा कर रहे थे। मेरे निमित्त यज्ञार्थक कर्म करने से श्रेय मिलेगा । ।।श्री।।

संगति - अब अर्जुन का प्रश्न है कि कर्म योग करने पर इष्ट भोगों की प्राप्ति होगी या नहीं इस पर भगवान कहते हैं-

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रादयैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।। ३।१२

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ- यज्ञ से प्रसन्न हुए देवता तुम लोगों को निश्चय ही इष्टभोग प्रदान करेंगे। उनके द्वारा दिये हुए भोगों को जो उन्हें प्रदान किये हुए बिना ही भोगता है वह चोर ही है।

व्याख्या- दास्यन्ते शब्द में आत्मने पद का तात्पर्य यह है कि यहाँ दान के कर्त्ता देवों में ही दान का फल अर्थात देवताओ की इच्छा होती है कि हमारे दिये हुए भोगों में से हमें कुछ मिलेगा। देवनाओं के दान का अर्थ है भूखों को भोजन नंगों को वस्त्र विकलांगों को कृत्रिम अंग इस प्रकार समाज में जिन्हें आवश्यकता है उसकी पूर्ति करना- ।।श्री।।

संगति- अब अतिथि भोजनादि की करणीयता कहते हैं-

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ।।३।१३

रा०कृ०भा०- सामान्यार्थ- यज्ञ से अवशिष्ट भोजन निरन्तर करने वाले सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाते हैं, और जो अपने लिए ही भोजन पकाते हैं वे पापी केवल पाप को ही खाते हैं।

व्याख्या- यहां यज्ञ शब्द पंच महायज्ञ एवं विष्णु इन दोनों अर्थों में प्रयुक्त हैं। और सन्तः शब्द सत प्रत्ययान्त है। अर्थात ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ और मनुष्य यज्ञ बलिवैश्वदेव इन सवसे अवशिष्ट अन्न को स्वभाव से पाते हैं वे सन्त हैं और उन्हें सम्पूर्ण पाप अपने आप छोड़ देते हैं। अथवा जो यज्ञ अर्थात मुझ विष्णु को नैवेद्य करके मेरा शिष्ट अर्थात् उच्छिष्ट भोजन करते हैं वे सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाते हैं। आत्मकारणात् अपने लिए ही भोजन पकाते हैं वे पाप को ही खाते हैं। जैसा कि मनु ३।७२ में कहते हैं-

देवतातिथिभृत्यानां पितृणामात्मनश्च यः
न निर्वपति पञ्चानामुच्छवसन्न स जीवति।।

संगति- अव दो श्लोको में वैदिक कर्म एवं वेद की परस्पर सापेक्षता और वेद मूलक यज्ञा की प्रतिष्ठा का वर्णन करते हैं-

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यदन्नासंभवः
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम,
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ।३।१४।१५

रा० कृ० भा सामान्यार्थ- हे अर्जुन! अन्न की अपेक्षा करके अथवा अन्न के परिणाम शुक्रशोणित से सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं। और अन्न बादल से उत्पन्न होता है बादल यज्ञ से प्रगट होते हैं और यज्ञ वैदिक कर्मो सेहोता है। तुम कर्म के प्रकाशक वेद को ही जानों और वेद अक्षर ब्रह्म से प्रवर्तित हुआ है इसलिए सर्वव्यापी और नित्य वेद और परमेश्वर ये दोनों ही यज्ञ में प्रविष्ट रहते हैं।

व्याख्या-जो कुछ खाया जाता है उसे अन्न कहते हैं यहाँ सर्वत्र ल्यप लोप

अथवा हेतु में पंचमी है। अन्न से उत्पन्न प्राणियों का तात्पर्य यह है कि अग्नि में विधिवत दी हुई आहुति सूर्यनारायण को प्राप्त होती है और उनसे बादल और बादल से अग्नि और अग्नि से प्रजा की उत्पत्ति होती है जैसा की मनु भी कहते हैं।

अग्नौ प्रस्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायतो वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ।। म०३।७६

वह बादल अन्न का उत्पादक होता है और स्वयं यज्ञ से उत्पन्न होता है। यहाँ ब्रह्म शब्द वेद, ब्राह्मण, तप, ज्ञान, प्रकृति और परमेश्वर परक होकर भी केवल वेद और परमेश्वर के अर्थ में लिया गया है। इस प्रकार सर्वगतं ब्रह्म तथा नित्यं ये तीनों ही वेद और भगवान के वाचक हैं। यदि कहें कि यज्ञ से लेकर ब्रह्म पर्यन्त अनुधावन से क्या लाभ? इसका उत्तर हैं कि यहाँ एक परम्परा है। निष्काम कर्मयोग से यज्ञ, यज्ञ से बादल बादल से प्राणी, प्राणी से फिर यज्ञ। यज्ञ कर्म से, कर्म वेद से वेद भगवान से। वस्तुतः ईश्वर से वेद, वेद से कर्म से यज्ञ, यज्ञ से बादल बादल से अन्न अन्न से प्राणी और प्राणियों से कर्मयोग। यह एक चक्र हैं। ।।श्री।।

संगति- अब विषयका उपसंहार करते हैं

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।। १६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ- हे पृथा पुत्र अर्जुन! इस प्रकार मेरे द्वारा प्रवर्तित इस वैदिक परंपरा चक्रका जो अनुवर्तन अर्थात् पालन नहीं करता वह पापमय जीवन वाला इन्द्रियों में विहरण करता हुआ इस संसार में व्यर्थ ही जीता है।

व्याख्या- अनुवर्तयति शब्दका अर्थ है चलाना। अथवा यहाँ स्वार्थ मे "णिच्" प्रत्यय है। इसका अर्थ है अनुपालन करना। अघायुः अघ अर्थात् पाप ही है आयु में जिसके "अघं आयुषि यस्य" अथवा पापमय है जीवन जिसका "अघं आयुः यस्य" अथवा पापमें है जीवन जिसका अघे आयु यस्य अथवा पापके लिये ही जिसकी आयु है। अधाय आयुः यस्य स अघायुः वही अघायु है। "इन्द्रियारामः" "जो इन्द्रियों में आरमण करता है, अथवा इन्द्रियां ही जिसका आराम अर्थात् वाटिका के समान

विहरण स्थान ऐसा व्यक्ति व्यर्थ ही जीता है। अर्जुनने २।५, में कहा था "यानेव हत्वा न जिजीविषाम:" भगवान यहाँ उसका उत्तर देते हैं मोघं स मोघं जीवति, अर्थात् इनको न मारने में ही तुम्हारा जीवन व्यर्थ होगा। इसीलिए इन्हें मारकर जीने की इच्छा करो ।।श्री।।

संगति- यहां अर्जुन जिज्ञासा करते हैं कि मुझे कर्म कबतक करने पड़ेंगे? इस पर भगवान कहते हैं।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ।। ३।१७

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! जो अपनी आत्मा तथा मुझ परमात्मा में प्रेम करता है। और जो मनुकी मर्यादा को पालन करने वाला मानव स्वयं अपने से तथा मेरे दिव्य नाम रूप लीला धाम एवं निरतिशयकल्याणगुणगण तथा कोटिकन्दर्प कमनीय दिव्य श्रीविग्रहके चिन्तन से तृप्त है। एवं जो मुझ परमात्मा के श्री चरणकमलका आलिङ्गल करके संतुष्ट है, उसके लिये कुछ भी करणीय नहीं रहता, अर्थात् वह श्रुतिके विधि निषेध की परिधि से ऊपर उठ जाता है।

व्याख्या- यहाँ आत्मा शब्द जीवात्मा और परमात्मा दोनोंका वाचक हैं, और दोनों में एकशेष हैं। आत्मा च आत्मा च आत्मानौ तयो: रति: यस्य इसी प्रकार आत्मतृप्त शब्द में भी एकशेष है, अर्थात् जो प्रत्यगात्मा के भजनानन्द से और परमात्मा के दर्शनानन्द से तृप्त है वही यहाँ आत्मतृप्त कहा गया है। आत्मनि सन्तुष्ट: यहाँ आत्मा शब्द केवल परमात्मा वाचक हैं और यहाँ औपश्लेषिकी सप्तमी है, उपश्लेष यहाँ संयोग सम्बन्ध से है, अर्थात् जो मुझ परमात्माको आलिङ्गन करके सन्तुष्ट हो जाता है, जैसे श्री सुतीक्ष्ण। श्री राम को हृदयमें प्राप्तकर आत्मविस्मृति कर बैठे जैसे-

अतिसय प्रेम देखि रघुबीरा। प्रगटे हृदय हरन भवभीरा।।
मुनि मग माहि अचल भये वैसा।

पुलक शरीर पनसफल जैसा।। मानस ३-१०-१४,१५ तस्यकार्य न विद्यते उसके लिए कोई कर्तव्य नहीं है, अर्थात् यहाँ श्रुति कर्मका निषेध नहीं कर रही है, प्रत्युत

कर्तव्यताका निषेध कर रही है। अब यहाँ प्रश्न हैं, तो क्या श्रुति भगवत् प्राप्त व्यक्तिके प्रति पक्षपात करती है

उत्तर- नहीं तो फिर विधि निषेध क्यों नहीं

क्योंकि वहाँ विधि निषेध की कोई आवश्यकता ही नहीं पड़ती। भगवानको प्राप्त करके साधक सभी विधियाँ कर चुकता है, और वहाँ कोई निषेधकी सीमा ही नहीं रह जाती। क्योकिं अत्यन्त, अप्राप्तिमें विधि होती है।

"विधिरत्यन्तमप्राप्तौ" वहाँ तो सभी विधियाँ पूर्णताको प्रप्त हो चुकी है। वस्तुतः मर्यादा भंग का प्रश्न वहाँ उठता है, जहाँ कोई अनुकरण करने वाला होता है, भगवत् प्राप्त व्यक्तिकी इतनी उँचाई हो जाती है, कि जिसे ध्रुव भी नही छू सकते। जैसे श्रीभरत के लिये योगिराज जनक कहते हैं। निरवधिक गुन निरपमपुरुष भरत भरत सम कहिअ सुमेरू कि सेर सम कविकुल मति सकुचानी।। मानस- २-२८८।।

यहाँ प्रथम और तृतीय चरणमें एवकारका प्रयोग करके अनात्मभूत अचित् तत्वका निषेध किया गया है।

"तस्य कार्यं न विद्यते" यही फलस्वरूप है, और प्रथम चरण से स्वरूपरूप द्वितीय चरण से उपाय स्वरूप, और तृतीय चरण से परस्वरूपका निदर्शन है। इस प्रकार यह श्लोक अर्थपञ्चक का व्याख्यान है ।।श्री।।

संगति-अब उसी विषयवस्तुको विस्तारसे कह रहे हैं।

''नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ।।१८।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ- उस भगवत् साक्षात्कार किये हुये आत्मरति आत्मतृप्त आत्मसंतुष्ट व्यक्तिका इस संसार में न कोई कृतसे प्रयोजन है, और न हो अकृतसे। क्यों कि संपूर्ण प्राणियों में उसका कोई भी स्वार्थका उत्कृष्ट या निकृष्ट आश्रय ही नहीं है।

व्याख्या- इस प्रकार जिसने मेरे चरणारविन्दका रसमय आलिंगन कर लिया है, उस परमभागवतका इस संसारमें कृतेन अर्थात् कर्मसे, और अकृतेन कर्मके अभावसे कोई प्रयोजन नहीं है। क्यों कि वह अर्थ और अनर्थ दोनों से ऊपर उठ गया है। अथवा कर्म से न उसका कोई स्वार्थ सिद्ध होता है, और नहीं अकर्मसे उसका स्वार्थ असिद्ध होता है। अथवा उसके करने से न कोई संसारका अर्थ सिद्ध होगा, और न करने से न कोई संसार का अनर्थ होगा। क्योंकि अर्थ और अनर्थ उसके होते हैं, जो अर्थ करने वालों से सम्बन्ध हो, जो मुझ परमात्मा श्रीकृष्णके श्रीचरणारिविन्दकी भक्ति भागीरथी के तरल प्रवाहमें संसार के सम्बन्धों को प्रावहित कर देता है, ऐसे परमभगवदीय महापुरुष का संसार में कोई उत्कृष्ट या निकृष्ट आशय नहीं होता। वह कुछ करे या न करे। जो करना था वह कर लिया। क्योंकि जिसमें अहंकार होता है उसीके साथ अच्छे बुरे कर्मों का अन्वयहोता है। जो अहंकार शून्य है उसके साथ सुकृत या दुष्कृत का अन्वयकभी नही होता। जैसे श्रीभागवतमें श्री शुकाचार्य महाराज परीक्षित से कहते हैं।

हे सर्वसमर्थ महाराज जो पुरुष अहंकार शून्य होते हैं उनका सदाचरण या कदाचरण से कोई सम्वन्ध नहीं होता, अर्थात् न तो अच्छे कर्मों से उनका कोई स्वार्थ सिद्ध होता है, और नहीं बुरे कर्मो से उनमें कोई अनर्थ आता है। जैसे गोस्वामी तुलसी दासजी ने विनय पत्रिका में कहा है-

तेन तप्तं हुतं दत्तमेवाखिलं तेन सर्वं कृतं कर्मजालम् ।
येन श्रीरामनामामृतंपानकृत मनिशमनवद्यमवलोक्य कालम् ।।श्री।।

संगीत- अब भगवान अपने वक्तव्यका निष्कर्ष कह रहे हैं। यदि तुम मुझे प्राप्त करना चाहते हो ते आसक्ति छोड़कर विहित कर्म करो। क्योंकि कर्म से ही मुझे प्राप्त कर सकोगे। इसी बात को दृढ़ कर रहे हैं-

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्यायरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः।। गीता ३।१९

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! इसे तुम भी आसक्त रहति होकर श्रुति स्मृति पुराणों द्वारा करणीय रूप से कहे हुए कर्मों को आदर पूर्वक करो। क्योंकि आसक्ति से रहति होकर विहित कर्म करता हुआ पुरुष मुझ परमात्मा को प्राप्त कर

लेता है।

व्याख्या- कार्यम् का तात्पर्य है जिसे शास्त्र ने अपने अपने वर्णाश्रम के अनुसार प्राणी के लिए विहित कहा है। यद्यपि मेरा साक्षात्कार किये हुए व्यक्ति को विधि निषेध की कोई आवश्यकता नही होती फिर भी लोक संग्रहरार्थ करो। समाचार का अर्थ है आदरपूर्वक करो हि हेतु का अनुवादक है। पुरुष शब्द में अन्येषामपि प० अ० ६।३॥१३७ सूत्र से दीर्घ हुआ। इसी ६।३।१३७ सूत्र से श्री राम चरित मानस उत्तर काण्ड मंगलचारण एक के केकी कण्ठाभिनीलं में दीर्घ हुआ। ॥श्री॥

संगति- अब अर्जुन का प्रश्न होता है कि क्या इससे पहले और कोई कर्म करके आपको प्राप्त कर चुका है? और क्या अर्जुन ने पूँछा कौन भगवान ने कहा रामावतार में मेरे श्वसुर श्री जनक। अत: कहते हैं-

''कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादय:।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ।। ३।२०

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! कर्म से ही जनक आदि राजाओं ने मेरी प्राप्ति रूप सिद्धि प्राप्त की है। इसलिए लोक संग्रह को देखते हुए भी तुम कर्म करने के लिए ही योग्य हो।

व्याख्या- एवं का अर्थ है जनक आदि ने कर्म से ही सिद्धी प्राप्त की। उन्होंने कर्म के सन्यसन में कभी विश्वास नहीं किया। जनक जी स्वयं कहते हैं

इनहिं बिलोकत अति अनुरागा।
बरबस ब्रह्म सुखहिं मन त्यागा। मा० १।२१६।५

यदि अर्जुन कहें कि जिन्होंने आपक साक्षात्कार नहीं किया हो वे कर्म करें। मुझे क्या आवश्यकता है? मैंने तो बाल्यकाल से ही मित्र और सम्बन्धी रूप में आपका साक्षात्कार किया है। इस पर भगवान कहते हैं 'लोक संग्रहम्' अर्थात् लोक संग्रह कि दृष्टि से तुम्हें कर्म करना है। यद्यपि तुम मेरे नित्य परिकर और मेरे कीर्तन मण्डल में राग निर्देशक हो। राग कर्त्ताऽर्जुनोभूत इसी प्रकार शुकाचार्य भी मेरे कीर्तन के भाव वक्ता और तुम्हारे पिता मेरे कीर्तन में मृदंग वादक हैं। यद्यपि तुम लोगों पर

विधि निषेध नहीं प्रवृत्ति होंगे तथापि लोगों को दिखाने के लिए कर्म ही करो ।।श्री।।

संगति- यहाँ दो प्रकार से संगति लगायी जा सकती है। १- अर्जुन की जिज्ञासा है कि क्या लोक सग्रह में और कोई पुरुष प्रमाण है भगवान आगे कहेंगे मैं ही परन्तु उसके पूर्व लोक संग्रह मेरे लिए क्यों आवश्यक है अर्जुन के इस प्रश्न के उत्तर मं भगवान कहते हैं-;

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ।।३।२१

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन श्रेष्ठ व्यक्ति जो-जो आचरण करता है उससे भिन्न कनिष्ठ जन भी वही वही आचरण करता है। श्रेष्ठ पुरष जो विशिष्ट प्रमाण उपस्थित कर देता है लोक उसी का अनुवर्तन करता है।

व्याख्या- यहाँ श्रेष्ठ शब्द ख्याति प्राप्त प्रसिद्ध व्यक्ति के तात्पर्य में है। प्रमाण शब्द का अर्थ है विशिष्ट। भगवान कहते हैं- यह लोक गतानुगतिक हैं अर्थात् इसका स्वभाव ही अनुकरणशील है बडे. लोग जो करते हैं छोटे लोग उसी का अनुकरण करते हैं। वर्तमान में तुम सबसे श्रेष्ठ हो लोग तुम्हारा ही अनुकरण करेंगे। इसलिए कर्म ही करो जिससे और लोग तुम्हारा अनुकरण करके अकमर्ण्यता के विष से मुक्त हो जाँय ।।श्री।।

संगति- अर्जुन का प्रश्न है कि हे प्रभो आप मुझसे भी श्रेष्ठ है तो क्या आप भी लोक सग्रहार्थ कर्म करतेहैं इस पर देवकी नन्दन श्री कृष्ण कहते हैं-

''न में पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिपुं लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ।।३।२२

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ- हे पृथा नन्दन अर्जुन यद्यपि तीनों लोकों में मेरे लिए कुछ भी करणीय नही है और कोई ऐसी प्राप्तव्य वस्तु नही है जो मुझे प्राप्त न हो तथापि मैं विकर्म में ही वर्तता हूँ विकर्म और अकर्म में नहीं।

व्याख्या- पार्थ का तात्पर्य यह है तुम मेरी बात क्या करने लगे। जिसके तुम

पुत्र हो वे पृथा कुन्ती भी कर्म ही करती हैं। लोक तीन हैं भू लोक भुवर लोक स्वर्ग लोग। इन तीनों लोकों में मेरे लिए कोई विधेय या निषेध नही है फिर भी मैं नित्य कर्म करता हूँ। और कोई प्राप्त करने योग्य वस्तु अप्राप्त न ही है फिर भी मै नैमित्तिक कर्म करता हूँ। और च से प्रायश्चित भी करता हूँ यहाँ 'कृत्यानां' सूत्र से तृतीया के अर्थ में षष्ठी हुई है। न कर्तव्यं का तात्पर्य हैं कि यद्यपि वेद ने मेरे लिए किसी कर्म का विधान नहीं कियाहै। क्योंकि कर्म होते हैं जीव के लिए मैं ईश्वर हूँ फिर भी मानवावतार लेकर समस्त नित्यकर्म करता हूँ। नानवाप्तं अर्थात् नैमित्ति कर्मो के लिए भी ऐसे कोई निमित्त नही है जिनके हेतु मुझे कर्म करना आवश्यक छहो। क्योंकि मुझे सब कुछ मिला यथा-

द्वारिका मिली है मो को कनक भवनमयी
पुत्र पौत्र अगनित हलधर भ्रात है।
शोडष सहस्त्र मिली नारि रुक्मिणी प्रमुख
जिनही विलोके काम वाम सकुचात हैं।।
शंख कर गदा पद्म दारुक सो सारथी है
सभा है सुधर्मा देव पारि जात है।
लोक की सकल रिद्धि मोहि सेव
तौ गिरधिर प्रभु कर्म किये हर्षात है।।

संगति- अब भगवान कर्म न करने का परिणाम कह रहे हैं, अथवा आप कर्म न करें तो हानि क्या होगी अर्जुन के इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।३।२३

हे पृथा पुत्र अर्जुन! क्योंकि यदि मैं कदाचित् आलस्य छोड़कर कर्म न करता तो सभी मनुष्य मेरे ही मार्ग का अनुकरण करते। और कोई वेदविहित कर्म करता ही नहीं।

व्याख्या- यहाँ जातु शब्द का अर्थ है कदाचित् । वर्त्मशब्द मार्ग का वाचक है। अनुवर्ते मे लट् लकार हेतु मद्भाव में लिङ लकार के अर्थ में व्यत्यय से हुआ है ।।श्रीं।।

संगति- इसके अनन्तर क्या होता इस पर भगवान कहते हैं-

उत्सीदेयुरिमें लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्तां स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः।।३।२४।।

रा०कृ०भा०- हे अर्जुन यदि मैं कर्म न करता तो ये सभी लोक नष्ट हो जाते और मैं ही वर्णसङ्कर सन्तान का कर्ता अर्थात् जन्मदाता बनता और कारणरूप से सभी प्रजाओं का विनाश कर डालता।

व्याख्या- तात्पर्य यह है कि मेरे कर्म न करने से अकर्मण्यता फैलती और इस कारण ये सम्पूर्ण लोक नष्ट हो जाते। क्योंकि मैंने इसी अध्याय के नवें श्लोक में कहा है कि अकर्म से तुम्हारी शरीर यात्रा भी नहीं चल सकती। इसलिए जब लोग कर्म नहीं करेंगे तो शरीर यात्रा चलेगी ही नहीं। इसी प्रकार मेरे कर्म न कर्म न करने से लोगों की विकर्म में प्रवृत्ति हो जाती और उत्पन्न होती संकीर्ण सन्तान, और उसका कर्ता मैं ही होता इसी प्रकार सारी प्रजाएँ मेरी ही कारण समाप्त हो जाती इसलिए मैं भी कर्म करता हूँ इसी प्रकार तुम्हें भी कर्म करना चाहिए। यदि ज्ञानियों का लक्ष्यभूत मैं परमात्मा कर्म नहीं छोड़ता तो तुम कर्म छोड़ने का आग्रह क्यों कर रहे हो ।श्री।

संगति- यहाँ अर्जुन फिर प्रश्न करते हैं कि यदि मूर्ख और ज्ञानी दोनों को समान रूप से कर्म करना ही है तो इन दोनों में भेद ही क्या रहा? इस पर भगवान कहते हैं- अन्तर है। आसक्ति और अनासक्ति का। अज्ञानी संसार में आसक्त होकर भवबन्धन से विमुख होने के लिए कर्म करता है और ज्ञानी अनासक्त रहकर लोक संग्रह करने के लिए कर्म करता है। इसी बात को भगवान अग्रिम श्लोक में स्पष्ट करते हैं-

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसी यथा कुर्वविन्त भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथा सक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ।।३।२५।।

रा०कृ०भा०- हे भरतवंशी अर्जुन जिस प्रकरार अज्ञानी लोग रुचिपूर्वक कर्म करते हैं उसी प्रकार अनासक्त हुआ ब्रह्मोक्ता विद्वान लोकसंग्रह करने की इच्छा करता हुआ कर्म ही करें।

व्याख्या- यहाँ तथा का तात्पर्य है कि कर्म के प्रकार में अन्तर नहीं आना चाहिए। अविद्वांस: अर्थात जो स्वस्वरूप और पर स्वरूप के सम्बन्ध में नहीं जानते वे तो कर्म को अपना मानकर रुचिपूर्वकर करते ही हैं परन्तु जिनको अकारत्रय का बोध हो चुका है और जो यह भलीभाँति समझते हैं कि इदं रामाभिन्नकृष्णाय न मम अर्थात् "यह भगवान के लिए हैं मेरा नही" उनको भी यह मानकर कर्म करना चाहिए कि भगवान मेरे हैं और यदि यह सब कुछ उनका है तो उनका कर्म उनकी सेवा मानकर मुझे सेवक की दृष्टि से रुचिपूर्वक करना चाहिए। जैसे श्यामसुन्दर भगवान के मथुरा पधार जाने पर श्री नन्दराय गृहकर्म में बिल्कुल अनासक्त हो चुके थे, उनसे घर के कार्य होते ही नहीं थे फिर भी कन्हैया जी की सेवा मानकर वे सब कुछ कर रहे थे। श्री उद्धव जी के पूछने पर उन्होंने यही स्पष्टीकरण भी दिया था कि नौ लाख गायों में से यदि एक भी ओछी हो जायगी तो कन्हैया को दु:ख होगा। यही दोनों का अन्तर है। अज्ञानी का कर्म उसकी आसक्ति का परिणमन है और ज्ञानी का कर्म में प्रवृत्त होना उसकी भक्ति का मंगलमय फल। अत: अज्ञानी के यहाँ कर्म भोग होता है और ज्ञानी के यहाँ कर्म योग। "कुर्याद्" में अधिकार नहीं है इस प्रकार बकवास करने वालों को परास्त कर दिया। श्री।

संगति- अर्जुन प्रश्न करते हैं कि हे कन्हैया आपको जानने वाला विद्वान अपने वर्णाश्रम की मर्यादा से प्राप्त कर्मों को करता हुआ लोक संग्रहार्थ क्या करे? इस प्रश्न के उत्तर में कर्मठशिरोमणि भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं-

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ।।३।२६

रा०कृ०भा०- समत्वलक्षणयोग से युक्त स्ववर्णाश्रमप्राप्त कर्मों को आदर पूर्वक करता हुआ विद्वान कर्म में आसक्त अज्ञानीजनों की बुद्धि में भेद उत्पन्न न करे प्रत्युत उन्हें वेद विहित सभी कर्मों में ही लगायें।

व्याख्या- स्वयं कर्मों को करता हुआ दूसरों को भी कर्मों में ही लगाना यही विद्वान का वास्तविक लोकसंग्रह है। क्योंकि कोई भी व्यक्ति बिना कर्म के रह ही नहीं सकता। सभी को कर्म करने की विवशता है। यदि ज्ञानी व्यर्थ का वेदान्त झाड़कर अज्ञानी को कर्म से हटा ही देगा तो अन्ततोगत्वा वह कर्म से हटकर

विकर्म ही करेगा। ताल से गिरे खजूर पै अटके यही हाल होगा।श्री।

संगति- अब भगवान कर्म और कर्ता के वास्तविक स्वरूप का वर्णन कर रहे हैं। अथवा तीन श्लोकों से निष्काम कर्म योग में कर्त्तापन के प्रकार की व्याख्या कर रहे हैं-

प्रकृतेः क्रियामाणानि गुणैः कर्माणिः सर्वशः
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।।३।२७

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ।।३।२८
प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ।।३।२९

रा०कृ०भा०- हे अर्जुन! अहङ्कार से मोहित मन वाला मनुष्य प्रकृति के गुणों से किये जाते हुए सभी कर्मों को मैं करता हूँ ऐसा मानता है। किन्तु हे महाबाहो गुण विभाग तथा कर्म विभाग का तत्ववेत्ता साधक माया के गुण गुणों में स्वयं प्रवृत्त हो जाते हैं मैं कुछ नहीं करता ऐसा मानकर कर्म में आसक्त नहीं होता। प्रकृति के गुणों मे पूर्णरूप से मोहित हुए लोग ही गुणों और कर्मों मे आसक्त होते हैं। सम्पूर्णता से न जानने वाले उन मन्द अर्थात् मूर्खों को गुणकर्म के रहस्य को सम्पूर्णतः जाननेवाला साधक कर्मों से विचलित न करें।

व्याख्या- तीनों गुणों की साम्यावस्था वस्तुतस्तु यहाँ भगवान की माया को ही प्रकृति कहा गया है। इसलिए श्वेताश्वतरोपनिषद् में श्रुति स्पष्ट कहती है-

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।

उस मेरी माया के प्रकाश, प्रवृत्ति और निवृत्ति स्वभाव वाले सत्व रज तम ये तीन गुण होते हैं। भगवान श्री गीता ७।१४ में स्वयं कहेंगे की यह दुरत्यया मेरी माया ही गुणमयी है। इसीलिए भगवान श्री राम उपवन में श्रीभरत जी से कहते हैं-

सुनहु तात माया कृत गुन अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखिअहिं देखिय सो अविवेक ।।

हे तात। सुनो, माया से रचे हुए ही अनेक सब गुण और दोष हैं। इनकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। गुण विवेक इसी में है कि दोनों ही न देखे जायँ, इन्हें देखना ही अविवेक हैं।

इस प्रकार इन्हीं तीनों गुणों द्वारा सभी कर्म किये जा रहे हैं। अर्थात् कर्म, गुण कभी कर्मों से विराम नहीं ले रहे हैं। परन्तु अनहं अर्थात् परमात्मा पदार्थ में जिसका मन विमूढ है वह अपने को ही उन कर्मों का कर्ता मानता है। यहाँ आत्मा शब्द मन का वाचक है। इस श्लोक का वाक्यभेद करके दूसरा अर्थ भी किया जा सकता है। यद्यपि सभी कर्म प्रकृति के गुणों से हीं किये जा रहे हैं। अहंकार से विमूढ. मन वाला अज्ञानी कर्मों का कर्ता मैं हूँ ऐसा मानता है। तु शब्द पक्षान्तर का बोधक है। तत्त्व को जाननेवाले को तत्त्व वित् कहते हैं। और तत्त्व ब्रह्म जीव माया ये तीन हैं। गुण गुणों में ही वर्त रहे हैं मैं तो दास्यन्यवत् माया पति के अधीन एक चेतना सत्ता हूँ और मेरा कर्तृत्वत् स्वतंत्र नहीं भगवत्पराधीन है। न विचालयेत् शब्द के साथ कर्मभ्य: का अनुवर्तन करना चाहिए। अर्थात् समग्रवेत्ता उन अज्ञानियों को कभी कर्मों से विचलित न करे। क्योंकि वे कर्म छोड़कर विकर्म ही करेंगे। जिससे उनका पतन ही होगा। यदि श्रुतिविहित कर्म करते रहे तो उनके पुण्य से और ईश्वर की कृपा से अज्ञान नष्ट भी हो सकता हैं-

यदि नाथ का नाम दयानिधि है तो दया भी करेंगे कभी न कभी।

संगति- अब भगवान प्रकरण का निष्कर्ष कह रहे।। श्री।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य ध्यात्मचेतसा।
निराशां र्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः।।३।३०

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! कर्म में फल की आशा छोड़कर पुनः और सर्वत्र ममत्व से रहित होकर मुझ परमात्मा श्री कृष्ण में सभी कर्मों को समर्पित करके संताप रहति होकर युद्ध करो। 'आशिष' शब्द आङ् पूर्वक शासु धातु से निष्पत्र होता है। सामान्यरूप से इसका शुभ कामना अर्थ होता है परन्तु गीता जी में यह कर्म फल के अर्थ में प्रयोग हुआ है। मैं भगवान का दास हूँ सबकुछ भगवान की आज्ञा से कर रहा हूँ। इस प्रकार कर्म के फलों को छोड़ना चाहिए। जैसे वैतनिक

सेवक स्वामी के कर्म करता हो पर फलों की अपेक्षा नहीं करता क्योंकि उसे ज्ञात है कि कर्म करने के उपलक्ष्य में उसे वेतन मिलता है। अतः वेतन के अतिरिक्त और कहीं अधिकार नही है उसी प्रकार श्री वैष्णव को स्वयं को भगवान का वैतनिक दास मान लेना चाहिए जैसा कि मीरा जी कहती हैं-

म्हाने चाकर राखो जी।
चाकरी में दर्शन पाऊँ सुमिरन पाऊँ खरची।
भाव भगति जागीरी पाऊँ तीनों वाँता सरची।

युद्धयस्व यह अकर्मक क्रिया है इसका प्रयोग करके भगवान अर्जुन को भी कर्म वन्धन से रहित होने का संकेत करते हैं।

संगति- अब भगवान दो श्लोकों से प्रकरण के अर्थवाद का निरूपण करते हैं। निन्दा स्तुति परक वचन को अर्थवाद कहते हैं। यहाँ प्रथम श्लोक में कर्मययोगी प्रशंसा और द्वितीय श्लोक में कर्मयोग न करने वाले की निन्दा कही गयी हैं-

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ।।३।३१

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ हे अर्जुन! जो आस्तिक बुद्धि सम्पन्न और मेरी निन्दा न करते हुए और किसी के गुणों में दोष दर्शन न करते हुए मनुवादी परम्परा में आस्थावान मेरे इस शास्वतमत का आदरपूर्वक अनुष्ठान अर्थात् पालन करेंगे वे निश्चय ही कर्मों से छूट जायेंगे।

व्याख्या- यहाँ अनुतिष्ठन्ति मुच्यन्ते इन दोनों स्थलों में वर्तमान के समीप भविष्यत कालीन क्रिया मे वर्तमान काल का अर्थात् लृट् के स्थान लट् का प्रयोग हुआ है। अतः अनुतिठन्ति का अनुष्ठास्यन्ति मुच्यन्ते का मोक्ष्यन्ते अर्थात् जो पालन करेंगे छूट जायेंगे अर्थ समझना चाहिए। अब शब्द निश्चयार्थक हैं।

संगति- इसके विपरीत वालों का क्या होगा? इस पर कहते हैं-

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः।।३।३२

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ- इसके विपरीत मेरी निन्दा करते हुए जो लोग इस मत का पालन नही करेंगे उन्हें सम्पूर्ण ज्ञान में अथवा सर्वरूप ब्रह्म के ज्ञान में पूर्ण रूप से मूढ़ और अपिवित्र चित्त वाले और लोक परलोक से नष्ट ही समझो।

व्याख्या- तू शब्द यहाँ पक्षान्तर का सूचक है। अनुतिष्ठन्ति शब्द भी पूर्व प्रक्रिया के अनुसार भविष्य कालके अनुसार वर्तमान काल का प्रयोग अचेतसः शब्द में "अपवित्रं चेतः येषां ते अचेतसः" ऐसा विग्रह मानना चाहिए। अर्थात् ज्ञानी को भी भगवत प्रीति के लिए कर्म करना ही चाहिए। यही निष्कर्ष हैं। ।।श्री।।

संगति- अब अर्जुन का प्रश्न है कि ज्ञानियों को कर्म क्यों करना चाहिए। इस पर भगवान कहते हैं।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति। ३।३३

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ- क्योंकि ज्ञानवान भी अपनी अनेक पूर्व जन्मों में अनुभूत वासनाओं से युक्त स्वभाव नाम वाली प्रकृति के अनुरूप ही चेष्टा करता है। सभी प्राणी प्रकृति को ही प्राप्त करते हैं। उसमें मेरा तुम्हारा या श्रुतियों का निषेध रुप प्रतिबन्ध क्या करेगा।

व्याख्या- मेरी भक्ति के बिना कोई प्रकृति को नहीं जीत पाता। विश्वामित्र, पराशर जैसे ज्ञानवान भी प्रकृति के झटके में आ गये। इसलिए निष्काम कर्मयोग रूप मेरा आराधन न करेक ज्ञानी प्रकृति पर विजय नहीं प्राप्त कर सकता। उसे तो मेरा भक्त ही वश में करता है। यदि कहो कि श्रुति स्मृतियों के निषेध से ज्ञानी प्रकृति पर विजय प्राप्त कर लेगा। इस पर भगवान कहते हैं- निग्रहः किं करिष्यति प्रकृति की आँधी के सामने किसी का भी निषेध नहीं चलती। जैसा कि श्री मानस मे गोस्वामी जी कहते है-

धरे न काहू धीर सबके मन मनसिज हरे।
जेहि राखे रघुवीर तेहि उबरे तेहि काल महँ।। मानस-१।८५

इसलिए परमेश्वर की पूजा स्वरूप निष्काम कर्म योग का अनुष्टान करके प्रकृति

को जीतो। क्योकि विग्रह कुछ नही करेगा पर मेरा अनुग्रह तुम्हें प्रकृति जयी बना देगा।

संगति- ज्ञानी के बहुत शत्रु होते है और कर्मयोगी भक्त अजातशत्रु होता है। इस तथ्य को भगवान स्पष्ट करते हुए कहते हैं-

इन्द्रिस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्यपरपिन्थिनौ।।३।३४

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! प्रत्येक इन्द्रिय के अपने-अपने विषय मे ही पूर्व वासनाओं के अनुसार रागद्वेष व्यविस्थत है। इसलिए साधक को उनके वश में नहीं आना चाहिये। क्योंकि राग और द्वैष ही उसके शत्रु है ।

व्याख्या- दो बार इन्द्रियस्य कहने का तात्पर्य यही हैं कि प्रत्येक इन्द्रिय के उसी के विषय में राग द्वेष है। जैसे श्रवण का संगीत में राग गाली में द्वेष। चक्षु राग का स्वरूप मे राग विरुप में द्वेष। रसना का मधुर में राग, तीखे में द्वैष । घ्रणि का सुगन्ध में राग और दुर्गन्ध में द्वेष। उसी प्रका त्वगेन्द्रिय का कोमल स्पर्शे में राग और कठोर स्पर्श मे द्वेष होता है। इसलिए साधक को उनके वश में नहीं आना चाहिए। परिपन्थी शब्द छान्दस शत्रु अर्थ में प्रयुक्त है।

संगति- इस प्रकार ज्ञानी की दुर्दशा कहकर अव भगवान सिद्धान्त कहते हैं।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ३।३५

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ- भली प्रकार से अनुष्ठित अर्थात सम्पादित दूसरे के धर्म से गुण रहति अपना धर्म भी विपुल गुणों वाला एवं श्रेष्ठ है। अपने धर्म में स्थित रहकर मर जाना श्रेष्ठ है एवं दूसरां का धर्म भयावह है।

व्याख्या- अपने वर्ण और आश्रम के अनुसार विहित धर्म ही स्वधर्म है। यदि व दूसरे आश्रम वाले व दूसरे वर्ण वालो की दृष्टि से विगुणः दूषण युक्त हो। विगत गुणः तो भी अपने लिए श्रेयान अर्थात् श्रेष्ठ है और विगुणः अर्थात् विपुलगुणोवाला

है। यहाँ विगुण शब्द की दो व्याख्या समझनी चाहिए। विगताः गुणाः यस्मात् स विगुणाः। "विपुलाः गुणाः यस्मिन् स विगुणाः।" युद्ध तुम्हारा स्वधर्म है। तुम श्री वैष्णव हो। अतः यह मेरी आज्ञा पालन रूप धर्म हैं। तुम क्षत्रिय हो। अतः शत्रुओं का वध करना तुम्हारा धर्म है। तुम गृहस्थ हो अर्थात् निष्काम कर्म तुम्हारा धर्म हे । इसी स्वधर्म युद्ध के पालन में निधन अर्थात् मरण तुम्हारे लिए श्रेयस्कर हैं यही यच्छ्रेयाह का उत्तर है। पर धर्मो भयावात भैक्ष्यं भोक्तुं श्रेयः। गीता २।५ ये जो तुम्हारी मान्यता है वह परधर्म हे। तुम्हारा धर्म नहीं। क्योंकि श्री वैष्णव, गृहस्थ और क्षत्रिय इन तीनों का भिक्षा मांगना धर्म नहीं है। इसलिए यह तुम्हे भय देगा। तुम भिक्षा देने वाले हो भिखमंगे नही ।श्री।

संगति- अब अर्जुन जिज्ञासा करते हैं कि पाप करने में कौन प्रेरणा देता है मेरे द्वारा भी बहुत पाप किये गये। क्षत्रिय धर्म से विरुद्ध हथियार डालना और आप परमेश्वर का अपमान करना। तो मुझे इस पाप की किसने प्रेरणा दी होगी अर्जुन की इस जिज्ञासा की संजय धृतराष्ट्र के प्रति अवतारण करते हैं।

व्याख्या- अर्जुनोवाच- यहाँ उवाच का अर्थ है प्रपच्छ। अर्थात् अर्जुन ने भगवान् से पूछा–

अथकेन प्रयुक्तोऽयंपापं चरति पुरुषः
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः।। ३।३९

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ- अर्जुन प्रश्न करते हैं विष्णु कुल कमल दिवाकर। अच्छा तो इच्छा न करता हुआ भी बल पूर्वक विकर्म में नियुक्त किया गया जैसा यह पुरुषार्थी साधक किस प्रेरक से प्रेरित होकर शास्त्र विरुद्ध विकर्म रूप पाप का आचरण करता है। अर्जुन का तात्पर्य यह है कि जीव के हृदय में आपके रहते हुए भी आपकी अनुपस्थित को अनदेखी करके कौन पाप करवाता है जबकि जीव पाप नहीं करना चाहता ।।श्री।।

संगति- अर्जुन की जिज्ञासा का समाधान करने के लिए भगवान वाक्य को भी उपक्रान्त करते हैं।

काम एष कोध एष रजोगुण समुद्भवः।
महाशनो महापाप्म विद्ध्येनमिह वैरिणाम।। ३।३७

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! रजोगुणसे उत्पन्न यही काम है, यही क्रोध है यह अग्नि के समान बहुत भोजन करने वाला है। यह अत्यन्त पापी है, इस विषय में इसीको ही शत्रु समझो, अर्थात् यही मेरी उपस्थितिकी भी अनदेखी करके प्रत्येक प्राणीसे पाप कराता है।

व्याख्या- श्री भगवान् अर्थात् षड्श्वर्य सम्पन्न भगवान बोले, भगवान शब्द की मैंने पहले व्याख्या कर दी है। 'रजोगुण समुद्भवः' शब्द में द्वन्द्वगर्भमध्यम पदलोपी बहुव्रीहि है। अर्थात् रजोगुण और तमोगुण हैं उत्पत्ति स्थान जिसके ऐसा यह काम ही किसी कारण से व्याहत होने पर यह क्रोध हो जाता है। दोनों ही अति निकट है इसी लिए दोनों के प्रति एष शब्द का प्रयोग करते हैं। जब यह शुद्ध काम रहता है तब यह महाशन अर्थात् बहुत भोजन वाला हो जाता है, कभी भोगों से विरत ही नहीं होता। जैसा की मनु कहते हैं, कामनाओंके उपभोगसे कभी कामशान्त नहीं होता, वह तो घी की धारा से अग्नि की भाँति अधिकाधिक बढ़ता ही जाता है। अथवा महापुरुष भी जिसका भोजन बन जाते हैं, उसे महाशन कहते हैं। इसी लिये भर्तृहरी ने चुनौती भरे शब्द में कहा, कुछलोग मतवाले गजेन्द्र के गण्डस्थलको विदीर्ण करने में वीर होते हैं और कुछ लोग उन मृगेन्द्रों का बध करने में भी कुशल हो जाते हैं, किन्तु मैं उन बलशालीयों के समक्ष घोषणा करके कहता हूँ कि कन्दर्प । अर्थात् काम के दर्प के दलन मे बहुत कम लोग समर्थ हो पाते हैं।

फिर यही काम जब क्रोध संज्ञाको प्राप्त करता है तब यह महापाम्मा हो जाता है, पाप्मा शब्द पापका पर्याय है। जिसमें बहुत पाप हो, अथवा जिससे बहुत पाप हो, अथवा जो स्वयं बहुत पापी हो, वही महापाप्मा है इस सम्बन्ध में इसी को शत्रु जानो। यहाँ वामनाचार्य के भी विचार द्रष्टव्य हैं।-

महाशनो महापाप्मेत्युभयं लक्षितं क्रमात् ।
सर्वभक्ष्योऽप्यसन्तुष्टः कामः क्रोधश्च पातकी ।।

आचार्य वामन कहते है कि काम को भगवान श्री कृष्ण ने महाशन और क्रोध

को महापापी कहाँ क्योंकि काम व्यक्ति का सब कुछ खाकर असन्तुष्ट बना रहता है, और क्रोध भयङ्करसे भयङ्कर पाप करा देता है।

क्रोधोऽपि काम एव स्याद् भेदेऽप्याह्वानरूपयोः।
किन्तु क्रोधस्तमोरूपो ज्ञेयः काम रजोगुणः।।

आह्वान और स्वरूपमें भेद होने पर भी क्रोध काम ही है, परंतु क्रोधका स्वरूप तमोगुण है, और कामका स्वरूप रजोगुण।

अत्रैवं सति कृष्णेन क्रोधोऽपि रजसो यदा।
वक्ष्यते सूक्ष्मबुद्धीनां तदा सन्देह उद्भवेत् ।।

ऐसी परिस्थिति में भी यदि भगवान श्रीकृष्ण क्रोध भी काम ही ऐसा कहेंगे, तब तो सूक्ष्मबुद्धिवाले लोगों के मनमें भी सन्देह हो जायेगा।

तत्रावधेयं कुशलै, किमेतत् कामोबु तन्निर्मलमाविलं च।
प्रसन्नमप्येति कमाविलत्वं चलाचलं पंकिलपल्लवस्थम् ।।

इसप्रसंग पर कुशल बुद्धिवालोंको विचार करना चाहिये, वस्तुत यह एकही काम उसी प्रकार दो स्वरूपमों में दिखाई पड़ता है जैसे एक ही जल गड्ढे और शुद्ध तालाब में दो प्रकार का दिखाई पड़ती है अर्थात् गड़ढेमे मटमैला और तालाबमें स्वच्छ गड्ढे में चंचल और तालाब में शान्त। उसी प्रकार यह काम भी रजोगुण के साथ काम, और यही तमोगुण के साथ क्रोध बन जाता है।

वारो यथाधार इहास्ति पंकस्तथैव वेद्यो रजसस्मोऽपि।
क्षुब्धे रजस्याशु ततो नितान्तं क्रोधभ्रमं तत्र तमस्तनोति।।

अर्थात् जिस प्रकार जल कीचड़ से मिलता है उसेमटमैला कहते हैं, उसी प्रकार जब रजोगुणका तमोगुण आधार बन जाता है, तभी काम क्रोध की संज्ञा प्राप्त कर लेता है। तमोगुण के कारण जब रजोगुण अत्यन्त क्षुब्ध हो जाता है, तब तमोगुण क्रोध और भ्रम को उत्पन्न करता है। यहाँ मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि काम और क्रोध इन दोनों की उत्पत्तिमें रज और तम ये दोनों कारण होते हैं। परन्तु जहाँ तमोगुणको दबाकर रजोगुणको दबाकर तमोगुण प्रबल पड़ता है वहाँ क्रोध। उत्पन्न होना।

अविद्यमाने सलिले तु शुष्यन् निषद्वरः प्राच्र्छति मृत्तिकात्वम् ।
स्वान्ते तथैवासति कामलेशे न कोपशंकापि पदं करोति।।

अर्थात् जैसे गड्ढे में जल न रहने पर कीचड़ सूखकर मिट्टी हो जाता है, उसी प्रकार अन्तःकरण में काम के न रहने पर क्रोध की आशङ्का भी नही आ पाती।

यावदस्ति जलं,तावन्निर्मल चाविलं तथा।
भासते किन्तु समलमपि कीलालमेव तत् ।।

जब तक जल है तब तक वही विमल और समल दीखत है मलके न रहने पर वहीं विमल, और मल से युक्त होने पर समल, पर है जल हीं, ठीक उसी प्रकार जब इच्छा के साथ रजोगुण होता है तब काम और जब उसमें तमोगुण आता है तब वही क्रोध होता है, पर अन्ततोगत्वा है काम ही।

भेदावुभौ जलस्यैव यथाच्छकलुषाभिधौ।
कामक्रोधौ तथा भेदौ रजसः परिकीर्तितौ।।

जिस प्रकार जलके ही निर्मल और मटमैला ये दोनों भेद हैं, उसी प्रकार रजोगुण के ही काम और क्रोध में दो भेद कहे गये हैं।

जम्बालेनाविलमिव जलमेवोच्यते पयः।
तमो युक्तस्तथा काम रज एवेति गीयते।।

जिस प्रकार जम्बल अर्थात् सेबाल से युक्त जलको जलही कहते हैं, उसी प्रकार तमोगुम से युक्त क्रोध संज्ञक काम को रज ही कहते हैं।

काम एव कथं क्रोध इति चिन्तयतां हृदि।
बोधं गूढतं कञ्चित् स्फोरयति माधवः।।

काम ही कैसे क्रोध है इस प्रकारका चिन्तन करने वालो के मनमे भगवान श्री कृष्ण कोई गोपनीयतम रहस्य स्फुरित कर रहे हैं।

तमोऽत्त विषयाः ज्ञेयाः हृषीकाणि रजोगुणः।
तद्वासनामयः कामो विषयाधारतो भवेत् ।।

यहाँ विषय ही तमोगुण है और इन्द्रियाँ रजोगुण, इस प्रकार विषय के आधारसे

उसी की वासना के कारण काम उत्पन्न होता है अर्थात् उत्पत्ति में विषय सहायक बनता है, पद- आधार इन्द्रियां ही होती हैं, जो राजस हैं।

भूमौ यद्वत्स्थिवति जले यात्यसौ पंकभावम् ।
कालुष्यं द्राग् भजति च तदाधारमेवाभ्रपुष्टम् ।।

पात्रेऽन्यस्मिन्निहितमिह तन्नाविलत्वं जिहीते।
तद् व्युद्युक्तः स हरिभजने क्रोधतां नैतिकामः ।।

जैसे जब जल पृथिवी पर स्थित रहती है तो जल के सम्पर्क से वही पृथ्वी का अंश कीचड़ बन जाता है, फिर वही गड़ढे में पड़ा हुआ आकाश के सम्पर्क से मलिन दिखाई पड़ता है। किन्तु उसीको यदि शुद्ध करके दूसरे स्वच्छ पात्र में रख दिया जाय तो वह मलिन नहीं रह जाता, उसी प्रकार से यदि इसी काम को भगवान के भजन से जोड़ दिया जाये, तब वह क्रोध नहीं बन सकता।

हरिभक्तिकुठारोऽसौ छिनत्ति भवकाननम् ।
तदुद्भवं कामकाष्ठं किन्तु तत्र नियोजयेत् ।।

भगवान की भक्तिका कुल्हड़ा संसाररूप वनको काट डालता है। किन्तु भक्ति के कारण रूप काम को उसमें काष्ठ दण्ड की भाँति भक्ति में जोड़ देने चाहिये।

कामो निर्विषयस्तत्र नितान्तं रजसो लयः।
उदयेशुद्धसत्वस्य भक्तिरित्यभिधीयते ।।

वहाँ काम विषय शून्य हो जाता है, और रजोगुणका नितान्तलय हो जाता है। इस प्रकार शुद्ध सत्वगुणका उदय होनेपर वही काम भक्ति बन जाता है।

यः कामो विषयाश्रितस्तु बलवान् स ज्ञानमार्गे रिपुः।
प्रारब्धं हि बलेन तस्य विषयेष्वासञ्जयत्यञ्जसा।।

वैराग्यप्रवणानपि क्षणमतोऽनिच्छन्त एते क्वचित् ।
पापं चापि चरीकरीति भगवांस्तयानिन्दा ।।

जो काम विषयों का आश्रयकरता है, वही ज्ञानमार्ग में बलवान शत्रु बन जाता

है, और वह प्रारब्धवशात् ज्ञानी के मन को उसीके विषयों में लगा देता है। वैराग्यमें लगे हुए ज्ञानी जनों को भी यह एक क्षण में डिगा देता है, इसीलिये वे इच्छा न करके भी पाप कर बैठते हैं, भगवान ने इसी लिये उसकी निन्दा की।

इस प्रकार आचार्य वामन की गवेषणा और अपने चिन्तन के आधार पर मैं यह कह सकता हूँ कि भगवान यहाँ यही कहना चाहते हैं कि समस्त पापों का बाप है काम, और उसका भी बाप है रजोगुण, अतः निष्काम कर्मयोगरूप भगवदाराधना से रजोगुण के समाप्त होनेपर काम स्वयं समाप्त हो जायेगा, और फिर कोई पाप ही नहीं हो सकेगा ।।श्री।।

संगति- काम ज्ञान का कैसे बैरी है? इस पर भगवान काम के आवरण का प्रकार कहते हैं।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ।।३।३८

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! जिस प्रकार धूम के द्वारा अग्नि ढक लिया जाता है और जिस प्रकार दर्पण मल के द्वारा आवृत्त होता है और जिस प्रकार उल्ब झिल्ली के द्वारा गर्भ आवृत्त रहता है उसी प्रकार यह ज्ञान इस इच्छा नामक काम के द्वारा यह ज्ञान ढक जाता है।

व्याख्या- यथा आदर्श यह पदच्छेद है। अव्रियते शब्द आवृत्त होकर आदर्श शब्द के साथ भी अन्वित होगा। यहाँ क्रम से तीन उपमान युगल का प्रयोग हुआ है। धूम अग्नि, दर्पण मल, उल्ब और गर्भ। ठीक इसी प्रकार तीनों स्थलो पर काम और ज्ञान उपमेय है। ज्ञान तीन प्रकार का हैं, परमात्मा विषयक, जीवात्म नित्यत्व विषयक और संसारनित्यत्व विषयक। इसी प्रकार काम की भी तीन अवस्थायें हैं। इन्द्रियाश्रय, मानसआश्रय, और बुद्धिआश्रय। इन्द्रियाश्रय काम धूम के समान प्रकट होकर अग्निवत प्रकाशमान परमात्म विषयक ज्ञान को ढक लेता है। और मानसा आश्रय काम मल के जैसे उत्पन्न होकर दर्पण के समान प्रतिबिम्बावभासक जीवात्मा के नित्त्व ज्ञान को ढंक लेता है और बुद्धिआश्रय काम जरायु की भाँति सूक्ष्म होता है और यह गर्भ के समान चेतनावान परन्तु अस्पष्ट संसार के अनितत्व ज्ञान को

ढक लेता है। यह मेरी नवीन उद्‌भावना है।

संगति- अब अर्जुन प्रश्न करते हैं कि पूर्व श्लोक में कहा हुआ इंद पदार्थ क्या है? इस पर भगवान कहते हैंश

आवृत्तं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च।। ३।३९

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ- हे कुन्ती पुत्र अर्जुन! अग्नि के समान भी पूर्ण न किये जा सकने वाले काम रूप धारी इस ज्ञानी जनो के नित्य शत्रु द्वारा यह ज्ञान आवृत्त अर्थात् ढक जाता है।

व्याख्या- आवृत्तं शब्द में बाहुलकात् वर्तमान काल में क्ता प्रत्यय हुआ है। चकार इव के अर्थ में है। दुष्पूरेण शब्द खल प्रत्यत से बना है। इस प्रकार भगवान ने काम को ज्ञानी का नित्य शत्रु बताकर अर्जुन को आध्यात्मिक युद्ध करने की भी प्रेरणा दी । ।।श्री।।

संगति- यह काम कहाँ रहता है? इस पर भगवान कहते हैं-

इन्द्रियाणि मनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्यं देहिनम् ।। ३।४०

रा०कृ०भा०- इन्द्रियां मन और बुद्धि ये बारह काम के निवास स्थान कहे गये हैं। इन्हीं के द्वारा यह ज्ञान को ढंक कर जीवात्मा को मोहित कर लेता है।

व्याख्या- सामान्य शत्रुओं के तो छः ही दुर्ग होते हैं परन्तुइस काम रूप शत्रु के दस इन्द्रियां मन तथा बुद्धि ये बारह दुर्ग हैं। यही आश्चर्य है। इन्हीं बारह दुर्गों को माध्यम बनाकर यह ज्ञान को ढंकता है और जीवात्मा को मोहित करके उसके मन में बसी हुई मुझ परमात्मा की स्मृति को समाप्त कर देता है। इसीलिए रासपंचाध्यायी में काम को दण्डित करने के लिए ही भगवान ने ब्रज सुन्दरियों के हार-बाहु, प्रसार२ परिम्भ ३-करालभन ४-अलकालभन ५-उरूवालभन ६-नीव्यालभन ७- स्तनालभन ८-नर्म ९- नखाग्रफान १०- छ्वैल्य ११- अवलोक १२-हसित इन बारह शस्त्रों से

काम के दस इन्द्रिय तथा मन बुद्धि इन बारह दुर्गों को नष्ट किया।

**बाहुप्रसारपरिरंभकरालकोरुनीवीस्तनालभन नर्म नखाग्रपातैः
क्ष्वैल्यावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणामुत्तमयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार।।
मा० १०।२९।४६**

यहाँ व्रज सुन्दरीणाम् का अन्वय प्रथम द्वितीय चरण से होगा और रति पतिं पद स्वतन्त्र है।

उत्तम्भयन् का अर्थ है ऊपर आकाश में लटकाते हुए अर्थात् व्रज सुन्दरियों के बाहु प्रसार आदि बारह क्रिया कलापों से काम देव के बारह किलों का ध्वस्त करके भगवान कृष्ण ने बिना घर-बार वाले काम को ऊपर आकाश में लटका दिया और फिर गोपियों को अपने चरण में रमण कराया ।।श्री।।

संगति- अब मुझे क्या करना चाहिए? अर्जुन के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए मधुसूदन कहते हैं-

**तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं, ज्ञान विज्ञान नाशनम् ।।३।४१**

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ- संस्कृत में ऋषभ शब्द के सिंह और श्रेष्ठ ये दो अर्थ होते हैं। यहाँ दानों ही अभिप्रेत हैं। हे भरतवंश में सिंह के समान श्रेष्ठ अर्जुन सर्वप्रथम तुम इन्द्रियो का नियन्त्रण करके ज्ञान और विज्ञान के नाशक इस पापी काम को पशुओ की भाँति मार डालो।

व्याख्या- आदौ शब्द का तात्पर्य है भीष्मादि के साथ युद्ध करने से पूर्व काम के दस दुर्ग रूप इन्द्रयों को नियन्त्रित करो। स्वस्वरूप के जानने को यहा ज्ञान कहा गया है और परस्वरूप के जानने को विज्ञान। काम इन दोनों को नष्ट कर देता है। इसलिए इस पापी को मारो। यदि अर्जुन को ज्ञानमय अधिकार न होता तो ज्ञानियों के नित्य शत्रु काम को मारने के लिए संगति भगवान अर्जुन को अस्वस्थ ढ़ाढ़स करते हैं कि तुम चिन्ता मत करो क्योंकि तुम आत्मा हो । अतः कह रहे हैं-

**इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः।। ३।४२**

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ- इस श्लोक में पूर्व श्लोक से त्वं पद की अनुवृत्ति होगी। हे अर्जुन स्थूल शरीर से सूक्ष्म इन्द्रियां होती हैं। इन्द्रियों से सूक्ष्म मन, मन से सूक्ष्म बुद्धि, होती है और जो बुद्धि से सूक्ष्म जीवात्मा है वह तुम्ही हो।

व्याख्या- यहाँ पर शब्द सूक्ष्मता का वाचक है। इसी प्रकार कठोपनिषद् में दो श्रुतियाँ पढी. गयी हैं।

इन्द्रेभ्यः पराःह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्दे रात्मा महान्परः ।।क० उ० १।३।१०
महतः परमव्यक्तमव्यक्तता पुरुषः परः
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परागतिः

संगति- अब भगवान प्रकरण का उपसंहार करते हैं।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ।।३।४३

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ- हे महान भुजा वाले अर्जुन! इस प्रकार आत्मा को बुद्धि से सूक्ष्म जानकर और उसे मुझ परमात्मा द्वारा स्वस्थ कराकर जटिलता से वश में आने वाले इस काम रूप शत्रु को मार डालो।

व्याख्या- यहाँ तृतीयान्त आत्मा शब्द परमात्मा परक है। इस प्रकार मेरी सहायता से पहले कामरूप शत्रु को मारो फिर अन्य शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लोगे। ।।श्री।।

गीता अध्याय तृतीय पर रामभद्र आचार्य।
राघव कृपा भाष्य करि प्रभु पुरवैं सब काज।।

इति श्री तुलसीपीठाधीश्वरजगदगुरुरामनन्दाचार्यस्वामीरामभद्राचार्यप्रणति श्री राघवकृपाभाष्य श्रीमद्‌भगवदगीता कर्मयोग नाम तृतीयोअध्यायः

।।श्री राघव शंतनोतु।।

●●

"श्री मद्राघवो विजयते"।।

"श्री रामानन्दाचार्याय नमः।।

चतुर्थोऽध्यायः

मङ्गलाचारणम्-

सुमत्यखिलवन्दितप्रणतपादपाथोरुहः
पुरन्दरपुराङ्गणा भणितभूतिभौम्यंगनः।
नवीनघनसुन्दरो भुजगसोदरो भूधरो,
दयागुणगणाकरो विजयते रघूणां पतिः।।

सुहृच्चतुर्थस्य हरंश्चतुर्थं,
धरंश्चतुर्थीद्युतिमुच्चतुर्थः,
चतुर्थचिन्त्यः सुतभूश्चतुर्थः
श्रुतश्चतुर्थे जयताच्चातुर्थः।।

श्री गीतायाश्चतुर्थोऽमध्यायः कृपया हरेः।
श्रीराघवकृपाभाष्यललाम्ना मण्ड्यते मया।।

अथ भगवतः प्रपन्नचिन्तामणेः मुखपद्मविनिःसृतायाः साक्षाद्भगवद्रूपायाः श्रीमद्भगवद् गीतायाश्चतुर्थाध्यायोऽयचतुरेणाप्यामुनातुरेण विवरि मुपक्रम्यते। पूर्वस्मिन् अध्यायद्वये भगवता ज्ञानमार्गानुगामिनां कृते ज्ञानयोगः भक्तप्रवणचेतसां मृदुचित्तानां ऋजूणां कृते कर्मयोगः। एषा तेऽमिहिता सांख्ये बुद्धियोंगे त्विमां शृणु। गीता २।३९ इति विभागशः पृथक् पृथगुक्तः । वस्तुतस्तु द्ववपि साधनकोटावेव साध्यं तु द्वयोरेकमेव। अतएव साध्यभूता भक्त्यपरपर्याया परमात्मनिष्ठा प्रथमान्ततया निर्दिष्टाद्विविधा निष्ठा' इति। अनयोः कृते तृतीयान्तेन करणीभूतेन निर्देशः ज्ञानयोगेन सांख्यानां,कर्मयोगेन योगिनाम्' (३।३) परन्तु साध्यपर्यालोचनायां द्वयोः प्राप्तव्ये साध्ये एकस्मिन् परमात्मनि पर्यवसिते द्वयोः पृथक्त्ववादिनो भगवतैव 'बाला' इति कथयित्वा गर्हिताः। 'सांख्योगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः' (५।४)

वैलक्षण्यमेद् यत् एकतरेणैव साध्नुवन् साधकः उभपयोरपि फलं विन्दते ज्ञानयोगमनु- तिष्ठन् कर्मयोगस्य, कर्मयोगमनुतिष्ठन ज्ञानयोगस्य। एकमेवाश्रितः सम्यगुभ्योर्विन्दते फलम् (५।४) त एवाअस्मन्नध्याये द्वापि ज्ञानयोगकर्मयोगौ एकत्रैव विवक्षन् पूर्वोक्तप्रकरणमुपसंहरन् सम्प्रदायवंसपरम्परां स्तौति भगवान्नारायणः।

श्रीभगवानुवाच-

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ।।४।१।।

रा० कृ० भा०– हे धनंजय! इममध्यायद्वये प्रोक्तं अव्ययं अनादिकालिकं योगं समत्वक्षणं ज्ञानयोगकर्मयोगाभ्यां पृथग्धाराद्वयं विवस्ते वसतः श्रीसीतारामौ मण्डले यस्य इति विवस्वान् तस्मै विवस्वते भगवते श्री सूर्यनारायणाय। यथोक्तं साम्ब पुराणे-वसत्यदृष्टः सर्वेषु भूतेष्वन्तर्हितो हरिः। धातुर्वसनिवासेऽस्ति विवस्वांस्तेन तूच्यते ।।इति।। अहं श्रीकृष्णसंज्ञः परमेश्वरः प्रोक्तवान् प्रकर्षेण उक्तावान् । विवस्नान् सूर्यनाशरायणश्च निजपुत्राय वैवस्वताय मनवे प्राहगादीत्। मनुर्वैवस्वतः आदिराजाय इक्ष्वाकवे अब्रवीत् प्रावोचत् क्षुते जातं 'इक्षु' इति शब्दमकरोत् इतीक्ष्वाकुः। 'अक् गतौ' अस्माद् बाहुलकात् उण्। उक्तं च हरिवंशे-क्षुवतश्च मनोस्तात! इक्ष्वाकुरभवत्सुतः ।।श्रीः।।

इयं मत्समारम्भा इक्ष्वाक्वन्ता गुरुपरम्परा। पश्चात् अस्पष्टा जाता इत्यत आह-

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ।।४।२।।

रा० कृ० भा०- हे परन्तप शत्रुनाशक! एवमेव परम्परया प्राप्तं कथयितुमशक्यं देशिकनाम्न्यां इमं योगं राजर्षयः विदुः। यथोक्तं ब्रह्मांडपुराणे

मानवे चैव ये वंशे ऐलवंशे च ये नृपाः।
ये च ऐक्ष्वाकनाभागा ज्ञेया राजर्षयस्तु ते।।

एवं महता कालेन अष्टाविंशतिचतुर्युगीमयेन हेतुना सम्प्रतमयं योगः नष्टः विच्छिन्नसम्प्रदायपरम्परो जातः। ननु पूर्वमेतस्याव्ययता प्रोक्ता प्रोक्तवानहमव्ययम् (गीता ४।१) इदानीं योगो नष्ट, इत्यनेन नाश उच्यते इति चेन्न। इह णस

दर्शनाभावार्थकः न तु विनाशार्थः। णस् अदर्शने (धातु सं० ११९४ दिवादिः) अस्मात् क्तः प्रत्ययः। 'व्रश्चभ्रस्ज' इत्यादि शकारस्य नकारः ष्टुत्वं नष्टः लुप्तः। अतएव तस्याहं न प्रणाश्यामि स च मे न प्रणश्यति (गीता ८।१४) इत्यादिः संगच्छते ॥श्रीः॥

अयं योगः पुनरपि मन्नवीनीकृतसम्प्रदाय पारम्पर्यः अनादिः अतएव प्रामाणिकतया चैतस्य श्रद्दधानेन त्वया समनुष्ठेयोऽयमित्यत आह-

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ।।४।३।।

रा०कृ०भा०- स एवायं यो वैवस्वतमन्वन्तरादौ सूर्याय प्रोक्तः स एवायं तदभिन्नोऽयं पुरातनः पुरा प्रोक्तः प्राकर्षेण विभागशः वर्णितः। कथं ? इति शब्दोऽत्र हेतौ। चकारः अन्यसंग्राहार्थः। यतो हि त्वं में मम कृष्णस्य भक्तः प्रपन्नः सखा मित्रं चाकारात् सम्बन्धी शिष्यश्च। तथोक्तं- तव भ्राता मम सखा सम्बन्धी शिष्य एव च। मांसान्युत्कृत्य दास्यामि फाल्गुनार्थे महीपते ॥ इति। हि यतो हि एतत् उत्तमं रहस्यं अभक्ताय अमित्राय अशिष्याय च न कथयितुं शक्यम् ॥श्रीः॥

अथ सकलजीवात्मप्रतिनिधित्वमावहन् श्री धनंजयः जानानोऽपि भगवदवताररहस्यं पूर्वमेव रथं स्थापय मेऽच्युत (१.२४) 'विपरीतानि केशव' (१।३१) 'किं नो रायेन गोविन्द' (१।३५) का प्रीतिः स्याज्जनार्दन (१।३६) 'सुखिनः स्याम माधवः' (१।३७) इत्यादिभिर्भगवन्नामसम्बोधनैः सम्बोध्य निश्चिन्वानोऽपि तं परमात्मानं प्राकृतमनुष्याणां दृशा प्रश्नमुपस्थापयति अपरमित्यादिः।

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद् विजानीयां त्वामादौ प्रोक्तवानिति ।।४।४।।

रा०कृ०भा०- हे प्रभो! भवतः जन्म अपरं इदानीतनम् मम जन्म समकालम् । विवस्तः सूर्यस्य जन्म परमसर्गादौ कश्यपादभूत् । तर्हि तत्कथमहं विजानीयां ज्ञातुं शक्नुयाम् अतिमात्र विरुद्धत्वान् । किं यत्त्वं सर्गस्य आदौ

आगमिमं सूर्याय प्रोक्तवान् । तस्मिन् समये तवानाविर्भावेन समुपस्थितेरसम्भवात्। तदानीं केन देहेन सूर्याय भवान् योगं प्रोक्तावान् अनेन वा केनचिदपरेण? तर्हि कथं भवतः स्मरणं? यदि चेत् जातस्मरत्वेन? तर्हि तस्य सर्वयोग साधारतया तेभ्यः किं वैलक्षण्यं भवतः? अतः आह भगवान् अवतारप्रकरणं षड्भिः। ।।श्रीः।।

संगतिः- तत्र प्रथमं पार्थस्याल्पज्ञत्वं स्वस्य च सर्वज्ञत्वं साधयति

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तीन्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप।।४।५।।

रा०कृ०मा०- हे अर्जुन! परिपूतान्तःकरण। तव मम च बहूनि अनेकानि जन्मानि व्यतीतानि। मम जन्मानि लीलया तव जन्मानि च धर्माधर्मवशात् । हे परन्तप! हे शत्रुनाशक। तानि सर्वाणि मदीयानि त्वदीयानि च जन्मानि अहं सर्वेश्वर सर्वन्तर्यामी वेद जानामि सर्वज्ञतया। त्रिकालाबाधितज्ञान-त्वाच्च। किन्तु त्वं न वेत्थ अणुत्वात्, मदपेक्षया स्वल्पज्ञत्वाच्च। सर्वज्ञस्तु परमेश्वर एव यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः (मुण्डक २।९) इति श्रुतेः। वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन। भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन।। गीता ७।२६ इति स्मृतेश्च ।श्रीः।

ननु परमेश्वरस्य ते धर्माधर्मवर्जितत्वात् कथं धर्मो घटते। नित्यत्वात् एकत्वात् विभुत्वाच्च। कथं कौसल्यादेवकीप्रभृतीनां परमसौभाग्यशालिनीनां मातृणां गर्भे वासः। अपरिच्छिन्नः कथं परिच्छिन्नो भवति। व्यापकः कथं व्याप्यः स्यात्। अतिशयेन बृहद् ब्रह्म कथं बालकत्वायोपपद्येत? निरंजने कथं सांजनता? सर्वदेशवर्तिनस्ते कथमेकदेशवर्तित्वम् ? इति सर्वान् प्रश्नान् समादधानो जनार्दनो वदति-

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया। ४।६

रा० कृ० भा०- सत्यमेव मपि सकलधर्मविरुधर्माश्रयतावच्छेदकतावत्वात् सर्व समंजसम् । ईश्वरो नाम कर्तुमकर्तुं अन्यथाकर्तुं समर्थः। अतएव पश्य?

अजः अजन्मा अपि सन् भवन् कौसल्यादेवकीआदितः जाये। अव्यःयुः अपरिवर्तनशीलः आत्मा स्वरूपं यस्य सोऽव्ययात्मा अपरिवर्तनशीलस्वरूपोऽपि क्षणे क्षणे परिवर्तनशीलो भवामि।कदाचिद् बालः कदाचित् किशोरः कदाचिद् युवा। अवस्था अपि अनेका अनुभवामि। किं बहुना? कंसंवधप्रसंगे रंगस्थं मां एकमपि द्वादशधा जना अपश्यन् । तद्यथा-मल्लानामशनिर्नृणां नश्वरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान् गोपानां स्वजनोषांसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः। मृत्युर्भोजयतेर्विराडविदुषां तत्वं परं योगिनांम्, वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रंगं गतः साग्रजः। भागवत २०।४३ एवं अजोऽपि सन् जायमान इव अव्ययात्मा सन् परिवर्तनशील इव भूतानां ब्रह्मादिस्तम्ब- पर्यन्तानां ईश्वरः नियन्ता सन्नपि नीश्वरो नियम्य इव आत्ममायया निजमायया निजाचिन्त्यलीलया स्वां स्वींकीयां प्रकृतिं स्वरूपभूतां चिच्छक्तिं अधिष्ठाय केचन प्रकृतिशब्देन वैष्णवीं मायां इति व्याचक्षते, आत्ममायया इति पौनरुक्त्यात् तन्न। वस्तुतः प्रकृष्टा कृतिः यस्या सा प्रकृतिः भगवत्स्वरूपा शक्तिरेव स्वाभाविकी। 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'। इति श्रुतेः सम्भवाम सम्यगभमवामि। सम्यत्त्वं च रजः शुक्रयोनिद्वार मिंथुन धर्मादि रिपेक्षत्वेन। गर्भाधानमपि विलक्षणम। श्री राम ज्य गर्भाधानं तु कौसल्यायां दशरथस्य विर्दानिरूपम् । तथाहि-श्री रामज्य गर्भाधानं तु कौसल्यायां दशरथस्य विर्दानरूपम्। तथाहि- श्री वाल्मीकीये-

ततस्तु ताः प्राश्यं तमुत्तमं स्त्रियो महीपतेरुत्तमपायसं पृथक्।
हुताशनादित्यज्ञसमानतेजसोऽचिरेण गर्भान् प्रतिपेदिरे ततः

(वा० रा० बालकाण्ड १६।३१)

अतएव श्रीमानसेऽपि-

एहि विधि गर्भ सहित सब नारी।
भईं हृदय हर्षित सुख भारी ।। (मानस १।११९०।५)

रूपान्तरम्

एतेनैव प्रकारेण सर्वा वै राजयोषितः।
बबूवुर्लब्धगर्भास्ताः सुखहर्षयुता हृदि।।

यद्वा- 'माया कृपायां लीलायां' इति कोशात् मायाशब्दोऽत्रकृपावाची। तथा आत्मसु नित्यमुक्तबद्धेषु जीवात्मसु मया कृपा इति आत्ममाया तया

आत्ममायया जीवाधिकरणककृपया स्वां प्रकृतिं निजस्वभावमे व आधारीकृत्य भक्तवत्सलत्वादि गुणानामाविश्चिकीर्षया सम्भामि। नव भगवदवतारे काचिच्छ्रुतिरपिप्रमाणाम्

इति चेदस्त्येव। तथाहि शुक्ल यजु संहिता श्रुतिः-

'प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तर जायमानो बहुध विजायते। तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीराः। तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वाः'। एतदर्थः। प्रजानां पतिर्भगवान् श्रीसाकेत विहारी (शुक्ल युजुर्वेद ३१।१९) श्री रामः कृष्णादिसंज्ञः अन्तः गर्भे कौसल्या देवकी प्रभृतीनां गर्भे चरति। अजायमानः योनिद्वारनिरपेक्षः सन् कौसल्यया प्रार्थ्यमानः श्रीरामवतारे चतुर्धा कृष्णाऽतारेऽपि द्विधा विजायते 'प्राकृत बालक' मनुकुर्वन् समाविर्भवति। तस्य परमात्मनः योनिं तज्जन्मरहस्यं धीराः परपिश्यन्ति परक्त्विप्ताः जानन्ति। तस्मिन् परमात्मनि विश्वा भुवनानि सम्पूर्णानि भुवनानि तस्थुः स्थितानि। एवमेव श्रीकृष्णावतारेऽपि वसुदेवो देवक्यां नैव मिथुनक्रियया भगवद्रूपं गर्भमाधापयति प्रत्युत मानससङ्कल्पेन। अत आह भगवान् बादरायणिः- आविवेशांशभागेन मन आनकदुन्दुभेः।

इत्युपक्रम्य ज्ञापितं यद्भगवान् वसुदेवस्य मन (भागवत १०।३।१६) आविवेशनत्वितरजीवसाधारण्येन पितुः शुक्रम् ।

तमेवार्थं स्पष्टयति-

**''ततो जगन्मंगलमच्युतांसं,
समाहितं सूरसुतेन देवी।
दधार सवत्मिकमात्मभूतं
काष्ठा यथानन्दकरं मनस्तः।।**

मनस्त इत्यत्र तृतीयार्थे तसिः मनसा इति यावत् । ततः शूरसुतेन मनस्त समाहितं अच्युतांशं सर्वात्मकं आत्मभूतं जगन्ममंगलं देवी आनन्दकरं काष्ठा यथा दधार इत्यन्वयः। वसुदेवेन मनसा सङ्कल्पेन समाहितं मर्भाधानविषयोकृतं मच्युताः अंशा यस्य एवं विधं मात्मभूतं आत्मन इव अणु गमें प्रवेष्टुम योग्यं भूतं रूपं यस्य तम् । विर्भुत्वात् गर्भ प्रवेष्टु योगंय

भूतं रूपं यस्य तम् । विभुत्वात् गर्भे प्रवेशानुपपत्तेः। सर्वेषां, मात्मनां कं सुखं यस्मात् सः सर्वात्मकः तं सर्वात्मकम् जगन्मंगलं परमात्मानं आनन्दमया कराः किरणा यस्य स आनन्दकरः तं आनन्दकरं चन्द्रं काष्ठा यथा पूर्वादिशेव दधार। न च मनस्तः आनन्दकरं काष्ठा यथा इत्यन्वयः स्यात् इति वाच्यम्। पूर्वदिशायाः मनसः सकाशात् चन्द्रमसः धारणस्य क्वापि प्रमाणानुपलभ्मात्। "चन्द्रमा मनसो जातः" इति तु आध्यात्मिकचन्द्रचर्चा। चन्द्रमसोऽवतारस्तु अत्रैव नेत्रज्योतिसकाशात् इति पौराणिकाः। अतएव अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरद्रेरिव द्यौः, इत्याह कालिदासः रघुकाव्ये। इत्यलमतिविस्तरेण। आत्मसु कृपया स्वस्वरूपाप्रच्युत्या भगवान् समवतरति। यत्तु शङ्कराचार्यःस्वगीताभाव्यभूमिकायाम्

स च भगवान् ज्ञानैश्वर्य शक्तिबलवीर्यतेजोभिः सदा सम्पन्नः त्रिगुणात्मिका वैष्णवींस्वां मायां मां मूलप्रकृतिं वशीकृत्य अजः अव्ययो भूतानां ईश्वरो नित्य शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽपि सन् वमायया देहवानिव जात इव च लोकानुग्रहं कुर्वन् लक्ष्यते। यच्च तत्र मधुसूदनसरस्वतीपादाः-

"नित्यो यः कारणोपाधिर्मायाख्योऽनेकशक्तिमान् ।
स एव भगवद्देह इति भाष्यकृतां मतम् ।।

निर्गुणे शुद्धे सच्चिदानन्दरसघने मयि भगवति वासुदेवे देहदेहिभावशून्ये तद्रूपेण प्रतीतिर्मायामात्रमित्यर्थः। केचित्तु नित्यस्य निरवयवस्य निर्विकारस्यापि परमानन्दस्याववयवावयवभिावं वास्तवमेवेच्छन्ति ते' निर्युक्तिकं ब्रुवाणस्तु नास्मभिर्निवार्यन्ते' इतिन्यायेन नापवाद्याः।"

इदं सर्वमनर्गलम् । मायामयशरीरत्वे भगवतः तस्मिन् मिथ्यात्वापत्तिः स्यात्। अतएवाअखण्डस्सच्चिदानन्दघनस्य परमात्मनः मायिकशरीरत्वे तत्र ध्यानाद्यनाप्तौ 'वेदाहमेतं तत्र पुरुषं महान्तम् आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।" तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" यदि चेत् नित्यकारणोपाधिर्माया भगवच्छरीं तदोपाधेरावर्तकधर्मत्वेन भगवत्यावृतत्वापत्तिः। न चेष्टापत्तेः 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इत्यादि श्रुतिसहस्राणां अप्रामाण्यापत्तेः। नित्यकारणोपाधिशरीरत्वेन कस्य किमाश्रय इति वाच्यम् माया ब्रह्म आश्रयते इति चेत् असम्भवम्। न हि

सूर्यमासृतं तमः केनचिद् दृष्टम् । न वा शरीर शरीरस्धारः श्रुतः दृष्टोवा। यदि चेद? भगवानेव माया मा श्रयते तावन्मायायाः स्वरूपं वाच्यम् । सदसद्भ्यां अनिर्वचनीया इति चेत् - अनिर्वचनीयं वस्तु कथं निश्चितः पदार्थ आश्रयेत्? कथं शून्यमाकाशंमित्यवलम्बनं भवेत् । यदि चेनित्या माया तर्हि नित्यपरमात्मा तामनित्यां कथमाश्रयेत् । यदि चेत्नित्या तर्हि तस्यां मायानित्यतायां काच्छ्रुतिः प्रामाण्येनोपन्यस्या। असत् चेत्: सत्सवरूपपरमात्मा तां कथमालम्बेत। न हि असत्ये जले हरिणः स्नाति। किं बहुना, माया चेच्छरीरं तदा श्रुतिविरोधः। 'स भगवान्: कस्मिन् प्रतिष्ठितः'? इति पृष्टे सनकादिः प्राहन स्वे महिम्नि। भगवान्- निजमहिम्नि तिष्ठति। न माया भगवतो महिमा। अतएव यद्यपि भगवतः पृथग् देहीभावोनोपपन्नः तथापि श्रुतिवचनबलात् भगवदिच्छामस्य नित्यदेहस्य परिकल्पयितुं शक्यः। 'आकाशवत् सर्वगश्च नित्यः'। 'मनोमयः प्राणशरीर आत्मा'। 'आकाशशरीरं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतेः। 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' इतिब्रह्मसूत्राच्च। भगवतोऽवयवावयविभावे पुराणेष्वनेकानि प्रमाणानि। नित्यसिद्धं न हि युक्तिसाध्यं भवति। नहि प्रचण्डकिरणमण्डलस्य भगवतो भास्करस्य साधने युक्तय उपादीयन्ते, तथापि श्रुतिषु, भगवतः करचरणादीनां स्पष्टं वर्णनानि मिलन्ति।

''सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपाद्''

किं बहुना भगवतो विरवयवत्वकल्पनायां मधुसूदन सरस्वतीपादानां 'वंशीविभूषित करात्' इति वंशीविभूषितकरत्वं कथं घटेत? यदि इमसत्यम् । तर्हि एतद्रचनाकारोऽप्यसत्यवादी। एवं चासत्यवादिनः सर्वाण्यपि वाक्यानि असत्यानि। अतोऽलम् असत्यवादिभिः. सह भाषणेन। किञ्च यद्यत्सावयवं तत्तन्नित्यं, कार्यत्वाद् घटवत् इत्यनुमानप्रामाण्ये ब्रह्मणः सावयवत्वसाधने तस्मिन् न नित्यत्वापत्तिः। योनिमत्वहेतुक भोग्यत्वसाधकानुमानस्य भगिन्यादिव्यभिचारवारणाय तस्याप्रामाण्यवत् वेदबोधित नित्यत्ववारणाय एतस्याप्यप्रामाण्यत्ववारणाय एतस्याप्यप्रामाण्यम् । श्रीः।

अत कदा त्वमवतारं गृहणासि? इत्यत आह-

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।४।७।।

रा० कृ० भा०- हे भरतवंशोद्भव! हि निश्चयेन, यदा यदा यस्मिन् यस्मिनकाले धर्मस्य तत्सम्बन्धिनी ग्लानिर्भवति तथा अधर्मस्याभ्युत्थानम् तदा तदा अहमात्मानं सृजामि। ननु ग्लानिशब्दः हर्षक्षयार्थक ग्लै धातोः निष्पन्नो भवति, हर्षश्च मूर्तिमति भवति। धर्मः खलु न मूतिमान् । तर्हि कथं धर्मस्य ग्लानिरिति भगवता प्रयुक्तम्। ग्लैम्लै हर्षक्षयं (९०३ भ्वादिः) इति चेत् - लक्ष्यानुरोधेन हर्षशब्दस्य मोदे क्षयशब्दस्य च हान्यर्थकत्वेनदोषात् । इत्थमेव प्राचीनभाष्यटीकाकृद्भिचन्द व्याख्यातचरस्त्वात् .समर्थितं चैतत् हुलसाहर्षवर्वधैः श्री गोस्वामी तुलसीदास चरणैः

''जब जब होय धरम कै हांनी। बाढहि असुर महा अभिमानी।
तब तब प्रभुधरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा।।
मानस १।१२१।६।८ पदाहिधर्मस्य हानि

रूपान्तरम् -

यदा यदैव धर्मस्य हानिर्भवति दारुणा।
महाभिमानिनश्चैव वर्धन्ते असुराःकिल।।

तदा तदा प्रभुर्धृत्वा शरीराणि बहूनि वै।
सज्जनानां हरत्येषः पीडामपि कृपानिधिः।।

यद्वा-धर्मोऽत्र 'अर्श आद्यजन्तः' धर्मः अस्ति अस्मिन् इति धर्मः धर्मवान् तस्य धर्मस्य धर्मवतो जनस्य धार्मिकस्य यदा यदा ग्लानिर्हर्षक्षयो भवति अधर्मस्य धर्मविरुद्धभावस्य अभ्युत्थानं भवति तदाहमात्मानं सृजामि प्रकटितगुणं करोमि। इमामपि व्युत्पत्तिं श्री तुलसीदास महाराजाः समर्थयन्ति कथाच्छलेन चक्रवर्तिने श्री दशरथाय-

धर्मधुरन्धर गुणनिधि ज्ञानी। इति विशेषणेन भूषयित्वा पुनः- एकबार भूपति मनमाही। भई ग्लानि मोरे सुत नाहीं। (मानसबाल १९९।१)

रूपान्तरम् -

एकस्मिन् समये राज्ञः कौसलानां महीपतेः।
ग्लानिश्चेत्थमभून्नूनं मम पार्श्वे सुतो नहि।।

यद्यपि धर्मोऽपि स्वयं मूर्तिमान् देवता अतएव पौराणिकाः धर्मस्य श्रद्धाद्यास्त्रयोदश पत्न्यः आमनन्ति तस्माद् यदा धर्मस्य नरनारायणःपिः मनसि ग्लानिर्भवति तदा भगवदवतारो जायते।

यथोक्तं भागवते-

'धर्मस्य दक्षदुहितर्यजनिष्ट मूर्त्याम्' (भागवत २।७।६)

अथवा धर्मो भगवान् 'धर्मो धर्मविदां श्रेष्ठः' इति विष्णुसहस्रनामोः ''ततश्च धर्मोऽन्तरितो महात्मा'' (महाभारत २।६७।४६)

अस्मिन् पक्षे अभ्युत्थानमित्यत्र 'दृष्ट्वा' इत्यध्याहार्यम् ।

यदा यदा अधर्मस्य अभ्युत्थानं दृष्ट्वा धर्मस्य मम भगवतः श्रीकृष्णस्यैव ग्लानिर्हर्षक्षयो भवति हे भारत! तदाहमात्मानं सृजामि अत्र आत्मा शब्दः शरीरवाची 'आत्मा शरीरे' इति कोषात् । अर्थात् यदा-यदा अधर्मस्य उत्थानम् दृष्ट्वा धर्मस्य मम परमात्मनः ग्लानिः हर्षक्षयोः भवति तदा अहं परमात्मा आत्मानं शरीरं सृजामि। ब्रह्मा न सृजति न वा स्रष्टुं शक्नोति। अहं निजेच्छया रचयामि। अतएव मानस काराः श्री राम जन्मनि प्राहुः-

निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार। इति वयम् ॥श्रीः॥

अनन्तरं किं करोषि? इत्यत आह परिमाणपरायणो नारायणः

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ।।४।८

रा० कृ० भा०- साधूनां सन्मार्गगामिनां साधकानां श्री वैष्णवानाम् परितः चतुर्भिर्भुजैस्त्राणाय दुष्कृतां दुष्कर्म कारिणां असुराणां विनाशाय धर्मस्य वैदिक धर्मस्य सम्यक् स्थापनाय युगे युगे प्रत्येकं युगे सम्भवामि। अत्रेदमवधेयम्-भगवान् सच्चिदानन्दमूर्तिरवतरति तत्र सदंशेन साधून् परित्रायते, चिदंशेन दुष्टान् विनाशयति। आनन्दांशेन धर्मं स्थापयति। अनेनैव क्रमेण श्री कृष्णलीला समनुसन्धेया। तत्र ब्रजलीला साधूनां परित्राणाय, मथुरालीला दुष्कृतां विनाशाय द्वारिका लीला च धर्मसंस्थापनाय। यद्वा भगवतः प्रत्येकं लीलायाम् इदं हेतुत्रयमनुसन्धेयम् यथा- ब्रजलीलायामेव गोवर्धनधारणदावाग्नि पानादिभिः साधूनां

परित्राणं, पूतनादिबधादिभि: दुष्टानां विनाश:। रासलीलया धर्मसंस्थापनम् ।

विस्तरस्तु स्वयमूह्य:। सम्भवामि युगे युगे इत्यत्र श्री रामरूपेण दशरथ कौसल्या युग्मे, श्री कृष्णावतारे वसुदेव देवकीयुगे। युगशब्दोऽत्रयुगलपर्याय:।

"वंद्यं युगं चरणयोर्जनकात्मजाया:" इत्याह कालिदास:। अथवा युगे युगे त्रेता युगे रामरूपेण द्वापरयुगे कृष्णरूपेण। यद्वा युगे युगे इत्यत्र अकार प्रश्लेष:। युगे अयुगे। कदाचित् माता पितरं युग्मीकृत्य श्रीरामकृष्णादि रूपेण कदाचिच्च अयुगे युग्मभिन्ने एकमेव जन्म निमित्ती कृत्य यथा नृसिंहादौ इति वयम् ।

ननु भगवदवतारेण साधकानां को लाभ?: इत्यत आह-

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्वत:।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ।।४।९।।

रा० कृ० भा०- हे अर्जुन! मम जन्म कर्मादिकं प्राकृतस्येव न भवति। तद् ज्ञानेनैव जीवस्य कल्याणं। किं पुनर्दर्शनेन मे मम भगवतो वासुदेवस्य जन्म अवतार: प्राकट्यं वा कर्म वेदधर्मानुकूलो व्यापार:। चकारेण नामरूपलीलाधामानि एतत्सर्वं दिव्यम् अवाङ्मनस् गोचरम् । अतर्क्यभावं निरतिशयत्रमानंदमयं भवति यद्वा दिवि भवं दिव्यम् । द्यौ: साकेताभिन्नगोलोक: महावैकुण्ठश्च मम प्रत्येकं जन्म कर्म च दिवि भवं साकेतगोलोकवैकुण्ठघटनासम्बद्धं भवति न प्राकृतम्। यथा- साकेताधीशेन मया मनवे दत्तपरिणामभूता रामलीला एवं गोलोकाधीशेन मयैव नन्दयशोदाभ्यां दत्तवरपरिणामभूता कृष्णबाललीला तथैय महावैकुण्ठघटित जयविजयव्यतिक्रमजन्यकोपसनकादिशापानुसारिणी वराहावतारचतुष्टयलीला। एवमन्यत्राप्यूह्यम् । य: कश्चन एवं पूर्वोक्तं हेतुत्रयानुसारं वेत्ति जानाति विभावयति च स पांचभौतिकं शरीरं त्यक्त्वा पुनर्जन्म नैति जन्ममरणमयं संसारं न गच्छति। स तु मां परमात्मानधेव एति प्राप्नोति। मम सामीप्यमुक्तिभाग् भवति ।श्री:।

ननु कथं भवतो जन्म कर्म चरित्राणि जानन् मुक्तो भवति? इत्यत आह-

वीतरागभयक्रोधा मन्मया: मामुपाश्रिता:।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्‌भावमागता: ।।४।१०।।

रा० कृ० भा०- यतोहि मम जन्म कर्मलीलासु वैशिष्यमैतत् मज्जन्म चिन्तनेन मयि कलितानुरागो रागं विजहाति संसारे। मत् कर्मसंकीर्तनेन मल्लब्धाभयो वीतभयो भवति। मल्लीलागानेन लब्धप्रपन्नबोधो विगतक्रोधो भवति। ये मम भगवत: पूर्वोक्तचिन्तनेन मन्मया: अहमेव प्रचुरो येषु ते मन्मया:। यद्वा अहमेव मन्मय:, ममयोऽस्ति येषां ते मन्मया: वीता: रागभयक्रोधा: येभ्यस्तथाभूता: माम् भगवन्त– मुपाश्रिता: अत्यन्तं प्रपन्ना:। बहव: अनेके साधका: हनुमदादय: मज्जन्मकर्मरहस्य ज्ञानमेवतप: ज्ञानतप: तेन ज्ञानतपसा पूता: पवित्रितबाह्यान्तरा: मयि भगवति सच्चिदानन्दधनरसे भाव: सेव्यसेवकभाव: शान्तवात्सल्यदास्यसख्य मधुरेष्वन्यतमभावमागता: यद्वा मयि परमात्मनि भाव: स्वस्थिति: मम चरणारविन्द, संनिधि: तमादरेण गता:।श्री:।

ननु यदा भक्ता भवन्तमायान्ति तदा भवान् किं करोति इति जिज्ञासामालक्ष्य निजगाद जगदीश्वर:

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्या: पार्थ सर्वश: ।४।११।।

रा० कृ० भा०- पार्थ! यथा त्वं मां मित्रभावेन प्रपन्न: तथा मयापि मित्रभावेन स्वीकृत:। पुन: शिष्यत्वेन प्रपन्नं त्वां तद्‌भावेन भजन् त्वां तथैवोपदिशामि। तद्वदिहापि- ये जना: मां यथा येन प्रकारेण पंचभावेसु एकतमेन येनाभि प्रपद्यन्ते तमहं तेनैव भावेन भजामि स्वीकरोमि। अतएव सर्वश: सर्व एव मनुष्या: मम वर्त्म मार्गं अनुवर्तन्ते। यो यथा व्यहरति तेन तथैव व्यवहरन्ति। यद्वा अनुवर्तन्ते इत्यत्र लिङ्‌र्थे लट् 'मनुष्या:' मम वर्त्म अनुवर्तेरन् तथा त्वयापि कौरवेषु मृदुना न भाव्यम् । युद्धमेव करणीयं तै: सह ।।श्री:।।

ननु एवं प्रपन्नपालकं भवन्तं प्राप्यापि जना: इतरदेवानामुपासनां कथं कुर्वन्ति इत्यत आह कारुणिकशिरोमणिर्भगवान् -

कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा। ४।१२।।

रा०कृ०भा०- केचन शीघ्रफलावाप्तिकांक्षिणः कर्मण्णां तत्तद् देवोद्देश्यताकानां अनुष्ठानानां सिद्धिं कांक्षन्तः अभिलषन्तः इह अस्मिन् संसारे देवताः इन्द्राद्याः मदन्याः यजन्तेय। अतएव अस्मिन मानुषे लोके (इह विषये सम्पतर्मा) मर्त्यलोकविषयिणी कर्मभ्यो जाता कर्मजा लौकिकी सिद्धिः न तु पारलौकिकी सिद्धिःहि निश्चयेन भवति। अतः लौकिकीं सिद्धिं कांक्षन्तः देवानुपास्य तां लभन्ते। अलौकिकं लाभं लब्धुं अहं उपास्यः। यथा त्वयैव दिव्यास्त्रप्राप्तयै इन्द्रः उपासितः। पाशुपतास्त्रप्राप्तये शिवः समर्चितः।

किन्तु संसारवृक्षछेदनाय नेमानि क्षमाणि अतो मत्तोऽसङ्ग शस्त्रं लभस्व इति भगवतो निगूढम् । श्रीः॥

पुनः प्रकृतविषयं विवृणोति सिधावलोकनन्यायेन यद् वा पूर्वश्लोकोक्तं स्ववर्त्म समनुवर्तमानानां मनुष्याणां कृते स्वकीयमकर्तृत्वं विवृणोति। यत् यथा "चातुर्वर्ण्यं" रचयित्वाप्यहं कर्तृत्वाभिमानशून्यः, तथैव मम वर्त्मानो वर्तमानैः मानवैरपि कर्तुत्वाभिमानशून्यैर्भवितव्यं इत्यत आह-

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम् ।।४।१३।।

रा० कृ० भा०- गुणानां कर्मणां विभागः यास्मिन् तद् गुणकर्मविभागम्। गुणकर्म विभागमेव गुणकर्मविभागशः। 'सर्वस्य द्वे' (अष्टाध्यायी ८।१।१) इति सूत्रे एकैकशः इति महाभाष्यप्रयोगात् अत्यन्त स्वार्थिकोऽपि शस् प्रत्ययः इति ज्ञाप्यते। तथा गुणकर्मविभागवत् चतुर्णां वर्णानां समाहारः चतुर्वर्णम् । चतुरवर्णमेव चातुर्वर्ण्यं मयैव वेदात्मना परमपुरुषेण सृष्टम् रचितम् । तस्य चातुर्वर्ण्यस्य च कर्तारं रचयितारमपि माम्अव्ययं कर्मणामकर्तारमेव विद्धि । 'यस्य निः श्वसित मेतद् ऋग् यजुः साम' इत्यादि श्रुतेः। कर्म कुर्वन्नपि अहमात्मनि कर्तृत्वं न धारये तथा त्वमपि युद्धं कुर्वन् कर्तृत्वं मा धारय॥श्रीः॥

किंच मच्चिन्तनेन अकर्तृत्वेन च त्वयि कर्मलेपोऽपि न भविष्यति, इत्यत

आह द्वाभ्याम् -

"न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ।।१४।।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ।।१५।।

रा० कृ० भा०- मां परमेश्वरं कर्माणि न लिम्पन्ति, न मलिनयन्ति, यतो हि मे कर्मणां फले शुभे स्पृहा न हि, अशुभे द्वेषोऽपि नहि इत्युपलक्षणम्। इति एवं विधं यः अभिजानाति अभीष्टतया वेत्ति, सकर्मभिः न बध्यते, नैव बद्धः क्रियते। एवं मां कर्मलेपवर्जितं त्यक्तकर्मलेपवर्जितं स्पृहं ज्ञात्वा पूर्वैः मुमुक्षुभिः मोक्षाकांक्षिभिः जनकादिभिः ज्ञात्वापि कर्मैव कृतं, अहमपि नित्यज्ञानवान् भवन्नपि कर्म एव करोमि, न तु कर्म नारभे, न वा संन्यस्यामि। तस्मात् पूर्वैः जनकादिभिः रतादिभिश्च तव पूर्वजैः, पूर्वतरं अतिशयेन पूर्वं न त्ववैदिकतया सांप्रतिकं, यद्वा पूर्वान् अतारयत् संसारसागररात् इति पूर्वतरं, अतस्त्वामपि तारयिष्यति, तादृशं कर्मैव कुरु। एव कारेण विकर्माकर्मणोर्व्यवच्छेदः ॥श्रीः॥

ननु तत्र भवता, कुरू कर्मैव इत्यादिष्टं, तत्र एवकारः स च विशेषेणान्विततया अन्ययोगव्यवच्छेदार्थः। तर्हि कर्मभ्योऽप्यन्यदस्ति किमपि, यद् भवतैवकारेण व्यवच्छिद्यते, यदस्ति तस्य किं स्वरूपं? इति पिपृच्छिषावन्तं किरीटि नं प्रति वदति वदतां वरो वनमाली-

"किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।।१६।।

रा० कृ० भा०- कवयः मनीषिणः "कविर्मनीषी" इति श्रुतेः। "कवयः क्रान्तद्रष्टारः" इति निरुक्तेश्च, किं कर्म कर्मणः किं स्वरूपं, किं अकर्म अकर्मणः किं स्वरूपं, कर्म शब्दः विकर्मणोऽप्युपलक्षणम् । इति एवं अत्र अस्मिन् विषये कवयः मनीषिणोऽपि मोहिताः। यद् वा कविरत्र भगवान् "कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः" ईशाः २००८ "कविं पुराणमनुशासितारं" गीता ८-९ इत्युक्तेः। तस्यैव बहुवचनं कवयः कर्म किं, अकर्म किं इत्यत्र मदंशरूपा : कवयः

केचन मदवतारा: परशुराम: बुद्धादयोऽपि मोहिता:, परशुरामेण पितुराज्ञां वरीयसीं मत्वा स्वमाता निहता। यद्यपि "पितुर्दशगुणा माता गौरवेणातिरिच्यते" इति नियमात्, तत्र पित्राज्ञापालनं विकर्मैं वासीत् । किंच परशुरामेण सतापि मदंशावतारेण स्वकर्म शमदमादिकं त्यक्त्वा विकर्मरूपं क्षात्रधर्मोचितं आयुधधारणं कृतम् । न च तत्तु सहस्रार्जुनवधनिमित्ततया समुचितमेव इति वाच्यम्, तत् वधानन्तरमपि निरपराधक्षत्रियकदन प्रवृत्तत्वेनानुचितत्वात्, अत एव कश्यपेन तन्निवारणम् । किंच श्रीरामरूपेण मया तस्मिन्नवतारे वर्णाश्रमधर्मपरिपिपा लायिषया पूर्वं परशुरामादायुधं गृहीत्वा, स वर्णाश्रमोचितब्राह्मणधर्मे नियोजित: यथा श्रीमद वाल्मीकीये-

"वीर्यहीनमिवाशक्तं क्षत्रधर्मेण भार्गव।
अवजानासि मे तेज: पश्य मेऽद्य पराक्रमम् ।।
इत्युक्त्वा राघव: क्रुद्धो भार्गवस्य वरायुधम् ।
शरं च प्रतिजग्राह हस्ताल्ल्घुपराक्रम: ।। वा० रा० १-७६-३,४

परशुरामोऽपि मदंश:, त्वमपि, परशुरामो ब्राह्मणो भवन् क्षात्रं स्वीकृतवान् त्वं च क्षत्रियो भूत्वा ब्राह्मणधर्मं स्वीकरोषि। परशुरामस्य मया त्रोटितपूर्वे जीर्णे स्वगुरो: शिवस्य धनुषि ममता, तव च मया निहतपूर्वेषु भीष्मद्रोणादीनां जीर्णेषु देहेषु ममता, अतो द्वावपि समानौ। तत्र क्षरस्य धनुष: अक्षरस्य तेन नाशयितुं दु:शकस्य कुमारलक्ष्मणस्य, तावती तस्य क्षराक्षराभ्यां परस्य मम यथार्थज्ञानेन परशुराम भ्रमभङ्ग:। तवापि पञ्चादशाध्याये व्याख्यास्यमानानां मह्यं धनुर्वाणौ दत्तौ, त्वया च शोकमोहौ दातव्यौ। एममेव मदंशो भूत्वापि बुद्ध: सर्वं वेदविरुद्धं प्रवक्ष्यति विकर्म। बलरामोऽपि मां परमात्मानं जानन् स्यमन्तकमणिविषये मयि अन्यथैव समशङ्कत। यथा श्रीमदभागवते-

"तथापि दुर्धरस्त्वन्यैस्त्वय्यास्तां सुव्रते मणि:।
किन्तु मामग्रज: सम्यङ् न प्रत्येति मणिं प्रति।। भा० १०-५७

किञ्च जानन्नपि दुर्योधनं विकर्मरतं बलभद्रस्तत्प क्षमेव गृहीतवान् यथा दुर्योधन वधात् निषेधन् भीमसेनं आह-

"युवां तुल्यबलौ वीरौ हे राजन् हे वृकोदर।
एकं प्राणाधिकं मन्ये उतैकं शिक्षयाधिकम् ।।

तस्मादेकतरस्येह युवयोः समवीर्ययोः।
न लक्ष्यते जयोऽन्यो वा विरमत्वफलो रणः।। भा० १०-७९-२६,२७

श्री भारतेऽपि बलभद्रेण दुर्योधनं प्रति स्पष्टं पक्षपाततोक्तो दुर्योधनं प्रति यथा शल्यपर्वणि-

ततो लाङ्गलमुद्यम्य भीममभ्यद्रवद् बली।
तस्योर्ध्वबाहोः सदृशं रूपमासीन्महात्मनः।।

बहुधातुविचित्रस्य श्वेतस्येव महागिरेः।। म० भा० श० ६०-९,१० किंच अधर्मनिरताय दुर्योधनाय श्रीबलभद्रस्य सुभाशीषोऽपि अग्रे त्वयैव श्रोष्यन्ते-

हत्वाधर्मेण राजानं धर्मात्मानं सुयोधनम् ।
जिह्मयोधीति लोकेऽस्मिन् ख्यातिं यास्यति पाण्डवः।।

दुर्योधनोऽपि धर्मात्मा गतिं यास्यति शाश्वतीम् ।
ऋजुयोधी हतो राजा धार्तराष्ट्रो नराधिपः।।

युद्धदीक्षां प्रविश्याजौ रणयज्ञं वितय च ।
हुत्वाऽऽत्मानमभित्राग्नौ प्राप चाव भृथं यशः।।
म० भा० शल्य० ६०-२७-२८, २९

एवं बौद्धावतारे बुद्धस्य सुस्पष्ट एव वेदविरुद्धवादः तत् तस्माद्धेतोः त ेतुभ्यं अर्जुनाय कर्म, उपलक्षणतया विकर्म, अकारप्रश्लेषेण अकर्म च प्रवक्ष्यामि प्रकर्षेण व्याख्यास्यामि। यत् त्रयं ज्ञात्वा कर्माकर्मविकर्मेति अशुभात् नास्ति शुभं यस्मिन्। एवं भूतात् संसारात् मोक्ष्यसे स्वयमेव मुक्तो भविष्यसि ।।श्रीः।।

अथ प्रतिज्ञातत्रयं दिशति, तत्र वर्णाश्रमाधिकारः प्राप्तत्वे सति वेदविहितत्वं कर्मत्वम्, वेद विरुद्धत्वं विकर्मत्वम्, कर्मशून्यत्वं कर्तृत्वभावशून्यते सति फलाभिसन्धिरहतित्वे सति वेदविहित व्यापारत्वं अकर्मत्वम् । अत आह-

''कर्मणो ह्यापि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ।।१७।।

रा० कृ० भा०- हि यतो हि कर्मणस्तत्वं वेदविहितस्य अपि निश्चयेन बोद्धव्यं, तथा च विकर्मणः तत्वमपि ज्ञातव्यं, एवं कर्मणश्च तत्वमपि बोद्धयं मया प्रोच्यमानं त्वया ज्ञातव्यम् । यद् वा "मातुः स्मरति" इत्यादिवत् इह "कर्मणि शेषे" षष्ठी। तथा कर्म, विकर्म अकर्म इति त्रयं बोद्धव्यं, परस्परविरुद्धत्वात् त्रयाणां कर्मविकर्माकर्मणां परमार्थतः सम्वन्धाभावं ध्वनयितुं प्रतिज्ञा वाक्ये तु वाक्यत्रयम् । यतो हि कर्मणः विकर्मणोऽकर्मणश्चा पि गतिः ज्ञानं गतिरत्र ज्ञाने गत्यंर्थाः जानार्था इति शाब्दिकानां अनुशासनात्। गहना कठिना अरण्यवत् दुर्ज्ञेया, मत्सहायेन त्वया खण्डवनमिव कर्मनमवि भस्मसात् दुर्ज्ञेया, मत्सहायेन त्वया खांण्डववनमिव कर्मवनमपि भष्मसात् कर्तव्यमिति ध्वनयितुं वनार्थक गहन शब्दस्यप्रयोगः, "गहनं गह्वरे वने' इति कोषात् ।।श्रीः।।

अथ ज्ञान कौशले बुद्धिमत्वमाह कर्मणीत्यादि-

"कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ।।१९।।

रा० कृ० भा०- अत्र विप्रतिपद्यन्तो आचार्याः कर्मशब्दोऽत्र शास्त्रविहितानुष्ठान क्रियापरः, केचन कर्मणि तन्मतेनैव ब्रह्मभूताधिष्ठानसत्तायां आरोपिते व्यापारे यः अकर्म पश्येत संसारमपोह्य कर्माभावरूपं ब्रह्म पश्येत्, इदमेव तेषां अध्यारोपाववाद, न्यायबीजम् । किन्तु ते प्रष्टव्याः कोऽपि सम्यक् दर्शनेन बुद्धिमान्भवति असम्यक् दर्शनम् । किंवा अपोहिते कर्माभावमये ब्रह्मणि कर्मणामध्यारोपसंभवः, न हि रज्जुत्वेन जातायां रज्जौ सर्पाध्यारोपो भवति इति त एवं जानन्तु। केचन अकर्मपदेन ज्ञानमिच्छन्ति, अतः कर्मणि ज्ञानं ज्ञाने च भगवन्नि मित्तकं कर्म, अस्मिन् व्याख्यानेऽपि भगवद्वचन विरोधः:। ज्ञानाग्निना त्वरितमेवेन्धनमिव कर्म भस्मसात् भवति,

"ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा" गीता ४-३७

सर्व कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने मूलं व्याख्यातुं प्रयत्यते, कर्मणां यदि सम्पग्दर्शनेन तर्हि किं विंशुद्ध ब्रह्मणि कर्मारोव सम्पग्दर्शनम । अभावः अनारम्भो वा अकर्म एवं कर्मणि गुणा गुणेषु वर्तन्ते" इति वक्ष्यमाणरीत्या चिन्तयन् यः अहङ्काररहितः आत्मनः कर्तृत्वं विहाय आत्मकर्तृक कर्मणामभावं पश्येत्। एवं

अकर्मणि कर्मणाम नारम्भेऽपि गुणकर्तृककर्म पश्येत्, स एव मनुष्येषु बुद्धिमान् स एव समत्वलक्षण- योगयुक्तः, स एव च कृत्स्नकर्मकृत्, कृत्स्नानि- कर्माणि करोति यः स कृत्स्नकर्म कृत् "इह क्विपि तुगागमः। यद् वा" कृति संछेदने कृत्स्नानि कर्माणि वनरूपाणि कृन्तति ज्ञानासिना छिनत्ति इति कृत्स्नकर्मकृत् ॥श्रीः॥

तदेवाकर्म व्याख्यातिः-

"यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।।१९।।

रा० कृ० भा०- सम्यक् आरम्भाः समारम्भाः, विधीनामनेकत्वात् बहुवचनं, संकल्पमन्तरेण कस्यापि कर्मणः प्रारम्भो न भवति, अत एव प्रत्येककर्मणः प्रारम्भे संकल्पं पठन्ति कर्मठाः।

किन्तु यस्य साधकस्य सर्वे कर्मणां नित्यनैमित्तिकानां वैदिकानां समारम्भाः सम्यक् आरभ्यन्ते इति समारम्भाः, प्रारंभिकव्यापाराः कम संकल्पैः वर्जिताः किन्तु रामसंकल्पसंयुताः, यथा श्रीसीताराम प्रीतये सन्ध्यामहं करिष्ये, इत्येवं प्रकारकाः। तथैव त्वयापि भगवच्छ्रीकृष्ण प्रीतये युद् धमहं करिष्ये इत्येवं संकल्पः कार्यः, इति भगवतः संकेतः। ज्ञानमेवाग्नि ज्ञानाग्निः तेन दग्धानि शरीरप्रारब्धातिरिक्तानि अतीतवर्तमानातगतानिकर्माणि यस्य स ज्ञानाग्निदग्धकर्मा तं ज्ञानाग्दिग्धकर्माणं तं बुधाः विद्वांसः पण्डितं सदसद्विवेकयुक्तं आहुः ॥श्रीः॥

कर्माणि अकर्मता कथं प्राप्येत इत्य आह

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ।।२०।।

रा० कृ० भा०- कर्माणि फलन्ति यस्मिन् कर्मणां वा फलानि यस्मिन् स कर्मफलः कर्मफलश्चासौ आसङ्ग इति कर्मफलासङ्गः तं कर्मफफलासङ्गम् । यद् वा कर्माणि च फलानि च कर्म फलानि तेषु आसङ्गः कर्मफलासङ्गः तं कर्मफलासङ्गम् त्यक्त्वा नित्ये परमात्मनि तृप्तः निश्चितः परमात्मैव आश्रयः शरण्यः रक्षको येन स निराश्रयः। एवंभूतः कर्माणि अभिप्रवृत्तः भगवदाज्ञां मन्वानः अभीष्टतया प्रवृत्तोऽपि, व्यापारनिरतोऽपि स किञ्चिन् नैव करोति।

तस्यानासक्तस्य कुर्वतोऽपि कर्माणि बनन्धिनाय लेपाय वा न भवन्ति, इत्येव कर्मण्यकर्मदर्शनम् ॥श्रीः॥

किं बहुना अनासक्तः शरीरमात्रेणापि कर्मणा न पापाय कल्पते इत्यत आह-

"निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ।।२१।।

रा० कृ० भा०- आशीः अत्र फलं, आशास्यते इति आशीः "क्विपि ईकारः, निर्गताः आशिषः यस्मात् स निराशीः कर्मफलरहतिः आत्मा मनः चित्तं च आत्माचित्तं चेतित्तात्मानौ यतौ चित्तात्मानौ येन सः यतचित्तात्मा। यद् वा चित्ते स्थितः परमेश्वरः यतः चित्तस्थे भगवति आत्मा येन स यतचित्तात्मा। अथवा चिज्जीवात्मा तं तनोति विस्तारयति इति चित्तः परमात्मा यतः चित्ते आत्मा परमात्मा येन स यतचित्तात्मा। व्यक्ताः सर्वेऽपि परिग्रहाः सङ्गहाः येन स त्यक्तसर्वपरिग्रहः, एवं भूतः केवलं शारीरं न तु शास्त्रीयं कर्म कुर्वन्नपि कर्मणा न लिप्यते न लिप्तो भवति ॥श्रीः॥

किंच इतरथाप्यकर्मतां कर्मणिदर्शयति, यदृच्छेति-

"यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्दातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ।।२२।।

रा० कृ० भा०- प्रयत्ननैरपेक्षं यदृच्छया लाभः यहदृच्छालाभ, तेन, संतुष्टः यदृच्छालाभसंतुष्टः, प्रयत्ननैरपेक्ष्यपुरःसरभगवदिच्छोपनतलाभेत सन्तोषमधिगतः, अत एव द्वन्द्वानि सुखदुःखादीनि अतीतः अतीक्रान्तः द्वितीयाश्रितातीत पतितगतात्यस्तप्रापत्तापन्ने प० क्ष० १२।१।२४ इत्यनेन द्वन्द्वानि अतीतः द्वन्द्वातीतः इति विग्रहे द्वितीयातत्पुरुषसमासः। शीतोष्णादिद्वन्द्वधर्मवर्जितः, अनन्तरं विगतः मत्सरः मात्सर्य यस्य स विमत्सरः मत्तः अग्रेसरति कोऽपि मदधिकलब्धसुखादि साधनः इति भाव एव मात्सर्यं, तद्रहितं। सिद्धौ स्वेच्छानुकूलफलावाप्तौ असिद्धौ स्वाभीष्टपरिणामप्रातिकूल्ये समः, आनुकूल्ये हर्षरहितः प्रातिकूल्ये शोकरहितश्च समभावमापन्नः। कृत्वापि कर्माण्यनुष्ठाय यावत् कर्तृत्त्वाभिमानं नित्यन्वेन न बध्यते, कर्तुत्वे व्यपगते मुच्यते, इत्येव निबध्यते इत्युपसृष्ट प्रयोगस्य तात्पर्यम

||श्रीः||

किंच यज्ञभावनां भावयतोऽपि कर्मण्यकर्मता सम्पादयितुं इत्येव बोधयितुं नव श्लोकी प्रारभते भगवान् यज्ञपतिः नारायणः। गतसङ्गस्य इत्यादिभिः-

''गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ।।२३।।

रा० कृ० भा०- गताः सङ्गा कर्मफलासक्तयः यस्मात् स गतसङ्गः आसक्ति रहितः तस्य गतसङ्गस्य कर्मसु फलासक्तिं त्यक्तवतः। अत एव मुक्तस्य आसक्ति बन्धायकल्पते चतुर्दशेवक्ष्यते-

''रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ।।गीता १४/७।।

एवं ज्ञाने स्वस्वरूपपरस्वरूपोपाय स्वरूपविरोधिस्वरूपफलस्वरूप ज्ञाने जीवात्मपरमात्मयाथात्म्यज्ञाने वावस्थितं चेतः यस्य, अथवा ज्ञानेन प्रोक्तपूर्वेण अवस्थितं चेतः अथवा ज्ञाने ब्रह्मणि ''सत्यज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' इति श्रुतेः, अवस्थितं, मयि स्थितं संसारमवज्ञाय चेतः यस्य स ज्ञानावस्थित- चेताः तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः । यज्ञाय ''यज्ञो वै विष्णुः तदर्थं सर्वं कर्म ईश्वराराधनमेव मन्यमानः, अथवा यज्ञो नाम देवतो देश्यकध्रव्यत्यागः तद्र देवतैव संप्रदानं, यजमानः अध्वर्युश्च कर्ता, हवनसाधनं करणं स्रुगादिकं मन्त्रेश्च, प्रक्षेप्यमाणं, प्रक्षिप्यमाणं वा वस्तु हविः अयं यज्ञस्य आकारः। अत्र सर्वत्र भगवद्दृष्टिं कुर्वतः स्वार्थं विहाय समाजसेवां, राष्ट्रसेवां, दीनहीनसेवां, शोषितदलितोपेक्षित सेवां, विकलाङ्गसेवां यज्ञं भावयतः। कृतं सर्वं प्रवृत्तिरूपं कर्म प्रकर्षेण विलीयते बंधनाय न कल्पते। उद्देश्यं हि देवतात्वेन चिन्तयतः कर्माणि यज्ञमयानि भवन्ति। यथा मानसकाराः प्राहुः-

''सीय राम मय सब जग जानी।
करहुं प्रणाम जोरि जुग पानी ।। मानस-१-८-२

रूपान्तरं-

सीताराममयं ज्ञात्वा जगदेतच्चराचरम् ।
हस्तौ च सम्पुटीकृत्य प्रणमामि पुनः पुनः।। श्रीः

नन्वत्र यज्ञः कतिविधः, कथं च सम्पादनीयः, आध्यात्मिक आधिभौतिको वा, श्रौतः. स्मार्तो वा, आन्तरो बाह्यो वा इति पार्थजिज्ञासावैपुल्यसमाधानाय ससमारोहं प्रावोचत् प्रणतवत्सलो भगवान् । बहवो यज्ञाः तेषु प्रथमं ब्रह्मयज्ञः ततः पूर्वं तमेव परिभाषते-

''ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ।।२४।।

रा० कृ० भा०- अर्प्यते अनेन इत्यर्पणं, ''करणे ल्युट्'' अर्प्यते देवतामुद्दिश्य प्रक्षिप्यते येन तदर्पणं भवति, प्रणीतिप्रोक्षणस्रुगादिकं मन्त्रश्च, सर्वं यज्ञोपकरणमिति भावः। तदपि ब्रह्म। किं बहुना हविरपि तत्तदेवतोछेशेन प्रक्षिप्यमाणं धृततिल यवादिकमपि ब्रह्मैव। यस्मिन् हूयते एवं विधोऽग्निर्ब्रह्मैव। ब्रह्मैवाग्निः ब्रह्माग्निः, तस्मिन् ब्रह्मग्नौ, ब्रह्मणा ब्रह्मभूतेन होत्रा हुतं हवनक्रियापि ब्रह्मैव। एवं ब्रह्मनिमित्तके कर्मणि समाधिः स्थितिर्यस्य स ब्रह्मकर्मसमाधिः तेन ब्रह्मकर्मसमाधिना गन्तव्यं प्राप्तव्यं, फलं स्वर्गादिकमपि ब्रह्मैव। इति बह्मभावना यज्ञोपकरणमन्त्रकर्त्रध्वर्युप्रक्षिप्यमाणेषु द्रव्येषु। नन्वत्र देवतासंकीर्तनं नास्तीति चेन्न, अर्प्यतेऽस्मै इत्यर्पणं संप्रदानमित्यादिवत् 'कृत्यल्युटो' बहुलं इत्यनेन संप्रदाने ल्युट् । यद्वा हुतं अस्त्यस्मिन्नि हुतं, इत्यनेनापि देवतासंकीर्तनम् ।।श्रीः।।

संगति- ब्रह्म यज्ञं संकीर्त्याथापरं यज्ञमाह-दैवमिति।

''दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञैनैवोपजुह्वति ।।२५।।

रा० कृ० भा०- देवनामयं दैवः ईज्यते इति यज्ञः, अपरे योगिनः कर्मयोगिनः दैवं इन्द्राहिदेवतोददेश्यकं यज्ञं पर्युपासते उपासनादृष्ट्या कुर्वन्ति। अपरे च योगिनः ब्रह्मरूपेऽग्नौ यज्ञेन प्रत्यागान् मना यज्ञं इज्यमानं देवतासमूहं उपजुह्वति, देवतानामपि ब्रह्मणि अन्तर्भावं कुर्वन्ति। केन रूपेण यज्ञेन ''यज्ञो वै स्वात्मा नाम'' इति निरूक्त वचनात् । तेन समस्तानां देवतानां जीवात्मा भिन्नतया भगवद्विभूतितया च वक्ष्यमाणानां ब्रह्माग्नौ उपजुह्वति होमयन्ति। यथा-

''आकाशात्पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम् ।
सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति ।। श्रीः।।

अथ अपरमपि यज्ञमाह-

''श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्ये इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ।।२६।।

रा० कृ० भा०- अत्र संयमाग्निषु, इन्द्रियाग्निषु इत्यनयो आदरार्थे बहुवचनम्। अन्ये इन्द्रियनिग्रहकर्तारः, श्रोत्रं श्रवणं आदि येषां तानि श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि श्रवण नेत्र घ्राण रसना त्वगाख्यानि वाक्पाणीपादपायूपस्थाख्यानि ज्ञानेन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि च संयमाः अनेकप्रकाराः इन्द्रियाणां निग्रहाः तं एवाग्नयः संयमाग्नयः तेषु संयमाग्निषु जुह्वति होमं कुर्वन्ति। इन्द्रियाण्येव यज्ञभावनया संयमयन्ति। अन्ये इतोऽपि विलक्षणाः इन्द्रियाण्येवाग्नयः इन्द्रियाग्नयः तेषु इन्द्रियाग्निषु शब्दादीन् शब्दस्पर्शरूपरसगन्धवचनग्रहणगमनोत्सर्गानन्दान् जुह्वति। यथा शिव रूपात्मकं कामं नेत्राग्नौ, तथा कुमार शम्भवे-

क्रोधं प्रभो संहर संहरेति
यावद् गिरः खे मरुतां चरन्ति।
तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा
भस्मावशेषं मदनं चकार।।

यथा च श्रीरामचरित मानसे-

सौरभ पल्लव मदन बिलोका।
भयउ कोप कम्पेउ त्रैलोका।।
तव शिव तीसर नयन उघारा।
चितवत काम भयउ जरि छारा।। मानस- १-८६-६,७,

रूपान्तरं -

आम्रस्य पल्लवेऽपश्यत् मदनं भूतपः प्रभुः।
कोपो बभूव तेनैव त्रयो लोकाश्च कम्पिरे।।

तदा शिवस्तृतीयं वै नेत्रमुन्मिमिषे प्रभुः।
स तु दर्शनमात्रेण कामो भस्म बभूवः ।। श्रीः

अथापरमपि यज्ञं विवृणोति-

"सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ।।२७।।

रा० कृ० भा०- अपरे इन्द्रियाणां कर्माणि, प्राणानां कर्माणि प्राणकर्माणि, अपरे योगिनः सर्वाणि इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां दशानां कर्माणि चकारात् बुद्धिमनसोरपि कर्माणि प्राणानां प्राणापानव्यानोदानसमानानां कर्माणि व्यापारान् आत्मनः मनसः संयमः आत्मसंयमः स एव योगः आत्मसंयमयोगः, स एवाग्निः आत्मसंयमयोगाग्निः तस्मिन् आत्मसंयमयोगाग्नौ, ज्ञानेन दीपितः ज्ञानदीपितः तस्मिन् ज्ञान, दीपिते ज्ञानप्रज्वालिते निजमनःसंयम योगाग्नौ जुह्वति होमयन्ति ॥श्रीः॥

अथ भूयः पञ्च यज्ञानुद्देश्यतः आह-

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।। २८।।

रा० कृ० भा०- संशितानि तीक्ष्णानि व्रतानि येषां ते संशितव्रताः, तीव्रव्रतशीलाः, अपरे अन्येऽपि यतयः सन्तः द्रव्ययज्ञं, तपोरूपयज्ञं, योगयज्ञं, स्वाध्यायो वेदपाठः तद्रूपं यज्ञं, ज्ञानयज्ञं च समासः द्रव्यादयः यज्ञाः येषां इत्येवं उह्य, एवं द्रव्यतपोयोगस्वाध्यायज्ञानेषु क्रियमाणा यज्ञभावना साधकं तज्जनित बंधनतो वारयति। यज्ञभावनया अर्जित द्रव्यं नानर्थाय कल्पते। यत् इदं रामाय न मम इदं राष्ट्राय न मम एवंविधे भावे जाग्रति समाजस्य राष्ट्रस्य विकलाङ्गानां क्रियमाणा आर्थिकसहायता स्वर्गाय भवति। तपसि यज्ञभावनया तपो लोकमंगलाय कल्पते न तु रावणादितपोवत् ? एवं योगे कृता यज्ञभावना साधकं परमेश्वरचरणसरसिजसंयोगाय प्रेरयति न तु नारदा मिव कुयोगाय। स्वाध्याये यज्ञभावना स्वाध्यायिनंब्रह्म भावयति न त्वर्थसाधने नियुनक्ति। ज्ञाने च कृता यज्ञभावना ज्ञानखळतादोषान् वारयति यथोक्तं नियुक्तैः-

ज्ञानं सम्प्राप्य संसारे यः पेभ्यो न यच्छति।
ज्ञानरूपी हरिस्तं वै प्रसन्न इव नेक्षते ।। ॥श्रीः॥

अथ प्राणायामयज्ञमाह द्वाभ्याम् -

"अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथा परे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ।।२९।।

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ।।३०।।

रा० कृ० भा०- अपरे प्राणायामपरायणा:तत्परा: अपाने अपानवायौ प्राणं जुह्वति विलापयन्ति। अपरे च प्राणवायौ अपानवायुं विलापयन्ति । केचन प्राणगतिं रुन्धन्ति, केचन अपानगतिं इत्यनेन पूरककुम्भकरेचका: कथिता: अपरे च नियताहारा: नियत: आहार: येषां तथाभूता: अल्पभोजना: प्राणान् इन्द्रियाणि प्राणेषु जुह्वति। एते सर्वे यज्ञेन क्षपित: नाशित: कल्यष: यैः ते यज्ञ क्षपित कलमषा: यज्ञं विदन्ति, जानन्ति। यज्ञंपरमात्मानं वा विन्दन्ति लभन्ते। एवं ब्रह्मयज्ञ:, यज्ञयज्ञ: इन्द्रिययज्ञ:, विषययज्ञ: इन्द्रियप्राण कर्मयज्ञ: द्रव्ययज्ञं:, तपोयज्ञ:, योगयज्ञ:, स्वाध्याययज्ञ:, ज्ञानयज्ञ: प्राणायाम् यज्ञ: प्राणयज्ञश्च इतित्रयोदशयज्ञा: ||श्री:||

अथ फलश्रुतिमाह

"यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्यम ज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तमम्।।३१।।

रा० कृ० भा०- एवं त्रयोदशानां यज्ञानां शिष्टममृतं भुञ्जते इति यज्ञशिष्टामृत भुज: यज्ञदत्तब्रह्मरूपफलभोगिन:, सनातनं शाश्वतं ब्रह्म परमात्मानं श्रीरामं यान्ति। हे कुरुसत्त अतिशयेन सन् इति सत्तम: कुरुषु सत्तम: इति कुरुसत्तम: तत्सम्बोधने हे कुरुसत्तम त्वं कौरवेषु अत्यन्तमहात्मस्वभाव: भक्तशिरोमणित्वात्। अयज्ञस्य न विद्यते त्रयोदशसु एकोऽपि यज्ञ: यस्य तस्य अयं लोक: अपि नास्ति न सुखप्रद:, तर्हि अन्य: लोक: कुत: कस्मात्। अत: त्वमपि एषु कतममपि यज्ञं कृत्वां परलोकसुखभागी भवितुं शक्नोषि ||श्री:||

प्रकरणं निगमयति-

"एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ।।३२।।

रा० कृ०- भा०- एवं प्रकाराः बहुविधाः यज्ञाः ब्रह्मणः वेदस्य मुखे प्रमुखभागे कर्मकाण्डे वितता सविस्तरं वर्णिताः। तान् सर्वान् उक्ताननुक्तांश्च कर्मजान् ज्ञात्वा तेष्वकर्मतां पश्यन् विमोक्ष्यसे मुक्तो भविष्यसि।

अयजद्राजसूयेन तव भ्राता युधिष्ठिरः
तेन यूयं महत्कष्टं प्राप्ता श्रेयोऽपि हापितम् ।।

राज्यं भ्रष्टं धनं नष्टं प्रतिष्ठा चैव नाशिता।।
कृष्णावमानिता देवी दुष्टैः कौरवसंसदि।।

तस्मात्त्वं ज्ञानयज्ञेन मां यजस्व धनंजय।
तेन त्वं कर्मबन्धेभ्यो मोक्ष्यसे नात्र संशयः।।श्रीः

ननु येषां संक्षिप्ताः के विभागाः कः कतरस्माच्छ्रेयान् इति जिज्ञासां परिहरन्नाह

''श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ।।३३।।

रा० कृ० भा०- हे परंतप! वस्तुतस्तु यज्ञो द्विविधः, द्रव्यमयो ज्ञानम् यश्च। ज्ञानमयः पूर्वोक्तः द्वादशविधः, व्यमयस्तु एक एव। द्रव्यं प्राचुर्येण यस्मिन् स द्रव्यमयः तस्मात् द्रव्यमयाद्यज्ञात् ज्ञानयज्ञः श्रेयान् श्रेष्ठः। हे पार्थ यथा द्रव्ययज्ञे हूयमानानि यवादीनि भस्मसाद् भवन्ति, तथैव ज्ञाने ज्ञानयज्ञे अखिलं सर्वांशकं सर्वं सर्वविधं कर्म नित्यनैमित्तिकादिकं परिसमाप्यते परितः समाप्तिं गच्छति। न केनचिदंशेनापि शिष्यते ॥श्रीः॥

ननु द्रव्यमययज्ञस्य तु पद्धतयो बहवोः लिखिताः, वेदेष्वपि स्पष्टतः मन्त्राः कथिताः। किं ज्ञानयज्ञस्यापि कापि पद्धतिः, किमपिवा तद्विधानसूचकं पुस्तकं, इत्यत आह-

''तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ।।३४।।

रा० कृ० भा०- ज्ञानिनः इत्यस्य विभक्तिविपरिणामेण, ज्ञानेभ्यः

इत्यावर्तनीयम्। संबुद्धिशब्दश्च उत्तरस्मादनुकर्षणीयः। हे पाण्डव। तद् ज्ञानयज्ञ विधानं प्राणिपातेन श्रीगुरुचरणेषु साष्टाङ्गप्रणामेन परिप्रश्नेनविनम्रजिज्ञासया सेवया वाङ्मनोकर्मभिः परिचर्यया ज्ञानिभ्यः विद्धि जानीहि। तत्वदर्शिनः ज्ञानिनः ब्रह्मदर्शन शीलाः ते तुभ्यं ज्ञानं ब्रह्मतत्वं उपदेक्ष्यन्ति वदिष्यन्ति ॥श्रीः॥

ननु कीदृशं ज्ञानं तत्? अतः स्तौति द्वाभ्याम् -

''यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ।।३५।।

रा० कृ० भा०- हे पाण्डव! पाण्डोः अपत्यं पुमान्, यद् ज्ञानं ज्ञात्वा एवं अनेन प्रकारेण पुनः भूयः मोहं न यास्यसि न प्राप्स्यसि। येन अशेषेण ज्ञानेन समग्रेण अर्थपञ्चकज्ञानेन, अकारत्रयज्ञानेन च भूतानि सम्पूर्णजीवजातानि अथो अनात्मज्ञानविधूननपुरः सरं मयि आत्मनि कृष्णांसंज्ञके परमात्मनि द्रक्ष्यसि विलोकयिष्यसि ॥श्रीः॥

किं च अन्यदपि ज्ञानस्य माहात्म्यम् -

''अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ।।३६।।

रा० कृ० भा०- अपि पक्षान्तरे यदि त्वं सर्वेभ्यः पापेभ्यः पापवद्भ्यः इह ल्यब्लोपपञ्चमी सर्वान् पापवतः अपेक्ष्य पापकृत्तमः पापं करोतीति पापकृत् अतिशयेन पापकृत् इति पापकृत्तमः यद् वा सर्वेभ्यः पापेभ्यः इत्यत्र षष्ठयर्थे पञ्चमी, यद्यात्मानं सर्वपापिनां शिरोमणिं मन्यसे तथापि, ज्ञानप्लेवन प्लवो नौका ज्ञानरूपया नौकया, अथवा प्लवः पोतः ज्ञानरूपपोतेन सर्वं वृजिनं पापमहासागरं संतरिष्यसि, सम्यक् तीर्णो भविष्यसि ॥श्रीः॥

अथ यदि ज्ञानं यज्ञस तर्हि यज्ञसमानधर्मणापि भवितव्यं, 'यज्ञेन शाकल्यं भस्म क्रियते अनेन किं? इति जिज्ञासाभ्यामाह-

''यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ।।३७।।

रा० कृ० भा०- ज्ञानं रूपं अग्नि ज्ञानाग्निः एधांसि इन्धनानि एधयन्ति

वर्धयति अग्निं यत् तत् एधः इति व्युत्पत्तिः। हे अर्जुन यथा येन प्रकारेण समिद्धः पूर्ण प्रज्वलितः अग्निः, एधांसि इन्धनानि भस्मसात् कुरुते, तथैव सर्वाणि कर्माणि ज्ञानाग्निः भस्मसात् भूतिमयं कुरुते दहतीति भावः ॥श्रीः॥

ननु क्व भवादृशोऽन्यो गुरुः अतो भवन्तमेव प्रणिपतामि, भवन्तमेव परिपृच्छामि, भवन्तमेव च सेवे । अत आह प्रणतपालकः परमात्मा उपदिशन्

"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ।।३८।।

रा० कृ० भा०- हि यतो हि इह अस्मिन् अध्यात्मशास्त्रे ज्ञानेन स्वस्वरूपपररूपज्ञानेन सदृशं समानं नास्ति किमपि पवित्रं पावनम् । तद् ज्ञानं योगेन कर्मयोगेन संसिद्धः भग्नावरणः कालेन समयेन आत्मनि स्वस्मिन्नेव परमात्मनि मयि कृपयति विन्दति लभते ॥श्रीः॥

तद् ज्ञानं प्राप्तये का योग्यता अपेक्ष्यते, इत्यत आह-
श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ।।३९।।

रा० कृ० भा०- श्रद्धावान् आस्तिकबुद्धिसम्पन्नः सः तत्पदार्थोऽहं परमात्मां परः इष्टं यस्य मद्दैवतः। संयतानि इन्द्रियाणि वशीकृतानीति भावः, यस्य एवं विधः ज्ञानं लभते। ज्ञानं लब्ध्वा सेव्यसेवकभावनं विचार्य अचिरेण शीघ्रमेव परां शान्तिं मत्सामीप्यरूपं अधिगच्छति साधिकारं प्राप्नोति, त्वमिव ॥श्रीः॥

तदभावे दुष्परिणाममाह-
"अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोस्ति न परो न सुखं संशायात्मनः।।४०।।

रा० कृ० भा०- अज्ञः अज्ञानः अश्रद्दधानः नास्तिकः संशयात्मा सन्देह शीलः विनश्यति नष्टो भवति, मम दर्शनापात्रं भवति, संशयात्मनः संशयालोः अयं एषलोकः न, न सुखावहः परः मम साकेताभिन्नगोलोकोऽपि न, न निवासाय किञ्च संशयः आत्मनि यस्य तस्य संशयात्मनः सन्देहशीलस्य न सुखं लोके परलोके च दुःखमेव । अतः संशयं मा कुरु, ॥श्रीः॥

निः संशयं स्तौति-

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।।४१।।

रा० कृ० भा०- योगेन कर्मयोगेन संन्यस्तानि मयि समर्पितानि कर्माणि येन तं, ज्ञानेन संछिन्नः वृक्णः संशयो येन तं आत्मा मदभिन्नपरमात्मा अस्ति इष्ट देवता यस्य तम् कर्माणि अतीतक्रियमाणानागतानि न बध्नन्ति, नैव बद्धं कुर्वन्ति तथा "हि योगसंन्यस्तकर्माणं" "नातीतानि बध्नन्ति। ज्ञानसंछिन्न संशयम्" न क्रियमाणानिं बन्धनमापादयन्ति। "आत्मवन्तं" न सञ्चितानि प्रभवन्ति बन्धुम् इति विवेकः हे धनंजय तथा त्वमपि भव ।।श्रीः।।

उपसंहरति-

"तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ।।४२।।

रा० कृ० भा०- तस्मात्ततो हेतोः अज्ञानात्संभूतं हृदि तिष्ठतीति हृत्स्थः तं हृत्सथं एनं संशयं, ज्ञानासिना .खड्गेन छित्वा संवृश्चय, योगं कर्मयोगमातिष्ठ आदरेण समाचार नेदं संशयविपिनं अग्निदत्तेन गाण्डीवेन छेत्तु शक्यते। अतो मया दत्तेन ज्ञानरूपेण खड्गेन। छिन्धि। ततो उत्तिष्ठ, ततश्च निष्कामकर्मयोगमातिष्ठ। ज्ञानीसन्नपि लोकस्य संग्रहार्थं समाचार।

मदिष्टः कर्मयोगं त्वं शास्त्रार्थोऽयं चतुर्थगः
"चतुर्थोऽयं मयाध्यायः श्रीगीतासु यथामतिः
श्रीराघवकृपाभाष्ये व्याख्यातः श्रीपतेः मुदे।।

इतिश्रीचित्रकूटतुलसीपीठाधीश्वरजगद गुरुरामानन्दाचार्यस्वामी श्री रामभद्राचार्य प्रणीते श्रीराघवकृपाभाष्ये श्रीमदभगवद्गीतासु "ज्ञानकर्मसंन्यास" योगोनाम चतुर्थोऽध्यायः।

।।श्री राघवः शं तनोतुः।।

●●

"श्री मद् राघवोविजायते"।।

"श्री रामानन्दाचार्य नमः।।

चतुर्थोऽध्यायः

मंगलाचरण

सुमत्यखिलवन्दितप्रणतपादपाथोरुहः
पुरन्दरपुराङ्गणाभणितभूतिभौम्यंगनः।
नवीनघनसुन्दरो भुजगसोहदरो भूधरो
दयागुणगणाकरो विजये रघूणां पतिः।।

व्याख्याः सुन्दर बुद्धि वाले अनेक देवाओं द्वारा वन्दित ब्रह्मादि भी जिनके श्री चरण पर प्रणत होते तथा इन्द्रलोक की अप्सरायें भी जिनके ऐश्वर्य का गान करती हैं। ऐसी पृथ्वी पुत्री सीता जिनकी धर्मपत्नी हैं जो नवीन बादल के समान सुन्दर हैं ऐसे शेषावतार श्रीलक्ष्मण के बडे. भ्राता पृथ्वी को धरण करने वाले दया प्रमुख दिव्य कल्याण गुण-गणों की खानि के स्वरूप रघुपति भगवान् श्रीराम की जय हो।

सुहृच्चतुर्थस्य हरंश्चतुर्थम्
धरंश्चतुर्थीद्युतिमुच्चतुर्थः।
चतुर्थचिन्त्यः सुतभूश्चतुर्थः
श्रुतश्चतुर्थे जयताच्चतुर्थः।।

सामान्यार्थ- अपने चतुर्थ मित्र अर्जुन के 'चतुर्थ' अर्थात् मोह का हरण करते हुए 'चतुर्थी' अर्थात् कालिन्दी की शोभा को धारण करते हुए तथा चतुर्थ मोक्ष को भी जिनके चरणों में भक्त निछावर कर देते हैं, ऐसे चित्त में चिन्तनीय अनिरुद्ध के पितामह गीताजी के चतुर्थ अध्याय में चर्चित तुरीय चैन्यत भगवान श्रीकृष्ण की जय हो।

व्याख्या- यह छन्द कूट है। भगवान् श्रीकृष्णके मुख्य-चार सखा प्रसिद्ध हैं श्रीदामा, सुदामा, उद्धव और अर्जुन। उनमें से अर्जुन चौथे हैं। मोह को विकारों में चौथा स्थान प्राप्त है। काम, क्रोध लोभ, मोह। भगवान की पत्नियां में यमुनाजी का

स्थान चौथा है। और उन्ही की नीली शोभा को भगवान् अपने श्री विग्रह में धारण करते हैं। भावुकजनप्रभु के चरणो में पुरुषार्थों में चतुर्थ अर्थात् मोक्ष को भी न्योछावर कर देते हैं। भगवान् का मन, वुद्धि, अहंकार और चित्त इनमं अन्तःकरणों में से चतुर्थ अर्थात् चित्त में चिन्तन किया जाता है। भगवान् के वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न अनिरूद्ध इन चार व्यूहों में चतुर्थ श्री और अनिरुद्ध ही जिनके सुत भू अर्थात पौत्र हैं। ऐसे इस चतुर्थ अध्याय में चर्चित चतुर्थ अर्थात् विश्वतेजस् प्राग् परमेश्वर इनमें से चतुर्थ अर्थात् परब्रह्म परमेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की जय हो।

प्रतिज्ञा भाष्यम

श्री गीता श्चतुथोऽयमध्यायः कृपया हरेः
श्री राघव कृपाभाष्यललाम्ना मण्ड्यते मया।।

व्याख्या- अव श्रीगीता जी का चतुर्थ अध्याय अर्थात् मेरे यानि जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्वामी रामभद्राचार्य के द्वारा श्रीराघवकृपाभाष्य नामक रत्न से समलंकृत किया जा रहा है।

संगति- अव प्रपन्न चिन्ता मणि भगवान् श्री कृष्ण के साक्षात् मुख कमल से प्रकट हुई भगवत् स्वरूप श्रीमद्भगवतगीता के चतुर्थ अध्याय के व्याख्यान का चतुर न होते हुए भी कुशल मुझ रामभद्राचार्य द्वारा उपक्रम किया जा रहा है।पूर्व के दो अध्यायों में भगवान ने ज्ञान मार्गियों के लिए ज्ञानयोग एवं भक्ति से सभर मन वाले मृदु चित्त महानुभावों के लिए कर्मयोग गीता-२।३९ के विभाग के अनुसार पृथक्-२ कहे गये। वास्तव में तो कर्मयोग और ज्ञानयोग ये. दोनों साधन कोटि में हैं। इन दोनो की साध्य भगवती भक्ति का भगवान् ने प्रथमा विभक्ति में निष्ठा के नाम से संकीर्तन किया है। द्विविधा निष्ठा। ज्ञानयोग और कर्मयोग की भगवान् ने ज्ञानयोगेन, करणयोगने कहकर कर्णतृतीयान्त से चर्चा की है। किन्तु साध्य की पर्यालोचना में इन दोनों के साध्यरूप में एक मात्र भगवान् ही साध्य है ऐसा निश्चय होने पर इन दोनों को पृथक् कहने वाले वालक कहकर भगवान् के द्वारा ही निन्दित किये गये। इन दोनों की यही विशेषता है कि इनमें से एक की भी साधना करता हुआ साधक दोनों का फल पा लेता है। अर्थात गीता ५।४ के अनुसार कर्मयोग से ज्ञानयोग की और ज्ञानयोग से कर्मयोग की निष्ठा प्राप्त हो जाती है। इसीलिए इन दोनों को इस एक अध्याय में कहने की इच्छा करते हुए भगवान् पूर्वोक्त योग की परम्परा और उसके सम्प्रदाय वंश

की स्तुति करते हैं-

श्रीभगवानोवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्माणि घोरे मां नियोजयसि केशव ।।४।१

रा० कृ० भा० सामान्यार्त- भगवान श्री कृष्ण बोले-

व्याख्या- हे अर्जुन! मै अर्थात् भगवान् कृष्ण ने इस अविनाशी योग को विवश्वान भगवान् सूर्य से कहा था और विवश्वान सूर्य ने अपने पुत्र मनु से कहा और मनु ने अयोध्या के आदि महाराज इक्ष्वाकु से कहा अव योग की परम्परा कहते हैं। विशिष्ट वसु यस्मिन्ः स विवस्वान् अर्थात् जिनके मण्डल में श्रीसीताराम जी निवास करते हैं ऐसे सूर्यनारायण को विवस्वान् कहा जाता है।

संगति- इस प्रकार मुझसे प्रारम्भ होकर इक्ष्वाकु राजा पर्यन्त यह गुरु परम्परा अविचिन्छन क्रम से चली फिर अस्पष्ट हो गयी यही बात अग्रिम श्लोक में कहते हैं।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रोयोऽहमप्नुयाम्।। ४।२

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे शत्रुनाशक अर्जुन! इस प्रकार परम्परा से प्राप्त इस योग को राजर्षि अर्थात् मनुवंश, ऐलवंश, इक्ष्वाकुवंश, तथा नाभागवंश के राजाओं ने जाना इसके अनन्तर विशाल काल खण्ड वीत जाने से यह योग लुप्त हो गया अर्थात् इसकी परम्परा विच्छिन्न हो गयी।

व्याख्या- परम्परा प्राप्त का अर्थ है कि अब इसकी गुरु परम्परा सकना कठिन होगा। यहाँ राजर्षि शब्द पारिभाषिक है। जैसे ब्रह्माण्ड पुराण में कहां गया हैं-

मानवे चैव ये वंशे ऐलवंशे च ये नृपाः।
ये च ऐक्ष्वाकनाभागा ज्ञेया राजर्षयस्तु ते।।

'योगों नष्टः' इसके पश्चात्ही गुरु परम्परा नहीं मिलती क्योंकि अट्ठाइस चतुर्युगियों का अन्तराल हो गया अतः यह नष्ट हो गया। अव यहां शांका होती हैं कि भगवान्

श्री कृष्ण ने इसको अभी-अभी अव्यय बताया था। प्रोकत्वान् अव्ययं तो फिर अभी नष्टः कैसे कह रहे हैं। अविनाशी का विनाश कैसा? इसका उत्तर है कि यहाँ 'णस' धातु अदर्शनार्थक है विनाशार्थक नही। अर्थात् यह अब दिखाई नही पड़ रहा है। इसी लिए ८।१४ में भगवान् कहते हैं अनन्य चित्त से स्मरण करने के लिए मै अदृश्य नही होता ।।श्री।।

संगति– चूँकि यह योग अनादि है इसलिए मैंने इसकी सम्प्रदाय परम्परा को नवीन कर दिया। अतः तुम इसकी प्रमाणिकता में संदेह न करके श्रद्धा पूर्वक इसका अनुष्ठान करना। यही बात भगवान् आगे कहते हैं।

रा० कृ० भा०- सामान्यार्थ- वही यह पुरातन योग आज मुझ भगवान कृष्ण द्वारा विभाग पूर्वक कहा गया क्योंकि तुम मेरे भक्त और सखा भी हो यह रहस्य अत्यन्त उत्तम है।

व्याख्या- 'स एवायं' का तात्पर्य है जो वैवस्वत मन्वन्तर के प्रारम्भ मे सूर्य नारायण से कहा था वही तुमसे भी कहा। क्योंकिं तुम मेरे भक्त, सखा और सम्बन्धी शिष्य हो। क्योकि यह रहस्य अत्यन्त उत्तम है जो अभक्त और अशिष्य से नही कहा जा सकता। ।।श्री।।

संगति- श्री अर्जुन यद्यपि श्री कृष्ण को परब्रह्म परमात्मा के रूप में जानते हैं, नहीं तो वे गीता १।२४ में, अच्युत गीता १।३१ में, केशव गीता १।३२ में, गोविन्द गीता १।३५, में मधुसूदन गीता १।३६, में जनार्दन गीता १।३७ में, माधव आदि भगवत्परक सम्बोधनों में भगवान् को सम्बोधित कैसे करते। फिर भी वे सम्पूर्ण जीवात्माओं का प्रतिनिधित्व करते हुए भगवान् के श्रीमुख से ही सामान्य लोगों तक परमेश्वर के अवतार मीमांसा की प्रामाणिक वैदिक चर्चा प्रेषित कराने की दृष्टि से ही प्राकृत अज्ञानी मनुष्य जैसा प्रश्न कर बैठे-

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ।४।३

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- श्री अर्जुन जिज्ञासा करते हैं- हे भगवान्, आपका

जन्म तो अपर अर्थात् आधुनिक है। अर्थात् आपने मेरे समान काल में जन्म लिया। और सूर्यनारायण जन्म पर अर्थात सूर्यनारायण का जन्म कश्यप और अदिति से कार्तिक शु० षष्ठी को हुआ था। तो मैं यह कैसे जानूँ अर्थात् कैसे समझू कि आपने सृष्टि के आरम्भ में इस योग को सूर्यनारायण से कहा था।

व्याख्या- यहाँ अर्जुन की जिज्ञासा यह है कि आपतो मेरे समवयस्क हैं अर्थात् गीतोपदेश काल में आपना ९० नब्बेवाँ वर्ष पूर्ण कर रहे हैं और सूर्यनारायण सृष्टि के प्रारम्भ में ही कश्यप अदिति से अवतार ले चुके हैं। उस समय आपका यह शरीर रहा ही नहीं होगा तो आपने इसी शरीर से सूर्यनारायण को योग का उपदेश कैसे दिया। यदि कहें किसी दूसरे शरीर को धारण करके तो उस समय की घटना का आपको स्मरण कैसे हैं, यदि कहें कि 'जातस्मरत्वात्' अर्थात् मुझे पूर्व जन्म की सब बातें स्मरण हैं तो प्रभो यह विशेषता तो बहुत लोगों मे देखी जाती है। फिर उन जातस्मर सामान्य लोगो में और आपमें अन्तर ही क्या रहा। अर्जुन के इस प्रश्न पर भगवान् श्री कृष्ण ६ श्लोकों से वैदिक और प्रामाणिक मीमांसा प्रस्तुत करते हैं। ॥श्री॥

संगति- सर्वप्रथम भगवान् अर्जुन की अल्पज्ञता और अपनी सर्वज्ञता सिद्ध कर रहे हैं। अर्थात् सामान्य जातस्मर अधिक से अधिक अपने दो जन्मों की बात जान सकते हैं। कुछ लोग अपने एक जन्म की अधिक से अधिक १००-५० घटनाएं जानते होंगे परन्तु मैं अपने पूर्व के सभी जन्मों की सभी घटनाएं जानता हूँ। तुम एक भी घटना नहीं जानते। केवल कर्ण के विरोध के सम्बन्ध में उसके साथ घटी हुई तुम्हारे पूर्वजन्म की एक ही घटना का तुम्हे कुछ स्मरण है।

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ।।४।५।।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! मेरे और तुम्हारे बहुत से जन्म व्यतीत हो चुके हैं। मैं अपने और तुम्हारे उन सभी जन्मो को जानता हूँ। हे शत्रुनाशक तुम नहीं जानते।

व्याख्या- अर्जुन शब्द यहां शुभ्रान्त:करण के लिए कहा गया है। तुम्हारे और

मेरे बहुत से जन्म हो चुके परन्तु मेरे जन्म मे भक्तों के प्रेम की विवशता होती है और तुम्हारे जन्म में धर्माधर्म की। मेरा जन्म लीला से ही होताहै। तुम्हारे समान मै भी देव, नर, तिर्यक, शरीर धारण करता हूँ। अन्तर यह है कि मेरे शरीर नित्य होते हैं और तुम्हारे अन्तिय तुम अणु और अल्पज्ञ हो और मैं व्यापक तथा सर्वज्ञ। मुण्डकोपनिषद् भी कहते हैं 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्:' 'यस्म ज्ञानमयं तपः', इसलिए मैं तुम्हारे और अपने सभी जन्मों को जानता हूँ। श्री।

संगति- अब भगवान् के अवतार के सम्बन्ध में अर्जुन बहुत सी जिज्ञासाएं करते हैं। हे प्रभो! आप धर्म और अधर्म इन दोनों से परे हैं। फिर आप में शरीर धर्म कैसे सिद्ध होगा? अप स्वयं हिरण्यगर्भ हैं फिर श्री कौसल्या, श्री देवकि आदि माताओं के गर्भ में आपका निवास कैसा? आप अपरिच्छिन्न हैं अर्थात् आप किसी सीमा में नहीं बन्धते। अर्थात् एकदेशवर्ती कैसे ? आप ब्रह्म होकर बालाक कैसे ? आप निरंजन होकर अवतार काल में अंजन कैसे धारण करते हैं ? इस प्रकार अर्जुन के अनेक प्रश्नों का एक साथ समाधान करते हुए भगवान जर्नादन बोले-

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममामंया।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! मै आज अर्थात् जन्म रहित अव्ययात्मा अर्थात् विनाशरहति शरीरवाला और सम्पूर्ण प्राणियों का ईश्वर होता हुआ भी अपने स्वरूप और स्वभाव में स्थित होकर अर्थात् किसी भी परिस्थिति मे भगवत्ता को न छोडते हुए अपनी योगमाया के साथ उत्पन्न होता हूँ।

व्याख्या- यह सत्य ही है कि सभी विरुद्ध धर्म मुझमें ही रहते हैं। इसलिए मेरे यहाँ सबकुछ सम्भव है। करना न करना अन्यथा करना और विपरीत करना इस सबमें जो समर्थ है उसे ईश्वर कहते हैं। इसलिए देखो अज अर्थात अजन्मा होना हुआ भी मै कोसल्या आदि माताओं के गर्भ से जन्म भी लेता हूँ। आत्मा शब्द का यहाँ स्वरूप अर्थ है। अर्थात् अपरिवर्तनीय स्वरूप वाला होकर भी मैं क्षण में परिवर्तित होता रहता हूँ। इसलिए मुझे राम कहते हैं। राम का अर्थ होता है रमणीय। और क्षण क्षण में नया होते रहना ही रमणीयता का स्वरूप है।

क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।।

अथवा आत्मा शब्द शरीर का वाचक है, आत्मा शरीरे, ऐसा कोश भी कहता है। अर्थात् जिसके शरीर का व्यय अर्थात् नाश नहीं होता वही मैं अव्ययांत्मा हूँ। जीव जन्मता भी है और मरता भी है। परन्तु मैं जन्म लेता हूँ मरता नहीं हूँ। इसलिए भगवान् बहूनि में, व्यतीतानि जन्मानि, कह रहे हैं परन्तु, मरणानि, नहीं कहते। कारण कि जिस भी शरीर को भगवान् ग्रहण करते हैं वह नित्य ही हो जाता है। पर जीव के यहाँ ऐसा नहीं होता। इसीलिए गीता २/२२ में भगवान् कहते हैं।

"वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरो ऽपराणि" न तु नारायणः अर्थात जीर्ण वस्त्र को छोड़कर नर नये वस्त्रों को धारण करता है नारायण के वस्त्र जीर्ण होते ही नहीं। क्योंकि वह चिरपुरातन और नित्य नूतन है। देखो- कभी बालक कभी पौगण्ड, कभी किशोर हो जाता हूँ। बहुत क्या कहूँ। मेरे परिवर्तनों की कला तो देखो। श्री मथुरा के रंगमंच पर कंसवध प्रसंग में एक होते हुए भी मुझ कृष्ण को दर्शको ने बारह प्रकार से देखा जैसे-

> मल्लन ने वज्र नरभूषम मनुष्य ने
> नारियों को दिखा मूर्तिमान मैन रूप मैं।।
> गोपन को स्वजन सलोनो नन्द ननदन में
> दुष्ट नरपालन को काल को स्वरूप मैं।।
> कंस को हो मृत्यु विदुषन को विराट रूप
> जोगिन को शान्त तत्व परम अनूप मैं।।
> यादवन को हो इष्टदेव वसुदेव जू को
> गिरिधर बालरूप भग्न भव कूप मैं।।

यथा-

> मल्लाना मशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्,
> गोपानां स्वजनो ऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
> मृत्युर्भोज्यतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगनिामं,
> वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रंगं गतः साग्रजः।। भागवत १०/४३/१७

इसप्रकार अजन्मा होकर जन्म लेनेवाला, अव्ययात्मा होकर परिवर्तनशील होना हुआ, भूतों का ईश्वर होकर भी ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त जीवों का शासक, कभी

अनीश्वर का भी अभिनय करता हूँ। इसप्रकार आत्ममाया अर्थात अपनी लीला शक्ति से अथवा अपनी योगमाया से अथवा अपनी आह्लादिनी शक्ति सीताजी या राधाजी के साथ अपनी प्रकृति को स्वीकार कर अवतार लेता हूँ। कुछ लोग प्रकृति का वैष्णवी माया अर्थ कर लेते हैं पर वह असंगत है। क्योंकि आगे प्रयुक्त आत्ममाया शब्द से उसमें पुनरुक्ति हो जायेगी। वास्तव में प्रकृष्ट है कृति जिसकी वह भगवत्स्वरूपा भगवान की स्वाभाविकी शक्ति है। इसलिए उपनिषद् में श्रुति कहती है- 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च सम्भवामि' का अर्थ पूर्णरूप से उत्पन्न होना है। यहाँ सम्भवामि शब्द के सम् उपसर्ग का अर्थ है कि भगवान मां के गर्भद्वार रज पिता के शुक्र समागम क्रिया और गर्भवास आदि किसी भी प्रजनन क्रिया की अपेक्षा नहीं करते। वात्सल्य सम्बन्ध से युक्त भगवान को पुत्र मानने वाले वैष्णव दम्पत्ति का सङ्कल्प ही उनके गर्भाधान की क्रिया है।

भगवान् श्रीराम का कौसल्या में गर्भाधान तो दशरथजी का हविप्रदान रूप ही है। जैसा कि वाल्मीकि रामायण में कहा भी गया है-

ततस्तु ताः प्राश्य तमुत्तमस्त्रियो महीपतेरूतम पायसं पृथक।
हुताशनादित्यसमानतेजसोऽचिरेण गर्भान् प्रतिपेदिरे ततः।।
(वा० रा० वाल० १६/३१)

इसीलिए श्री मानस में भी-

एहि विधि गर्भसहित सब नारी।
भईं हृदय हर्षित सुख भारी।। मानस १/१९०/५

अथवा 'माया कृपायां लीलायां' इस कोश के अनुसार यहाँ माया शब्द कृपावाची है। इसप्रकार आत्मअर्थात् नित्य बद्धमुक्त जीवों पर 'मायया' कृपा के कारण अपने स्वभाव को आधार मानकर भक्तवत्सलत्वादि गुणों को प्रकट करने की इच्छा से मैं जन्म लेता हूँ।

अब प्रश्न है कि भगवान् के अवतार में कोई श्रुति भी प्रमाण है? इस प्रश्न का उत्तर है- है! जैसे शुक्लयजुर्वेद की संहिता, श्रुति स्पष्ट कहती है-

प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरजायमानो बहुधाभिजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीराः। तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वाः।

शुक्ल यजु० ३१/१९

अर्थात् प्रजाओं के पति साकेत विहारी श्रीराम तथा गोलोक विहारी श्रीकृष्ण कौसल्या आदि माताओं के गर्भ में विचरण करते हैं तथा वे गर्भद्वार आदि की अपेक्षा न करके भी कौसल्याजी की प्रार्थना पर चार रूपों में और देवकी जी की प्रार्थना पर दो रूपों में साधारण बालक का अनुकरण करते हुए प्रकट होते हैं। उनके इस जन्म रहस्य को भगवतभक्त धीर गण ही जानते है। उन परमात्मा में सम्पूर्ण भुवन विराजते हैं। इसीप्रकार कृष्णावतार में वसुदेव मानस संकल्प से ही देवकी में गर्भ का आधान करते है। इसीलिए भागवत १०/१/१६ में भगवान् शुकाचार्य कहते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने सम्पूर्ण अंशों के साथ वसुदेव के मन में प्रवेश किया। सामान्य जीवात्मा वासनामय पिता के शुक्र में प्रवेश करता है परन्तु भगवान उपासनापूर्ण पिता के मन में प्रवेश कर रहे हैं, यही अन्य जीवों की उनकी विशेषता है। इसी बात को और स्पष्ट करने के लिए भा० १०/२/१८ में शुकाचार्य कहते है-

ततो जगन्मङ्गलमच्चुतांशं समाहितं शूरसुतेन देवी।
दधार सर्वात्मकमात्मभूतं काष्ठा यथाऽऽनन्दकरं मनस्तः।।

भा० १०/२/१८

अर्थात् जिस प्रकार पूर्व दिशा चन्द्रमाँ को धारण करती है उसी प्रकार वसुदेव द्वारा मानस संकल्प से गर्भाधान किये हुए नित्य अंशों वाले सबको आनन्द देने वाले आत्मा के समान अणु आकार वाले जगत् का मंगल करने वाले भगवान् श्रीकृष्ण को भगवती देवकी ने गर्भ में धारण किया।

'मनस्त:' शब्द में तृतीयार्थ में 'तसि' प्रत्यय हुआ है। यदि कहें कि मनस्त: का अन्वय 'आनन्दाकरम्' के साथ कर लिया जाय और अर्थ किया जाय कि जैसे मन से चन्द्रमा को पूर्ण दिशा ने धारण किया था तो यह कहना ठीक नहीं होगा क्योंकि चन्द्रमा को मन से पूर्व दिशा ने धारण किया हो ऐसा प्रमाण कहीं मिलता नहीं। चन्द्रमा मनसो: जात: यह आध्यात्मिक पक्ष है। चन्द्रमा के अवतारवाद में तो अत्रि के नेत्र से चन्द्रमा का उत्पन्न होना ही पुराण प्रसिद्ध है। इसीलिए कालिदास भी ने "अथ नयसमुत्थं ज्योतिरत्रेखिद्यौ:" इसप्रकार कहा। अत: मनस्त: का अन्वय सूरसुतेन के साथ ही होगा। इसलिए आत्ममाया का अर्थ है जीवात्माओं पर कृपा करके अपने स्वरूप को गिराये (च्युत) किये बिना ही भगवान् अवतार लेते हैं। जो शंकराचार्य जी ने गीता भाष्य भूमिका में कहा- वे भगवान् ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, तेज, वीर्य से सम्पन्न

अपनी त्रिगुणात्मिका वैष्णवी मूल प्रकृति रूप माया को वश में करके अजन्मा, अव्यात्मा और जीवों के ईश्वर होकर भी लोगों पर अनुग्रह करते हुए जन्म लिए हुए की भाँति और देहवान की भाँति प्रतीत होते हैं अर्थात न तो उनका जन्म होता है और न उनके कोई शरीर होता है। और इस पर जो मधुसूदन सरस्वती ने अपनी कार्यिका में कहा करिका जो अनेक शक्ति सम्पन्न माया नामक कारणोपाधि है वही भगवान का देह है ऐसा भाष्यकार का मत है। और निर्गुण सच्चिदानन्द रसधन मुझ देहदेही भाव शून्य भगवान वासुदेव में देह की प्रतीत माया मात्र ही है। यहीं उस कारिका की व्याख्या भी की। कुछ लोग नित्य निरवयव परमात्मा में देहदेहीभाव की कल्पना करते हैं परन्तु उनके कथन में कोई युक्ति नहीं है फिर भी उन्हें बोलते हुए हम मना नहीं ही कर सकते। इस न्याय से उनका अपवाद नहीं किया जा सकता।

इसप्रकार शंकराचार्य और मधुसूदन सरस्वती का कथन पूर्णतः अनर्गल है। यदि भगवान के शरीर को मायामय मान लिया जाय तो उसमें मिथ्यात्व की आपत्ति होगी। इसलिए सच्चिदानन्द भगवान के शरीर को मायामय मान लेने पर उसमें ध्यान धारणा आदि की असिद्धि हो जाने पर, वेदाहमेतं, पुरुषं महान्तम्, इत्यादि श्रुतियों में कोई प्रमाणिकता नहीं रह जायेगी। यदि शंकराचार्य एवं मधुसूदन सरस्वती के अनुसार नित्यकारणोपाधि भगवान का शरीर है तो फिर उपाधि को व्यावर्त्यक मानना पड़ेगा और भगवान व्यक्ति। यदि कहो कि कोई आपत्ति नहीं और यदि भगवान ही व्यावर्त्य हैं तब तो यत् सर्वज्ञः सर्ववित् इत्यादि हजारों श्रुतियों में अप्रमाण्य आ जायेगा। दूसरी बात यह भी है कि यदि नित्य कारणोपाधि को भगवान का शरीर माना जायेगा तो किसका कौन आश्रय है, यह भी तो बताना पड़ेगा। यदि कहें कि माया ही ब्रह्म को आश्रय देगी तो यह असम्भव है। किसी ने अंधकार को सूर्यनारायण को आश्रय करते नहीं देखा और कहीं भी शरीरी को शरीर का आधार होते हुए देखा व सुना। यदि कहें कि भगवान ही माया का आश्रय करते हैं तो फिर माया का स्वरूप बताना पड़ेगा। यदि कहें कि सद् और असद् दोनों से अनिर्वचनीय वस्तु ही माया का स्वरूप है तो फिर जो निश्चित पदार्थ है वह अनिवर्चनीय वस्तु का कैसे आश्रय बनायेगा। भला शून्य आकाश दीवार का अवलम्बन कैसे बन सकता है। यदि कहो कि माया अनित्य है तो फिर नित्य परमात्मा अनित्य माया का आश्रय कैसे लेंगे। यदि कहोगे कि माया भी नित्य है तो फिर माया की नित्यता में प्रमाण के रूप में कोई श्रुति

उपस्थित करनी पड़ेगी। यदि कहो माया असत् है तो सत् स्वरूप परमात्मा उसका आलम्बन कैसे करेंगे। झूठे माया को ही भगवान का शरीर मानेगे तो श्रुतियों का विरोध होगा। वे भगवान कहां रहते है? ऐसा पूछने पर सनत्– कुमार ने कहा अपनी महिमा में रहते हैं। माया भगवान की महिमा नहीं है। यद्यपि इसलिए भगवान में देह–देही भाव सिद्ध नहीं होता। फिर भी अनेक श्रुति वचनों के अनुरोध से भगवान की इच्छामय शरीर की परिकल्पना की जा सकती है। क्योंकि श्रुति वचनों पर कोई युक्ति या तर्क नहीं किया जाता। वेद में तो हेतु पूछने वाला भी नास्तिक कहा जाता है जैसे "आकाशवत" सर्वगतश्च नित्य:। "मनोमय: प्राण शरीर आत्मा। "आकाशशरीर' ब्रह्म। इत्यादि श्रुतियां भगवान के शरीर में प्रमाण हैं। आकाश शस्तल्लिङ्गात १/१/२३ यह ब्रह्म सूत्र भी भगवान के शरीर में प्रमाण है। भगवान के अवयवावय भाव के पक्ष में पुराणों में हजारों प्रमाण उपलब्ध हैं जो नित्य सिद्ध होता है उसके लिए युक्तियों की कोई आवश्यकता नहीं होती। प्रचण्ड किरणों से सम्पन्न मध्यान्ह के सूर्यनारायण को सिद्ध करने के लिए क्या किन्हीं युक्तियों की आवश्यकता पड़ती है ? फिर भी श्रुतियों में भगवान् के हस्त, चरण, मुख आदि अवयवों के वर्णन मिलते हैं जैसे 'सहस्रशीर्षा पुरुष: सहस्राक्ष: सहस्रपाद।'

बहुत क्या कहें यदि भगवान को अवयवहीन ही माना जायेगा तो फिर मधुसूदन सरस्वती की 'वंशी विभूषित करात' गीता १८/६६ मधुसूदनी रचना का क्या होगा। अवयव ही भगवान में वंशीविभूषित करत्व कैसे घटेगा। जब उनके पास हाथ ही नहीं तो वंशी बजायेंगे कैसे। यदि कहा जाय कि यह असत्य है तो फिर इसके रचयिता महोदय भी असत्यवादी हैं। इसलिए असत्यवादी व्यक्ति के सभी वाक्य असत्य होंगे। इसलिए असत्यवादियों के साथ भाषण करना व्यर्थ है। यदि कहें कि जो सावयव होता है वह अनित्य होता है क्योंकि वह कार्य है। जैसे घड़ा अवयववान होकर अनित्य है। इस कार्यकारण भाव के अनुसार ब्रह्म अनित्यं 'अवयववत्वात्' इस अनुमान से ब्रह्म में अनित्यता आने लग जायेगी। तो ऐसा नहीं होगा क्योंकि बहुत स्थलों पर अनुमान व्यवहार में खरा नहीं उतरता। जैसे 'योनिमत्व रूप हेतु से यदि- भोगत्व सिद्ध किया जाय तो वह भगनी और पुत्री में भी आपतित होने लगेगा। जबकि वहाँ हेतु है साध्य नहीं। इसलिए श्रौत सिद्धान्तों में अनुमान प्रमाण नहीं बनता।

इसप्रकार अजन्मा अविनाशी सबके ईश्वर भगवान अपनी अह्लादनी शक्ति के साथ जीवों पर कृपा के परवश होकर अपने स्वरूप को न छोड़ते हुए कौसल्या आदि माताओं को निमित्त बनाकर प्रकट होते हैं। श्री।।

संगति- अब अर्जुन फिर प्रश्न करते है कि आप कब अवतार लेते है? इस पर भगवान कहते हैं।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।४/७

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे भरतवंश में उत्पन्न अर्जुन! जब जब धर्म की हानि होती है और अधर्म का अभ्युत्थान होता है तब तब मैं स्वयं को सृजता हूँ अर्थात् सगुण साकार रूप में प्रकट करता हूँ।

व्याख्या- अब यहाँ प्रश्न यह है कि ग्लानि शब्द हर्षक क्षेमार्थक 'ग्लै' धातु से निष्पन्न होता है और हर्ष होता है मूर्तिमान में। धर्ममूर्तिमग्न है नहीं, फिर भगवान ने 'धर्मस्यग्लानि' कैसे कहा?

उत्तर- यहाँ 'हर्ष' शब्द का 'मोष' करके 'क्षम' शब्द को हानि अर्थ मानने से संगति बन जाती है इसीप्रकार प्राचीन भाष्य टीकाकारों ने व्याख्या भी की है। गोस्वामी तुलसीदास जी भी इसका समर्थन करते है-

जब जब होहि धरम कै हानी। बाढ़हि असुर महा अभिमानी।।
तब-तब प्रभुधरि बिबुध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा।।
मानस १/१२१/६-८

अथवा यहाँ सम्बन्ध में षष्ठी है अर्थात् जब जब धार्मिक को धर्म सम्बन्ध में ग्लानि होती है तब तब भगवान का अवतार होता है। अथवा धर्म शब्द 'मत्वर्थीय अच्' प्रत्यय से बना है। अर्थात् धर्मा: अस्ति अस्मिन इति धर्म:। तस्य धर्मस्य। अर्थात् धर्मवत: जब जब धर्मवान को ग्लानि होती है तब तब भगवान का अवतार होता है। इस व्युत्पत्ति का भी दशरथजी की कथा के माध्यम से तुलसीदास जी महाराज समर्थन करते हैं। जैसे मानस में उन्होंने दशरथ जी को पहले धरमधुरन्धर कहा -

धरम धुरन्धर गुननिधि ग्यानी। हृदय भगति मति सारंगपानी
(मानस १/१८७/८)

पुन: अगले ही दोहे में धर्मधुरन्धर महाराज की ग्लानि का भी वर्णन करते हैं। जैसे-

एक बार भूपति मन माहीं। भई गलानि मोरे सुत नाहीं।।
मानस १/१८९/१

अथवा पुराणों के अनुसार धर्म देवता हैं और मूर्त्तिमान भी। इसीलिए श्रद्धा, मैत्री, दया, शान्ति, पुष्टि, तुष्टि, क्रिया, उन्नति, बुद्धि ही तितीक्षा, क्षान्ति तथा मूर्ति ये तेरह धर्म की पत्नियाँ कही गयी है। एतएव भागवत् २/७/६ में धर्म की पत्नी मूर्ति से नरनारायण का अवतार कहा गया है। यथा-

धर्मस्य दक्षदुहितर्यजनिष्ट मूर्त्यां नारायणो नर इति स्वतपः प्रभाव दृष्ट्वाऽऽत्मनो भगवतो नियमावलोपं देव्यस्त्वनङ्गपृतना घटितुं न शेकुः।।
भा० २/७/६

इसप्रकार जब धर्म देवता को ग्लानि अर्थात् उनके हर्ष का क्षय हो जाता है तब भगवान का अवतार होता है।मेरी इस व्याख्या में भी गोस्वामी जी का समर्थन है

अतिसय देख धरम की गलानी। परम सभीत धरा अकुलानी।। मानस १/१८४/४

अथवा यहाँ धर्म शब्द भगवान का वाचक है। 'धर्मो धर्म विधान श्रेष्ठ' विष्णु सहस्त्रनाम महाभारत २/६७/४६ में भगवान कृष्ण के लिए ही धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है। 'ततस्तु धर्मोऽतरितो महात्मा:' इस पक्ष में तृतीय चरण में दृद्वा शब्द का अध्याहार होगा। अर्थात् जब जब अधर्म का अभ्युत्थान देखकर मुझ धर्म रूप परमात्मा को ग्लानि होती है तब मैं अपने को धारण करता हूँ। यहाँ आत्मा शरीर का वाचक है 'आत्माशरीरी:' इसका यह कोष भी प्रमाण है। इस पक्ष में अर्थ होगा, हे भरतवंशी अर्जुन! जब जब अधर्म का अपराभव देखकर धर्मरूप मुझ परमात्मा को ग्लानि होती है तब मैं 'आत्मानं' अर्थात् निरवधिनिरतिशय कल्याण गुणगणनिलय, विशुद्ध सच्चिदानन्द रसधन दिव्य शरीर की रचना करता हूँ। सृजामि का तात्पर्य है कि मेरा शरीर ब्रह्मा नहीं बनाते और न वे बना सकते है। इसे मैं अपनी इच्छा से बनाता हूँ। इसीलिए मानस १/२९२ में गोस्वामी जी कहते है-

निज इच्छा निर्मित तनु माया गुनगोपार।। ।।श्री।।

संगति- इसके अनन्तर आप क्या करते हैं? इस पर स्वजन परित्राण परायण नारायण कहते हैं-

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।। ४/८

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- सन्मार्गगामी साधुओं की रक्षा करने के लिए तथा दुष्टों का विनाश करने के लिए तथा वैदिक धर्म की विधिवत स्थापना करने लिए मैं प्रत्येक युग में प्रकट होता हूँ।

व्याख्या- परित्राण का अर्थ है चारों ओर रे रक्षण। अर्थात् मैं साधुओं की चारों ओर से चारों भुजाओं से रक्षा करता हूँ। यहाँ धर्म शब्द सनातन धर्म का वाचक है। यहाँ यह ध्यान देना चाहिए कि भगवान स्वयं सच्चिदानन्द घन हैं। वे अपने सदरूप से साधुओं का परित्राण करते हैं, अपने चिदरूप से दुष्टों का विनाश करते हैं और अपने आनन्दरूप से धर्म की संस्थापना करते हैं। 'युगे-युगे' का तात्पर्य है कि भगवान प्रत्येक युग में अवतार लेते हैं। कभी अंशावतार तो कभी पूर्णावतार। अंशावतार के भी तीन भेद होते हैं- प्रवेश, आवेश और स्फूर्ति। अथवा भगवान कहते हैं कि मेरा पूर्णावतार त्रेता और द्वापर इन दो युगों में श्रीराम और श्रीकृष्ण के रूप में होता है। इसीलिए युगे युगे् यह द्विरूक्ति की गयी। इन्हीं दोनों अवतारों में पूर्वोक्त तीनों हेतु संघटित हो जाते हैं। जैसे श्रीरामावतार में बाललीला में साधु परित्राण, वनलीला में दुष्टों का विनाश और राज्यलीला में धर्म की स्थापना। इसीप्रकार श्रीकृष्णावतार में ब्रजलीला में साधुओं का परित्राण, मथुरालीला में दुष्टों का विनाश और द्वारिका लीला में धर्म की स्थापना। अथवा भगवान की प्रत्येक लीला में ये तीनों हेतु दिखाई पड़ते है। जैसे भगवान श्रीराम की बाललीला में विश्वामित्र यज्ञ रक्षा से साधु परित्राण ताड़का के वध से दुष्टों का विनाश तथा अहिल्योंधार तथा सीता स्वयंवर से धर्म की स्थपना। इसीप्रकार श्रीकृष्णावतार में भी ब्रजलीला में गोवर्धन धारण तथा दावाग्निपान आदि से साधु परित्राण और पूतना आदि वध से दुष्टों का विनाश और रासलीला से धर्म की स्थापना। इसीप्रकार दोनों अवतारों में भगवान की प्रत्येक लीला में सुविज्ञ पाठक इन लीलाओं को देख सकते हैं। अतः युगे युगे शब्द का अभिप्राय है कि मैं त्रेता में

दशरथ कौशल्या युगल के यहाँ तथा द्वापर में श्री वसुदेव-देवकी युगल के यहाँ प्रकट होता हूँ। यहाँ युग शब्द युगल के अर्थ में है इसलिए महाकवि कालिदास रघुवंश महाकाव्य में युगल शब्द के अर्थ में ही युग शब्द का प्रयोग करते हैं। वन्द्यं- युगं चरणयोर्जनकात्मजाया:। अथवा यहाँ युगे अयुगे यह अकार का प्रश्लेष है। भगवान कहते हैं कि मैं कभी तो माता-पिता युगल को निमित्त बनाता हूँ और कभी अयुग अर्थात् कभी किसी को निमित्त बनाकर जन्म ले लेता हूँ। ।।श्री।।

संगति- अब यहाँ अर्जुन प्रश्न करते है कि भगवान के अवतार से साधकों को क्या लाभ है? अर्जुन के इस प्रश्न पर भगवान कहते हैं-

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वत:।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।।४/९

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! मेरे दिव्य जन्म एवं वेद विहित अलौकिक कर्म तथा नाम, रूप, लीला, धाम को जो इसप्रकार तत्वों से जानता है वह पाञ्चभौतिक शरीर को छोड़कर फिर जन्म नहीं ग्रहण करता अथवा पुनर्जन्मात्मक संसार को नहीं प्राप्त होता वह तो मुझे ही प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या- यहां 'च' शब्द से भगवान के नाम, रूप, लीला, धाम का संग्ह समझना चाहिए। 'दिव्यं' का तात्पर्य है 'दिविभवं' अर्थात ये सब साकेतलोक एवं गोलोक की घटनाओं के परिणाम स्वरूप ही हैं। और इनमें साधु परित्राण, दुष्ट विनाश एवं धर्म स्थापना तीनों हेतु सम्बद्ध रहते हैं।मेरे जन्म-कर्म के ज्ञान से ही साधक के जन्म-मरण समाप्त हो जाते हैं। यदि दर्शनादि हो जायें तो क्या पूँछना।

बिन देखे ऐसी लगन लगी,
दर्शन होंगे तो क्या होगा।

वह मुझे ही प्राप्त करता है। अत: मेरे जन्म, कर्म, नाम, रूप, लीला, धाम के ज्ञान से साधक पुनर्जन्म की विडम्बना से मुक्त हो जाता है, यह उसका अपूर्व लाभ है। ।।श्री।।

संगति- पुन: अर्जुन प्रश्न करते हैं क्या आपके जन्म-कर्म के चरित्रों को जानकर

जीव कैसे मुक्त होता है इस पर भगवान कहते हैं-

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भवमागताः।। ४/१०

रा० कृ० भा सामान्यार्थ- हे अर्जुन! मेरे जन्म कर्म के रहस्य ज्ञानरूप तप से पवित्र हुए तथा राग! भय, क्रोध से मुक्त हुए मुझमें तल्लिन हुए, बहुत से मेरे शरणागत भक्त मुझमें सेव्यसेवक भाव अथवा मेरी निकटता प्राप्त कर चुके हैं।

व्याख्या- हे अर्जुन! 'मेरी जन्म' कर्म लीलाओं का यही वैशिष्ट्य है कि मेरे जन्म की चिन्तन से साधक को मुझमें अनुराग हो जाता है, अत: वह सांसारिक राग छोड़ देता है। मेरे कर्म संकीर्तन से साधक मुझ ही से अभयदान प्राप्त करके संसार में निर्भय हो जाता है। और मेरी लीला के गान से दिव्य बोध प्राप्त कर क्रोध रहित हो जाता है। इसप्रकार मेरे जन्म चिन्तन से राग भय क्रोध मुक्त होकर मेरे कर्मचिन्तन से मुझमें तन्मयता करके मेरे नामादि चतुष्टय चिन्तन से मेरे आश्रित हो जाता है। उप का तात्पर्य है साधक मुझे संसार से अधिक मानने लगता है, इसप्रकार बहुत से लोग मेरे जन्म कर्म रहस्य ज्ञान तप से पवित्र हो चुके हैं। 'मद्भाव' शब्द के दो समास होंगे 'मयि भाव:' 'मद्भाव' मम भाव: 'मद्भाव:' वे मुझमें भाव अर्थात् शान्त वात्सल्य दास संख्य और मधुर इनमें से कोई एक भाव प्राप्त कर चुके हैं। अथवा मेरे प्रति सेव्य सेवक भाव प्राप्त कर चुके हैं अथवा मुझमें भाव अर्थात् स्थिति प्राप्त कर चुके हैं।।श्री।।

संगति- अर्जुन फिर प्रश्न करते हैं कि जब भक्त आपके शरणागत होते हैं तब आप क्या करते हैं? इस पर भगवान कह रहे हैं-

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।। ४।।११।।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे पृथापुत्र अर्जुन! जो लोग मुझमें जिसप्रकार से प्रपन्न अर्थात् शरणागत होते है, मैं उन्हें उसीप्रकार स्वीकार कर लेता हूँ। सभी मनुष्य मेरे ही मार्ग का अनुवर्तन करते हैं। अर्थात् जो जैसे व्यवहार करता है उसके साथ उसी प्रकार का व्यवहार करते हैं।

व्याख्या- यथा का तात्पर्य है शान्त, वात्सल्य, दास्य, सख्य और मधुर इन पाँचों में से जो जिस भाव से मेरी शरण में आता है मैं उसको उसी भाव से स्वीकार कर लेता हूँ। भाव का परिवर्तन नहीं करता। पार्थ शब्द का आशय है कि जैसे तुम पहले मेरे प्रति सख्य भाव रखते थे, तो मैंने उसी भाव से तुम्हें स्वीकारा, और जब गुरू भाव से शरण में आये तब गीता का उपदेश कर रहा हूँ। सभी मनुष्य मेरे ही मार्ग का अनुशरण करते है अर्थात् जैसे का तैसे करते हैं। इसीलिए तुम भी क्रूरकर्मा कौरवों के साथ क्रूरता से वर्तन करो, कोमल मत बनो, नहीं तो मेरे मार्ग से विरुद्ध हो जाओगे। यहाँ ध्यान रहे कि-

जो तो को कांटा बुवै ताहि बोउ तू फूल।
तो को फूलको फूल है वाको है तिरसूल।।

यह कवीर का चिन्तन रघुवीर, अथवा यदुवीर इन दोनों भगवानों सिद्धान्त से विरुद्ध है। क्योंकि भगवान राम भी सागर निग्रह प्रसंग में स्पष्ट कहते हैं-

भय विनु होइ न प्रीति।

और भगवान कृष्ण भी 'मम वर्त्मानुवर्तन्ते' कहकर इसी बात का संकेत करते है और नीति भी यही कहती है- "शठे शाठ्यं समाचरेत" अत:-

जो तो को कांटा बुवै ताहि बोउ तू फूल।।

यह चिन्तन कायरों का, वेद विरोधियों का और नपुंसकों का है। यहाँ भगवान् और वेद दोनों की एक ही आज्ञा है कि-

जो तो के काँटा बूवै ताहि बोउ तूँ भाला।
वो भी मूरख क्या समझे की पड़ा किसी से पाला।।

भगवान वेद भी यही कह रहे हैं- 'योऽस्मान् धूर्वति तं धूर्वयं वयं धूर्वाम' धूर्वि धातु का अर्थ हिंसा है। वेद कहते हैं कि जो हमें मारने आ रहा हो उसे हम मूल से उखाड़कर फेंक दें अर्थात् मार डाले। इसीलिए कौरवों के प्रति कोमल मत बनो, यही 'मम वर्त्मानुवर्तन्ते' का सारांश है।।श्री।।

संगति- पुनः अर्जुन प्रश्न करते है कि हे मदनमोहन! इसप्रकार आप जैसे सर्व

सुहृद शरणागतवत्सल परमेश्वर प्राप्त करके भी लोग अन्य छोटे मोटे स्वार्थ परायण देवताओं की उपासना क्यों करते हैं? मानों यहाँ अर्जुन अपने लिए भी पश्चाताप कर रहे हैं। क्योंकि उन्होंने भी प्रभु को प्राप्त करके इन्द्र और शंकर की उपासना की। इस पर परम कारूणिक श्री भगवान कहते हैं-

कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा।।४।।१२।।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! भिन्न भिन्न कर्मों की सफलता की इच्छा करते हुए लोग इस संसार में मुझसे अतिरिक्त इन्द्राणि देवताओं की पूजा करते हैं। अतः अत्यन्त शीघ्र ही मनुष्य लोक विषयिणी देवताओं के पूजन कर्म से उत्पन्न हुई सिद्धि उन्हें मिल जाती है।

व्याख्या- इसमें और कोई हेतु नहीं है, कारण है भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति की इच्छा तत्तद् देवताओं को उद्देश्य बनाकर कर्मों की सफलता की इच्छा करते हुए मुझसे अतिरिक्त इन्द्र-शंकर आदि देवताओं की लोग उपासना करते हैं। इससे उन्हें मनुष्य लोक में निश्चित ही शीघ्र सफलता मिल जाती है। 'मानुषे लोके' मे विषय सप्तमी है, अर्थात् अन्य देवताओं के पूजन से लौकिक सफलता मिलती है। पर पारलौकिक सफलता के लिए तो मेरी ही उपासना करनी होती है। जैसे तुमने ही इन्द्र की उपासना करके उनसे दिव्यास्त्र प्राप्त किये तथा शंकर भगवान का यजन करके उनसे पाशुपतास्त्र पाया। इनसे तुम बाह्य शत्रुओं को जीत सकते हो, पर संसार रूप वृक्षको काटने के लिए और काम रूप शत्रु को मारने के लिए तुम्हारे यह शस्त्र उपयोगी नहीं होंगे। उनके लिये तो ज्ञानखड्ग और असङ्गशस्त्र अपेक्षित है, अतः इनके लिए तुम्हें मेरी ही उपासना करनी होगी। ।।श्री।।

संगति- फिर भगवान सिंहावलोकन न्याय से तृतीय अध्याय के पश्चात छुटे हुए विषय का वर्णन करते हैं।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभाजशः।
तस्य कर्तारपि मां बिद्धयकर्तारमव्ययम् ।।४।।१३।।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! जिसमें गुण और कर्म का विभाग

विद्यमान है, ऐसे चातुर्वर्ण्य का वेद रूप मैंने ही सर्जन किया है। उस चातुर्वर्ण्य का कर्ता होने पर भी मुझ अविनाशि को अकर्ता ही समझो। अर्थात् कर्म करके भी मैं कर्तृत्वाभिमान से शून्य रहता हूँ।

व्याख्या- जिसमें गुणों और कर्मों का विभाग है वही 'गुणकर्म विभागशः' कहा जाता है, यहाँ प्रथमा को अर्थ में ही अत्यन्त स्वार्थिक शष् प्रत्यय हुआ है। 'सर्वस्य द्वे' पा० अ० ८-१-१ सूत्र के भाष्य में भगवान भाष्यकारने 'एकैकशः' का प्रयोग करके अत्यन्त स्वाथिक शष् प्रत्यय का निर्देश किया है। यहाँ गुण और कर्म पूर्व जन्म के समझने चाहिए, न कि वर्तमान जन्म के। कारण कि वर्तमान के गुण कर्मों के आधार पर वर्णव्यवस्था में अनवस्था होगी। क्योंकि यही व्यक्ति एक ही दिन में चारों वर्णों में प्रवेश कर लेगा। 'तस्य कत्तारं' का तात्पर्य है- चातुर्यवर्णनात्मक सम्पूर्ण जीव जगत की रचना करके भी मैं अपने को अकर्त्ता ही मानता हूँ जवकि जीव वहुत थोड़े कर्मों को करके भी अपने कर्तृत्वाभिमान से मारा जाता है। यहाँ चातुर्यवर्ण प्राणिमात्र में है, केवल मनुष्य में नहीं। पशुओं में भी गौ, वैल ब्राह्मण, सिंह क्षत्रिय, घोड़ा आदि वैश्य और गधा, कुत्ता आदि चतुर्थ वर्ण माने गये हैं। इसीप्रकार पक्षी में भी तोता-ब्राह्मण, और कौवे को चतुर्थ माना जाता है।

अतः सम्पूर्ण चिद्जिदात्मक जीव चातुर्य वर्ण में विभक्त है। ।।श्री।।

संगति- इसीप्रकार मेरा चिन्तन करने से अर्थात् मेरे अकर्त्ता स्वरूप का श्रवण, मनन निध्यासन करने से तुम स्वयं कर्म बन्धन से मुक्त हो जाओगे। इस पर भगवान दो श्लोकों में कहते हैं-

> **न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।**
> **इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते। ४/१४**

> **एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।**
> **कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ।। ४/१५**

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! मुझे कर्मलिप्त नहीं कर पाते। अर्थात् मेरे द्वारा किये जाते हुए भी सुभाषित फलों से दूषित नहीं करते। क्योंकि मुझे कर्मों के शुभ फल में स्पृहा नहीं है। इसप्रकार जो मुझे जानता है वह कर्मों द्वारा बाँधा नहीं

जाता। मुझे इसप्रकार जान करके मोक्ष की अभिलाषा वाले तुमसे पूर्व पुरुषों द्वारा कर्म ही किया गया इसलिए तुम अपने पूर्वजों द्वारा किये हुए अत्यन्त पूर्व कर्म को ही करो।

व्याख्या- 'न लिम्पन्ति' मुझे, कर्तृत्व का अभिमान नहीं है इसलिए कर्मों के शुभाशुभ फलों का मुझमें लेप नहीं होता। स्पृहा शब्द से उपलक्षण में अशुभ फल के द्वैष का भी निषेध समझना चाहिए। अर्थात् न तो भगवान को शुभ कर्म में स्पृहा होती है और न ही अशुभ फल में द्वैष। 'अभिजानति' इसप्रकार जो मुझे कर्म लेप, एवं कर्मों के रागद्वैष से मुक्त परमात्मा का अभीष्ट या जानता है उसे कर्म नहीं बाँधते। इसलिये मुझे जानकर कर्म करो ये तुम्हें भी नहीं बाँधेंगे। एवं, यहाँ, माम। शब्द की अनुवृत्ति है इसलिए तुम कर्म ही करो 'कर्मैव' कुरु ऐवकार से अकर्म और विकर्म का विवच्छेद है। 'पूर्वै:' का तात्पर्य है कि तुमसे पूर्ववर्ती जनकादि और भरतादि ने कर्म ही किया। 'पूर्वतरं' अतसैन अत स ऐन पूर्वम् । यह वैदिक होने से अत्यन्त प्राचीन परम्परा प्राप्त है। अथवा पूर्वान् अतारयत इति पूर्व तरं अर्थात् इससे तुम्हारे पूर्व पुरुष संसर सागर से तरे। यह तुम्हें भी तारेगा। ॥श्री॥

संगति- यहाँ अर्जुन को जिज्ञासा होती है कि हे द्वारिकाधीश आपने कुरु कर्मैव कहकर एवकार द्वारा कर्म से अतिरिक्त किसी पदार्थ का विवच्छंद किया है वह क्या है जिसे आप करने के लिये मना कर रहे है। उसका क्या स्वरूप है। इसप्रकार अर्जुन को प्रश्न करने के लिए इच्छुक देखकर 'वदतां' वरिष्ठ वनमाली बोले-

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।।४/१६

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- कर्म क्या है, अकर्म क्या है, और विकर्म क्या है, इस प्रसंग में बड़े बड़े मनीषी भी मोहित हो जाते हैं। इसलिए मैं तुम्हारे लिए उस कर्म का प्रवचन करूँगा जिसे जानकर अशुभ विकर्म से छूट जाओगे।

व्याख्या- यहाँ कर्म अकर्म के उपलक्षण से विकर्म का बोध है। 'कवि' शब्द का अर्थ है मनीषी अथवा श्रुति और स्मृति में कवि शब्द परमेश्वर के लिए ही आया है जैसे ई० उ० ८ में कविर्मनीषां और (गीता ८/९) में कविं पुराणं तात्पर्य यह है

कि कवि अर्थात् मेरे अंश परशुराम बलराम और बुद्ध भी कर्म, विकर्म और अकर्म के सम्बन्ध में मोहित हैं। परशुराम, मेरे अंशावतार होते हुए भी पिता की आज्ञा को श्रेष्ठ मानकर माँ का वध कर बैठे। जबकि वह विकर्म था। क्योंकि पिता से माता दस गुनी बड़ी होती है। इसप्रकार ब्राह्मण होते हुए भी उन्होंने शस्त्र धारण किया। यदि कहें कि सहस्त्रबाहु को मारने के लिए वह उचित ही था परन्तु उसके अनन्तर बार-बार निर्दोष क्षत्रियों का संहार करना सर्वथा अनुचित था। इसीलिए श्री रामावतार में परिपूर्णतम भगवान श्रीराम ने उनसे धनुषबाण ले लिया। ठीक तुम्हारी भी परिस्थिति वही है। परशुराम में अंश थे, तुम मेरी विभूति। वे ब्राह्मण होकर क्षत्रियोचित कर्म कर रहे थे। शस्त्र धारण उनके लिए विकर्म था। तुम क्षत्रिय होकर ब्राह्मणोचित काम कर रहे हो। शस्त्र त्याग तुम्हारा विकर्म है। परशुराम से भगवान राम ने धनुष बाण लिया था और यहाँ मैं भी तुमसे शोक और मोह लूँगा। परशुराम जी को श्रीराम द्वारा पूर्व ही तोड़े गये जीर्ण से धनुष पर ममत्व था और तुमको मेरे द्वारा मारे गये जीर्ण भीष्मादि के शरीरों पर ममत्व है। परशुराम को कुमार श्रीलक्ष्मण के सम्वाद में अक्षर अक्षर पुरुषोत्तम का ज्ञान हुआ और तुम्हें भी गीता के पन्द्रहवें अध्याय में तीनों का ज्ञान होगा। परशुराम श्रीराम के वचन से मोह मुक्त हुए थे और तुम मेरे वचन से। परशुराम, राम संवाद के पश्चात् सीताजी का रक्त सिन्दूर से शृंगार हुआ था और कृष्ण-अर्जुन सम्वाद के पश्चात द्रौपदी का दुस्सासन के रक्त से शृंगार होगा। वहाँ वरण हुआ था यहाँ रण होगा। इसीप्रकार मेरे भ्राता बलराम को कर्म, विकर्म तथा अकर्म में सन्देह था। मुझे परमात्मा के रूप में जानकर भी वे सेमन्तक मणि के सम्वन्ध में मेरे प्रति संदेह कर बैठे। जैसा कि स्वयं भगवान श्रीकृष्ण भागवत जी में अक्रूर जी से कहते हैं-

तथापि दुर्धरस्त्वन्यैस्त्वय्यास्तां सुव्रते मणिः।
किन्तु मामग्रजः सौ सम्यङ्ः न प्रत्येति मणिं प्रति।। (भा० १०/५७/३८)

अर्थात् हे अक्रूर जी जिस मणि को और लोग नहीं रख पाये वह आपके पास ही रहे केवल बार सभा में दिखा दीजिए। क्योंकि मेरे बड़े भ्राता बलराम भी मणि के सम्वन्ध में मुझ पर विश्वास नहीं कर रहे हैं। इसीप्रकार विकर्म में लगे हुए दुर्योधन का बलराम जी ने पक्ष लिया जैसा कि श्रीमद् भागवत में कहते हैं-

युवां तुल्यबलौ वीरौ हे राजन् हे वृकोदर।
एकं प्राणाधिकं मन्ये उतैकं शिक्षयाधिकम् ।।

तस्मादेकतरस्येह युवयोः समवीर्ययोः
न लक्ष्यते जयोऽन्यो वा विरमत्वफलो रणः।। (भा० १०/७९/२६/२७)

बलराम कहने लगे हे दुर्योधन तथा हे भीमसेन तुम दोनों समान बल वाले हो। एक शक्ति में अधिक है तो एक शिक्षा में। इसलिए दोनों में किसी एक का जय पराजय करना निश्चित करना कठिन है। अतः यह युद्ध समाप्त हो इसका कोई फल नहीं है। महाभारत में बलराम जी हल लेकर भीमसेन को मारने दौड़ पड़े जैसे-

ततोलाङ्गलमुद्यम्य भीममभ्यद्रवद् वली।
तस्योर्ध्ववाहोः सदृशं रूपमासीन्मेमहात्मनः।
बहुधातुविचित्रस्य श्वेतस्येव महागिरेः।।
तमुत्पतन्तं जग्राह केशवो विनयान्वितः।
बाहुभ्यां पीनवृत्ताभ्यां प्रयत्नादवलवद्बली।।
(शल्य म० भा० ६०/९, १०, ११)

इतना ही नहीं अधर्म में लगे दुर्योधन के प्रति बलराम जी के आशीर्वाद भी सुने जायेंगे जैसे-

हत्वा धर्मेण राजानं धर्मात्मानं सुयोधनम् ।
जिह्मयोधीति लोकेऽस्मिन् ख्यातिं यास्यति पाण्डव।।

दुर्योधनोऽपि धर्मात्मा गतिं यास्यति शाश्वतीम् ।
ऋजुयोधी हतो राजा धार्तराष्ट्रो नराधिपः।।

युद्धदीक्षां प्रविश्याजौ रणयज्ञं वितत्य च।
हुत्वाऽऽत्मानममित्राग्नौ प्राप चावभृथं यशः।।
म० भा० शल्य ६०/२७, २८, २९)

इसीप्रकार मेरे अंशावतार बुद्ध ने वेद विरुद्ध विकर्म का ही उपदेश किया। इसलिए कर्म का उपदेश करूँगा। यहाँ आकार का प्रश्लेष करके अकर्म का और उपलक्षण से विकर्म का उपदेश समझना चाहिए। जिन तीनों को जानकर तुम अशुभ संसार से मुक्त हो जाओगे। ।।श्री।।

संगति- अब पूर्व प्रतिज्ञा अनुसार कर्म, विकर्म और अकर्म की चर्चा करते हैं। उनमें वर्णाश्रम से प्राप्त वेद विहित अनुष्ठान को कर्म कहते हैं। वेद विहित से विरुद्ध को विकर्म कहते हैं और 'कर्तृत्व शून्यत्व' अथा फलाभि सन्धि से रहित वेद विहित कर्म को अकर्म तथा कर्म के अभाव को अकर्म कहते है। इन्हीं तीनों की व्याख्या का प्रारम्भ करते हुए भगवान कहते हैं-

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्चबोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।। ४/१७

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! तुम्हें कर्म के विषय में समझना है विकर्म के विषय में भी समझना है और अकर्म के विषय में भी समझना है क्योंकि कर्म, विकर्म और अकर्म की गति बहुत गहन है। यहाँ 'हि' हेत्वर्थक और 'अपि' निश्चयार्थक है और द्वितीय तथा तृतीय चरण में प्रयुक्त 'च' समुच्यार्थक है। अत: इन तीनों के सम्बन्ध में तुम्हें समझना है अथवा 'कर्मण:' विर्कमण:, और अकर्मण: इन तीनों में कर्म के अर्थ में सम्बन्ध षष्ठी है। अर्थात् तुम्हें कर्म, विकर्म और अकर्म तीनों समझने में 'गति' शब्द ज्ञानार्थक है। यहाँ 'कर्मण:' विकर्म और अकर्म इन दोनों का उपलक्षण है। गहन शब्द का तात्पर्य है जैसे मेरी सहायता से तुमने खाण्डव वन को भष्म किया उसीप्रकार इस बार कर्मवन को जला डालो। 'गहनं गहरे वने' गहन जंगल को वन कहते हैं। ||श्री||

संगति- अब ज्ञान की कुशलता में बुद्धिमत्ता का वर्णन करते है-

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येपु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ।।४/१८

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! जो साधक मनुष्य कर्म में भी अकर्म देखे अर्थात् कर्म करता हुआ भी फल न चाहकर, मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूँ सोच ले तथा जो कर्मों के न होने पर कर्म देखे। अर्थात् यह समझ ले कि कर्मों का अभाव भी एकप्रकार का कर्म ही है अर्थात् उस परिस्थिति में भी श्रुति विहित मर्यादा का उल्लंघन न करे, वही मनुष्यों में बुद्धिमान है, वही योगी है, वही सम्पूर्ण कर्मों को करने वाला है।

व्याख्या- इस सम्बन्ध में आचार्यों का परस्पर मतभेद है। यहाँ कर्मशब्द वेद विहित क्रियानुष्ठान के अर्थ में है। कुछ लोग कर्म शब्द को ब्रह्म में आरोपित संसार की सत्ता का वाचक मानते हैं और अकर्म को कर्म अभाव अर्थात् ब्रह्म के अर्थ में देखते हैं। उनके मत में ब्रह्म में आरोपित संसार रूप कर्म में जो अकर्म अर्थात् संसार का अपवाद करके ब्रह्म को ही देखता है और अकर्म अर्थात् कर्म के अभाव वाले ब्रह्म में जो संसार रूप कर्म को देखता है वही मनुष्यों में बुद्धिमान और संसार के कर्म का वेत्ता है। यही अद्वैतवादियों के अध्यारोपापवाद न्याय का बीज है। पर उनसे यह पूछना चाहिए कि बुद्धिमान कौन होता है। सम्यक दर्शन से या असत्य दर्शन से। यदि सम्यक दर्शन से बुद्धिमत्ता होती है तो यह बताओ कि क्या कोई विशुद्ध ब्रह्म में असत् संसार का दर्शन करके बुद्धिमान होगा। क्या जिस ब्रह्म में संसार का बाध हो चुका क्या उसका आरोप सम्भव होगा। क्योंकि रस्सी को उसके स्वरूप से पहचान लेने पर उसमें फिर सर्प की प्रतीत कैसी। उसीप्रकार ब्रह्म को तत्व से जान लेने पर संसार रूप कर्म का कैसे अध्यारोप हो सकेगा? इन प्रश्नों का उत्तर वे ही जाने में कुछ लोग अकर्म पद से ज्ञान अर्थ मानते हैं अर्थात् जो ज्ञान में कर्म और कर्म में ज्ञान को देखता है वह बुद्धिमान है। अर्थात् ज्ञान में वेद विहितत्व का चिन्तन और कर्म में भगवान का चिन्तन यही बुद्धिमत्ता है। किन्तु उस व्याख्यान में भगवान के वचन का विरोध होगा। क्योंकि भगवान ने गीता ४/३३ में ज्ञानोदय में कर्म की समाप्ति तथा गीता ४/३७ में ज्ञानाग्नि द्वारा कर्म को भष्म होने की बात कही। इसलिए ज्ञान में कर्म दिख ही नहीं सकता। अब मैं पक्षपात शून्य मन से इस श्लोक के व्याख्यान का प्रयास कर रहा हूँ।

कर्मों के अभाव और कर्मों के अनारम्भ को अकर्म कहते हैं। जो कर्म करता हुआ भी गुण ही गुणों में वरत रहे हैं। मैं कुछ नहीं करता 'इसप्रकार आत्मकर्तृक कर्म का अभाव देखता है और कर्म का अनारम्भ न करने पर भी गुणों में गुणों के वर्तने के कारण गुण कर्तृक कर्म देखता है। अथवा जो कर्म के अभाव में भी कर्म अर्थात् वेद विहितत्व का चिन्तन करता हुआ कर्मकाण्डियों की भाँति करणीय न रहने पर भी वैदिक मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता वही मनुष्यों में बुद्धिमान है। वही समत्व लक्षण से युक्त है और वही कृत्स्न कर्म कृत अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों को करने वाला अथवा 'कृत्स्न कर्माणि कृन्तति' इति 'कृत्सन कर्म कृत' अर्थात् वही सम्पूर्ण कर्म के

वन का काटने वाला है। जैसे- भगवान श्रीराम ने 'धनुर्भंग' का रूप कर्म करने पर भी अकर्म देखा।

छुवतहिं टूट पिनाक पुराना।
मैं केहि हेतु करौं अभिमाना।।

और रावण वध जैसे उत्कृष्ट कर्म करने पर भी अकर्म देखा-

कुम्भकरन रावण दोऊ भाई।
यहाँ हते सुर मुनि दुखदाई।।

और अकर्म करणीय न रहने पर भी कर्म ही देखा। परमेश्वर होने से दशरथ, कौशल्या, वशिष्ठ को प्रणाम करना कोई करणीय नहीं था फिर भी किया-

प्रातकाल उठि कै रघुनाथा।
मातु पिता गुरु नावहि माथा।।

इसलिए युद्ध करो परन्तु उसमें कर्तृत्व अभिमान मत करो। ||श्री||

संगति- उसी अकर्म की व्याख्या करते हैं-

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।। ४/१९

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! जिस साधक के नित्य नैमित्तिक कर्मों के सभी शुभारम्भ कामनाओं के संकल्प से रहित होते है तथा ज्ञान रूप अग्नि में जिसके सभी शरीरोपयोगी प्रारब्ध से अतिरिक्त कर्म जल चुके हैं उसी को विद्वान लोग पंडित कहते हैं।

व्याख्या- क्रियायें बहुत होती है इसलिए 'समारभ्याः' यह बहुवचनान्त प्रयोग हुआ। प्रत्येक आरम्भ बिना संकल्प के नहीं होता। इसलिए कर्मकाण्डी लोग सर्वत्र संकल्प पढ़ते हैं। परन्तु जिसके क्रियारम्भ काम संकल्प से वर्जित् परन्तु राम संकल्प से सर्जित होते हैं वही पंडित है। यही कर्म में अकर्मता है।

संगति- अर्जुन फिर प्रश्न करते है कि प्रभो। कर्म में अकर्मता कैसे आ सकती है? इस पर भगवान कहते हैं-

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः।। ४/२०

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! जो कर्म के फलों में आसक्ति छोड़कर मुझ नित्य परमात्मा के चिन्तन से तृप्त है तथा संसार के सभी आश्रयों को छोड़कर जिसने मुझ परमात्मा को अपना आश्रय अर्थात् शरण निश्चित कर लिया है वह कर्म में प्रवृत्त हुआ भी कुछ नहीं करता।

व्याख्या- 'कर्मफलासंग' यहाँ कर्मधारय' 'तत्पुरुष और द्वन्द ये तीन समास होंगे।अर्थात् कर्म जिसमें फलित होते हैं ऐसे आसङ्ग अर्थात् आसक्त को छोड़कर अथवा कर्मों के फलों में वर्तमान आसक्ति ही कर्मफलासङ्ग है। अथवा कर्मफल और आसङ्ग ये दोनों ही छोड़ देने चाहिए। यहाँ नित्य शब्द परमात्मा का वाचक है। 'अभिप्रवृत्तः' अर्थात् जो मेरी आज्ञा से अभीष्ट बुद्धि से कर्म में प्रवृत्त हुआ है। ।।श्री।।

संगति- बहुत क्या कहूँ? आसक्त रहित साधक शरीर संचालन के लिए उपयोगी कर्म करता हुआ भी पाप भागी नहीं बनता। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए भगवान कहते हैं-

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ।।४/२१

रा० कृ० भा० सामान्यार्थक- हे अर्जुन! कर्मों के फलों से रहित तथा चित्त और मन पर नियन्त्रण करने वाला सभी परिग्रहों को छोड़ चुका हुआ साधक केवल शरीर निर्वाहक कर्म करता हुआ भी कर्मबन्धन से लिप्त नहीं होता।

व्याख्या- यहाँ 'आशीः' शब्द फल का पर्याय है। क्योंकि 'आशास्यते इति आशीः' जिसकी आशा की जाती है उसे आशीष कहते हैं। आत्मा शब्द मन का पर्याय है। इसलिए 'यतोचित्तात्मानो मेन स यत चित्तात्मा' चित्त जीव को कहते हैं। उसको विस्मृत करने वाले परमात्मा को चित्त कहते हैं। 'चितं तनोति इति चित्तः' जिस आत्मा अर्थात् मन के द्वारा भगवान भी प्रेम से वश में कर लिये गये हों वही यदि चित्तात्मा है, इस पक्ष में दो बहुव्रीहि होंगे "चित्तःयेन सयतचित्ता' यत चित्तः आत्यायस्य सः यतचित्त्वात्मा" अथवा यहाँ त्रिपद बहुव्रीहि करना चाहिए। यतः चित्तः आत्मनः येन स यतचित्तात्मा।

जिसने मन से परमात्मा को वश में कर लिया है तथा जिसने सभी परिग्रहों को छोड़ दिया है वह कर्मों से लिप्त नहीं होता

संगति- भगवान दूसरे भी प्रकार से कर्म में अकर्मता दिखा रहे हैं-

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।। ४/२२

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! अकस्मात् बिना प्रयास प्राप्त हुए लाभ से संतुष्ट शीत, उष्ण आदि द्वन्द्वों से अतीत तथा कोई मुझसे आगे न हो इस मात्सर्य भाव से दूर तथा कर्मों की सिद्धि और असिद्धि में समत्व साधारण करने वाला साधक कर्म करके भी उसके फल से नहीं बंधता। 'प्रयत्न' 'नैरपेक्ष' अर्थात् सहज भाव को यदृच्छा कहते है। 'मत्सर' शब्द सुवन्त और तिगन्त दो पदों को मिलकर बनता है। 'सरण्यं सर:' यहाँ 'स्त्री' धातु से भाव में 'धज्' अर्थ में 'क' प्रत्यय हुआ। 'मत' शब्द 'अस्मत' शब्द के पंचमी एकवचन का रूप है। अब इन दोनों को मिलकार एक शब्द बन गया मत्सर:। पुन: भाव का विशेषण मानने पर मत्वर्थीय 'अच' प्रत्यय करके मत्सर शब्द बनता है। भावार्थ यह है कि अमुक व्यक्ति का मत् अर्थात् मुझसे शरण्य अर्थात् आगे बढ़ना हो रहा है यह प्रक्रिया जिसमें आती है उस भाव को मत्सर कहते हैं। कर्म की सफलता को सिद्धि और असफलता को असिद्धि कहते हैं। दोनों में समबुद्धिवाला व्यक्ति 'न 'नवन्ध्यते' 'न नितरां वध्यते ' अर्थात पूर्णतया- नहीं बँधता अर्थात् पहले बँधा हुआ भी छूट जाता है। ।।श्री।।

संगति- और भी कर्म में यज्ञ भावना करता हुआ साधक अकर्मता के दर्शन कर सकता है। अत: यज्ञ पुरुष भगवान नारायण नव श्लोकों में यज्ञ का वर्णन करते हैं।

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।। ४/२३

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! कर्मों और कर्मफलों में आसक्ति रहित कर्मबन्धनों से मुक्त ज्ञान रूप मुझ परमात्मा में सुस्थिर चित्त वाले यज्ञ के निमित्त आचरण करने वाले महापुरुष का सम्पूर्ण कर्म समाप्त हो जाता है।

व्याख्या-जिसका संग अर्थात कर्म फलासक्ति चली गयी है वही गतसंग है जिसका चित्त पूर्वोक्त ज्ञान से व्यवस्थित हो गया है अथवा अर्थ पंचक के ज्ञान में जिसका चित्त व्यवस्थित है अथवा सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म (तै० उ० १/१) इस श्रुति के अनुसार परमात्मा भी ज्ञान है। ऐसे मुझ परमात्मा में जिसका चित्त व्यवस्थित है ऐसा महापुरुष प्रत्येक कार्य यज्ञ के लिए करता है यहाँ यज्ञ शब्द विष्णु वाचक है उनके लिए सारे संसार को सीताराम राधाकृष्ण मानकर उसकी सेवा आदरपूर्वक करता है अर्थात् राष्ट्र, समाज, शोषित पीड़ित दीन-हीन विकलांगों की जो सेवा करता है उसका कर्म भगवान में चला जाता है। कर्म काण्डी लोग देवतोदेश्यक द्रव्य त्याग को यज्ञ कहते है। अर्थात् जिसको सेवा की आवश्यकता हो, समाज के उस वर्ग के लिए कुछ अर्पित करना ही यज्ञ है। ।।श्री।।

संगति- अव अर्जुन फिर अन्तर प्रश्न करते हैं कि यज्ञ कितने प्रकार का होता है उसका सम्पादन कैसे किया जाय? वह आध्यात्मिक है या अधिभौतिक, वह आन्तर है या बाह्य, वह श्रौत है या स्मार्त। इसप्रकार अर्जुन की विपुल जिज्ञासाओं का समाधान करते हुए प्रणतवत्सल भगवान कहते हैं-

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।। ४/ २४

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! जिनके द्वारा हवि अर्पित किया जाना है वह कुशा, स्रुवा, प्रोक्षणी, प्रणीती आदि ब्रह्म हैं और ब्रह्म रूप यजमान के द्वारा हवन किया हुआ हवि भी ब्रह्म है। और जिसकी ब्रह्म रूप कर्म में समाधि अर्थात स्थिति है ऐसे यजमान द्वारा प्राप्तव्य यज्ञजनित फल भी ब्रह्म ही है।

व्याख्या- यज्ञ में अर्पण सामग्री प्रोक्षणी 'कुशा' 'मन्त्रादि' हवि 'अग्नि' हवन - क्रिया होता यजमान और फल इन छहो की चर्चा तो की गई और अर्पण शब्द में अर्य्यत अस्मै इति अर्पणम्, जिसे उद्देश्य मानकर हवि अर्पित की जाती है इस व्युत्पत्ति से देवता का भी ग्रहण समझ लेना चाहिए। इसप्रकार यज्ञ के सात अङ्ग हुए। जब इन सात अङ्गो से युक्त यज्ञ ब्रह्म ही है तो उसके निमित्त किया हुआ कर्मबन्धन नहीं कर सकता यही भगवान का अभिप्राय है।

संगति- इसप्रकार ब्रह्म यज्ञ की चर्चा करके भगवान दूसरे देवयज्ञ की चर्चा कर रहे हैं-

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति।। ४/२५

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- इसके अतिरिक्त कर्मयोगी जन इन्द्रादि देवतोद्देश्यक दैवयज्ञ की ही उपासना करनी चाहिए। और उनसे भी अतिरिक्त वैष्णवजन यज्ञ रूप जीवात्मा के द्वारा यज्ञ अर्थात् यज्ञ के उद्देश्यभूत इन्द्रादि देवातओं को ब्रह्मरूप अग्नि में हवन करते हैं अर्थात् सभी देवताओं को मुझ भगवान में ही विलीन करके वहुदेवतापूजन रूप प्रपञ्च से मुक्त हो जाते हैं। यहाँ अपर शब्द निष्काम कर्मयोगियों के लिए है। पुनः अपर शब्द भक्त योगियों का बोधक है।

यज्ञ शब्द जीवात्मा का भी वाचक है इसीलिए निसक्तकार यास्क ने कहा है यज्ञो वै स्वात्मा नाम, अर्थात् भगवत्प्रपन्न अपना आत्मतत्व ही यज्ञ है जिनका यजन किया जाता है उन देवताओं को भी यज्ञ कहते हैं। इज्यते पूज्यते इति यज्ञः। इसीलिए यक्त श्री वैष्णव यज्ञ रूप जीवात्मा से देवताओं का हवन भगवान में करते है अर्थात् जब जीवात्मा ही भगवान के चरण में चला जाता है तो उसके साथ सभी उपाधियाँ भी भगवान में समाहित हो जाती हैं। जैसा कि पुराण कहते हैं-

आकाशात्पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम् ।
सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति ।।श्री।।

संगति- अब भगवान और दूसरा यज्ञ भी कह रहे हैं-

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति।। ४/२६

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- इनसे भी विलक्षण साधक जन श्रवण 'नेत्र' रसना, घ्राण, त्वक, वाणी, पाद, पायु, उपस्थ इन दसों इन्द्रियों को हवि की भावना से संयम की अग्नि में हवन कर देते हैं। अर्थात् इन्द्रिय निग्रह में भी उनकी यज्ञभावना रहती है। उनसे भी अतिरिक्त उच्चसाधना सम्पन्न लोग दसों इन्द्रियों को भी अग्नि बनाकर उन्ही में शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, वचन, ग्रहण, गमन, उत्सर्ग और

आनन्द इन दसों विषयों को दशांक की भाँति हवन कर डालते हैं।

व्याख्या- संयमाग्नि और इन्द्रियाग्नि इन दोनों स्थलों पर आदरार्थ में बहुवचन है। जब इन्द्रिय निग्रह और विषय निग्रह में भी यज्ञ भावना आ जाती है तब अकस्मात् इनसे साधक का कर्तृत्व अभिमान हट जाता है। जैसे भगवान शङ्कर ने काम दहन के समय उस रूप विषय को अपनी नेत्रेन्द्रिय की अग्नि में हवन किया जैसा कि कुमारसम्भव में कालिदास भी कहते हैं-

क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद्गिरः रवे मरुता चरन्ति
तावत्स वह्निर्भवनेत्र जन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार।।

श्री रामचरित मानस में भी गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं।

सौरभ पल्लव मदन विलोका।
भयउ कोप कम्पेउ त्रैलोका।।
तब शिव तीसर नयन उघारा
चितवत काम भयउ जरि छारा।। मानस १/८६/६-७

शिव ताण्डव में रावण ने यही तथ्य स्वीकार किया-

करालभालपट्टिका धगद्धग धगज्जवलद् धनजया हुतिकृत प्रचण्ड पञ्चसायके।

क्योंकि शिवजी ने यज्ञभावना से ही काम को जब भस्म किया था इसलिए उनमें कर्तृत्व का अभिमान नहीं आया ।श्री।

संगति- अब भगवान इससे भी विलक्षण यज्ञ का विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं-

सर्वाणीन्द्रियकर्मांणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।। ४/२७

रा० कृ० भा०- हे अर्जुन! इन्हें भी सूक्ष्म अन्य साधक जन दसों इन्द्रियों एवं पाँचों प्राणों के सभी व्यापारों को स्वस्वरूप के ज्ञान से प्रज्वलित किये हुए अपने मन की संयम रूप योगाग्नि में हवन कर डालते हैं।

व्याख्या- द्वितीय चरण में प्रयुक्त चकार बुद्धिमन के व्यापार का अलक्षण

है। प्राण, अपान, उदान, समान, ध्यान ये पाँच प्राण हैं। आत्मसंयमरूप योगग्नि में पूर्वोक्त सत्रह व्यापारों का हवन करके साधक कर्तृत्व अभिभाव से मुक्त हो जाता है ॥श्री॥

संगति- इसके अनन्तर भगवान पाँच यज्ञों का नाम गिनाते हुए कहते हैं

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्त थापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।। ४/२८

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- इनके अतिरिक्त और भी तीक्ष्ण व्रत वाले सन्त द्रव्य, तप, योग, स्वाध्याय और ज्ञान में भी यज्ञ भावना रखते हैं।

व्याख्या- 'शित' शब्द तीक्ष्णता का वाचक है और यहाँ 'सम्' के साथ होने से इसका अर्थ है अत्यन्त तीक्ष्ण यहाँ पाँचों स्थलों पर समानाधिकरण बहुब्रीहि समझना चाहिए। अर्थात् द्रव्यं यज्ञः येषां ते द्रव्य यज्ञाः। इसीप्रकार अन्यत्र भी समास समझना चाहिए। जब द्रव्य में यज्ञ भावना होगी तब 'इदं रामाय न मम' यह रामजी के लिये ही है मेरा कुछ नहीं। ऐसा भाव आने से भगवान के चरण में चारों 'स्व' का 'आ' अर्थात् आदरपूर्वक 'हा' अर्थात् समर्पण। इसप्रकार स्वाहाकार का शुद्ध स्वरूप समझ में आ गया। और हम श्रीराम, राष्ट्र, समाज, दीनहीनों की सेवा में अपनी शुद्ध कमाई से कुछ अर्पित करेंगे तो हमारे लोक-परलोक दोनों बन जायेंगे। जब हम तप में यज्ञ भावना रखेंगे तो हमारी साधना लोकमङ्गल के लिए होगी। रावण की तपस्या की भाँति लोगों को सताने वाली नहीं। इसीप्रकार योग, स्वाध्याय और ज्ञान के सम्बन्ध में समझना चाहिए। स्वाध्याय का तात्पर्य है अपने गोत्र के अनुसार निर्णीत स्वशाखा प्राप्त वेद का अध्ययन। ज्ञान में यज्ञ भावना का तात्पर्य है प्राप्त विद्या को निःस्वार्थ भाव से दूसरों को बाँटना। इसलिए अभियुक्त जन कहते हैं-

ज्ञानं सम्प्राप्य संसारे, यः परेभ्यो न यच्छति।
ज्ञानरूपी हरिस्तं वै प्रसन्न इव नेक्षते।।

अर्थात् ज्ञान प्राप्त करके जो दूसरों को नहीं बाँटना। ज्ञान रूप हरि उसको प्रसन्नता से नहीं निहारते। इसीलिए भागवत में ज्ञान का दान न करने वाले को ज्ञान-खल कहा गया है।

सरस्वती ज्ञानखले यथा सती (भागवत १०/२/१९) ॥श्री॥

संगति- अब दो श्लोकों से भगवान यज्ञ का निर्वचन करते हैं-

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वाप्राणायाम परायणाः।। ४/२९

अपरे नियताहारा प्राणान्प्राणोषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः।। ४/३०

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! प्राणायाम क्रिया में तत्पर कुछ लोग अपान में प्राण का हवन करते हैं और कुछ लोग प्राण में अपान का हवन करते हैं और कुछ लोग प्राण और अपान की गति को रोककर अपनी इन्द्रियों को ही प्राणों में हवन कर डालते हैं। इसप्रकार पूर्वोक्त यज्ञों से जिनके पाप नष्ट हो गये हैं ये तेरहों साधक यज्ञ को जानते हुए यज्ञरूप परमात्मा को प्राप्त करते हैं।

व्याख्या- अपान में प्राण का हवन करना यह पूरक प्राणायाम है। प्राण में अपान का हवन करना यह कुम्भक प्राणायाम है, और प्राण और अपान की गति को रोककर प्राणवायु का इन्द्रिय में हवन करना अर्थात् घ्राणेन्द्रिय से श्वास को निकालना यह रेचक प्राणायाम है। इसप्रकार यहाँ ब्रह्मयज्ञ, दैवयज्ञ, यज्ञयज्ञ इन्द्रिययज्ञ, विषययज्ञ, इन्द्रियप्राणकर्मयज्ञ, द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ 'ज्ञानयज्ञ' 'प्राणायामयज्ञ' और प्राणयज्ञ ये तेरह यज्ञ कहे गये हैं। ॥श्री॥

संगति- अब भगवान यज्ञ की फलश्रुति कहते हैं-

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ।। ४/३१

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे कुरुवंशियों में अत्यन्त सन्त स्वभाव वाले अर्जुन! इन तेरहों यज्ञों का शिष्ट भोजन करने वाला महानुभाव सनातन ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। जिसने पूर्वोक्त तेरह यज्ञों में से एक भी यज्ञ नहीं किया है उसके लिए यह लोक भी सुखप्रद नहीं हो सकता परलोक कैसे सुखप्रद होगा?

व्याख्या- यज्ञ से शिष्ट अमृत अर्थात् ब्रह्मसुख ही होता है। क्योंकि इन तेरह यज्ञों से सामान्य फल की प्राप्ति नहीं होती। अयज्ञस्य अननुष्ठितयज्ञस्य अर्थात् जिसने यज्ञ नहीं किया है उसके लिए दोनों लोक दुःखावह ही होंगे। इससे तुम इनमें से कोई एक यज्ञ कर लो। ॥श्री॥

संगति- अब भगवान इस यज्ञ प्रकरण का निगमन अर्थात् उपसंहार कर रहे हैं-

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ।।४/३२

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! इसीप्रकार के बहुत से यज्ञ ब्रह्म अर्थात् वेद के मुख अर्थात् प्रमुखभाग कर्मकाण्ड में वर्णित हैं। उन सबको कर्म से ही उत्पन्न समझो। इसप्रकार जानकर उनमें अकर्मता का दर्शन करते हुए तुम कर्मबन्धन से छूट जाओगे।

व्याख्या- यहाँ ब्रह्मपद वेदवाचक है। मुख का अर्थ है प्रमुख भाग का कर्मकाण्ड। अर्थात् मैंने मुख्य यज्ञों की चर्चा की है। उनमें से बारह यज्ञ आध्यात्मिक हैं और एक ही द्रव्ययज्ञ, वेद में भेद प्रभेदों के साथ वर्णित है। तुम्हारे बड़े भ्राता युधिष्ठिर ने राजसूय नामक द्रव्ययज्ञ किया। पर उससे तुम लोगों को कितना कष्ट हुआ, अब तुम ज्ञानयज्ञ करो। ॥श्री॥

संगति- अब अर्जुन फिर प्रश्न करते हैं कि इन यज्ञों के संक्षेपतः कितने विभाग है और कौन कितने श्रेष्ठ है? अर्जुन की इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए यज्ञनारायण भगवान कहते हैं-

श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।। ४/३३

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे शत्रुओं को तप्त करने वाले अर्जुन द्रव्ययज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ होता है। हे पृथानन्दन! क्योंकि सम्पूर्ण कर्म ज्ञान के प्राप्त होने पर पूर्णतया परिसमाप्त हो जाता है।

व्याख्या- हे परन्तप- यज्ञ दो प्रकार का होता है। द्रव्यमय और ज्ञानमय। जहाँ प्रचुरता से द्रव्य का व्यय होता है उसे द्रव्ययज्ञ कहते हैं। उस द्रव्यमय यज्ञ से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ होता है। जैसे द्रव्ययज्ञ में जो कुछ हवन किया जाता है वह भस्मसात् हो जाता है उसीप्रकार ज्ञानयज्ञ में अखिलं अर्थात् सभी अंशों से युक्त सर्व सम्पूर्ण नित्यनैमित्तिक कर्म परिसमाप्यते परिशेषत: समाप्त हो जाता है। अखिल शब्द का तात्पर्य यह है कि उसमें कुछ भी अंश नहीं बचता अर्थात् फल, आसक्ति और अभिमान के सहित कर्म समाप्त हो जाता है। ज्ञाने का अर्थ है ज्ञानेयज्ञे ॥श्री॥

संगति- अब अर्जुन जिज्ञासा करते हैं कि हे भगवन् द्रव्ययज्ञ की बहुत सी पद्धितियाँ हैं और वेदों में उनके लिए बहुत से मंत्र कहे गये हैं तो क्या ज्ञान यज्ञ की भी कोई पद्धति है या इसके विधान की कोई लिखित पुस्तक मिलती है। इस पर भगवान कहते हैं-

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिन:।। ४/३४

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे पाण्डुनन्दन! वह ज्ञान ज्ञानियों के चरणों में शाष्टाङ्ग प्रणाम से विनम्रतापूर्वक प्रश्न से तथा निष्कपट सेवा से ज्ञानियों के पास से ही जानो। तत्वदर्शी ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी तुम्हें ज्ञान का उपदेश देंगे।

व्याख्या- 'प्रणिपात' का अर्थ है साष्टाङ्ग प्रणाम। विनम्रता पूर्वक प्रश्न को परिप्रश्न कहते हैं। ज्ञानिन: शब्द को पंचमी विभक्ति में विपरिणित करके अनुवृत्त कर लेना चाहिए और इस श्लोक में अग्रिम श्लोक से सम्बोधन पाण्डव पद का अनुकर्षण करना चाहिए। ॥श्री॥

संगति- वह ज्ञान कैसा है अर्जुन की इस जिज्ञासा पर भगवान स्वयं दो श्लोकों द्वारा ज्ञान की प्रशंसा करते हैं-

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि।। ४/३५

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे पाण्डुनन्दन अर्जुन! जिस ज्ञानरूप ब्रह्म को

जानकर तुम इसप्रकार फिर मोह को नहीं प्राप्त करोगे। जिस सम्पूर्ण ज्ञान के द्वारा तुम समस्त प्राणियों को पहले अपने में फिर मुझमें देखोगे।

व्याख्या- तुमने किसी से उपदेश प्राप्त नहीं किया था इसलिए मोह हुआ। अव नहीं होगा। 'अशेषेण' इस अकारत्रैय के ज्ञान से अथवा अर्थ पंचक के ज्ञान से। 'अ' अकारत्रयम शेष: यस्मिन तेन 'आत्मनि' पहले तुम सबको अपने में देखोगे 'अथोमयि' अर्थात जब तुम्हारी आत्मा भी मेरी सन्निधि में पहुँच जायेगी तब सबको मुझी में देखोगे। ॥श्री॥

संगति- इतना ही नहीं ज्ञान का और भी माहात्म्य है-

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि।। ४/३६

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! यदि तुम स्वयं को सभी पापियों की अपेक्षा अधिक पाप करने वाला मानते हो तो भी इस ज्ञानरूप जहाज से पापरूप महासागर को सुखपूर्वक प्राप्त कर लोगे।

व्याख्या- 'अपि' चेद, ये दोनों शब्द पक्षान्तर में कहे गये हैं। पापेभ्य: ल्यव लोप पंचमी है अथवा निर्धारण के अर्थ में आयी हुई षष्ठी के अर्थ में पंचमी। अत्यन्त पाप करने वाले को पापकृत्तम कहते हैं। अर्थात् ज्ञान के जहाज में बैठकर पापसागर को पार कर लो।

संगति- अब अर्जुन फिर अन्तर्जिज्ञासा करते है कि यदि ज्ञानयज्ञ है तो उसे यज्ञ के समान होना चाहिए। यज्ञ तो शाकल को भष्म करता है परन्तु ज्ञान किसे भस्म करता है? इस पर भगवान कहते है-

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।। ४/३७

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! जिसप्रकार समिधाओं से प्रज्वलित अग्नि ईंधन को जलाकर राख कर देता है उसीप्रकार ज्ञानरूप अग्नि, सम्पूर्ण कर्मों को

भस्म कर देता है। 'एधयति यत एधः' अर्थात् जो अग्नि को प्रज्वलित कर देता है उसे 'एधत्' कहते हैं।

व्याख्या- यहाँ ज्ञान उपमेय और अग्नि उपमान है। उसीप्रकार ईंधन उपमेय और कर्म उपमान है अर्थात् अग्नि ईंधन को तब जलाती है जब उसे काटकर लाया जाता है। उसीप्रकार तुम असङ्गशस्त्र से इन कर्मों को काटकर ज्ञानयज्ञ में हवन कर दो।

संगति- अब अर्जुन ने कहा कि हे गोविन्द! अब आपके समान मुझे दूसरे कौन गुरुदेव मिलेंगे? इसलिए अब मैं आपको ही शाष्टाङ्ग प्रणाम कर रहा हूँ आपसे ही विनम्रतापूर्वक प्रश्न कर रहा हूँ और आप की ही सेवा कर रहा हूँ। अर्जुन की इस प्रार्थना पर ज्ञान का उपदेश करते हुए भगवान कहते हैं-

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ।। ४/३८

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! इस अध्यात्म विद्या में ज्ञान के समान कोई वस्तु पवित्र नहीं है। उस ज्ञान को निष्काम कर्मज्ञान से सिद्ध हुआ साधक समय से मुझ परमात्मा की कृपा करने पर प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या- भगवान का मानना है कि ज्ञान की प्राप्ति में कोई निर्धारित समय की सीमा नहीं होती। 'आत्मनि' का अर्थ है परमात्मनि अर्थात मुझ परमात्मा की कृपा करने पर॥श्री॥

संगति- अब अर्जुन ने फिर प्रश्न किया? वह ज्ञान प्राप्त करने के लिए किस ज्ञान की अपेक्षा होती है। इस पर भगवान कहते हैं-

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।। ४/३९

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! जिसका मैं ही इष्टदेव हूँ तथा जिसने अपनी इन्द्रियों को वश में कर लिया है ऐसा श्रद्धालु साधक ज्ञान प्राप्त कर लेता है। और ज्ञान प्राप्त करके अतिशीघ्र परम शान्ति प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या- अहं परः यस्य स मत्परा अर्थात मैं ही जिसका इष्ट देवता हूँ ऐसा श्रद्धालु यहाँ श्रद्धावान शब्द में प्राशस्त्य में मतु अर्थात् सात्विक श्रद्धा सम्पन्न व्यक्ति ही ज्ञान प्राप्त करता है। यहाँ सेवक सेव्य भाव ज्ञान का ज्ञान शब्द से अभिप्रेत है। शान्ति अर्थात जीव मेरा सामीप्य प्राप्त करके परम शान्ति का अनुभव करता है ||श्री||

संगति- ज्ञान के अभाव में होने वाले दुष्परिणामों की चर्चा करते है-

अज्ञश्चाश्रद्दधाश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः। ४/४०

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! जो अज्ञानी नास्तिक तथा संशयात्मा है वह विनष्ट हो जाता है। जिसके अन्तःकरण में संशय है उसके न यह लोक सुखप्रद है और न ही परलोक निवास के लिए उपलब्ध होता है। क्योंकि उसे कहीं भी सुख नहीं मिलता।

व्याख्या- यहाँ भगवान ने विनाश के तीन हेतु कहे। अज्ञान, अश्रद्धा और असंशय। इसलिए समस्त अनर्थों का मूल अज्ञान ही है। जैसे जब सती जी में अज्ञान आया तब भगवान शंकर के शब्दों पर अश्रद्धा हुई और भगवान श्रीरामके प्रति संशय हुआ और तुरन्त उनका विनाश हो गया। इसलिए तुम श्रद्धालु बनो और संशय मत करो।

संगति- अब भगवान संदेह रहित साधक की प्रशंसा करते है-

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञान संछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।। ४/४१

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे धनंजय अर्जुन! जिसने निष्काम कर्मयोग द्वारा मुझमें कर्मों को समर्पित कर दिया है तथा जिसने अर्थ पंचक के ज्ञान से अपने को समाप्त कर दिया है उस आत्मभाव अर्थात् मेरे भक्त श्री वैष्णव को अतीत क्रियामाण और अनायत ये तीनों कर्म नहीं बांधते।

व्याख्या- यहाँ आत्मा शब्द परमात्मा का वाचक है और सम्बन्ध के अर्थ में

मतु प्रत्यय है अर्थात मैं आत्मा भिन्न परमात्मा जिसका इष्टदेव हूँ। अर्थात् योग संन्यस्त कर्मा अतीत कर्मों से ज्ञान संछिन्न संशय क्रियमाण कर्मों से और आत्मवान संचित कर्म से मुक्त हो जाता है। तुम तो धनंजय हो तो रणञ्जय होने में कोई आपत्ति नहीं है। ।।श्री।।

संगति- अब भगवान प्रकरण का उपसंहार करते हैं-

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत।। ४/४२

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! इसलिए अज्ञान से उत्पन्न हुए अपने हृदय में स्थित इस संशय को ज्ञान रूप तलवार से काटकर उठो और आदरपूर्वक निष्काम कर्मयोग का आचरण करो।

व्याख्या- भगवान कहते हैं कि इस संशय वन को काटने के लिए अग्निदेव द्वारा दिया हुआ तुम्हारा गाण्डीव समर्थ नहीं है। इसीलिए तुम्हें मैंने ज्ञानरूप खड्ग दे दिया तुम ज्ञानी होकर भी मेरी प्रसंन्नताके लिए कर्मयोग करो यही चतुर्थ अध्याय का शास्त्रार्थ है।

राघव कृपाभाष्य सुन्दर वैष्णव मनभावन।
विविध ग्रन्थ को सार रत्न प्रतिभा को पावन।।
गीताध्याय तुरीय ज्ञान अरु कर्म सन्यासा।
वरण्यो वासुदेव महाभारत के इतिहासा।।

सुमिर सुशीला तनय श्री चरण कमल रज सिर धरी
रामभद्र आचरजहूँ भाष्यबद्ध व्याख्या करी।।श्री

इति श्रीचित्रकूटतुलसीपीठाधीश्वरजगद्गुरुरामानन्दाचार्य स्वामी रामभद्राचार्य प्रणीते श्री राघवकृपाभाष्ये श्री मद्भगवद्गीतासु चतुर्थोध्यायः

।।श्री राघवः शं तनोतु।।

●●

"श्री मद्राघवोविजयते"।।
"श्री रामानन्दाचार्याय नमः।

"पञ्चमोऽध्यायः"

मंगलाचरणम्

पञ्चमीं प्राप्तुकामोऽहं सेवे सुग्रीवपञ्चमम्।
यं दृष्ट्वा पञ्चबाणोऽपि सञ्जिहासति पञ्चमम् ।।

"दुन्वन् दैन्यं भृत्यवित्रासहन्ता
कन्दश्यामो यादवाम्भोधिचन्द्रः।
कृष्णाचीरं वर्धयन् वर्धितश्रीः
कृष्णः पायात् पातकात् पार्थसूतः।।

शंखं चक्रं सरोजं दधतमथगदां दोर्भिरीड्यश्चतुर्भिः।
स्मेरास्यं कंदकान्तिं चिकुरवृतमुखं स्त्रीभिरभ्यर्चमानम्।
रूक्मिण्याः प्राणनाथं दनुजकुलरिपुं यादवाम्भोधिचन्द्रम्।
वन्दे कृष्णं कृपालुं क्षपितभवभयं द्वारकाधीशमाद्यम् ।।

अथ पञ्चमे पञ्चमपुरूषार्थस्य स्पष्टप्रतिपत्तये तस्य श्रीमुखादेव कर्मसंन्यासाच्छ्रेयस्त्वं सुश्रूषुः, श्रावयितुं च सकललोकं पञ्चमपुरुषार्थभूतायाः भक्तेर्माहात्म्यं जानन्नपि पार्थो जिज्ञासते-

"अर्जुन उवाच"

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मेब्रूहि सुनिश्चितम् ।।१।।

रा० कृ० भा०- अर्जुन पप्रच्छ हे कृष्ण ! प्रपन्न पापकर्षण! कर्मणां संन्यासं "कर्मण्यकर्म यः पश्येत् " ४१८ "सर्व कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते" ४-३३ "योगसंन्यस्तकर्माणं" ४-४१ इत्यादिभिःशंससि। पुनश्च "कुरू कर्मैव तस्मात्वं" ४-१५ "नियतं कुरू कर्म त्वं" ३-८ "छित्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत" इत्यादिभिश्च पुनः योगं शंससि, शंससीत्यत्र "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा पा. अ." ३-३-१३१ इत्यनेन वर्तमान समीपे

भूते लट्। शंसितवानसि इति भावः। तत्र एकेन पुरूषेण परस्परविरूद्धयोः कर्मसंन्यासकर्मयोगयोः समनुष्ठातुमशक्यत्वात् । एतयोर्मध्ये यत् यस्मात् श्रेयः श्रेष्ठतरं तत् सुनिश्चितं कृत्वा मे मह्यं ब्रूहि वद् ॥श्रीः॥ इत्यर्जुन प्रश्नमाकर्ण्य सुनिश्चितं वक्तुकामो महामना मधुसूदनः प्राह-

"श्री भगवानुवाच"

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ।।२।।

रा० कृ० भा०- षडैश्वर्यसम्पन्नः श्रीभगवान् सुनिश्चतमतं प्रकटयामास यत् -संन्यासः तथाकर्मयोगः उभौद्वावपीमौ निःश्रेयसं मोक्षं कुरूतः सम्पादयतः इति निः श्रेयसकरौ। यद्यपि द्वावपि कर्मसंन्यासकर्मयोगौ मोक्षोत्पादनकरौ। तु किन्तु तयोर्मध्ये कर्मसंन्यासात् ज्ञानयोगलक्षणात् कर्मयोगः मत्कृपासापेक्ष्यत्वात्, मदाराधनरूपत्वाच्च शैछयेण मत् प्राप्तिकरत्वेन च विशिष्यते उत्कर्षेण वर्तते ॥श्रीः॥

अथ साधने भेदेऽपि द्वयौरैक्यमाह-फले, भक्तवाञ्छा कल्पतरू ज्ञेय इति-

'ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते ।।३।।

रा० कृ० भा०- यः अशुभं प्राप्य न द्वेष्टि न च शुभं प्राप्य अभिलषति सः कर्मयोग्यपि नित्यसंन्यासी ज्ञेयः ज्ञातव्यः। द्विषन् काङ्क्षयश्च ज्ञानयोगी न नित्यसंन्यासी। अथ कर्मयोगेन कथं बन्धनान्मोक्षः? इत्यत आह-हे महाबाहो! त्वं महाभुजः सन् कर्मबन्धनात् कथं बिभेषि! हि यतोहि निर्गतानि द्वन्द्वानि यस्मात् स निर्द्वन्द्वः द्वन्द्वातीतः सन् सुखं सुखेन बन्धात् कर्मबन्धनात् प्रमुच्यते मुक्तो भवति ॥श्री॥

यदि फले द्वयोरैक्यं तर्हि को भेदः? इत्यत् आह सांख्य इत्यादि-

''सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थिः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ।।४।।

रा० कृ० भा०- सांख्यं च योगश्च इति सांख्ययोगौ इमौ द्वौ पृथक्

इति बालाः अनधीतपरमार्थरहस्या प्रवदन्ति, अनर्गलं प्रलपन्ति। पण्डिताः सदसदविवेकवन्तः न द्वयोः पार्थक्यं मन्यन्ते। हि यतो हि द्वयोर्मध्ये कमप्येकं सम्यक् आस्थितः आस्थया सेवमानः युगपदेव उभयोः सांख्ययोगयोः फलं विन्दते लभते।। उभयोरेकतां ध्वनयितुं फलमित्येकवचनम् ।।श्री।।

"तमेवार्थं स्पष्टयति यत्सांख्यैरिति-

''यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।।५।।

रा० कृ० भा०- यतो हि सांख्य मस्ति येषां ते सांख्याः तैः सांख्यैः यत् स्थानं तिष्ठन्ति सम्पूर्णानि भूतानि यस्मिन् तत् स्थानं "करणाधिकरणयोश्च पा० अ० ३-३-११७" इति ल्युडधिकरणे, सर्वभूतनिवासस्थानं ब्रह्म प्राप्यते। तत् न ततो विलक्षणं तदेव योगैः योगः अस्ति येषांते योगाः तैः योगैः योगवद्भिः अपि गम्यते "गति प्राप्तौ" प्राप्यते। सांख्यैः योगैः इत्युभयत्र "अर्षआद्यजन्तं" तस्मात् पूर्वचकारः हेतौ, अपरः समुच्चयार्थः। सांख्यं योगं च फलावस्थायामेकमेव यः पश्यति, स एव पश्यति सम्यक् दर्शनो भवति। अन्ये न पश्यन्तीति भावः ।।श्री।।

यद्युभावपि फलावस्थायामेकौ तर्हि कर्मयोगस्यैव श्रेयस्त्वं कथं ब्रवीषि? इत्यत आह-

''संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ।।६।।

रा० कृ० भा०- हे महाबाहो! अयोगतः कर्मयोगाभावात् हेतोः संन्यासः अवाप्तुं दुःखं इह संन्यासपदं ब्रह्मवाची। यथा श्रुतार्थे तु तस्य प्राप्तेरप्रासंगिकत्वात् तत्प्राप्तौ दुःखयोजनाया एव वैयर्थ्यात् । सम्यक न्यस्यन्ति कर्माणि यस्मिन् स संन्यासः, न्यासस्तु शरणागतिः "सतांन्यासः शरणागतिः यस्मिन् स संन्यासः इति व्युत्पत्तेः। यद्वा अयोगतः इत्यत्र तृतीयायां तसि। न विद्यते योगः येषु ते अयोगाः तैः अयोगिभिः, अयोगिभिः एव अयोगतः, कर्मयोगरहितैः संन्यासः संन्यासयोगं अवाप्तुं दुःखम् । तु किन्तु योगेन युक्तः योगयुक्तः कर्मयोगी

मुनिः नचिरेण अतिशीघ्रं ब्रह्म अधिगच्छति अधिकृतः सत् प्राप्नोति ।।श्री।।

संन्यासनिष्ठा त्रिदण्डितो भवति। यद्यपि उपासना नये प्रतिदण्डं श्रीराम लक्ष्मणसीतानां स्थापना भवति, तथापि मनुना वाङ्मनःकायानां दण्डरूपं परिकल्प्य एषां नैयत्ते वास्तविकत्रिदण्डित्वं निश्चीयते। तद्यथा-

''वाग्दण्डोऽथ मनोदण्ड कायदण्डस्तथैव च ।
यस्यैते नियता दण्डाः स त्रिदण्डीति कथ्यते ।।

इति त्रयणां दण्डानामाध्यात्मिकानां अस्मिन्नेव श्लोके समाहारं दर्शयितुमाह- योगयुक्तः-

''योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ।।७।।

रा० कृ० भा०- योगेन कर्मयोगेन युक्तः योगयुक्तः, अतएव विशुद्धः आत्मा चित्तं यस्य स विशुद्धात्मा, विजितः आत्मा मनो येन स विजितात्मा विजितमनाः, जितानि इन्द्रियाणि येन स जितेन्द्रियः सर्वभूतानां आत्मभूतः आत्मसाम्यंगतः आत्मा यस्य स सर्वभूतात्मभूतात्मा, एवं भूतः कुर्वन्नपि कर्मकुर्वाणोऽपि न लिप्यते। श्लोकेऽस्मिन् यथापूर्वप्रतिज्ञातं 'विशुद्धात्मा' इत्यनेन मनोदण्डः 'विजितात्मा' इत्यनेन वाग्दण्डः 'जितेन्द्रियः' इत्यनेन कायदण्डः नियत उक्तः। एतेन श्रीगीतासु मनुसम्मतं संन्यासिनः कृते त्रिदण्डधारणस्य प्रामाणिकत्वं सूच्यते।।श्री।।

अथ कर्मकुर्वता तत्त्वदर्शिना किं चिन्त्यम्? इत्यत् आह, अहं किञ्चिन्न करोमि इत्यवगच्छेत् इत्यत आह द्वाभ्याम् -

''नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्छ्वसन् ।।८।।

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ।।९।।

रा० कृ० भा०- पश्यन् चक्षुर्भ्यां, शृण्वन् श्रोत्राभ्यां, स्पृशन् त्वचा,

जिघ्रन् नासिकाभ्यां, अश्नन् रसनया, गच्छन् पद्भ्यां मनसा, श्वसन् नासाभ्यां, प्रलपन् प्रवदन् वाचा, विसृजन् पायुना, गृह्णन् हस्ताभ्यां, उन्मिषन् नेत्रं उन्मीलयन् निमिषन् नेत्रंविमुद्रयन् अपिना आनन्दन् इत्येवं व्यापारान् इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि इन्द्रियार्थेषु तत्रद्विषयेषु वर्तन्ते इति धारयन् इति विभावयन् अहं किञ्चित् नैवकरोमि इति युक्तः मन्येत ||श्री||

अनेन चिन्तनेन किमायातम्? इत्यत आह-

''ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ।।१०।।

रा० क० भा०- यः सङ्गम् आसक्तिं त्यक्त्वा ब्रह्मणि मयि वासुदेवे आधाय कर्माणि समर्प्य करोति। स अम्भसा जलेन पद्मपत्रं कमलस्य पत्रमिव पापेन अशुभकर्म परिणामेन न लिप्यते। मय्यर्पणेन कर्मणां निर्मलत्वात् । अतएव मयि वर्तमाने युद्धाख्यं कर्म कुरू ||श्री||

ननु कथमहमेव कर्म कुर्यां? यतो हि कर्मभिरशुद्धिराप्यते इत्यत आह-

''कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्मकुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ।।११।।

रा० कृ० भा०- कायेन शरीरेण मनसा संकल्पात्मकेन केवलैः निर्विषयैः इन्द्रियैः चक्षुरादिभिः, आत्मशुद्धये अन्तःकरणस्य शुद्धये पवित्रतायै योगिनः कर्म कुर्वन्ति निष्कामकर्म आचरन्ति। किं मेऽन्तःकरणं शुद्धं नास्ति इतिचेन्न, चिकीर्षुर्लोक संग्रहं कर्मकुरू इति प्रागेव निरदिशम् ||श्री||

ननु कर्मणः करणाकरणयोः कौ हानिलाभौ इत्यत आह-

''युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ।।१२।।

रा० कृ० भा०- युक्तः कर्मयोगयुक्तः कर्मफलं कर्मण : फलं कर्मफलं त्यक्त्वा मयि समर्प्य निष्ठाया इयं नैष्ठिकी तां नैष्ठिकीं शान्तिं माप्नोति। अयुक्तः कर्मयोगाभाववान् कामकारेण करणंकारः कामः इच्छा तस्य कारः

प्रेरणा तया कामकारभूतया कर्मकुर्वन् फल कर्मफले सक्तः आसक्तः सन् निबध्यते। तस्मात् फले सक्तो मा भूः ॥श्री॥

अथ संयतेन्द्रियस्य कर्म कुर्वतः को लाभः? इत्यत आह-

''सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ।।१३।।

रा० कृ० भा०- वशी वशीकृतेन्द्रियः कर्मयोगी मनसा सर्वकर्माणि सर्वाणि नित्य नैमित्तिकानि शरीरेण कुर्वन् किन्तु मनसा मयि परमात्मनि संन्यस्य समर्प्य नव संख्यानि द्वे चक्षुषोः, द्वे नासयोः, द्वे श्रोत्रयोः, मुखस्यैकं, अधस्तने द्वे एवं भूतानि गृहस्य इव द्वाराणि यस्मिन् तन्नवद्वारं तस्मिन्नवद्वारे पुरे नगरे इव देहे तिष्ठन् अधिपतिरिव, नैव कुर्वन् कस्यचिदपि कर्मणः कर्तृत्वं नानुभवन् न वा कस्यचित् कर्मणः प्रयोजको भवन् सुखं सुखपूर्वकम् आस्ते, नित्यकिङ्करो भूत्वा भगवन्तं सेवमानो तिष्ठति ॥श्री॥

ननु जीवात्मनः सुखस्य किं रहस्यम्? इति चेत् भगवच्छ रणागतिरेव ब्रूमः शरीर शरीरि भावो हि जीवात्मपरमात्मनो संबन्धः तस्मिन्देहे जीवेन सह वसन्नपि परमात्मा तटस्थस्तिष्ठति। अत एव स्व सुख स्वरूपस्य तस्य ताटस्थ्यं प्रस्तौति द्वाभ्याम् --

''नकर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ।।१४।।
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।।१५।।

रा० कृ० भा०- मदभिन्नः परमात्मा, कस्यचिदपि कर्तृत्वादिषु किमपि कारणं नास्ति। जीवात्मा फले सज्जमानः आत्मनः कर्तृत्वं कर्माणि, कर्मफलसंयोगं, शुभाशुभ कर्मफलानि च सृजति। मदभिन्नः परमात्मा केवलं साक्षी, साक्षात्पश्यतीति साक्षी ''साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम् पा० अ० ५/२/९१ इत्यनेन णिनिः ''साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'' इति श्रुतेः। इदमेव स्पष्टयति प्रभुः लोकस्य संसारस्य जीवात्मनो वा, न कर्तृत्वं कर्तृभावं, न वा कर्माणि शुभाशुभानि न वा

कर्मफलयोः संयोगं सह सम्मेलनं सृजति। किन्तु स्वभावः प्रकृतिरेव प्रवर्तते येषु प्रवृत्तो भवति। किं च विभुः सर्वव्यापकः भगवान् कस्यचित्पापं अशुभकर्मपरिणामं सुकृतं पुण्यं वा न आदत्ते न गृहणाति। सच भक्तानां पत्रपुष्पंफलजलान्येव गृह्णाति "पत्रं पुष्पं" इत्यादि वक्ष्यते च। तर्हि कथं जनाः एवं धिया भगवन्तमर्चयन्ति, इत्यत आह- अज्ञानेन अज्ञानं ज्ञानविरूद्ध भावः, तेन जीवस्य ज्ञानं वृतं भवति। यथा तृतीये उक्तम् "धूमेनाव्रियते वह्निः" इति। तेन आवृतज्ञानत्वेन, जन्तवः जीवाः मुह्यन्ति, मम स्वरूपं न विदन्ति ॥श्री॥

अथ के त्वत्स्वरूपं जानन्ति? इत्यत आह--

"ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

रा० कृ० भा०- तु किन्तु येषां मन्नामरूपलीलाधामगानशीलानां निष्कामकर्मयोगं भुञ्जानानां, ज्ञानेन भगवत्सेव्यसेवकभावरूपेण तदज्ञानं आत्मनः मनसः आश्रयरूपं नाशितम्। तेषां अनन्तानां तद् आदित्यवत् सूर्यवत् स्वस्वरूपादिज्ञानं, तत्परं तदन्तः करणं विस्मृतं तदिष्टं कैङ्कर्यभावं। किं बहुना तेषां परमिष्टं मामपि प्रकाशयति प्रकाशितुं प्रेरयति, तेषां हृदयस्थले अहं प्रकाशे। अज्ञानां तु हृदये योगमायासमावृतस्तिष्ठामि। "नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया" समावृतः" गीता ७-२५ इति वक्ष्यते च। तेषामित्यनेन" 'नत्वेवाहं"' गीता २-१२ इति द्वितीये बीजरूपेणोपक्रान्तं जीवात्मनां बहुत्वं प्रमाणयति। न चोपाधिनिमित्तकं बहुत्वमिति वाच्यं "येषां नाशितमात्मनः" इतिपूर्वार्धेन नष्टाज्ञानरूपोपाधीनां कृते एव "तेषामादित्यवज्ज्ञानं" इति प्रयोग दर्शनात्। निरूपाधिकानां कृते बहूक्तिदर्शनात् त्वत्पक्षस्यानौचित्यात् । इत्यनेन मिथ्योपाधिमत्वाद् बहुवचनं इति शाङ्करमतं। सत्योपाधिमत्वाद् बहुवचनं इति भास्करमतं च परास्तम्। अज्ञाने नष्टे तेषामिति बहुवचनस्य भगवतैव प्रयुक्तत्वात् ॥श्री॥

अथ ज्ञाननाशे किं फलं इत्यत आह-

"तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

रा० कृ० भा०- अत्र तत्पदेन परमात्मनोऽनुषङ्गः तत्पदादीनां चतुर्णां प्रयोगात् , चत्वारोऽर्थाः उद्भाष्यन्ते मया। तद्बुद्धयः तस्मिन् परमात्मनि तन्नामात्मकविग्रह जपे, बुद्धिर्येषां ते तद्बुद्धयः तस्मिन् परमात्मनि सगुणसाकारे अतिसिकुसुमसुकुमारे कौसल्याकुमारे देवकीकुमारे वा मयि कोटिकोटिकन्दर्पदर्पदलन-नीलजलधर श्यामलस्वरूपे आत्मा मनो येषां ते तदात्मनः। तन्निष्ठाः तस्मिन् तल्ललितलीलासु निष्ठा मदभिन्न परमात्मगाने निष्ठा येषां ते तन्निष्ठाः। तदेव परमात्मात्मकं धाम परमम् अयनं येषां ते तत्परायणाः। एवं मम सेव्यसेवकभाव-सम्बन्धज्ञानेन निर्धूतानि विनष्टानि कल्मषानि पापानि येषां ते ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः एवं भूताःमहानुभावाः। नास्ति पुनरावृत्तिः भगवच्चरणं त्यक्त्वा पुनरागमनं यस्मात् तं अपुनरावृत्तिं आवागमन वर्जितं मां गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति। निज स्वामित्वेन साक्षात्कुर्वन्तीति भावः।।श्री।।

ननु त्वयि साक्षात्कृते तेषां का अवस्था भवति? इत्यत आह-

''विद्या विनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।।१८।।

रा० कृ भा०- अत्र सर्वत्र सप्तमी, सम शब्दो ब्रह्म पर्यायः। विद्या च विनयश्च इति विद्याविनयौ ताभ्यां संपन्नः विद्याविनयसंपन्नः तस्मिन् विद्याविनयसंपन्ने विदुषि विनीते ब्राह्मणे, तपःश्रुतियोनिसंपन्ने विप्रे सत्वगुणप्रचुरे। गविः हस्तिनि रजोगुण बहुले, शुनि कुक्कुरे, श्वपाके चाण्डाले तमोगुणप्रधाने पण्डिताः विहितमदभिन्न परमात्मसाक्षात्काराः समदर्शिनः समं ब्रह्म पश्यन्ति तच्छीलाः इति समदर्शिनः न तु समवर्तिनः। न वा कोऽपि गर्दभ्यां गवीव वर्तते, न वा स्वसरि जायायामिव ।।श्री।।

अथ जीवन्मुक्त दशां वर्णयति, चतुर्भिः--

''इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः।।१९।।

रा० कृ० भा०- येषां मनः पूर्वोक्त प्रकारेण साम्ये स्थितं, तैः इहैव अस्मिन् देहे एव, न तु शरीरान्तरे सर्गः जननमरणरूपः जितः वशीकृतः।

हि ब्रह्म निर्दोषं दोषरहितं समं, तस्मात् समदर्शिनः, ते ब्रह्मणि मयि एव सामीप्य मुक्तिं जुषाणाः स्थिताः ॥श्रीः॥

अथ प्रत्यक्षगोचरां जीवन्मुक्त चर्चां स्तौति-

"न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

रा० कृ० भा०- वस्तुतोऽत्र प्रहृष्येत् उद्विजेत् इत्युभयत्र "व्यत्ययोवहुलं प० अ० ३/१/८५ इत्यनेन लडर्थे लिङ्। जीवन्मुक्तानां विधिनिषेधवहिर्भूतत्वात् "नैव तस्य कृतेनार्थो" इति पूर्वमेवोक्तत्वात्। उद्विजेत् इत्यत्र तिप् तु अनुदात्तेत्व लक्षणात्मनेपदस्यानित्यत्वात् , ब्रह्मवेत्ति ब्रह्म विन्दति वा इति ब्रह्मवित् विदितलब्ध भगवत्पदपद्मपरागः। ब्रह्मणि मयि स्थितः मदाश्रयः, अतएव असंमूढः अर्थपञ्चक ज्ञानेन सम्मोहवर्जितः, स्थिरबुद्धिः मच्चरणारविन्दसेवने स्थिरा बुद्धिर्यस्य तादृशः प्रियं प्राप्य न प्रहृष्येत् न प्रसीदति। तथा अप्रियं प्राप्य नोद्विजेत् नोद्विग्नो भवति। तस्य संसारे प्रियाप्रियसंबन्धशून्यत्वात् ॥श्री॥

अथ तेन संसारे किं प्राप्तव्यं भवति? इत्यत आह-

"बाह्य स्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥२१॥

रा० कृ० भा०- अत्र यच्छब्दो पुलिंगयच्छाब्दार्थकः नपुंसक लिङ्गे प्रयुक्तोऽपि व्यत्ययात् सुलोपः तथाहि यत् इत्यस्य यः साधकः इत्यर्थः स्पृशन्तीति स्पर्शाः शब्दादयः बाह्याश्च ते स्पर्शा इति बाह्यस्पर्शाः तेषु बाह्यस्पर्शेषु बाह्यपदोपादानेन स्वकीयेषु शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेषु आसक्तिं न निषेधति। संसारविषयेषु शब्दादिषु असक्तः संग वर्जितः आत्मा मनः यस्य, एवं भूतः आत्मनि मयि सुखं वैषयिकमिव विन्दति लभते। मद्यशो ज्ञानरूपे शब्दे मत्पदपद्मस्पर्शे सजलघननीले मद्रूपे, मद्भुक्त प्रसादसेवनरसे मच्चरणस्पृष्ट श्रीतुलसीस्त्रक सुगन्धे, स एव योगी ब्रह्मणः योगः सम्बन्धः सेव्यसेवकभावात्मकः, तेन युक्तः आत्मा अन्तःकरणं यस्य सः अक्षय्यं अक्षयं वा अविनाशी परमानन्दसुखं अश्नुते भुङ्क्ते ॥श्री॥

ननु संसारविषयेषु कथं न रमन्ते जीवन्मुक्ताः? इत्यत आह--

''ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ।।२२।।

रा० कृ० भा०- हि यतो हि हे कौन्तेय! कुन्तीपुत्र यथा तव माता कुन्ती ऐन्द्रियविषयेषु नारमत, तथैव ये संस्पर्शजा संस्पर्शाः इन्द्रियविषयाः तेभ्यः जाताः इति संस्पर्शजाः भोगाः भोक्तुमागताः। ते दुःख योनयः दुःखानां योनयः जन्मदातारः एव न तु सुखहेतवः, आद्यन्तवन्तः उत्पत्ति विनाश युक्ताः क्षणभङ्गुराः। तेषु बुधो विद्वान् जीवन्मुक्तः मच्चरणारविन्दसेवी न रमते स तु राम एव रमते ।।श्री।।

किं कामक्रोधोद्भवो वेगः सोढुं सुशकः? इति जिज्ञासां परिहरति श्री हरिः-

'शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ।।२३।।

रा० कृ० भा०- यः शरीरस्य विमोक्षणात् प्राक पूर्वमेव, कामक्रोधाभ्यां उद्भवति सकाम क्रोधोद् भवः, तंवेगं मनोव्याकुलीभावं सोढुं शक्नोति क्षमते, उर्वश्याः समक्षं त्वमेव। स एव युक्तः कर्मयोगी स एव नरः सुखी ।।श्री।।

अथ अन्तर्मुखतां प्रशंसति-

''योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्म भूतोऽधिगच्छति ।।२४।।

रा० कृ भा०- यस्य अन्तरेव सुखं, यस्य च अन्तरः अन्तः करण संबन्ध्येव आरामः उद्यानम् । यस्य च आन्तरः स्थितं ज्योतिः ''समास बहुव्रीहि'' स सच्चिदानन्दमय योगी कर्मयोगवान् ब्रह्मभूतः ब्रह्मणि परमात्मनि मच्चरणारविन्दसमीपे भूतं भवनं सत्ता स्थितिर्यस्य स ब्रह्मभूतः ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मणा मया दत्तं निर्वाणं मम साकेत गोलोकाभिन्नं धाम अधिगच्छति, साधिकारं प्राप्नोति। न केनापि जयविजयवत् चालयितुं शक्यते किं बहुना उपाधिशून्याः

जीवाः अपि बहवः, ऋषीणामुपाधिशून्यत्वे सन्देहाभावात् । अतएव भास्कर शङ्करौ क्षेप्स्यन्नाह त्रिकालज्ञो भगवान् --

''लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ।।२५।।

रा० कृ० भा०- छिन्नं द्वैधं जीवपरमात्मपृथकभावसम्बन्धः येषांते छिन्नद्वैधा मया प्रभुणा सह सम्बन्ध निबन्धनां एकतामङ्गीकुर्वन्तः। अतएव यतः यत्नशीलः आत्मा अन्तःकरणं येषां ते यतात्मानः सर्वभूतानां हिते उपकारे रताः, एवं भूताः क्षीणकल्मषाः मद्भजनमहिम्ना ध्वस्तपापाः ऋषयः मन्त्रद्रष्टारः ब्रह्मनिर्वाणं परब्रह्मसामीप्यरूपं मोक्षं लभन्ते प्राप्नुवन्ति ।।श्री।।

जीवन्मुक्तानां मोक्ष सौलभ्यमाह-

''कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ।।२६।।

रा० कृ० भा०- कामक्रोधाभ्यां वियुक्तानां, अथवा कामक्रोधौ वियुक्तौ दूरी भूतौ येभ्यस्ते कामक्रोधवियुक्ताः तेषां कामक्रोधवियुक्तानां कामादिविकाररहितानां, यतं मदर्थं यत्नशीलं चेतः येषां ते यतचेतसः तेषां यतचेतसां वशीकृतान्तःकरणानां, विदितः निजनाथत्वेन ज्ञातः आत्मा परमात्मा श्रीरामः अहं संज्ञः यैस्ते, तेषां विदितमत्तत्त्वानां यतीनां जीवन्मुक्तानां त्रिदण्डिवर्याणां ब्रह्मनिर्वाणं भगवदवाप्तिः, अभितः निकटमेव वर्तते ।।श्री।।

अथ द्वाभ्यां मुक्तमाहात्म्यलक्षणं व्याचष्टे। अथ च षष्ठींवक्ष्यमाणस्य ध्यान योगस्य सूत्रमपि सूत्रयति-

''स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ।।२७।।

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः।।२८।।

रा० कृ० भा०- वाह्यान् मद्व्यतिरिक्तान् स्पर्शान् शव्दादीन् बहिः

कृत्वा हृदयाद्बहिर्निस्सार्य, चक्षुश्च भ्रूवोः अन्तरे स्थापयित्वा नासायाः अभ्यन्तरे चरतस्तच्छीलौ, नासाभ्यन्तरचारिणौ प्राणापानौ रेचकपूरकवायू समौकृत्वा, यताः इन्द्रियमनोबुद्धयः मद्व्यापारनिरताः यस्य एवं भूतः मोक्षंपरायणं परमगन्तव्यं यस्य विगताः इच्छा भयक्रोधाः यस्य एवं भूतोः यो मुनिः स सदा मुक्त एव, तस्य जीवनमरणे समाने ॥श्री॥

अथ वक्तव्यमुपसंहरति

"भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

रा० कृ० भा०- यज्ञाश्च तपांसि च यज्ञ तपांसि तेषां भोक्तारं, सर्वेषां सुहृदं मित्रं "सुहृद् दुर्हृदौ मित्रामित्रयो प० अ० ५/४/१५० इत्यनुशासनात् "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" इति श्रुतेश्च।"

"रामु प्रान प्रिय जीवन जी के"।
स्वारथ रहित सखा सबही के ॥मानस २-७४-६ रूपान्तरे

जीवानां जीवनानां च रामः प्राणप्रियः किल।
सर्वेषामेव भूतानां स्वार्थेन रहितः सखा॥

इति मानसोक्तेश्च, इत्यनेन ब्रह्मात्मैक्यवादः परास्तः एवं भूतं जीवानां सखायं मां ज्ञात्वा साधकः शान्तिमृच्छति गच्छति। यः जीवात्मपरमात्मनोरैक्यं हठेन साधयति सः अशान्तिं गच्छति। इति शापोऽप्यभेद वादिनां कृते भगवता सङ्केतितः ॥श्री॥

"पञ्चमोऽयं मयाध्यायो व्याख्यातः शास्त्रयुक्तिभिः।
श्रीराघवकृपा भाष्ये गीतायां रामतुष्टये॥

इति श्री चित्रकूटस्थतुलसीपीठाधीश्वरजगद्गुरूरामानन्दाचार्य स्वामीश्रीरामभद्राचार्यप्रणीते श्रीराघवकृपाभाष्ये श्रीमद्भगवद्गीतासु सर्वकर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः।

॥श्री राघवःशंतनोतु॥

●●

"श्री मद्राघवोविजयते"।।
"श्री रामानन्दाचार्याय नमः।

"पञ्चमोऽध्यायः"

मंगलाचरण

पञ्चमीं प्राप्तुकामोऽहं सेवे सुग्रीव पञ्चमम् ।
यं दृष्ट्वा पञ्चबाणोऽपि सञ्जिहासति पञ्चमम् ।।

अर्थ- मैं पञ्चम पुरुषार्थरूप प्रभु श्रीराम की भक्ति प्राप्ति करने की इच्छा करता हुआ, सुग्रीव ही जिन्हें पञ्चम भ्राता के रूप में स्वीकृत हैं, उन भगवान श्रीराम की सेवा करता हूँ, जिन्हें देखकर पञ्चबाण कामदेव भी पञ्चम अर्थात् सौन्दर्य मदको छोड़ने की इच्छा करता है।

"दुन्वन् दैन्यं भृत्यवित्रास हन्ता
कन्दश्यामो यादवाम्भोधिचन्द्रः।
कृष्णाचीरं वर्धयन् वर्धितश्रीः
कृष्णः पायात् पातकात् पार्थसूतः।।

अर्थ- दैन्यको नष्ट करते हुए, भक्तों के भय को दूर करने वाले, नवीन मेघ के समान श्यामल, यदुकुलरूप क्षीरसागर के चन्द्रमा, जिन्होंने भक्तों की सौन्दर्य लक्ष्मी का संवर्धन किया, ऐसे द्रौपदी का चीर बढ़ाने वाले, अर्जुन के सारथी, भगवान श्रीकृष्ण मुझे पापों से बचाते रहें।

शंखं चक्रं सरोजं दधतमथगदां दोर्भिरीड्यैश्चतुर्भिः।
स्मेरास्यं कन्दकान्तिं चिकुरवृतमुखं स्त्रीभिरभ्यर्च्चमानम् ।।
रूक्मिण्याः प्राणनाथं दनुजकुलरिपुं यादवाम्भोधिचन्द्रम् ।
वन्दे कृष्णं कृपालुं क्षपितभवभयं द्वारकाधीशमाद्यम् ।।

अर्थ- अपने श्रेष्ठ चार भुजाओं से शंख, चक्र, गदा, पद्म धारणकरते हुए, मन्द मुस्कान से युक्त मुखवाले, बादल के समान सुन्दर, १६१०८ पटरानियों से सुसेवित, श्रीरूक्मिणी जी के प्राणपति, राक्षस कुलके शत्रु, यदुकुल क्षीरसागर के चन्द्रमा, परम कृपालु भवभयको दूर करने वाले, आद्य पुरुष भगवान द्वारकाधीश श्रीकृष्ण की मैं

वन्दना करता हूँ ।

संगति- अब पाँचवे अध्याय में पञ्चम पुरूषार्थ भक्ति की सुस्पष्ट प्रतिपत्ति अर्थात् सिद्धि के लिए, श्रीमुख से ही कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग की श्रेष्ठता को सुनने के इच्छुक और इसी बहाने भगवान के मुख से सारे संसार को पञ्चम पुरूषार्थ रूप भक्ति का माहात्म्य सुनाने के लिए, जानते हुए भी श्री अर्जुन जिज्ञासा कर रहे हैं।

"अर्जुन उवाच"

श्री अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्णसे प्रश्न किया--

''संन्यासं कर्मणां कृष्णपुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ।।५/१

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण से जिज्ञासा की कि हे शरणागतवत्सल! आप कभी कर्मों के संन्यास की और फिर कभी कर्मों के योग की प्रशंसा करते हैं। इन दोनों में जो अधिक श्रेष्ठ हो, वहीं एक पूर्ण रूप से निश्चित करके मेरे लिए कहिए।।

व्याख्या- कर्षतीति कृष्ण, अर्थात् आप भक्तों का मन अपनी ओर खीचते हैं और शरणागतों के पाप समाप्त करते हैं। परन्तु आपने गीता ४-१७, गीता-४-३३, और गीता ४-४१, इत्यादि वचनों से कर्मो के संन्यास की प्रशंसा की और पुनः ३-८, ४-१५ ४-४२ इत्यादि वचनों से अभी-अभी कर्मयोग की प्रशंसा की, आपके दोनों ही पक्ष प्रामाणिक हैं। परन्तु दोनों ही समान नहीं होंगे, कोई कनिष्ठ और कोई वरिष्ठ अवश्य होगा। अतः इन दोनों में जो जिससे श्रेष्ठ हो वह एक ही कहिये, क्योंकि एक साधक एक साथ दोनों नहीं कर सकता।

संगति- इस प्रकार अर्जुन का प्रश्न सुनकर सुनिश्चित सिद्धान्त का वर्णन करने के लिए महामनस्वी मधुसूदन भगवान श्रीकृष्ण बोले-

"श्री भगवानुवाच"

''संन्यासः कर्म योगश्च निःश्रेयसकारावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ।।५/२

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- अब षडैश्वर्यसम्पन्न भगवानने अपना सुनिश्चित मत प्रकट करते हुए कहा- हे अर्जुन! सन्यास और कर्मयोग ये दोनों ही निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष के हेतु हैं। किन्तु इन दोनों में कर्मसंन्यास की अपेक्षा "कर्मयोग" श्रेष्ठ है।

व्याख्या- भगवान का मन्तव्य है कि- ज्ञानलक्षण कर्मसन्यास और भक्तिलक्षण कर्मयोग ये दोनों ही निःश्रेयसकर अर्थात् मोक्ष की उत्पत्ति के हेतु हैं। "निःश्रेयसं कुरुतः तद्धेतू इति निः श्रेयसकरौ" यहाँ हेतु अर्थ में 'अच्' प्रत्यय हुआ है! फिर भी कुछ अन्तर है, इसी अरूचि को ध्वनित करने के लिए "तु" का प्रयोग करते हैंपरन्तु उन दोनों में भी अर्थात् "कर्मसन्यास" और "कर्मयोग" में भी "कर्म सन्यास से कर्मयोग श्रेष्ठ है। क्योंकि कर्मयोग में मेरी आराधना है, और मेरी कृपा भी, उसमें शीघ्र अभीष्ट की प्राप्ति हो जाती है, और कोई विघ्न भी नहीं आता।" नेहाभिक्रम नाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।

संगति- अब दोनों के साधन में भेद होने पर भी भक्तवाञ्छाकल्पतरु भगवान श्रीकृष्ण दोनों के फल में एकता कह रहे हैं-

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते।। ५/३

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- जो अशुभ वस्तु से द्वेष नहीं करता, तथा शुभ वस्तु की इच्छा नहीं करता, उसी को नित्य सन्यासी समझना चाहिये। हे महान भुजाओं वाले अर्जुन! सुख दुःख आदि द्वन्द्वों से ऊपर हुआ साधक सुखपूर्वक कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है।

व्याख्या- यहाँ "स" पद कर्मयोगी का बोधक है, अर्थात् जो अशुभ से द्वेष नहीं करता, और सुख की आकांक्षा नहीं करता, वह कर्मयोगी भी नित्य संन्यासी है और जो ज्ञानी होकर भी शुभाशुभ के राग द्वेष से नहीं मुक्त हुआ, वह संन्यासी नहीं है। अब प्रश्न है कि कर्मयोगी बन्धन से कैसे मुक्त होगा? इस पर भगवान कहते हैं, महाबाहो! तुम्हारे भुजायें तो महान् हैं और तुम्हें ज्ञान का खड़ग भी प्राप्त है, फिर भी कर्मबन्धन से डरते हो। जो द्वन्द्वों से अतीत हो जाता है, वह अनायास ही कर्मबन्धन

से छूट जाता है।

संगति- यदि दोनों के फल में एकता है, तो फिर योग और सन्यास में भेद कैसा? अर्जुन की इस जिज्ञासा पर भगवान कहते हैं-

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ।। ५/४

रा० कृ भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! परमार्थ रहस्य को न जानने वाले मूर्ख ही सांख्य और योग पृथक् हैं इस प्रकार प्रवाद करते हैं। पर सदसद् विवेकयुक्त पण्डित इन्हें कभी भी पृथक् नहीं मानते, क्योंकि इन दोनों में से एक को भी पूर्ण आस्था से सेवन करता हुआ व्यक्ति एक साथ दोनों का फल प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या- यहाँ बाल शब्द छोटी अवस्था वाले प्राणी के लिए नहीं प्रयुक्त हुआ है, यहां बालक वही है, जिसको अध्यात्म में प्रवेश नहीं है। अर्थात् जिन्होंने परमार्थ शास्त्रों का अध्ययन नहीं किया है। "आस्थित" का अर्थ है आस्थापूर्वक सेवन करने वाला ।।श्री।।

संगति- उसी विषय को भगवान अगले श्लोक में स्पष्ट करते हैं-

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।।५/५

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! सांख्य योगियों के द्वारा जो स्थान अर्थात् परब्रह्म पद प्राप्त किया जाता है, वही कर्मयोगियों के द्वारा भी उपलब्ध कर लिया जाता है। इसीलिए जो सांख्य और योग को एक देखता है, वही देखता है, अर्थात् वही परमार्थ रहस्य को ठीक से समझता है।

व्याख्या- 'स्थान' शब्द अधिकरण में ल्युट् प्रत्यय करके बना है, तिष्ठन्ति प्राणिनः यस्मिन् तत् स्थानम्। जहां सभी निवास करते हैं, उस ब्रह्म को ही यहाँ स्थान कहा गया है। 'गम्यते' का अर्थ है प्राप्त करना, क्योंकि गत्यर्थक धातु प्राप्त्यर्थक भी माने जाते हैं। एकम् अर्थात् फलावस्था में सांख्य और योग दोनों एक ही हैं। सांख्यैः

और योगैः इन दोनों स्थलों में मत्वर्थीय अच् प्रत्यय हुआ है ॥श्री॥

संगति- अर्जुन फिर प्रश्न करते हैं कि हे प्रभो! यदि ये दोनों एक ही हैं तो फिर आप कर्म सन्यास से कर्मयोग को श्रेष्ठ क्यों कहते हैं? इस पर भगवान कहते हैं-

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुः मयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ।। ५/६

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे महाबाहु अर्जुन! योग के अभाव में अथवा कर्मरहित साधकों द्वारा जो संतो के न्यास अर्थात शरण रूप हैं अथवा जिनमें सभी कर्म समर्पित किये जाते हैं ऐसे सन्यास रूप ब्रह्म को प्राप्त करना बहुत कठिन है। अथवा कर्म योग से रहित साधक द्वारा सन्यास योग कठिनता से प्राप्त किया जा सकता है किन्तु कर्मयोग से मननशील साधक अत्यन्त शीघ्र ही परमब्रह्म पद को अधिकृत रूप से प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या- यहां सन्यास शब्द ब्रह्म का वाचक है। सन्यसन्ति कर्माणि यस्मिन् स सन्यासः सतां न्यासः सन्यासः। उसी में साधक अपने कर्मों को सन्यस्त करता है और उन्हीं को सन्त अपना शरण्य मानते हैं। सन्यास को ब्रह्म वाचक मानने में एक युक्ति यह भी है कि इसी का समानार्थक ब्रह्म शब्द तृतीय चरण में प्रयुक्त हुआ। कहना यही है कि जो योग के अभाव में क्लेश पूर्वक प्राप्त होता है वही योगी को सरलता से प्राप्त हो जाता है। इसलिए सन्यास को ब्रह्म का समानार्थक मानना ही पड़ेगा। यदि कहें कि सन्यास शब्द से यथा श्रुत अर्थ ही ले लिया जाय तो यह पक्ष इसलिए अनुपयुक्त है, क्योंकि यहाँ सन्यास की प्राप्ति का कोई प्रसंग नहीं है यहाँ प्राप्तव्य हैं ब्रह्म। अयोगतः में तसिः प्रत्यय तृतीयान्त से है। अर्थात् अयोगियों द्वारा सन्यास की साधना करना बहुत कठिन है कथंचित यह अर्थ भी किया जा सकता है।

संगति- संन्यास निष्ठा में त्रिदण्ड आवश्यक होता है। यद्यपि उपासना में त्रिदण्ड में क्रम से, वंश दण्ड में श्रीराम की, विल्वदण्ड में सीताजी की तथा पलाश दण्ड में श्रीलक्ष्मणजी की स्थापना जगद्गुरुश्रीमदाद्यरामानन्दाचार्य सम्मत है। तथापि मनुस्मृति में मनु महाराज ने त्रिदण्ड की एक आध्यात्मिक व्याख्या भी प्रस्तुत की है। मनु

महाराज कहते है वाग्दण्ड, मनोदण्ड, और कामदण्ड में ये तीनों ही जिसके नियन्त्रित हो जाते है उसे त्रिदण्डी कहते हैं। भगवान भी प्रस्तुत श्लोक में कर्मयोग से संन्यास की प्राप्ति का संकेत करते हुए तीनों दण्डों का भी संकेत कर रहे हैं।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्म भूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ।। ५/७

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- कर्मयोग से युक्त हुआ विशुद्ध चित्त वाला मन पर विजय प्राप्त करने वाला, इन्द्रिय विजयी सम्पूर्ण प्राणियों की आत्मा के साथ अपने आत्मा को समत्व की दृष्टि से एक करके स्थित महापुरूष, कर्म करता हुआ भी कर्मबन्धन से लिप्त नहीं होता।

व्याख्या- इस श्लोक में तीन बार आत्मा शब्द का प्रयोग हुआ हैं। प्रथम चित्त के अर्थ में, द्वितीय मन के अर्थ में, तृतीय जीवात्मा के अर्थ में, यहाँ क्रम से विशुद्धात्मा पद से काम दण्ड, विजितात्मा पद से मनोदण्ड और जितेन्द्रिय पद वागदण्ड का संकेत हैं। जैसा की मनु कहते है-

वाग् दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च।
यस्यैते नियता दण्डा स त्रिदण्डीति कथ्यते।।

सर्वभूतात्म भूतात्मा शब्द का अर्थ है सम्पूर्ण भूतो के आत्माओं के समान है जिसकी आत्मा ॥श्री॥

संगति- अब कर्म करते हुए व्यक्ति को क्या चिन्तन करना चाहिए? इस प्रश्न का दो श्लोकों में उत्तर देते हैं।

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन् श्वसन् ।।५/८
प्रलपन्विसृजन्गृह्ण न्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ।।५/९

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- निष्काम कर्मयोगी तत्त्ववेत्ता देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, जाता हुआ, सोता हुआ, स्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्याग करता हुआ, आँख बन्द करता हुआ, आँख

खोलता हुआ। इन्द्रियाँ ही इन्द्रियों के विषयों में बंधती हैं इस प्रकार विचार करता हुआ मैं कुछ नहीं करता इसप्रकार मान ले।

व्याख्या- यहाँ सभी इन्द्रियों के विषय निर्धारित हैं। अतः व्याख्या में उन-उन क्रियाओं से उनकी इन्द्रियों का सम्बन्ध समझ लेना चाहिए। अर्थात् दर्शन, श्रवण, स्पर्श, घ्राण, भोजन, गमन, शयन, स्वशन, भाषण, विसर्ग, ग्रहण, उन्मेष और निमेष तथा आनन्द इन सभी विषयों. में इनकी निर्धारित इन्द्रियां अर्थात् चक्षु, श्रोत्र, त्वक, घ्राण, रसना, चरण, मन नासिका वाक्, पायु, उपस्थ, हस्त, नेत्र इस प्रकार तत्ववेत्ता स्वयं कुछ नहीं करता ऐसा चिन्तन करें। ॥श्री॥

संगति- इस चिन्तन से क्या निष्कर्ष निकला? इस पर भगवान कहते है-

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ।। ५/१०

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! जो आसक्ति छोड़कर मुझ ब्रह्म में समर्पित करके कर्म करता है, वह जल से कमल पत्र की भाँति पाप से लिप्त नहीं होता।

व्याख्या- अशुभ कर्म के परिणाम को पाप कहते हैं। जब कर्म मुझमें अर्पित हो जाते है तब वे निर्मल हो जाते हैं। इसलिए मुझ ब्रह्म में ही समर्पित करके युद्ध रूप कर्म करो। पद्म, पत्र और जल की उपमा गोस्वामी जी ने रामचरित मानस में भी की है-

जे बिरंच निरलेप उपाये। पद्म पत्र इव जग जल जाये।। मा० २/३१८/८

संगति- अर्जुन फिर जिज्ञासा करते हैं कि हे सर्वेश्वर! मैं ही कर्म क्यों करूँ? क्योंकि कर्म तो कर्त्ता को अशुद्ध बना देते हैं? इस पर भगवान कहते हैं-

कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ।५।।११

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! योगी लोग अन्तःकरण की शुद्धि के लिए आसक्त छोड़कर शरीर से, मन से, बुद्धि से तथा केवल इन्द्रियों से भी कर्म

करते हैं।

व्याख्या- यहाँ आत्मशब्द अन्तःकरण परक है। कर्म के बिना अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता। इसलिए योगी लोग शरीर, मन बुद्धि और इन्द्रियों से कर्म करते हैं। अर्जुन प्रश्न करते है कि क्या मेरा अन्तःकरण शुद्ध नहीं है? इस पर भगवान का उत्तर यह है कि तुम्हें अन्तःकरण के शुद्ध होने पर भी लोक संग्रह के लिए कर्म करना पड़ेगा। इस विषय पर तीसरे अध्याय में विस्तार से कहा जा चुका है ॥श्री॥

संगति- अब अर्जुन का प्रश्न है कि कर्म करने से क्या लाभ है और कर्म न करने से क्या हानि है? इस पर भगवान कहते हैं-

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ।। ५/१२

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! निष्काम कर्मयोगी कर्मों के फल को त्याग कर मेरी भक्ति रूप निष्ठा से उत्पन्न शान्ति प्राप्त कर लेता है। तथा अयुक्त अर्थात् निष्काम कर्मयोग न करने वाला स्वच्छन्दता से कर्म करता हुआ फल में आसक्त होकर बंध जाता है।

व्याख्या- यहाँ 'युक्त' का अर्थ है कर्मयोगी। कामकार शब्द कर्मफल की इच्छा से किये हुए कर्म का वाचक है। यहाँ काम शब्द इच्छा का वाचक है। इस प्रकार कामकार शब्द का अर्थ हुआ इच्छा की प्रेरणा। अर्थात् जब फलेच्छा की प्रेरणा से कर्म करता है तब 'निबध्यते' उसके अधीन होकर बंध जाता है ॥श्री॥

संगति- अर्जुन फिर प्रश्न करते है कि- इन्द्रियों को वश में करके कर्म करने वाले साधक को क्या लाभ होता है। इस पर भगवान कहते हैं-

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्नकारयन् ।। ५/१३

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वाला निष्काम योगी साधक सम्पूर्ण कर्मों को मन से मुझमें समर्पित करके न कुछ करता हुआ नवद्वार वाले नगर के समान इस शरीर में राजा की भाँति निश्चिन्त होकर

सुखपूर्वक निवास करता है।

व्याख्या-शरीर में दो नेत्र के, दो कान के, दो नाक के एक मुख का, और दो अधः इन्द्रियों के ये नौ द्वार होते है। जैसे कोई राजा अपनेनगर में स्वतन्त्रता से रहता है। उसी प्रकार निष्काम कर्मयोगी मुझ पर कर्मों का भार छोड़कर न किसी कर्म का कर्त्ता बनता है न किसी कर्म का प्रेरक वह तो सुखपूर्वक मेरे नित्य कैंकर्म में लग जाता है। ॥श्री॥

संगति- अब अर्जुन का प्रश्न यह है कि- जीवात्मा के सुख का रहस्य क्या है? इस पर हमारा तो यह कहना है कि भगवान की शरणागति। क्योंकि- सुखी मीन जे नीर अगाधा। जिमि हरि सरन न एकौ बाधा॥ शरीरशरीरिभाव ही जीवात्मा परमात्मा का सम्बन्ध है। जीवात्मा के साथ रहते परमात्मा तटस्थ रहते है इसीलिए सुख स्वरूप कहते हैं-

न कर्तृत्व न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ।। ५/१४

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।। ५/१५

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ-हे अर्जुन! यद्यपि मैं परमात्मा जीव के साथ इस नव द्वारात्मक शरीर में रहता हूँ, फिर भी मेरा स्वरूप तटस्थ होता है । भगवान कहते हैं कि सर्वसमर्थ मुझसे अभिन्न परमात्मा संसार का कर्तृत्व कर्म तथा कर्मफल संयोग की रचना नहीं करता। परमात्मा का स्वभाव अर्थात् प्रकृति ही सृष्टि रचना में प्रवृत्त रहती है। सर्वव्यापक परमेश्वर न तो किसी के पाप को स्वीकारते हैं न ही किसी के पुण्य को, जीवों का ज्ञान अज्ञान से ढँका हुआ है इसी से वे मोहित हो रहे है।

व्याख्या- भगवान जीव के साथ शरीर में रहते हुए भी साक्षी है। वे केवल द्रष्टा है। "साक्षी चेता केवलोनिगुर्णश्च" वे किसी के कर्तृत्व या कर्म की रचना नही करते। जीवात्मा ही फलासक्त होकर सब कुछ कर लेता है। वे किसी के पाप-पुण्य

को नहीं ग्रहण करते। ग्रहण करते हैं केवल भक्त के पत्र, पुष्प, फल, जल। ॥श्री॥

संगति- अर्जुन का प्रश्न है- आपका स्वरूप जानते कौ न है? इस पर भगवान कहते हैं-

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ।। ५/१६

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- मेरे स्वरूप ज्ञान से जिनके अन्तःकरण से वह अज्ञान नष्ट हो चुका है, उनका सूर्य के समान वह ज्ञान उस अन्तःकरण को प्रकाशित करता है अथवा उनके इष्टदेव रूप मुझ परमात्मा को भी प्रकाशित होने के लिए प्रेरित करता है।

व्याख्या- मेरे नाम, रूप लीला, धाम के चिन्तन से उनका अज्ञान नष्ट हो जाता है। तव उनके हृदय में रहने वाला मैं प्रकाशित होने के लिए विवश हो जाता हूँ। पापियों के हृदय में योग माया के अंचल से समावृत होकर सो जाता हूँ। जैसा कि स्वयं गीता ७/२५ में कहेंगे। अर्थात वे ही लोग मेरा स्वरूप जानते हैं येषां और तेषां ये दोनों बहुवचनान्त प्रयोग जीव के अनेकता के प्रमाण हैं। यदि कहें कि मिथ्योपाधि के कारण बहुवचनान्त का प्रयोग है तो यह कहना उचित नहीं होगा। क्योंकि येषांनाशितं कहकर भगवान उपाधि से मुक्त जीव के लिए ही बहुवचन का प्रयोग कर रहे है। तेषां आदित्यवज्ज्ञानं इस व्याख्यान से मिथ्योपाधि के कारण जीवात्मा में बहुत्व है, यह शांकर मत, और सत्योपाधि के कारण जीवात्मा में बहुत्व है। यह भास्कर मत ये दोनों ही भगवान के द्वारा खण्डित कर दिये गये। ॥श्री॥

संगति-अर्जुन फिर प्रश्न करते हैं कि- हे परमात्मन्! अज्ञान के नष्ट होने पर क्या फल होता है? इस पर भगवान कहते हैं-

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः।। ५/१७

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! मेरे सेव्यसेवकभावज्ञान से जिनके कल्मष समाप्त हो गये हैं, ऐसे मुझ परमात्मा में बुद्धि वाले मुझ परमात्मा में जिनका मन है

तथा मुझमें निष्ठा रखने वाले, मेरे परायण, पुनरागमन रहित तत्पदार्थ मुझ परमात्मा को प्राप्त कर लेते हैं।

व्याख्या-यहाँ चार बार तत्पदार्थ का प्रयोग करके भगवान अपने विग्रह चतुष्टय का संकेत करते हैं। अर्थात तत् मेरे नामात्मक विग्रह के जप में जिनकी बुद्धि है और तत् अर्थात् मुझसे अभिन्न परमात्मा के रूप में आत्मा अर्थात् जिनका मन लगा है। तत् अर्थात् भगवान के ललित लीला ज्ञान में जिनंकी निष्ठा है। तत् अर्थात भगवान का धाम ही जिनका पर अर्थात श्रेष्ठ अयन है। ऐसे महान भाव अपुनरावृत्ति अर्थात् पुनरागमन से रहित मुझको या मेरे लोक को प्राप्त कर लेते हैं। ॥श्री॥

संगति- अब अर्जुन पूछते है कि प्रभो! आपके दर्शन कर लेने पर साधकों की क्या अवस्था होती है? इस पर भगवान कहते है-

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः। ५/१८

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ-भगवान कहते हैं हे अर्जुन! विद्या और विनय से सम्पन्न ब्राह्मण में, गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में पंडित जन सम अर्थात् स्वभाव से ब्रह्म के ही दर्शन करते हैं।

व्याख्या- यहाँ ब्राह्मण और गौ सात्विक, "हाथी राजस तथा श्वान और चाण्डाल तामस् हैं। परन्तु पंडित इन तीनों में समरूप से ब्रह्म के दर्शन करते हैं। परन्तु समवर्तन नहीं करते। जैसे- कोई बहन और पत्नी में एक समान व्यवहार नहीं कर सकता। इससे यह निश्चित हुआ कि ब्रह्म सब में है। ॥श्री॥

संगति-अब चार श्लोकों से भगवान जीवन मुक्ति की दशा का वर्णन करते है-

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः।। ५/१९

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! जिनका मन पूर्वोक्त प्रकार से सब भावों में स्थित हो चुका है, उनके द्वारा इसी जीवन में सर्ग अर्थात आवागमन रूप संसार जीत लिया गया। क्योंकि ब्रह्म निर्दोष तथा सम है इसलिए सम में स्थित

महानुभाव मुझमें ही स्थित है।

व्याख्या- इहैव का तात्पर्य है कि उन्होंने इसी शरीर में संसार को जीत लिया। यहाँ शरीर त्याग की आवश्यकता नहीं। ब्रह्मणि स्थिता: शब्द का तात्पर्य है कि उनको मुझ ब्रह्म की सामीप्य मुक्ति मिल जाती है। ।।श्री।।

संगति- अब भगवान प्रत्यक्ष दिखने वाली जीवन मुक्त दशा का संकीर्तन कर रहे हैं।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः।। ५/२०

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! मुझ ब्रह्म परमात्मा को जानने वाला तथा मेरा साक्षात्कार करने वाला, मोहरहित स्थिर बुद्धि वाला, जीवन मुक्त साधक प्रिय वस्तु को प्राप्त कर न तो प्रसन्न होता है और अप्रिय वस्तु पाकर न ही उद्विग्न होता है।

व्याख्या- ब्रह्म विद् शब्द ब्रह्मोपपद 'विद्' अथवा विंद धातु से निष्पन्न हुआ। अर्थात् जो ब्रह्म को जान लेता है अथवा पा लेता है वह हर्ष शोकादि सभी सीमाओं से ऊपर उठ जाता है। 'प्रहृष्येत्' और 'उद्विजेत्' इन दोनों स्थलों पर वि व्यत्यय के कारण लट् के स्थान लिङ् लकार है। ।।श्री।।

संगति- अब जीवन मुक्त साधक को संसार में क्या प्राप्त करना शेष रहता है? इस पर भगवान कहते हैं।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते।। ५/२१

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! संसार के विषयों में अनासक्त मन वाला जो साधक मुझ परमात्मा में ही सुख प्राप्त करता है, वह ब्रह्म योग से युक्त अन्तःकरण वाला योगी अन्ततोगत्वा मेरे अक्षय सुख को प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या- यहाँ तात्पर्य यह है कि- संसार के शब्दादि विषयों से विरक्त हुआ

साधक मेरे शब्दादि में ही आनन्द लेने लगता है।अर्थात् मेरे कीर्तन, मेरे स्पर्श, मेरे श्यामल विग्रह का दर्शन, मेरे निवेदित प्रसाद का सेवन और मेरी चढ़ी तुलसी की सुगन्ध इन्हीं में वह सभी आनन्दों का अनुभव करता है। ॥श्री॥

संगति- अर्जुन प्रश्न करते हैं कि- हे वनमालिन। जीवन मुक्त साधक संसार के विषयों में क्योंनहीं रमते हैं इस पर भगवान कहते हैं-

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।। ५/२२

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- क्योंकि हे कुन्ती पुत्र अर्जुन! जो विषयों से उत्पन्न भोग हैं वे दुःखों के जन्मदाता ही हैं तथा वे उत्पत्ति विनाशशाली हैं। इसलिए विद्वान उसमें नहीं रमता ? वह तो राम ही में रमता है।

व्याख्या- इन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न होने के कारण इन्हें 'संस्पर्शज' कहते हैं। कौन्तेय! जैसे तुम्हारी मां कुन्ती विषय सुखों में नहीं रमी उसी प्रकार विद्वान नहीं रमते। ॥श्री॥

संगति- यहाँ अर्जुन फिर प्रश्न करते हैं क्या काम और क्रोध से उत्पन्न वेग सहन किया जा सकता है? इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए श्री हरि कहते हैं।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः।। ५/२३

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! शरीर त्याग के प्रथम ही इसी जीवन में जो मनुष्य काम, क्रोध से उत्पन्न वेग को सहन करने में समर्थ हो जाता हैं वही कर्मयोगी है और वही मनुष्य सुखी है।

व्याख्या- भगवान कहते हैं कि तुम भी तो नरावतार हो उर्वशी के समक्ष तुमने भी तो काम वेग को सहन किया था। ॥श्री॥

संगति- अब भगवान अन्तर्मुखता की प्रशंसा करते है।

योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ।। ५/२४

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! जो अपने अन्तः सुख में लीन रहता है तथा जो अपने अन्तःकरण के उद्यान में भ्रमण करता रहता है एवं जो अन्तःकरण की ज्योति से आलोकित रहता है, ऐसा मेरे चरणरविन्द में ही जिसकी 'भूत' अर्थात् सत्ता है वह योगी अधिकार पूर्वक मुझ ब्रह्म के द्वारा दिये हुए निर्वाण अर्थात् साकेताभिन्न गोलोक को प्राप्त करता है।

व्याख्या- 'अन्तः सुखः अन्तरा रामः अन्तर्ज्योतिः' इन तीनों स्थलों में बहुव्रीहि समास समझना चाहिए। 'ब्रह्म निर्वाणं' का अर्थ है ब्रह्मणा दत्तं निर्वाणं ब्रह्म के द्वारा दिया हुआ निर्वाण। 'भूत' शब्द का अर्थ है सत्ता। 'ब्रह्मणि भूतं यस्य' ब्रह्म के समीप है सत्ता जिसकी। अर्थात् उस योगी को मुझ ब्रह्म के समीप ही निवास मिल जाता है ।।श्री।।

संगति- बहुत क्या कहें! उपाधि के शून्य होने पर भी जीव अनेक ही होते हैं क्योंकि ऋषियों के सम्बन्ध में उपाधि की कल्पना उचित नहीं है। इसलिए त्रिकालज्ञ भगवान, भास्कर और शांकर मत का खण्डन करते हुए कहते हैं-

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः।। ५/२५

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! जिन्होंने द्वैध अर्थात् जीव ब्रह्म के पृथक सम्बन्ध को समाप्त करके अविनाभाव सम्बन्ध स्वीकार कर लिया है तथा मुझे निहारने के लिए जिनका मन सतत् यत्नशील रहता है, ऐसे मेरे भजन की महिमा से जिनका कल्मष क्षीण हो गया है वे सम्पूर्ण भूतों के हित में लगे हुए ऋषिगण सामीप्यरूप ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त कर लेते हैं।

व्याख्या- परमात्मा से पृथक सम्बन्ध की कल्पना ही द्वैत है। अर्थात् जीव पृथक होता हुआ भी भगवन् परतन्त्र सत्ता वाला होकर सम्बन्धतः एक रहता है। मेरे भजन की महिमा से ऋषियों के कल्मष समाप्त होजाते हैं। 'छिन्नद्वैधाः' शब्द में बहुवचन का प्रयोग करके यह सिद्ध करते हैं कि उपाधि से मुक्त अवस्था में जीव

अनेक ही रहता है।

संगति- अब भगवान जीवन मुक्तों की मोक्ष की सुलभता कहते है।

कामक्रोधविमुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ।। ५/२६

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- काम, क्रोध से मुक्त मेरे लिए यत्नशील चित्त वाले परमात्मतत्व के वेत्ता यतिश्रेष्ठ त्रिदण्डी सन्यासियों के सन्निकट ही ब्रह्मसामीप्य रूप निर्वाण विराजता है।

व्याख्या- 'विदितः आत्मा यैः' जिन्होंने मुझ परमात्मा को अपने स्वामी के रूप में पहचान लिया है, ऐसे यतियों को मुक्ति ढूँढ़नी नहीं पड़ती। 'अभितः' वर्तते मुक्ति उन्हें स्वयं ढूँढ़ लेती है। ॥श्री॥

संगति- अब दो श्लोकों से जीवन मुक्त महात्माओं के लक्ष्मण और छठें अध्याय में कहे जाने वाले ध्यानयोग के सूत्रों का भगवान वर्णन कर रहे हैं।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ।। ५/२७

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः।। ५/२८

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! शब्दादि विषयों को हृदय से बाहर निकालकर, नेत्र को भृकुटियों के बीच में स्थिर करके, नासिका के भीतर चरणशील, प्राण और अपान वायु को समान करके, इन्द्रिय मन तथा बुद्धि को मेरे लिए प्रयत्नशील करके इच्छा, भय तथा क्रोध से रहित, जो मननशील साधक मोक्ष रूप मुझ परमात्मा को परायण अर्थात परम गन्तव्य मानता है वह निरन्तर मुक्त ही है।

व्याख्या- जिसके सब व्यापार भगवान के निमित्त ही होते हैं उसके जीवन-मरण दोनों समान ही हो जाते हैं। ॥श्री॥

संगति- अब अपने वक्तव्य का उपसंहार करते हैं।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ।। ५/२९

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! सम्पूर्ण यज्ञ और तपस्याओं के भोक्ता तथा सम्पूर्ण लोकों के महेश्वर एवं सभी प्राणियों के मित्र मुझ परमात्मा को जानकर जीव शान्ति प्राप्त करता है।

व्याख्या- भगवान जीव के निःस्वार्थ मित्र हैं। श्रुति कहती हैं- "द्वा सुपर्णा समुजा सखाया" और भगवान पाणिनी ५/४/१५० में कहते हैं "सहृद्दुहृदौ मित्रा मित्रयो:" मानस में स्वयं सुमित्रा जी कहती हैं-

राम प्रान प्रिय जीवन जी के।
स्वारथ रहित सखा सबही के।। मा० २/७४/६

इस प्रकार जो भगवान को जानता है उसे शान्ति मिलती है। जो हठधर्मिता से जीव ब्रह्म का अभेद साधन करता है उसे अशान्ति मिलती है यह भी भगवान ने कह दिया ।।श्री।।

राघव कृपा भाष्य कहि रामभद्र आचार्य
सुख पैहहिं सज्जन सुमति लहि है रोष अनार्य ।।

इति श्री चित्रकूटस्थतुलसीपीठाधीश्वरजगद्गुरूरामानन्दाचार्य स्वामीश्रीरामभद्राचार्यप्रणीते श्री राघवकृपाभाष्ये श्रीमद्भगवद्गीतासुसर्वकर्मसंन्यासयोगोनाम - पंचमोऽध्यय:।।

।।श्री राघवः शंतनोतु।।

"श्री मद्राघवोविजयते"।।
"श्री रामानन्दाचार्याय नमः।

षष्ठोऽध्यायः

मंगलाचरणम्

ध्यायामि नीलसरसीरूहदिव्यशोभम् ।
योगीन्द्रवृन्दवरभृङ्गपदाब्जलोभम् ।।
सीता दृगम्बुजचकोरकपूर्णचन्द्रम् ।।.
श्री राघवं मनसि संप्रति रामचन्द्रम् ।।

देहप्रभाविजितनूतनकन्दकान्तिं
योगेश्वरेश्वरसमर्चितपादपीठम् ।
कृष्णं कृपालुहृदयं धृततोत्रहस्तं
ध्यायामि फाल्गुनसखं हृदि पार्थसूतम् ।।

अथ षष्ठाध्याये परमेश्वराराधनाङ्गीभूतध्यानयोगो विविच्यते। तत्र प्रथमं कर्मयोगं स्तौति ईश्वराराधनविषयत्वात् । यत्तु शङ्कराचार्यः प्रारंभिकाणि भगवद् वचनानि स्तुतिरूपार्थवाद वचनतया तन्न शास्त्रीयम् । अध्यायस्य चरमेऽंशे सिद्धान्ततया कर्मयोग स्तुतेः अत्रत्यं शङ्कराचार्यव्याख्यानं दुराग्रहग्रहिलतया पक्षपातपूर्णम्।संन्यासो नाम चतुर्थाश्रमो विशेषः, यद्यपि ब्रह्मचर्याद् वा गृही गृहाद् वनी ततः प्रव्रजेत इतरथा "यदहरेव विरजेत तदहरेव प्रव्रजेत" इति परिव्रज्या विरागमूलिका। किन्त्वनेन न कर्मयोगस्यापकर्षः। अथ भगवान प्राहः-

"श्रीभगवानुवाच"

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः।।१।।

रा० कृ० भा०- यः कर्मणां फलं कर्मफलं अनाश्रितः विगतसङ्गतयानाश्रयमाण कार्यं शास्त्रविहिततत्त्वेन करणीयम्, इत्येव चिन्तयन् करोति। सः संन्यासी तथा स योगी, अत्र चकारौ द्वावेवकारार्थौ चतुर्थचरणे यथाक्रममन्वितः। न च निरग्निः संन्यासी, न चाक्रियः योगी, निर्गता अग्नयः यस्मात् स संन्यासी इति न। न विद्यन्ते क्रियाःयस्मिन् सोऽक्रियः, तस्मान्निरग्निरेव

संन्यासी इति न, कर्मफलमनाश्रित्य करणीयं कुर्वन् साग्निरपि संन्यासी। अक्रिय एव कर्मयोगी इत्यपि न फलं त्यक्त्वा कर्तव्यबुद्धया कुर्वन् सक्रियोऽपि योगी ॥श्री॥

पूर्वं प्रतिज्ञातं संन्यासयोगयोरैक्यं क्रिया पक्षेऽपि यथावदेवेत्याह-

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥

रा० कृ० भा०- इह प्रयुक्तौ द्वितीयैकवचनान्तौ संन्यास योगशब्दौ अर्श आद्यजन्तत्वात् संन्यासियोगिपरकौ। अतः हे पाण्डव! यं संन्यासम् संन्यासिनम् इति प्राहुः कथयन्ति तमेव योगं योगिनं विद्धि जानीहि।हि यतोहि न संन्यस्ताः कामात्मकाः संकल्पा येन एवं विधः कश्चन कोऽपि योगी न भवति। यदि तेन संकल्पा संन्यस्ताः तर्हि संन्यासी। संकल्पान् संन्यस्यापि कर्माणि करोति तर्हि स योगी। एवं योगस्य प्राग् भूमिका संन्यासः सक्रियोऽपि काम्यसंकल्पसंन्यासेन संन्यासी भवितुमर्हति ॥श्री॥

अथ योगकर्मणोः कार्यकारणभावमाह-
"आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्मकारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥

रा० कृ० भा०- आरोढुमिच्छुः आरूरूक्षुः तस्य आरूरूक्षोः योगम आरोढुम् इच्छतः जनस्य कर्म वेदविहितं कारणं साधनमुच्यते। पुनः योगः आरूढः येन स योगारूढः तस्य योगारूढस्य। इह "वाहीताग्न्यादिषु" च पा० अ० २-२-३७ इत्यनेन निष्ठान्तस्य पर प्रयोगः। ननु योगमारूढः योगारूढः तस्य योगारूढस्यं इत्येव कथं न समासः क्रियते इति चेच्छ्रूयताम्, रथाङ्गपाणेरिव पाणिनेरपि गतिर्विचित्रा, पाणिनिः खलु आरूढ शब्दस्य द्वितीयान्तेन खट्वा शब्दैनैव सह निन्दार्थ एव तत्पुरुषमिच्छति। खट्वा क्षेपे पा० अ० १२/२६ इति सूत्रम् । इह निन्दार्थस्यानाभीप्सितत्वात् खट्वा शब्दाभावाच्च बहुव्रीहिःशरणमाश्रितः, तत्राप्याकृतिगणत्वेनाहिताग्न्यादित्वात् निष्ठान्तस्य पर प्रयोगः इति वयम् । एवं विधस्य योगारूढस्य रामः इन्द्रियाणां शमनं कारणं साधनमुच्यते ॥श्रीः॥

कस्यामवस्थायां साधको योगारूढो भवति इति कालं निर्णयते यदेति-

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ।।४।।

रा० कृ० भा०- हि निश्चये इन्द्रियाणामर्था इन्द्रियार्थाः तेषु इन्द्रियार्थेषु। यस्मिन् काले निश्चयेन इन्द्रियाणां विषयेषु विहितेषु कर्मसु च न अनुषज्जते आसक्तो न भवति। तदैव सर्वाणि कर्माणि संन्यस्यति तच्छील: सर्वसंकल्पसंन्यासी। सर्वान् संकल्पान् संन्यस्य योगारूढो भवति।अतएव महाभारते शान्तिपर्वणि गीतायां भीष्मो युधिष्ठिरं प्रत्याह-

''काम! जानामि ते मूलं संकल्पादुपजायसे।
न त्वां संकल्पायिष्यामि न समूलो भविष्यसि ।।म० भा० १२-१७७-२५

अथ पञ्चभि: मनो नियन्त्रणं स्तौति-

''उद्धरेदात्मनाऽत्मानं नात्मानमवसादयेत।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुदात्मनः ।।५।।

रा० कृ० भा०- आत्मशब्दो हि बह्वर्थ: तथा हि कोश:। "आत्माशरीरे जीवे च" जीविते परमात्मनि धृतावहं मनीषायां प्रयत्ने मानसे तथा। एषु प्रयत्न मनो जीवात्मसु अत्र आत्मशब्द:। तृतीयान्त: प्रयत्नपर: प्रथमान्तश्च मन: पर:, द्वितीयैकवचनान्त: द्विषष्ठ्येकवचनातश्च जीवात्म पर: इति विवेक:। आत्मना स्वेन प्रयत्नेन आत्मानं स्वं प्रत्यगात्मानम् उद्धरेत् संसारसागरात् तारयेत्, नात्मानं अवसादयेत्, स्वं न क्लेशयेत् हि यत: आत्मैव मन एव आत्मन: जीवस्य बन्धु: मित्रं, तथा आत्मैव मन एव आत्मन: जीवात्मन: रिपु: शत्रु:। रिपुशब्दसंयोगेन बन्धुशब्दोऽत्र मित्रार्थ:, न तु भ्रात्रर्थ: ।।श्री।।

नन्वेकस्मिन्नेव मिथो विरूद्धधर्मयो: बन्धुत्वरिपुत्वयो: कथं समन्वय:? इत्यत आह-

''बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जित:।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ।।६।।

रा० कृ० भा०- तस्य आत्मन; जीवात्मन: आत्मा मन: बन्धु: मित्रं,

येन साधकेन आत्मना बुद्ध्या आत्मा मनः जितः वशीकृतः। सारथिः प्रग्रहं नियच्छति, काठके बुद्धेः सारथित्वेन मनसः प्रग्रहत्वेन च श्रवणात् तया तस्या निग्रहः श्रुति सम्मत् एव अतएव बुद्धिं च सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ल० १-३-६। अनात्मनः अवशीकृत आत्मा मनः येन सोऽनात्मा तस्य अनात्मन; अवशीकृतमनसः, तस्यैव साधकस्य शत्रुत्वे शत्रुत्वविषये न कश्चन आत्मैव भूतपूर्वमित्रं निजमन एव शत्रुवद् वर्तते स इव व्यवहरति ॥श्रीः॥

अथ एकान्वयेन श्लोकत्रयेण योगारूढस्य सर्वोत्कृष्टामवस्थां निरूपयति-

''जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ।।७।।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।।८।।

सुहृन्मित्रार्युदासीन मध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ।।९।।

रा० कृ० भा०- शीतोष्णौ च सुखदुःखे च इति शीतोष्णसुखदुःखानि तेषु शीतोष्णसुखदुःखेषु द्वन्द्वेषु मानापमानयोः पूजातिरस्कारयोः जितात्मनः विजितकार्यकारणसङ्घातस्य प्रशान्तस्य शान्तचेतसः मनसि इति अध्याहार्यम्। परमात्मा परमेश्वरोऽहं समाहितः, तथा ज्ञानं संसारानात्मत्वज्ञानं विज्ञानं जीवात्म परमात्म नित्यत्वज्ञानपुरःसर स्वरूपानुसन्धानम् । अतएव हारितः

दासभूतास्तु वै सर्वे ह्यात्मानः परमात्मनः
अहं दासो हरिः स्वामी स्वभावं च सदा स्मर ।।

ताभ्यां ज्ञानविज्ञानाभ्यां तृप्तः सन्तुष्टः आत्मा बुद्धिर्यस्य, तथा कूटस्थः अविचलितः अथवा भगवदीयभावकूटे स्थितः। विजितेन्द्रियः विजितानि इन्द्रियाणि यस्य येन वा, समानि लोष्ठाश्म काञ्चनानि मृत्पिण्डपाषाणसुवर्णानि यस्य सः, सुहृत् प्रत्युपकारानपेक्ष उत्कृष्टमित्रम्।इह एकार्थत्वेऽपि द्वयाः, सुहृत् शब्दः उत्कृष्टे सख्यौ, मित्रशब्दश्च सामान्ये सख्यौ। यथा-कर्णः दुर्योधनस्य मित्रम्

किन्तु श्रीकृष्णः सुहृद् । मित्रं कपटीभवितुं शक्नोति न पुन; सुहृत् ।मित्रं सखा, अरिः शत्रुः उदासीनः हिताहिततटस्थः, मध्यस्थः उभयो; पक्षपाती, द्वेष्यः द्वेष विषयः, बन्धुः भ्राता कुटुम्ब जनोवा येषां द्वन्द्वः, साधुषु सज्जनेषु पापेषु पापवत्सु च समा प्रतिक्रियशून्या बुद्धिःयस्य। एवं भूत; योगारूढः विशिष्यते ।।श्रीः।।

अथ त्रयोविंशत्या श्लोकैः निष्कामकर्मयोगस्य साधनभूत चित्रवृत्तिनिरोधलक्षण योगं विवेचयति महायोगेश्वरः श्रीहरिः-

''योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रह; ।।१०।।

रा० कृ० भा०- रहसि एकान्ते स्थित; एकाकी द्वितीयविजातीयसहायक-वर्जितः, यतौ चित्तात्मानौ चित्तमनासी येन तादृश; निराशीः योगसिद्धिफलाशा-रहितः। अपरिग्रहः न विद्यते परिग्रहः कुटुम्बप्रेमानुबन्धो यस्य, तथा भूत;, सततं निरन्तरमेव आत्मानं परमात्मानं निजनिरूद्धचित्तवृत्तिभिर्युञ्जीत संबध्नीयात् ।।श्रीः।।

साधनारम्भे अपेक्ष्यमाण स्थिरसुखासनं स्वरूपतः परिभाषते-

''शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलजिनकुशोत्तरम् ।।११।।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ।।१२।।

रा० कृ० भा०- उच्छ्रितं उच्चं, चैलं वस्त्रं कम्बलादिकं, अजिनं मृगचर्म उत्तरं श्रेष्ठं, शुचौ पवित्रे देशे, नात्युच्छ्रितं नाधिकमुच्चं नातिनीचं नाधिकं निम्नं, चैलाजिनकुशा उत्तरोत्तरा; यस्मिन् एवंविधम् आत्मनः स्थिरं स्थातुमर्हं आसनं प्रतिष्ठाप्य वैदिकमन्त्रेण "पृथिवी त्वया" इत्यादिना प्रतिष्ठितं कृत्वा तत्रैवासने उपविश्य, चित्तं च इन्द्रियाणि च चित्तेन्द्रियाणि तेषां क्रिया; चित्तेन्द्रियक्रियाः, यताः चित्तेन्द्रिय क्रियाः वशीकृता येन एवं भूतः योगी।

एकः परमात्मा अग्रे समक्षं यस्य तत् एकाग्रं मनः कृत्वा, आत्मनः अन्तःकरणस्य विशुद्धये योगी कर्मयोगी योगं आत्मसंयमलक्षणं युञ्ज्यात् अभ्यसेत् । स्थिरसुखमासनम् इति तत्र पतञ्जालि। ॥श्री॥

अथ द्वाभ्यां आसनोपवेशनप्रकारमाह-

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥

रा० कृ० भा०- कायश्च शिरश्च ग्रीवा च इति कायशिरोग्रीवं प्राण्यङ्गत्वादेकवद् भावः, कायशब्देन मध्यभागो गृह्यते, मध्यभागः शिरः कण्ठं समं समानम् अचलम् अकम्पितं धारयन् स्वयमपि स्थिरः मानसोद्वेगरहितः स्वं नासिकाग्रं संप्रेक्ष्य।

तथा अन्य दिशः अनवलोकयन् न विलोकयन्, प्रशान्तः आत्मा अन्तःकरणं यस्य तथा भूतः ब्रह्मचारिणः व्रते अशास्त्रीयव्यवायत्यागरूपे स्थितः, मयि चित्तं यस्य स मच्चित्तः, अहं परः इष्ट यस्य स मत्परः, एवं भूतः युक्तः योगयुक्तः आसीत योगासने उपविशेत॥श्रीः॥

अथ फलमाह-

"युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥

रा० कृ० भा०- एवं पूर्वोक्त प्रकारेण नियतं विषयेभ्यो नियन्त्रितं मानसं मनः यस्य स नियतमानसः योगी, आत्मानं स्वमेव युञ्जन् योगे- नियोजयन् निर्वाणं मोक्षं परमं प्रयोजनं यस्याः तां मयि सन् तिष्ठते इति मत्संस्था तां मत्संस्थां मदाश्रितां शान्तिम् अधिगच्छति प्राप्नोति ॥श्रीः॥

अथ द्वाभ्यां योगोपयोग्याहारादिकं निर्वक्ति-

''नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ।।१६।।

रा० कृ० भा०- तु किन्तु अयं योग; अत्यश्नतः बहुभोजनं कुर्वतः नास्ति। तथा च एकान्तम् अत्यन्तम् अनश्नतः न भोजनं कुर्वतोऽपि नास्ति। तथा अति स्वप्नशीलस्य अतिमात्रं स्वप्नः निद्राशीलं स्वभाव; यस्य नास्त्ययं योगः। हे अर्जुन! अत्र एवकारः अप्यर्थः, अतिजाग्रतः अत्यन्तं जागरं कुर्वतोऽपि योगो नास्ति सुखावहः। सर्वत्र नियन्त्रणमपेक्षते इति भावः। ।।श्रीः।।

अथ पूर्वोक्तं निगमयति-

''युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ।।१७।।

रा० कृ० भा०- आहारः भोजनं, विहारः अन्योपि शरीरसुखसाधनव्यापारः, युक्तौ आहारविहारौ यस्य तस्य कर्मसु युक्ताश्चेष्टा यस्य तस्य, युक्तौ स्वप्नावबोधौ निद्राजागरौ यस्य स युक्तस्वप्नावबोधः तस्य युक्तस्वप्नावबोधस्य साधकस्य योगः दुःखहा दुःखनाशको भवति ।।श्रीः।।

अथ युक्तलक्षणमाह-

''यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ।।१८।।

रा० कृ० भा०- यदा विषयेभ्यो विनियन्त्रितं चित्तं, आत्मनि परमात्मनि सामीप्ये सप्तमी गुरौ वसति इतिवत् । परमात्मनः समीपे एव अवतिष्ठते, अवनतं चरणसेवार्थं व्रजति। एवं सर्वकामेभ्य; निः स्पृहः निर्गताः स्पृहा यस्य, यस्माद् वा तथा भवति। तदा युक्तः योगयुक्त इत्युच्यते ।।श्रीः।।

अथ योगिनः स्थैर्यमाह-

''यथा दीपोनिवातस्थो नङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ।।१९।।

रा० कृ० भा०- निवातं वायुरहितस्थानं, तस्मिन् तिष्ठतीति निवातस्थः

दीपः दीपक नेङ्गते मनागपि न कम्पते। यतं चित्तं यस्य स यतचित्तः तस्य यतचित्तस्य नियन्त्रितचेतसः आत्मनः परमात्मनः योगं संबन्धं आत्मना सहः युञ्जतः अनेन योगसाधने द्रढयतः योगिनः सा एव उपमा स्मृता, मया योगेश्वरेण स्मृतिपथं नीता॥श्रीः॥१९

अथ चतुर्भिर्योगं संकीर्तयति-

''यत्रोपरमते चित्तं निरूद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ।।२०।।

रा० कृ० भा०- यत्र यस्यां स्थितौ योगसेवया योगस्य साधनेन निरूद्धं चित्तम् उपरमते विषयाद् व्यावृत्तं भवति। यस्मिन् योगे आत्मना मनसा मनोमयेन चक्षुषा आत्मानं परमात्मानं पश्यन् साक्षात्कुर्वन् आत्मनि स्वस्मिन्नेव तुष्यति प्रसीदति। ॥श्रीः॥

"अथ आत्यन्तिकं सुखं व्याचष्टे-

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ।।२१।।

रा० कृ० भा०- अत्यन्तं भव आत्यन्तिकं अध्यात्मादित्वात् ठञ् । बुद्ध्या ग्राह्यं बुद्धिग्राह्यं, अतिक्रान्तमिन्द्रियाणि इति अतीन्द्रियं एवं भूतं आत्यन्तिकं सुखं वेत्ति जानाति। यत्र च यस्मिन् अयं स्थितः तत्वतः न चलति ॥श्रीः॥

पुनः योगमेव. विशिनष्टि-

''यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरूणापि विचाल्यते ।।२२।।

रा० कृ० भा०- यं लाभं लब्ध्वा ततः तस्मादधिकं लाभं न मन्यते, यस्मिन् योगे स्थितः गुरूणा भयङ्करेणापि दुःखेन न विचाल्यते न विचलितः क्रियते ॥श्रीः॥

पुनरपि तमेव विशिनष्टि-

''तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
सनिश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ।।२३।।

रा० कृ० भा०- तं पूर्वविशेषण विशिष्टं, दुःखानां संयोगस्य संसर्गस्य वियोगः, अत्यन्तिक अभावः यस्मिन् तादृशं योगसंज्ञितम् योगः संज्ञा यस्य एवं भूतं लाभं विद्यात् जानीयात् । स योगः निर्विण्णं विरक्तं चेतो यस्य तेन साधकेन योक्तव्यः साधनीयः।।श्रीः।।

अथ साधन प्रत्यवायान् विवृणोति त्रिभिः-

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ।।२४।।

रा० कृ० भा०- संकल्पः प्रभवः येषां ते संकल्पप्रभवाः तान् सर्वान् कामान् अशेषतः सामग्र्ये त्यक्त्वा, इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां समूहं समन्ततः सर्वतः सर्वेभ्यः विषयेभ्यः विनियम्य वशीकृत्य ।।श्रीः।।

अथ तमेवार्थं दृढयति-

''शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ।।२५।।

रा० कृ० भा०- धृत्या सात्विकी धृत्या गृहीतया वशीकृतया बुद्ध्या मनः आत्मनि परमात्मनि मयि संस्थितं विधाय विषयेभ्यः शनैः शनैः एकैकस्मात् दृढे उपरामे जाते अन्योन्यस्मात् उपरमेत् ।। मदन्यत् किंचिदपि न चिन्तयेत् विरमेत्? ननु कुतो इत्यत आह-

''यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततो ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ।।२६।।

रा० कृ० भा०- अस्थिरं निराधारं चञ्चलं मनः यस्माद्यस्मात् स्थानात् निश्चरति। तस्मात् तस्मात् । एतन्नियम्य निगृह्य आत्मनि मयि एव वशं नयेत् वशंवदं कुर्यात् ।।श्रीः।।

.अथ फलमाह-

''प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्
उपैति शान्तरजसं ब्रह्म भूतमकल्मषम् ।।।२७।।

रा० कृ० भा०- प्रशान्तं मनः यस्य तं प्रशान्तमनसं शान्तंरजः रजः यस्य तं शान्त रजसं ब्रह्मणि भूतं स्थितिः यस्य तं ब्रह्मभूतम् अकल्मषं कल्मषरहित एनं योगिनम् उत्तमम् उत्कृष्टं सुखं कर्तृभूतं उपैति स्वयमेवागच्छति ।।श्रीः।।

आत्मानन्दानन्तरं योगी किं प्राप्नोति? इत्यत आह-

''युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ।।२८।।

रा० कृ० भा०- एवं विगतं कल्मषं प्राक्तनं पापं यस्य तथाविधःयोगी युञ्जन् अष्टाङ्गयोगमनुतिष्ठन् ब्रह्मणः मम संस्पर्शः संबन्धो यस्मिन् तथा भूतम् अत्यन्तं सुखम् अन्तमतिक्रान्तं सुखेन नायासेन अश्नुते भुङ्क्ते ।।श्रीः।।

अथ योगिन, ईक्षणमाह-

''सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वज्ञ समदर्शनः ।।२९।।

रा० कृ० भा०- योगेन युक्तः आत्मा यस्य एवंभूतः, सर्वत्र सर्वेषु समं ब्रह्म पश्यतीति समदर्शनः,. आत्मानं परमात्मानं मां सर्वेषु भूतेषु तिष्ठति तथा भूतं तथा आत्मनि मयि सर्वाणि भूतानि ईक्षते साक्षात्करोति ।।श्रीः।।

समदर्शनफलमाह-

''योमां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।।३०।।

रा० कृ० भा०- यः साधकः सर्वत्र चराचरेषु मां कृष्णं भगवन्तं पश्यति तथा सर्वं चिदचिदात्मकं मयि भगवति कृष्णे पश्यति। तस्य अहं न

प्रणश्यामि नादृश्यो भवामि, सच मे न प्रणश्यति मत्कर्तृकस्वकर्मकदर्शनाभाव न भवति। तं सर्वत्र अहं पश्यामि सः सर्वत्र मां पश्यति ॥श्री॥

भूयस्तदेव फलं विशिनष्टि-

"सर्व भूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ।।३१।।

रा० कृ० भा०- यः एकत्वं सम्बन्धं सेवकसेव्यभावाख्यं एकत्वस्य यथा संबन्धोऽर्थः "सनत्वेवाहं" गीता २-१२ इत्यत्रैव व्याख्यातः। आस्थितः कृताश्रयः सर्वभूतेषु स्थितं मां यः भजति। स मदनत्यनिष्ठो योगी वर्तमानोऽपि शरीरेण संसारे तिष्ठन्नपि सर्वथा सर्वेण प्रकारेण मयि वर्तते, मम समीपे एव तिष्ठति ॥श्रीः॥

भूयस्तत्फलस्तुतिं उपसंहरति-

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःख स योगी परमो मतः।।३२।।

रा० कृ० भा०- हे अर्जुन! यः आत्मनः औपम्ये सर्वत्र सुखम् अनुकूलवेदनीयं यदि वा दुःखं प्रतिकूलवेदनीयं समं समानं पश्यति। सः परमपूज्यमानः योगी मतः स्वीकृतः॥ ॥श्रीः॥

अथ मनसश्चाञ्चल्यं विभाय तद्वशीकरणप्रयत्नं जिज्ञासते अर्जुनः-

"अर्जुन उवाच"

"योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।"
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ।।३३।।

हे मधुसूदन! मधुमथन प्रभो यः अयं साम्येन संन्यासकर्मयोग समतया योगः, त्वया भवता प्रोक्तः। एतस्य योगस्य मनसः चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिरां न पश्यामि ॥श्रीः॥

कथं न पश्यामीत्यत आह-

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ।।३४।।

रा० कृ० भा०- कर्षतीति कृष्ण तत्सम्बुद्धौ हे कृष्ण! त्वमेव यदि समाकर्षे तदैव वशं स्यात् । इतरथा इदं मनः अत्यन्तं चञ्चलं प्रमाथि प्रमथनस्वभावं दृढम् अत्यन्तं बलवत् शक्तिमत् । अहं अर्जुनः एतस्य मनसः निग्रहं वायोः पवनस्येव सुदुष्करम् अति कठिनं मन्ये ।।श्रीः।।

पार्थजिज्ञासां परिहरन् भगवान् समाधत्ते, अतोऽवतारयति सञ्जयः धृतराष्ट्रं प्रति-

श्री भगवानुवाच"

"असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।।३५।।

रा० कृ० भा०- हे महाबाहो! महाभुज इदम् असंशयं निःसन्दिग्धं वर्तते, यन्मनः दुर्निग्रहं दुःखेन निग्रहितुं शक्यं चञ्चलं, तु किन्तु हे कौन्तेय! यथा तव माता कुन्ती आकर्षणमन्त्रेण सूर्यं, धर्मं, पवनमिन्द्रं चाकर्षितवती, तथैव तत्पुत्रेण त्वया अभ्यासेन वैराग्येण चकारात् मम नामरूपलीलाधामकथाश्रवणेन गृहीतुं ग्रहीतुं शक्यते ।।श्रीः।।

मनो निग्रहमेव योग प्राप्त्युपायं वक्ति-

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः।।३६।।

रा० कृ० भा०- असंयतः अवशीकृतः आत्मा मनः यस्य स असंयतात्मा तेन असंयतात्मना अवशीकृत चेतसा जनेन कर्त्ता योगः दुष्प्रापः दुःखेन प्राप्तुं शक्यः। किन्तु वश्यः वशीकृतः आत्मा मनः यस्य सः वश्यात्मा तेन वश्यात्मना वशीकृत मनसा जनेन अयं योगः सततं निरन्तरं यतता प्रयतमानेन उपायतः मत्कृपाप्रेरित प्रयत्नेन अवाप्तुं लब्धुं शक्यः। इति इत्थं मे कृष्णस्य सर्वज्ञस्य मतिः मन्तव्यम् ।।श्रीः।।

अथ पार्थः योगभ्रष्टसाधकसंबन्धे त्रिभिर्जिज्ञासते योगेश्वरं निजमित्रं श्रीकृष्णं,

तज्जिज्ञासामवतारयति संजयः-

"अर्जुन उवाच"

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कांगतिं कृष्ण गच्छति ।।३७।।

रा० कृ० भा० - अर्जुनः पप्रच्छ, हे कृष्ण! हे सच्चिदानन्दघन कृषिर्भूवाचकः शब्दोणस्तु निर्वृत्तिवाचकः। तयोरैक्यं पर ब्रह्म श्रीकृष्णेत्यभिधीयते।।इतिश्रुतेः। अयतिः अयत्नशीलः किन्तु श्रद्धया आस्तिकबुद्धया उपेतः। परन्तु यत्नाभावादेव योगात् योगसाधनात् चलितं पतितं मानसं यस्य तथाभूतः योगस्य संसिद्धिम् अप्राप्य अलब्ध्वा कांगतिं गच्छति, स्वर्गं याति नरकं वा ।।श्रीः।।

प्रश्नं स्पष्टयति-

''कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति''।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ।।३८।।

रा० कृ० भा०- हे महाबाहो! महाभुज श्रीकृष्ण ब्राह्मणः परमेश्वरस्य पथिमार्गे अप्रतिष्ठः प्रस्थानासमर्थः। यद्वा नास्ति प्रतिष्ठा यस्य स अप्रतिष्ठः प्रस्थानासमर्थः। प्रतिष्ठा हीनो वा। विमूढः छिन्नाभ्रम् इव छिन्न मेघ इव उभयविभ्रष्टः। उभाभ्यां लोक परलोकाभ्यां विभ्रष्टः पतितः, कच्चित् न नश्यति? यद्वा कच्चित् ना उभय विभ्रष्टः इति पदच्छेदः। ब्रह्मणः अप्रतिष्ठः उभय विभ्रष्टः ना मनुष्यः छिन्नाभ्रमिव कच्चित् नश्यति, किं नष्टो भवति ।।श्रीः।।

जिज्ञासां समाधातुं प्रार्थयते-

''एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ।।३९।।

रा० कृ० भा०- हे कृष्ण ? हे भक्तदुःखकर्शन, मे मम अर्जुनस्य एतत् श्लोकद्वयोक्तं संशयम्, अशेषतः सामग्रेण छेत्तुम् अर्हसि नासयितुं योग्योऽसि। हि यतः अस्य संशयस्य संदेहस्य त्वद् भवतः कृष्णादन्यः छेत्ता नाशयिता न उपपद्यते उपयुक्तो नास्ति ।।श्री।।

अथ जिज्ञासां श्रुत्वा परमप्रीतः प्रणतवत्सलः श्रीकृष्णो भगवान प्राह- श्री भगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ।।४०।।

रा० कृ० भा०- हे पार्थ! तस्य योग भ्रष्टस्य नैव इह लोके, नवा अमुत्र परस्मिन् लोके विनाशः दर्शनाभावो नाशो वा नास्ति। परमप्रीतभाजन! कश्चित् कोऽपि कल्याणं करोतीति कल्याणकृत् आत्मकल्याणकारी दुर्गतिं न हि गच्छति अधोगतिं न प्राप्नोति। तात किं विस्मरसि उपक्रम एव मयोक्तं, नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते। स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायतेमहतो भयात् गीता २-४०। अतः साधकस्य दुर्गतिशङ्कैव न कार्या ॥श्रीः॥

अथ पार्थं प्रमोदयितु श्लोकपञ्चकेन योगभ्रष्टजन्मान्तरीयमाह योगेश्वरो भगवान्

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ।।४१।।

रा० कृ० भा०- पुण्यं कुर्वन्तीति पुण्यकृतः तेषां पुण्यकृतां, पुण्यकर्मणां लोकान् स्वर्गादीन् प्राप्य। तत्र स्वर्गादिलोकेषु शाश्वती बह्वीः न त अनन्ताः शरदः वर्षाणि यावत् "अत्यन्तसंयोगे" द्वितीया उषित्वा निवासं कृत्वा योगभ्रष्टः साधकः शुचीनां पवित्राणां तत्रापि श्रीमतां मद् भक्तिमता न तु भक्तिदरिद्राणां गेहे भवने अभिजायते, अभीष्टसन्तानरूपेण जायते, जन्म गृह्णाति ॥श्रीः।

जन्मविकल्पमाह-

अथवा योगिनामेव कुलेभवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ।।४२।।

रा० कृ० भा०- अथवा पक्षान्तरे धीमतां मद्ध्याननिष्ठानां योगिनां निष्काम कर्मयोगयुक्तानां कुले कुटुम्बे योगभ्रष्टः अभिजायते। कथमत्र विकल्पद्वयमेव। इत्यत आह उत्तरार्धेनयत् यतो हि ईदृशं जन्म योगभ्रष्टानामुत्पत्तिः लोके मर्त्यलोके दुर्लभं भवति। ईदृशं शुचीनां गृहे जन्म दुर्लभं योगिनां गेहे दुर्लभतरम् ॥श्रीः॥

किं पुनर्जन्मानि पूर्वाभ्यस्तं योगं विस्मरति? इति शंङ्कां त्रिभिर्निराकरोति-तत्रेति-

तत्र तं बुद्धि संयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरूनन्दन ।।४३।।

रा० कृ० भा० - कुरून् नन्दयतीति कुरूनन्दनः तत्सम्बुद्धौ हे कुरूनन्दन! तत्र तस्मिन् पुनर्जन्मनि स योगभ्रष्टः पौर्वदेहिकम् पूर्वस्मिन् देहे भवं तं पूर्वाभ्यस्तं बुद्धिसंयोगं योगानुभूतसंस्कारं मद्भजनमहिम्ना पुनरूद्बुद्धं लभते। ततः तदनन्तरं भूयः पुनरपि संसिद्धौ निमित्ते सप्तमी योग सिद्ध्यै यतते योगसाधनं करोति ।।श्रीः।।

तमेवार्थं विवृणोति-

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ।।४४।।

रा० कृ० भा०- तेनैव स्मृतेन पूर्वाभ्यासेन पूर्वजन्मनि कृतेन अभ्यासेन अवशः विवशः अपि साधकः ह्रियते योगसाधनां प्राप्यते। किंच योगस्य जिज्ञासुः ज्ञानेच्छुर्भवन्नपि शब्दब्रह्म वेदं अतिवर्तते वेदविहितकर्माणि कृत्वा विरमति। यद्वा शब्दब्रह्म वाणी तद् अतिवर्तते वाणीं त्यक्त्वा मौनो भवति। पाण्डित्यं विहाय मौनेन तिष्ठासते इति श्रुतेः ।।श्रीः।।

आनन्तरं सिद्धिं लभते न वा, इत्यत आह-

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।।४५।।

रा० कृ० भा०- संशुद्धानि किल्विषानि यस्य एवं भूतः प्रयत्नात् प्रयासेन यतमानः साधनां कुर्वन् योगी अनेकेषु जन्मसु अनेकैर्वा जन्मभिः संसिद्धः लब्धयोगसिद्धिः। ततः परां गतिं मदभिन्नां याति प्राप्नोति ।।श्रीः।।

अथ कर्मयोगिनं प्रशंसन् तच्छ्रेष्ठ्य मभिधत्ते नार्थवादं

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ।।४६।।

रा० कृ० भा०- हे अर्जुन! योगी तपस्विभ्योऽपि अधिक श्रेठः ज्ञानिभ्य; ज्ञानयोगिभ्योऽपि अधिकः किं बहुना कर्मिभ्यः कर्मकाण्डिभ्यः चापि अधिकः। ननु कर्मन् शब्दात् कथमिनि प्रत्ययः इति चेत् सर्वे अनन्ताऽसन्ताऽजन्ता इत्यनुशासनात् कर्मशब्दस्याजन्तात्वेन कर्मिभ्यः इतिनिर्दोष प्रयोगः। तपस्विज्ञानिकर्मिभ्यः कर्मयोगिनः श्रैष्ठ्ये भगवत् कृपा बहुलतामेव मन्यामहे। तस्मात् हे अर्जुन! त्वं योगी कर्मयोगयुक्तो भव। यद्वा अधिक शब्दस्य अन्या व्युत्पत्तिः अधिरूढः कं शिरः इति अधिकः। तपस्विनः ज्ञानिनः कर्मिणश्च अभिभूय अधिकः तेषां शिरासिः आरूढः। इति विग्रहे ल्यब्लोपे पञ्चमीस्त्रिपु। यद्वा इभ्यः स्वामी, योगी तपस्विनां इभ्यः स्वामी, कर्मिणां इभ्यः स्वामी मतः। अतएव अधिकः, सर्वेषां शिरांसि अध्यारूढ़ः। ननु तपस्वि इभ्य इति विग्रहे "अकः सवर्णे दीर्घः" पा० अ० छन्द १११ इत्यनेन दीर्घे तपस्वीभ्यः ज्ञानीभ्य कर्मीभ्यः इत्येभिभवितव्यं, न तथा त्रोपलभामहे इतिचेत् सत्यं, "शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्" इति पररूपेणादोषात् । अधिक इत्यस्य त्रिः प्रयोगात् एभ्य योगिन स्त्रैकालिकं श्रैष्ठ्यमुक्तम् ॥श्रीः॥

उपसंहरति इममध्यायम् एतत्षट्कं च भगवान् महायोगेश्वरः-

> **"योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।**
> **श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ।।४७।।**

रा० कृ० भा०- अपिच सर्वेषां योगिनां मध्ये सहस्राणां कर्मयोगिनां मध्ये मद्गतेन मदर्पितेन अन्तरात्मना अन्तःकरणेन यः श्रद्धावान् आस्तिकबुद्धियुक्तः मां भजते अनन्यभावेन मन्नामरूपलीलाधाम्नामास्वादनं करोति। स अतिशयेन युक्तः युक्ततमः मे मम कृष्णस्यापि मतः पूजितः॥ इह "मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च" पा० अ० ३-२-१८८, इत्यनेन वर्तमानकाले क्त प्रत्यय "षष्ठी" क्तस्य च वर्तमाने" पा० अ० २-३-६७

> **कृष्णः कंसरिपुर्जयत्यनुदिनं कृष्णं कृपालुं भजे।**
> **कृष्णेनाभिहत तस्तमीचरचयः कृष्णाय तुभ्यं नमः।।**
> **कृष्णान्नास्त्यपरो दयापरतरः कृष्णस्य पादौ श्रये।**
> **कृष्णे यातु विलीनतां मम मनो हे कृष्ण मां पालय।।**

षष्ठ एष मयाऽध्यायः श्रीगीतासु यथामतिः।
श्रीराघवकृपा भाष्ये व्याख्यातः प्रीतये हरेः।।श्रीः।।

इति श्रीचित्रकूटतुलसीपीठाधीश्वरजगद्गुरूरामानन्दाचार्य स्वामीश्रीरामभद्राचार्यप्रणीते श्रीराघवकृपाभाष्ये श्रीमद्भगवद्गीतासु आत्मसंयमयोगनाम ||षष्ठोऽध्यायः||

।।श्री राघव शंतनोतु।।

●●

"श्री मद्राघवोविजयते"।।
"श्री रामानन्दाचार्याय नमः।।

षष्ठोऽध्यायः

मंगलाचरणम्

ध्यायामि नीलसरसीरूहदिव्यशोभम्,
योगीन्द्रवृन्दवरभृङ्गपदाब्जलोभम्।
सीतादृगम्बुजचकोरकपूर्णचन्द्रम्,
श्रीराघवं मनसि सम्प्रति रामचन्द्रम्।।

मैं इस समय अपने मन में उन भगवान श्री राघवेन्द्र श्रीराम का ध्यान कर रहा हूँ जिनके श्री विग्रह की नीलकमल के समान दिव्य शोभा है एवं जिनके श्री चरण कमलों में योगीन्द्र समूह रूप श्रेष्ठ भ्रमरों का लोभ है तथा जो सीता जी के नेत्रकमल रूप चकोरों के पूर्णचन्द्र हैं।

देहप्रभाविजितनूतनकन्दकान्तिम्,
योगेश्वरेश्वर समर्चितपादपीठम्।
कृष्णं कृपालुहृदयं धृततोत्रहस्तम्,
ध्यायामि फाल्गुनसखं हृदि पार्थसूतम्।।

जिन्होंने अपने शरीर की कान्ति से नवीन बादल की शोभा को जीता है तथा योगेश्वरों के ईश्वर भगवान शंकर भी जिनकी श्री चरणपादुका का वन्दन करते हैं ऐसे कृपालु हृदय वाले, घोड़ों के नियन्त्रण के लिए हाथ में कोड़ा लिए हुए, अर्जुन के मित्र पार्थसारथि भगवान श्रीकृष्ण का अपने हृदय में ध्यान कर रहा हूँ।

संगति- अब छठे अध्याय में परमेश्वर आराधना के अङ्गभूत ध्यान योग की विवेचना की जाती है। उसमें सर्वप्रथम ईश्वर के आराधन का विषय होने के कारण भगवान कर्मयोग की प्रशंसा करते हैं। जो शङ्कराचार्य जी ने छठे अध्याय के प्रारम्भिक श्लोकों का अर्थवाद कहकर व्याख्यान किया है अर्थात् ये वचन केवल साधक को प्रवृत्त करने के लिए कहे गये हैं इनमें सत्य कुछ नहीं है। इस प्रकार कहकर शङ्कराचार्य ने अपने दुराग्रहपूर्ण पक्ष को बचाने का साहसिक प्रयास किया वह शास्त्रीय नहीं है।

क्योंकि इस अध्याय के अन्तिम श्लोकों में भी भगवान ने कर्मयोग की ही प्रशंसा की है। जैसे गीता ६/४६ में भगवान कहते हैं कि– "हे अर्जुन निष्काम कर्मयोगी तपस्वियों से कर्मकाण्डियों से और ज्ञानियों से भी श्रेष्ठ है इसलिए तुम योगी ही बनो।"

इस प्रकार उपक्रम और उपसंहार देखने से यही लगता है कि इस प्रसंग पर शङ्कराचार्य का वक्तव्य अन्यायपूर्ण और पक्षपातपूर्ण है। संन्यास चतुर्थ आश्रम को कहते हैं। अर्थात् ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य वानप्रस्थ और संन्यास इन चारों आश्रमों में आश्रमात् आश्रमं गच्छेत् एष धर्मः सनातनः। अर्थात् ब्रह्मचर्य से गृहस्थ, गृहस्थ से वानप्रस्थ, वामनप्रस्थ से संन्यास यह क्रमिक मर्यादा है। सौ वर्ष की आयु में यही विभाग भी है। पच्चीस वर्ष ब्रह्मचर्य के लिए, पच्चीस से पचास गृहस्थ के लिए, पचास से पचहत्तर वानप्रस्थ के लिए और पचहत्तर से एक सौ तक संन्यास के लिए निर्धारित है। किन्तु जिस समय मन में उत्कट वैराग्य आ जाय उसी समय संन्यास ले लेना चाहिए यह व्यवस्था है। इस पर श्रुति कहती है-

'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्' अर्थात् जिस दिन मन में उत्कट वैराग्य हो उसी दिन घर छोड़कर संन्यासी हो जाना चाहिए चाहे ब्रह्मचर्य हो या गार्हस्थ्य अथवा वानप्रस्थ। वहाँ किसी से पूछने की आवश्यकता नहीं होती। इसीलिए तुलसीकृत गीतावली में भगवान शङ्कर विभीषण से कहते हैं-

'राम के सरन जाय सुदिन न हेरई'।

अर्थात् भगवान की शरण में जाने के लिए किसी मुहूर्त या सुदिन की आवश्यकता नहीं। परन्तु इस वचन से कर्मयोग का अपकर्ष नहीं हुआ। इसीलिए अर्जुन से भगवान श्रीकृष्ण कह रहे हैं।

श्री भगवानुवाच

षडैश्वर्य सम्पन्न भगवान श्रीकृष्ण बोले-

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्नचाक्रिया । ।।६/१।।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! जो साधक कर्म के फल को आश्रय न करता हुआ वेदविहित करणीय कर्म करता है, वही संन्यासी है और वही योगी है।

केवल अग्नि छोड़ने वाला संन्यासी नहीं है। और केवल क्रियाओं को छोड़ने वाला भी योगी नहीं है।

व्याख्या- अनाश्रितः का तात्पर्य है जो कर्मफल का आश्रय न करके मुझे आश्रय मानकर करणीय कर्म करता है वहीं संन्यासी है और वही योगी है। यहाँ दोनों चकार एवकारार्थक हैं अर्थात् करणीय कर्मों को करता हुआ साग्नि भी संन्यासी है और फलाशा से रहित कर्म करता हुआ सक्रिय भी योगी है। ।श्री।

संगति- क्रियापक्ष में भी पाँचवें अध्याय में कहा हुआ संन्यास और योग का ऐक्य उसी प्रकार से है। अर्थात् जैसे ज्ञानपक्ष में संन्यास और योग एक हैं वैसे क्रियापक्ष में भी। इसी बात को भगवान द्वितीय श्लोक में कह रहे हैं-

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्त सङ्कल्पो योगी भवति कश्चन ।। ।।६/२।।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे पाण्डुनन्दन अर्जुन! जिसको मनीषी जन 'संन्यासी इसप्रकार कहते हैं उसी को योगी भी समझो। क्योंकि जब तक साधक सङ्कल्पों से संन्यास नहीं लेता अर्थात् जब तक काम्य सङ्कल्पों को मेरे चरणों में पूर्ण रूप से डाल नहीं देता तब तक कोई भी मनुष्य योगी अर्थात् कर्मयोगी हो ही नहीं सकता।

व्याख्या- इस श्लोक में प्रयुक्त संन्यास और योग शब्द मत्वर्थीय अच् प्रत्ययान्त होकर संन्यासी और योगी के अर्थर में हैं। हि शब्द हेतु का अनुवादक है। पाण्डव शब्द का अभिप्राय यह है कि जैसे तुम सङ्कल्पों का संन्यास करके ही मेरी शरण में आये और अब तुम्हें योग की पात्रता मिल जायेगी। आशय यह है कि- पहले संन्यासी होकर ही पश्चात् व्यक्ति योगी होता है और संन्यासी भी पहले कर्मयोगी होता है फिर संन्यासी बनता है। श्री।।

संगति- अब योग और कर्म का कार्यकारणभाव कहते हैं-

आरुरूक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ।। ६/३।।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! योग साधन करने की इच्छा करने वाले मननशील साधक का कार्य कारण कहा जाता है। और पुनः योगारूढ अर्थात् निष्काम कर्मयोग से युक्त साधक का इन्द्रियों का शमन ही कारण है। अर्थात् योग प्राप्ति में कर्म कारण है और भगवत्प्राप्ति में इन्द्रियों का शमन।

व्याख्या- योगारूढ शब्द में बहुब्रीहि समास किया गया है आरूढः योगः येन स योगारूढः तस्य योगारूढस्य। अर्थात् जिसके द्वारा योग आरूढ अर्थात् स्वीकारा गया वही योगारूढ है। आरूढ शब्द निष्ठा अर्थात् 'क्त' प्रत्ययान्त है। वाहिताग्न्यादिषु च (पा० अ० २/२/३७) सूत्र से निष्ठा क्त प्रत्ययान्त आरूढ शब्द का पर प्रयोग हुआ। यदि कहो कि यहाँ योगामारूढः योगारूढः इस प्रकार व्युत्पत्ति करके द्वितीया तत्पुरुष क्यों नहीं हो गया तो सुनो। चक्रपाणि भगवान श्रीकृष्ण की भाँति ही महर्षि पाणिनि की भी बड़ी विचित्र गति है। महर्षि पाणिनि ने आरूढ शब्द का द्वितीयान्त खट्वा शब्द के साथ निन्दा अर्थ में ही समास माना है। यहाँ न तो निन्दा अर्थ है और न खट्वा शब्द। यदि कहें कि द्वितीयायोग विभाग से खट्वा शब्द के विना भी समास हो जायेगा तो भी निन्दा अर्थ में ही आरूढ शब्द का समास होगा। सौभाग्य से यहाँ निन्दा विवक्षित नहीं है। यथा- खट्वाक्षेपे (पा० अ० २/१/२६) इसलिए हमें बहुब्रीहि की शरण लेनी पड़ी और आहिताग्न्यादिगण का आकृतिगण से सहारा लेना पड़ा। ऐसा हमारा मानना है। श्री।

संगति- अर्जुन फिर प्रश्न करते हैं कि- साधक किस अवस्था में योगारूढ होता है? उस समय का निर्णय करते हैं कालातीतकालिन्दीपति कन्हैया-

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मष्वनुषज्जते।
सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ।।६/४।।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! जिस समय साधक इन्द्रियों के विषयों में और वेदविहित कर्मों में निश्चय पूर्वक आसक्त नहीं होता, उसी समय स्वभाव से मेरे चरणों में सभी सङ्कल्पों को संन्यस्त करके योगारूढ कहा जाता है।

व्याख्या- इन्द्रियार्थेषु का तात्पर्य है जब अनुकूल बनकर दसों इन्द्रियों के विषय सेवन के लिए उपस्थित होते हों और जब श्रुतिविहित नित्य नैमित्तिक कर्म अनुष्ठान

के लिए उपस्थित हो रहे हों, उस समय जो उनमें अनुकूलता से आसक्त नहीं होता उसी समय वह योगारूढ कहा जाता है। जैसे- भगवान श्रीराम के समक्ष देव सुन्दरियाँ उपस्थित हैं परन्तु वह तटस्थ हैं और लक्ष्मण जी से पुष्प वाटिका में यही कहते हैं-

मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी।
जेहि सपनेहूँ पर नारि न हेरी।। (मानस १/२३१/६)

इसीलिए राक्षसराज रावण की पत्नी मन्दोदरी भी भगवान राम को महायोगी कहती है-

व्यक्तमेष महायोगी परमात्मा सनातनः।

इसीलिए महाभारत शान्तिपर्व की 'मङ्कगीता' में भीष्म युधिष्ठिर से मङ्क वचन उद्धृत करते हैं-

काम जानामि ते मूलं संकल्पादुपजायसे।
न त्वां संकल्पयिष्यामि न समूलो भविष्यसि (म० भा० १२/१७७)

हे काम! मैं तुम्हारा हेतु जानता हूँ। तुम सङ्कल्प से ही उत्पन्न होते हो। न मैं तुम्हारा सङ्कल्प करूँगा और न तुम सङ्कल्पमूल से उत्पन्न होंगे। श्री।

संगति- अब भगवान पाँच श्लोकों से मन के नियन्त्रण की प्रशंसा करते हैं।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।। ६/५।।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! अपने प्रयत्न से अपना उद्धार कर लेना चाहिए। अपने जीवात्मा को कभी कष्ट नहीं देना चाहिए। क्योंकि अपना मन ही इस जीवात्मा का मित्र है और अपना मन ही इस जीवात्मा का शत्रु है।

व्याख्या- यहाँ आत्मा शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। प्रयत्न, मन और जीवात्मा। तृतीयान्त आत्मा शब्द जीवात्मापरक है ऐसा समझना चाहिए। यह जीवात्मा संसार सागर में पड़ा है। अतः भगवान कहते हैं- इसका अपने प्रयत्न से उद्धार करो।

अर्थात् आत्मना अर्थात् मुझ परमात्मा द्वारा मेरी कृपा से इस जीवात्मा का उद्धार करो। क्योंकि मैं परमात्मा तुम्हारा मित्र हूँ। और यह आत्मा मन तुम्हारा शत्रु है। अत: मन की बात मत मानो मनमोहक की बात मानो, यह वश में होकर बन्धु बनता है और स्वतन्त्र होकर शत्रु बनता है। श्री।

संगति- अब अर्जुन जिज्ञासा करते हैं कि हे प्रभो! एक ही मन में परस्पर विरूद्ध मित्रत्व और शत्रुत्व का सामञ्जस्य कैसे होगा? इस पर भगवान कहते हैं-

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जित:।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ।। ६/६

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! उसी साधक का यह मन मित्र बनता है जिसके द्वारा बुद्धि की सहायता से यह जीत लिया गया है। जिसने इस मन को वश में नहीं किया उसी जीवात्मा के शत्रुभाव में यह पूर्व मित्र आत्मा अर्थात् मन ही शत्रुवत् वर्तता है।

व्याख्या- यहाँ भी आत्मा शब्द मन, बुद्धि और जीवात्मा इन तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। अनात्मन: का अर्थ है- अवश: आत्मा यस्य अर्थात् यह मन जिसके वश में नहीं हुआ वही अनात्मा है। शत्रुत्वे का अर्थ है शत्रुभाव में। तृतीयान्त आत्मा शब्द बुद्धि का वाचक है और प्रथमान्त आत्मा शब्द मन का। आत्मा से आत्मा के जीतने का तात्पर्य यह है कि बुद्धि से मन को जीतो। क्योंकि कठोपनिषद में बुद्धि को सारथि और मन को लगाम कहा गया है-

बुद्धिं च सारथिं विद्धि मन: प्रग्रहमेव च। (क० १/३/९) सारथि ही लगाम पकड़ सकता है। इसी प्रकार बुद्धि ही मन को नियन्त्रित कर सकती है। श्री।

संगति- अब एक अन्वयवाले तीन श्लोकों से भगवान श्रीकृष्ण योगारूढ अर्थात् निष्कामकर्मयोगी की सर्वोत्कृष्ट अवस्था का वर्णन करते हैं-

जितात्मन: प्रशान्तस्य परमात्मा समाहित:।
शीतोष्णसुखदु:खेषु तथा मानापमानयो:।। ६/७

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः।।६/८

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ।। ६/९

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! शीत उष्ण (सर्दी गर्मी) सुख दुःख तथा मान और अपमान में जिसने आत्मवृत्तियों को जीत लिया है और जो सब प्रकार से शान्त हो चुका है, उसके मन में मैं परमात्मा श्रीकृष्ण समाहित रहता हूँ। ज्ञान और विज्ञान से जिसकी आत्मा तृप्त है तथा जो कूटस्थ अर्थात् निश्चल है अथवा भगवान के भावकूट में स्थित है एवं जिसके लिए मिट्टी पत्थर और स्वर्ण एक समान हो चुके हैं वही योगी युक्त अर्थात् निष्काम कर्मयोग सम्पन्न है, ऐसा विद्वानों द्वारा कहा जाता है। सहृदय मित्र, शत्रु उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषयोग्य तथा बन्धुजन एवं सन्त तथा पापी इन सबमें जो समान बुद्धि रखता है वही विशिष्ट योगी है।

व्याख्या- सप्तम श्लोक में 'मनसि' का अध्याहार समझना चाहिए। अर्थात् जितात्मा और प्रशान्त व्यक्ति के मन में भगवान समाहित रहते हैं। अष्टम श्लोक में प्रयुक्त ज्ञान संसार की अनित्यता के ज्ञान अर्थ में है और विज्ञान जीवात्मा के नित्यत्व का ज्ञान। मिट्टी के ढेले को लोष्ठ कहते हैं। अश्मा अर्थात् पत्थर, काञ्चन अर्थात् सोना इन तीनों में जो समान रहता है वह योगी है। नवम श्लोक में सुहृद और मित्र ये दोनों समानार्थक आए हैं। महर्षि पाणिनि के अनुसार मित्र अर्थ में ही सुहृद शब्द निष्पन्न होता है-

सुहृद्दुर्हृदौमित्रामित्रयो: (५/४/१५०) (अष्टाध्यायी) इस परिस्थिति में भगवान यहाँ दोनों शब्दों का प्रयोग कैसे कर रहे हैं? अत: यहाँ सुहृद शब्द उत्कृष्ट मित्र का वाचक है और मित्र सामान्य का। जैसे कर्ण दुर्योधन का मित्र है परन्तु भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन के सुहृन्मित्र हैं ।।श्री।।

संगति- अब इस श्लोक में महायोगेश्वर श्रीहरि निष्कामकर्मयोग के अंगभूत

चित्त वृत्ति निरोध लक्षण योग का निरूपण करते हैं।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः।। ६/१०

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- एकान्त नें एकाकी स्थिर होकर, चित्त तथा मन को वश में करके, योगसिद्ध की आशा न करके, कुटुम्ब के प्रेमानुबन्ध को छोड़कर, निष्काम कर्मयोगी को अपनी निरूद्ध चित्तवृत्तियों से परमात्मा को सम्बद्ध कर लेना चाहिए अर्थात् जोड़ लेना चाहिए।

व्याख्या- अब भगवान योग साधन का वर्णन करते हैं। योगी को एकान्त में बैठना चाहिए। एकाकी अर्थात् उसका विजातीय द्वितीय सहायक नहीं होना चाहिए। वहाँ साध्य और साधक के बीच तीसरा कोई न हो। यहाँ 'आशीष' शब्द योग सिद्धियों के सम्बन्ध में कहा गया है। 'परिग्रह' शब्द भी कुटुम्व प्रेम के अर्थ में युक्त हुआ है।

संगति- साधना के आरम्भ में यौगिक क्रिया के लिए आसन का होना आवश्यक होता है। 'स्थिरसुखमासनं' जहाँ साधक बैठकर साधना के सुख का अनुभव करे अतः दो श्लोकों में आसन स्वरूप का वर्णन करते हैं।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ।। ६/११

तत्रैकाग्रं मनःकृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये।। ६/१२

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- वस्त्र, कम्बल, और मृगचर्म द्वारा श्रेष्ठ रूप से बनाये हुए अधिक ऊँचेपन तथा अधिक नींचेपन से रहित ऐसे स्थिर सुख वाले अपने आसन को पवित्र देश में वैंदिक मंत्र से प्रतिष्ठित करके, उसी आसन पर बैंठकर, मन को एकाग्र करके अपने अन्तःकरण की शुद्धि के लिए योगसाधन करना चाहिए।

व्याख्या- 'शुचौदेशे' पवित्र देश में अर्थात् जहां साधना के परमाणु हो 'प्रतिष्ठाप्य' आसन को पृथ्वी आदि वैदिक मंत्रों से प्रतिष्ठित करके, 'एकाग्र' शब्द का अर्थ है जिसके सम्मुख परमेश्वर हैं ॥श्री॥

संगति- अब दो श्लोकों में आसन पर बैठने के प्रकार का वर्णन करते हैं।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ।।६/१३

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चितो युक्त आसीत मत्परः।। ६/१४

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! शरीर के मध्यभाग सिर तथा गले को समान एवं कम्पन से रहित धारण करता हुआ, स्वयं स्थिर होकर अपनी नासिका के अग्रभाग को देखकर तथा अन्य दिशाओ को न देखता हुआ, प्रशान्त अन्तःकरण वाला, भय से रहित ब्रह्मचारी के व्रत में स्थित, मुझमें चित्त लगाकर मन को वश में करके, निष्काम कर्मयोगी साधक मुझे ही परम देवता मानकर योग साधना को करने के लिए आसन पर बैठे।

व्याख्या- यहाँ स्थिर शब्द का तात्पर्य है कि योग साधना के समय कोई मानसिक उद्वेग नहीं होना चाहिए। ब्रह्मचारी व्रत का अर्थ है स्वपत्नी के अतिरिक्त नारी मात्र से एकान्त में सम्भाषणादि न करना। ।।श्री।।

संगति- अब इस साधना का भगवान फल कहते हैं।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ।। ६/१५

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! पूर्वोक्त साधना के अनुसार मन को विषयों से नियंत्रित करके, निरंतर स्वयं को योग साधना में लगाता हुआ योगी, निर्वाण रूप परम प्रयोजन वाली मुझमें स्थित परम शान्ति को अधिकृत रूप से प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या- 'नियतमानसः' का अर्थ है जिसने विषयों से अपने मन को नियंत्रित कर लिया है। 'निर्वाण परमां' निर्वाण अर्थात् मोक्ष ही जिसका प्रयोजन है। "मत्संस्थाम्" मयि सन्तिष्ठते अर्थात् जो मुझमें निवास करती है ऐसी शान्ति को साधक प्राप्त करता है। ।।श्री।।

संगति- अब भगवान दो श्लोकों में योगसाधना के लिए उपयोगी आहारादि का निरूपण करते हैं-

नात्यश्नस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनन्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।। ६/१६

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन जो बहुत भोजन करता है उसके लिए भी यह योग नहीं है और जो बहुत अल्पभोजन करता है उसके लिए भी सुखद नहीं है जिसका बहुत सोना ही स्वभाव है उसको भी यह सुखा नहीं करता और जो बहुत जागरण करता है उसके लिए भी यह सुखावह नहीं होता।

व्याख्या- यहाँ एकान्त का अर्थ है बहुत अधिक। अर्थात् योगशास्त्र में सर्वत्र अति वर्जित है।

संगति- अब पूर्वोक्त विषय को ही भगवान और स्पष्ट कर रहे हैं।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।। ६/१७

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! जिसके आहार और विहार नियंत्रित हैं तथा कर्मों में जिसकी चेष्टायें नियंत्रित हैं और जो उचित मात्रा में शयन और जागरण करता है, योग उसके लिए दुःखहा अर्थात् उसके दुख को नष्ट कर देता है।

व्याख्या- यहाँ युक्त शब्द अनुकूल मात्रा के लिए प्रयुक्त हुआ है। विहार शब्द भोजनातिरिक्त शारीरिक सुख साधन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। युक्तस्वप्नावबोधस्य यहाँ स्वप्न शब्द निद्रा के अर्थ प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार आहार-विहार, चेष्टा शयन और जागरण ये पाँचों जिसके उचित मात्रा में सम्पन्न होते रहते हैं, उसी के लिए वह सुखावह होता है। ।।श्रीः।।

संगति- अब भगवान योगयुक्त व्यक्ति का लक्षण कह रहे हैं।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्तः इत्युच्यते तदा ।। ६/१८

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! जब विषयों से नियन्त्रित चित्त मुझ परमात्मा के समीप विनम्रता से उपस्थित हो जाता है, उसी समय सम्पूर्ण कामनाओं से स्पृहा शून्य हुआ साधक 'युक्त हुआ' ऐसा कहा जाता है।

व्याख्या- यहाँ 'वि' उपसर्ग विषय का वाचक है। विनीतं का अर्थ है विषयों से नियन्त्रित। "आत्मनि" पद में औपश्लेषिकी सप्तमी है और आत्मा शब्द परमात्मा का वाचक है। अवतिष्ठते मुझ परमात्मा के समीप चरण सेवा के लिए अवनत होकर उपस्थित हो जाता है। ॥श्री॥

संगति- अब योगी की स्थिरता का दीप की उपमा से वर्णन करते हैं।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः।। ६/१९

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! जिस प्रकार वायुरहित स्थान में स्थित दीपक थोड़ा सा भी नहीं कम्पित होता, नियंत्रित मन वाले आत्मा के साथ मुझ परमात्मा के सम्बन्ध को योग प्रक्रिया से दृढ़ करते हुए योगी की मेरे द्वारा वही उपमा स्मरण में लायी गयी।

व्याख्या- वायुरहित स्थान को निवात कहते हैं। योग प्रक्रिया से योगी अपने साथ परमात्मा का सम्बन्ध ही दृढ़ करता है। उस समय उसकी वृत्ति दीपक की लपट जैसी हो जाती है। भगवान कहते हैं कि योगी के लिए मुझे वही उपमा स्मरण में आयी ॥श्री॥

संगति- अब भगवान चार श्लोकों से योग का संकीर्तन कर रहे हैं।

यत्रोपरमते चित्तं निरूद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ।। ६/२०

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! योग साधना के द्वारा वश में किया हुआ चित्त जहाँ विषयों से उपरत हो जाता है। जहाँ साधक मनोमय नेत्र से मुझ परमात्मा का साक्षात्कार करता हुआ अपने में ही संतुष्ट हो जाता है।

व्याख्या- यहाँ 'सेवा' शब्द साधनापरक है। 'उपरमते' में 'आत्मने' पद का प्रयोग व्यमत्ते से हुआ है अथवा क्रम के व्यतिहार से। 'आत्मना' का अर्थ है मनोमय नेत्र द्वारा। ॥श्री॥

संगति- अब भगवान आत्यन्तिकसुख की व्याख्या कर रहे हैं।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्वतः।। ६/२१

स० कृ० भा० सामान्यार्थ- जो बुद्धि से ग्रहण करने योग्य इन्द्रियों से परे एक अपूर्व आत्यंतिक सुख हैं, उसको जहाँ स्वयं साधक जान लेता है और उस परमात्मा में स्थित हुआ किंचित् भी तत्व से चलायमान नहीं होता।

व्याख्या- "यत्तद" शब्द सुख की अपूर्वता का बोधक है, आत्यन्तिक का अर्थ है जिसका कभी नाश नहीं होता। ॥श्री॥

संगति- फिर योग की ही विशेषता कहते हैं।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरूणापि विचाल्यते ।। ६/१२

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! जिसको प्राप्त करके साधक उससे बड़ा कोई लाभ नहीं मानता। जिसमें स्थित होकर गम्भीर दुःख से भी वह विचलित नहीं किया जा सकता।

व्याख्या- यह योग ही साधक का परम लाभ है। "गुरुणा" "गुरुः पितरि दुर्भरि" यह कोष प्रमाण है, का अर्थ है विशाल अथवा न सहन करने योग्य (दुर्भर) ॥श्री॥

संगति- फिर उसी योग की विशेषता का वर्णन करते हैं।

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्ण चेतसा।। ६/२३

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! जिसमें दुःख के सम्पर्क का सर्वथा

अभाव है ऐसे उस लाभ को योग नाम वाला जानो। विषयों से विरक्तचित्त वाले साधक द्वारा निश्चय पूर्वक उस योग की साधना करनी चाहिए।

व्याख्या- योग में अनिश्चय बाधक होता है। दुःख संयोग वियोगं यह त्रिपद व्यधिकरण बहुव्रीहि है। अर्थात् - दुःखों के संयोग का वियोग है जिसमें। "योग संगितं" योगस्य संज्ञा सञ्जातः यस्य स तं। अर्थात् योग ही जिसकी संज्ञा है। ॥श्री॥

संगति- अब भगवान तीन श्लोकों से योगसाधना के विघ्नों का विवरण प्रस्तुत करते हैं।

सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः।। ६/२४

शनैः शनैरूपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ।। ६/२५

यतो यतो निश्चरति मनश्चंञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ।। ६/२६

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन संकल्प से उत्पन्न हुई सभी कामनाओं को सम्पूर्ण रूप से त्याग कर, इन्द्रिय समूहों को उनके सभी विषयों से मन द्वारा ही नियन्त्रित करके, सात्विक धृति द्वारा नियन्त्रित की हुई बुद्धि द्वारा मन को मुझ परमात्मा में स्थित करके योगी धीरे-धीरे विषयों से उपराम प्राप्त करे और जहाँ-जहाँ से उसका मन हटता जाय उनके सम्बन्ध में कुछ भी चिन्तन न करें। जिस जिस स्थान से यह चंचल मन विचलित होता है उसी-उसी स्थान से इसे नियंत्रित करके, अपने में ही इसे वश में कर लेना चाहिए अथवा इसे वश में करके मुझ परमात्मा के श्री चरणों के समीप ही इसे ले जाना चाहिए।

व्याख्या- "अशेषतः" शब्द सम्पूर्णता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। "इन्द्रियग्रामं" अर्थात् श्रवण आदि दसो इन्द्रियाँ शब्दादि विषयों से नियन्त्रित करनी चाहिए। 'धृति' शब्द यहां सात्विक धृति के अर्थ में आया है। "आत्मसंस्थं" आत्मनि संतिष्ठते अर्थात्

मन को मेरे समीप स्थित करके साधक को और कुछ नहीं सोचना चाहिए। मन चंचल स्वभाव वाला और अस्थिर है। इसलिए इसको प्रयत्न से नियंत्रित करने का प्रयास करना चाहिए। ।।श्री।।

संगति- अब भगवान योग साधना का फल कह रहे है।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ।। ६/२७

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! जिसका मन प्रशान्त है तथा जिसका रजोगुण शान्त तथा प्रवृत्ति से उपरत हो चुका है और जो निरन्तर ब्रह्म के समीप रहता है, ऐसे पाप रहित इस योगी को स्वयं ही उत्तम सुख प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या- योग साधना से जब योगी का मन प्रशान्त होकर इधर उधर के चक्कर से विश्राम ले लेता है और जब योगी का रजसतत्व प्रभु के श्री चरण कमल के रज की आकांक्षा करने लगता है, उस समय उत्तम सुख योगी के पास स्वयं चला आता है। योगी सुख के पास नहीं जाता। ।।श्री।।

संगति- इस प्रकार आत्मानन्दप्राप्ति के पश्चात् योगी क्या प्राप्त करता है? इस पर भगवान कहते है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ।। ६/२८

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! इस प्रकार जिसके पाप नष्ट हो गये हैं ऐसा योगी अपनी योगसाधना द्वारा मुझे सम्बद्ध करता हुआ, जिसमें ब्रह्म का संस्पर्श अर्थात् संयोग है ऐसे अत्यन्त अर्थात् अन्त से अतीत असीम सुख को बिना प्रयास के भोगता है।

व्याख्या- यहाँ भगवान ऐसे सुख की व्याख्या कर रहे हैं, जिसमें ब्रह्म का संस्पर्श है। अत्यन्तम् अतिक्रान्तम् अन्तम् अर्थात् योगी ऐसे सुख का उपयोग करता है। जिसमें अन्त होता ही नही । ।।श्री।।

संगति- अब योगी का दर्शन कह रहे हैं।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।। ६/२९

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! आत्मसंयमयोग से जिसका अन्तःकरण युक्त है तथा जो सर्वत्र समरूप से मुझ ब्रह्म का ही दर्शन करता है, ऐसा योगी मुझको सम्पूर्ण भूतों में स्थित देखता है और मुझमें सम्पूर्ण भूतों को देखता है।

व्याख्या- यहाँ 'आत्मानं' और 'आत्मनि' इन दोनों स्थलों पर आत्म शब्द परमात्मा का ही वाचक है। अर्थात् योगी संसार में मुझे देखता है और मुझमें संसार देखता है। ॥श्री॥

संगति- अब भगवान समदर्शन का फल कहते हैं।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।। ६/३०

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! जो साधक चराचर जगत में मुझे देखता है और सम्पूर्ण चिदचिदात्मक जगत मुझ परमात्मा में देखता है, मैं उसके लिए अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिए अदृश्य नहीं होता।

व्याख्या- यहाँ 'णस्' धातु अदर्शन अर्थ में है, विनाश अर्थ में नहीं। 'सर्वत्र' शब्द चिदचिदात्मक जगत् में प्रसिद्ध है। 'तस्य' और 'मे' इन दोनों शब्दों में सम्बन्धषष्ठी है। ॥श्री॥

संगति- भगवान फिर उसी फल की व्याख्या कर रहे हैं।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।। ६/३१

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! जो योगी सेवक सेव्यभावसम्बन्ध का आश्रय करके अथवा अनन्य भक्ति से सम्पूर्ण भूतों में अन्तर्यामी रूप से स्थित मुझ परमात्मा को भजता है, वह योगी शरीर से संसार में रहने के कारण स्थूल रूप से

मेरे समीप न रहता हुआ भी सब प्रकार से मेरे समीप ही रहता है।

व्याख्या- 'एकत्व' का अर्थ सम्बन्ध है। एकत्व के सम्बन्धार्थक को गीता २/१२ में बहुत विस्तार से कहा जा चुका है। यद्वा एकत्व का अनन्यता भी अर्थ है। तृतीय चरण में सर्वथा अवर्तमानः यह पदच्छेद समझना चाहिए। 'मयि वर्त्तते' वह मेरे समीप ही रहता है। ॥श्री॥

संगति- अब भगवान अत्यन्त रोचक होने के कारण बार-बार अभ्यास करने के लिए इस फलश्रुति का उपसंहार कर रहे हैं।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।। ६/३२

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! जो योगी सर्वत्र अपनी ही तुलना के द्वारा सुख और दुःख को समान देखता है, वह योगी परमपूज्य माना गया है।

व्याख्या- 'आत्मौपम्येन' का तात्पर्य है- उपमा एव औपम्यम् आत्मनः औपम्यम् आत्मोपम्यम् तेन यहाँ अभेद में तृतीया है। तात्पर्य यह है जैसे किसी की गाली अपने को अप्रिय लगती है, उसी प्रकार यदि आप किसी को गाली देंगे तो उसे अप्रिय लगेगी। जिस व्यवहार से स्वयं को सुख होता है उससे दूसरों को भी सुख होगा। जो अपने लिए प्रतिकूल है वह दूसरे को प्रतिकूल होगा। इसीप्रकार जो सर्वत्र अपनी सदृश्य से सर्वत्र दुःख सुख की समानता देखता है वह योगी श्रेष्ठ है। इसी बात को वेदव्यास ने कहा है- श्रूयतां धर्म सर्वस्व श्रुत्वाचैवावधार्यताम्" आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्। ॥श्री॥

संगति- अर्जुन प्रश्न करते है- प्रभो! इस मन को कैसे वश में किया जाय? अतः दो श्लोकों में मन के वशीकरण का उपाय जानने के लिए प्रभु से पार्थ ने पूछा?

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ।। ६/३३

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- अर्जुन जिज्ञासा करते है कि- हे मधुसूदन! आपके द्वारा कर्म सन्यास से अभिन्न जो यह योग कहा गया। इस योग की मैं चंचलता के कारण स्थिति को स्थिर नहीं देख रहा हूँ।

व्याख्या- आपने यह कहा कि- कर्म योग और सांख्य योग में कोई अन्तर नहीं है। इसलिए एक के करने से दोनों का फल मिल जाता है।परन्तु इस कर्मयोग की स्थिति स्थिर नहीं है। ।।श्री।।

संगति- भगवान कहते है कि- तुम क्यों नहीं देख पा रहे हो? इस पर अर्जुन कहते हैं-

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ।। ६/३४

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे कृष्ण! यह मन बड़ा ही चंचल प्रमथनशील और अत्यन्त बलवान है। इसलिए हे प्रभु! जिस प्रकार वायु का निग्रह कठिन है, उसी प्रकार मैं इसका भी निग्रह दुष्कर मानता हूँ।

व्याख्या- कर्षति जनानां मनः इति कृष्ण, आप भक्तोंका मन खींचते है तो मेरा भी मन वश में कीजिये। क्योंकि इसे मैं नहीं पकड़ पा रहा हूँ। आपसे सम्भव है।।श्री।।

संगति- अब अर्जुन की जिज्ञासा का भगवान समाधान कर रहे हैं। इस वाक्य का संजय धृतराष्ट्र के प्रति अवतरण कर रहे हैं।

।।श्री भगवानुवाच।।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।। ६।३५।।

श० कृ० भा०- भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं, हे महाबाहो! इसमें कोई सन्देह नहीं कि मनका निग्रह अत्यन्त कठिन है। परन्तु हे कौन्तेय! यह मन योग साधन के अभ्यास से और सांसारिक विषयों के वैराग्य से वश में किया जा सकता है।

व्याख्या- यहाँ भगवान अर्जुन को महाबाहो और कौन्तेय ये दो सम्बोधन दे रहे

हैं। तुम्हारी भुजायें महान हैं, तुम इसे पकड़ सकते हो। तुम कौन्तेय हो जैसे कुन्ती ने आकर्षण मन्त्र के प्रयोग से सूर्य, धर्म, पवन और इन्द्र को भी बुला लिया, तुम उन्हीं के पुत्र हो ॥श्री॥'

संगति- मनका निग्रह ही योग का उपाय है। यह भगवान कह रहे हैं।

''असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः।। ६।३६।।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! जिसने अपने मनको वश में नहीं किया है, उसके द्वारा योग प्राप्त करना बहुत कठिन है और जिसने मनको वश में कर लिया है, उसके द्वारा यत्न करते हुए योग साधनों के उपाय से प्राप्त किया जा सकता है।

व्याख्या- यहाँ दोनों तृतीयान्त "बहुव्रीहि" से समस्त है। "अनुदात्तेत्वलक्षण" आत्मनपद के अनित्य होने के कारण यतता शब्द में परस्मैपद लक्षण शतृ प्रत्यय हुआ। "मे मति" अनिगृहीत मन वाला व्यक्ति योग नहीं प्राप्त कर सकता। और मनोनिग्रही सतत प्रयत्नरत योग को प्राप्त कर लेता है, ऐसा मुझ सर्वज्ञ कृष्ण का मानना है॥श्री॥

संगति- अब अर्जुन योगभ्रष्टों के सम्बन्ध में अपने मित्र योगेश्वर प्रभु से तीन श्लोकों में जिज्ञासा कर रहे हैं। अर्जुन के वाक्य की अवतारणा सञ्जय धृतराष्ट्र से करते हैं।

"अर्जुन उवाच"

''अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्ययोगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ।।६।३७।।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण से पूछा, हे कृष्ण! सच्चिदानन्दघन, यत्न से रहित और आस्तिक बुद्धि से युक्त योग से विचलित मनवाला योगी, योग के संसिद्धि को न प्राप्त करके, किस गति को प्राप्त कर लेता है, स्वर्ग या नरक।

व्याख्या- जो साधक श्रद्धा से युक्त है, पर आलस्य के कारण या अन्य विघ्नों के कारण यत्न नहीं करता, इसीलिये उसका मानस योग साधना से विचलित हुआ। उसे योग की सिद्धि तो मिली नहीं, वह पतित हुआ, पर वह किस गति को प्राप्त करता है ।।श्री।।

संगति- अर्जुन इस प्रश्न को और स्पष्ट कर रहे हैं।

कच्चिनोभयविभृष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो, ब्रह्मणः पथि ।। ६।३८।।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे महाबाहो! ब्रह्म के मार्ग में प्रतिष्ठा न पाया हुआ किंकर्तव्य विमूढ़ वह साधक, उभय अर्थात् लोक-परलोक दोनों से पतित होकर, योग और भोग दोनों से निराश हुआ, छिन्न बादलों की भाँति नष्ट भ्रष्ट तो नहीं होता।

व्याख्या-"कच्चित्" शब्द प्रश्नार्थक है, नोभय विभ्रष्ट शब्द में दो प्रकार का पदच्छेद है, न उभय विभ्रष्ट अथवा ना उभय विभ्रष्ट" ना का अर्थ है पुरुष, अर्थात् हे प्रभो! क्या वह पुरुष दोनों लोक परलोक से भ्रष्ट होकर छिन्न बादल के भाँति नष्ट हो जाता है। "अभ्र" बादल को कहते हैं ।।श्री।।

संगति- अर्जुन अपने संशय को नष्ट करने के लिए- भगवान से प्रार्थना करते हैं।

"एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते।। ६।।३९।।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे भक्त दुःखहारी भगवान श्रीकृष्ण! मेरे इस संशय को आप पूर्णतया नष्ट करने के लिए योग्य हैं। क्योंकि आपके अतिरिक्त इस संशय का नष्ट करने वाला कोई समर्थ उपलब्ध है ही नहीं।

व्याख्या- "एतत्" अर्थात् पूर्व दो श्लोकों में कहा गया। आपने चतुर्थ अध्याय में संशय का छेदन करने के लिए मुझे प्रेरणा दी थी। परन्तु यह योग विषयक प्रश्न है, और आप योगेश्वर हैं। इसीलिये आपके अतिरिक्त कोई संशय का छेना उपपन्न नहीं है। क्योंकि कोई भी योगेश्वर नहीं है ।।श्री।।

संगति- अर्जुन की जिज्ञासा सुनकर परम प्रसन्न हुए प्रणतवत्सलभगवान श्रीकृष्ण बोले-

"श्री भगवानुवाच"

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याण कृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति।। ६।४०।।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- भगवान अत्यन्त प्रसन्न होकर कह रहे हैं हे पार्थ! उस योग भ्रष्ट साधक का न ही इस लोक में और न ही परलोक में विनाश होता है। हे तात! मेरे सर्वप्रेमभाजन अर्जुन! कोई भी आत्मकल्याणकारी साधक दुर्गति को नहीं प्राप्त करता।

व्याख्या- सम्पूर्ण गीता में भगवान ने एक ही बार अर्जुन के प्रति "तात" शब्द का सम्बोधन किया। अर्थात् हे तात्! आज तुम्हारे प्रति मैं इसीलिए प्रसन्न हूँ, क्योंकि यह प्रश्न तुमने दूसरे लोगों के लिए किया है। क्या तुम भूल गये? मैंने २-४० में ही कह दिया था कि यहाँ बीज का नाश नहीं होता, और कोई विघ्न भी नहीं आता ।।श्री।।

संगति- अब अर्जुन को प्रसन्न करने के लिए भगवान पाँच श्लोकों में योगभ्रष्ट की जन्मान्तरीय वृत्ति कह रहे हैं।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।।६।४१।।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! योगभ्रष्ट साधक अपना शरीर छोड़कर पुण्यकर्मा महापुरुषों के स्वर्गादि लोकों को प्राप्त कर, वहां बहुतकाल पर्यन्त निवास करके, फिर पवित्र एवं मेरी भक्तिरूप धनसम्पन्न महापुरुषों के यहाँ जन्म लेता है।

व्याख्या- पुण्यं कुर्वन्तीति पुण्यकृतः तेषां पुण्यकृतां यह क्विप् प्रत्ययान्त प्रयोग है। समा शब्द वर्ष का वाचक है, यहाँ शाश्वती बहुत का वाचक है, अनन्त का नहीं। अर्थात् योगभ्रष्ट स्वर्गादि लोकों में बहुत काल पर्यन्त रहता है। फिर वह पवित्र आत्मा श्री वैष्णव के यहाँ जन्म लेता है। अभिजायते अभीष्ट सन्तान बनकर जन्म लेता है ।।श्री।।

संगति- अब भगवान जन्म का विकल्प कह रहे हैं।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ।। ६।४२।।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! अथवा वह योगभ्रष्ट मेरी ध्यान लक्षणा बुद्धि से सम्पन्न निष्काम कर्मयोगियों के कुल में उत्पन्न होता है। क्यों कि लोक में इस प्रकार का यह जन्म बहुत दुर्लभ होता है।

व्याख्या- धी शब्द भगवद् ध्यान का बोधक है। शुचि और श्रीमन्तों के यहाँ जन्म लेना दुर्लभ है। परन्तु योगियों के यहाँ जन्मलेना उससे भी दुर्लभ है, इसीलिए भगवान ने यहां दुर्लभतर शब्द का प्रयोग किया ।।श्री।।

संगति- अब अर्जुन जिज्ञासा करते हैं क्या वह योगभ्रष्ट अपने पुनर्जन्म में पूर्व अभ्यस्त योग को भूल जाता है? इस जिज्ञासा का भगवान तीन श्लोकों से समाधान करते हैं।

"तत्रं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततोभूय संसिद्धौ कुरूनन्दन ।। ६।४३।।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे कुरुवंशियों को आनन्द करने वाले अर्जुन! उस पुनर्जन्म में योगभ्रष्ट उसी पूर्व देह में किये हुए बुद्धि के संयोग से युक्त योगाभ्यास को फिर प्राप्त कर लेता है। इसके अनन्तर फिर वह योग की सिद्धि के लिए यत्न करने लगता है।

व्याख्या- पौर्वदेहिकं पूर्व देह में घटे हुए, बुद्धिसंयोगं बुद्धि का संयोग है जिसमें अर्थात् मेरे भजन की महिमा से पूर्वजन्म के योगाभ्यास से बुद्धि का सम्पर्क नहीं टूटता। इसीलिए पुनर्जन्म में वह उद्बुद्ध हो जाता है। संसिद्धौ यहां निमित्त में सप्तमी है, अर्थात् योग की सिद्धि के लिए फिर प्रयत्न करने लग जाता है ।।श्री।।

संगति- भगवान उसी अर्थ को और स्पष्ट करते हैं।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ।। ६।४४।।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! वह योग का जिज्ञासु योगभ्रष्ट साधक उसी पूर्वजन्म के अभ्यास द्वारा हठात् योग साधना को प्राप्त करा दिया जाता है, अर्थात् योग साधना करने लगता है और वेद विहित कर्मों को करके उनसे विरत हो जाता है, अथवा शब्द ब्रह्म रूप वाणी को छोड़कर मौन हो जाता है।

व्याख्या- पूर्वाभ्यास शब्द में पूर्वजन्म कृत अभ्यासः पूर्वाभ्यास ऐसा मध्यमपदलोपी समास समझना चाहिए। अवश शब्द का तात्पर्य है कि वर्तमान जन्म की परिस्थितियों के अधीन होता हुआ भी ह्रियते योग साधना को प्राप्त करा दिया जाता है। शब्दब्रह्म अर्थात् वेदविहित विधि निषेध से अतीत हो जाता है अथवा वाग वै ब्रह्म इस श्रुति के अनुसार शब्द ही ब्रह्म है, उसके अतिवर्तन का तात्पर्य है कि वह मौन हो जाता है। ये दोनों व्याख्यायें जड़भरत के प्रसंग में घट जाती है ॥श्री॥

संगति- अब अर्जुन की जिज्ञासा होती है कि क्या पुनर्जन्म में साधना करके पूर्वयोग भ्रष्ट सिद्धि प्राप्त कर लेता है या नहीं? इस पर भगवान कहते हैं।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्ध किल्विषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।। ६।४५।।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! जिसके पाप नष्ट हो गये हैं, ऐसा प्रयास से साधना करता हुआ योगी, अनेक जन्मों के अभ्यास से संसिद्ध होकर, अर्थात् सिद्धि प्राप्त करके, अनन्तर मुझसे अभिन्न परं गति प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या- यहाँ संशुद्ध शब्द नष्ट होने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अनेक जन्म संसिद्ध शब्द में अनेक जन्माभ्यासेन संसिद्ध ऐसा भी समास करना चाहिए। अर्थात् योगी एक ही जन्म में नहीं सिद्ध होना, उसके लिए अनेक जन्म पर्यन्त अभ्यास करना पड़ता है ॥श्री॥

संगति- अब भगवान कर्मयोगी की प्रशंसा करते हुए उसकी श्रेष्ठता का प्रतिपादन कर रहे हैं, अर्थवाद का नहीं।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन।। ६।४६।।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन! योगी तपस्वियों से भी श्रेष्ठ है, और ज्ञानियों से भी अधिक माना गया है, तथा कर्मकाण्डियों से भी श्रेष्ठ है। इसीलिए तुम निष्काम कर्मयोगी बनो।

व्याख्या- अब यहाँ प्रश्न होता है कि भगवान ने कर्मिभ्यः प्रयोग कैसे किया? क्योंकि कर्मन् शब्द नान्त है और इनि प्रत्यय अकारान्त से होता है। उत्तर- सान्ता नान्ता अजन्ता सान्त और नान्त शब्द अजन्त होते हैं, इसीलिए यहाँ कर्मन् शब्द को अजन्त मानकर इनि प्रत्यय किया गया। तपस्वी ज्ञानी योगी इन तीनों से योगी की श्रेष्ठता का रहस्य यही है कि उस पर भगवत् कृपा की अधिकता है। अधिक शब्द की एक नवीन व्युत्पत्ति भी है, संस्कृत में क शब्द शिर का वाचक है क अधिरूढ अधिक जो शिर पर चढा हो उसे अधिक कहते हैं। इस पक्ष में तपस्विभ्यः ज्ञानिभ्यः कर्मिभ्यः इन तीनों पंचम्यन्तो में ल्यबलोप पञ्चमी समझना चाहिए। अर्थात् तपस्विन ज्ञानिन कर्मिण अभिभूय योगी अधिक अर्थात् तपस्वी ज्ञानी एवं कर्मियों को दबाकर योगी उनके शिर पर अधिक अर्थात चढ़ा है। यहाँ एक और प्रतिभा प्रसूत व्याख्या प्रस्तुत करता हूँ, तपस्विभ्यः आदि तीनों पद पञ्चम्यन्त नहीं, प्रथमा एकवचनान्त हैं। संस्कृत में इभ्य शब्द स्वामी का वाचक है, इभ्य कलभे स्वामिनि च अर्थात् तपस्विनां इभ्यः तपस्विभ्यः ज्ञानिनां इभ्यः ज्ञानिभ्यः कर्मिणां इभ्यः कर्मिभ्यः एवं भूतः अधिकः। यहां तीन बार अधिक शब्द का भी प्रयोग है, अर्थात् योगी तपस्वियों का ज्ञानियों का तथा कर्मियों का स्वामी होकर उनके शिर पर अधिरूढ है।

अब यहाँ प्रश्न उठता है, यदि तपस्वी, ज्ञानी, कर्मी शब्द से इभ्य शब्द का समास होगा तो वहां तीनों में अक सवर्णेदीर्घ पा० अ० ६-१-१०१ सूत्र से दीर्घ होकर तपस्वीभ्यः ज्ञानीभ्यः कर्मीभ्यः ऐसा प्रयोग क्यों नहीं हुआ?

उत्तर- मित्र तुम डाल-डाल मैं पात पात यहाँ आकृति गण मानकर शकन्ध्वादित्वात् पररूप हो गया। इसीलिए तीनों स्थानों पर हस्व समुचित प्रयोग ही हुआ। यह व्याख्या श्री राघव कृपा प्राप्त मेरी प्रतिभा का अभिनव उपहार है ॥श्री॥

संगति- अब इस अध्याय एवं इस षट्क का भगवान उपसंहार करते हैं।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमोमृतः ।। ६।४७।।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ- हे अर्जुन सभी निष्काम कर्मयोगियों में भी जो कोई मुझमें समर्पित अन्तरात्मा से श्रद्धावान होकर मुझे भजता है वह श्रेष्ठ योगी है, और वह मेरे द्वारा पूज्य है, अर्थात् मैं भी उसकी पूजा करता हूँ।

व्याख्या- यहाँ निर्धारण में षष्ठी है। मे मत में पूजा के अर्थ में वर्तमान काल में क्त प्रत्यय हुआ है। इसीलिए भगवान का अभिप्राय है कि श्रद्धावान मद्भजन प्रधान महानुभाव की मैं पूजा करता हूँ।।श्री।।

राघव कृपा सुभाष्य रच्यो पण्डितजन रञ्जन
शास्त्रसार गम्भीर धीर वैष्णव भय भञ्जन।

तिभाललित विलास रामभक्तन मनभावन
विमल विशिष्टाद्वैत चारू सिद्धान्त सुहावन।।

रामानन्दाचार्य के चरणसरोरूह शीष धरि
गीता षष्ठाध्याय पर रामभद्राचार्य करि।।

इति श्रीचित्रकूटतुलसीपीठाधीश्वरजगद्गुरूरामानन्दाचार्य स्वामीरामभद्राचार्यप्रणीते श्रीराघवकृपाभाष्ये श्रीमद्भागवतगीतासु आत्मसंयमयोगोनाम षष्ठोऽध्याय:।।

।।श्री राघव शंतनोतु।।

अद्भुत ग्रन्थ गीता
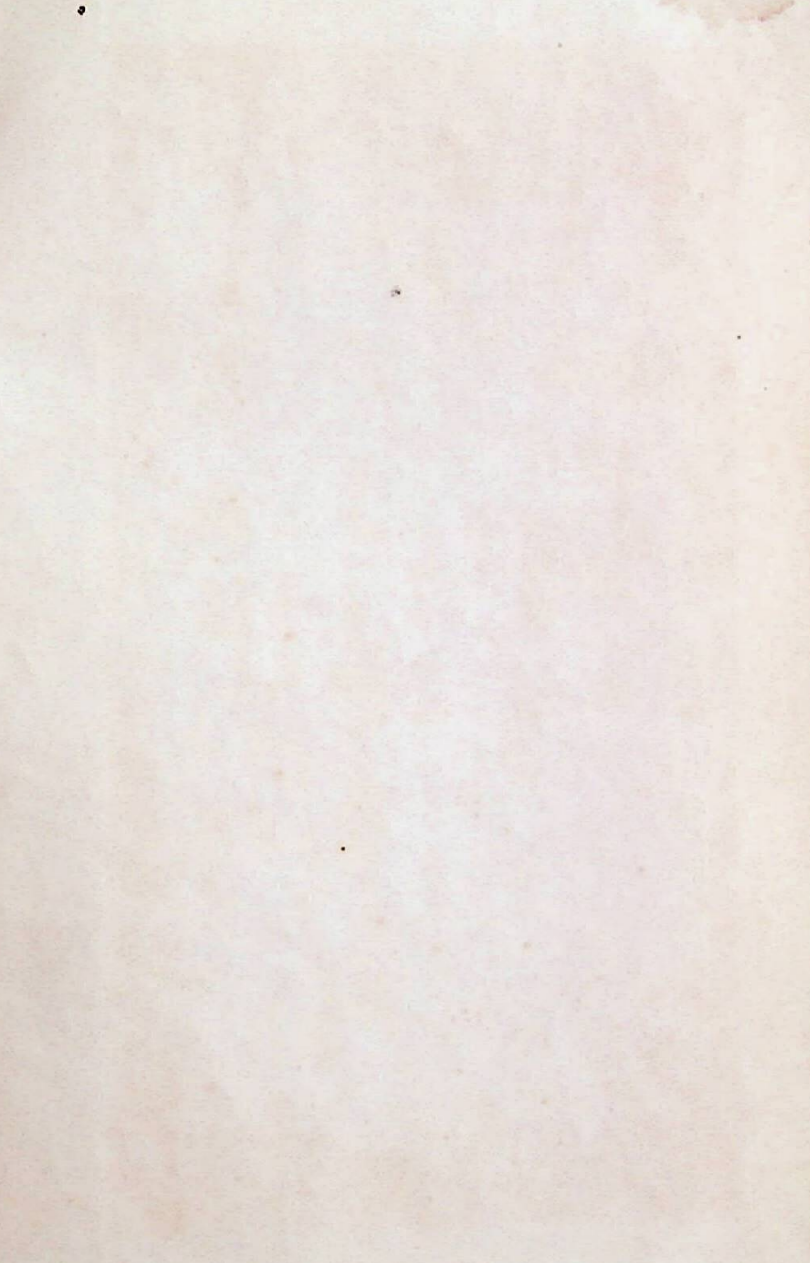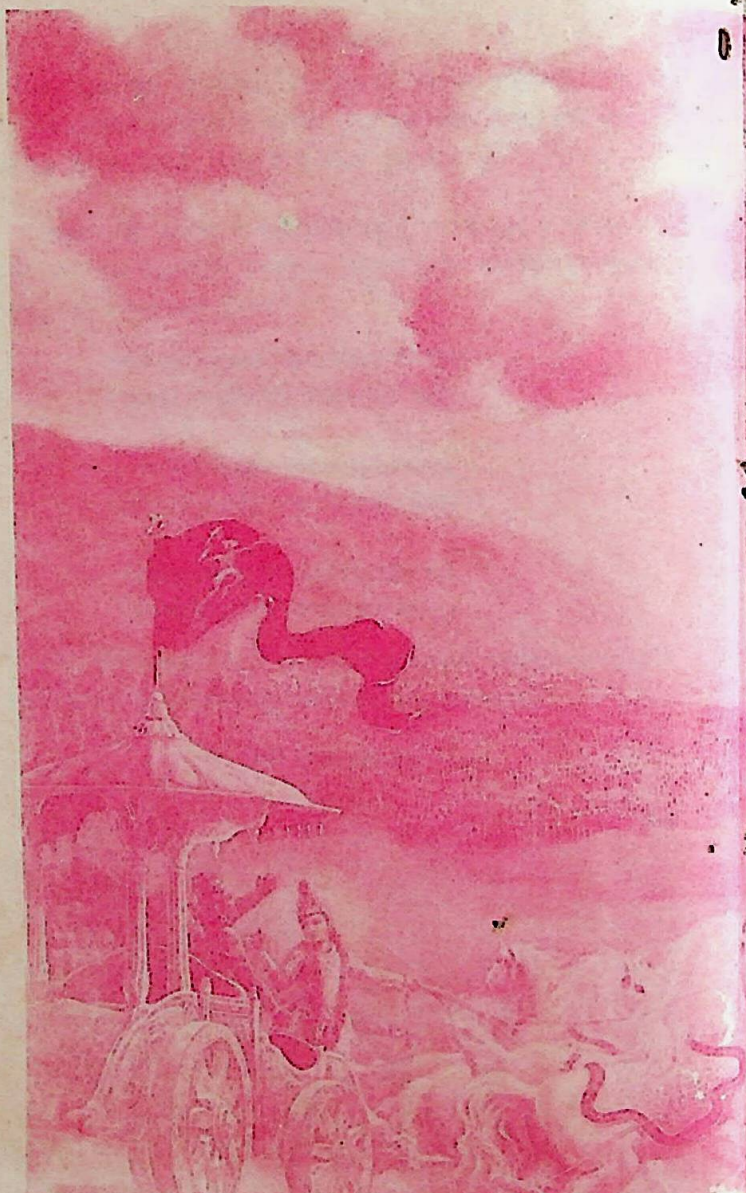
श्रीमद्भागवत भगवान् श्रीकृष्ण का लीला-विग्रह है तो श्रीमद्भगवद्गीता उनकी वाणी का सरस स्निग्ध विलास। गीता साक्षात् श्रीभगवान् की दिव्य वाणी है। या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता। इसकी महिमा अपार है, अपरिमित है। इसका ठीक-ठीक अशेष वर्णन शेष, महेश, गणेश के लिये भी दुष्कर है। अन्य साधनाओं से हीन व्यक्ति भी गीता का पारायण करके भव-सागर को पार कर जाता है, जन्म-मरण के चक्कर से छूट जाता है, जो कि यह ठहरी 'भवद्वेषिणी'। भगवान् ने अर्जुन को गीता का उपदेश दिया। वस्तुतः गीता भगवान् का साक्षात् स्वरूप है, भगवान् की वाङ्मयी वाणी साक्षात् वाङ्मयी मूर्ति है। यही कारण है कि संकल शास्त्रमयी गीता शास्त्रों के शास्त्र-समवायों से बढ़कर है, श्रेष्ठ है। "या स्वयं पद्मनाभस्य" का स्वयं शब्द इसी तथ्य की ओर संकेत करता है।

इतिहास-पुराण आदि गीता के गौरव-गाथा से भरे पड़े हैं। संसार की प्रायः समस्त समृद्ध भाषाओं में इसका अनुवाद किया गया है। जितनी विभिन्न भाषाओं में गीता का अनुवाद हुआ है, उतनी भाषाओं में विश्व के किसी ग्रन्थ-रत्न का अनुवाद आज तक नहीं हुआ है। सारे विश्व ने मानो गीता को मुकुट-मणि बना रक्खा है। भारत में किसी भी आचार्य का ग्रन्थ तब तक प्रशस्त नहीं माना जाता जब तक कि वह गीता की व्याख्या अपने पक्ष में प्रस्तुत नहीं करता। शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य एवं वल्लभाचार्य आदि आचार्यों ने गीता की व्याख्या कर अपने-अपने मत को पुष्ट एवं प्रबल बनाने का प्रयास किया है। सच तो यह है कि गीता किसी पन्थ, संप्रदाय या मत-विशेष का पोषक ग्रन्थ नहीं है। यह सार्वभौम है, सार्वजनीन है और है प्राणिमात्र के कल्याण का साधक ग्रन्थ-रत्न। रत्न किसी एक देश के नहीं हुआ करते। गीता अपने इसी महत्त्व के कारण प्रस्थान-त्रयी में परिगणित की जाती है— गीता, उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र। यही कारण है कि भारत का कोई भी आस्तिक दर्शन तब तक महत्त्व न पा सका जब तक उसने गीता माता की अङ्गुलि पकड़ कर चलने का अभ्यास नहीं किया, गीता के स्निग्ध अञ्चल की छाया को अपनी ओढ़नी (प्रावरण) नहीं बनाया। गीता का भली-भाँति ज्ञान हो जाने पर सारे शास्त्रों का तात्त्विक ज्ञान अपने-आप हो जाता है, उसके लिये अलग से परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

गीता ज्ञान का अथाह समुद्र है। इसके अन्दर ज्ञान का अनन्त भण्डार भरा पड़ा है। इसका तत्त्व समझने में बड़े-बड़े दिग्विजयी विद्वान् और तत्त्वज्ञों को भी दिग्भ्रम हो जाया करता है। उनकी वाणी भी कुण्ठित हो जाती है, क्योंकि इसका पूर्ण रहस्य भगवान् श्रीकृष्ण ही जानते हैं। उसके बाद कहीं इसके सङ्कलनकर्ता व्यास तथा श्रोता अर्जुन का क्रम आता है। ऐसी अगाध रहस्यमयी गीता का आशय और महत्त्व समझना सामान्य मानव के लिये ठीक वैसे ही है जैसे एक साधारण पक्षी का अनन्त आकाश का पता लगाने के लिए प्रयास करना, उड़ान भरना।

अस्तु! प्रातःस्मरणीय, सन्त-मणिमाला के मध्यमणि जगद्गुरु स्वामी रामभद्राचार्य जी महाराज ने गीता की सर्वाङ्गपूर्ण भक्तिमयी व्याख्या "श्रीराघवकृपाभाष्यम्" प्रस्तुत कर विद्वानों एवं सामान्य जनों के उपकार का जो सफल प्रयास किया है इसके लिये देश और विशेषकर वैष्णव समाज उनका चिर कृतज्ञ रहेगा।

डॉ० रमाशङ्कर त्रिपाठी

प्रकाशक— तुलसीपीठ, चित्रकूट, सतना (म०प्र०)।
मुद्रक— पल्लवी ऑफसेट, बैजनत्था, वाराणसी।